नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती

डॉ. भवानीलाल भारतीय

नवजागरण के पुरोधा—दयानन्द सरस्वती

भारतीय इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी का काल धार्मिक एवं सामाजिक नवजागरण की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसी युग में जन्म लेकर दयानन्द सरस्वती ने धर्म, समाज, संस्कृति तथा राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों में नव चेतना का संचार किया। मूलतः धर्मप्रचारक एवं आध्यात्मिक भावापन्न पुरुष होने पर भी उन्होंने अपनी सर्वग्रासी दृष्टि से देश, समाज तथा विश्व मानव के समक्ष प्रस्तुत समस्याओं और प्रश्नों का सतर्क समाधान प्रस्तुत किया। देशवासियों में व्याप्त निराशा, पराधीनता, हीनभावना तथा पराजय के भावों को दूर कर उन्होंने उनमें आत्मगौरव एवं स्वाभिमान को जागृत किया। भारतीय तत्त्वचिन्तन तथा पुरातन वैदिक दर्शन के आधार पर उन्होंने नवजागरण के उस आन्दोलन का नेतृत्व किया जो भारत की राष्ट्रीय अस्मिता के उद्दीपन का कारण बना।

दयानन्द सरस्वती यद्यपि आर्यावर्त के विगत गौरव तथा आर्य संस्कृति की प्रकर्षता के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याता थे, तथापि उन्होंने पश्चिम के नवीन ज्ञान, विज्ञान तथा औद्योगीकरण पर आधारित जीवन मूल्यों की वास्ताविकता को भी स्वीकार किया था। इस प्रकार वे भारत की आध्यात्मिक चेतना एवं यूरोप के कला कौशल एवं उद्योगों पर आश्रित संस्कृति में सामञ्जस्य देखने के इच्छुक थे। शताब्दियों से धार्मिक रूढ़िवादिता, साम्प्रदायिक कट्टरता तथा सामाजिक अत्याचारों से त्रस्त, अभिशप्त एवं पीड़ित समाज को बुद्धिवाद एवं विवेक के आधार पर स्वकर्त्तव्यों के निर्धारण का संदेश देने वाले दयानन्द के रूप में भारतीय इतिहास में एक ऐसा युगपुरुष अवतरित हुआ था जो देश के गौरव-शाली अतीत से प्रेरणा लेकर समाज और राष्ट्र के नवनिर्माण की रूपरेखा निर्मित करता है। प्रस्तुत ग्रन्थ नवजागरण के ज्योतिर्धर इसी महापुरुष के जीवन एवं विचारों की सतर्क समीक्षा का एक विनम्र प्रयास है।

नवजागरण के पुरोधा : दयानन्द सरस्वती

नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती

लेखक :

डॉ. भवानीलाल भारतीय

एम. ए. पी-एच. डी.

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष : दयानन्द चेयर फॉर वैदिक स्टडीज

पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

प्रकाशक

वैदिक पुस्तकालय,

परोपकारिणी सभा, दयानन्दाश्रम, अजमेर

प्रथम संस्करण

दयानन्द सरस्वती की प्रथम निर्वाण शताब्दी

कार्तिक अमावस्या (दीपावली) २०४० वि.

१९८३ ख्रीस्ताब्द

सर्वाधिकार परोपकारिणी सभाधीन है।

मूल्य

रुपये ६०.००

प्रकाशक :

वैदिक पुस्तकालय

परोपकारिणी सभा, दयानन्दाश्रम

केसरगंज, अजमेर

मुद्रक :

सतीशचन्द्र शुक्ल

प्रबन्धक, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर

समर्पण

नवजागरण के पुरोधा—दयानन्द सरस्वती की यह जीवनगाथा समर्पित है—

- ☐ स्वर्गीय जोशी बाबा अमरलाल को, जिन्होंने मथुरा प्रवास के समय अज्ञात, अकिञ्चन संन्यासी दयानन्द के भोजन का दायित्व लेकर उस पिपठिषु को सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त कर दिया।
- ☐ पं. लेखराम तथा पं. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय की स्मृति में, जिन्होंने दयानन्द सरस्वती के जीवन से सम्बन्धित सामग्री को सञ्चित करने में रात दिन एक कर दिया था।
- ☐ स्व. पं भगवद्दत्त, स्व. श्री मामराजसिंह तथा महापण्डित युधिष्ठिर मीमांसक को, जिन्होंने दयानन्द सरस्वती के पत्र-व्यवहार का संग्रह एवं सम्पादन कर जीवनी लेखन के कार्य को प्रशस्त किया।
- ☐ स्व. महेशप्रसाद मौलवी, आलिम फाजिल की स्मृति में, जिन्होंने दयानन्द सरस्वती के जीवन विषयक अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों का संग्रह किया, तथा जिनकी हार्दिक अभिलाषा थी कि इस महापुरुष का एक सर्वांगीण जीवनचरित लिखा जाये।
- ☐ स्व. पं. शंकरदेव विद्यालंकार की स्मृति में, जिन्होंने दयानन्द सरस्वती की जीवनी में समग्रता, चारुता तथा सम्यक्ता लाने के लिये लेखक से बार बार आग्रह किया था। खेद है कि इस जीवन-चरित के प्रकाशित होने से पूर्व ही वे संसार त्याग कर चले गये।

—भवानीलाल भारतीय

यावन्नगा भुवि दिवीन्दुदिवाकरौ च
यावच्च भूः सलिलनाथसनाथितेयम् ।।
तावन्महामहिमदेवदयार्णवस्य
सत्स्वामिनो भवतु शान्तिकरी समृद्धिः ।।

☐ स्व. जयदेव शर्मा, विद्यालंकार

(सरस्वतीभवन, आनासागर, अजमेर के ताम्रपट्ट पर अंकित)

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले ।
दयानन्दयशस्तावत् लोकेषु प्रचरिष्यति ।।

नवजागरण के पुरोधा : दयानन्द सरस्वती

द्वे वचसी—डॉ० स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती	१
लेखक का वक्तव्य	५
भारतीय नवजागरण के विभिन्न आयाम	१०
दयानन्द सरस्वती : जीवनी लेखन के प्रयत्न और उनका मूल्याङ्कन	७

अध्यायक्रम **पृष्ठ**

१. शैशव और अध्ययन	१
२. महाभिनिष्क्रमण—उत्तराखण्ड परिभ्रमण	२१
३. गंगा और नर्मदा के तट पर	३५
४. मथुरा की पाठशाला	४७
५. परिव्राजक का देशाटन	५९
६. गाङ्गेय प्रदेश का भ्रमण—१	७८
७. गाङ्गेय प्रदेश का भ्रमण—२	११६
८. काशी शास्त्रार्थ	१३७
९. पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा बिहार में	१५८
१०. भारत की तत्कालीन राजधानी में	१८१
११. पुनः पश्चिमोत्तर प्रदेश में	२०३
१२. मुम्बई प्रदेश का भ्रमण	२२१
१३. आर्यसमाज संस्थापना	२४२
१४. पश्चिमोत्तर प्रदेश का अवशिष्ट भ्रमण	२७३
१५. पांच नदियों के देश में	२९०
१६. पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा राजस्थान में धर्मप्रचार	३३२
१७. हरिद्वारीय कुम्भ में	३५०
१८. शास्त्रप्रचार के लिये वैदिक यंत्रालय	३८०
१९. सार्वजनिक जीवन के क्षितिज पर	४०९
२०. देशी रजवाड़ों का सुधार	४२६
२१. मुम्बई का अन्तिम प्रवास	४४७
२२. प्रकरण चतुष्टय	४६३
२३. महाराणाओं की धरती पर	४८३
२४. महाप्रस्थान के पथ पर—विषप्रकरण	४९७
२५. जीवनसंध्या	५३७

परिशिष्ट

१. संशोधन एवं परिवर्धन ५४७
२. दयानन्द सरस्वती : विचार विश्लेषण ५५८
३. श्रद्धाञ्जलियां ५८०
४. दयानन्द सरस्वती विरचित ग्रन्थ ५८२
५. स्वामी दयानन्द के कुछ प्रसिद्ध शास्त्रार्थ ५८४
६. ग्रन्थ सूची—(अ) जीवनचरितविषयक उपादान ५८९
(आ) आत्मकथा : विभिन्न संस्करण ५९१
(इ) हिन्दी जीवनचरित ५९२
(ई) अन्य भाषाओं में लिखित जीवनचरित ५९३
(उ) सहायक एवं संदर्भ ग्रन्थ ६००
७. सहायक पत्र पत्रिकाओं का विवरण ६०३

नवजागरण के पुरोधा : स्वामी दयानन्द सरस्वती

जन्म : १८२४ ई. निर्वाण : १८८३ ई.

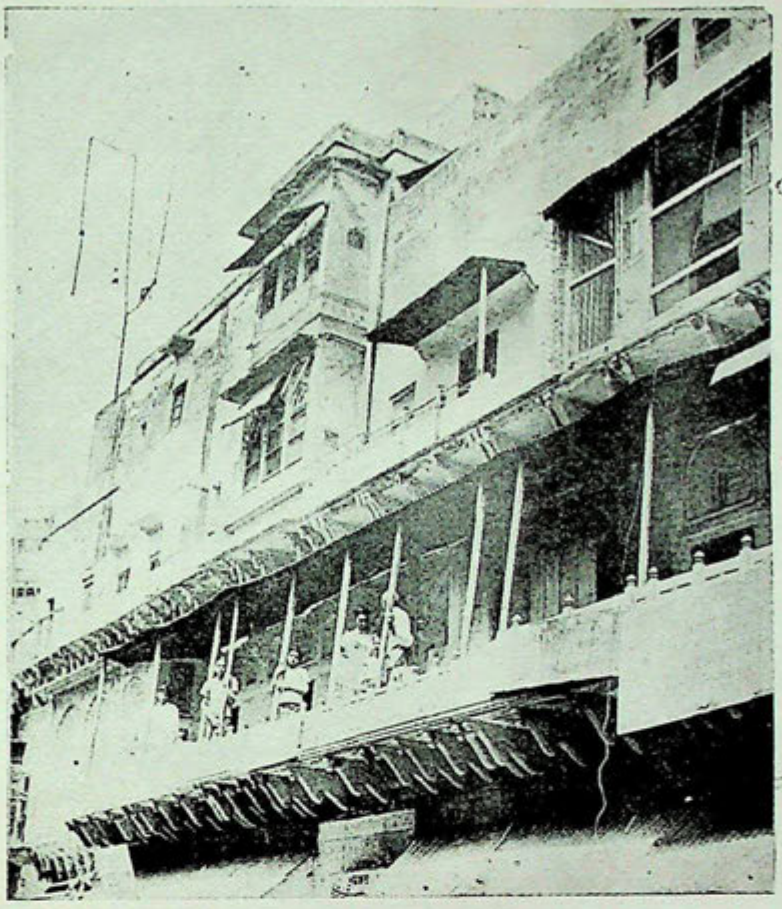

मथुरा के स्वामीघाट पर स्थित जोशी बाबा अमरलाल की हवेली—
जहाँ स्वामी दयानन्द मथुरा निवास के समय भोजनार्थ जाते थे.

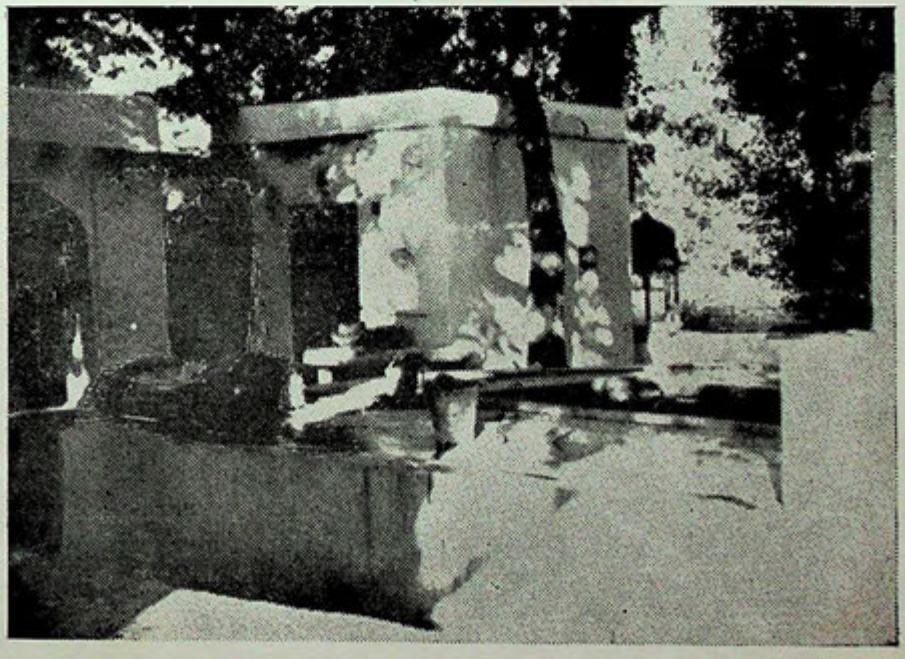

किशनगढ़ का सुखसागर कूप—जहाँ स्वामीजी विराजे थे.

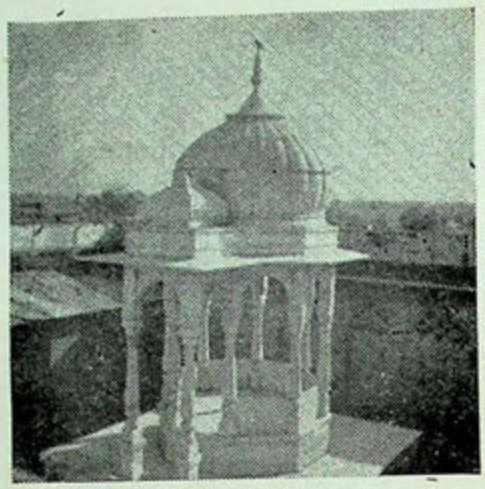

नसीराबाद का भूताखेड़ी उद्यान—
जहाँ स्वामीजी ने निवास किया था.

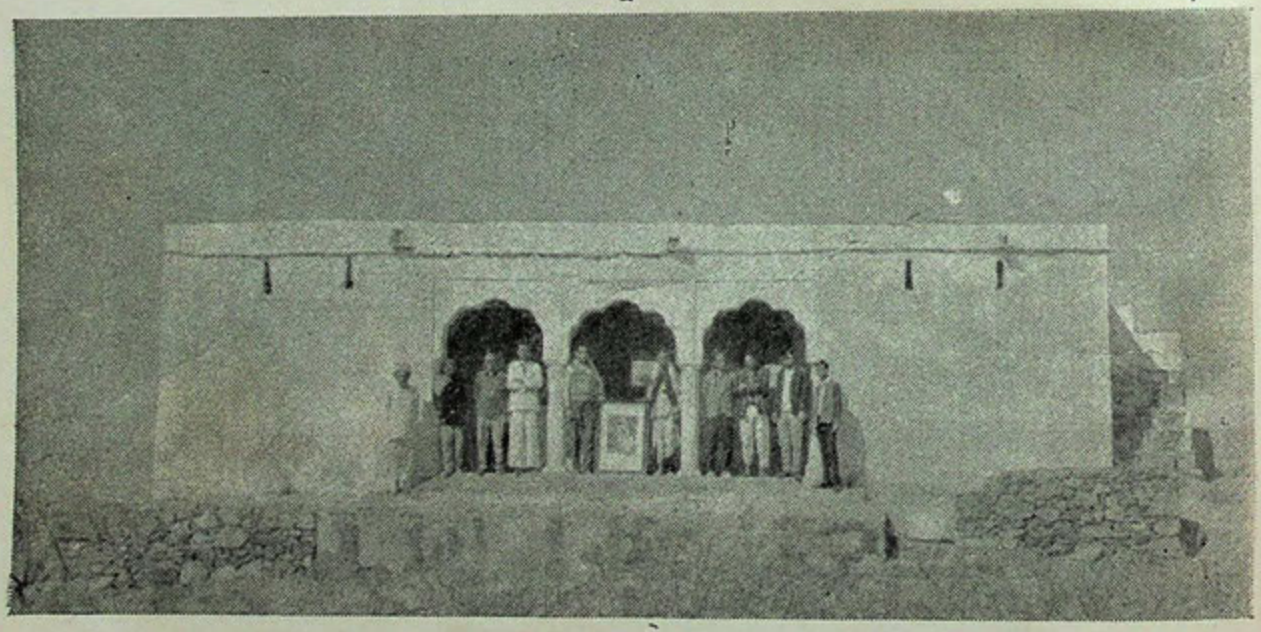

मसूदा की सोनमगरी (पहाड़ी)—मसूदा प्रवास काल में स्वामी दयानन्द का निवास स्थान.

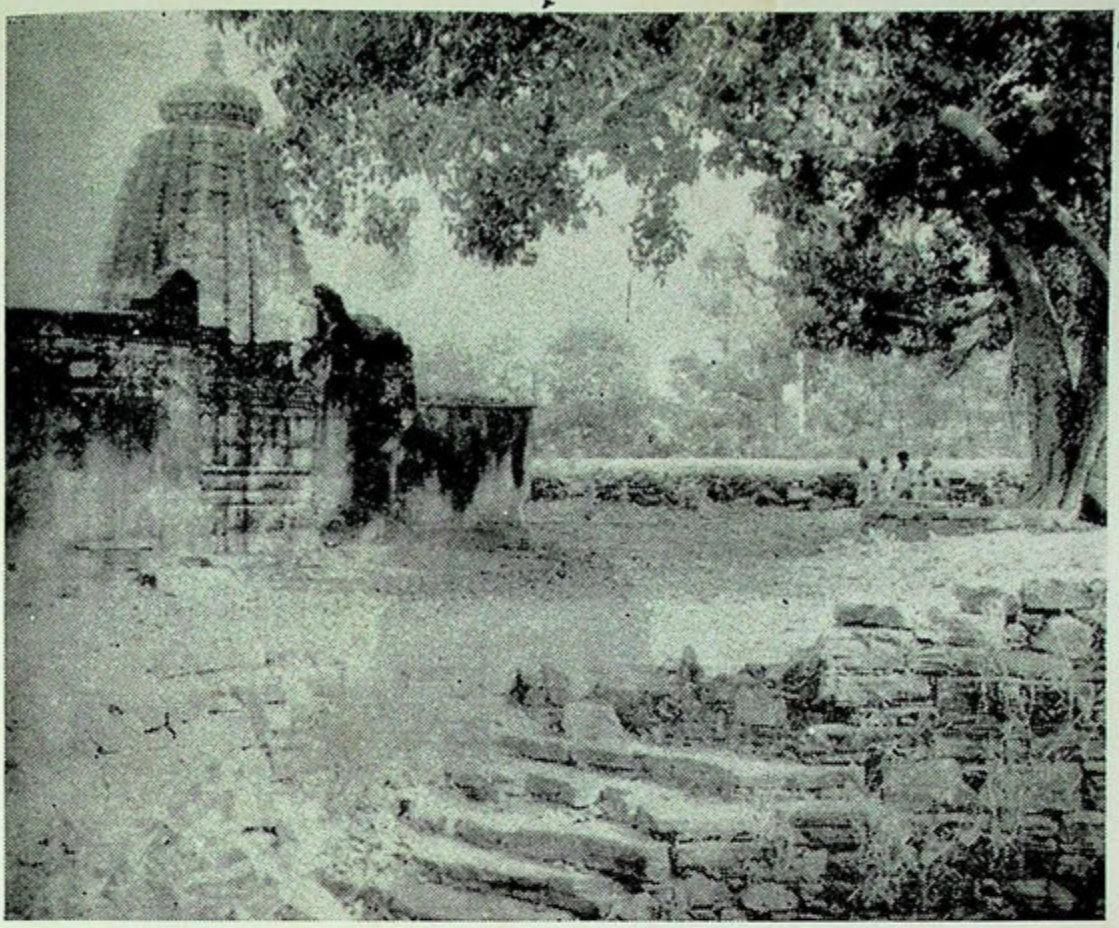

बनेड़ा स्थित झालरा कूप, जिसके निकट राजा गोविन्दसिंह ने स्वामीजी के निवासार्थ शामियाने लगवाये थे.

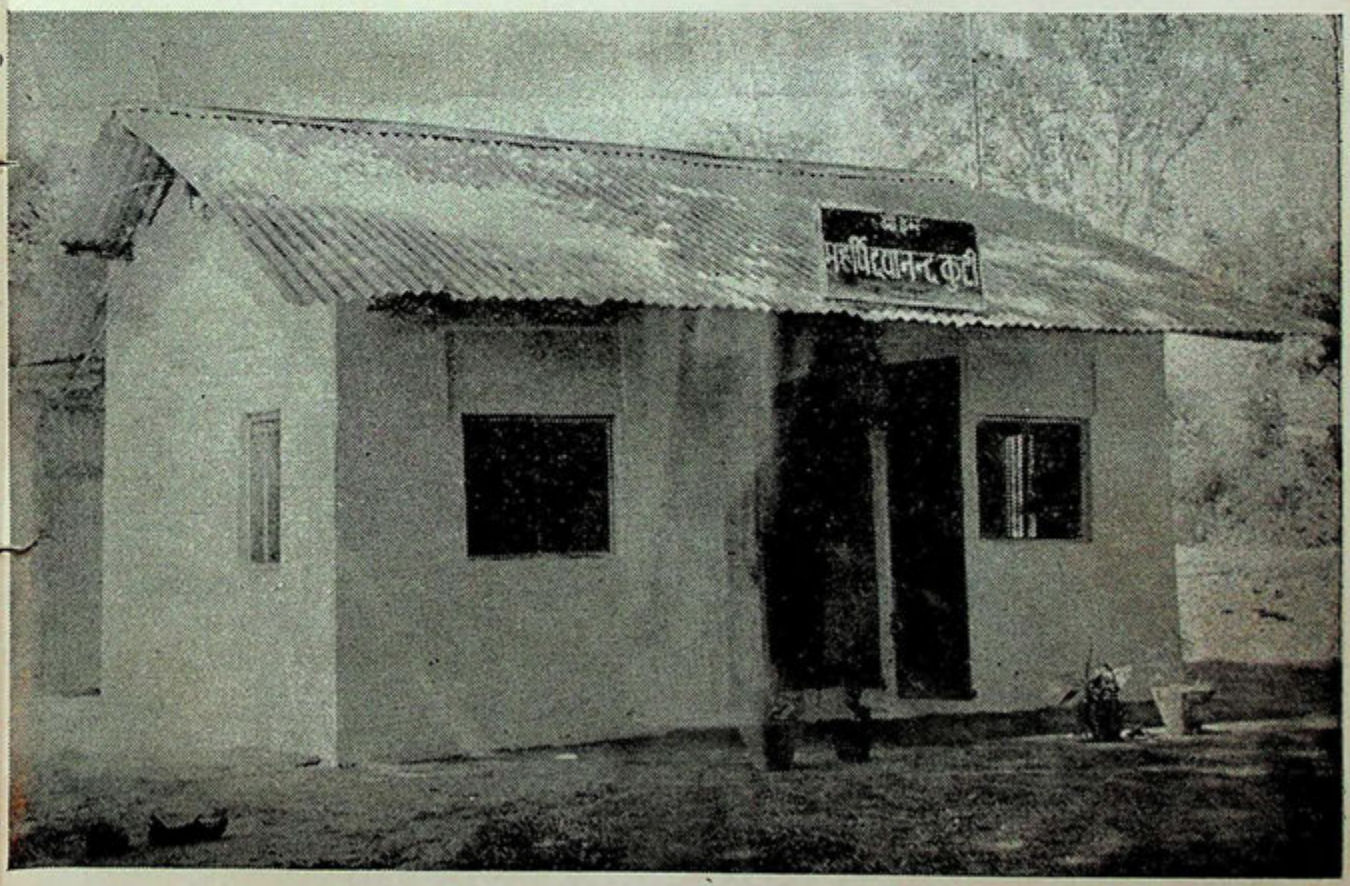

शाहपुरा के रैतियाबाग राजमहल में स्वामीजी के निवासार्थ बनाई गई विशेष कुटिया.

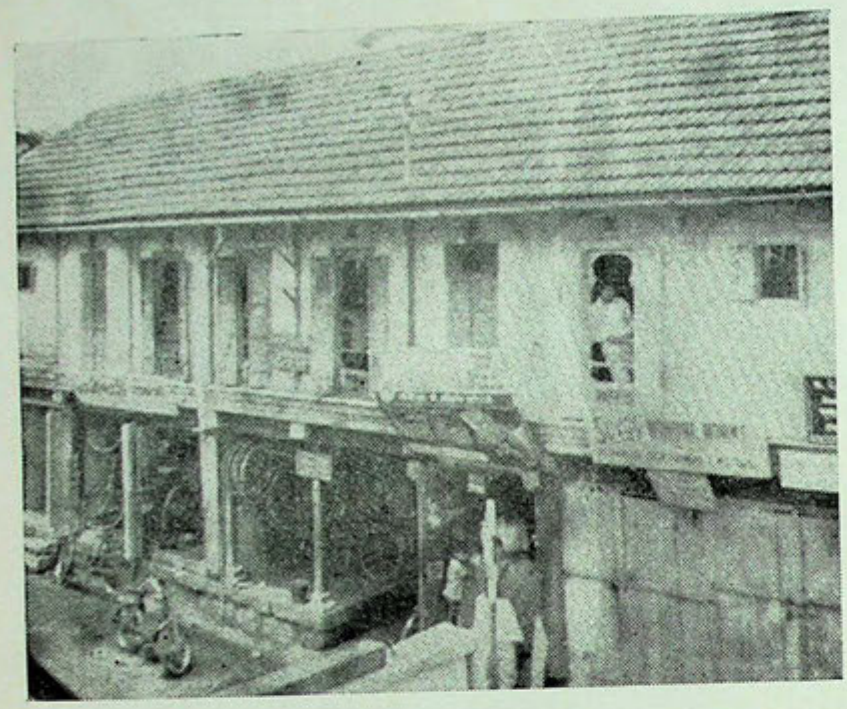

भिड़े का बाड़ा (ऊपरी मंजिल), पुणे
जहाँ महर्षि दयानन्द ने १८७५ ई. में अपने
प्रसिद्ध व्याख्यान दिये थे.

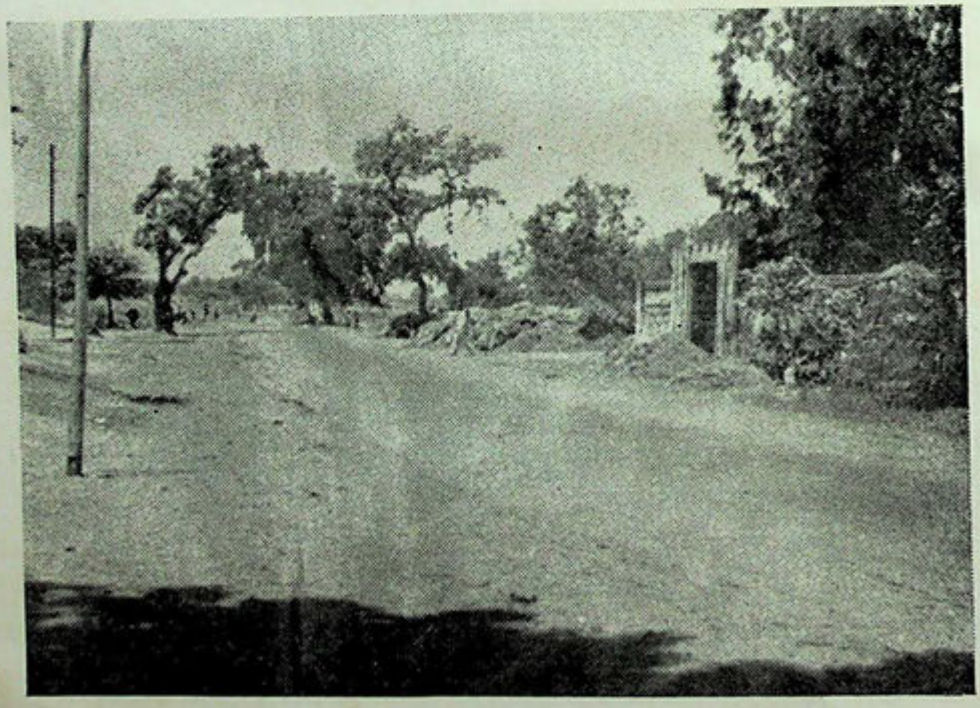

भारौल—शिकोहाबाद मार्ग, ६ जुलाई १८८० को स्वामी दयानन्द घोड़ा-
गाड़ी पर सवार होकर इसी मार्ग से शिकोहाबाद स्टेशन गये थे,
जहाँ से उन्हें मेरठ जाना था.

ऋषि उद्यान स्थित यज्ञशाला

जहाँ दयानन्द सरस्वती के अवशेषों को विकीर्ण किया गया था. शताब्दी के अवसर पर नवनिर्मित यज्ञशाला में चतुर्वेद पारायण महायज्ञ सम्पन्न हो रहा है.

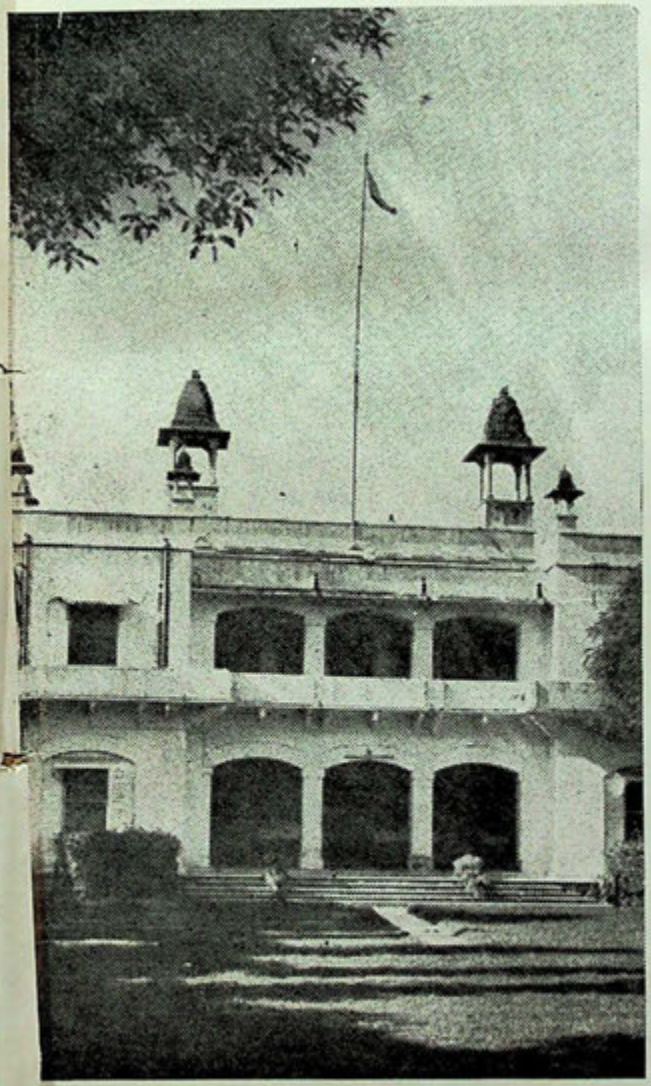

ऋषि उद्यान, अजमेर स्थित सरस्वतीभवन

जहाँ महर्षि की उपयोग की वस्तुएँ प्रदर्शित है.

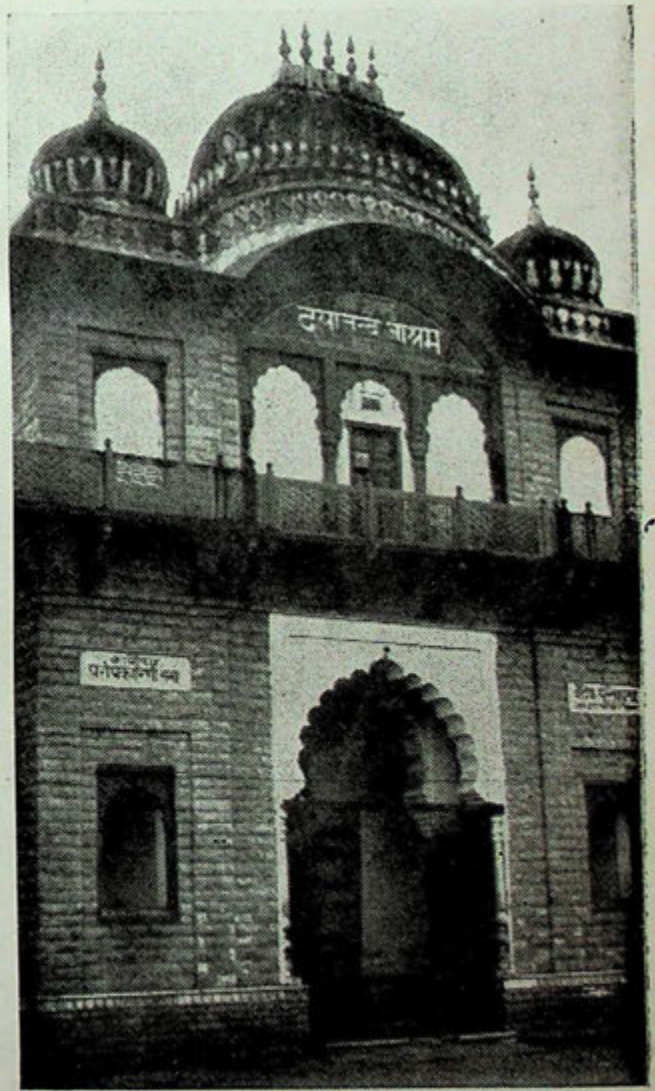

दयानन्द आश्रम : परोपकारिणी सभा एवम् वैदिक पुस्तकालय

जहाँ महर्षि के हस्तलेख व पुस्तकें सुरक्षित है.

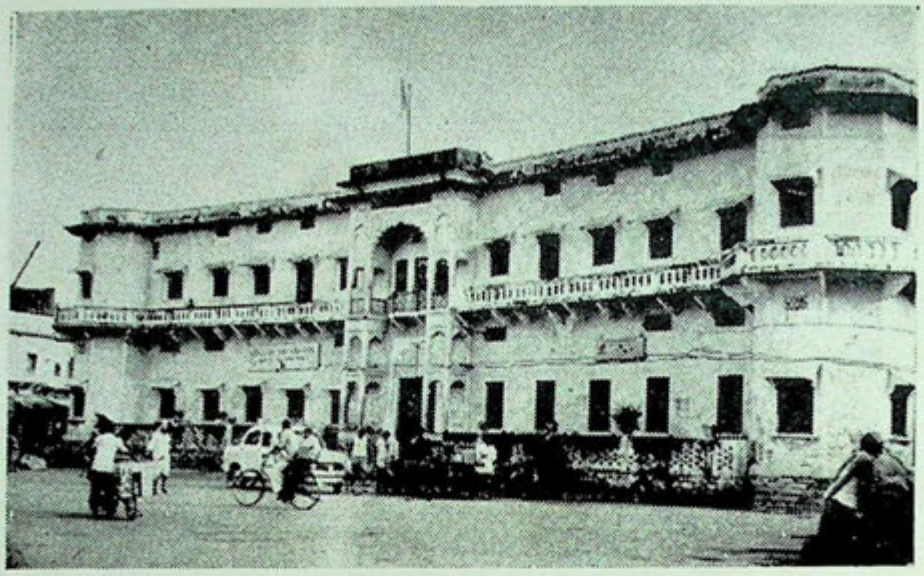

महर्षि दयानन्द द्वारा स्थापित मुद्रणालय
वैदिक यन्त्रालय : जहाँ महर्षि कृत ग्रन्थों का मुद्रण होता है

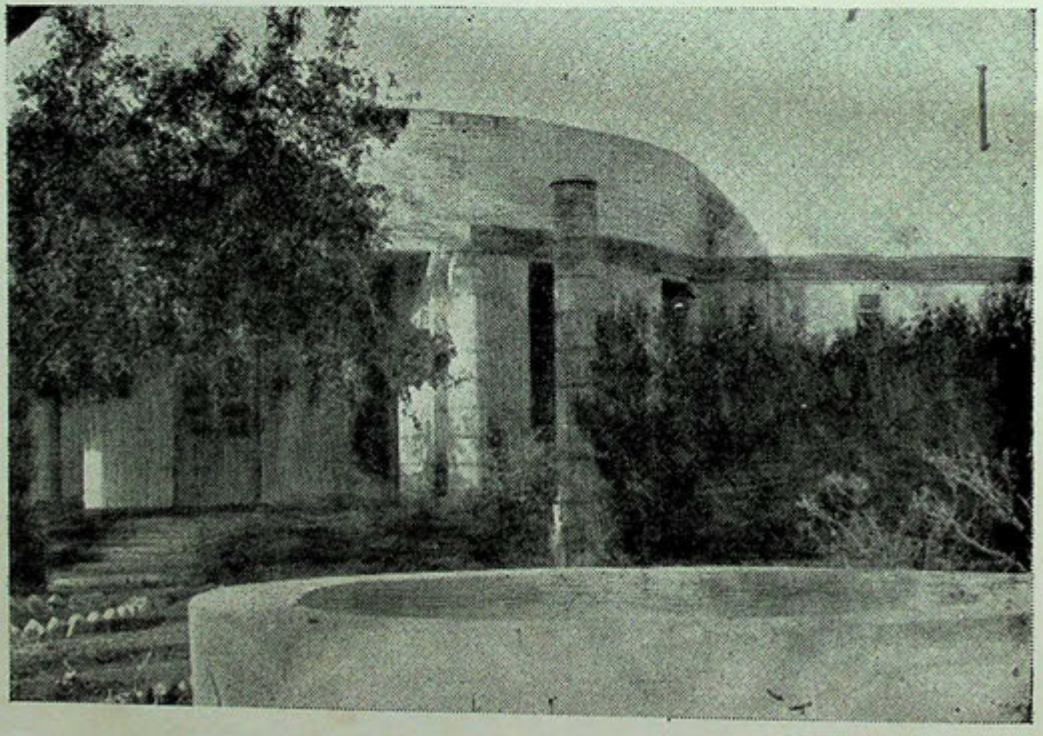

भिनाय कोठी—महर्षि दयानन्द निर्वाण स्मारक अजमेर
जहाँ महर्षि का देहावसान हुआ।

द्वे वचसी

सन् १८२४ ई. में टंकारा (सौराष्ट्र) नामक छोटे से स्थान पर एक शिशु का जन्म हुआ था। १८८३ ई. में, अर्थात् आज से १०० वर्ष पूर्व इस व्यक्ति की ५९ वर्ष की आयु में अजमेर में मृत्यु हुई। उसने १८७५ ई. में बम्बई में एक संस्था को जन्म दिया। यह व्यक्ति **दयानन्द सरस्वती** के नाम से विख्यात हुआ और जिस संस्था का यह प्रवर्त्तक था, उसका नाम **आर्यसमाज** है। उन्नीसवीं शतक के इस महामानव ने साम्प्रदायिकता और अन्धविश्वासों से ग्रस्त समाज में नवीन क्रान्ति जागृत करने का प्रयास किया। उस समय की सभी शक्तियाँ उसके विरोध में संघटित हो गयीं, जिसका परिणाम यही होना था, कि उसे विष दिये गये, और अन्तिम विष उसके जीवनान्त का कारण बना। लगभग यही समय था जब यूरोप में कार्लमार्क्स ने अपने क्रान्तिकारी तत्त्वदर्शन का निर्वचन किया। उसका भी सब दिशाओं से विरोध किया गया, किन्तु फिर भी उसके नये ढंग के समाजवाद या साम्यवाद की विजय हुई। यूरोप में विज्ञान और विज्ञानमूलक शिल्प का उदय हो रहा था, जिसने सम्पत्ति-उत्पादन और वितरण की पुरानी परम्परागत आस्थाओं को छिन्नभिन्न करना आरम्भ कर दिया। फ्रान्स में राज्यक्रान्ति हो चुकी थी। बीसवीं शती के प्रथम दो शतकों ने यूरोप को बाध्य किया और समाजवाद के नये घोष प्रारम्भ हो गए। उस समय भारतवर्ष का राजनीतिक ढाँचा जीर्ण हो गया था। राज्यसत्ता अंग्रेजों के हाथ में धीरे धीरे जा रही थी। देशी राज्य नपुंसकता की सीमा तक पहुँच चुके थे। इस दारिद्र्य की स्थिति में साम्प्रदायिकता देश के रहे सहे परम्परागत वैभव और आदर्शों को भी समाप्त करने में उद्यत हो गयी थी। देश की भूमि पर ९०० ई. के लगभग से इस्लाम तो पनप चुका ही था (३२ करोड़ की जनता में १० करोड़ व्यक्ति मुसलमान बन चुके थे)। १६ वीं-१७ वीं शतक से मध्य-एशियाई ईसाई धर्म यूरोपियनों के माध्यम से भारतभूमि पर अंकुरित हो रहा था। देश की ऐसी स्थिति में ऋषि दयानन्द का आविर्भाव हुआ।

लगभग १८६७ ई. से महर्षि दयानन्द ने जागरण के नवीन कार्यक्रम को घोषित किया। कुम्भ मेले के अवसर पर १२ मार्च १८६७ ई. को यह हरिद्वार पहुँचे, और उन्होंने अपने निवास पर "**पाखण्डखण्डनपताका**" गाडी (हरिद्वार में इस घटना का ऐतिहासिक स्मारक मोहन-आश्रम, भूपतवाला, में देखिये)। हिन्दुओं के इस विशाल मेले में ऐसा चमत्कार इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ था। संस्कृत वाणी में वक्तृता देने वाला कौपीनधारी एक विचित्र संन्यासी भारतीय समाज में प्रचलित लगभग सभी मान्यताओं का शास्त्रों के आधार पर खण्डन कर रहा है—निर्भयता और आत्मनिरर्भता के बल पर, और चुनौती दे रहा है सभी विद्वज्जनों, प्रकाण्ड-पण्डितों और शास्त्रमर्मज्ञों को। १८५७ ई. की विद्रोह-क्रान्ति से कहीं अधिक बलवती यह क्रान्ति थी। लोगों ने उसको न समझा, सभी तिलमिला उठे। दयानन्द अकेला था और उसके विरोध में सब इकट्ठे हो गए।

प्रो. डा. भवानीलाल भारतीय ने इसी अद्भुत व्यक्ति का जीवन-चरित लिखा है और इसका प्रकाशन दयानन्द की उत्तराधिकारिणी **परोपकारिणी सभा** अजमेर, की ओर से हो रहा है। डा. भारतीय हमारे ख्यातिलब्ध लेखकों और चिन्तकों में से एक हैं। स्वामीजी की विचारधारा से पूर्णतया परिचित हैं। वे दयानन्दविषयक समस्त ऐतिहासिक सामग्री से परिचित हैं। अनेक ग्रन्थों का डा. भारतीय ने प्रणयन किया है, और सभी प्रकार से स्वामी दयानन्द का जीवन-चरित लिखने के वे अधिकारी हैं।

स्वामी दयानन्द ने पूना-प्रवचन में और **थियोसोफिस्ट** के अंकों में अपने जीवनवृत्त की ओर थोड़ा सा संकेत किया था। पं. लेखरामजी ने १८८८-१८९७ तक ऋषि दयानन्द के जीवनवृत्तों का संग्रह किया, जिसके आधार पर श्री आत्माराम अमृतसरी ने **"महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र"** नामक एक ग्रन्थ सम्पादित किया। पं. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने १८९४ में **दयानन्द-चरित** नामक एक पुस्तक बंगाली भाषा में दो भागों में प्रकाशित की, और उन्होंने ऋषि के जीवन-वृत्तों पर बड़ी सावधानी से अनुसन्धान कार्य किया (१९१५-१६), देवेन्द्र बाबू बीमार पड़ गए और उनकी सहसा मृत्यु हो गयी। उनकी संकलित सामग्री के आधार पर पं० घासीराम जी ने दो भागों में ऋषि की जीवनी फिर से लिखी, जो आर्य-साहित्य मण्डल अजमेर से १९३३ में छपी। ऋषि दयानन्द के जीवनचरितों में श्री हरबिलास शारदा का ग्रन्थ **"लाइफ आव् दयानन्द सरस्वती"** (१९४६) और हाल में डा. जॉर्डन्स की लिखी जीवनी भी उल्लेखनीय हैं। इसी बीच में कुछ ऐसी विवादास्पद जनश्रुतियाँ भी स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में प्रचलित हो गयीं, जो इतिहास की दृष्टि से अशोभनीय थीं। मृत्यु का कारण बनने वाली जोधपुर की, रसोइये वाली घटना पर सन्देह उत्पन्न होने लगे और साथ ही साथ विषदाता को क्षमादान के प्रसंग के ऋषि के काल्पनिक चित्र भी बने, और कवियों ने इस सम्बन्ध में आवेशपूर्ण रचनायें और कवितायें भी लिखीं। दूसरा विवादास्पद विषय **१८५७ की राजक्रान्ति में ऋषि दयानन्द का योग-दान** है। इस भ्रान्ति के फैलाने वाले कतिपय भावुक व्यक्ति थे जिन्होंने ऋषि दयानन्द का झाँसी की रानी, तात्याटोपे, और नाना साहेब से संपर्क सिद्ध करना चाहा। बाद को इसी राज्यक्रान्ति के साथ गुरुवर विरजानन्द का भी नाम जोड़ा गया। तीसरा भ्रामक अंश ऋषि की योग सम्बन्धी विभूतियों और चमत्कारों का है। डा० भवानीलाल भारतीय ने इन सब प्रसंगों पर अच्छी प्रकार विचार किया है, और जो कुछ भी उन्होंने इस ग्रन्थ में दिया है, वह अधिकार-पूर्वक है। ऋषि दयानन्द के जीवन के सम्बन्ध में नयी-नयी जनश्रुतियाँ बढ़ती जा रही हैं, अतः हमें इनके विषय में सतर्क रहने की आवश्यकता है। संभवतया प्रत्येक युग-पुरुष के जीवनचरित के संबंध में ऐसा ही रहा है। अन्त में परिणाम यह होता है कि उस व्यक्ति के ऐतिहासिक सच्चे विवरण गौण पड़ जाते हैं, और जनश्रुतियाँ प्रधान अंग बन जाती हैं। आज हमारे सामने ईसा मसीह के दो व्यक्तित्व हैं। (१) इतिहास का जीसस (Jesus of History), और (२)श्रद्धालुओं का क्राइस्ट (Christ of Faith)। इसी प्रकार महाभारत का कृष्ण और श्रीमद्भागवत का (या भक्तों का) कृष्ण। इसी प्रकार कहीं इतिहास का दयानन्द और भावुक जनश्रुतियाँ का दयानन्द—दो अलग अलग न हो जायं। मुझे प्रसन्नता है कि डा० भवानीलाल भारतीय ने इस जीवनचरित के लिखने में उस संयम से काम लिया है, जो इतिहास-लेखक की गौरवपूर्ण विशेषता है।

महर्षि दयानन्द के जीवन में प्रगतिशीलता थी, वे सत्य के अन्वेषी थे। धीरे धीरे उन्होंने अपने मन्तव्यों और विचारों में परिमार्जन किया। प्रारम्भ में उन्होंने भागवत-धर्म का खण्डन किया और शैव मत का समर्थन। प्रारम्भ में वे अद्वैतवादी थे, पर धीरे धीरे उनके विचार प्रौढ़ होते गए। उनमें किसी प्रकार का भी दुराग्रह न था। उनका दृष्टिकोण व्यापक और विशद था। जीवन और समाज की वह पूर्ण व्याख्या करना चाहते थे, और अपनी विचार क्रान्ति में सबको साथ ले चलना चाहते थे।

जब कि यूरोप में वहाँ के धर्माचार्यों ने विज्ञान और आधुनिक शिल्प का विरोध किया, महर्षि दयानन्द ने भारत में विज्ञान और शिल्प के प्रचलन का स्वागत किया। वे चाहते थे कि भारत में बिजली और अग्नि के विविध उपयोग हों। भारतीय वायुयान भी बनावें। वे विज्ञान और शिल्प भारतीय परम्परा के अनुकूल समझते थे।

भारत में बड़े से बड़ा दार्शनिक भौतिकवाद का विरोधी बन रहा था। किन्तु महर्षि दयानन्द ने सृष्टि और सृष्टिकर्त्ता दोनों को सत्य घोषित किया और अभ्युदय और निःश्रेयस के बीच में समन्वय का प्रयास किया। सहस्रों वर्ष बाद भारत में एक ऐसा मनीषी पैदा हुआ जिसमें प्रकाण्ड पाण्डित्य था, नैतिकता में जिसकी अद्वितीय आस्था थी, जिसका दार्शनिक तत्त्वज्ञान उदात्त और यथार्थता के सिद्धान्तों पर आधारित था, जिसने मानव समाज की छोटी सी छोटी विकृति की ओर भी ध्यान दिया था, और भारत के उज्जवल भविष्य की भी जिसने कल्पना की थी। साथ ही साथ भारत के बाहर अन्य देशों में जो सम्प्रदायवाद अंकुरित हो गए थे, उनके कारणों पर भी उसने विचार किया था--उसने उनकी उलझी समस्याओं का भी निदान दिया। सर्वतोमुखी प्रतिभा के ऐसे क्रान्तिकारी इतिहास में यदा-कदा ही जन्मते हैं। वह दरिद्रों, शोषितों, दलितों और पतितों—सबका प्रतिनिधि था--सबके प्रति उसके हृदय में वेदना थी।

मैं बहुधा कहा करता हूँ कि यदि कोई दयानन्द के दृष्टिकोण को समझ ले, तो यदि वह ईसाई है, तो और भी अधिक अच्छा और ईमानदार ईसाई बन सकता है; हिन्दू है तो वह दयानन्द को समझने के बाद अच्छा हिन्दू बन सकता है; जैन, मुसलमान, सिक्ख, पारसी है, तो अच्छा जैन, मुसलमान, सिक्ख और पारसी बन सकता है; यदि वह राजनीतिक या राष्ट्रवादी है, तो दयानन्द के दृष्टिकोण को समझ लेने पर वह अपने क्षेत्र का अच्छा कार्यकर्त्ता बन सकता है; यदि वह समाजवादी या साम्यवादी है, तो वह अच्छा समाजवादी या साम्यवादी बन सकता है। दयानन्द के दृष्टिकोण को ठीक समझ लेने पर ब्राह्मण अच्छा ब्राह्मण, क्षत्रिय अच्छा क्षत्रिय, वैश्य अच्छा वैश्य और शूद्र अच्छा शूद्र बन सकता है।

दयानन्द ने अपने नाम का कोई दर्शन नहीं चलाया, दयानन्द ने स्वयं अपने नाम की कोई संस्था नहीं खोली, दयानन्द के नाम का न कोई मन्दिर या मठ है जिसमें दयानन्द के नाम का कीर्तन होता हो अथवा जहाँ उसकी अर्चना और पूजा होती हो। उसके नाम पर आर्यसमाज ने जितने स्मारक बनाये या जितनी संस्थायें खोलीं, वे दयानन्द के दृष्टिकोण को समझने-समझाने के लिए हैं। साथ ही साथ, यह भी याद रखना चाहिए कि दयानन्द का अपना कोई नया या विलक्षण दृष्टिकोण भी न था—यह वही दृष्टिकोण था जो दयानन्द के

शब्दों में "ब्रह्मा से लेकर जैमिनिपर्यन्त" ऋषियों का था। भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक अनार्षकाल आया, और तब से सम्प्रदायवाद आरम्भ हुआ, मतमतान्तरवाद फैला, और धर्म के नाम पर युद्ध होने लगे। प्राचीन ऋषियों ने (गोतम, कपिल, कणाद, व्यास आदि) किसी ने भी अपने नाम का कोई धर्म नहीं चलाया था, न उन्होंने अपने को ईश्वर का तद्-स्थानीय घोषित किया था। इस दृष्टि से वे ऋषि वैसे ही थे जैसे आज के वैज्ञानिक, विचारक या तत्त्ववेत्ता (न्यूटन, आइन्स्टाइन, कार्लमार्क्स या डार्विन)। जब सम्प्रदायवाद न था, तो धर्म या तत्त्वज्ञान के नाम पर युद्ध भी नहीं होते थे। इधर महात्मा जरथुश्त्र के बाद पैग़म्बर-वाद आया, जैन और बौद्धों के बाद मनुष्य नाम पर समुदाय बने, और इनके देखा देखी अवतारवाद भी वैष्णवों ने प्रचलित कर दिया (अवतार केवल विष्णु के हैं, ब्रह्मा और शिव के नहीं)। मानवसमाज बिखर गया। पैग़म्बरवाद और अवतारवाद दोनों ने मनुष्य के स्वाभाविक धर्म को कलंकित कर दिया। आज से ५-६ हजार वर्ष पूर्व ज्ञान-विज्ञान-तत्त्वज्ञान या धर्म के नाम पर युद्ध नहीं होते थे—युद्ध के कारण तीन ही थे, ज़र, ज़न और ज़मीन (धन, नारी और भूमि)। स्वामी दयानन्द सभी प्रकार के युद्धों के विरोधी थे। युद्ध का समर्थन प्रजा की रक्षा मात्र के लिए और अत्याचारियों के पीडन से निर्बलों को बचाने के लिए ही था। धर्म या सम्प्रदायवाद की आड़ में स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए जो युद्ध किए जाते हैं, वे धर्म को कलंकित करते हैं।

ऋषि दयानन्द के जीवन पर अनेक दृष्टियों से हमारे विद्वान् अब अध्ययन करने लगे हैं—भारत के गवेषक ही नहीं, बाहर के देशों के शोधछात्र और उनके आचार्य भी। भारतीय विश्वविद्यालयों के अनेक विभागों में दयानन्द सम्बन्धी अध्ययन आरम्भ होगए हैं। इस प्रकार के अध्ययन का क्रम बढ़ता ही जायगा। इस अध्ययन के साथ, **आर्यसमाज** की गतिविधि की की भी लोग विवेचना करेंगे।

दयानन्द के स्वप्नों की एक दुनिया थी—हम उन सपनों के निकट पहुँच रहे या उनसे दूर हट रहे हैं, इसकी आलोचनायें भी समय समय पर हमारे शोधछात्र स्वतंत्रतापूर्वक पूर्ण अधिकार से करेंगे। इस छात्रों में अनेक तो ऐसे होंगे, जो आर्यसमाज के संघटन के अंग नहीं हैं—वे आर्यसमाज की गतिविधि का तटस्थता से अध्ययन करेंगे। इनके अध्ययन के परिणाम-स्वरूप जो आलोचनायें हमारे समक्ष आवेंगी वे हमारे लिए कल्याणकर होंगी, चाहें वे ऊपर से प्रिय हों या कटु। मैं दोनों प्रकार की आलोचनाओं का स्वागत करता हूँ।

स्वामी दयानन्द की निर्वाणशती के अवसर पर दयानन्द अनुसंधान पीठ, पञ्जाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ के अध्यक्ष प्रो. भवानीलाल भारतीय ने अध्यवसाय और अनुभव के आधार पर ऋषि का यह जीवनचरित जनता को भेंट किया है। लेखनी के महाधन भारतीय को बधाइयाँ और मेरा आशीर्वाद।

विज्ञान-परिषद्
प्रयाग
२६ जुलाई १९८३

डा० सत्यप्रकाश सरस्वती

लेखक का वक्तव्य

दयानन्द सरस्वती के व्यक्तित्व एवं विचारों के प्रति मेरा आकर्षण बाल्यकाल से ही रहा है। कालान्तर में उनके विभिन्न जीवनचरितों तथा तत् सम्बन्धी साहित्य का विशद अध्ययन, मनन तथा चिन्तन करने का अवसर प्राप्त होता रहा। यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि विगत तीन दशकों की सुदीर्घ अवधि में मेरे अध्ययन का प्रमुख विषय दयानन्द सरस्वती का व्यक्तित्व एवं विचार ही रहे हैं। नवजागरण के पुरोधा, इस महापुरुष के सम्बन्ध में जितना साहित्य मुझे जहां से उपलब्ध हुआ, पढ़ा, विचारा तथा यदा कदा लेखों एवं ग्रन्थों के माध्यम से दयानन्दविषयक स्वकीय धारणाओं को व्यक्त भी किया। अंग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत, गुजराती तथा मराठी भाषाओं में एतद्विषयक नवीन एवं प्राचीन सभी पुस्तकों को पढ़ने का प्रयत्न किया। उर्दू से अनभिज्ञ होने के कारण जहां इस भाषा में लिखे गये दयानन्दविषयक साहित्य को प्रत्यक्ष पढ़ना सम्भव नहीं था, प्रयत्न किया कि उर्दू पठित व्यक्ति के सहयोग से सम्बन्धित ग्रन्थ की विषय वस्तु से परिचित हो जाऊं।

तथापि मैंने कभी यह सोचा भी नहीं था कि भारतीय जागरण के इस ज्योतिर्धर महामानव के जीवन की महागाथा को लिखने की पात्रता भी मुझमें कभी आ सकेगी। कारण कि पं. लेखराम आर्यपथिक तथा पं. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय जैसे अन्वेषकों और दयानन्द-चरित के गम्भीर अध्येताओं ने जीवनचरित लेखन के जो प्रयास विगत काल में किये थे, उनसे बढ़ कर लिख पाना क्या सम्भव होगा, यह प्रश्न बार बार मेरे समक्ष उपस्थित होता था। इस शताब्दी के सातवें दशक के प्रारम्भ में जब दयानन्द के जीवन से अनेक ऐसी मिथ्या घटनाओं, चमत्कारमूलक उपाख्यानों तथा कपोल कल्पित कथानकों को जोड़ा जाने लगा, तो मेरे जैसे सतर्क अध्येता के लिये चुप रहना कठिन हो गया। उस समय मैंने आर्यसमाज की पत्र-पत्रिकाओं में शतशः लेख प्रकाशित कर दयानन्द के अनुयायियों और भक्तों को चेतावनी दी कि दयानन्द जैसे बुद्धिवाद के प्रखर पोषक तथा राष्ट्रीय चेतना के जनक महापुरुष के साथ जिस प्रकार के किस्से कहानियां जोड़े जा रहे हैं, यदि समय रहते उनका कोई प्रतीकार नहीं किया गया, तो समयान्तर में दयानन्द का जीवनचरित भी एक नवीन 'पुराण' बन कर रह जायगा। यहां यह लिख देना अप्रासंगिक न होगा कि भक्ति के अतिरेक के कारण दयानन्द के ही समकालीन रामकृष्ण परमहंस तथा विवेकानन्द जैसे मनस्वी पुरुषों के जीवनचरितों में भी इस प्रकार के अनेक अलौकिक चमत्कार प्रदर्शित किये जाने वाले उपाख्यान जोड़े जा चुके हैं।

मेरी चेतावनी अरण्यरोदन तो सिद्ध नहीं हुई, क्योंकि आर्यसमाज जैसी प्रबुद्ध संस्था में ऐसे विद्वानों, विचारकों तथा चिन्तकों की कमी नहीं थी, जो यह अनुभव करते थे कि दयानन्द को उसके सही रूप के चित्रित किया जाना ही अपेक्षित है। दयानन्द संन्यासी थे, उन्होंने चतुर्थाश्रम की मर्यादाओं का आजीवन पालन किया। देश, धर्म, समाज और विश्व-मानव में नवजागृति एवं अभिनव चेतना का संचार करने के लिये वे जिस वैचारिक क्रान्ति का सूत्रपात करना चाहते थे, वह लोगों के मनों एवं मस्तिष्कों को प्रभावित करके ही लाई जा

सकती थी। शासन सत्ता परिवर्तन के लिये उन्होंने स्वयं कोई सक्रिय प्रयास किया था, ऐसा सोचने वाले दयानन्द की मनःस्थिति, उनके वैचारिक धरातल, उनकी कार्य प्रणाली तथा उनके चिन्तन की प्रक्रिया से सर्वथा अपरिचित ही मालूम होते हैं। ऐसे ही लोगों ने किसी प्रसंग में दयानन्द को श्वेताश्वारोही के रूप में हाथ में खड्ग लिये हुए चित्रित किया है, मानो सारे फिरंगी इसी संन्यासी की तलवार से मारे जावेंगे ; और किसी अन्य प्रसंग में इतिहास के तथ्यों को पूर्णतया विस्मृत कर कभी उन्हें मंगल पाण्डे से भेंट करते, तो कभी १८५७ की हलचल के सभी महारथियों को एक साथ ही सम्बोधित करते दिखाने का उद्धत प्रयास किया है। ऐसे लोगों के लिये इतिहास के तथ्य भी मानो उनकी कल्पना के ही मुखापेक्षी होते हैं। ऐसी अनर्गल, निस्सार और भ्रान्त कल्पनाएं करते समय वे यह भूल जाते हैं कि इतिहास उनकी कोई निजी धरोहर नहीं है, जिसके साथ वे यथेच्छ बलात्कार करते रहें। अस्तु।

जब आर्यसमाज की पत्र पत्रिकाओं में ये सारे वाद विवाद प्रस्तुत किये जा रहे थे, तब इस आशंका से कि कहीं निकट भविष्य में अनर्गल लेखकों की ये दुस्साहसपूर्ण कल्पनाएं 'दयानन्दचरित' में जाने अनजाने प्रविष्ट न हो जावें, मैंने दयानन्दचरित के पुनर्लेखन का संकल्प किया। इस ग्रन्थ का आधारभूत आलेख तो आज से लगभग दस वर्ष पूर्व ही तैयार किया जा चुका था, किन्तु मैं उससे पूर्णतया संतुष्ट नहीं था। मेरे सामने कई समस्यायें थीं। क्या दयानन्द के जीवन की स्थूल घटनाओं को कालक्रम से निबद्ध कर देना ही पर्याप्त है, अथवा इन घटनाओं, कार्य व्यापारों तथा जीवनचर्या के पीछे चरित नायक की जो मूल संवेदनायें रहीं थीं, उनका उद्‌घाटन करना भी आवश्यक है ? अन्ततः यही निश्चय किया कि घटनाओं का उल्लेख मात्र ही पर्याप्त नहीं है, उनसे प्रतिफलित होने वाली नायक की विचार-सरणि, उसका भावसमूह तथा अन्ततः उसके विराट् व्यक्तित्व को उकेरने का प्रयास किया जाय। इस प्रयास में लेखक को कहां तक सफलता मिली है, यह तो सुधी पाठक ही बतायेंगे।

यहाँ संक्षेप में इस जीवनचरित की कतिपय विशेषताओं को उल्लिखित करना आवश्यक है। दयानन्द के जीवनचक्र का समग्र आलेखन करने के लिये यद्यपि यह लेखक पं. लेखराम तथा पं. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के अन्वेषणों पर ही निर्भर रहा है, तथापि विगत पचास वर्षों की अवधि में इस महापुरुष के जीवन से सम्बन्धित अनेक नवीन तथ्य, घटनायें तथा प्रसंग जब जब और जिस जिस प्रकार से उद्‌घाटित होते रहे हैं, उन सब का समावेश भी इस जीवनचरित में किया गया है। उदाहरणतः दयानन्द की जन्म तिथि एवं माता के नाम आदि की विवेचना के साथ साथ कर्णवास प्रसंग, कलकत्ता प्रवास का हेमचन्द्र चक्रवर्ती की दैनन्दिनी के आधार पर चित्रण, आर्यसमाज बम्बई के साप्ताहिक अधिवेशनों में स्वामी दयानन्द प्रदत्त प्रवचन आदि अनेक नूतन प्रसंगों की उद्‌भावना इस ग्रन्थ की एक प्रमुख विशेषता समझी जा सकती है। लेखक राजस्थान का निवासी है। स्वामी दयानन्द के राजस्थान (विशेषतः जोधपुर निवास) भ्रमण की जानकारी प्राप्त करने में उसकी व्यक्तिगत रुचि रही है। अतः राजस्थान विषयक अध्याय इस अञ्चल के तत्कालीन परिवेश, परिस्थितियाँ तथा जनजीवन को समग्रतः ध्यान के रखते हुए लिखे गये हैं। यह एक संयोग ही था कि श्री महाराज के जोधपुर प्रवास का विवरण लिखते समय जीवनी लेखक को भी जोधपुर में ही रहना पड़ा।

दयानन्द के जीवनचरित में तिथियों का विशेष महत्त्व है। यह सर्व विदित तथ्य है कि स्वामीजी पर्यटन प्रिय तुरीयाश्रमी थे। उन्होंने रावलपिण्डी से लेकर महाराष्ट्र के सातारा नगर तक तथा पूर्व दिशा में स्थित महानगर कलकत्ता से लेकर पश्चिम दिशा के राजकोट तक के विशाल भू भाग का विस्तृत भ्रमण किया था। विभिन्न स्थानों पर उनके आगमन एवं प्रस्थान की तिथियों का एक प्रामाणिक चार्ट स्व. पं. महेशप्रसाद मौलवी ने कई वर्ष पूर्व तैयार किया था। उसमें रह जाने वाली त्रुटियों का संशोधन कालान्तर में पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने स्वामीजी के पत्र व्यवहार में निर्दिष्ट तिथियों के आधार पर किया। प्रस्तुत जीवन चरित में पं. मीमांसक द्वारा संशोधित इस तिथिक्रम का सर्वत्र प्रयोग किया गया है क्योंकि इस लेखक की सम्मति में तिथियों की यह तालिका पर्याप्त शुद्ध तथा विश्वसनीय है। यहां यह ध्यातव्य है कि एतद्देशीय संस्कृति को प्रमुखता देने की दृष्टि से तिथियों का उल्लेख करते समय स्वदेशी मास तथा विक्रम संवत् को ही प्रथम लिखा गया है। ईस्वी सन्, मास तथा तिथि का उल्लेख उसके पश्चात् ही हुआ है।

स्वामी दयानन्द जिन जिन स्थानों पर गये, जिन ग्रामों, कस्बों, तथा नगरों में निवास किया, उनके सही नाम देने का प्रयास भी इस ग्रन्थ की विशिष्टता कही जा सकती है। व्यक्तियों के नामों को भी सही रूप में उल्लिखित किया गया है। पूर्ववर्ती जीवन लेखकों से कहां कहां एतद् विषयक भूलें हुई थीं, इनका स्पष्ट निर्देश प्रसंगोपात्त किया गया है। दयानन्द का जीवन घटनाबहुल रहा है। पुराने जीवनीकारों ने ग्रन्थलेखन से पूर्व नायक से सम्बन्धित सभी छोटी बड़ी, महत्त्वपूर्ण अथवा गौण घटनाओं का संग्रह कर लिया था तथा उन्हें अपने ग्रन्थों में निबद्ध भी कर डाला। परन्तु इस ग्रन्थ के लेखक ने इस बात का ध्यान रक्खा है कि प्रमुखतः उन्हीं घटनाओं का आलेखन किया जाय, जो कथानायक के व्यक्तित्व, चरित्र अथवा उसके वैशिष्ट्य को उभारने में सहायक हों। फलतः अनेक गौण अथवा महत्त्वहीन घटनाओं को अनुल्लेखनीय जान कर छोड़ दिया गया है। परन्तु यह ग्रन्थ मात्र घटनाओं का यथातथ्य प्रस्तुतीकरण ही नहीं करता, अपितु ग्रन्थकार का लक्ष्य रहा है कि घटनाओं को भली भांति विश्लेषित कर उससे नायक के व्यक्तित्व को प्रकाशित किया जाय। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि जीवनी लेखन में घटनाओं के स्थूल, इतिवृत्तात्मक चित्रण की शैली को छोड़कर नायक के विराट् व्यक्तित्व तथा विश्वमानव के रूप में प्रस्तुत की गई उसकी भूमिका को ही व्यञ्जित करने का प्रयास किया गया है।

स्वामी दयानन्द के जीवन का सावधान पाठक यह अवश्य लक्षित करेगा कि इस ग्रन्थ में जहाँ अनेक अन्यथा चर्चित मिथ्या किंवदन्तियों, प्रवादों तथा जनश्रुतियों के निराकरण का सफल प्रयास किया गया है, वहाँ स्वामी दयानन्द को विष दिये जाने के प्रकरण की उसने सारगर्भित छानबीन की है। इस प्रसंग को जितने विस्तार से लिखा गया है, उतनी ही सूक्ष्मता से सभी सम्बन्धित उल्लेखों की गवेषणा एवं मीमांसा कर सुविचारित निष्कर्ष प्रस्तुत किये गये हैं। विष दान के प्रकरण की इतनी सतर्क एवं सूक्ष्म मीमांसा इससे पूर्व कभी नहीं की गई थी।

दयानन्द के जीवन प्रसंगों को इतने विस्तार, इतनी सूक्ष्मता तथा इतने विविध रंगों में प्रस्तुत करने में लेखक को जो यत्किञ्चित् सफलता मिली है, इसका एक कारण तो वह सामग्री

थी, जिसका संग्रह ग्रन्थकार ने वर्षों के अध्यवसाय, लगन एवं परिश्रम से किया। प्राचीन एवं साम्प्रतिक काल की पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तकों, लघु पुस्तिकाओं, संदर्भ ग्रन्थों आदि में उसे दयानन्दविषयक जो भी जानकारी मिली, उसका संकलन उसने सावधानीपूर्वक किया तथा ग्रन्थ लिखते समय उसका यथोचित उपयोग भी कर लिया। यही कारण है कि प्रत्येक अध्याय के अन्त में जो अनेक उपयोगी पाद टिप्पणियाँ दी गई हैं, वे दयानन्दविषयक प्रासंगिक जानकारी को अधिक प्रामाणिक, सर्वांगीण तथा सुनिश्चित बना कर प्रस्तुत करती हैं।

इतिहास लेखन तथा जीवनचरित प्रणयन के कुछ सुनिश्चित मानदण्ड होते हैं। उदाहरणार्थ, जिस युग में दयानन्द उत्पन्न हुए थे, उस समय वर्तमान उत्तर प्रदेश को 'पश्चिमोत्तर प्रदेश' के नाम से जाना जाता था। इतिहास लेखन की मान्य परम्परा के अनुसार अब दयानन्द के जीवनचरित में वर्तमान उत्तर प्रदेश के लिये 'पश्चिमोत्तर प्रदेश' का प्रयोग ही अभीष्ट है। एक अन्य उदाहरण लिया जा सकता है। मुसलमानी नवजागरण के अग्रदूत सर सैयद अहमद खाँ की जिस समय स्वामी दयानन्द से भेंट हुई थी, तब तक उन्हें 'सर' की उपाधि प्राप्त नहीं हुई थी। अब दयानन्द के जीवनचरित को लिखते समय उन्हें मात्र 'सैयद अहमद' ही लिखना होगा न कि 'सर सैयद'। कहना नहीं होगा कि चरित लेखन के इन सभी सूक्ष्म किन्तु महत्त्वपूर्ण मानदण्डों का प्रस्तुत ग्रन्थ में सावधानीपूर्वक निर्वाह किया गया है।

दयानन्द सरस्वती के 'एक समग्र, सुन्दर और उपादेय' जीवनचरित लिखने के लिये स्व. पं. शंकरदेव विद्यालंकार ने मुझे जिस प्रकार प्रोत्साहित किया, यदि उसकी चर्चा मैं इस प्रसंग में न करूँ, तो यह उस दिवगंत साहित्यकार के लिये महान् अन्याय होगा। पं. शंकरदेवजी बार-बार मुझे पत्र लिख कर प्रेरणा देते रहते थे कि स्वामी महाभाग का जो जीवनचरित मेरी लेखनी से प्रसूत हो, वह 'वस्तु प्रतिपादन में समग्रता, चारुता और सम्यक्ता (Thoroughness)' लिये हो। मैं नहीं कह सकता कि यह ग्रन्थ वैसा बन पड़ा है या नहीं! उन्होंने ग्रन्थ लेखन प्रारम्भ करने से पूर्व मुझे महाकवि रवीन्द्रनाथ के दो जीवन चरित (प्रथम श्री खनोलकर लिखित मराठी भाषा से अनूदित तथा द्वितीय श्री कृष्ण कृपालानी द्वारा लिखा गया अंग्रेजी से अनूदित) पढ़ने की प्रेरणा दी थी, इसीलिये कि इन आदर्श जीवनी ग्रन्थों के विषय प्रतिपादन, भाषा, शैली आदि से समुचित प्रेरणा ली जा सके। मैंने तदनुकूल उक्त दोनों ग्रन्थ पढ़े। खेद है कि आज जब पं. शंकरदेव विद्यालंकार इस संसार में नहीं हैं, यह दयानन्द चरित प्रकाशित हो रहा है। स्वर्गीय विद्यालंकारजी ने जो प्रेरणा मुझे दी, एवं जिस प्रकार उत्साह वर्धन किया, उसके प्रतिकार में अब तो मात्र उन्हें श्रद्धाञ्जलि ही दी जा सकती है।

पं. शंकरदेवजी के पुण्य स्मरण जितना ही महत्त्वपूर्ण स्व. महेशप्रसाद मौलवी को इस प्रसंग में याद करना है। मौलवी जी यह आकांक्षा लेकर ही इस संसार से विदा हो गये कि दयानन्द सरस्वती का एक सर्वाङ्गपूर्ण जीवनचरित वैज्ञानिक ढंग पर लिखा जाय। इसके लिये उन्होंने अपने तौर पर प्रभूत मात्रा में उपादान सामग्री का संग्रह किया एवं सम्पादन भी किया था। कहना नहीं होगा कि मौलवीजी के समान दयानन्द के जीवनचरित के सतर्क एवं

प्रबुद्ध अध्येता और विश्लेषक आर्यसमाज में नगण्य ही रहे हैं। पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने चाहे प्रत्यक्षतः जीवनचरित पर काम न किया हो, किन्तु दयानन्द सरस्वती के पत्रों एवं विज्ञापनों के वैज्ञानिक सम्पादन, जीवनचरित से सम्बन्धित तिथि निर्धारण, जीवन घटनाओं के पौर्वापर्य का विचार आदि शतशः समस्याओं का सफल समाधान प्रस्तुत कर उन्होंने जिस प्रकार दयानन्द चरित के लेखक का मार्गप्रशस्त किया है, वह नितान्त श्लाघनीय है। वे मेरे प्रणम्य हैं, वन्दनीय हैं।

लेखकीय वक्तव्य को समाप्त करने के पूर्व कतिपय संस्थाओं एवं महानुभावों के प्रति आभार व्यक्त नहीं करना गुरुतर कर्त्तव्यच्युति ही होगी। सर्वप्रथम दयानन्द सरस्वती की उत्तराधिकारिणी श्रीमती परोपकारिणी सभा के प्रति मैं अपना आभार प्रकट करना आवश्यक समझता हूँ, जिसने अपने संस्थापक के जीवनचरित को प्रकाशित करने का महत्त्वपूर्ण दायित्व लेकर स्वकर्त्तव्य का पालन ही नहीं किया, इस पृथुलकाय ग्रन्थ को पाठकों तक पहुंचाने में इस अकिञ्चन लेखक की सहायता भी की। एतदर्थ सभा के प्रधान त्यागमूर्ति स्वामी ओमानन्द सरस्वती तथा मंत्री श्री श्रीकरण शारदा के प्रति मैं स्वकृज्ञता ज्ञापित करता हूँ। इस शोध-प्रधान जीवनी का लिखा जाना कथमपि सम्भव नहीं होता, यदि पंजाब विश्वविद्यालय की महर्षि दयानन्द अनुसंधान पीठ के प्रोफेसर तथा अध्यक्ष के रूप में कार्य करते हुए स्वामी दयानन्द के जीवन, उनके व्यक्तित्व तथा विचारों के सम्बन्ध में उच्चस्तरीय शोध एवं लेखन आदि की सुविधायें मुझे यह विश्वविद्यालय उपलब्ध नहीं कराता। पंजाब विश्वविद्यालय के विद्वान् एवं सम्मान्य उपकुलपति प्रो. रामचन्द पॉल का मैं आभारी हूँ। समय समय पर उनके प्रोत्साहन एवं उत्साहवर्धन ने मुझे स्वकर्त्तव्य पालन के प्रति अधिक जागरूक बनाया है।

वैदिक यन्त्रालय के कुशल प्रबंधक श्री सतीशचन्द्र शुक्ल ने लगभग एक वर्ष पूर्व मुझे पत्र लिखकर स्वामी दयानन्द के जीवनचरित को मुद्रित करा डालने हेतु कहा था। उनका यह पत्र ही जीवन चरित के पुनर्लेखन की प्रेरणा साबित हुआ। फलतः मैं एक एक अध्याय को अन्तिम रूप देकर श्री शुक्ल को भेजता रहा और वे उसे छापते रहे। यदि ग्रंथ के सुरुचिपूर्ण मुद्रण में श्री शुक्ल वैयक्तिक रुचि नहीं लेते, तो जिस तत्परता एवं सुरुचिपूर्ण ढंग से यह प्रकाशित हो रहा है, नहीं हो पाता। अतः श्री शुक्ल मेरे साधुवाद के पात्र हैं। ग्रन्थ की प्रेस कॉपी तैयार करने में मुझे अपनी विदुषी पुत्री सौ. गार्गी से असीम सहायता मिली है। उसे तो मैं अपना स्नेह एवं आशीर्वाद ही दे सकता हूँ।

नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती के प्रेरणादायी जीवन का यह लेखा जोखा जितना श्रद्धाभाव से लिखा गया है, उतना ही वैज्ञानिक गवेषक की सतर्क दृष्टि से भी। यदि सुधी पाठक इसे पढ़ कर उन्नीसवीं शती के उस महामानव की स्पष्ट छवि को अपने मानस में प्रतिष्ठित कर सकें, तो लेखक का श्रम सफल होगा।

भाद्रपद पूर्णिमा २०४० वि.
पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़

☐ **भवानीलाल भारतीय**

भारतीय नवजागरण के विभिन्न आयाम

शताब्दियों की राजनैतिक पराधीनता ने भारतवासियों को दुर्बलता, दरिद्रता, हीन-भावना तथा अन्य विकारों से ग्रस्त कर रक्खा था। राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक उत्पीड़न एवं आत्मबोध के अभाव ने भारतीय समाज में जिन कुण्ठाओं को उत्पन्न किया, उनका सहज उन्मूलन सम्भव नहीं था। विदेशी शासन से उत्पन्न पराजय भाव ने भारत के विशाल हिन्दू समाज के धार्मिक, आध्यात्मिक तथा नैतिक मूल्यों को अपूरणीय क्षति पहुँचाई। सहस्राब्दियों पूर्व के वैदिक, औपनिषदिक तथा रामायण एवं महाभारतकालीन समाज में लोगों की इहलोक एवं परलोक के प्रति जो स्वस्थ दृष्टि थी, वह तो अतीत की वस्तु हो ही गई थी, मौर्य और गुप्तयुगीन समृद्धि तथा वैभव, तत्कालीन लोगों की कलात्मक अभिरुचि, साहित्य, संगीत, काव्य तथा स्थापत्य के क्षेत्र की महती उपलब्धियाँ भी इतिहास की कहानियाँ बन कर रह गईं। उस युग में बृहत्तर भारत[1] का जैसा मानचित्र उभर कर आया और पूर्व के समुद्रपारीय देशों पर भारत की सांस्कृतिक विजय ने जैसी छाप छोड़ी, वह सब अतीत की वस्तु बन गई थी। धर्म, समाज तथा देश के सामान्य जनजीवन पर पराधीनता की काली घटाओं ने आपत्ति, विपत्ति, शोषण और अभिशापों की जैसी उपल वृष्टि की, उससे लोगों के दुख और कष्ट बढ़े।

धर्म के नाम पर थोथा कर्मकाण्ड, नैतिकता के नाम पर मिथ्या अन्धविश्वासों का प्रचलन तथा सुसंगत एवं उदार सामाजिक विधान के स्थान पर कठोर आवर्जनाओं एवं विवर्जनाओं से नियन्त्रित शृंखलाबद्ध मूढ़ रूढ़ियों का अनुपालन, यह उस युग का सामान्य चरित्र था। सर्वत्र संकीर्णता, अनुदारता तथा जड़ता व्याप्त थी। मध्यकाल की इस गतिहीन, प्राचीनता पोषक तथा युगदृष्टि विरहित जीवनमीमांसा ने जिन सामाजिक बुराइयों को जन्म दिया, उनमें बाल विवाह का प्रचलन, नारी स्वाधीनता का अपहरण, विधवाओं पर सतत अत्याचार, बहुविवाह का प्रचलन, स्त्रियों को पर्दे में रखना, जन्मना जाति के आधार पर समाज का शतधा-सहस्रधा विघटन, ऊँच नीच की भावना पर आधारित स्पृश्यास्पृश्य का भाव तथा दलित एवं निम्न वर्ग पर अकल्पनीय अत्याचार आदि उल्लेखनीय हैं। इन सामाजिक कुरीतियों ने भारत के बहुसंख्यक हिन्दूसमाज को जिस प्रकार सहस्रों जातियों एवं उपजातियों में विभक्त कर दिया, उसी का परिणाम था कि इस देशवासी सामूहिक रूप से किसी भी प्रकार के विदेशी आक्रमण तथा परकीय अत्याचारों का सामना करने में असमर्थ हो गये थे।

मध्यकाल के इसी तमसाच्छन्न युग में भारत का पश्चिमी जातियों से सम्पर्क हुआ। इस युग के अज्ञान एवं जड़ताग्रस्त वातावरण में सांस लेने वाले भारतवासी सम्भवतः यह भूल ही चुके थे कि पाताल देश (अमेरिका) की एक राजकन्या उलोपी के साथ पाण्डव कुमार अर्जुन का विवाह हुआ था[2] तथा हरिवर्ष (यूरोप) के लोगों के साथ भी उनके पूर्वजों का सम्पर्क रह चुका था।[3] अतः जब १४९८ ई. में पुर्तगाली नाविक वास्को डि गामा ने अफ्रीका महाद्वीप का चक्कर लगा कर केरल के समुद्र तट पर अपना जहाजी बेड़ा खड़ा किया, तो

समुद्र यात्रा को कलिवर्ज्य समझने वाले इस देश के लोगों का चकित और भ्रमित हो जाना स्वाभाविक ही था। भारत के अपार धन धान्य तथा वैभव के प्रति असीम आकर्षण अनुभव करती हुई अन्य यूरोपीय जातियों ने भी तब से इस देश में आना जारीरक्खा। १६०० ई. में इंग्लैण्ड में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना हुई। ब्रिटिश सम्राट् जेम्स प्रथम ने अपने वाणिज्य दूत सर टामस रो को भारत भेजा, जिसने अजमेर में मुगल बादशाह जहाँगीर से भेंट कर अपनी जाति को व्यावसायिक सुविधाएँ देने की प्रार्थना की। सम्राट् ने अंग्रेजों को व्यापार करने के लिये सूरत तथा अन्य स्थानों पर कोठियाँ स्थापित करने का अधिकार तो दिया ही, साथ ही अपनी बस्तियों में शासन करने के अधिकार भी दिये। इस प्रकार भारत में विदेशी शासन का बीजारोपण हुआ।

प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता, तथा वाणिज्य सम्बन्धी सुविधाओं को देख कर ही अन्य यूरोपीय जातियों ने भी भारत में आना जारी रक्खा। अंग्रेजों की ही भांति, डच, पुर्तगीज तथा फ्रान्सीसियों ने भी इस देश में अपने व्यापार संस्थान तथा उपनिवेश स्थापित किये। व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा ने धीरे धीरे राजनैतिक प्रभुता प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त किया और भारत की शस्य श्यामला भूमि पर अपना एकान्त स्वत्व स्थापित करने की दृष्टि से इन विदेशी जातियों ने भारत को युद्ध की लपटों में झोंक दिया। जो लोग व्यापारी बन कर आये थे अब उन्होंने अपनी व्यवसायगत उपलब्धियों के संरक्षण के लिये अपनी अपनी सेनाओं का संगठन आरम्भ किया और पारस्परिक संघर्षों में उलझने लगे। कूटनीति और रणनीति में अंग्रेजों ने अपने प्रतिद्विन्द्वियों को सहज ही परास्त कर दिया। हालैण्ड वासी तो यहाँ से आगे बढ़ गये और उन्होंने इण्डोनेशिया के द्वीपों पर कब्जा किया, जब कि फ्रांसीसी और पुर्तगाली भी ब्रिटिश सिंह के सामने पूर्णतया निष्प्रभ एवं हीन सत्त्व होकर कुछ छोटे छोटे उपनिवेशों[४] तक ही अपने प्रभुत्व को सीमित रख पाये।

जब भारत के तत्कालीन मुगल शासकों ने इस प्रकार गौराङ्ग वणिकों को साम्राज्य प्रसार की नीति पर चलते और सफल होते देखा तो उनका स्वप्न भंग हुआ। साथ ही राजपूत, मराठा तथा एतद्देशीय शासक जातियों के मुखियाओं ने भी अनुभव किया कि मुगलिया सल्तनत का निरन्तर संकुचित[५] तथा दुर्बल होते जाना उनके लिये चाहे कितना ही तुष्टिदायक क्यों न हो, किन्तु विदेशी ताकतों के प्रभुत्व में अभिवृद्धि निश्चय ही आने वाले खतरे की घण्टी थी। परन्तु जब तक देशवासी, विदेशी शासकों की कूटनीतिक गतिविधियों से सावधान होते, तब तक सिर से बहुत सा पानी गुजर चुका था। १७५७ ई. के प्लासी के युद्ध में अंग्रेजों की विजय ने सिद्ध किया कि इस जाति के वृद्धिगत प्रभुत्व को रोकना सहज नहीं है।

प्लासी के युद्ध के ठीक एक सौ वर्ष पश्चात् १८५७ की हलचल में भारत ने अपने आपको स्वाधीन करने के लिये एक और प्रयत्न किया। एक बार फिर देशवासी विदेशी दासता की शृंखलाओं को तोड़ कर स्वतन्त्रता के वातावरण में सांस लेने के लिये लालायित दीख पड़े। उन्हें लक्ष्य प्राप्ति में सफलता भी मिलती यदि राजपूत, सिक्ख तथा गोरखों ने अंग्रेजों का साथ नहीं दिया होता। जिन कारणों से १८५७ का यह विद्रोह सफल नहीं हो सका, उनकी मीमांसा तो यहाँ अधिक प्रासंगिक नहीं है। अपनी क्षणिक आभा दिखाने के पश्चात्

विद्रोह के सभी नेता—नाना साहब, झांसी की रानी, तात्या टोपे, कुंवरसिंह, अजीमुल्ला खाँ तथा अहमदशाह मौलवी भारत के राजनैतिक रंगमंच से विलीन हो गये। अन्तिम मुगल सम्राट् बहादुरशाह जफर को देश से निर्वासित होकर अवशिष्ट जीवन रंगून में व्यतीत करने के लिये बाध्य होना पड़ा। विदेशी सत्ता से मुक्त होने की आशाओं को लेकर प्रारम्भ किये गये इस युद्ध रूपक का अनायास ही पटाक्षेप हो गया।

१८५७ के विद्रोह की गतिविधियों को अपनी कूटनीतिक चालों से नियन्त्रित करने के पश्चात् अंग्रेजों ने भारतवासियों पर क्रूरतापूर्ण दमन चक्र चलाया। इससे जनता की निराशा का पार नहीं रहा। सहस्रों भारतीयों को फांसी के फंदों पर झुला दिया गया। विद्रोही सिपाहियों के गांव के गांव जला कर राख कर दिये गये। निर्दोष व्यक्तियों को भी सन्देह मात्र के कारण उत्पीड़न और दमन का शिकार होना पड़ा। परन्तु चतुर अंग्रेज यह भी जानता था कि निर्ममतापूर्ण चलाया गया दमन चक्र जनता के उत्साह को एक बार भले ही भंग कर दे, किन्तु इसे सदा के लिये निःसत्व तथा पराधीन रखना सम्भव नहीं है। फलतः इंग्लैण्ड की महारानी विक्टोरिया ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी से भारत के शासनसूत्र को अपने हाथों में लेकर इस देश का शासनाधिकार ब्रिटिश पालियामेंट को सौंप दिया। १८५८ में प्रचारित महारानी के घोषणापत्र में जहाँ कम्पनी के शासन के समाप्त होने की घोषणा थी, वहां भारतीय जनता के धार्मिक अधिकारों की पूर्ण सुरक्षा तथा लोगों की पूजा पद्धतियों तथा वैयक्तिक मत विश्वासों में शासन द्वारा किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप न किये जाने का आश्वासन भी था। इंग्लैण्ड में बैठे कम्पनी के डाइरेक्टरों को स्थानीय परिस्थितियों से पूर्णतया अनभिज्ञ रख कर भारत के गवर्नर जनरलों ने निरंकुश दमन, प्रजा पीड़न तथा आर्थिक शोषण के जिस दुष्चक्र को सतत प्रवहमान कर रक्खा था, वह थोड़ी देर के लिये रुक गया। भारत के गवर्नर जनरल को अंग्रेजो पार्लियामेंट के समक्ष उत्तरदायी होना पड़ता था। जनता इस बात से आश्वस्त थी कि उनकी धार्मिक आस्थायें अक्षुण्ण रहेंगी। राजनैतिक स्थिरता का भी आभास होने लगा क्योंकि सिक्खों, राजपूतों तथा मराठों ने भी वस्तुस्थिति को पहचान कर अंग्रेजी सरकार से पृथक् पृथक् समझौते कर लिये।

जब राजनैतिक दृष्टि से भारत में ब्रिटिश शासन सुदृढ़ हो गया, तो शासकों का विचार भारतवासियों को पाश्चात्य रीति में दीक्षित कर सदा के लिये अंग्रेजी साम्राज्य रूपी रथ को गति देने वाले पहियों के रूप में प्रयुक्त करने का हुआ। अतः उन्होंने भारत में अंग्रेजी ढ़ंग की शिक्षापद्धति का प्रचलन किया। किसी देश को अधिकाधिक समय तक अपने अधिकार में रखना हो तो वहां के लोगों की भाषा, शिक्षा तथा संस्कृति विषयक नीतियों में परिवर्तन कर देना चाहिए। इसी कूटनीति पर अंग्रेज लोग भी चल रहे थे। भारत में विदेशी शिक्षा नीति को प्रचलित करने वाले लार्ड मैकॉले[६] समझे जाते हैं। यद्यपि उनके भारत आने से पहले भी यहां अंग्रेजी पद्धति के अनेक विद्यालय काम करने लगे थे। उनके द्वारा प्रचलित शिक्षा पद्धति ने भारतवासियों को हीनसत्व, स्वाभिमानशून्य तथा पाश्चात्य जीवन प्रणाली का अंध अनुगामी बना दिया। इस प्रकार उनके स्वात्मबोध तथा अस्मिता को सर्वथा नष्ट कर दिया गया। जिस शिक्षा का उद्देश ही एक ऐसा वर्ग उत्पन्न करना रहा हो, जो रंग

और आकृति में चाहे भारतीय ही था, किन्तु विचार, वाणी, बुद्धि तथा रुचियों की दृष्टि से अंग्रेज होने का दम भरे, उससे देशोद्धार की क्या आशा की जा सकती थी ? मैकॉले के उस प्रसिद्ध पत्र की बहुशः उद्धृत पंक्तियों[७] का उपर्युक्त भाव यह स्पष्ट सूचित करता है कि इस प्रकार की शिक्षा प्रणाली को प्रचलित करने के पीछे, उसका मूल उद्देश्य क्या था ? लार्ड मैकॉले को अपनी शिक्षा नीति की सफलता का भी पूर्ण विश्वास था। तभी तो १८३६ ई. में अपने पिता को लिखे गये एक पत्र में उसने यह विश्वास व्यक्त किया था कि "जो भी हिंदू अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण कर लेता है वह स्वधर्म के प्रति अपनी निष्ठा और विश्वास को खो बैठता है। कुछ केवल दिखावे से रूप में उसे मानने का आडम्बर करते हैं जब कि अन्य ईसाई धर्म अंगीकार कर लेते हैं। यह मेरा सुनिश्चित विश्वास है कि यदि हमारी यह शिक्षा योजना क्रियान्वित की गई तो तीस वर्ष पश्चात् बंगाल के कुलीन घरानों में कोई मूर्तिपूजक (हिन्दू) नहीं रहेगा।"[८]

अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार[९] के साथ साथ यूरोप में प्रचलित ज्ञान विज्ञान तथा नूतन आविष्कारों का भारत में भी प्रचलन हुआ। औद्योगिक क्रान्ति के कारण यूरोप के जन जीवन में जो परिवर्तन आया था, उसके कुछ लक्षण कपड़ा मिलों तथा वृहद् उद्योगों की स्थापना के साथ भारत में भी दिखाई देने लगे। रेल, तार, डाक आदि के कारण जहां भारतवासियों का दैनिक जीवन अनेक सुविधाओं से युक्त होने लगा, वहां सम्पूर्ण देश में एकात्मता के भाव भी जागृत हुए। समाचारपत्रों के प्रचलन तथा यातायात एवं आवागमन के द्रुत साधनों के प्रचलित होने से हजारों मीलों की सीमाओं में विस्तृत इस देश के करोड़ों निवासी परस्पर आत्मीयता के भावों में आबद्ध होने लगे। देश के अधिकांश लोग रेल, तार, डाक आदि को अंग्रेज शासकों के माध्यम से प्राप्त ईश्वरीय वरदान ही मान बैठे। यूरोपीय रीति नीति, शिक्षा दीक्षा तथा पाश्चात्य जीवन पद्धति के प्रति इस देश के पठित वर्ग के लोगों में आदर एवं संभ्रम का भाव उत्पन्न हुआ। नवीन वैज्ञानिक उपलब्धियों को जन साधारण के लिये सुलभ बना देने वाले, रानी विक्टोरिया के शासन के लिये, उनके हृदय में हर्ष पुलक युक्त श्रद्धा के भाव ही थे।

इस प्रकार पश्चिमी शिक्षा नीति को भारत में प्रचलित करके ही अंग्रेज शासकों को सन्तोष नहीं हुआ। वे तो यहां के पुरातन धर्म, मान्यताओं, आस्थाओं तथा मत विश्वासों को भी जड़ से उखाड़ फेंकना चाहते थे। उनकी दृष्टि में भारतवासी हिन्दू जब तक ईसा मसीह को अपना त्राता तथा मसीहा स्वीकार नहीं कर लेते, तब तक उन्हें नरक की शाश्वत आग में जलना ही पड़ेगा। अब इन्हीं अधार्मिक (Pagan and Heathen) हिन्दुओं को नरकाग्नि से बचाने के लिये ईसाई प्रचारकों के झुण्ड के झुण्ड पश्चिमी देशों से भारत में आने लगे।[१०] यों तो सम्भवतः ईसा की प्रथम शताब्दी या उसके आस पास ही प्रथम ईसाई धर्म प्रचारक दक्षिण की केरल तटवर्ती समुद्र सीमा से प्रविष्ट होकर भारत में स्वमत का प्रचार करने लगे थे, परन्तु राजाश्रय के बल पर धर्म प्रचार का अवसर तो पादरी वर्ग को ब्रिटिश शासन में ही मिला था। ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के साथ ही ईसाई प्रचारकों की गतिविधियों ने अखिल भारतीय रूप धारण कर लिया। बंगाल प्रान्त ईसाई गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र था।

बाइबिल का लगभग सभी भारतीय भाषाओं में अनुवाद किया गया तथा साहित्य एवं वाणी के माध्यम से अविश्वासी (Unbelievers) हिन्दुओं को ईसा का विश्वासी बनाने का कार्य प्रारम्भ हुआ। हेयर, काल्विन, पामर, कैरी तथा मार्शमेन जैसे प्रमुख ईसाई प्रचारकों ने बंगाल में ईसाई धर्म की प्रचारात्मक गतिविधियों को सम्पूर्ण शक्ति से संचालित किया, उनके नाम बंगाल के प्रसिद्ध उपन्यासकार प्रमथनाथ विशी ने उल्लिखित किये हैं।[११]

ईसाइयों की ही भांति हिन्दू धर्म और संस्कृति पर मुसलमानों द्वारा किया जाने वाला आक्रमण भी कम भयावह नहीं था। शताब्दियों के मुस्लिम शासन ने भारतवासी मुसलमानों में यह विचार दृढ़तापूर्वक आरोपित कर दिया था कि विधाता ने हिन्दुओं को उनके द्वारा शासित होने के लिये ही उत्पन्न किया है। फिरंगी राज्य की स्थापना के पश्चात् मुसलमानों में व्याप्त शासनजन्य अहंकार की तो समाप्ति हो चुकी थी, किन्तु वे ईसाई शासकों को, एक सैमेटिक पैगम्बरी मज़हब का अनुयायी होने के कारण, हिन्दुओं की अपेक्षा अपने अधिक निकट मानते थे। मुसलमानों की इस धारणा में पर्याप्त सचाई थी कि अंग्रेजी शासक हिन्दुओं की अपेक्षा उन्हें अधिक प्रश्रय देंगे, तथा उन पर अपना कृपापूर्ण वरद हस्त अधिक उदारता से रक्खेंगे, क्योंकि मान्यताओं और विश्वासों की दृष्टि से इस्लाम और ईसाइयत का मूल स्रोत एक ही है।[१२] इसी प्रकार अंग्रेज हुक्काम भी अपनी भेद उत्पन्न कर राज्य करने वाली कूटनीति पर चल कर मुसलमानों को अपनी अशेष कृपा वृष्टि से सिञ्चित करने में कोई कोर-कसर उठा नहीं रखते थे, और ऐसा करके वे हिन्दुओं को यह बता देना चाहते थे कि भारत के भूतपूर्व शासक होने के नाते मुसलमान उनकी कृपा के अधिक पात्र हैं।

अंग्रेजों द्वारा प्रदत्त इसी कृपा एवं आश्वासन के भाव ने मुसलमानों में हिन्दुओं के प्रति अलगाव एवं विरोध की प्रवृत्ति को बढ़ाया। अब तक तो वे ताकत के बल पर ही भारत के पुरातन धर्म को समाप्त करने के लिये सचेष्ट रहे थे, किन्तु अब उन्हें अपनी कार्य-प्रणाली में परिवर्तन करने के लिये विवश होना पड़ा। इसका एक कारण तो यह था कि अंग्रेज शासकों ने धर्मनिरपेक्षता की नीति घोषित कर अपनी प्रजा के किसी भी वर्ग को अन्य वर्ग पर धार्मिक अत्याचार करने की आज्ञा देने से इन्कार कर दिया था। फलतः हिन्दू धर्म पर होने वाले इस्लाम के हमलों में भी मौलिक परिवर्तन आ गया। अब इस्लाम के मुल्ला, मौलवी, फकीर और दरवेश हिन्दू धर्म की दुर्बलताओं तथा उसके अनेक मत विश्वासों का उपहास करने लगे और हिन्दू धर्म की कटु आलोचना करने में उनकी वाणी अधिक मुखर तथा लेखनी अधिक कटु हो गई। मध्यकालीन हिन्दू धर्म भी अपनी पुराकालीन विशुद्धता, तर्कमूलकता तथा वैचारिक उदारता को खोकर मूढ़ विश्वासों, पाखण्डों, विषमतापूर्ण आचरणों एवं आडम्बरों का पुञ्ज मात्र रह गया था, अतः उसका, एकेश्वरवाद तथा बंधुत्वभाव के प्रचारक इस्लाम की आलोचना का पात्र बन जाना सहज ही था।

इस्लाम और ईसाइयत के इन द्विविध आक्रमणों में ईसाइयत द्वारा किया जाने वाला प्रहार अधिक घातक तथा प्रभावी सिद्ध हुआ। ईसाई प्रचार प्रणाली के दो रूप थे। प्रथम के अन्तर्गत कार्य करने वाले वे पादरी थे जो जन जन में ईसाई विश्वासों के प्रति आस्था एवं श्रद्धा जगाने के लिये ग्राम ग्राम, नगर नगर में भ्रमण कर व्यवस्थित रूप से

प्रचार कार्य कर रहे थे। ईसाई धर्म ग्रन्थों का प्रचार और प्रसार करना, लोक भाषाओं में हिन्दू धर्म की आलोचना के व्याख्यान देना, हिन्दू धर्म ग्रन्थों, देवी देवताओं, हिन्दू धर्म के दर्शन तथा चिन्तन का विद्रूपात्मक चित्रण कर उनका उपहास करना तथा यत्र तत्र पण्डितों, पुरोहितों से वादविवाद कर उन्हें पराजित कर देना इसी कार्य प्रणाली के प्रमुख अंग थे।

परन्तु ईसाइयत के प्रचार की एक भिन्न प्रणाली भी थी, जो अधिक सूक्ष्म किन्तु दूरगामी प्रभाव डालती थी। इसके अन्तर्गत विल्सन, कोलब्रुक, मैक्समूलर, वेबर, मोनियर-विलियम्स आदि उन पाश्चात्य भारत विद्याविद् विद्वानों के अध्ययन एवं अनुसंधान को लिया जा सकता है। ये पाश्चात् विपश्चित् विशुद्ध सारस्वत साधना की दृष्टि से ही वैदिक तथा इतर संस्कृत साहित्य के अध्ययन में प्रवृत्त हुए हों, ऐसी बात नहीं थी।[13] इनके द्वारा प्राच्य विद्याओं का जो अध्ययन किया गया, उसके पीछे उनका विद्या व्यासङ्ग तो था ही, किन्तु दो अन्य लक्ष्य भी दृष्टिगोचर होते रहे हैं। प्रथम तो भारत के प्राचीन धर्मग्रन्थों तथा भाषाओं के अध्ययन के निष्कर्ष प्रस्तुत कर वे इस देश में शासक बन कर आने वाले आई. सी. एस. के नवयुवा अधिकारियों को उस धर्म एवं समाज की रीतिनीति से परिचित कराना चाहते थे, जिन पर उन्हें शासन करना था।[14] इसके अतिरिक्त ईसाई मत की श्रेष्ठता की पूर्व धारणा को लेकर चलने वाले ये विद्वान् हिन्दू धर्मशास्त्रों में वर्णित सिद्धान्तों और भारतीय दर्शन को ईसाई मत विश्वासों तथा धारणाओं से हीनतर, कुत्सित, वालिश तथा निकृष्ट सिद्ध करना चाहते थे। इस बात के पुष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं कि वेबर, मोनियर विलियम्स तथा मैक्समूलर जैसे अनेक भारतविद्याविशारद विद्वानों ने कतिपय ऐसे ही पूर्वाग्रहों को रख कर भारतीय धर्म एवं संस्कृत भाषा में उपलब्ध वाङ्मय का अध्ययन किया था।

ईसाई धर्म प्रचार का अपेक्षित परिणाम निकला। अत्यधिक भावुक प्रकृति के बंगाली हिन्दू सर्वप्रथम ईसाई धर्म की मृगतृष्णा के शिकार हुए। माइकेल मधुसूदन दत्त,[15] लाल-बिहारी दे (१८२६-१८९४), कालीचरण चटर्जी, गोविन्ददत्त,[16] यहां तक कि भारतीय नेशनल कांग्रेस के प्रथम सभापति व्योमेशचन्द्र बनर्जी आदि कुलीन बंगाली हिन्दू स्वधर्म का परित्याग कर ईसाई बन गये। महाराष्ट्र में पं. नीलकण्ठ शास्त्री तथा संस्कृत विदुषी पण्डिता रमाबाई भी ईसाई बन जाने का लोभ संवरण नहीं कर सके। यह कहना तो सत्य से पर्याप्त दूर ही समझा जायगा कि इन सभी लोगों ने ईसाई मत को सर्वोपरि श्रेष्ठ, ईश्वरीय धर्म जान कर ही उसे अंगीकार किया था, अथवा सच्चे जिज्ञासु बन कर ही उन्होंने ईसाई मत की श्रेष्ठता को जान लिया था। इसके विपरीत, इन लोगों के ईसाई मत ग्रहण करने के पीछे अनेक लौकिक स्वार्थ तथा पादरियों की ओर से मिलने वाले प्रलोभन आदि भी कार्य कर रहे थे।

उपर्युक्त विवेचन में हमने पश्चिमी देशों द्वारा भारत पर लौकिक एवं बौद्धिक प्रभुत्व स्थापित करने के उन सभी साधनों तथा उपायों का पर्यालोचन किया है। एक अनुप्रासप्रिय विचारक के अनुसार गौराङ्ग जातियों ने सर्व प्रथम **मर्चेंट** बन कर भारत में प्रवेश किया, तत्-पश्चात् उन्हें अपने वाणिज्य व्यवसाय के हितों की रक्षा के लिये **मिलिटरी** को गठित करने में भी कोई संकोच नहीं हुआ। जब उन्होंने इस देश को सब प्रकार से स्वायत्त कर लिया, तो यहां के निवासियों पर अपनी वैचारिक दासता थोपने की दृष्टि से प्रथमः **मैकॉले** निर्दिष्ट शिक्षा-

प्रणाली का प्रचार किया, तथा साथ ही ईसाई **मिश्नरी** भेज कर भारतवासियों को उनके प्राचीन परम्परागत धर्म से विमुख करने का षड्यंत्र भी रचा। अन्ततः **मैक्समूलर और मोनियर विलियम्स** जैसे भारतविद्याविशारदों द्वारा प्राचीन भारतीय धर्म, भाषा और साहित्य के अध्ययन के नाम पर इस देश की गौरवपूर्ण परम्पराओं का अवमूल्यन करवाया गया। इसके साथ ही हिन्दू धर्म और उसके शास्त्रों को ईसाई मत की धारणाओं तथा गॉस्पेल (बाइबिल की पुस्तकें) की तुलना में तुच्छ, हेय तथा निम्नकोटि का सिद्ध किया गया। उक्त विचारक ने मर्चेंट, मिलिटरी, मैकॉले, मिश्नरी और मैक्समूलर को पाश्चात्य जातियों के पञ्च मकारों की संज्ञा दी है।

अब तक हमने उन परिस्थितियों का उल्लेख किया जो भारत की पराधीनता, अधोगति तथा उसके सामाजिक विघटन के लिये बाह्य दृष्टि से उत्तरदायी थीं। किन्तु यह लिखना भी आवश्यक है कि हिन्दू समाज अपने सार्वत्रिक अधःपतन के लिये स्वयं भी कम जिम्मेदार नहीं था। हम यह संकेत कर चुके हैं कि पुरातन आर्य धर्म अपने प्रकृत शुद्ध स्वरूप, वैचारिक उदारता तथा मानव मात्र के हितसाधन की क्षमता को खोकर उन्नीसवी शताब्दी में नितान्त दूषित, अनुदार, रूढ़िग्रस्त तथा जड़ विश्वासों और क्रियाकाण्डों का समूह बन चुका था। हमारे विवेचन से यह निष्कर्ष निकालना भी सुगम है कि काल जन्य परिस्थितियाँ तथा राजनैतिक उथलपुथल भी कभी कभी धर्म, मत तथा विश्वासों को प्रभावित एवं परिवर्तित कर देती हैं। निश्चय ही वैदिक संहिताओं में अपने उद्गम की तलाश करने वाला धर्म ही कालान्तर में उपनिषदों के अध्यात्मवादी दर्शन तथा कालान्तर में स्मृति मूलक आचार विचार एवं आचरणमूलक धर्म के रूप में विकसित हुआ। उसी धर्म को रामायण तथा महाभारत जैसे आर्य जीवन का सर्वांगीण चित्रण करने वाले ऐतिहासिक महाकाव्यों में नाना कथाओं, उपाख्यानों तथा अनुशंसामूलक प्रसंगों के द्वारा उपबृंहित किया गया था। परन्तु परवर्तीकाल की अनेक राजनीतिक, सामाजिक तथा युगीन परिस्थितियों के घात प्रतिघात के फलस्वरूप यही धर्म अपने प्राचीन विशुद्ध रूप को खोकर पुराणों, तन्त्रों एवं अवान्तरकालीन धर्मशास्त्र के निबंध ग्रन्थों में विवेचित एक ऐसे धर्म के रूप में परिवर्तित हो गया, जिसमें मानव विवेक को जागृत करने वाले उदात्त तत्त्वों का सर्वथा अभाव तो था ही, जो सर्वांश में अंध धारणाओं तथा मिथ्याविश्वासों का पोषक भी था। उसे सुविधा के लिये 'पौराणिक धर्म' की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है, जिसमें विशुद्ध वैदिक तत्त्वों के स्थान पर बौद्ध, जैन तथा अन्य लोकायत मतों की आस्थाओं और विश्वासों का भी सम्मिश्रण हो गया था। महायान बौद्धों के अनुकरण पर ही हिन्दू धर्म में मूर्तिपूजा, अवतार, मठों एवं मंदिरों की स्थापना तथा अनेक देवी देवताओं की आडम्बरपूर्ण पूजा अर्चा आरम्भ हुई। कालान्तर में बौद्धों के ही सहजयान, वज्रयान और तंत्रयान आदि सम्प्रदायों के प्रभाव से इस पौराणिक धर्म में भी तंत्र मंत्र पर आधारित नाना प्रकार की जुगुप्साजनक साधनाएं और क्रियाकलाप प्रचलित हो गये।

कालान्तर में पुष्पित, पल्लवित एवं फलित, शैव, शाक्त, वैष्णव, निर्गुण सन्त मत आदि सम्प्रदाय इसी पौराणिक धर्म रूपी महावृक्ष की शाखा प्रशाखाएं हैं। इन सम्प्रदायों में नाना विरोधी मत विश्वासों, आचारों, कर्मकाण्डों तथा आडम्बरपूर्ण अनुष्ठानों का जैसा

घटाटोप हो गया था, उसे देखते हुए यह कल्पना करना भी कठिन था कि ये सभी मत-समुदाय उसी पुराकालीन वेद प्रतिपादित धर्म के ही परिवर्तित रूप हैं जिनमें वैसी सात्विकता और उदारता नहीं है, जो इनके मूल उपादान रूप वैदिक धर्म में विद्यमान थी। यह था उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का हिन्दू धर्म, जिसमें व्याप्त परस्पर विरोधी विचारों और विश्वासों को इसी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी विवेकानन्द जैसे महापुरुषों ने अनेकता में एकता जैसे काव्यात्मक उपमान देकर व्यर्थ में ही गौरवान्वित किया था।[१८]

उस युग में जो स्थिति हिन्दू धर्म की थी, समाज की दशा उससे किसी भी प्रकार बेहतर नहीं कहीं जा सकती। विगत शताब्दी का हिन्दू समाज सर्वथा जर्जरित, और रोगग्रस्त होकर मरणासन्न स्थिति तक पहुंच चुका था। जातिभेद के भयंकर रूप, दलित एवं शोषित वर्ग की शोचनीय स्थिति तथा नारी जाति पर सीमातीत अत्याचारों ने इस समाज को सर्वथा मुमूर्षु बना दिया था। आर्यों का वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित समाज विभिन्न आन्तरिक विग्रहों का शिकार होकर जीवन की अन्तिम सांसें ले रहा था। इस काल के ब्राह्मण ब्रह्म तेज से रहित, क्षत्रिय क्लीवता एवं दौर्बल्य से पीड़ित, वैश्य धनहीन एवं क्षुद्र स्वार्थों से पूरित थे। जब तथाकथित द्विजातियों की स्थिति ही शोचनीय रही हो, तो शूद्रों के अधःपतन में तो शंका ही क्या थी? हिन्दू समाज में अत्यधिक श्रद्धा एवं सत्कार का भाजन साधु संन्यासी वर्ग भी अविद्या एवं अज्ञानग्रस्त होकर, अहंकार में चूर, भंग, गांजा, अफीम और मदिरा जैसे मादक द्रव्यों का सेवन करने के कारण सर्वविध पतन के गर्त में गिर चुका था। जिस समाज के अग्रगन्ता ब्राह्मण और संन्यासी ही जब स्वकर्त्तव्य को विस्मृत कर पापाचरण में प्रवृत्त हो जायें, तो अन्य लोगों की तो कथा ही क्या? ऐसा लगता था कि मोहमयी मदिरा का पान कर समस्त समाज ही अज्ञानान्धकार में इतस्ततः अंधे की नांई भटक रहा है। जब उसके मार्ग-दर्शक एवं नेता कहलाने वाले व्यक्ति ही दिग्मूढ़ होकर पथभ्रष्ट हो चुके, तो अनुयायियों के लिये भी 'अंधेनैव नीयमाना यथान्धाः' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए सर्वनाश की ओर अग्रसर होने के अतिरिक्त और कोई उपाय शेष नहीं रहा था।

यह है परिस्थितियों का एक संक्षिप्त आकलन, जिन्हें हमने दयानन्द सरस्वती के आविर्भाव की पृष्ठभूमि के रूप में उपस्थित किया है। अज्ञानान्धकार से परिपूरित इस अमा-निशा की समाप्ति सन्निकट ही थी और उससे उत्पन्न होने वाला था नवजागरण का वह उषा काल, जिसके संदेहवाहक बन कर आये थे **दयानन्द सरस्वती**। इससे पूर्व कि दयानन्द के जीवन, कार्य और विचारों का समग्र विवेचन किया जाय, यह आवश्यक हो जाता है कि हम भारत के धार्मिक एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण के प्रथम सूत्रधार राजा राममोहनराय तथा उनके द्वारा प्रवर्तित ब्रह्मसमाज के सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त करें। साथ ही प्रार्थना-समाज, थियोसोफी आदि आर्यसमाज के उन समकालीन, समानधर्मा आन्दोलनों की चर्चा भी आवश्यक है जिनकी गतिविधियों और कार्यप्रणाली का निकटता से अध्ययन करने का अवसर आर्यसमाज को मिला था तथा जिनकी न्यूनताओं, विसंगतियों और त्रुटियों को दृष्टिपथ में रख कर ही उसने स्वसंस्थापित आर्यसमाज को ऐसे दोषों से सर्वथा पृथक् रखने की भरसक

चेष्टा की थी। भारत के सांस्कृतिक एवं धार्मिक नवजागरण के प्रथम ज्योतिर्धर राममोहनराय ने हिन्दूधर्म के प्रचलित बहुदेववादी, मूर्तिपूजक तथा पाखण्डपूर्ण रूप से खिन्न कर उपनिषद् प्रोक्त 'एकमेवाद्वितीयम्' की उपासना के प्रचार हेतु ब्रह्मसमाज की स्थापपा की।

बंगाल के एक कुलीन ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न राममोहन राय (जन्म १७७४-मृत्यु २७ सितम्बर १८३३) ने बाल्यकाल में फारसी और अरबी भाषाओं का अध्ययन किया। इस के फलस्वरूप वे इस्लाम के एकेश्वरवाद और सूफियों के तसव्वुफ मत की ओर आकृष्ट हुये। युग की मांग के अनुसार यद्यपि राममोहन राय ने अरबी, फारसी पढ़ी थी, परन्तु परिवार की धार्मिक मान्यताओं के पालन हेतु वे संस्कृत अध्ययन में भी प्रवृत्त हुये। उन्हें संस्कृत अध्ययन की प्रेरणा देनेवाली उनकी माता ही थी, जो एक शाक्त मतानुयायी ब्राह्मण परिवार की कन्या थी। स्वयं राममोहन राय ने अपनी संस्कृत शिक्षा के लिये अपनी माता की प्रेरणा को स्वीकार किया है।[१६] राममोहन राय का संस्कृत शिक्षण काशी में हुआ, जहाँ रह कर लगभग अढ़ाई वर्षों में उन्होंने उपनिषद्, वेदान्त, स्मृति, पुराण तथा तन्त्र आदि शास्त्रों का अध्ययन किया। उपनिषद् वाङ्मय तथा वेदान्त दर्शन के अध्ययन ने उनके हृदय में अंकुरित एकेश्वरवाद के सिद्धान्त को और भी दृढ़ कर दिया।

कालान्तर में उन्होंने २५ अगस्त १८२८ को कलकत्ता नगर के जोड़ासांको मुहल्ले (चितपुर रोड़) में ब्रह्मसमाज की स्थापना की। वेद और उपनिषद् प्रतिपादित एकेश्वरवाद तथा ब्रह्मवाद के सिद्धान्त से प्रभावित राजा राममोहन राय ने हिन्दू धर्म की पूजा प्रणाली को पौत्तलिक उपासना की जड़ता से हटा कर शुद्ध सच्चिदानन्द प्रज्ञानधन परमात्मा की मानस पूजा के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। धर्म संशोधन के साथ साथ समाज-सुधार एवं शिक्षा प्रचार के महत्त्वपूर्ण कार्यों को भी उन्होंने अपने हाथ में लिया। सती प्रथा को कानून से बंद कराना उनका चिर ईप्सित स्वप्न था जो तत्कालीन गवर्नर जरनल लार्ड विलियम बैण्टिक के सहयोग से पूरा हुआ। राममोहन राय का दृष्टिकोण मानवतावादी था। उनका अध्ययन और अनुभव विशाल था। भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त अंग्रेजी, लैटिन, ग्रीक तथा हिब्रू आदि पश्चिमी भाषाओं पर भी उनका पूर्ण अधिकार था। कुरान तथा बाइबिल का उन्होंने विशद अध्ययन किया था। यदि इस्लाम के एकेश्वरवाद की उन्होंने प्रशंसा की, तो ईसाइयत के विषय में भी उनकी कुछ निजी प्रशंसापूर्ण धारणायें थीं। वे ईसाई मत के आचार शास्त्र (Ethics) को बहुत उत्तम कोटि का मानते थे तथा भारतवासियों के लिये उसे अनुकरणीय एवं आचरणीय भी समझते थे। जहाँ तक ईसाइयत के धार्मिक मतवादों (Religious Dogmas) का सम्बन्ध है, राजा साहब की मान्यता थी कि बाइबिल अपने विशुद्ध रुप में एकेश्वरवाद (Unitarianism) का ही प्रचार करती है। उसमें ईसा रूपी पुत्र, पिता तथा पवित्र आत्मा की त्रैतवादी (Trinity) विचारधारा का समर्थन कहीं नहीं मिलता।

जहाँ तक धर्म और समाज के क्षेत्र में सुधार एवं संस्कार का प्रश्न है, राममोहन राय के अधिकांश प्रयत्न श्लाघनीय हैं, परन्तु भाषा विषयक उनके विचार बड़े उलझन पूर्ण दिखाई पड़ते हैं। यद्यपि शास्त्रार्थ और धार्मिक चर्चाओं में संस्कृत के उपयोग की आवश्यकता

को उन्होंने स्वीकार किया था, परन्तु उनके जीवन में ही एक ऐसा प्रसंग उपस्थित हुआ, जिससे सिद्ध हो जाता है कि वे अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली को ही प्रोत्साहित करना चाहते थे। बंगाल सरकार का विचार उस समय कलकत्ता में एक संस्कृत कालेज की स्थापना करने का था, परन्तु राममोहन राय की दृष्टि में यह एक अनावश्यक तथा प्रतिगामी कदम था। उन्होंने इस योजना के विरोध में तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड एमहर्स्ट को एक पत्र लिखा।[२०] इस पत्र के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राममोहन राय अंग्रेजी शिक्षाप्रणाली के कट्टर समर्थक थे। उनके इस पत्र में मैकॉले की शिक्षा पद्धति की विजय ही प्रतिध्वनित होती है।

१८३३ ई. में इंगलैण्ड के ब्रिस्टल नगर में राममोहन राय के दिवंगत होने पर ब्रह्मसमाज का नेतृत्व ऋषिकल्प देवेन्द्रनाथ ठाकुर (१८१७-१९०५) के हाथों में आया। राममोहन ने यदि ब्रह्मसमाज का बीज वपन किया था, तो ठाकुर महाशय ने उसमें ऊष्मा का संचार कर उसे एक पुष्ट पादप का रूप प्रदान किया। देवेन्द्रनाथ ने ब्रह्मसमाज की उपासना पद्धति को एक निश्चित स्वरूप प्रदान किया, समाज के सिद्धान्तों के प्रचार के लिये तत्त्वबोधिनी पत्रिका निकाली[२१] तथा ब्राह्म धर्म के प्रचारकों के लिये तत्त्वबोधिनी पाठशाला की स्थापित की। ब्रह्मसमाज के धर्म विषयक मत को सुनिश्चित करने के लिये देवेन्द्रनाथ ने उपनिषद्, महाभारत तथा कतिपय अन्य ग्रन्थों को लेकर एक पुस्तक प्रकाशित की, जिसे 'ब्राह्मधर्म' का नाम दिया गया।[२२] इसी प्रकार अपने अनुयायियों के उपयोग के लिये धार्मिक कर्मकाण्डों का भी निर्धारण किया गया जिसे 'अनुष्ठान पद्धति' के नाम से उन्होंने स्वयं संकलित किया था। ब्रह्मसमाज के एकेश्वरवाद के सिद्धान्त में श्रद्धा, भक्ति और आस्था की त्रिवेणी का समावेश कराना देवेन्द्रनाथ का ही कार्य था।

अब तक वेद की प्रामाणिकता को लेकर ब्रह्मसमाज का कोई सुनिश्चित सिद्धान्त नहीं था। यद्यपि राममोहन राय ने यह स्पष्ट घोषणा की थी कि धार्मिक शास्त्रार्थ और वाद-विवाद की सत्यता मुख्यतः शास्त्रीय प्रमाणों पर ही निर्भर करती है[२३] परन्तु राजा महाशय की मृत्यु के पश्चात् शास्त्र प्रमाण का क्या रूप हो और वेदों की प्रामाणिकता को किस सीमा तक स्वीकार किया जाय, इन विषयों को लेकर ब्राह्म नेताओं में मतभेद हो गया था। देवेन्द्र-नाथ ने इस समस्या के समाधान हेतु अपने चार शिष्यों—आनन्दचन्द्र, तारकनाथ, वनेश्वर और रामनाथ को चारों वेदों का अध्ययन करने के लिये काशी भेजा। ऐसा प्रतीत होता है कि इन शिष्यों ने वेदाध्ययन के अनन्तर वेदों के सम्बन्ध में जो धारणा देवेन्द्रनाथ के समक्ष प्रस्तुत की, वह बहुत उत्साहप्रद नहीं थी, अतः ब्रह्मसमाज ने वेदों की प्रामाणिकता के सिद्धान्त से सदा के लिये मुक्ति पा ली।[२४]

देवेन्द्रनाथ के जीवनकाल में ही ब्रह्मसमाज का आचार्य पद 'ब्रह्मानन्द' पदवी धारी केशवचन्द्र सेन (१९ नवम्बर १८३८—८ जनवरी १८८४) को मिल गया। उनके संरक्षण में समाज में कुछ ऐसे क्रान्तिकारी तत्त्व पनपने लगे जिनके कारण इस संस्था का स्वरूप ही आमूलचूल परिवर्तित हो गया। सामाजिक कुरीतियों के त्याग पर अधिकाधिक ध्यान दिया जाने लगा, परम्परा के पाश क्षीण होने लगे, ईसाई विश्वास ब्राह्ममत में प्रविष्ट होने लगे और शीघ्र ही यह विदित हो गया कि ब्रह्मसमाज एक ऐसे सार्वभौम धर्म के रूप में प्रकट

होगा जिसमें वैदिक, बौद्ध, ईसाइयत और इस्लाम—सभी धर्मों और विश्वासों के मौलिक सिद्धान्त सन्निविष्ट हो जायेंगे। केशवचन्द्र के इन तथाकथित प्रगतिशील कार्यों ने ब्रह्मसमाज में फूट और विग्रह के बीज बोये। सर्वाधिक विवाद यज्ञोपवीत के प्रश्न को लेकर उत्पन्न हुआ। केशव का आग्रह था कि ब्रह्मसमाज के उपदेशकों को जातिप्रथा एवं रूढ़िवाद के प्रतीक यज्ञोपवीत को उतार देना चाहिये। एक बार तो प्राचीन मर्यादाओं को निर्दोष मानने वाले देवेन्द्रनाथ भी केशवचन्द्र के आगे घुटने टेकने के लिये तैयार हो गये, परन्तु शीघ्र ही उनके अनुयायियों ने केशवचन्द्र के समक्ष आत्मसमर्पण करने से इन्कार कर दिया। फलतः पुराने विचारों के ब्राह्मों ने अपने संगठन को 'आदि ब्रह्मसमाज' का नाम दिया और केशव के तथाकथित प्रगतिशील अनुयायी 'भारतवर्षीय ब्रह्मसमाज' के नाम पर संगठित हुये। परन्तु ब्रह्मसमाज का विभाजन यहीं तक सीमित नहीं रहा। कालान्तर में जब केशव ने अपनी अल्पवयस्क पुत्री का विवाह कूचबिहार के राजकुमार से करना निश्चित किया और इस विवाह में भी ब्राह्म अनुष्ठान पद्धति का प्रयोग न कर परम्परागत मूर्तिपूजाप्रधान रीति से ही वैवाहिक संस्कार सम्पन्न हुआ, तो केशव के रहे सहे अनुयायी भी उनसे पृथक् हो गये। केशव ने अपनी पुत्री के अल्पावस्था में विवाह का भी येनकेन प्रकारेण समर्थन किया[२५] और अपने आपको दैवी आदेश प्राप्त करने वाले सिद्धपुरुष के रूप में प्रख्यापित किया।[२६] परिणाम यह हुआ कि उनसे मतभेद रखने वाले ब्राह्मों ने 'साधारण ब्रह्मसमाज' के नाम से अपना पृथक् संगठन बना लिया और केशवचन्द्र ने 'नवविधान समाज' (New Dispensation) की स्थापना की।

केशवचन्द्र की शिक्षा दीक्षा पाश्चात्य प्रणाली पर हुई थी। उनकी वैचारिक पृष्ठभूमि पूर्णतया पश्चिमी चिन्तन से आक्रान्त थी। ईसाइयत के प्रति उनमें अपार उत्साह था। वे ईसा को ऐशिया का एक महापुरुष ही नहीं, अपितु मानव जाति के त्राता के रूप में स्वीकार करते थे तथा अपने अनुयायियों को ईसाई मत की धार्मिक एवं आचारमूलक शिक्षाओं को खुले रूप में अंगीकार कर लेने की प्रेरणा देते थे। कहना नहीं होगा कि केशवचन्द्र द्वारा इन्हीं परमतानुकरण की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करने के कारण ही परवर्ती ब्रह्मसमाज का विशाल हिन्दू समाज से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद सा हो गया। ब्राह्म लोग अपने आप को हिन्दू धर्म की मान्यताओं और विश्वासों की सामान्य धारा से पृथक् करने लगे और एक संकीर्ण सम्प्रदाय के रूप में ही उनका आकुञ्चन हो गया।

ब्रह्मसमाज के सिद्धान्तों के अनुरूप ही १८६७ ई. में महाराष्ट्र में प्रार्थनासमाज की स्थापना हुई। १८६४ ई. में केशवचन्द्र की बम्बई यात्रा ने महाराष्ट्रवासियों में नवीन प्रेरणा तथा जागृति के भाव उत्पन्न किये थे। न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडे (१८४२-१९०१) तथा डा. आत्माराम पाण्डुरंग (१८२३-१८९८) के प्रयत्नों ने प्रार्थनासमाज के विचार को मूर्तरूप दिया। समाज सुधार की प्रवृत्तियों का संचालन ही इस समाज का मुख्य उदेश्य था। कालान्तर में महामति रानडे ने अखिल भारतीय सामाजिक सम्मेलन (All India Social Conference) के मञ्च से समाज सुधार के कार्य को स्फूर्ति और उत्तेजना प्रदान की। फलतः प्रार्थनासमाज की प्रवृत्तियां पर्याप्त शिथिल हो गईं।[२७]

जिस समय दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज की स्थापना कर देश में नवयुग का सूत्रपात किया, उस समय ब्रह्मसमाज तथा प्रार्थनासमाज का यौवनकाल ही था। किन्तु थियोसोफिकल सोसाइटी और आर्यसमाज की स्थापना का वर्ष (१८७५ ई.) तो एक ही है। 'प्रत्येक धर्म में सत्य का तत्त्व है' इस सिद्धान्त वाक्य को लेकर स्थापित इस संस्था का ईसाइयत से तीव्र मतभेद, विरोध तथा संघर्ष रहा। थियोसोफिस्टों ने पुरातन आर्य धर्म, दर्शन, उपासना तथा कर्मकाण्ड की श्रेष्ठता स्वीकार की तथा यहूदी, ईसाई, तथा इस्लाम आदि सामी (Semetic) मतों की मान्यताओं को अस्वीकार किया। कालान्तर में आर्य, बौद्ध तथा पारसी आदि प्राच्य धर्मों को अधिक गौरवान्वित करने तथा ईसाइयत की आलोचना करने के कारण पश्चिम का बृहद् ईसाई जगत् थियोसोफिस्टों का कट्टर शत्रु बन गया था।

थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना के साथ ही साथ उसके संस्थापकद्वय कर्नल ऑल्काट तथा मैडम ब्लैवेट्स्की का आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द से पत्र व्यवहार हुआ।[२८] इसके द्वारा यह निश्चय किया गया कि आर्यसमाज की शाखा के रूप में सोसाइटी को मान्यता दी जाय तथा दोनों के कार्य और प्रवृत्तियाँ एक सी हों। परन्तु शीघ्र ही दोनों संस्थाओं के मौलिक मतभेद प्रकट हो गये और स्वामी दयानन्द ने बम्बई में आर्यसमाज तथा सोसाइटी के परस्पर सम्बन्ध विच्छेद की सार्वजनिक घोषणा एक विशिष्ट विज्ञापन द्वारा कर दी। वस्तुतः थियोसोफिकल सोसाइटी एक विश्व संस्था है, जिसकी गतिविधियाँ संसार के सारे देशों में फैली हुई हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन होने के कारण थियोसोफिकल सोसाइटी ने सर्व धर्म समन्वय पर जोर दिया परन्तु उसके विशिष्ट सिद्धान्तों की कोई निश्चित रूपरेखा नहीं बन पाई। भूतप्रेतादि से सम्बन्धित अनेकानेक विचित्र एवं रहस्य पूर्ण गुह्य विद्याओं का प्रचार करना थियोसोफिस्टों का एक प्रिय कार्य रहा। कालान्तर में श्रीमती एनी बेसेन्ट का इस संस्था में प्रवेश एक महत्त्वपूर्ण घटना सिद्ध हुई। यद्यपि श्रीमती बेसेन्ट इंग्लैण्ड में जन्मी, पलीं और बढ़ीं तथापि उनका कार्यक्षेत्र भारत ही रहा। जिस तीव्र गति से उनकी लोकप्रियता बढ़ी उसी तेजी से उनकी ख्याति और प्रसिद्ध में हानि भी हुई। इसका कारण था जे. कृष्णमूर्ति नामक युवक को ईश्वरावतार के रूप में घोषित करना तथा मद्रास के न्यायालय में युवक के माता पिता द्वारा श्रीमती बेसेन्ट के विरुद्ध प्रस्तुत किया गया तद् विषयक अभियोग। वस्तुतः थियोसोफिकल सोसाइटी पढ़े लिखे आभिजात्य वर्ग के लोगों की एक जमात के रूप में ही संकुचित हो कर रह गई। जीवन्त जनसम्पर्क के अभाव तथा व्यापक सामाजिक समस्याओं से असंपृक्त रहने के कारण सोसाइटी को लोकप्रियता नहीं मिल सकी।

दयानन्द द्वारा स्थापित आर्यसमाज के परवर्ती धार्मिक आन्दोलनों में रामकृष्ण-मिशन तथा उसके संस्थापक स्वामी विवेकानन्द के कार्यों का उल्लेख किया जाना आवश्यक है। वस्तुतः परमहंस रामकृष्ण ने जिस आध्यात्मिक साधना को अनुभव में लाकर अपने भक्तों में स्फूर्त किया वह तर्क एवं युक्तिवाद से सर्वथा पृथक्, आस्तिकता तथा आध्यात्मिकता का एक ऐसा अलौकिक भाव था, जिसे अनुभूति का विषय तो बनाया जा सकता है परन्तु जिस पर वाद विवाद नहीं किया जा सकता। परमहंस देव यद्यपि लौकिक दृष्टि से शिक्षित नहीं थे[२९] किन्तु आध्यात्मिक अनुभूति की दृष्टि से उनकी आत्मचेतना अपने सर्वोच्च सोपान

पर सदा ही प्रतिष्ठित रहती थी। उनके सम्पर्क में आकर नास्तिक नरेन्द्रनाथ दत्त ने ईश्वरानुभूति का साक्षात्कार किया तथा यह अनुभव किया कि उनके गुरु धर्म के साकार विग्रह हैं। विवेकानन्द के रूप में प्रव्रज्या लेकर नरेन्द्र ने दिग्दिगन्त में हिन्दू धर्म और सभ्यता की विजय वैजयन्ती फहराई, इसकी कथा ही पृथक् है। अमेरिका के शिकागो नगर में आयोजित १८९३ ई. के विश्व धर्म परिषद् में उन्होंने हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। यहाँ अपने बहुचर्चित भाषण में उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि अपनी गई गुजरी अवस्था में भी हिन्दू धर्म संसार के लोगों को बहुत कुछ दे सकता है। यह विडम्बना ही है कि धर्म और अध्यात्म के लीला निकेतन भारत को सभ्यता और संस्कृति का पाठ पढ़ाने ईसाई पादरी जाते हैं, जब कि भारत को आज आवश्यकता भौतिक समृद्धि की है, मत और विश्वास की नहीं।

रामकृष्ण और विवेकानन्द का विश्वमानवता के लिये जो संदेश है उसे सहज ही विस्मृत नहीं किया जा सकता। रामकृष्ण मिशन का कार्य सुधार की अपेक्षा सेवा और पुनर्निर्माण का ही अधिक रहा। देश के प्रोज्ज्वल अतीत और उसके महत्त्वपूर्ण दाय पर वास्तविक गौरव अनुभव करना विवेकानन्द की शिक्षा की एक अनिवार्य फलश्रुति है।[३०]

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने दयानन्द के प्रादुर्भाव के पूर्ववर्ती, समकालीन तथा परवर्ती धार्मिक एवं समाज सुधार आन्दोलनों पर विहंगम दृष्टि से विचार किया है। वस्तुतः ये सभी आन्दोलन एक निश्चित ध्येय को लेकर उत्पन्न हुए थे। देश के समक्ष प्रस्तुत समस्याओं के प्रति उनका विशेष दृष्टिकोण था तथा उनके समाधान के लिये उनके पास कुछ विशिष्ट कार्यक्रम भी थे। इन आन्दोलनों के द्वारा मानव समाज के एक बड़े वर्ग का हित साधन होना था और हुआ। भारतीय जनमानस में नवीन चेतना एवं स्फूर्ति का संचार करना इनका मुख्य उद्देश्य था और इस देश की चेतना को जागृत कर उसी के माध्यम से विश्वमानव के सार्वत्रिक उत्थान की रूपरेखा भी इन आन्दोलनों के पुरस्कर्ताओं ने बनाई थी।

इसी समय पश्चिमी राष्ट्रों से भारत का सम्पर्क प्रकारान्तर से इस देश के लिये बहुत कुछ लाभदायक ही सिद्ध हुआ।[३१] मध्ययुगीन संकीर्णताओं तथा रूढ़िप्रेम को छोड़कर भारतवासियों ने अनुभव किया कि वे पश्चिमी देशों से भी अधिक समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा के उत्तराधिकारी हैं। अब यदि वे उन्नीसवीं शताब्दी के नवीन ज्ञान विज्ञान, बुद्धिवाद तथा वैज्ञानिक चिन्तन पद्धति को भी स्वीकार कर लें, तो अपने में एक ऐसे नवीन युगबोध को जागृत करने में समर्थ हो सकेंगे, जो उनके देश को एक बार पुनः गौरवशाली राष्ट्रों के शीर्षस्थान पर स्थापित कर सकेगा।

इसी दृष्टि से दयानन्द सरस्वती ने स्व प्रतिपादित विचारधारा में प्राचीन एवं नवीन के सुखद सामञ्जस्य पर जोर देते हुए यह आवश्यक समझा था कि इस देश के निवासी अपनी गौरवपूर्ण विरासत तथा परम्पराओं पर समुचित गर्व करते हुए ही उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करें और ऐसा करते समय वे पश्चिम के भौतिक विज्ञान, कला कौशल तथा उन्नत आविष्कारों से भी सहायता लेने में संकोच न करें। दयानन्द का सम्पूर्ण जीवन ही प्राचीन वैदिक आदर्शों का वर्तमानकालीन बुद्धिवाद, वैज्ञानिक चिन्तन तथा भौतिक उपलब्धियों से समन्वित कराने के प्रयत्नों हेतु समर्पित रहा। □□

पाद टिप्पणियां

१. द्रष्टव्य—बृहत्तर भारत-चन्द्रगुप्त वेदालंकार, सूर्यकुमारी ग्रन्थमाला-२ के अन्तर्गत गुरुकुल कांगड़ी से १९३९ में प्रकाशित ।

२. द्रष्टव्य—दयानन्द सरस्वती कृत सत्यार्थप्रकाश अष्टम समुल्लास ।

३. द्रष्टव्य—वही-दशम समुल्लास

४. फ्रांसीसी सत्ता पाण्डिचेरी, माहे, कारिकल तथा चन्द्रनगर में थी, जब कि पुर्तगाल के अधिकार में गोवा, दमण और दीव के प्रदेश थे ।

५. मुगल बादशाह शाहआलम की सल्तनत तो दिल्ली के निकटवर्ती पालम गांव तक ही रह गई थी । कहावत चल पड़ी थी—सल्तनत शाहआलम अज़ दिल्ली ता पालम ।

६. पूरा नाम थामस बेबिंगटन मैकॉले (१८००-१८५९ ई.) मैकॉले ने शिक्षाविषयक अपना प्रसिद्ध नोट २ फरवरी १८३५ को लिखा था । इसमें उसने अंग्रेजी की तुलना में संस्कृत, अरबी आदि प्राच्य भाषाओं के साहित्य को हीनतर सिद्ध किया था । उसके शब्द थे—"A single shelf of a good European library was worth the whole native literature of India and Arabia." अर्थात् यूरोप के एक अच्छे पुस्तकालय की आलमारी का एक खाना भारत तथा अरब के सम्पूर्ण साहित्य से श्रेष्ठ है । इसी प्रसंग में उसने आगे लिखा—"All the historical information which has been collected from all the books written in Sanskrit language is less valuable than what may be found in the most paltry abridgments used at preparatory schools in England." अर्थात् संस्कृत भाषा में लिखी गई समस्त पुस्तकों से संगृहीत इतिहास विषयक जानकारी इंग्लैण्ड की प्राथमिक पाठशालाओं में प्रयुक्त होने वाली इतिहास विषयक एक साधारण संक्षिप्तीकृत पुस्तक से भी न्यून महत्त्व की होती है । संस्कृत के साहित्य की विभिन्न विधाओं का उपहास करते हुए उसने लिखा, "क्या हम उस ज्योतिष की शिक्षा देंगे, जिसे पढ़ कर अंग्रेजी छात्रावास की लड़कियां खिलखिला कर हँसेगी । ऐसा इतिहास पढ़ायेंगे, जिनमें तीस फीट ऊंचे और तीस हजार वर्ष तक शासन करने वाले राजाओं का वर्णन है । क्या हम ऐसा भूगोल पढ़ायेंगे जिसमें मधु और नवनीत के समुद्रों का उल्लेख है ?"

७. "English education would train up a class of persons, Indian in blood and colour but English in tastes, in opinions, in morals and intellect."

८. "No Hindoo who has received an English education ever remains sincerely attached to his religion. Some continue to profess it as a matter of policy and some embrace Christianity. It is my firm belief that if our plans of education are followed up, there will not be a single idolator among the respectable classes in Bengal thirty years hence."

९. विशेषरूप से पठनीय सामग्री—आर्यसमाज का इतिहास तृतीय भाग (डा. सत्यकेतु विद्यालंकार सम्पादित) में 'उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में शिक्षा की दशा' शीर्षक अध्याय । आर्य स्वाध्याय केन्द्र, नई दिल्ली द्वारा १९८३ में प्रकाशित ।

१०. भारत में ईसाई धर्म प्रचार विषयक पठनीय ग्रन्थ—

1. James Hough : The History of Christianity in India.
2. J. A. Richter : A History of missions in India.
3. James R. Campbell : Missions in Hindustan 1803.
4. M. A. Sherring : A History of Protestant Missions in India.
5. Ganga Prasad Upadhyaya : Christianity in India.

११, हेयर कात्विन पामरश्च कैरी मार्शमैनस्तथा ।
पञ्चगोरा स्मरेन्नित्यं महापातकनाशनम् ।

१२. द्रष्टव्य—The Fountain Head of Religion by Ganga Prasad M. A.

१३. द्रष्टव्य—पं भगवद्दत्त लिखित पुस्तक—Western Indologists : A Study in Motives.

१४. "The first impulse to the study of Sanskrit was given by the practical administrative needs of our Indian possessions." A History of Sanskrit Literature (Preface) p. 2, by A. A. Macdonell.

१५. बंगाली भाषा के प्रसिद्ध महाकाव्य मेघनादबध तथा खण्डकाव्य विरहिणी व्रजाङ्गना के रचयिता ।

१६. प्रसिद्ध अंग्रेजी कवयित्री तोरु दत्त के पिता ।

१७. "अपेक्षाकृत आधुनिक समय के व्यवस्थापक और संग्रह कर्ता गण भवदेव भट्ट, शूलपाणि, स्मार्त रघुनन्दन प्रभृति वृषोत्सर्गादि श्राद्ध के विषय में विस्तारपूर्वक व्याख्या कर गये हैं । यहां तक कि छींक और छिपकली आदि के शुभाशुभ फल के सम्बन्ध में भी व्याख्या दे गये हैं ।" देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय-महर्षि दयानन्दसरस्वती का जीवन चरितः भूमिका

१८. स्व. रामधारीसिंह दिनकर ने इस प्रसंग में राजा राममोहन राय, दयानन्द तथा केशवचन्द्र सेन आदि सुधारक वर्ग के लोगों द्वारा किये गये हिन्दू धर्म की रक्षा के कार्य का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया है । (द्रष्टव्यः उनका लेख—धर्म की साकार प्रतिमा-रामकृष्ण परमहंस । सरस्वती—अक्टूबर १९५५ उनके अनुसार "उपर्युक्त लोगों को हिन्दुत्व का समग्र रूप रक्षित होने के योग्य प्रतीत नहीं हुआ । निदान ऋषि दयानन्द ने उतने ही हिन्दुत्व को रक्षणीय माना जिसका आख्यान वेदों में मिलता है—अर्थात् जिसमें मूर्तिपूजा नहीं है जिसमें तीर्थ, व्रत, अनुष्ठान और श्राद्ध का अभाव है, जिसमें अवतारवाद, स्वर्ग, नरक, देवी देवता कुछ भी नहीं हैं ।" दिनकर की दृष्टि में राममोहन राय और दयानन्द ने जिस हिन्दुत्व की रक्षा की, वह हिन्दुत्व का एक खण्ड मात्र था । वे सुधारकों द्वारा हिन्दुत्व के इस अंश मात्र की रक्षा को अधिक प्रशंसा भाव से नहीं देखते । उन के विचारानुसार तो समग्र हिन्दू धर्म (मूर्तिपूजा, अवतार, तीर्थ, व्रत, अनुष्ठानादि पौराणिक क्रियाकाण्डों के अतिरिक्त सम्पूर्ण अंधविश्वासों, मूढ़ प्रथाओं तथा अंध धारणाओं सहित) ही रक्षणीय था, और उनके अनुसार इस समग्र हिन्दू धर्म की रक्षा रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द द्वारा हुई । हमारा दृष्टिकोण भिन्न

है। हमारे विचार से हिन्दू धर्म का वही अंश संरक्षणीय है जो वैचारिक उदारता, उपासना प्रणाली की विशुद्धता एवं निर्मलता तथा सरल और तर्क संगत कर्मकाण्डों का प्रतिपादक रहा है। क्या धर्म के नाम पर प्रचलित पाखण्ड, आडम्बर पूर्ण आचरण तथा मूढ़ क्रियाकलाप भी संरक्षणीय हो सकते हैं ?

दिनकर की आलोचना उस समय औचित्य का अतिक्रमण कर जाती है जब वे राममोहन राय, और दयानन्द जैसे प्रखर धर्म सुधारकों की तुलना में श्रीमती एनी बेसेन्ट के कार्य को वरीयता प्रदान करते हुए लिखते हैं—"सच पूछिये तो हिन्दुत्व का इससे अधिक प्रतिनिधित्व श्रीमती एनी बेसेन्ट ने किया क्योंकि वे शास्त्र, पुराण, स्मृति और गीता, हिन्दुत्व के देवी देवता और उनके द्वारा पूजित अवतार एवं ब्रह्मविद्या और परलोक, सब की ओर से एक समान उत्साह से बोल रही थीं।" हमारे विचार में संस्कृत में लिखे जाने मात्र से ही सारे शास्त्र, पुराण तथा स्मृतियाँ मान्य और प्रामाण नहीं हो जातीं। शास्त्रों का विवेचन भी विवेक बुद्धि से ही किया जाना चाहिए, यही राममोहन राय और दयानन्द जैसे शास्त्र संशोधकों की धारणा थी। परलोक विद्या (Occultism) और प्रेत विद्या को बढ़ावा देकर क्या एनी बेसेन्ट ने पठित वर्ग में अंधविश्वासों को प्रवृद्ध नहीं किया ?

१९. "According to the usage of my maternal relations, I devoted myself to the study of Sanskrit and the theological works written in it which contains the body of the Hindoo literature, law and religion". Autobiographical Sketch. (English works of Raja Ram Mohan Roy) p. 222, Panini Office, Allahabad.

२०. A letter on English Education, Quoted in Raja Ram Mohan Roy : His Life, Writings and Speeches. G. A. Nateson & Co., Madras.

२१. अक्षयकुमार दत्त के सम्पादन में यह पत्रिका १८४३ ई. में प्रथम बार प्रकाशित हुई।

२२. ब्राह्म धर्म का प्रथम खण्ड १८१७ शकाब्द में प्रकाशित हुआ था। यह भी हेमचन्द्र चक्रवर्ती द्वारा संगृहीत वेदों तथा उपनिषदों के कतिपय महत्त्वपूर्ण अंशों का संकलन है।

२३. "The validity of the theological controversy chiefly depends upon scriptural authority." Monotheistical System of the Vedas.

२४. "Members of the Brahmosamaj, after becoming better acquainted with their own sacred writings than they ever had been before, should solemnly have declared in the year 1850, that the claim of being divinely inspired could no longer be maintained in favour of the hymns of the Brahmans or the Veda." F. Maxmuller : Ram Mohan to Ramakrishna, P. 64 Calcutta 1952.

२५. "यह कार्य करते हुए मुझे विश्वास है कि इसमें मैंने कोई पाप नहीं किया है। जो काम मैंने परमात्मा की आज्ञा से किया है, निस्सन्देह उसके लिये मैं दोषी नहीं ठहराया जा सकता। यदि किसी पर दोष लगाया जा सकता है, तो परमात्मा पर लगाया जा सकता है, क्योंकि उसी ने मुझे ऐसा कार्य करने लिये कहा और बाध्य किया।"

२६. "यदि मैं प्रत्यादिष्ट महापुरुष नहीं हूँ तो मैं एक विचित्र मनुष्य तो हूँ ही। मैं साधारण आदमियों की तरह नहीं हूँ और यह बात मैं जान बूझ कर कह रहा हूँ।.... मेरे कार्य का विरोध करना मानो सर्वशक्तिमान् परमात्मा के विधान का विरोध करना है।"

२७. प्रार्थनासमाज के विशिष्ट परिचय के लिये द्रष्टव्य—भारत के राजनैतिक पुनर्जागरण पर धार्मिक आन्दोलनों का प्रभाव (ले. डा. द्वारकाप्रसाद श्रीवास्तव) में प्रार्थनासमाज विषयक अध्याय।

२८. विस्तृत विवरण के लिये द्रष्टव्य-इसी ग्रन्थ का 'प्रकरण चतुष्टय' शीर्षक अध्याय।

२९. रामकृष्ण के प्रायः अशिक्षित होने के प्रसंग को लेकर रामधारीसिंह दिनकर ने विद्वानों और पण्डितों के सम्बन्ध में अपने उद्‌गार इस प्रकार व्यक्त किये हैं—"भारतवर्ष की परम्परा है कि यहां की जनता विद्या से आतंकित नहीं होती। पण्डितों का वह सत्कार करती है, उनकी पूजा और भक्ति नहीं।"—धर्म की साकार प्रतिमा-रामकृष्ण परमहंस (सरस्वती अक्टूबर १९५५ ई.) दिनकर के विचारों से एक सीमा तक सहमत होते हुए भी यह कहा जा सकता कि वैदुष्य और पाण्डित्य का भी अपना महत्त्व है।

३०. दयानन्द और विवेकानन्द के विचारों के तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से पठनीय—महर्षि दयानन्द और स्वामी विवेकानन्दः एक तुलनात्मक अध्ययन—डा. भवानीलाल भारतीय-वैदिक यंत्रालय अजमेर से १९७६ ई. में प्रकाशित।

३१. इन उपलब्धियों में से कुछ विशेष उल्लेखनीय हैं—नव जागरण की चेतना, धर्मसुधार आन्दोलन, राष्ट्रीयता के भाव का उद्भव और विकास, एकता, स्वतंत्रता तथा समानता के भावों का प्रसार, शासन में प्रतिनिधित्व की मांग, राष्ट्रीय आन्दोलनों का जन्म, प्रमाणवाद के स्थान पर बुद्धिवाद को महत्त्व देना, पुरानी प्रथाओं को त्यागने और नवीन सुधारों को अंगीकार करने की प्रवृत्ति, विज्ञान के अवदानों को स्वीकार करना आदि।

□□

दयानन्द सरस्वती : जीवनी लेखन के प्रयत्न और उनका मूल्याङ्कन

उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय धार्मिक तथा सांस्कृतिक नवजागरण के उन्नायक तथा पुरोधा दयानन्द सरस्वती के विचारों और कार्यों का प्रभाव स्वयं उनके जीवन काल में ही लक्षित होने लगा था। यह प्रभाव केवल भारत तक ही सीमित रहा हो, ऐसी बात नहीं थी, पश्चिमी देशों में उनके विचारों की चर्चा होने लगी थी तथा उनका मूल्यांकन भी आरम्भ हो गया था। दयानन्द की कीर्तिकौमुदी विगत शताब्दी में ही स्वदेश की सीमा को लांघ कर यूरोप तथा अमेरिका तक व्यापक हो चुकी थी। फलतः देश और विदेश के अनेक प्रबुद्ध व्यक्ति न केवल उनकी विचार सुरभि से ही अपने मन मन्दिरों को सुवासित करना चाहते थे, उनकी यह भी इच्छा थी कि स्वामी दयानन्द की जीवन यात्रा के विभिन्न आयामों से भी परिचय प्राप्त करें।

दयानन्द सरस्वती वैदिक जीवन प्रणाली में स्वीकृत वर्णाश्रम विधान को मान्यता देते थे। वे स्वयं चतुर्थाश्रमी संन्यासी थे, अतः उसी आश्रम की स्वीकृत मर्यादाओं के अनुसार उन्होंने अपने जन्म स्थान, माता पिता तथा उसी प्रकार की अन्य बातों को बताने में सदा ही संकोच किया। फिर भी उनके जीवन में एकाधिक प्रसंग ऐसे भी आये, जब कि उन्हें अपने विषय में बहुत कुछ बताना पड़ा। प्रथम बार उन्होंने अपने जीवन के विषय में कतिपय तथ्यों का उद्‌घाटन उस समय किया, जब वे पुणे (महाराष्ट्र) में महामति महादेव गोविन्द रानडे के अनुरोध पर एक व्याख्यानमाला प्रस्तुत कर रहे थे। इस माला के अन्तिम भाषण में उन्होंने ४ अगस्त १८७५ को अपने जीवन का वृत्तान्त श्रोताओं के समक्ष प्रस्तुत किया। इस आत्म-कथन में दयानन्द ने जन्म से लेकर काशी की पण्डित मण्डली से हुए अपने शास्त्रार्थ (१६ नवम्बर १८६९ ई.) तक की घटनाओं का किञ्चित विस्तार पूर्वक उल्लेख किया।

स्वदेशवासियों की ही भांति अन्य देशवासी भी दयानन्द के जीवन तथा विचारों से परिचित होने के लिये उत्सुक थे। उनके द्वारा संस्थापित आर्यसमाज की कीर्तिपताका को अल्पकाल में ही सर्वत्र फहराते देख कर अमेरिका में स्थादित थियोसोफिकल सोसाइटी के सभासदों का ध्यान भी इस महापुरुष की ओर आकृष्ट हुआ। कालान्तर में जब इस संस्था का मुखपत्र 'थियोसोफिस्ट' बम्बई से प्रकाशित होने लगा तो पत्र सम्पादक के आग्रह पर स्वामीजी अपने जीवन वृत्त को उसमें धारावाही रूप में प्रकाशित कराने के लिये राजी हो गये।[1] यद्यपि इस पत्र में छपा यह जीवन वृत्तान्त तो पूना में दिये गये व्याख्यान में वर्णित घटनाओं से भी संक्षिप्त है (यह नर्मदा स्रोत गवेषण काल तक समाप्त होता है।) तथापि लिखित रूप में उपस्थित होने के कारण उनके जीवन प्रभात को प्रामाणिक रूप में चित्रित करने के कारण इस विवरण का महत्त्व निर्विवाद है।

स्वामी दयानन्द के जीवन काल में ही उनका इतिवृत्त लिखने का एक प्रयत्न तत्कालीन पश्चिमोत्तर प्रदेश (वर्तमान उत्तर प्रदेश) की शिक्षा सेवा के अधिकारी पं. गोपालराव हरि[3] द्वारा किया गया। ये महानुभाव मूलतः महाराष्ट्रवासी थे तथा फर्रूखाबाद में स्कूलों के सब-डिप्टी इन्सपैक्टर के पद पर नियुक्त होकर १८७२ ई. में इस नगर में आये। १९३७ वि. में इन्होंने 'दयानन्द दिग्विजयार्क' शीर्षक से स्वामीजी के जीवन वृत्तान्त का प्रणयन आरम्भ किया। ग्रन्थ का प्रथम खण्ड १९३८ वि. में समाप्त हुआ। इसमें चरितनायक के संक्षिप्त जीवन वृत्त के पश्चात् उनके कुछ शास्त्रार्थों का विवरण दिया गया था, जो पौराणिक, जैन, मुसलमान तथा ईसाई विद्वानों से समय समय पर हुए थे। द्वितीय खण्ड में दयानन्द कृत वेदभाष्य विषयक चर्चाओं और आलोचनाओं की समीक्षा के पश्चात् उनके द्वारा किये गये धर्म-प्रचार का विवरण प्रस्तुत किया गया था। यह खण्ड भी १९३८ वि. में प्रकाशित हुआ। ग्रन्थ का तृतीय और अन्तिम खण्ड यद्यपि १९४२ वि. (स्वामीजी के निधन के दो वर्ष पश्चात्) में ही लिखा जा चुका था, किन्तु इसका प्रकाशन १९४४ वि. में हुआ। यह खण्ड प्रथम दो खण्डों से आकार में बड़ा है तथा इसमें स्वामी दयानन्द द्वारा प्रारम्भ किये गये गोरक्षा आन्दोलन, थियोसोफिस्टों से उनके मतभेद, मुन्शी इन्द्रमणि का मुकद्दमा तथा उससे उत्पन्न विवाद, उदयपुर, शाहपुरा तथा जोधपुर की यात्रायें, अस्वस्थ होने तथा अजमेर में परलोक गमन आदि घटनाओं का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया गया है। स्वामीजी के देहावसान के पश्चात् तत्कालीन पत्र पत्रिकाओं में जो शोकोद्गार तथा श्रद्धाञ्जलियां प्रकाशित हुई थीं, उनका संकलन करते हुए ग्रन्थकार ने स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित परोपकारिणी सभा के प्रथम अधिवेशन की कार्यवाही को भी इसमें उद्धृत किया है। वस्तुतः इस ग्रन्थ में स्वामीजी की जीवनी विषयक आधारभूत सामग्री को प्रथम बार प्रस्तुत किया गया था जिसे उपादान रूप में परवर्ती जीवनी लेखकों ने प्रयुक्त किया है। इसमें तत्कालीन पत्र पत्रिकाओं के उद्धरणों, अनेक लघु पुस्तिकाओं, प्रत्यक्षदर्शियों के कथनों तथा स्वामीजी के पत्र व्यवहार को भी प्रचुर मात्रा में उद्धृत किया गया है।[3]

दिसम्बर १८८५ में परोपकारिणी सभा के द्वितीय अधिवेशन में एक प्रस्ताव स्वीकार कर यह निश्चय किया गया कि सभा के उपमंत्री पं. मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या स्वामीजी का विशद, तथ्यपूर्ण जीवन चरित लिखें।[4] देशवासियों से अपील की गई कि वे स्वामीजी के सम्बन्ध में जो कुछ जानकारी रखते हैं, उसे पण्ड्याजी को भेज दें। परन्तु जीवन चरित लेखन का यह प्रयास क्रियान्वित नहीं हो सका। शायद पण्ड्याजी का अनुत्साह ही इसमें कारण रहा हो। दयानन्द सरस्वती के परलोक गमन के पांच वर्ष पश्चात् आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने अपनी १ जुलाई १८८८ को सम्पन्न हुई अन्तरंग सभा की बैठक में यह निश्चय किया कि पं. लेखराम आर्यपथिक को स्वामीजी की प्रामाणिक जीवनी लिखने के लिये नियुक्त किया जाय। नवम्बर १८८८ से आर्यपथिक ने जीवनी की आधारभूत सामग्री का संग्रह प्रारम्भ किया।[5] १८९२ ई. तक देश के विभिन्न भागों में घूम कर उन्होंने उन सहस्रों व्यक्तियों से सम्पर्क किया, जिन्होंने स्वामीजी को प्रत्यक्ष देखा था, उनके सम्पर्क में आये थे तथा उनके उपदेश श्रवण का अवसर भी प्राप्त किया था। ऐसे व्यक्तियों के वक्तव्यों को उन्होंने सिलसिलेवार लिपिबद्ध किया। इसी प्रकार स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में प्रकाशित विभिन्न समाचारों, सूचनाओं तथा

विज्ञापनों का भी उन्होंने संग्रह किया। यह निश्चित है कि यदि पं. लेखराम अकाल में ही काल कवलित नहीं हुए होते, तो दयानन्द का एक व्यवस्थित एवं प्रामाणिक जीवन चरित उन्हीं की लेखनी से लिखा जाकर तैयार हो जाता, किन्तु इससे पूर्व कि वे इस कार्य को समाप्त कर लेते, ६ मार्च १८९७ ई. को एक आततायी के घातक प्रहार से आहत होकर वे परलोक-गामी हुए। यह एक संयोग ही था कि पं. लेखराम जिस समय स्वामीजी के जीवन चरित के लेखन का कार्य कर रहे थे, उसी समय उन पर छुरी का प्रहार हुआ। दयानन्द के विचारों और आदर्शों से अनुप्राणित आर्यपथिक के रक्त से वह पाण्डुलिपि सिञ्चित हो गई, जिसमें वे अपने गुरु और आचार्य के जीवन की कथा लिख रहे थे।

२१ मार्च १८९७ को आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की अन्तरंग सभा ने एक प्रस्ताव कर पं. लेखराम द्वारा अधूरे छोड़े गये कार्य को पूरा करने का दायित्व पं. आत्माराम अमृतसरी को सौंपा। पं. आत्माराम ने पं. लेखराम द्वारा लिखित अपूर्ण जीवनी तथा संकलित सामग्री को आद्योपान्त देख कर उसे एक व्यवस्थित रूप प्रदान किया। अन्ततः २५ अक्टूबर १८९७ को मुन्शीराम जिज्ञासु (स्वामी श्रद्धानन्द) लिखित भूमिका के साथ यह ग्रन्थ उर्दू भाषा में प्रकाशित हुआ।[६]

पं. लेखराम द्वारा संग्रहीत जीवन चरित अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। यह एक प्रकार से दयानन्द सरस्वती के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आने वाले तथा उनके जीवन की विभिन्न घटनाओं से सीधा परिचय रखने वाले लोगों के बयानों पर आधारित है। यदि एक ही घटना या स्थिति का वर्णन भिन्न भिन्न व्यक्तियों ने भिन्न भिन्न प्रकार से किया, तो भी पं. लेखराम ने उन सभी लोगों के वक्तव्यों को एक ही स्थान पर संगृहीत कर लिया था। शायद वे स्वतंत्र रूप से कोई निष्कर्ष भी निकालते अथवा उन लोगों द्वारा वर्णित बयानों का कोई समन्वित रूप भी प्रस्तुत करते, परन्तु कार्य पूरा होने से पहले ही उनकी मृत्यु हो गई। अतः पाठक को दयानन्द का यह जीवन चरित्र प्रत्यक्षदर्शियों के द्वारा बताये गये विवरणों का एक पुलिंदा सा प्रतीत होता है। पं. लेखराम ने स्वामीजी के पृथक् पृथक् स्थानों पर पृथक् पृथक् कालों में जाने की घटनाओं को कालक्रमानुसार वर्णित न कर स्थान क्रम से एक स्थान पर ही रख दिया है। निश्चय ही यह सामग्री संग्रह का एक प्रयास मात्र था, साहित्यिक शैली में लिखी गई जीवनी के तत्त्व तो इसमें नगण्य ही हैं। तथापि उपादान सामग्री की दृष्टि से इस ग्रन्थ का महत्त्व निर्विवाद है।

यह कथन तो अत्युक्ति पूर्ण ही होगा कि पं. लेखराम द्वारा संग्रहीत जीवनी अपने आपमें समग्र एवं परिपूर्ण थी और उसमें कथानायक के जीवन की सारी घटनाओं एवं तथ्यों का सही ढंग से समावेश हो गया था। इसके विपरीत, सत्य यह है कि कतिपय कारणों से पं. लेखराम स्वामीजी के जन्मस्थान, वंश तथा उनके पिता के नाम आदि की सही जानकारी प्राप्त नहीं कर सके थे। इसके कुछ वास्तविक कारण थे। इन सारी बातों का पता लगाने के लिये पं. लेखराम ने गुजरात की यात्रा भी की थी किन्तु उनके समक्ष कुछ अपरिहार्य कठिनाइयाँ ऐसी आईं, जिनके कारण वे वास्तविक तथ्यों का पता नहीं लगा सके। प्रथम बात तो यह थी कि सौराष्ट्र देशवासी उस समय तक न तो स्वामी दयानन्द की महत्ता

को ठीक ठीक अनुभव ही कर सके थे और न उन्हें यही पता था कि उन्हीं के प्रान्त में जन्म लेने वाला एक संन्यासी भारत की धार्मिक एवं सामाजिक क्रान्ति का जनक बन कर अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुका है। इसके विपरीत स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में उनकी धारणाएं, नाना कुत्साओं तथा निंदास्पद प्रवादों के प्रचलित हो जाने के कारण, कुछ अन्यथा ही थीं। उन्हें तो यही बताया गया था कि दयानन्द ने हिन्दू धर्म की सर्वमान्य मूर्तिपूजा, मृतकश्राद्ध, अवतारों के प्रति आस्था आदि शताब्दियों से प्रचलित धारणाओं का तीव्र खण्डन किया है अतः वे परम्परागत धर्म के विरोधी के रूप में ही जाने जाते थे। फलतः उनके जन्म स्थान का कोई भी निवासी अथवा उन्हीं की जाति एवं वंश के व्यक्ति भी उनसे अपनी कुलागत निकटता तथा वंशगत सामीप्य को स्वीकार करने में भी संकोच करते थे। जैसा कि पं. गणपति केशवराम शर्मा ने आर्य प्रतिनिधि सभा मुम्बई के मंत्री को २२ सितम्बर १९११ के अपने पत्र में लिखा था—"टंकारा के ब्राह्मण स्वामीजी के जीवन के सम्बन्ध में तथ्य प्रकाशित करना नहीं चाहते, उसका एक मुख्य कारण यह है कि अधिकांश लोग यजमान वृत्ति से निर्वाह करते हैं और उन्हें भय है कि यदि स्वामीजी के विषय में अधिक बातें बताई गईं तो आर्यसमाजी उपदेशक यहां (टंकारा) आयेंगे और उनके यजमानों की परम्परागत आस्थाओं को खण्डित कर उनकी व्यावसायिक क्षति करेंगे।"[७]

पं. लेखराम की एक अन्य कठिनाई यह भी थी कि फारसी शब्दबहुला उर्दू भाषा बोलने तथा वेशभूषा में पंजाबी मुसलमानी ढंग का कोट, पैजामा तथा पगड़ी पहनने के कारण सौराष्ट्र के पुराण पन्थी, धर्मभीरु लोगों ने सम्भवतः उन्हें मुसलमान ही समझा तथा एक सहज अविश्वास भाव के कारण वे उनके समक्ष स्वामी दयानन्द विषयक तथ्यों को प्रकट करने में संकोच करते रहे।[८]

तथापि यह तो स्वीकार करना ही होगा कि कालान्तर में स्वामीजी की जीवनी लिखने के जो भी प्रयत्न हुए, उनका आधार पं. लेखराम द्वारा संकलित यह उर्दू जीवन चरित ही था। दयानन्द के उल्लेखनीय कार्यों तथा धर्म, समाज एवं राष्ट्र के बहुविध क्षेत्रों में प्राप्त की गई उनकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों का यह एक ऐतिहासिक दस्तावेज है, जिसे तैयार करने में उन्हें घोर अध्यवसाय तथा परिश्रम करना पड़ा था। सहस्रों व्यक्तियों की प्रत्यक्ष साक्षियों, नाना भाषाओं में प्रकाशित तत्कालीन पत्र पत्रिकाओं तथा अन्य महत्त्वपूर्ण आलेखों के आधार पर तैयार यह ग्रन्थ लेखक की एतद् विषयक निष्ठा तथा साधना का परिचायक है।

हम यह देख चुके हैं कि देशवासियों की ही भांति विदेश के रहने वालों ने भी वैदिक विचारधारा के पुनरुद्धारक तथा आर्यों के प्राचीन जीवनदर्शन के पुरस्कर्ता इस महापुरुष के जीवन विषयक तथ्यों से परिचित होने में अपनी रुचि प्रदर्शित की थी। यही कारण था कि यूरोपीय भाषाओं का एक शब्द भी न जानने वाले तथा पाश्चात्य चिन्ताधारा से सर्वथा अपरिचित उस व्यक्ति के अदम्य विचारों तथा व्यापक प्रभाव को परिलक्षित कर सुप्रसिद्ध प्राच्यविद्याविशारद प्रो. मैक्समूलर भी उसकी जीवनी लिखने के लिये लालायित हो उठा था।[९]

इसी प्रकार जब रामकृष्ण मिशन की प्रेरणा से प्रसिद्ध फ्रेंच साहित्यकार रौमां रौलां ने श्री रामकृष्ण परमहंस का जीवनचरित लिखा[१०] तो उन्होंने Builders of Unity

(एकता के निर्माता) शीर्षक अध्याय में स्वामी दयानन्द के जीवन एवं कृतित्व का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया।[११]

इधर पं. लेखराम द्वारा लिखित जीवनचरित का ही आधार लेकर अंग्रेजी, उर्दू तथा हिन्दी में स्वामी दयानन्द के कुछ अन्य जीवन चरित लिखे गये। लाला लाजपतराय ने १९५५ वि. में 'दुनिया के महापुरुषों के जीवन' शीर्षक ग्रन्थमाला के अन्तर्गत 'महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनका काम' नामक जीवन चरित लिखा।[१२] यह मूलतः उर्दू में लिखा गया था। हिन्दी में रामविलास शारदा ने 'आर्य धर्मेन्द्र जीवन' लिखा जिसका प्रकाशन १९६१ वि. में हुआ। इससे पूर्व श्री चिम्मनलाल वैश्य 'सरस्वतीन्द्र जीवन चरित्र' लिख चुके थे, जिसका प्रकाशन १९०२ ई. में हुआ था। हिन्दी में लिखी गई ये दोनों जीवनियां सामग्री की दृष्टि से पं. लेखराम द्वारा संगृहीत जीवन चरित पर ही निर्भर हैं। उर्दू में महता राधाकृष्ण लिखित जीवन चरित भी मौलिकता का दावा नहीं करता। अंग्रेजी में बावा अर्जुनसिंह तथा बावा छज्जूसिंह[१३] ने सर्वप्रथम स्वामी दयानन्द के जीवनचरित लिखे। बावा अर्जुनसिंह लिखित Dayanand Saraswati-Founder of the Arya Samaj अपेक्षाकृत लघु है जब कि बावा छज्जूसिंह द्वारा लिखित Life and Teachings of Swami Dayanand Saraswati शीर्षक जीवनचरित बृहदाकार कृति है। इन दोनों का प्रथम प्रकाशन क्रमशः १९०१ ई. तथा १९०३ ई. में हुआ। बावा छज्जूसिंह अपने ग्रन्थ की भूमिका में यह स्पष्ट कर देते हैं कि उनकी रचना मुख्यतः लाला लाजपतराय तथा महता राधाकृष्ण द्वारा निबद्ध उर्दू जीवनचरितों पर आधारित है तथा यदा कदा उन्होंने पं. लेखराम द्वारा संगृहीत जीवन चरित से भी सहायता ली है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि इस शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों तक हिन्दी, उर्दू तथा अंग्रेजी में स्वामी दयानन्द के जो छोटे बड़े जीवन चरित लिखे गये, वे सभी पं. लेखराम द्वारा संगृहीत सामग्री को ही उपादान के रूप में स्वीकार करते हैं।

सुदूर बंग प्रदेश में स्वामीजी के जीवन लेखन के कुछ अभूतपूर्व प्रयास हुए। पं. दीनबन्धु वेदशास्त्री के अनुसार १८८६ ई. में नगेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय ने बंगला भाषा में स्वामीजी की एक लघु जीवनी लिखी।[१४] कहते हैं कि चट्टोपाध्याय महाशय ब्रह्मसमाज के आचार्य तथा स्वामी दयानन्द के भक्त थे। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण प्रयास देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय[१५] का था, जिन्होंने आर्यसमाज कलकत्ता के प्रधान राजा तेजनारायणसिंह[१६] प्रदत्त आर्थिक सहायता से स्वामी दयानन्द के जीवन चरित विषयक तथ्यों का संग्रह करने के लिये विभिन्न प्रान्तों में भ्रमण किया तथा महत्त्वपूर्ण सामग्री का संकलन किया। पं. दीनबन्धु के अनुसार प्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री रमेशचन्द्र दत्त ने मुखोपाध्यायजी को जीवनी लेखन के लिये प्रेरित किया था।[१७] इससे पूर्व वे बंगला भाषा में ईसाई सन्त पॉल का जीवन चरित्र लिख कर साहित्य जगत् में पर्याप्त ख्याति अर्जित कर चुके थे। देवेन्द्रनाथ द्वारा लिखा गया दयानन्द चरित सर्वप्रथम १८९६ ई. (१३०२ बंगाब्द) में प्रकाशित हुआ। यद्यपि यह ग्रन्थ अनेक दृष्टियों से अपूर्ण ही था,[१८] अनेक घटनाओं के पौर्वापर्य को लेकर स्वयं लेखक को सन्देह था तथा लेखक स्वयं भी अपने इस कार्य से पूर्णतया संतुष्ट नहीं था, तथापि ग्रन्थकार ने दयानन्द चरित की जो विस्तृत 'अवतरणिका'[१९] लिखी है वह साहित्य की एक मूल्यवान् निधि समझी

जायगी। दयानन्द के आविर्भाव के पूर्व की एतद्देशीय परिस्थितियों का विश्लेषणात्मक मूल्यांकन इस विशद भूमिका की प्रमुख विशेषता है। इसमें मुखोपाध्याय महाशय ने भारतवर्ष के पुराकालीन धर्मान्दोलनों की सूक्ष्म मीमांसा करने के पश्चात् स्वामी दयानन्द के पूर्ववर्ती राजा राममोहन राय तथा उनके द्वारा प्रवर्तित ब्रह्मसमाज के धर्म विषयक दृष्टिकोण को भी विश्लेषित किया है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशित होने के पश्चात् देवेन्द्र बाबू ने नये सिरे से स्वामीजी के जीवन सम्बन्धी उपादानों का संग्रह करने का प्रयत्न किया। वे उन सभी स्थानों पर गये तथा स्वामी दयानन्द के समकालीन एवं उनके सम्पर्क में आये पुरुषों से मिले। इसके अतिरिक्त उन्होंने स्वामीजी के सम्बन्ध में प्रकाशित सम्पूर्ण सामग्री का भी अवलोकन किया। इसके अन्तर्गत उन्हें उर्दू, हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगला तथा अंग्रेजी की विभिन्न पत्र पत्रिकाओं, पुस्तकों तथा अन्य प्रकार के विवरणों को देखना पड़ा जिनमें प्रसंगोपात्त दयानन्द का उल्लेख या चर्चा हुई थी। मुखोपाध्यायजी के परिश्रम और अध्यवसाय का अनुमान तो इसी बात से लगाया जा सकता है कि उन्होंने अपने जीवन के बहुमूल्य १५ वर्ष दयानन्द की जीवनी के उपादानों को संग्रह करने में लगाये।[२०] इस कार्य में जो धनराशि व्यय हुई वह तो अलग बात है। उन्हें इसी बात का खेद रहा कि उनके एतद्विषयक प्रयत्नों में आर्यसमाजों का कोई विशेष योगदान नहीं रहा।[२१] देवेन्द्र बाबू धनाढ्य व्यक्ति नहीं थे। स्वलिखित पुस्तकों की बिक्री से जो आय होती, वही उनकी जीविका का मुख्य स्रोत था। तथापि दयानन्द चरित विषयक तथ्यों का संग्रह करने में उन्होंने जो लगन, पुरुषार्थ तथा परिश्रम किया, वह सर्वथा स्तुत्य है। यही कारण है कि वे चरित नायक विषयक उस समय तक अज्ञात, अल्प ज्ञात अथवा अन्यथा ज्ञात तथ्यों की सही जानकारी प्राप्त करने में सफल हुए।

देवेन्द्रनाथ ने स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में जिन विशिष्ट तथ्यों का उद्घाटन किया, उनमें पिता के नाम की सही जानकारी तथा जन्म स्थान का निर्णय महत्त्वपूर्ण है। पं. लेखराम ने इस सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए मौरवी नगर को उनका जन्म स्थान तथा पिता का नाम 'अम्बाशंकर' ठहराया था। परन्तु एकाधिक बार काठियावाड़ का भ्रमण करने[२२] तथा सम्बन्धित अनेक व्यक्तियों से मिलने के पश्चात् देवेन्द्रनाथ को यह निश्चय हो गया कि मौरवी राज्य के अन्तर्गत 'टंकारा' ग्राम ही दयानन्द की जन्मभूमि है तथा उनके पिता थे करसनजी लालजी तिवारी (त्रिवाड़ी)। इस प्रकार जीवन चरित लेखन के उपयोग में आने वाली सम्पूर्ण सामग्री को एकत्रित कर वे बनारस में लेखन कार्य आरम्भ करते हैं। अभी भूमिका तथा चार अध्याय ही लिख पाये थे कि १० जनवरी १९१७ को उनका बनारस में ही निधन हो गया।

यह एक दैव दुर्विपाक ही था कि दयानन्द के जीवन को समग्र रूप से लिखने में न तो पं. लेखराम को ही सफलता मिली और न देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ही इसमें कृतकार्य हो सके। देवेन्द्रनाथ के दिवंगत होने पर आर्यसमाज के एक अन्य संन्यासी स्वामी सत्यानन्द ने जीवन लेखन का कार्य अपने हाथों में लिया। उन्होंने भी निरन्तर पांच वर्षों तक अनेक स्थानों पर भ्रमण कर स्वामीजी से सम्बन्धित अनेक बातों का पता लगाया।[२३] काशी में देवेन्द्रनाथ द्वारा संग्रह की गई सामग्री को भी देखा, तत्पश्चात् वे जीवन चरित लेखन में प्रवृत्त हुए और उनके

द्वारा लिखित स्वामीजी का यह जीवन वृत्तान्त 'श्रीमद्यानन्दप्रकाश' के नाम से १९७५ वि. में प्रकाशित हुआ। दयानन्दप्रकाश को लिखने में लेखक का कुछ भिन्न ही अभिप्राय था। वे इसे विशुद्ध ऐतिहासिक कृति न बना कर चरित नायक के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति के भाव उत्पन्न करने वाली काव्यात्मक कृति का रूप देना चाहते थे।[२४] फलतः इस ग्रन्थ में जैसी भाषा और शैली प्रयुक्त हुई है उसके कारण यह जीवन चरित भी एक उच्च कोटि का गद्य काव्य बन गया है।[२५] लेखक की अपने कथा नायक के प्रति जैसी अविचल श्रद्धा और भक्ति थी, उसे देखते यह स्वाभाविक ही था। भाषा सौन्दर्य, शैली लालित्य तथा अभिव्यञ्जना कौशल की दृष्टि से श्रीमद्यानन्दप्रकाश दयानन्द के चरित वाङ्मय में ही नहीं, अपितु हिन्दी साहित्य में भी अपना वैशिष्ट्य रखता है, इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं है।

मेरठ निवासी पं घासीराम का देवेन्द्रबाबू से परिचय १९१० ई. अथवा उससे पूर्व ही हो चुका था। भास्कर प्रेस मेरठ के स्वामी रघुवीरशरण दुबलिश के अनुरोध पर वे मुखोपाध्यायजी के १८९६ ई. में प्रकाशित बंगला दयानन्दचरित का अनुवाद कर उसे प्रकाशित भी करा चुके थे।[२६] परन्तु जब देवेन्द्रनाथ अपनी साधना को अधूरा छोड़ कर परलोकवासी हुए, तो घासीरामजी ने काशी के तत्कालीन डिप्टी कलेक्टर श्री ज्वालाप्रसाद एम. ए. के सहयोग से उस सामग्री को स्वायत्त कर लिया जो मुखोपाध्याय महाशय द्वारा संग्रह की गई थी। पं. घासीराम के शब्दों में "यह सामग्री विचित्र दशा में थी। सैकड़ों छोटे-बड़े कागज के टुकड़ों, नीट बुकों, पोस्टकार्डों, पत्रों, समाचारपत्रों की कर्त्तनों के रूप में थी, जो कहीं पेंसिल से और कहीं स्याही से, बंगाली अथवा अंग्रेजी अक्षरों में लिखी हुई थी।"[२७] इस सामग्री को व्यवस्थित कर घासीराम जी ने पढ़ा तथा उसका पूरा पूरा उपयोग करते हुए देवेन्द्रनाथ द्वारा लिखे गये अध्यायों के आगे के कथा सूत्र को व्यवस्थित रूप में ग्रन्थाकार निबद्ध किया। उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना करते समय पं. लेखराम तथा स्वामी सत्यानन्द लिखित जीवन चरितों का भी उपयोग किया। इस प्रकार मुखोपाध्यायजी द्वारा संकलित सामग्री के आधार पर (जिसमें भूमिका तथा चार अध्याय तो स्वयं देवेन्द्रनाथ की लेखनी से ही लिखे गये हैं) दयानन्द सरस्वती का जो जीवनचरित पं. घासीराम ने लिखा वह १९९० वि. में आर्य साहित्य मंडल अजमेर द्वारा प्रथम बार दो भागों में प्रकाशित हुआ। स्वयं लेखक के ही अनुसार "यह पुस्तक एक प्रकार से उक्त दोनों ग्रन्थों (पं. लेखराम तथा स्वामी सत्यानन्द रचित जीवन चरित) और देवेन्द्र बाबू की संग्रहीत सामग्री का सार संग्रह मात्र हैं। इसमें मेरा कुछ नहीं है।"[२८] जो हो, आज पचास वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी पं. घासीराम द्वारा लिखित अथवा सम्पादित इस जीवन चरित से भिन्न अन्य कोई ऐसी कृति नहीं है, जिसे स्वामी दयानन्द के विशद एवं प्रामाणिक जीवन चरित की संज्ञा दी जा सके।

कहने के लिये तो विगत अर्द्ध शताब्दी में भी स्वामी दयानन्द के अनेक जीवन चरित विभिन्न भाषाओं में लिखे गये हैं, परन्तु उनमें कुछ भी मौलिकता या नूतन गवेषणा दिखाई नहीं पड़ती। अंग्रेजी भाषा में हरविलास सारड़ा ने एक विशद जीवन चरित लिखा, जिसमें तथ्यों का वस्तुनिष्ठ चित्रण तो था ही, विश्लेषण तथा विवेचना भी प्रचुर मात्रा में

थी ।[२९] इस दृष्टि से यह जीवनी उन पाठकों के लिये उपयोगी सिद्ध हुई जो अंग्रेजी माध्यम से स्वामी दयानन्द के जीवन तथा कृतित्व से परिचित होना चाहते थे ।

जीवनी लेखन का कार्य पर्याप्त कठिन होता है । जीवनी लेखक से मात्र यही अपेक्षा नहीं की जाती कि वह अपने चरित नायक से सम्बन्धित घटनाओं का स्थूल चित्रण करके ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान ले । जहाँ वह कथानायक के सम्पूर्ण जीवन में घटित घटनाओं और क्रिया व्यापारों का विस्तृत और ब्योरेवार लेखा जोखा उपस्थिति करता है, वहां उसे यह भी बताना होता है कि इन घटनाओं और कर्मसंकुल जीवनचर्या के पीछे कौन सी परिस्थितियाँ सक्रिय थीं । नायक का चरित्र विश्लेषण करते हुए उसके जीवन के महत्त्वपूर्ण एवं उदात्त तत्त्वों को उभार कर प्रस्तुत करना भी आवश्यक होता है । इस प्रकार जीवन चरित के माध्यम से नायक की जो प्रभविष्णु तथा महनीय छवि उभर कर आती है, उसे ही इस कृति की फलश्रुति समझना चाहिए । जीवन चरित की उपर्युक्त कसौटी पर दयानन्द सरस्वती के अद्यावधि उपलब्ध चरित ग्रन्थों में एक आध को छोड़ कर शायद ही कोई खरा उतरे । पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति लिखित जीवनचरित में नायक के व्यक्तित्व-विश्लेषण का सामर्थक प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है[३०] जब कि अंग्रेजी भाषा में लिखित डा. जे. टी. एफ. जॉर्डन्स की कृति Dayanand Saraswati : Life and Ideals में घटनाओं के प्रस्तुतीकरण पर अधिक जोर न देकर नायक के व्यक्तित्व और विचारों में पाई जाने वाली सतत गतिशीलता को उभारा गया है । साथ ही नायक के व्यक्तित्व विश्लेषण तथा उसके कर्तृत्व पक्ष का भी मूल्यांकन किया गया है ।

यह बात नहीं कि देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के पश्चात् दयानन्द सरस्वती के जीवन विषयक तथ्यों एवं उपादानों के अन्वेषण का कार्य सर्वथा बंद ही रहा । विभिन्न व्यक्तियों ने एतद् विषयक प्रयत्न किये तथा दयानन्द के जीवन विषयक अनेक आयामों को उद्घाटित करने की चेष्टा की गई । फलतः प्रभूत मात्रा में ऐसा साहित्य लिखा गया, जो भावी जीवनीकार के लिये अतीव उपयोगी सिद्ध हो सकता था । यह दूसरी बात है कि इस समस्त सामग्री का समग्रतः उपयोग किसी लेखक द्वारा अभी तक नहीं किया गया । इस पंक्तियों के लेखक को इस बात का संतोष है कि विगत पचास वर्षों में किये गये अन्यान्य अन्वेषणों तथा उपलब्ध सामग्री को भी उसने सतर्क दृष्टि से देखा है तथा प्रस्तुत जीवनचरित में उसे यथा-प्रसंग प्रयुक्त किया है ।

यहाँ संक्षेप में उस गवेषणा कार्य का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है जिसे उपर्युक्त अनुच्छेद में 'दयानन्द के जीवन चरित के उपादान' की संज्ञा दी गई है । सर्व प्रथम डी. ए. वी. कालेज लाहौर के शोध विभाग के अधिष्ठाता स्व. पं. भगवद्दत्त ने स्वामीजी के पत्रों और विज्ञापनों का संग्रह कर उसे सम्पादित एवं प्रकाशित किया ।[३२] इसमें उन्हें एक ऐसे व्यक्ति की सहायता मिली जो यद्यपि प्रचलित अर्थ में न तो इतिहासकार था और न लेखक या साहित्यकार । परन्तु स्वामी दयानन्द विषय विभिन्न सामग्री के संग्रह करने में उसकी सर्वाधिक रुचि थी । मुजफ्फरनगर जिले के खतौली नगर के निवासी श्री मामराजसिंह[३३] एक ऐसे ही दीवाने पुरुष थे, जिन्होंने स्वामी दयानन्द के पत्रों, चित्रों विज्ञापनों तथा उनसे

सम्बद्ध सामग्री का संग्रह करने में अपने स्वोपार्जित धन एवं जीवन का पर्याप्त अंश लगाया था। पं. भगवद्दत्त द्वारा वे पत्र संगृहीत किये गये, जिन्हें स्वामीजी ने लिखा था। इस प्रकार उनके द्वारा सम्पादित 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन' (महात्मा) मुन्शीराम जिज्ञासु द्वारा प्रकाशित पत्र व्यवहार का पूरक अंश ही कहा जायगा। जीवनी लेखन में पत्र कितना उपयोगी होता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने इस पत्र व्यवहार संग्रह के लिये एक उपयोगी परिशिष्ट[३४] लिख कर तथा पत्र व्यवहार के अनेक उपयोगी अंशों—यथा तिथि संकेतों आदि को पं. घासीराम लिखित जीवन चरित की पाद टिप्पणियों में यथा स्थान निर्दिष्ट कर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के स्वर्गीय प्रोफेसर पं. महेशप्रसाद मौलवी का भी एतद् विषयक योगदान उल्लेखनीय है। उन्होंने महर्षि दयानन्द कहाँ और कब ?[३५] दयानन्द के काल में रेलमार्ग तथा महर्षि जीवन दर्शक[३६] आदि कतिपय शोधपूर्ण पुस्तकें लिखी जिनकी महत्ता निर्विवाद है। मौलवी जी सम्भवतः इस आशा में थे कि उनके द्वारा अन्वेषित और प्रस्तुत इस सामग्री का उपयोग किसी लेखक द्वारा किया जायगा और स्वामी दयानन्द की एक विशद तथा सर्वाङ्गीण जीवनी शीघ्र ही अस्तित्व में आ जायगी।[३७] खेद है कि उनके जीवनकाल में ऐसा कोई कार्य नहीं हुआ। राजकोट निवासी श्रीकृष्ण शर्मा ने दयानन्द के जन्मस्थान, बाल्यकाल तथा जन्मतिथि विषयक कतिपय महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर गवेषणात्मक सामग्री प्रस्तुत की।[३८] पं भीमसेन शास्त्री (कोटा निवासी) ने एक ओर दयानन्द की जन्म तिथि का निर्धारण करने में घटनाओं के पौर्वापर्य तथा उल्लेखों का तार्किक समीक्षण किया,[३९] तो साथ ही स्वामीजी के विद्यागुरु दण्डी विरजानन्द के जीवन सम्बन्धी अनेक नवीन तथ्यों का पता लगा कर दयानन्द के अध्ययन काल की परिस्थितियों को उजागर किया।[४०]

दयानन्द के जीवन विषयक उपादानों को एक अन्य दृष्टि से भी प्रस्तुत किया गया। परिव्राजक होने के कारण स्वामी दयानन्द ने अपने जीवन का अधिकांश भाग देशभ्रमण तथा नाना स्थानों के पर्यटन में लगाया था। प्रारम्भ में वे एक ही स्थान पर पर्याप्त लम्बे समय तक भी रहते रहे, परन्तु जब वे सर्वात्मना सार्वजनिक जीवन व्यतीत करने लगे तथा आर्यसमाज के संस्थापक, प्रमुख धर्म संशोधक तथा विख्यात समाज संस्कारक के रूप में उनकी पहचान होने लगी, तो उनके कार्यक्रम पूर्वप्राप्त सूचनाओं के आधार पर निर्धारित होने लगे। साथ ही एक ही स्थान पर अधिक काल तक रहना भी उनके लिये सम्भव नहीं रहा। अनेक ग्रन्थ ऐसे भी लिखे गये, जिनमें स्वामी दयानन्द के स्थानविशेष पर निवास तथा वहाँ किये गये कार्यों का विस्तृत विवरण उपलब्ध कराया गया है। जीवनी लेखक के लिये ऐसे ग्रन्थों की उपयोगिता निर्विवाद है।

सर्व प्रथम पं. गणेशप्रसाद शर्मा ने फर्रूखाबाद का इतिहास इसी दृष्टि से लिखा।[४१] यों तो लेखक ने इस ग्रन्थ में सम्पूर्ण फर्रूखाबाद जिले का इतिहास कालक्रमानुसार प्रस्तुत किया है, साथ ही इस प्रदेश के भौगोलिक पर्यावरण का भी विस्तृत उल्लेख किया है, परन्तु ग्रन्थ लेखन में लेखक की प्रमुख दृष्टि इस नगर में स्वामी दयानन्द के अनेक बार आने तथा यहाँ रह कर किये गये उपदेश, शास्त्रार्थ आदि का विस्तृत विवरण उपस्थित करने पर ही

रही है। सभी जीवनीकारों ने इस ग्रन्थ की उपयोगिता देखते हुए इससे लाभ उठाया है। ऐसे ही ग्रन्थों की शृंखला में जो अन्य ग्रन्थ समय समय पर लिखे गये उनमें स्वामी दयानन्द के उत्तराखण्ड भ्रमण[४२], मथुरा[४३], कर्णवास[४४], मेरठ[४५], अमृतसर[४६], दानापुर[४७], कलकत्ता[४८], अजमेर[४९] आदि नगरों में उनकी अवस्थिति तथा कार्यों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है।

जहाँ स्वामी दयानन्द के जीवनचरित लेखन अथवा उनके चरित विषयक उपादान तत्त्वों को जुटाने में अनेक लोगों ने प्रशंसनीय प्रयत्न किया, वहाँ कालान्तर में कुछ ऐसे प्रसंग भी उपस्थित हुए जब कि बिना पूरी गवेषणा किये, विभिन्न किंवदन्तियों, अलीक कथनों तथा अतिशयोक्तिपूर्ण बयानों एवं सुनी सुनाई बातों के आधार पर अनेक मिथ्या घटनाओं को उनके जीवन के साथ जोड़ देने का प्रयास किया गया। यह कहना तो कठिन है कि ऐसे प्रयासों का प्रारम्भ कब और कहाँ से हुआ, किन्तु हमें यह लिखने में कोई संकोच नहीं है कि बिना निश्चित प्रमाण जुटाये तथा विश्वसनीयता स्थापित किये, किसी घटना अथवा प्रसंग को किसी महापुरुष के जीवन से जोड़ देना ऐतिहासिक गवेषणा की दृष्टि से अत्यन्त भयावह तथा हानिप्रद है। प्रस्तुत ग्रन्थ में यत्र तत्र ऐसे प्रसंगों की चर्चा और आलोचना की गई है, जो नितान्त निर्मूल एवं काल्पनिक होने पर भी दयानन्द की जीवनी में प्रविष्ट कराये गये हैं।[५०] इस सम्बन्ध में यह लिख देना भी आवश्यक है कि स्वामी दयानन्द स्वयं अपने जीवन सम्बन्धी घटनाओं एवं प्रसंगों के आलेखन में किसी भी प्रकार की अतिशयोक्ति करने अथवा मिथ्या उल्लेख करने के नितान्त विरोधी थे।

इस सन्दर्भ में हम स्वामी दयानन्द के प्रथम जीवनचरित 'दयानन्द दिग्विजयार्क' का उल्लेख करना चाहेंगे। इस ग्रन्थ के लेखक पं. गोपाल राव हरि ने स्वामी दयानन्द के प्रथम बार चित्तौड़ निवास[५१] के प्रसंग में यह लिख दिया था कि उदयपुर के महाराणा प्रतिदिन दो बार स्वामी जी के दर्शनार्थ उपस्थित होते थे, जब कि वास्तविकता इतनी ही थी कि उस अवसर पर स्वामीजी से महाराणा की भेंट कुल तीन बार ही हुई थी। ग्रन्थ लेखक के इस अन्यथा कथन की ओर एक साधु अमृतराम वेदान्ती का ध्यान गया और उसने स्वामी दयानन्द को पत्र लिख कर शिकायत के रूप में इस बात की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया।[५२] स्वामीजी ने तुरन्त गोपाल राव हरि को पत्र लिखा और उनके द्वारा की गई इस भूल की ओर संकेत कर स्पष्ट किया कि उस काल, उस स्थान में मेरा उदयपुराधीश से केवल तीन ही बार समागम हुआ। आपने प्रतिदिन दो बार होता रहा, लिखा है। आप जानते हैं कि मुझे ऐसे कामों के परिशोधन का अवकाश नहीं। यद्यपि आप सत्य प्रिय और शुद्ध भाव भावित ही हैं और इसी हितचित्त से उपकारक काम कर रहे हैं, **किन्तु जब आपको मेरा इतिहास ठीक ठीक विदित नहीं, तो उसके लिखने में कभी साहस मत करो। क्योंकि थोड़ा सा भी असत्य हो जाने से सम्पूर्ण निर्दोष कृत्य बिगड़ जाता है।**[५३]

उपर्युक्त उदाहरण इस बात का प्रबल प्रमाण है कि स्वामी दयानन्द सर्वात्मना सत्य के प्रति समर्पित थे तथा यह चाहते थे कि उनकी जीवन विषयक घटनाओं को बिना किसी प्रकार की अतिशयोक्ति किये प्रकाशित किया जाय। इस परिप्रेक्ष्य में जब हम उन लोगों के प्रयत्नों की समीक्षा करते हैं, तो हमें हैरानी होती है कि किस प्रकार अतिशयोक्ति प्रिय लोगों

ने नाना प्रकार के स्वकल्पित, पूर्वापर विरुद्ध तथा महाराज के विचारों एवं चिन्तन की सुस्पष्ट सरणि के नितान्त प्रतिकूल प्रसंगों को उनके साथ जोड़ने का दुस्साहस किया है। हमने इस ग्रन्थ में प्रसंगोपात्त ऐसे प्रयत्नों की समालोचना भी की है तथा विभिन्न प्रमाण प्रस्तुत कर मन गढ़न्त कथाओं का पर्दाफाश किया है। पं. दीनबंधु वेदशास्त्री द्वारा प्रस्तुत स्वामी दयानन्द की अज्ञातजीवनी तथा सर्वखाप पंचायत के लेखों के नाम से प्रसिद्ध सामग्री इसी कोटि की है।[५४]

यहां स्वामी दयानन्द के एक अन्य प्रकार के जीवन वृत्तान्तों का उल्लेख करना भी अप्रासंगिक नहीं होगा जो उन व्यक्तियों द्वारा लिखे गये अथवा प्रचारित किये गये थे, जिनका इस महापुरुष अथवा उसके अनुयायियों के प्रति स्पष्ट विरोध तथा द्वेष भाव था। फर्रुखनगर जिला गुड़गांव निवासी जैनी जीयालाल ने १८९४ ई. में दयानन्द चरित्रदर्पण[५५] शीर्षक एक पुस्तक प्रकाशित कर स्वामीजी के परिवार, जाति, माता पिता आदि के लम्बन्ध में अनेक लांछनात्मक प्रवाद प्रचलित करने का प्रयास किया था। स्पष्ट है कि यह पुस्तक विद्वेष भाव से लिखी गई थी। इसी प्रकार का एक अन्य प्रयास देवसमाज के संस्थापक सत्यानन्द अग्निहोत्री की ओर से भी किया गया। जैनी जीयालाल द्वारा लिखित पुस्तक का ही आधार लेकर हरप्रसाद अग्निहोत्री ने Swami Dayanand in the Light of Truth लिखी।[५६] हम स्वामी दयानन्द के जीवनचरित में पढ़ेंगे कि मुरादाबाद निवासी मुन्शी इन्द्रमणि किस प्रकार स्वामीजी के विरोधी बन गये थे।[५७] इन्हीं के शिष्य मुन्शी जगन्नाथदास ने कालान्तर में 'दयानन्द चरित और समालोचना'[५८] लिख कर स्वामीजी के आत्मवृत्तान्त पर ऊटपटांग, निरर्थक तथा मिथ्या टिप्पणियाँ लिखीं। जब आर्यसमाज ने धर्मच्युत हिन्दुओं तथा किसी कारणवश ईसाइयत अथवा इस्लाम को कबूल कर लेने वाले लोगों को शुद्ध कर पुनः हिन्दू समाज के महापरिवार में सम्मिलित करने का सशक्त अभियान चलाया, तो साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के मुसलमानों का रुष्ट हो जाना भी स्वाभाविक ही था। शुद्धि आन्दोलन के प्रतिकार रूप में मुसलमानों ने तबलीग की तहरीक चलाई। एफ. के. खान दुर्रानी की पुस्तक 'स्वामी दयानन्दः ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ हिज लाइफ एण्ड टीचिंग्स'[५९] इसी दौरान लिखी गई। कहना नहीं होगा कि मात्र विद्वेष भाव से लिखे गये इन ग्रन्थों को दयानन्द सरस्वती के व्यक्तित्व एवं कृतित्त्व के प्रशंसक जन समुदाय ने कभी महत्त्व नहीं दिया। तथापि देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय का तो कथन निस्संकोच रूप से मान्य किया जाना चाहिए कि उस आर्यसमाज ने जो स्वामी दयानन्द को ऋषि पदवी प्रदान करने में अत्यन्त आग्रही है, जो उनके वचनों को निर्भ्रान्त तक मानने को भी शायद उद्यत हो सकता है, यह आवश्यक नहीं समझा कि उनका एक सर्वाङ्गपूर्ण जीवनचरित प्रकाशित करने का यत्न करे···· ·····कितनी घोर कर्त्तव्यच्युति है, कितनी अतुलनीय कर्त्तव्यग्लानि है।"[६०] अतः मुखोपाध्याय महाशय के इस निष्कर्ष से हमें सहमत होना ही होगा कि "यदि आर्यसमाज ने यत्नपूर्वक स्वामीजी के जन्म स्थान, परिवारादि का निर्धारण कर दिया होता, तो जैनी जियालाल और अग्निहोत्री सत्यानन्द जैसे विरोधियों का ऐसा दुस्साहस नहीं होता।"[६१]

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने एक शताब्दी की दीर्घावधि में किये गये स्वामी दयानन्द के जीवनचरित लेखन के विभिन्न प्रयासों का यथातथ्य विवेचन करने का प्रयास किया है।

पं. लेखराम तथा पं. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय जैसे मनस्वी, परिश्रमशील तथा अन्वेषणप्रिय लेखकों ने दयानन्द के जीवन लेखन का जो श्लाघनीय प्रयास किया था, प्रस्तुत ग्रन्थ भी उसी सरणि पर लिखा गया है। तथापि घटनाओं का प्रस्तुतीकरण और उनकी विवेचना, नवीन तथ्यों का सन्निवेश, कथानायक के व्यक्तित्व का विराट् फलक पर प्रस्तुतीकरण तथा सर्वोपरि भाषा, शैली, एवं अभिव्यञ्जना में नवीनता तथा प्राञ्जलता इस ग्रन्थ को अन्य जीवनचरितों से पृथक् कर देता है।

□

पादटिप्पणियां—

१. 'थियोसोफिस्ट' के ये अंक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पुस्तक संग्रह में सुरक्षित हैं। थियोसोफिस्ट पत्र की सम्पादिका श्रीमती एच. पी. ब्लैवेट्स्की थी। स्वामी दयानन्द का यह आत्मवृत्तान्त इस पत्र के अक्टूबर १८७९ ई. दिसम्बर १८७९ तथा नवम्बर १८८० (तीन अंक) में प्रकाशित हुआ। प्रथम किस्त जो अक्टूबर १८७९ में छपी उसमें जन्म से लेकर ऋषिकेश यात्रा (१९१२ वि.) पर्यन्त (पृष्ठ ९-१२), दूसरी किस्त (दिसम्बर १८७९) में टिहरी से लेकर जोशी मठ यात्रा (वैशाख १९१२ वि.—कार्तिक १९१२ वि.) पर्यन्त (पृष्ठ ३६-६८) तथा अन्तिम किस्त (नवम्बर १८८०)में बद्रीनाथ से प्रारम्भ कर नर्मदा स्रोत (कार्तिक १९१२ वि.—ज्येष्ठ १९१४ वि.) पर्यन्त (पृ. २४-२६) विवरण लिखा गया था। प्रकाशनार्थ भेजे जाने से पूर्व उसकी दो प्रतिलिपियां क्रमशः श्री मथुराप्रसाद माहेश्वरी मंत्री, आर्यसमाज अजमेर तथा पं. छगनलाल श्रीमाली भूतपूर्व कामदार मसूदा (जिला अजमेर) ने कर ली थी। जीवन वृत्तान्त का मूल आलेख (प्रथम दो किस्त), कालान्तर में परोपकारिणी सभा के पुराने पत्र संग्रहों में इन पंक्तियों के लेखक को मिला जिसे सम्पादित कर प्रथम बार १९७९ ई. में तथा पुनः १९८३ ई. में 'महर्षि दयानन्द सरस्वती की आत्मकथा' शीर्षक से प्रकाशित किया गया। विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य—आत्मकथा (दयानन्द सरस्वती) का सम्पादकीय— वैदिक पुस्तकालय, अजमेर से प्रकाशित १९८३ ई. का द्वितीय संस्करण।

२. पं. गोपाल राव हरि (अपर नाम गोपाल शास्त्री शर्मा) के जीवन परिचय के लिए द्रष्टव्य—दयानन्द दिग्विजयार्क का सम्पादित संस्करण (डा. भवानीलाल भारतीय द्वारा सम्पादित तथा आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली द्वारा २०३१ वि. में प्रकाशित)

३. 'दयानन्द दिग्विजयार्क' एक दुर्लभ ग्रन्थ है। इसकी एक प्रति परोपकारिणी सभा के अजमेर स्थित पुस्तकालय में तथा एक प्रति इन पंक्तियों के लेखक के व्यक्तिगत संग्रह में विद्यमान है।

४. श्रीमती परोपकारिणी सभा के अधिवेशनों का रिपोर्ट संग्रह (१८८३-१९२६) पृ. २६ जीवनी लेखन का प्रस्ताव आर्यसमाज मेरठ ने एक पत्र भेज कर किया था। इसका अनुमोदन श्री जीवनदास (लाहौर आर्यसमाज के प्रतिनिधि) ने किया।

ऐसे विवरण भी मिले हैं जिनसे ज्ञात होता है कि सुप्रसिद्ध वेदज्ञ प्रो. मैक्समूलर ने भी स्वामी दयानन्द के निधन के पश्चात् उनका जीवनचरित लिखने का विचार किया था। यह कहना कठिन है कि यदि प्रो. मैक्समूलर स्वामीजी का जीवन चरित लिखते तो उसमें वह चरितनायक का प्रस्तुतीकरण किस प्रकार करते ? अप्रैल १८८५ ई. के भारतसुदशा प्रवर्तक (फर्रूखाबाद) के अंक में आर्यसमाज मेरठ के तत्कालीन मंत्री ज्योतिस्वरूप वैदिक ने एक सूचना प्रकाशित कराई, जिसके अनुसार आर्यसमाजों को यह हिदायत दी गई थी कि वे उक्त प्रोफेसर को पत्र लिख कर उनसे आग्रह करें कि श्री महाराज का जीवन चरित वे यथार्थ ही लिखें, अन्यथा नहीं। यह स्पष्ट है कि प्रो. मैक्समूलर ने स्वामीजी का कोई विस्तृत जीवन नहीं लिखा। उनकी पुस्तक Biographical Essays (पृ. १६७-१८०) में स्वामी दयानन्द पर एक लेख अवश्य मिलता है जो १८८४ के प्रारम्भ में पालमाल गजट (लंदन) में प्रकाशित उनके एक निबंध का ही पुनरुद्धृत रूप है।

५. भारतसुदशा प्रवर्तक ने अपने जनवरी १८८९ के अंक में निम्न सूचना प्रकाशित की—"पं. लेखराम ने स्वामी दयानन्द के जीवन लेखन का कार्य अपने हाथ में लिया है। उन्होंने जीवनी विषयक तथ्यों का संग्रह करने के लिये प्रस्थान किया।"

६. "पं. लेखराम रचित यह महत्त्वपूर्ण जीवन चरित उर्दू में भी केवल एक बार ही छपा। २०२८ वि. में आर्यसमाज नया बांस दिल्ली ने इसे हिन्दी में अनूदित करा कर प्रकाशित किया। हिन्दी अनुवाद का दूसरा संस्करण २०३४ वि. में आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली द्वारा प्रकाशित हुआ।

७. मूल गुजराती पत्र के वाक्य हैं—"स्वामीजी विषे तपास करता चोकस खुलासो नहि मलवानुं कारण मारा सांभवलवामां आव्यु छे ते अे छे के टंकारा गाम मां ब्राह्मणो नां जे घर छे तेमां ना घणा खरा ने यजमान वृत्ति नो धंधो छे। जेथी तेओ अेम धारे छे थे के जो आपणे आर्यसमाजी ने कोई पण जात नो खुलासो करीशुं के स्वामी दयानन्द अहीं ना हता विगेरे, तो ते लोको अहीं भाषणो करी यजमान लोकों नी श्रद्धा उठाड़ी देशे। पछी आपणे शुं करीशुं। माटे आपणे तो कोई स्वामी दयानन्द सम्बन्धी बात करे, तो फकत एटलुं ज कहेवुं के अमने कोई खबर नथी।" स्वामी दयानन्द जन्म स्थानादिनो निर्णय—पृ. ९५, मूल बंगला पुस्तक (देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय लिखित) का गुजराती अनुवाद राजकोट के त्रिभोवनदास दामोदरदास गढिया ने किया था, जो न्हानालाल दलपतराम कवि लिखित भूमिका सहित १९२० ई. में प्रकाशित हुआ।

८. सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के आदेशानुसार प्रो. रामदेव भी स्वामी दयानन्द जन्म-स्थानादि विषयक अन्वेषण के लिये सौराष्ट्र (गुजरात) गये थे। उनकी रिपोर्ट का सार 'सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के २७ वर्षीय इतिहास' (पृ. ९६-९९) में छपा है। उनके अनुसार पं. लेखराम के मुख से मूर्तिपूजा के विरुद्ध कोई टिप्पणी सुन कर स्थानीय लोगों ने उनसे सर्वथा असहयोग कर लिया और स्वामीजी के विषय में कोई निश्चयात्मक जानकारी उन्हें नहीं दी।

९. द्रष्टव्य—उपर्युक्त पाद टिप्पणी संख्या ४

१०. The Life of Rama Krishna—अद्वैत आश्रम, मायावती, अल्मोड़ा से प्रकाशित १९५४ ई. का पञ्चम संस्करण।

११. आलोच्य अध्याय के पृ. १४० से १५८ पर्यन्त कलेवर में रौमां रौलां ने स्वामी दयानन्द के व्यक्तित्व एवं कार्यों का अपनी दृष्टि से समीक्षण किया है। उनका दृष्टिकोण मात्र प्रशंसात्मक ही रहा, सो बात नहीं है। इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य—महर्षि के प्रति फ्रेंच मनीषी रौमां रौलां के विचार—भवानीलाल भारतीय का टंकारा पत्रिका (दिसम्बर १९६२) में प्रकाशित लेख।

१२. जिस समय लाला लाजपतराय ने यह जीवन चरित लिखा था, उस समय तक डी. ए. वी. कालेज लाहौर की शिक्षा नीति को लेकर मुख्यतः तथा मांसाहार के प्रश्न को लेकर गौणतः, एक विवाद आर्यसमाज में उभर चुका था। लाला लाजपतराय का लिखा यह जीवन चरित उनके उन विचारों को प्रतिबिम्बित करता है, जो उनके दल (कल्चर्ड पार्टी) को अभिप्रेत थे। अतः रामविलास शारदा द्वारा लिखित स्वामी दयानन्द के एक अन्य जीवनचरित (आर्य धर्मेन्द्र जीवन) के उपोद्घात में महात्मा दल के मास्टर आत्माराम अमृतसरी ने लालाजी के दृष्टिकोण की आलोचना की थी। द्रष्टव्य—उक्त ग्रन्थ का प्रथम संस्करण उपोद्घात पृ. १२२-१३४।

१२. बावा अर्जुनसिंह एवं बावा छज्जूसिंह के परिचय के लिये द्रष्टव्य—इन पंक्तियों के लेखक का 'Something About the Author' शीर्षक नोट जो 'Life and Teachings of Swami Dayanand Saraswati' के प्रारम्भ में छपा है। (१८७१ ई. में प्रकाशित जनज्ञन प्रकाशन, नई दिल्ली का संस्करण)

१४. नगेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय लिखित यह ग्रन्थ कलकत्ता की नेशनल लाइब्रेरी में है, ऐसी सूचना हमें दी गई है।

१५. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय (मृत्यु—१० जनवरी १९१७) के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी के लिये द्रष्टव्य परोपकारी (जनवरी-फरवरी १९८३ ई.) में इन पंक्तियों के लेखक का लेख ऋषि दयानन्द के अमर जीवनी लेखक—देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय।

१६. राजा तेजनारायणसिंह मूलतः भागलपुर निवासी थे। १८७२ ई. में जब स्वामी दयानन्द भागलपुर आये थे तो उनका निवास राजा साहब की कोठी पर ही हुआ था तथा २० अक्टूबर १८७२ से उन्होंने यहाँ पर ही सार्वजनिक व्याख्यान देने आरम्भ किये थे। द्रष्टव्य—दयानन्द स्मृति ग्रन्थ में पृ. ३९३ पर उक्त राजा साहब की कोठी के चित्र का शीर्षक।

१७. तथ्य यह है कि स्वामी दयानन्द के जन्म स्थान टंकरा विषयक प्राचीन दस्तावेजों की खोज के सिलसिले में जब देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय १९०९ ई. के अक्टूबर मास में बड़ौदा गये, उस समय श्री रमेशचन्द्र दत्त सी. आई. ई. उक्त राज्य के दीवान पद को सुशोभित कर रहे थे। दत्त महाशय के आदेश से ही मुखोपाध्यायजी को इस राज्य के फड़नीस आफिस (इतिहास कार्यालय) के पुराने आलेखों को देखने की सुविधा मिली थी—स्वामी दयानन्द सरस्वती नां जन्म स्थानादि नो निर्णय, पृ. ४२।

१८. "हम स्वीकार नहीं करने कि हम इस दुरूह कार्य के सम्पादन में समर्थ हुए हैं, क्योंकि इस ग्रन्थ में बहुत सी बातें अप्रकाशित रही हैं। किन्हीं किन्हीं घटनाओं की पूर्वापरता

के सम्बन्ध में सन्देह रहा है।" दयानन्द चरित (विज्ञापन) १९१२ ई. पं. घासीराम ने उपर्युक्त ग्रन्थ के स्वकृत अनुवाद की भूमिका में भी इसी बात को स्पष्ट किया है—"यह लघु ग्रन्थ अगत्या अपूर्ण है, जैसा स्वयं ग्रन्थकार ने स्वीकार किया है। केवल यही नहीं कि उसमें ऋषि के जीवन की कतिपय घटनाओं का, जो अन्य जीवन चरितों में मिलती है, उल्लेख नहीं है, वरन् उसमें जीवनचरित के अत्यावश्यक और मुख्य अंश का सर्वथा अभाव है।" भूमिका पृ. ४-५

१९. देवेन्द्रनाथ लिखित यह 'अवतरणिका' भारत में धार्मिक एवं दार्शनिक भावों के मूल स्रोत की गवेषणा से आरम्भ होती है। इस देश की आध्यात्मिक एवं दार्शनिक चिन्ता-धारा के क्रमिक विकास की समीक्षा करके लेखक उन्नीसवीं शती के उन महापुरुषों के कृतित्व का भी मूल्यांकन करता है, जो स्वामी दयानन्द के समकालीन, समानधर्मा सुधारक एवं धर्माचार्य थे। इस प्रसंग में राजा राममोहन राय के व्यक्तित्व एवं विचारों का सम्यक् आलोचन करने के पश्चात् विद्वान् समीक्षक ने अत्यन्त भावस्फूर्त एवं ऊर्जस्वित शैली में लिखा—"यदि राममोहन राय की समुज्ज्वल प्रतिभा, सुशाणित मेधा, सर्वशास्त्रान्तगामिनी विद्या और अद्भुत मनस्विता के साथ ब्रह्मचर्य और विषय-विरागिता का समावेश होता, संक्षेपतः यदि वे अपने को विषय संसृष्ट वा विषयासक्त व्यक्तियों के मध्य में परिगणित न करते, तो इसमें अणु मात्र भी सन्देह नहीं कि वे तारकमण्डल में परिवृत्त चन्द्रमा की भांति भारतीय धर्म मण्डल में धर्म प्रवक्ता के आसन का अधिकार प्राप्त कर लेते।" उपर्युक्त विवेचना के पश्चात् मुखोपाध्याय महाशय निष्कर्ष निकालते हैं कि—"वस्तुतः राममोहन राय ने जो नहीं किया, वा जो नहीं कर सके उसी के करने के लिये दयानन्द का आविर्भाव हुआ।"

ध्यातव्य है कि दोनों महापुरुषों की तुलना के प्रसंग में मुखोपाध्याय जी ने दयानन्द के ब्रह्मचर्य एवं वैषयिक उपरामता को उनकी सफलता का मूल स्रोत ठहराया है।

२०. "दयानन्द सरस्वती की जीवनकथा का कीर्तन करने, दयानन्द के एक सर्वाङ्ग सुन्दर जीवनचरित के प्रकाशित करने के अभिप्राय से सामग्री और विवरणमाला के संग्रह करने में पूरे पन्द्रह वर्ष न भी लगे हों, पर इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि दस वर्ष तो अवश्य लगे ही हैं।" महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवनचरित भाग १ भूमिका पृ. ९।

२१. देवेन्द्रनाथ को इस बात का बड़ा खेद था कि दयानन्द के अनुयायी आर्यसमाज ने अपने प्रवर्त्तक महापुरुष का तथ्याश्रित, सर्वांगीण एवं समीक्षात्मक जीवनचरित लिखने या लिखाने का कोई प्रयत्न नहीं किया। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्व उद्गारों को प्रकट करते हुए लिखा था—

"There is no faithful, critical and comprehensive biography of Swami Dayanand. The Arya Samaj is a brave body and bold enough to fight in the field of theological controversy and to win its victories. but the Samaj has no literary life. Up to this time the Samaj, inspite of its many sided activities, has not been able to produce a proper elaborate and faithful account of the life of its founder." The Birth place and

parentage of Swami Dayanand. The Vedic Magazine, Feb. 1916, p. 790.

अर्थात् स्वामी दयानन्द की कोई वस्तुनिष्ठ, आलोचनात्मक एवं समग्र जीवनी नहीं है। आर्यसमाज यद्यपि एक वीर संस्था है जो धार्मिक शास्त्रार्थों में उलझने और विजय प्राप्त करने के लिये सन्नद्ध रहती है, किन्तु उसका कोई साहित्यिक जीवन नहीं है। अपनी विविध प्रवृत्तियों में लगे रहने पर भी आर्यसमाज अब तक अपने संस्थापक का कोई समुचित, विशद जीवनचरित प्रकाशित करने में असमर्थ रही है। ऐसा ही प्रसंग उपस्थित होने पर उन्होंने मेरठ के कुछ आर्यसमाजियों से कहा था—"आप लोग दयानन्द के अनुयायी होने का दम्भ करते हैं। आप दयानन्द से प्रेम नहीं करते। क्या आप में से कोई उसके नाम पर मरने को तैयार है? मैं गर्व नहीं करता, किन्तु आवश्यकता हो तो मैं दयानन्द के नाम पर अपना शिरच्छेद कराने में इतस्ततः नहीं करूंगा।" महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवनचरित, भाग १—संग्रहकर्ता की भूमिका, पृ. ३।

२२. देवेन्द्रनाथ ने इस कार्य हेतु चार बार काठियावाड़ की यात्रा की थी। —स्वामी दयानन्द नां जन्म स्थानादि नो निर्णय—पृ. ५

२३. श्रीमद्दयानन्द प्रकाश—प्रथम संस्करण सम्बन्धी निवेदन।

२४. "दयानन्दप्रकाश वास्तव में ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं लिखा गया है। उसके लेखक का अभिप्राय ऋषि दयानन्द में भक्ति और श्रद्धा के भावों को उत्पन्न करना है।" पं. घासीराम (संग्रहकर्त्ता की भूमिका, पृ. ५)।

२५. "दयानन्दप्रकाश की भक्तिभाव पूर्ण, सरस, मधुर और ललित भाषा को पढ़ कर कौन सहृदय पाठक होगा जिसका सिर दयानन्द के चरणों में न झुक जाय, जिसका हृदय भक्ति और श्रद्धा के प्रवाह से प्लावित न हो जाय।" —वही

२६. भास्कर प्रेस, मेरठ से जुलाई १९१२ ई. में प्रकाशित।

२७. संग्रहकर्त्ता की भूमिका, पृ. ४।

२८. वही, पृ. ५।

२९. श्री हरविलास सारड़ा के मन में स्वामी दयानन्द का जीवन चरित लिखने का विचार १९४२ ई. में आया था। अपनी भूमिका में उन्होंने इस प्रसंग में लिखा है कि "जब मैं बालक ही था, मुझे अपने पिता के साथ अजमेर स्थित सेठ फतहमल भड़गतिया के उद्यान में स्वामीजी के दर्शन करने का अवसर मिला था। उस समय उनसे कुछ बातचीत करने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रख कर मुझे आशीर्वाद भी दिया था। मुझे १९४० वि. की दीपावली का भी स्मरण है जब मैं भिनाय की कोठी में उपस्थित था। उसी समय स्वामीजी ने अपने प्राण त्याग किये। दूसरे दिन मैं स्वामीजी की अन्तिम यात्रा में भी सम्मिलित हुआ था जो भिनाय की कोठी से प्रारम्भ होकर मलूसर (श्मशान) में गई थी, जहां उनकी अन्त्येष्टि की गई। उनके दो बार अजमेर आगमन पर मुझे उनके भाषण सुनने का भी अवसर मिला था जिनके अनेक वाक्य आज भी मेरे कानों में गूंज रहे हैं। व्यास पीठ पर उनका विराजना तथा प्रभाव-

पूर्ण ढंग से श्रोताओं के समक्ष उपदेश देना, आज भी मेरी स्मृति में यथावत् सुरक्षित हैं।" दयानन्द विषयक अपने इन्हीं संस्मरणों को दोहरा कर सारड़ाजी ने निश्चय किया कि प्रथम तो वे स्वामीजी की शिक्षाओं से अत्यधिक प्रभावित हुए हैं तथा स्वामीजी का उन पर बड़ा भारी ऋण है, एतदर्थ, इससे पूर्व कि वार्धक्य एवं शारीरिक दुर्बलताओं के वे वशीभूत हो जायें, उन्हें स्वामी दयानन्द के जीवन लेखन का कार्य समय रहते कर डालना चाहिये। फलतः उन्होंने १९४३ से १९४५ के बीच की अवधि जीवनचरित लेखन में लगाई। —Preface to the Life of Dayanand Saraswati, p. XV, 1946, I Ed.

३०. महर्षि दयानन्द—विजय पुस्तक भण्डार, दिल्ली (१९४५ ई.) से प्रथम बार प्रकाशित।

३१. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली से १९७८ ई. में प्रकाशित।

३२. पं. भगवद्दत्त से भी पहले मुन्शीराम जिज्ञासु (स्वामी श्रद्धानन्द) १९१० ई. में 'ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार' भाग १ का प्रकाशन कर स्वामी दयानन्द के नाम लिखे गये अनेक व्यक्तियों के पत्रों को प्रकाश में ला चुके थे। पं. भगवद्दत्त संग्रहीत पत्र (स्वामीजी द्वारा लिखे गये) पहले तो पृथक् चार भागों में छपे। तदनन्तर इनको एक ही जिल्द में सर्वप्रथम १९४५ ई. में लाहौर से प्रकाशित किया गया। इसका संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण १९५५ ई. में श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर ने प्रकाशित किया। हाल ही में पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने दयानन्द सरस्वती के सम्पूर्ण पत्र व्यवहार को अनेक उपयोगी टिप्पणियों, परिशिष्टों तथा भूमिकाओं सहित चार भागों में प्रकाशित किया है।

३३. निधन—फाल्गुन कृष्णा १०, सं २०१७ वि.।

३४. श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर द्वारा २०१४ वि. में प्रकाशित।

३५. स्वामी दयानन्द के जीवन के समस्त तिथिक्रम (विभिन्न स्थानों में उनके आगमन और प्रस्थान की तिथि सूचक तालिका) को व्यवस्थित करने का श्रेय मौलवीजी को ही है। कालान्तर में पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने इसमें समुचित संशोधन एवं परिष्कार किया।

३६. दयानन्द के जीवन विषयक कतिपय स्थानों, घटनाओं, तिथियों आदि में आ गई भूलों का निराकरण करते हुए यह ग्रन्थ लिखा गया है।

३७. कितने खेद की बात है कि अभी तक स्वामीजी का कोई प्रामाणिक और अच्छा जीवन-चरित नहीं तैयार किया गया। ....मेरी हार्दिक इच्छा है कि यह कार्य अच्छे ढंग पर हो।" महर्षि जीवनदर्शक, पृ. ४१।

३८. महर्षि दयानन्द सरस्वती का वंश परिचय (२०२० वि.) तथा महर्षि दयानन्द स्मारक का इतिहास (२०२० वि.)।

३९. जन्म तिथि से सम्बन्धित शास्त्रीजी के लेख प्रथम वेदप्रकाश (दिल्ली) में धारावाही छपे तथा कालान्तर में गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली ने उन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित किया।

४०. द्रष्टव्य—विरजानन्द प्रकाश : श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर से १९५९ ई. में प्रकाशित।

४१. आर्यसमाज फर्रुखाबाद द्वारा १९३१ ई. में प्रकाशित।

४२. उत्तराखण्ड के वन पर्वतों में ऋषि दयानन्द—विश्वम्भरसहाय प्रेमी।

४३. मथुरा में स्वामी दयानन्द का विद्यालय—प्रभुदयाल मीतल ।
४४. कर्णवास में महर्षि दयानन्द के ऐतिहासिक संस्मरण—भवानीलाल भारतीय द्वारा सम्पादित । (मूल पुस्तक के लेखक शेरसिंह वर्मा)
४५. ऐतिहासिक नगर मेरठ और स्वामी दयानन्द—विश्वम्भरसहाय प्रेमी ।
४६. महर्षि दयानन्द के अमृतसर में १२७ दिन—पिण्डीदास ज्ञानी ।
४७. दानापुर में ऋषि दयानन्द का पदार्पण और प्रभाव—विभुमित्र शास्त्री ।
४८. दयानन्द प्रसंग—हेमचन्द्र चक्रवर्ती (बंगला) ।
४९. अजमेर और ऋषि दयानन्द—ब्रह्मदत्त सोढ़ा ।
५०. द्रष्टव्य—इसी ग्रन्थ के अध्याय 'गंगा और नर्मदा के तट पर' का उपशीर्षक—'स्वामी दयानन्द और १८५७ की हलचल ।'
५१. द्रष्टव्य—इसी ग्रन्थ का अध्याय—देशी रजवाड़ों का सुधार ।
५२. यह पत्र दिग्विजयार्क खण्ड ३ के पृष्ठ २८-२९ पर प्रकाशित हुआ था ।
५३. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, द्वितीय भाग, पृ. ६९५ (तृतीय संशोधित संस्करण) १९८१ ई. में प्रकाशित ।
५४. इन विवादास्पद मुद्दों पर आर्यसमाज के पत्रों में पर्याप्त विचार किया गया है ।
५५. यूनियन प्रिंटिंग प्रेस अहमदाबाद में मुद्रित इस पुस्तक का एक अन्य संस्करण सनातन धर्म के पं. कालूराम शास्त्री ने भी प्रकाशित किया था । आलोच्य पुस्तक के समीक्षात्मक अध्ययन के लिये द्रष्टव्य—'एक विरोधी द्वारा लिखी गई जीवनी का परीक्षण' आर्य जगत् (२५ जनवरी १९७०) में डा. भवानीलाल भारतीय का लेख ।
५६. १९२५ में प्रकाशित इस पुस्तक को लाहौर के एक वकील पं. अमरसिंह ने सम्पादित किया था । इसी व्यक्ति ने १९४२ ई. में 'Views on meat diet and forgeries supressing Swami Dayanand's view' शीर्षक एक पुस्तक लिखकर यह सिद्ध करना चाहा था कि स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में मांस भक्षण का समर्थन किया था तथा उनके इन विचारों को कालान्तर में उन्हीं के अनुयायियों ने उनके ग्रन्थों से निकाल दिया । परोपकारिणी सभा के तत्कालीन मन्त्री श्री हरविलास सारड़ा ने Works of Maharshi Dayanand and Paropkarini Sabha (१९४२ ई.) लिख कर पं. अमरसिंह की धारणाओं का सतर्क प्रतिवाद किया ।
५७. द्रष्टव्य—इसी ग्रन्थ का 'प्रकरण चतुष्टय' शीर्षक अध्याय ।
५८. मुरादाबाद तथा बम्बई से क्रमशः १८९१ तथा १८९८ ई. में प्रकाशित ।
५९. तबलीग लिटरेचर सोसाइटी लाहौर द्वारा १९२९ में प्रकाशित ।
६०. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवनचरित—भाग १, भूमिका पृ. ३२ ।
६१. वही, पृ. ३४ ।

जिन्होंने जन्म ग्रहण करके सौराष्ट्रभूमि को समुज्ज्वल किया, जिनके आविर्भाव से सौराष्ट्र भूमि ने अपने कण्ठ में गौरव की माला धारण की, उनके सम्बन्ध में, उनके नाम, जन्म स्थान, बाल्यचरित के सम्बन्ध में सौराष्ट्रवासी सर्वथा उदासीन और आस्थाहीन हैं। मूर्तिपूजक हिन्दुओं से तो ऐसी आशा करनी व्यर्थ ही है क्योंकि दयानन्द ने मरण पर्यन्त मूर्तिपूजा पर अग्निनिक्षेप किया और काठियावाड़ में अधिकतर वल्लभ सम्प्रदाय वाले और स्वामीनारायण मतानुयायी बसते हैं और दोनों के मन्तव्य ही दयानन्द की तीव्र आलोचना के विषय रहे हैं। सामवेदी औदीच्यों में अब न विद्या है और न धन है, वे अधिकतर भिक्षोपजीवी हैं। उनसे यह आशा करना कि वे अपनी जाति के इस महापुरुष की जीवन सम्बन्धी घटनाओं में कुछ मनोग्राहिता दिखावेंगे, दुराशा मात्र है।

—देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय

It was Kathiawar that gave birth to this puissant renovator and new creator. And something of that very soul and temprament of that peculiar land entered in to his spirit, something of Girnar and the rocks and hills. Some thing of the voice and puissance of the sea that flinges itself upon those coasts, something of that humanity which seems to be made of the virgin and unspoilt staff of Nature fair and robust in body, instinct with a fresh and primal vigour crude but in a developed nature capable of becoming a great force of genial creation.

—Shri Arvind

शैशव और अध्ययन

वसुंधरा पर महापुरुषों का अवतरण इतिहास की विशिष्ट घटना होती है। अपने उदात्त व्यक्तित्व; उत्कृष्ट विचार-सरणि तथा प्रभावपूर्ण क्रियाकलापों के कारण ये महापुरुष न केवल समकालीन, अपितु आने वाले युग-युगान्तरों तक अपनी चरित्रगत विशेषताओं की छाप छोड़ जाते हैं। इनका व्यक्तित्व एवं इनकी विचार सम्पदा मानव जाति का पथ निर्देश करते हैं। ऐसे संस्कारशील तथा प्रभविष्णु व्यक्तित्व के धनी महापुरुषों को जन्म देने में भारत की महीयसी भूमि सदा से ही उर्वरा रही है। ऐसे ही इतिहास पुरुषों के सम्बन्ध में अपने प्रशस्तिमूलक उद्‌गार व्यक्त करते हुए गुजराती के समर्थ साहित्यकार कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ने लिखा है, "इतिहास की रंगभूमि पर ऐसे व्यक्ति जब-जब आते हैं तब दूसरे तत्त्व पुरुषार्थविहीन हो जाते हैं। इतिहास क्रम रुक जाता है। समय शक्तियों का मान भूल कर दर्शकों का मन उसके आसपास लिपट जाता है। नायक के मोह में नाटक का अर्थ विस्मरण हो जाता है। भूतकाल की रंगभूमि पर ऐसे अनेक व्यक्ति हुए हैं—परशुराम, मधुसूदन भगवान् श्रीकृष्ण और समस्त जगत् के राजनीतिज्ञ शिरोमणि चाणक्य।"[१]

विक्रम की बीसवीं शताब्दी में हुए भारत के धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण के उन्नायक एवं पुरोधा दयानन्द सरस्वती की गणना भी ऐसे ही शलाका पुरुषों में होती है, जिनके कृतित्व एवं विचारों से न केवल भारतवासी ही प्रभावित हुए अपितु संसार के अन्य विचारशील लोग भी उनकी वैचारिक गत्यात्मकता, क्रान्तिकारी कार्यक्रम तथा समय से आगे बढ़ कर सोचने की प्रवृत्ति से अप्रभावित नहीं रह सके थे। कालान्तर में उनके उपदेशों और उनकी शिक्षाओं का जैसा व्यापक प्रचार तथा प्रसार हुआ, उनके अनुयायियों की संख्या समस्त भूमण्डल पर जिस प्रकार बढ़ती गई, उसे देखते हुए उन्हें यथार्थ में 'युगपुरुष' कहना ही उचित है। मानव जाति के बौद्धिक चिन्तन तथा भावसमूह को प्रभावित एवं उद्वेलित करने वाले महापुरुषों की जीवनचर्या को अपने अध्ययन-अन्वेषण एवं विवेचन का विषय बनाना प्रबुद्ध मानव का एक स्पृहणीय गुण माना जा सकता है। इस दृष्टि से भारत की राष्ट्रीय अस्मिता के प्रथम उद्‌घोषक, किन्तु साथ ही अपने कथन तथा आचरण के द्वारा समस्त मानवता के सार्वत्रिक अभ्युत्थान के प्रेरक दयानन्द सरस्वती के जीवन एवं विचारों का चिन्तन एवं अनुशीलन नितान्त उपयुक्त तथा आवश्यक है।

भारत देश के जिस भू भाग को दयानन्द जैसे मनस्वी एवं स्वाधीनचेता पुरुष को जन्म देने का गौरव प्राप्त हुआ, वह सौराष्ट्र की धरती है जो काठियावाड़ के नाम से प्रसिद्ध है। इसी गरिमामयी धरा को विगत काल में भी अनेक महापुरुषों को उत्पन्न करने का श्रेय मिला है। सौराष्ट्र गुर्जर प्रदेश का ही एक भाग है, जिसका प्रशस्ति गान करते हुए गुर्जरगिरा के मूर्धन्य कथाकार कन्हैयालाल मुन्शी ने लिखा था—"गुजरात एक महावृक्ष है। उसकी जड़ में परमात्मा (श्रेष्ठ पुरुष) श्रीकृष्ण का कर्मयोग छिपा हुआ है। उसकी डालियों पर महाकवि नर्मद और महात्मा गांधी की कोपलें फूटी हैं।"[२]

गुजरात की इसी धरती ने लोककल्याण के लिये समाधि अवस्था के लोकोत्तर आनन्द का परित्याग करने वाले परिव्राजक दयानन्द को जन्म दिया था। दयानन्द सरस्वती

संन्यासी थे। अपने आश्रम की मर्यादाओं को दृष्टिगत रखते हुए उन्होंने अपने माता-पिता, जन्म स्थान तथा स्वयं के बारे में कभी विस्तारपूर्वक नहीं बताया, तथापि उनके जीवनकाल में एकाधिक अवसर ऐसे भी आये जब उन्हें अपने जीवन की प्रमुख घटनाओं का उल्लेख लोगों के समक्ष करना पड़ा। १८७५ ई. में उन्होंने महाराष्ट्र की सांस्कृतिक नगरी पुणे में न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडे तथा अन्य व्यक्तियों के आग्रह पर एक व्याख्यानमाला प्रस्तुत की तथा उसके उपसंहारात्मक भाषण में किञ्चित विस्तार के साथ स्वजीवन का भी कथन किया। इस व्याख्यान के प्रारम्भ में ही उन्होंने कहा था—"हमसे बहुत से लोग पूछते हैं कि हम कैसे जानें कि आप ब्राह्मण हैं और कहते हैं कि आप अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों की चिट्ठियाँ मंगा दें या आपको जो पहचानता हो, उसको बतलावें। इसलिये मैं अपना कुछ वृत्तान्त कहता हूँ।"[३] इस व्याख्यान के अन्तर्गत उन्होंने जन्म से लेकर काशी की पण्डित-मण्डली से किये गये अपने प्रसिद्ध शास्त्रार्थ (१६ नवम्बर १८६९ ई.) तक की घटनाओं का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया था।[४] तथापि उन्होंने माता-पिता आदि के नामों का कोई उल्लेख नहीं किया। जीवन के इन तथ्यों के गोपन का कारण स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा, "दूसरे देशों की अपेक्षा गुजरात में कुछ मोह अधिक है। यदि मैं अपने पूर्व मित्रों तथा सम्बन्धियों को अपना पता दूं या पत्र व्यवहार करूं तो मेरे पीछे एक ऐसी व्याधि लग जायगी जिससे कि छूट चुका हूँ। इस भय से कि कहीं वह बला मेरे पीछे न लग जावे पत्रादि मंगा देने की चेष्टा नहीं करता।"[५]

उपर्युक्त कथन को ही उन्होंने धारावाही प्रकाशित आत्मवृत्तान्त में इस प्रकार प्रस्तुत किया—"यहाँ अपना, पिता का, निज निवास स्थान के प्रसिद्ध नाम इसलिये मैं नहीं लिखता कि जो माता-पिता आदि जीते हों, मेरे पास आवें तो उस सुधार के काम में विघ्न हो। क्योंकि मुझ को उनकी सेवाकरना उनके साथ घूमने में श्रम और धन आदि का व्यय कराना नहीं चाहता।"[६] स्पष्ट है कि दयानन्द ने अपने नाम, माता पिता का परिचय तथा अपने जन्मस्थान को तुरीयाश्रम की प्रचलित मर्यादा के कारण[७] तथा साथ ही इसलिये भी कि कहीं उनका अता-पता जान कर उनके पारिवारिक जन उनसे पुनः सम्पर्क स्थापित करने का प्रयास न करें, जानबूझ कर गोपनीय ही रक्खा।

कालान्तर में जब उनके जीवनचरित के व्यवस्थित लेखन का प्रयास आरम्भ हुआ तो स्वामीजी के जन्मस्थान, जन्मतिथि, माता-पिता के नाम तथा स्वयं उनके संन्यास पूर्व के नाम आदि को जानने का प्रयत्न हुआ। उपयुक्त गवेषणाओं के पश्चात् जो एतद् विषयक सामग्री प्राप्त हुई है, उसे यहां प्रस्तुत किया जाना आवश्यक है। साथ ही दयानन्द सरस्वती के पूर्वज, वंश-परम्परा तथा सौराष्ट्र में उनमें आगमन एवं निवास के सम्बन्ध में उपलब्ध तथ्यों को भी उल्लिखित किया जाना चाहिए।

लगभग एक हजार वर्ष पूर्व गुजरात में मूलराज सोलंकी नामक एक प्रतापी राजा राज्य करते थे। उन्होंने गुर्जर देश में वैदिक संस्कारों तथा आर्योचित मर्यादाओं की पुनः स्थापना का महान् संकल्प किया। एतदर्थ उन्होंने उत्तर भारत के विभिन्न स्थानों से एक सहस्र वेदज्ञ विद्वानों को अपने राज्य में सादर आमंत्रित किया। ये ब्राह्मण गांधार, कुरुक्षेत्र;

कान्यकुब्ज आदि, उत्तरापथ के विभिन्न प्रान्तों से आये थे।[८] उदीचि (उत्तर) दिशा से आकर गुजरात में बस जाने वाले ब्राह्मणों को 'औदीच्य' नाम से अभिहित किया गया और इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि आरम्भ में आये इन ब्राह्मणों की संख्या एक सहस्र थी, इन्हें 'सहस्र औदीच्य' की संज्ञा प्रदान की गई। दयानन्द इसी औदीच्य ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे।

एक जनश्रुति के अनुसार १४०० वि. के आस-पास एक औदीच्य ब्राह्मण, जो सिद्धपुर का निवासी था, कच्छ के प्रसिद्ध तीर्थस्थल नारायण सरोवर की यात्रा हेतु आया और राजधानी भुज में ठहरा। कालान्तर में कच्छ नरेश के एक यज्ञ का पुरोहित बन कर उसने राजाश्रय तथा राजप्रतिष्ठा प्राप्त की और उसी नगर में बस गया। सिद्धपुर का यह अज्ञात-नामा कच्छप्रवासी ब्राह्मण ही दयानन्द का पूर्वपुरुष था। कच्छवासी इस औदीच्य ब्राह्मण के वंशजों का एक परिवार १६०२ वि. में महाराजा जाम रावल के साथ सौराष्ट्र आया। जाम-रावल ने जामनगर के नाम से एक नवीन राज्य की स्थापना की। जाम रावल के साथ आने वाले तिवारी[९] कुल के औदीच्य ब्राह्मण सौराष्ट्र में ही बस गये और उनके वंश का विस्तार होने लगा। इन तिवारियों की एक शाखा मोटा बड़ाल तथा दूसरी टंकारा में बस गई। टंकारा की शाखा में हरिभाई त्रिवेदी नामक एक व्यक्ति हुए। दयानन्द की बहन प्रेमबाई के वंशज पोपट रावल के गृह से प्राप्त दानपत्रों से विदित होता है कि हरिभाई त्रिवेदी सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तथा अठारहवीं शताब्दी के पूर्व भाग में विद्यमान थे। इन्ही के वंश में एक मेघजी त्रिवेदी हुए। उनके दो पुत्र थे—विश्रामजी और डोसाजी। जीवा मेहता नामक एक श्रेष्ठी ने जब अपने नाम से जीवापुर नामक ग्राम बसाया तो उसने विश्रामजी को पर्याप्त भूमि दान में देकर स्वस्थापित ग्राम में लाकर बसा दिया, किन्तु उनके भाई डोसा जी टंकारा में ही रहे। डोसाजी संस्कृतज्ञ तथा विद्वान् थे। उनके दो पुत्र हुए—कुंवरजी तथा लालजी। लालजी ही दयानन्द सरस्वती के पितामह थे। कुंवरजी के वेलजी नामक पुत्र हुआ। कनिष्ठ भ्राता लालजी के भी दो पुत्र थे—मावजी तथा करसन जी। ये करसन जी ही दयानन्द सरस्वती के स्वनामधन्य पिता थे। दयानन्द सरस्वती के पूर्वजों तथा उनके सहोदर भाई बहिनों की नामावली निम्न वंश-वृक्ष के रूप में प्रस्तुत की जा सकती है—

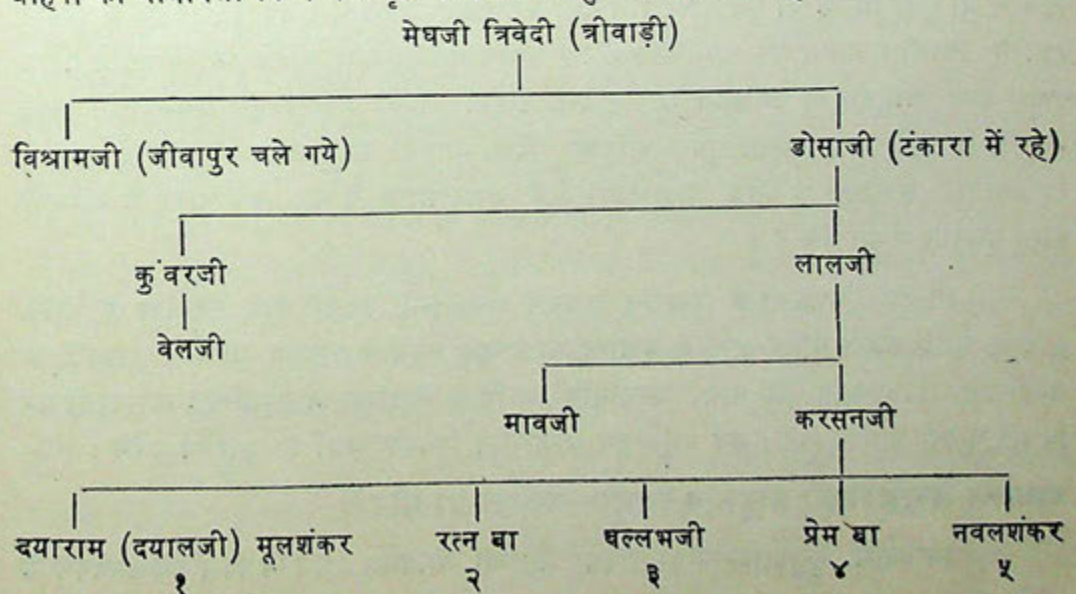

इस प्रकार हम देखते हैं कि दयानन्द सरस्वती ने जिस वंश में जन्म लिया, कालान्तर में उसकी अनेक शाखा-प्रशाखाएं हो गई थीं। उन्होंने स्वयं अपने आत्मवृत्तपरक पुणे व्याख्यान में कहा था कि 'मेरे कुटुम्बियों के इस समय १५ घर होंगे।'[१०] उपर्युक्त वंश वृक्ष को देखने से यह भी ज्ञात होता है कि दयानन्द अपने पिता की वरिष्ठ सन्तान थे। उनसे दो वर्ष छोटी बहिन रत्न बा थी। इसी बहिन की मृत्यु चौदह वर्ष की आयु में विशूचिका से हो गई थी और जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे कि स्वजन वियोग के इस दुखद प्रसंग ने दयानन्द के किशोर मन में शरीर की क्षणभंगुरता, संसार की नश्वरता तथा मृत्यु की अपरिहार्यता के उन भावों को उत्पन्न किया, जो काल पाकर उसे वैराग्योन्मुख करने तथा स्वगृह का त्याग कराने में कारण बने।

युवा पुत्र के इस आकस्मिक गृहत्याग से पिता के हृदय में जो दारुण वेदना उत्पन्न हुई उसका अनुमान लगाना भी कठिन है। करसन जी का बड़ा पुत्र विरक्त होकर गृहत्यागी हो गया। बड़ी पुत्री का असामयिक निधन हो गया। अब दुखी पिता ने कनिष्ठ पुत्र वल्लभजी का विवाह कच्छ के मूल निवासी एक पुजारी ब्राह्मण की कन्या मोंघी बाई से कर दिया और इस प्रकार परिवार में एक नवीन सदस्य का प्रवेश करा कर येन केन प्रकारेण मनस्तोष प्राप्त करना चाहा।[११] परन्तु पिता के दुखों का अभी अन्त कहाँ था? विवाह के ६ मास पश्चात् ही वल्लभ जी का भी देहान्त हो गया। घर में रोती कलपती युवा पुत्र वधू को देखकर करसन जी का हृदय विदीर्ण होने लगा। नियति के अज्ञेय विधान ने परिवार में एक और अनिष्टोत्थान किया। करसन जी का सबसे छोटा पुत्र नवलशंकर भी काल कवलित हुआ। अब पांच सन्तानों में अवशिष्ट रही द्वितीय पुत्री प्रेम बा। करसनजी ने उसका विवाह गोंडल के समीपवर्ती गांव के निवासी मंगलजी लीलाधर रावल के साथ वि. सं. १९०५ में कर दिया।

करसनजी के परिवार में मात्र उनकी पुत्री प्रेम बा ही रही। इसी की सन्तान को नाना की सम्पत्ति का स्वामित्व प्राप्त हुआ। प्रेम बा के पुत्र का नाम बोघारावल था। बोघा के पुत्र कल्याण जी हुए, जिनके दो पुत्र पोपटलाल तथा प्रभाशंकर रावल थे। जब १९२६ ई. में टंकारा ग्राम में स्वामी दयानन्द की जन्मशताब्दी का उत्सव मनाया गया तो प्रेम बा के प्रपौत्र पोपट रावल स्वयं समारोह में उपस्थित हुए थे तथा उन्होंने अपनी प्रपितामही प्रेमबा तथा उसके पितृपक्ष के लोगों का विस्तारपूर्वक परिचय दिया था।[१२] उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि दयानन्द सरस्वती के पूर्वज शताब्दियों पूर्व उत्तर भारत से चल कर भारत के पश्चिमी प्रान्त गुजरात में जा बसे थे।

औदीच्य ब्राह्मणों के गुजरात आगमन तथा इसी ब्राह्मण वंश परम्परा के कच्छ, सौराष्ट्र आदि प्रदेशों में बस जाने के वृत्तान्त को प्रस्तुत करने के पश्चात् दयानन्द सरस्वती के जन्मस्थान, पिता-माता के नाम, जन्मतिथि आदि के निर्धारण से सम्बन्धित समस्याओं पर विचार करना आवश्यक है। सर्व प्रथम हम जन्मस्थान विषयक चर्चा का आरम्भ करेंगे।

दयानन्द सरस्वती की प्रादुर्भाव स्थली—टंकारा या मोरवी

देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा इस शताब्दी के प्रथम दशक में किये गये अन्वेषण के

परिणामों के प्रकट होने तक मौरवी नगर को ही दयानन्द का जन्मस्थान माना जाता रहा। लेखराम ने स्वरचित दयानन्द सरस्वती के जीवनचरित्र में मौरवी को स्वामीजी का जन्म-स्थान स्वीकार किया है।[१३] उन्होंने अपनी मान्यता की सिद्धि में मौरवी राज्य की ओर से टंकारा में नियुक्त एक कर्मचारी कुबेरजी कानजी [१४] के कथन का प्रमाण दिया है जिन्होंने पं. लेखराम को बताया था कि उनके समीपस्थ सम्बन्धियों में उनका एक चाचा, जिसका नाम मूलशंकर था, लगभग १९०० वि. में घर से भाग गया था। कुबेरजी कानजी, जिनसे पं. लेखराम की भेंट हुई थी, मौरवी निवासी ही थे, इसलिये आर्यमुसाफिर के लिये इस निष्कर्ष पर पहुंचना सहज हो गया कि निश्चय ही उक्त व्यक्ति का गृहत्यागी चाचा भी मौरवीवासी ही था। देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय की जांच ने पं. लेखराम की धारणा को निर्मूल प्रमाणित कर दिया। वे स्वयं अपने गुजरातभ्रमण के समय कुबेरजी के पुत्र प्रेमशंकर कुबेरजी से मिले, जिसने उन्हें बतायां कि उनके पिता द्वारा जिस पितृव्य पुत्र के गृहत्याग की बात पं. लेखराम को बताई गई थी, वह उनके पीताम्बर पण्डा नामक चाचा का पुत्र था, परन्तु उसके गृह त्याग का कारण संसार से विरक्ति न होकर कुछ और ही था।[१५]

इस प्रकार मुखोपाध्याय महाशय की सम्मति के अनुसार कुबेरजी कानजी के कथन को विश्वसनीय मानना तथा उसके आधार पर दयानन्द को मौरवी वासी सिद्ध करना अथवा मौरवी को उनका जन्मस्थान घोषित करना उचित नहीं है। कुबेरजी कानजी का कथन एक अन्य दृष्टि से भी अविश्वसनीय सिद्ध हो जाता है। कुबेरजी कानजी यजुर्वेदी ब्राह्मण थे, जब कि दयानन्द सामवेदी थे। इस प्रकार दोनों के कुलों की भिन्नता अनायास सिद्ध हो जाती है।

दयानन्द के मौरवीनिवासी होने अथवा उनका जन्मस्थान मौरवी बताये जाने के पीछे एक अन्य कारण भी रहा है। 'थियोसोफिस्ट' पत्र में अपना आत्मवृत्तान्त प्रकाशित कराते समय तो स्वामीजी ने अपने जन्मस्थान के सम्बन्ध में मात्र इतना ही संकेत दिया था कि "संवत् १८८१ के वर्ष में मेरा जन्म दक्षिण गुजरात प्रान्त, देश काठियावाड़ मजोकठा देश मौर्वी का राज्य औदीच्य ब्राह्मण के घर में हुआ था।"[१६] यहाँ उन्होंने 'मौरवी राज्य' का उल्लेख किया है, जिसका अभिप्राय यही है कि उनका जन्म मौरवी राज्यान्तर्गत किसी स्थान पर हुआ था, न कि मुख्य मौरवी नगर में। 'थियोसोफिस्ट' के लिये प्रेषित आत्मवृत्तान्त के मूल हिन्दी पाठ का अंग्रेजी अनुवाद पत्र के सम्पादक ने और भी स्पष्ट रीति के किया था, जो इस प्रकार है—"It was in a Brahmin family of Audichya Caste in a town belonging to the Rajah of Morwee, in the province of Kathiyawar, that in the year of Samvat 1881, I, now known as Dayanand Saraswati was born"[१७] इस कथन से किसी प्रकार की भ्रान्ति को स्थान नहीं रहता कि दयानन्द का जन्मस्थान मौरवी राज्यान्तर्गत कोई अन्य स्थान ही था।

परन्तु भ्रम का कारण बना पुणे में दिया गया आत्मवृत्तान्त निरूपक वह प्रवचन जिसके प्रारम्भ में ही स्वामी दयानन्द ने कहा था—"धरांगधरा एक राज्य गुजरात देश में है। इसकी सीमा पर एक मौरवी नगर है, वहाँ मेरा जन्म हुआ था।"[१८] यहाँ एक सहज शंका

होती है कि मौरवी राज्य ध्रांगध्रा की सीमा पर तो नहीं है, पुनः स्वामीजी ने यह क्यों कहा कि ध्रांगध्रा की सीमा पर मौरवी राज्य है। निश्चय ही वांकानेर राज्य की सीमा तो मौरवी से मिलती है, किन्तु ध्रांगध्रा की नहीं मिलती। परन्तु आपाततः प्रतीत होने वाले इस विरोध का सहज ही समाधान किया जा सकता है। दयानन्द के प्रादुर्भाव के पूर्व वांकानेर और ध्रांगध्रा दोनों राज्य एक ही झाला वंश के शासकों के राज्य गिने जाते थे। ध्रांगध्रा राजकुल के एक वंशज ने ही वांकानेर राज्य की स्थापना की थी, अतः दयानन्द के इस कथन में कुछ भी अनौचित्य नहीं है कि उनका जन्म जिस राज्य में हुआ वह ध्रांगध्रा (झाला) राज्य को सीमा पर है।[१९] देवेन्द्रनाथ ने तो बड़ौदा राज्य के विद्याधिकारी श्री हरगोविन्ददास द्वारका दास का कथन भी उद्धृत किया है जिसमें स्वामीजी को यह कहते हुए बताया गया है कि उनका जन्म वांकानेर के सीमान्त स्थित किसी स्थान पर हुआ था।[२०] वांकानेर राज्य की सीमा जहाँ मौरवी राज्य से मिलती है, टंकारा के अतिरिक्त और कोई बड़ा ग्राम नहीं है।[२१]

१९२६ ई. में जब टंकारा में दयानन्द-जन्म-शताब्दी-समारोह का आयोजन हुआ, तो उस अवसर पर उन व्यक्तियों को विशेष रूप से आमन्त्रित किया गया, जिनका स्वामी दयानन्द से व्यक्तिगत तथा पारिवारिक सम्बन्ध रहा था। १६ फरवरी १९२६ ई. को स्वामीजी की बहिन प्रेम बा के प्रपौत्र पोपटलाल रावल ने उक्त समारोह में उपस्थित होकर स्वामीजी के जन्मस्थान के सम्बन्ध में अपना निर्णायक मत इस प्रकार प्रस्तुत किया—"अनेक व्यक्ति ऋषि के जन्मस्थान के विषय में संदिग्ध हैं। परन्तु मैं आज इस पवित्र वेदी पर उपस्थित होकर इस बात की घोषणा करता हूँ कि यह टंकारा ग्राम ही ऋषि दयानन्द की जन्मभूमि है।"[२२] अपने कथन की पुष्टि में पोपट रावल ने दो प्रमाण दिये। प्रथम तो जिस शिव मन्दिर में दयानन्द के पिता करसन जी तिवारी शिवाराधना करते थे, उसकी पूजा अर्चा की व्यवस्था का दायित्व परम्परा से उन्हीं को प्राप्त है, क्योंकि वे ही तिवारी परिवार के उत्तराधिकारी हैं। द्वितीय, जिस गृह में स्वामीजी का जन्म हुआ था, उस पर भी करसन जी तिवारी के तत्कालीन उत्तराधिकारी के रूप में उनका ही अधिकार है। पोपट रावल ने अपने कथन को लिखित रूप में सभा के समक्ष प्रस्तुत भी किया, जिस पर साक्षी रूप में दयानन्द-जन्म-शताब्दी स्वागत समिति के अध्यक्ष श्री मनुभा तथा समारोह से अध्यक्ष वीरपुर नरेश श्री हमीरसिंह जी ने हस्ताक्षर किये। इसी सभा में स्वामी दयानन्द के एक बालसखा १०३ वर्षीय मुसलमान कृषक इब्राहिम भी उपस्थित थे और उन्होंने भी पोपट रावल के कथन का पूर्ण समर्थन करते हुए टंकारा को ही मूलशंकर (दयानन्द) का जन्मस्थान घोषित किया।[२३]

देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा किया गया दयानन्द का जन्मस्थान विषयक निर्णय, जो टंकारा के पक्ष में है, इसलिये भी मान्य है; क्योंकि उन्होंने इस निश्चय तक पहुँचने के लिये अनेक महत्त्वपूर्ण तथा प्रामाणिक पुरुषों से पत्रव्यवहार कर उनसे एतद्विषयक सम्मतियाँ प्राप्त की थीं। इस प्रसंग में उन्हें तत्कालीन मौरवी नरेश, राजकोट निवासी श्री प्राणलाल विश्वनाश शुक्ल, राजकोट एजेन्सी कार्यालय के मुख्यलिपिक रावबहादुर विट्ठलराव, पं. गणपति केशवराम शर्मा आदि से पत्रव्यवहार किया था तथा उपर्युक्त व्यक्तियों से उन्हें समाधानकारक उत्तर भी प्राप्त हुए थे।[२४] इसी सम्बन्ध में उन्होंने समीपवर्ती अनेक ग्रामों के निवासियों से मौखिक वार्तालाप तथा पूछताछ भी की थी। अन्ततः वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे

थे कि टंकारा ही दयानन्द सरस्वती की जन्मभूमि है। परवर्ती जीवनीकारों ने मुखोपाध्यायजी के एतद्विषयक मत को ही स्वीकार किया है।

दयानन्द सरस्वती के पिता—करसनजी लालजी त्रिवाड़ी

यह हम देख चुके हैं कि जब तक देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के अन्वेषणों का परिणाम संसार के समक्ष नहीं आया तब तक पं. अम्बाशंकर को ही स्वामीजी के पिता के नाम के रूप में मान्यता मिलती रही। पं लेखराम ने स्वामी दयानन्द के जीवनचरित में लिखा था—"पिछले वर्ष दीवाली के अवसर पर अमृतसर में एक महात्मा साधु (जिनकी आकृति स्वामीजी से मिलती थी और जिनके विषय में लोगों में प्रसिद्ध था कि वह स्वामी दयानन्दजी का भाई है, जिनका नाम गोविन्दानन्द सरस्वती है और जो छः वर्ष तक स्वामीजी के साथ गंगातट पर विचरते रहे) से भेंट हुई। उन्होंने कहा कि स्वामीजी के पिता का नाम अम्बाशंकर औदीच्य ब्राह्मण था।"[२५] पं. लेखराम के अनुकरण पर विगत शताब्दी के अन्त तक तथा वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भिक दो दशकों तक प्रकाशित स्वामी दयानन्द के लगभग सभी जीवनचरितों में अम्बाशंकर को ही उनके पिता से रूप में स्मृत किया जाता रहा। परन्तु देवेन्द्रनाथ द्वारा टंकारा तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशवासी अनेक लोगों से भेंट तथा पूछताछ करने के अनन्तर यह निश्चय हो जाने के पश्चात् कि स्वामीजी के पिता का नाम करसनजी लालजी त्रिवाड़ी था, कुछ अधिक वक्तव्य शेष नहीं रहा। "The Birth place and Parentage of Swami Dayanand : Some current misconceptions." शीर्षक लेख में देवेन्द्रनाथ ने लेखराम की इस धारणा का खण्डन किया है कि स्वामी दयानन्द का कोई अन्य भाई भी था, जिसने संन्यास ले लिया था और जो स्वामीजी के पिता का नाम अम्बाशंकर बताता था।[२६] उनके अनुसार ऐसे साधु संन्यासी प्रायः देखे जाते रहे हैं जो स्वामी दयानन्द से अपना सम्बन्ध जोड़ने के लिये अत्यन्त व्यग्र रहते हैं। वस्तुतः ऐसे लोग धूर्त, कपटी और प्रवंचक ही होते हैं।

यह तो स्पष्ट है कि पं. लेखराम ने भ्रान्तिवश 'अम्बाशंकर' को स्वामीजी का पितृ नाम स्वीकार कर लिया था। परन्तु पिता के वास्तविक नाम को ज्ञात करने के लिये हमें विभिन्न अन्तः और बाह्य साक्षियों को भी देखना चाहिए। यह हम उल्लेख कर चुके हैं कि न तो पुणे में दिये गये व्याख्यान में और न थियोसोफिस्ट में प्रकाशित आत्मकथा की पहली किस्त में ही स्वामीजी ने अपने पिता का नाम बताया था। हाँ, इतना उन्होंने अवश्य कहा था कि "घर में भिक्षा की जीविका नहीं थी किन्तु जिमीदार और लेन देन से जीविका के प्रबन्ध करके सब काम चलाते थे।" इन्हीं संकेतों के आधार पर देवेन्द्रनाथ ने प्रमाण पुरस्सर सिद्ध किया है कि टंकारानिवासी सहस्र औदीच्य ब्राह्मण करसनजी लालजी तिवाड़ी ही स्वामीजी के पिता थे। करसनजी तिवारी लेन-देन करते थे, उसका प्रमाण तब मिला जब उनकी पुत्री प्रेम बाई के वंशज पोपटलाल रावल के घर से प्राप्त उस प्राचीन बही को देखा गया जिसमें यह अंकित था कि उनके द्वारा कितना रुपया, किस ब्याज दर पर, किसे उधार दिया गया है ?[२७] करसनजी जमींदार भी थे, क्योंकि जामनगर रियासत के अन्तर्गत जोड़िया परगना के कोशिया ग्राम की जमींदारी उन्हीं के अधिकार में थी। इस ग्राम की कुछ भूमि उन्होंने अपने दो भानजों को पौष एकादशी १८८३ वि. को दान रूप में प्रदान की। दयानन्द के संन्यस्त हो जाने तथा द्वितीय

पुत्र वल्लभजी के मर जाने के कारण दुखी एवं सन्तप्त इस वृद्ध गृहस्थ ने इसी जमींदारी का एक बड़ा भाग अपनी विधवा पुत्र वधू मोंगीबाई के नाम लिख दिया था। इस प्रकार करसनजी का जमींदार होना अनायास सिद्ध है।

अपने ग्राम में वे एक अन्य रूप में भी जाने जाते थे। उन्हें शासन की ओर से राजस्व वसूल करने का भी अधिकार था। उन्हें 'जमेदार' या 'फौजदार' कहा गया है। वस्तुत: 'जमेदार' शब्द मराठी भाषा का है जिसका गुजराती पर्याय 'वहीवटदार' होता है। मराठी में 'जमेदार' का प्रयोग राजस्व वसूल करने वाले राज्याधिकारी के लिये किया जाता है। प्रश्न यह है कि गुजरात के टंकारा तालुका में मराठी 'जमेदार' शब्द का प्रचलन कैसे हुआ ? इसके समाधान के लिये हमें मौरवी राज्य के तत्कालीन इतिहास पर दृष्टि निक्षेप करना होगा। मौरवी के ठाकुर वाघजी ने टंकारा तालुका सेठ सुन्दरजी शिवजी के पास रेहन रख दिया था। कालान्तर में उक्त सेठ ने उसी प्रदेश को एक कोट्याधीश महाराष्ट्रीय श्रेष्ठी गोपाल मेडेल नारायण भाऊ के अधिकार में दे दिया। भाऊ सेठ ने सुन्दरजी शिवजी को इसका उचित मूल्य चुका दिया था। इन्हीं भाऊसाहब के शासनाधीन रह कर ही करसनजी अपने ग्राम तथा इलाके के राजस्व की वसूली तथा स्थानीय शासन का कार्य वहीवटदार (कामदार) के रूप में करते थे। १८६९ वि. के वैशाख मास में टंकारा तालुका के अन्तर्गत कागदड़ी ग्राम पर मियाणा जाति के मुसलमान दस्युओं ने आक्रमण और लूटमार प्रारम्भ की। उस समय इस उपद्रव का शमन करने के लिये जमेदार करसनजी टंकारा के फौजदार (दण्डनायक) निर्भयशंकर के साथ उस ग्राम में पहुँचे थे। इस मुठभेड़ में फौजदार तो मारे ही गये किन्तु करसनजी को भी मियाणा दस्यु कैद कर अपने ग्राम मालिया ले गये, जहाँ उन्हें कुछ दिन रख कर छोड़ दिया गया।[२८]

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि स्वामी दयानन्द के पिता अपने ग्राम के ही नहीं, अपितु समीपवर्ती प्रदेश के एक समृद्धिशाली, वैभवसम्पन्न भूमिपति तथा शासनाधिकारसम्पन्न राजपुरुष थे। व्यक्तिगत रूप से तो वे लेन-देन करते ही थे, प्रशासन की ओर से भी उन्हें राजस्व वसूल करने का अधिकार प्राप्त था। वे टंकारा के शासक के कामदार थे। यदा कदा समीपवर्ती ग्रामों की प्रजा की सुरक्षा व्यवस्था को देखने के लिये भी वे जाते रहते थे। देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने रोहीशाला ग्राम के प्रभुराम तेजराम आचार्य की साक्षी से लिखा है कि करसनजी बड़े अमलदार थे। टंकारा ग्राम के दरबारगढ़ के पश्चिम भाग में अब भी एक ऐसा स्थान है जिसे 'करसनजी नी घोड़ार' अर्थात् करसनजी की अश्वशाला कहते हैं।[२९] बिना प्रमुख राज्याधिकारी हुए कोई व्यक्ति दरबारगढ़ में अपने घोड़े नहीं बांध सकता। करसनजी का निवास टंकारा ग्राम के जिस जीवापुर (जीवापर) मुहल्ले में था, उसके समीप ही यह अश्वशाला थी।

फिर स्वामी दयानन्द ने अपने आत्मकथन में यह लिखा है कि उनके पिता घोर शैव थे, बाल्यकाल से ही उन्हें शिव की पार्थिव प्रतिमा बना कर पूजन विधि सिखाई गई थी। करसनजी ने ही टंकारा ग्राम के बाहर शिवमन्दिर का निर्माण कराया था।[३०] वे स्वयं आजीवन उसी मन्दिर में जाकर शिवार्चन करते रहे। उनके निधन के पश्चात् मन्दिर की पूजा

अर्चा का अधिकार उनकी एकमात्र जीवित सन्तान-पुत्री प्रेम बाई को मिला। तत्पश्चात् प्रेम बाई के वंशज ही इस मन्दिर की सेवा-पूजा करते रहे। इस प्रकार टंकारे के कट्टर शैव ब्राह्मण करसनजी ही स्वामीजी के पिता सिद्ध होते हैं।

टंकारा में बहुत समय तक यह प्रवाद प्रचलित रहा कि जिस ब्राह्मण ने कुबेरनाथ महादेव के मन्दिर की प्रतिष्ठा की, उसका पुत्र गृहत्यागी हो गया था। अनेक वृद्ध पुरुषों के मुँह से तिवारी परिवार के एक लड़के के घर छोड़ कर भागने की बात स्वामीजी के गृह त्यागने के कई वर्ष पश्चात् तक चलती रही। यह तिवारी ब्राह्मण परिवार करसनजी का ही था। इस प्रकार स्वामीजी के पिता का नाम करसनजी तिवारी तथा आजीविका के रूप में उनका साहूकार, जमेदार (वहीवटदार) आदि होना भली भाँति सिद्ध होता है।

दयानन्द सरस्वती की जन्मतिथि का निर्धारण—

दयानन्द सरस्वती की जन्मतिथि क्या थी ? स्वयं दयानन्द ने न तो पूना-प्रवचन में, न ही थियोसोफिस्ट में इस बात का संकेत दिया कि उनका धरा-धाम पर अवतरण किस मास, तिथि अथवा दिन को हुआ। मात्र उन्होंने अपने जन्मसंवत् का उल्लेख किया है जो १८८१ विक्रमाब्द है। जीवनचरित लेखकों के समक्ष जन्मतिथि के निर्धारण की ज्वलन्त समस्या यथावत् रही। पं. लेखराम ने स्वामी दयानन्द की जन्मतिथि का अनुमान करते हुए लिखा—"सं. १९०३ में उनकी अवस्था का २२ वाँ वर्ष प्रारम्भ हो गया था। अतः उनका जन्म सम्भवतः सं. १८८१ की समाप्ति पर हुआ था। अर्थात् उसका एकाध मास अथवा कुछ दिन शेष रहे होंगे। यह निश्चित होता है कि माघ मास अथवा फाल्गुन मास में उनका जन्म हुआ था।"[३१]

दयानन्ददिग्विजय महाकाव्य के लेखक अखिलानन्द शर्मा ने भाद्रपद शुक्ला नवमी बृहस्पतिवार १८८१ वि. को स्वामी जी की जन्मतिथि माना है।[३२] यह पता नहीं लगा कि शर्माजी द्वारा निर्दिष्ट तिथि का क्या आधार है ? परन्तु जन्मतिथिविषयक कतिपय अन्य उल्लेख उक्त तिथि की पुष्टि अवश्य करते हैं। दयानन्द सरस्वती के जीवनविषयक अनेक गवेषणा कार्यों के सूत्रधार स्व. मामराजसिंह ने आर्यसमाज गणेशगंज लखनऊ में विद्यमान पं. केशवराम विष्णुराम पण्ड्या लिखित स्वामी दयानन्द की जीवनी की एक पाण्डुलिपि को २७ मार्च १९२७ ई. को पढ़ा। इसमें स्वामीजी की जन्मतिथि भाद्रपद शुक्ला नवमी गुरुवार ही अंकित है।[३३] राजकोट निवासी स्व. पं. श्रीकृष्ण शर्मा आर्य मिशनरी ने भी स्वामी दयानन्द के जीवन के प्रारम्भिक भाग की महत्त्वपूर्ण खोज की थी। उन्होंने अपनी पुस्तक 'महर्षि दयानन्द सरस्वती का वंश परिचय' में १८८१ के भाद्रपद शुक्ल पक्ष की नवमी तिथि को ही स्वामीजी की जन्म-तिथि माना है, परन्तु उनकी गणना के अनुसार इस तिथि को गुरुवार न होकर बुधवार था।[३४] उस दिन ख्रीष्टाब्द १८२४ की २० वीं सितम्बर थी।[३५] शर्माजी के अनुसार इस जन्मतिथि का आधार स्वामी दयानन्द की प्राप्त हुई जन्म-कुण्डली है, परन्तु उन्होंने यह नहीं बताया कि यह कुण्डली उन्हें कहाँ से प्राप्त हुई ? हाँ, जन्म-कुण्डली में दी गई जन्मतिथि की बम्बई के प्रसिद्ध दैनिक 'जन्मभूमि' के ज्योतिष विभाग के सहयोग से १८८१ का पञ्चांग देखकर तिथि, मास, दिन, नक्षत्र, राशि आदि की पुष्टि कर ली गई थी। यह ज्ञातव्य है कि इस उल्लेख के अनुसार दयानन्द का जन्म मूल नक्षत्र तथा धनु राशि में प्रातः ३ बज कर ३० मिनट पर हुआ था।

पं. श्रीकृष्ण शर्मा जन्मकुण्डली पर आधारित जन्मतिथि का उल्लेख करके ही संतुष्ट नहीं हुए। उन्होंने स्वामीजी के जन्म से लेकर गृहत्याग कर सिद्धपुर पहुंचने तक की घटनाओं का पूर्वापर विवेचन कर उक्त तिथि को सत्य सिद्ध किया है। अपनी धारणा के समर्थन के रूप में उन्होंने एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह भी लिखी है कि मौरवी नगर के सेठ सुन्दरजी शिवजी के पुराने कागजों में यह लिखा मिलता है कि १८८१ वि. भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी को उनकी तरफ से टंकारा महाल के वहीवटदार (राजस्व अधिकारी) के घर पुत्र जन्म के उपलक्ष्य में भेंट स्वरूप (सौगात-झबला के रूप में) ११६ रु. का सामान भेजा गया। शर्मा जी के विचारानुसार भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी को दयानन्द के जन्म का छठा दिन था जो छठी के रूप में प्रायः हिन्दू परिवारों में मनाया जाता है।

जन्मतिथि के सम्बन्ध में कुछ अन्य मत भी प्रस्तुत किये गये हैं—दीवान बहादुर हरविलास सारडा ने स्व-रचित ग्रन्थ 'लाइफ आफ दयानन्द सरस्वती' की भूमिका की पाद-टिप्पणी में स्वामीजी की जन्मतिथि आश्विन कृष्णा सप्तमी १८८१ बुधवार तदनुसार १५ सितम्बर १८२४ ई. बताई है परन्तु इस तिथि का आधार क्या है, यह वे नहीं बता सके। मेरठ निवासी श्री जैसीराम ने यही तिथि पं. भगवद्दत्त को भी बताई थी। अखिल भारतीय आर्य सभा पीली-भीत के मंत्री श्री इन्द्रदेव ने 'ऋषि दयानन्द की जन्मतिथि' शीर्षक पुस्तक में जन्मतिथि फाल्गुन कृष्णा द्वितीया १८८१ वि. तदनुसार १९ फरवरी १८२५ ई. निश्चित की है।[३६] उनके अनुसार स्वामीजी मूल नक्षत्र में नहीं, बल्कि पूर्वा भाद्रपद नक्षत्र में जन्मे थे। वे उनका मूल नाम 'दयाराम' मानते हैं। श्री इन्द्रदेव के मत से मिलती जुलती धारणा कोटा निवासी स्व. भीमसेन शास्त्री ने भी व्यक्त की थी। उन्होंने स्वामीजी के स्वकथित जीवन चरित में निर्दिष्ट शैशवकालीन घटनाओं के पौर्वापर्य तथा तत् तत् घटना के समय उनके आयुविषयक निर्देशों का ऊहापोह करने के पश्चात् यह निश्चय किया था कि फाल्गुन कृष्णा दशमी (दाक्षिणात्यों के अनुसार माघ कृ. दशमी) शनिवार मूल नक्षत्र–तदनुसार १२ फरवरी १८२५ ई. स्वामीजी की जन्मतिथि है।

यहाँ हमने जन्मतिथिविषयक विभिन्न धारणाओं को प्रस्तुत किया है। यद्यपि पं. भीमसेन शास्त्री द्वारा निर्धारित तिथि को आर्यसमाज के सर्वोच्च संगठन सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के अन्तर्गत गठित धार्मिक विषयों पर अन्तिम सम्मति देने वाली धर्मार्य सभा ने अपनी २९ अप्रैल १९५६ की बैठक में स्वीकार कर लिया था[३७] तथापि इसकी पुष्टि में कोई लिखित ऐतिहासिक प्रमाण अद्यापि उपलब्ध नहीं हो सका है। हाँ, यह अवश्य है कि तर्क और अनुमान के आधार पर सत्य के निकट पहुंचने का यह एक ईमानदारी पूर्ण प्रयास है। उधर पं. अखिलानन्द शर्मा ने भाद्रपद शुक्ला नवमी को जो जन्म-दिन माना है, उसका क्या आधार था, यह स्पष्ट नहीं है। सम्भव है कि अखिलानन्द शर्मा के पिता पं. टीकाराम को स्वयं स्वामीजी ने यह तिथि बताई हो। यह भी एक विचित्र संयोग ही है कि इसी तिथि का निर्देश पं. केशवराम पण्ड्या लिखित स्वामीजी की उस जीवनी में भी हुआ है जो पाण्डुलिपि रूप में ही विद्यमान रही। यहाँ यह स्मरणीय है कि पण्ड्या जी भी स्वामीजी के समकालीन थे तथा उनके सम्पर्क में आये थे। यदि यही तिथि स्वामीजी ने पण्ड्या जी को भी बताई हो, तो उसके सत्य होने में कोई शंका नहीं रहनी चाहिए। यह खेद की बात है कि धर्मार्यसभा के धर्माधिकारी ने पं. अखिलानन्द शर्मा निर्दिष्ट तिथि को कवि की कल्पना कह कर ही समाप्त

करना चाहा है, जब कि आवश्यकता इस बात की थी कि उस मूल स्रोत का पता लगाया जाता, जिसके आधार पर यह मत प्रचलित हुआ, और विभिन्न ग्रन्थकारों ने उसे उद्धृत किया।

निष्कर्षतः स्वामी दयानन्द की जन्मतिथि के विषय में कुछ भी अन्तिम रूप में कहना कठिन ही है। यह तो निश्चित है कि उनका जन्म विक्रमाब्द १८८१ में हुआ। खीष्टाब्द १८२४ तथा १८२५ के जो द्विविध उल्लेख उनके विभिन्न जीवनचरितों में मिलते हैं, उसका भी कारण उपर्युक्त फाल्गुन तथा भाद्रपद आश्रित दो विभिन्न तिथियों की उपस्थिति ही है। परन्तु स्वामी दयानन्द के प्राचीन जीवनचरितों में अधिक उल्लेख १८२४ ई. का ही उपलब्ध होता है। इस आधार पर भाद्रपद शुक्ला ९, गुरुवार १८८१ ई. को स्वामी दयानन्द की जन्मतिथि मानना अधिक उपयुक्त है। पं. अखिलानन्द शर्मा तथा पं. श्रीकृष्ण शर्मा के उल्लेख इस तिथि को मान्यता देते हैं। पं केशवराम पण्ड्या ने भी इसी तिथि को स्वामीजी का जन्म-दिन माना है। निश्चय ही इन प्रमाणों के उपस्थित रहते भाद्रपद शुक्ला नवमी वाला पक्ष अधिक प्रबल दीख पड़ता है।

पूर्वाश्रम का नाम—

दयानन्द सरस्वती के पूर्वाश्रम का नाम क्या था, इस प्रश्न का उत्तर विभिन्न प्रकार से दिया गया है। स्वामी दयानन्द के शिष्य और उनके ग्रन्थों के लिपिकर्ता पं. ज्वालादत्त शर्मा ने एक श्लोक लिखा था जिसमें उनके जन्म संवत् तथा जन्म काल के नक्षत्र के आधार पर उनके आद्य नाम 'मूलशंकर' का संकेत था। प्रासंगिक श्लोक इस प्रकार है—

क्षोणी भाहीन्दुभिरभियुते वैक्रमे वत्सरे यः।
प्रादुर्भूतो द्विजकुले दक्षिणे देशवर्ये।
मूलेनासौ जननविषये शंकरेण परेण
ख्यातिं प्रापत् प्रथमवयसि प्रीतिदां सज्जनानाम्॥[३८]

अर्थात् स्वामी दयानन्द सरस्वती उत्तम देश दक्षिण में श्रेष्ठ ब्राह्मण कुल में सं. १८८१ वि. में प्रादुर्भूत हुए। उन्होंने जन्मकालिक नक्षत्र के कारण बाल्यावस्था में मूलशंकर नाम पाया जो सत्पुरुषों के लिये अतीव हर्षप्रद है।

पं. लेखराम ने भी इस बात की पुष्टि की है तथा स्वामी जी का आद्य नाम मूलशंकर बताया है। उनके द्वारा रचित जीवनचरित में लिखा है—"पं ज्वालादत्त कान्यकुब्ज, और मिस्टर रामदास छबीलदास बैरिस्टर–एट ला बम्बई और कई अन्य सज्जनों जैसे कि ठाकुर मुकुन्दसिंह साहिब रईस छलेसर के द्वारा विदित हुआ कि स्वामीजी का जन्म नाम मूलशंकर था। १८७६ के अन्त में देहली में जो शाही दरबार हुआ था उसमें काठियावाड़ के कुछ रईस भी पधारे थे, उन्होंने स्वामी जी को 'मूलशंकर' नाम से पुकारा था, जिन्हें स्वामीजी ने अलग ले जाकर ऐसा करने से रोक दिया था।"[३९]

देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने स्वरचित दयानन्द चरित में मूलशंकर नाम को ही दयानन्द का प्रथम नाम स्वीकार किया था। वे लिखते हैं—"कई लोग कहते हैं कि दयानन्द का पहला नाम मूलशंकर था। ऐसी उक्ति के निर्मूल होने का कोई कारण नहीं है। अधिकतर इस कारण

से कि दयानन्द के पिता जैसे शिव परायण थे और उनकी शंकर निष्ठा और शंकर प्रियता जैसी प्रबला थी, इसलिये यह कुछ भी असम्भव नहीं है कि वह अपने पुत्र का शंकर वा शंकर संसृष्ट कोई नाम रखते।"[४०]

आश्चर्य की बात यह है कि अपने प्रथम ग्रन्थ दयानन्दचरित को लिखते समय जिन देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने स्वामीजी का आद्य नाम मूलशंकर स्वीकार कर लिया था, वे ही कालान्तर में पं. लेखराम द्वारा इस नाम के समर्थन में प्रस्तुत किये गये प्रमाणों और साक्षियों का खंडन करने के लिये तत्पर हुए। वैदिक मैगजीन में प्रकाशित अपने लेख "The Birth place and Parentage of Swami Dayanand : Some Current Misconceptions." में उन्होंने बलपूर्वक सिद्ध किया है कि न तो बैरिस्टर रामदास छबीलदास ने और न काठियावाड़ के राजाओं ने ही दयानन्द सरस्वती को मूलशंकर नाम से अभिहित किया था। विचित्र बात यह है कि मुखोपाध्याय महाशय पं. लेखराम के मत का खण्डन तो करते हैं परन्तु स्वयं इस लेख में यह नहीं बताते कि स्वामी जी का आद्य नाम क्या था ?

कालान्तर में जब स्वयं देवेन्द्रनाथ ने विभिन्न व्यक्तियों से सम्पर्क कर स्वामीजी के आद्य नाम की जानकारी प्राप्त की, तो उन्हें यही बताया गया कि स्वामीजी का नाम मूल जी अथवा मूलशंकर ही था। इसी आधार पर देवेन्द्र बाबू ने स्वामी दयानन्द के जीवनचरित का परिवर्द्धित संस्करण तैयार करते समय उन्हें इसी नाम से अभिहित किया है। परन्तु जानकारी देने वालों ने यह भी बताया कि मूलजी अथवा मूलशंकर का एक अन्य नाम 'दयाराम' भी था। राजकोट निवासी प्राणलाल विश्वनाथ शुक्ल ने इस सम्बन्ध में मुखोपाध्याय महाशय को लिखा था—"उनका नाम मूलशंकर तथा दयाराम भी था। क्योंकि गुजरात में यह प्रथा है कि लड़का अथवा लड़की को मुख्य नाम से भिन्न एक अन्य नाम से भी पुकारते हैं।"[४१]

टंकारा निवासी एक अन्य सज्जन देवचंद भगवानजी ने भी देवेन्द्र बाबू को बताया कि करसन जी के पुत्र का नाम दयाराम था। कई लोग उन्हें दयाल जी भी कहते थे। दयाराम के घर छोड़ने की बात रोहीशाला ग्रामवासी प्रभुराम आचार्य ने देवेन्द्रनाथ को बताई थी। इन प्रमाणों के आधार पर यह तो स्पष्ट हो जाता है कि दयानन्द का पितृदत्त नाम मूलजी था, परन्तु लाड प्यार वश उन्हें परिजन दयाराम अथवा दयालजी नाम से भी पुकारते थे। मुखोपाध्याय महाशय ने एतद् विषयक विवेचन करते हुए एक बात और लिख दी है, जिससे 'दयाराम' नाम को ही प्राथमिकता मिलती है। उनके अनुसार "संन्यास ग्रहण करते समय जो उन्होंने दयानन्द नाम रक्खा इसका कारण भी यही होगा कि उनका बाल्यकाल का नाम दयाराम था। अब भी हम देखते हैं कि जो लोग गृहस्थ त्याग कर संन्यास धारण करते हैं वह अपना संन्यास आश्रम का नाम बहुधा गृहस्थाश्रम के नाम से मिलता जुलता रखते हैं।" इस प्रकार देवेन्द्र बाबू की सम्मति में "उनका पूर्व नाम दयाराम ही होगा दूसरा प्यार का नाम सम्भव है मूलजी वा मूलशंकर ही हो।"[४२]

दयानन्द जन्म-शताब्दी-सभा के मंत्री विजयशंकर मूलशंकर ने मुख्य और गौण नाम की समस्या को इस प्रकार सुलझाया है—"अब प्रश्न इतना ही रह जाता है कि उनका मुख्य नाम दयाराम था या मूलशंकर। सामान्यतः पिता इत्यादि अपने बालक को उपनाम

ही अधिक रूपेण सम्बोधित करते हैं। अतः हमें यह बात प्रतीत होती है कि उपर्युक्त प्राणलाल शुक्ल प्रभृति जो ऋषि दयानन्द का मूल नाम दयाराम बताते हैं उसे उपनाम ही मानना चाहिए। विजयशंकर का यह कथन भी सारयुक्त है कि "प्रायः यह देखा जाता है कि माता-पिता अपने पुत्रों के नामों में अन्त्याक्षरों की समता या अनुप्रास रखते हैं। इसलिये भी हमें ऋषि दयानन्द का मूल नाम मूलजी (तुलनीय—करसनजी, वल्लभजी, लालजी आदि की भांति) अथवा मूलशंकर मानना ही अधिक सप्रमाण मालूम पड़ता है।"[४३]

माता का नाम—

दयानन्द सरस्वती की माता के नाम के सम्बन्ध में प्रारम्भिक जीवनीकार मौन हैं। न तो पं. लेखराम और न ही देवेन्द्रनाथ ने स्वामीजी की माता के नाम के विषय में कोई सूचना दी है। देवेन्द्र बाबू ने तो यही लिख कर सन्तोष किया है कि "मूलजी की जननी के सम्बन्ध में हम कुछ नहीं जानते इसलिये उसकी प्रकृति का चित्र खींचने में हम असमर्थ हैं।"[४४] जब कोई वास्तविक प्रमाण माता के नाम का उपलब्ध नहीं हुआ तो कल्पना शक्ति ने अपने जौहर दिखाये। कविरत्न मेधाव्रताचार्य ने स्वरचित दयानन्द दिग्विजय में स्वामीजी की माता का नाम रुक्मिणी देवी लिखा,[४५] सम्भवतः इसीलिये कि जब द्वापर के भगवान् कृष्ण की पत्नी रुक्मिणी थीं तो सौराष्ट्र के करसनजी (शुद्ध नाम कृष्णजी) की पत्नी भी रुक्मिणी क्यों न हो? स्वामी स्वतंत्रानन्द जी के अनुसार माता का नाम यशोदा था।[४६] परन्तु श्रीकृष्ण शर्मा ने दयानन्द की माता का नाम अमृत बेन अथवा अमू बा बताया है।[४७] शर्माजी के अनुसार ये भुज के एक पुजारी भीमजी की पुत्री थीं, जो कालान्तर में मौरवी शहर में आकर रहने लगे थे। श्रीकृष्ण शर्मा ने माता के नाम का निश्चय स्वामीजी के बालसखा १०३ वर्षीय इब्राहीम तथा स्वामीजी की बहिन प्रेम बा के प्रपौत्र पोपट रावल की साक्षी से किया था।

इसी पक्ष की पुष्टि श्रीकर्मवीर वानप्रस्थ (पूर्वाश्रम के श्यामजी कल्याणजी राठौड़) द्वारा इन पंक्तियों के लेखक को बताई गई बातों के आधार पर भी होती है। श्री वानप्रस्थ द्वारा दी गई जानकारी को स्वामी वेदानन्द वेदवागीश ने आर्यमर्यादा[४८] तथा सुधारक[४९] नामक पत्रों में "महर्षि दयानन्द जी के सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य बातें" शीर्षक से प्रकाशित किया है।

अब तक हमने दयानन्द सरस्वती के जीवन के सम्बन्ध में जिन बातों का विवेचन किया है वे विवादास्पद तथा अज्ञानाच्छन्न रहने के कारण ही विभिन्न लेखकों तथा गवेषकों द्वारा भिन्न-भिन्न रूप में प्रस्तुत की गई हैं। तथापि सम्पूर्ण प्राप्त सामग्री तथा विवेचित गवेषणाओं के आधार पर हम निम्न निष्कर्षों पर पहुंच सकते हैं—

१. स्वामी दयानन्द औदीच्य कुलोत्पन्न ब्राह्मण थे।
२. मौरवी राज्यान्तर्गत (सम्प्रति राजकोट जिला) टंकारा उनकी जन्मभूमि थी।
३. उनके पिता का नाम करसनजी लालजी तिवारी था।
४. उनका जन्म भाद्रपद कृष्णा नवमी १८८१ वि. को हुआ।

५. उनका बचपन का नाम मूलजी तथा दयाराम था।

६. उनकी माता का नाम अमृत बेन (अमू बा) था।

विवादास्पद बातों का निर्णय हो जाने के पश्चात् दयानन्द की बाल्यकालीन जीवन घटनाओं का निरूपण अधिक सरल हो जाता है। इस कार्य में हमें उनके स्वकथित और स्वलिखित जीवनचरित से भी प्रचुर सहायता मिलती है।

प्रारम्भिक शिक्षा—

थियोसोफिस्ट के लिये लिखे गये स्ववृत्तान्त में स्वामीजी लिखते हैं—"मैंने पांचवें वर्ष (१८८६ वि.) में देवनागरी अक्षर पढ़ने का आरम्भ किया था और मुझको कुल की रीति की शिक्षा भी माता पिता आदि किया करते थे। बहुत से धर्म शास्त्रादि के श्लोक और सूत्रादिक भी कण्ठस्थ कराया करते थे। फिर आठवें वर्ष (१८८९ वि.) मेरा यज्ञोपवीत कराके गायत्री, संध्या और उसकी क्रिया भी सिखा दी गई थी और मुझको यजुर्वेद की संहिता का आरम्भ कराके उसमें से प्रथम रुद्राध्याय पढ़ाया गया था। और मेरे कुल में शैव मत था। उसी की शिक्षा भी किया करते थे। और पिता आदि लोग यह भी कहा करते थे कि पार्थिव पूजन अर्थात् मिट्टी का लिंग बना के तू पूजा कर और माता मने किया करती थी कि यह प्रातःकाल भोजन कर लेता है इससे पूजा नहीं हो सकेगी। पिताजी हठ किया करते थे कि पूजा अवश्य करनी चाहिए क्योंकि कुल की रीति है। तथा कुछ कुछ व्याकरण का विषय और वेद का पाठ मात्र भी मुझको पढ़ाया करते थे। पिताजी अपने साथ मुझको जहाँ तहाँ मंदिर और मेल मिलापों में ले जाया करते और यह भी कहा करते थे कि शिव की उपासना सबसे श्रेष्ठ है। इस प्रकार चौदहवें वर्ष की अवस्था के आरम्भ तक यजुर्वेद की संहिता सम्पूर्ण और कुछ अन्य वेदों का भी पाठ पूरा हो गया था। और शब्दरूपावली आदि छोटे छोटे व्याकरण के ग्रन्थ भी पूरे हो गये थे। पिताजी जहाँ जहाँ शिवपुराण आदि की कथा होती थी वहाँ वहाँ मुझको पास बैठाकर सुनाया करते थे।"[५०]

उपर्युक्त उद्धरण से दयानन्द के पिता एवं माता के स्वभाव एवं प्रकृति के विषय में भी अनुमान किया जा सकता है। शिवभक्ति में अनन्य अनुरक्ति रखने वाले करसनजी के लिये पुत्र को भी दृढ़ शैव बनाना तथा शिवनिष्ठा के व्रत में दीक्षित करना स्वाभाविक ही था। वे अपने इहलौकिक कर्त्तव्यपालन में जितने सजग, कर्मनिष्ठ तथा तत्पर थे, उतने ही अपनी धार्मिक आस्थाओं का स्वयं पालन करने तथा परिजनों से पालन करवाने के लिये भी उत्सुक रहते थे। इसके विपरीत माता का हृदय वात्सल्य रस से आप्लावित था। पिता के कठोर धार्मिक अनुशासन से पुत्र को बचाना तथा व्रत, उपवास आदि के कायिक क्लेशों से वत्सल सन्तान की रक्षा करना उसके मातृस्वभाव के अनुकूल ही था।

आत्मवृत्तान्त में कही गई शिक्षाविषयक बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि बालक मूलशंकर को वही शिक्षा अपने शैशवकाल में मिली जो किसी धर्मप्रवण ब्राह्मण सन्तान के लिये उपयुक्त मानी जाती है। शिवोपासना में तत्पर करसनजी ने यजुर्वेद का वही अंश पुत्र को कण्ठस्थ कराया जिसमें उनके अनुसार कैलासवासी आशुतोष भगवान् शंकर का वर्णन है। रुद्राध्याय के नाम से प्रसिद्ध यजुर्वेद संहिता का यह भाग आज भी शैव सम्प्रदाय की आस्थाओं

और कर्मकाण्डों का आधार बना हुआ है। संध्या, गायत्री और धर्मग्रन्थों के सर्वोपयोगी श्लोकों को कण्ठस्थ कराना भी तत्कालीन संस्कृत शिक्षणप्रणाली का एक अनिवार्य अंग ही माना जायगा। शब्दरूपावली आदि व्याकरण के प्रारम्भिक ग्रन्थों का अध्ययन संस्कृत के गम्भीर शिक्षण का प्रवेशद्वार कहा जा सकता है। निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि पिता की प्रवृत्ति अपने पुत्र को सम्प्रदायनिष्ठ, धर्मभीरु, कर्मकाण्डप्रवण एक आदर्श ब्राह्मण के रूप में बनाने की थी। शिवपुराणोक्त कथाओं को सुनाना भी इसी अभिप्राय की सिद्धि के लिये था।

परन्तु शीघ्र ही किशोरवय प्राप्त मूलशंकर के जीवन में एक अद्‌भुत घटना घटी, जिसने न केवल उसकी मानसिक दशा में ही परिवर्तन किया, अपितु वह उसके भावी कार्यक्रम की रूपरेखा को भी सुनिश्चित कर सकी। हमारा अभिप्राय शिवरात्रि के पर्व पर शिवप्रतिमा की चूहे द्वारा की गई अवज्ञा की प्रसिद्ध घटना से है। निश्चय ही साधारण प्रतीत होने वाली यह घटना मूलशंकर के जीवन को असाधारण मोड़ देने में सफल हुई। महापुरुषों के जीवन की घटनाओं का सूक्ष्म निरीक्षण करने से विदित होता है कि उनके जीवनप्रवाह में आने वाली अनेक सामान्य घटनायें भी यदा कदा असाधारण परिवर्तन लाने में समर्थ हुई हैं।

शिवरात्रि की यह घटना इस दृष्टि से नितान्त साधारण होने पर भी भारत के धार्मिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक जगत् में महती क्रान्ति का सूत्रपात करती प्रतीत होती है। तो आइये, इस घटना का वर्णन हम स्वयं दयानन्द सरस्वती की लेखनी से ही सुनें जो उन्होंने थियोसोफिस्ट को भेजे गये आत्मवृत्त में प्रस्तुत किया था—"जब शिवरात्रि आई तब त्रयोदशी के दिन कथा का माहात्म्य सुना के शिवरात्रि के व्रत करने का निश्चय करा दिया। परन्तु माता ने मने भी किया था कि इससे व्रत नहीं रहा जायगा। तथापि पिताजी ने व्रत का आरम्भ करा दिया। और जब चतुर्दशी की शाम हुई तब बड़े बड़े बस्ती के रईस अपने पुत्रों के सहित मंदिरों में जागरण करने को गये। वहाँ मैं भी अपने पिता के साथ गया और प्रथम प्रहर की पूजा भी करी। दूसरे प्रहर की पूजा करके पूजारि लोग बाहर निकल के सो गये। मैंने प्रथम से सुन रक्खा था कि सोने से शिवरात्रि का फल प्राप्त नहीं होता है। इसलिये अपनी आंखों में जल के छींटे मारके जागता रहा। और पिता भी सो गये तब मुझको शंका हुई कि जिसकी मैंने कथा सुनी थी वही यह महादेव है वा अन्य कोई। क्योंकि वह तो मनुष्य के माफिक एक देवता है। वह बैल पर चढ़ता, चलता फिरता, खाता पीता, त्रिशूल हाथ में रखता, डमरू बजाता, वर और शाप देता और कैलाश का मालिक है इत्यादि प्रकार का महादेव कथा में सुना था, तब पिताजी को जगा के मैंने पूछा कि यह कथा का महादेव है वा कोई दूसरा, तब पिता ने कहा कि क्यों पूछता है? तब मैंने कहा कि कथा का महादेव तो चेतन है वह अपने ऊपर चूहों को क्यों चढ़ने देगा। और इसके ऊपर तो चूहे फिरते हैं। तब पिताजी ने कहा कि कैलाश पर जो महादेव रहते हैं उनकी मूर्ति बना और आवाहन करके पूजा किया करते हैं। अब कलियुग में उस शिव का साक्षात् दर्शन नहीं होता। इसलिये पाषाणादि की मूर्ति बना के उन महादेव की भावना रख कर पूजन करने से कैलाश का महादेव प्रसन्न हो जाता है। ऐसा सुन के मेरे मन में भ्रम हो गया कि इसमें कुछ गड़बड़ अवश्य है। और भूख भी बहुत लग रही थी। पिता से पूछा कि मैं घर को जाता हूँ। तब उन्होंने कहा कि सिपाही

को साथ लेके चला जा परन्तु भोजन कदाचित् मत करना। मैंने घर में जाकर माता से कहा कि मुझको भूख लगी है। माता ने कुछ मिठाई आदि दिया, उसको खाकर एक बजे पर सो गया। पिताजी प्रातःकाल रात्रि के भोजन को सुनके बहुत गुस्से हुए कि तैंने बहुत बुरा काम किया। तब मैंने पिता से कहा कि यह कथा का महादेव नहीं है इसकी पूजा मैं क्यों करूं।"[५१]

लगभग ऐसा ही विवरण पूना प्रवचन में संगृहीत आत्मकथन में भी दिया है। शिवरात्रि पर घटित मूषक वाली घटना से बालक मूलशंकर के मन की दृढ़ता सूचित होती है। जब एक बार उसके मन में मूर्तिपूजा की निस्सारता और पाषाण निर्मित देवताओं की अवास्तविकता का भाव जागृत हुआ तो उसने एक क्षण की भी प्रतीक्षा किये बिना शिवरात्रि के जागरण को तिलांजलि देकर घर लौटने का निश्चय कर लिया। और घर आकर ही उसने चैन लिया हो, ऐसा नहीं। पर्व के दिन किये जाने वाले व्रत के व्यर्थ होने का भी उसे निश्चय हो गया तो तुरन्त माता से कुछ मिठाई खाकर व्रत तोड़ने में भी उसने कोई संकोच नहीं किया। इसके लिये चाहे उसे अपने पिता का आक्रोश ही क्यों न सहन करना पड़ा, परन्तु अपने निश्चय पर वह अडिग रहा। विचारों की यह दृढ़ता मूलशंकर के चरित्र की एक ऐसी विशेषता रही है, जिसके कारण वे आजीवन अपनी आस्थाओं और मान्यताओं पर चट्टान की भांति दृढ़ और अविचल रहे। निंदा अथवा स्तुति, हानि अथवा लाभ कोई भी बाह्य प्रलोभन उसे विचलित नहीं कर सका।

अब एक कठिनाई और उत्पन्न हुई। जब शिव के प्रति मूलशंकर की आस्था ही डांवाडोल हो गई, तो उस सम्प्रदाय के बाह्याचारों—यथा पार्थिवपूजन, शिवकथाश्रवण, शैवव्रतोपवास आदि का पालन उसके लिये कैसे सम्भव हो सकता था? इधर अध्ययन की तीव्र लालसा भी उन्हें साम्प्रदायिक कर्मकाण्ड से विरक्त कर रही थी। अध्ययन में जुट जाने की तीव्र लालसा तो थी ही। माता और चाचा ने भी पिता को समझाया कि बालक को अभी अध्ययन ही करना चाहिए। इस अवस्था में मूलशंकर ने निघण्टु, निरुक्त और पूर्व-मीमांसा आदि शास्त्रों को पढ़ने की इच्छा व्यक्त की। उन्होंने कुछ कर्मकाण्ड विषयक ग्रन्थ भी पढ़े।

शास्त्रीय अध्ययन का यह उपक्रम हुआ ही था कि मानवजीवन की क्षणभंगुरता, संसार की नश्वरता और मृत्यु की शाश्वत विभीषिका मूलशंकर के समक्ष यकायक उपस्थित हो गई। हमने देखा है कि विगतकाल में भी शाक्यवंशोत्पन्न राजकुमार सिद्धार्थ का एक रोगी, एक मृतक तथा एक जराजीर्ण व्यक्ति को देखना किस प्रकार उसके राजसी जीवन को त्याग कर वैराग्य धारण करने का कारण बना था। क्या अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व घटी यही घटना पुनः दोहराई नहीं जा रही थी? बालक मूलशंकर ने मृत्यु की भंयकर अनिवार्यता को इतने निकट से कब देखा था? उसने मृत्यु के समक्ष मानवता की विवशता को इतनी तीव्रता से कब अनुभव किया था? जन्म लेने के साथ ही मृत्यु मनुष्य की केशराशि को पकड़ लेती है, किन्तु हम उस सुनिश्चित घटना का विचार किये बिना ही अपने जीवन को वासना पंकिल तथा दुष्कर्मों से परिपूर्ण बनाते रहते हैं। क्या मानव की यही नियति है कि वह कोल्हू के बैल की भांति जन्म और मृत्यु के अनिवार्य चक्र में आंख मूंद का चक्कर लगाता रहे? क्या एक क्षण के लिये भी इस शाश्वत चक्र से मुक्त होने की कामना उसके मन में नहीं आयेगी?

सामान्य मानव के लिये रोग, शोक, जरा और मृत्यु चाहे किसी भी प्रकार की उत्तेजना प्रदान न करते हों, किन्तु मनस्वी और दार्शनिक प्रकृति के पुरुषों के लिये ये घटनायें सदा ही असाधारणता लेकर आई हैं और उनके जीवन को एक निर्णायक मोड़ देने में कारण बनी हैं। मूलशंकर के जीवन में भी सहोदरा भगिनी और चाचा की मृत्यु इसी प्रकार के मानस मंथन का हेतु बन कर आई। स्वयं उन्हीं के शब्दों में—"तब तक मेरी सोलह वर्ष की अवस्था हुई थी। पीछे मुझ से छोटी चौदह वर्ष की जो बहन थी उसको हैजा हुआ। एक रात्रि में कि जिस समय नाच हो रहा था। नौकर ने खबर दी कि उसको हैजा हुआ है। तब सब जने वहाँ से तत्काल आये और वैद्य आदि बुलाये। औषधि भी की तथापि चार घण्टे में उस बहन का शरीर छूट गया। सब लोग रोने लगे परन्तु मेरे हृदय में ऐसा धक्का लगा और भय हुआ कि ऐसे ही मैं भी मर जाऊंगा। शोच विचार में पड़ गया। जितने जीव संसार में हैं उनमें से एक भी न बचेगा। इससे कुछ ऐसा उपाय करना चाहिए कि जिससे यह दुःख छूटे और मुक्ति हो। अर्थात् इसी समय से मेरे चित्त में वैराग्य की जड़ पड़ गई। परन्तु यह विचार अपने मन में ही रक्खा। किसी से कुछ भी न कहा। इतने में १९ वर्ष की जब अवस्था हुई तब जो मुझसे अति प्रेम करने वाले बड़े धर्मात्मा विद्वान् मेरे चाचा थे उनकी मृत्यु होने से अत्यन्त वैराग्य हुआ कि संसार में कुछ भी नहीं।"[५२]

ऐसा प्रतीत होता है कि मूलशंकर ने अपने मन और मस्तिष्क को उद्वेलित करने वाले वैराग्यादि के इन तीव्र भावों को यद्यपि अपने परिजनों के समक्ष व्यक्त नहीं किया, तथापि किसी न किसी प्रकार उनकी मनोदशा का परिज्ञान पिता को हो ही गया। भारतीय हिन्दू जीवन पद्धति में गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्व को सर्वोपरि माना गया है। सामान्य गृहस्थ की अभिलाषा रहती है कि उसका पुत्र भी यथासम्भव शीघ्र गृहस्थ का उत्तरदायित्व वहन करने योग्य हो जाय। जब मूलशंकर के माता पिता भी उसके विवाह की तैयारियाँ करने लगे तो निश्चय ही इस चिन्तनशील युवक के सम्मुख एक बड़ा धर्मसंकट उपस्थित हुआ। न तो वह प्रत्यक्षतः माता पिता के प्रस्ताव का विरोध करने की स्थिति में ही था और न उसके वैराग्योन्मुख मन में गृहस्थी बन कर सामान्य संसारी व्यक्ति की भांति जीवन यापन करने का कोई उत्साह ही था। ऐसी दशा में मूलशंकर ने अपने विश्वसनीय मित्रों के द्वारा माता पिता को कहलाकर वैवाहिक प्रसंग को एक वर्ष के लिये रुकवा दिया। इस समय वे आयु के २१वें वर्ष में प्रवेश कर चुके थे।

आगे के प्रसंग को स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा में इस प्रकार व्यक्त किया है—"तब मैंने पिताजी से कहा कि मुझे काशी में भेज दीजिये कि मैं व्याकरण, ज्योतिष और वैद्यक आदि ग्रन्थ पढ़ आऊं। तब माता पिता और सब कुटुम्ब के लोगों ने कहा कि हम काशी को कभी न भेजेंगे। जो कुछ पढ़ना हो सो यहीं पढ़ो। अगली साल में तेरा विवाह भी होगा क्योंकि लड़की वाला नहीं मानता। और हमको अधिक पढ़ा के क्या करना है? जितना पढ़ा है, वही बहुत है। फिर मैंने पिता आदि से कहा कि मैं पढ़कर आऊं तब विवाह होना ठीक है, तब माता भी विपरीत हो गई कि हम कहीं नहीं भेजेंगे और अभी विवाह करेंगे।"[५३]

इस विचित्र धर्म संकट से बचने का उपाय स्वयं मूलशंकर ने ही ढूंढ निकाला। वे लिखते हैं—"तब मैंने चाहा कि अब सामने रहना अच्छा नहीं, फिर तीन कोश एक ग्राम

में अपनी जिमींदारी थी, वहाँ एक अच्छा पण्डित था। माता-पिता की आज्ञा लेके वहाँ जाकर उस पण्डित के पास मैं पढ़ने लगा और वहाँ के लोगों से भी कहा कि मैं गृहाश्रम करना नहीं चाहता। फिर माता पिता ने मुझे बुलाके विवाह की तैयारी कर दी। तब तक इक्कीसवां वर्ष भी पूरा हो गया। जब मैंने निश्चित जाना कि अब विवाह किये बिना कदाचित् न छोड़ेंगे। फिर गुपचुप सं. १९०३ के वर्ष में घर छोड़ के संध्या के समय भाग उठा।"[५४]

□□

पाद टिप्पणियाँ

१. गुजरात के नाथ—पृ. १३७
२. पाटन का प्रभुत्व—पूर्वार्द्ध प्रकरण—१
३. पूना प्रवचन (उपदेश मंजरी) भवानीलाल भारतीय द्वारा सम्पादित—पृ. १११ वैदिक यन्त्रालय अजमेर २०३३ वि.
४. यह व्याख्यान ४ अगस्त १८७५ ई. को पुणे में बुधवार पेठ, भिड़े के बाड़े में दिया गया था।
५. पूना प्रवचन पृ. १११
६. महर्षि दयानन्द की आत्मकथा—भवानीलाल भारतीय द्वारा सम्पादित, पृ. १, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर २०३२ वि.
७. यतयः स्वकीयनिबंधेषु स्वदेशकालादिकं प्रायोनैव निरूपितवन्तः—आत्मप्रकाशयति के टीकाकार।
८. गांधार से १००, कुरुक्षेत्र से २७२ तथा कान्यकुब्ज से २०० ब्राह्मण आमंत्रित किये गये थे। रासमाला—ए. के. फारबेस (१८७८ ई. में प्रकाशित नवीन संस्करण)
९. गुजरात में इन्हें 'त्रीवाड़ी' कहा जाता है।
१०. पूना प्रवचन, पृ. १११
११. यह विवाह मूलशंकर के गृहत्याग के एक वर्ष पश्चात् १९०४ वि. में सम्पन्न हुआ था।
१२. दयानन्द जन्मस्थान निर्णय—विजयशंकर मूलशंकर, पृ. २२
१३. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र—लेखराम आर्यमुसाफिर, अनुवादक रघुनन्दनसिंह निर्मल पृ. २२
१४. इस व्यक्ति को पं. लेखराम ने 'काहनजी कोबीरजी' के नाम से अभिहित किया है, जब कि देवेन्द्रनाथ ने इसे 'कुबेरजी कानजी' कहा है। हमें देवेन्द्रनाथ का मत ही मान्य है क्योंकि कुबेरजी का पुत्र अपने को 'प्रेमशंकर कुबेरजी' कहता है। यदि वह कानजी कुबेरजी का पुत्र होता तो गुजरात की प्रचलित परम्परा के अनुसार उसे प्रेमशंकर कानजी कहते, न कि प्रेमशंकर कुबेरजी।
१५. The Birth and Parentage of Swami Dayanand. Published in the Vedic Magazine, Feb. 1916, P. 793

१६. महर्षि दयानन्द की आत्मकथा पृ. १
१७. वही, पृ. २७
१८. पूना प्रवचन, पृ. १११
१९. भारत के स्वतंत्र हो जाने तथा देशी राज्यों के इण्डियन यूनियन में विलय के पश्चात् सौराष्ट्र के ये सभी रजवाड़े गुजरात राज्य के अन्तर्गत हैं।
२०. पं. घासीराम लिखित महर्षि दयानन्द का जीवन चरित, भाग २, परिशिष्ट-१ में उद्धृत।
२१. महर्षि दयानन्द सरस्वती का वंश परिचय—श्रीकृष्ण शर्मा, राजकोट पृ. ६
२२. दयानन्द जन्मस्थान निर्णय—विजयशंकर मूलशंकर, पृ. २१
२३. वही, पृ. २३
२४ द्रष्टव्य—दयानन्द जन्मस्थान निर्णय—विजयशंकर मूलशंकर पृ. ७१-७६
२५. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवनचरित्र पृ. २०
२६. "As far as my information goes, I can say with assurance that there was no brother of Swami Dayannd who became a Sanyasi and took the name—Gobindanand Saraswati." Vedic Magazine. Feb. 1916
२७. दयानन्द जन्मस्थान निर्णय—विजयशंकर मूलशंकर, पृ. ८४
२८. वही, पृ. ९०
२९. वही, पृ. ९०
३०. इस मन्दिर का नाम कुबेरनाथ जी का शिवालय था।
३१. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र पृ. २७
३२. मासि भाद्रपदे पक्षे सितवारे बृहस्पतेः।
नवम्यां मध्यमायाते भास्करेऽपि विहायसः॥
नक्षत्रेति शुभे योगेऽति प्रीतिवर्धने।
चन्द्राष्टवसुराकेश योजनाल्लब्ध भावने॥
विक्रमादित्य नृपतेर्वत्सरे जगतां गुरूः।
निर्गत्य जननी कुक्षेरागतो जगतीतले॥ —दयानन्द दिग्विजय सर्ग २। ३७-३९
३३. टंकारा पत्रिका—जनवरी १९६१ के अंक में 'ऋषि दयानन्द के जीवनचरित' शीर्षक लेख।
३४. पृ. २५
३५. खीस्टाब्द १८२५ का उल्लेख करने में श्रीकृष्ण शर्मा से स्पष्ट ही भूल हुई है क्योंकि यदि स्वामी दयानन्द का जन्म भाद्रपद १८८१ वि. माना जाता है तो ईस्वी सन् १८२४ मानना होगा, न कि १८२५ ई.
३६. ऋषि दयानन्द की जन्मतिथि—ले. इन्द्रदेव-अ. भा. आर्यसभा पीलीभीत द्वारा प्रकाशित-१९६५ ई.
३७. इसी तिथि को सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा ने अपनी १ अप्रेल १९६७ ई. की बैठक में स्वीकार किया है।
३८. श्रीयुत स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी महाराज की कुछ दिनचर्या (पं. गणेशप्रसाद शर्मा द्वारा भारत सुदशा प्रवर्तक से उद्धृत) १८८७ ई. पृ २०

३९. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित पृ. २०
४०. दयानन्द चरित—बाबू घासीराम द्वारा अनूदित, १९१२ में प्रकाशित प्रथम संस्करण।
४१. His name was Mulshanker and also Dayaram, because it is a custom of the people of the province to give one more pet name to a son or a daughter. दयानन्द जन्मस्थान निर्णय में उद्धृत पृ. ७४
४२. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित भाग २, पं. घासीराम रचित, परिशिष्ट-१, पृ. ३७८
४३. दयानन्द जन्मस्थान निर्णय पृ. ९३
४४. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवनचरित, भाग १, पृ. ४५
४५. दयानन्द दिग्विजय, सर्ग ३। ४१
४६. राष्ट्रीय इतिहास का अनुशीलन—जयचन्द्र विद्यालंकार पृ. ४८
४७. महर्षि दयानन्द सरस्वती का परिचय, पृ. १८
४८. आर्य मर्यादा, १८ मार्च १९७३ ई.
४९. सुधारक—गुरुकुल झज्जर का मुखपत्र, मई १९७३ ई.
५०. महर्षि दयानन्द की आत्मकथा पृ. १०
५१. वही, पृ. ११
५२. वही, पृ. ११
५३. वही, पृ. १२
५४. वही, पृ. १२

□□

ये हैं भारतदिवाकर दयानन्द, जिन्होंने इस पाप परिपुष्ट युग में जन्म लेकर जीवन भर निष्कण्टक ब्रह्मचर्य का पालन किया, जो विद्या में, वाक्पटुता में, तार्किकता में, शास्त्रदर्शिता में, भारतीय आचार्य मण्डली के बीच में शङ्कराचार्य के ठीक परवर्ती आसन पर आरूढ़ होने के सर्वथा योग्य थे, वेद निष्ठा में, वेद व्याख्या में, वेद ज्ञान की गम्भीरता में, जिनका नाम व्यासादि महर्षिगण के ठीक नीचे लिखे जाने योग्य था, जो अपने को हिन्दुओं के आदर्श सुधारक पद पर प्रतिष्ठित कर गये हैं, और इस मृत प्रायः आर्यजाति को जागरित करके उठाने के उद्देश्य से मृत सञ्जीवनी औषध के भाण्ड को हाथ में लेकर जिन्होंने भरतखण्ड में चतुर्दिक् परिभ्रमण किया था।

—देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय

महाभिनिष्क्रमण—उत्तराखण्ड परिभ्रमण

यह था मूलशंकर का महाभिनिष्क्रमण। अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व कपिलवस्तु का राजकुमार सिद्धार्थ भी युवती पत्नी यशोधरा तथा दुधमुंहे बालक राहुल को छोड़, दुखों का निदान तलाशने हेतु राजप्रासाद का त्याग कर इसी प्रकार साधना पथ का पथिक बन गया था। मध्यकालीन वैष्णव भक्त गोस्वामी तुलसीदास भी पत्नी के तिरस्कारपूर्ण वचनों को सहन करने में असमर्थ होकर गृहत्यागी हो गये थे। 'हिन्दू पद पादशाही' के मंत्रद्रष्टा तथा शिवाजी महाराज के गुरु समर्थ रामदास के लिये तो यह प्रसिद्ध ही है कि वैवाहिक मण्डप में 'सावधान' शब्द को सुनकर ही वे आने वाले गृहस्थाश्रम के जटिल दायित्वों से मुक्त होने के लिये आतुर हो उठे और विवाह कृत्य को अधूरा छोड़कर वैराग्यगामी हुए।

दयानन्द का महाभिनिष्क्रमण इन सबसे अद्‌भुत है। वे धर्म के रूढ़िगत स्वरूप को देख कर खिन्न हुए थे। चेतन परमात्मा की पूजा के नाम पर प्रस्तर, धातु, काष्ठ आदि से निर्मित जड़ मूर्तियों की पूजा को देखकर उनका विषण्ण तथा सन्तप्त होना स्वाभाविक था। इसके साथ ही उन्हें सच्चे शिव—लोकमंगल के विधायक परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को देखने तथा उसे प्राप्त करने की बलवती इच्छा भी हुई। इधर परिजनों की मृत्यु के दृश्य को देखकर वे चिन्ताकुल और विचलित हो उठे तथा उनके मन में भवचक्र से मुक्त होकर शाश्वत शान्ति प्राप्त करने का विचार आया। देखना यह है कि क्या दयानन्द का यह गृहत्याग इस देश के उन लाखों झूठे वैरागियों के घर बार छोड़ने के तुल्य ही था, या वे सच्चे जिज्ञासु भाव से प्रेरित होकर वैराग्य पथ के पथिक बने थे ? परन्तु इससे पूर्व हमें दयानन्द के देशाटन, योगाभ्यास तथा आध्यात्मिक साधना के समग्र रूप को देखना होगा और यह भी जानना होगा कि सतत देशभ्रमण, योगियों एवं मुमुक्षुओं के सत्संगलाभ, विभिन्न शास्त्र ग्रन्थों के अभ्यास तथा तत्त्वालोचना ने उनमें एक ऐसी पात्रता ला दी थी, जिसके परिणामस्वरूप वे न केवल अपने निश्रेयस साधन में ही सफल हुए, अपितु अन्य कोटि कोटि मानवों को भी ऐहिक और आमुष्मिक उन्नति का मार्ग दिखा सके।

निश्चय ही मूलशंकर ने योगाभ्यास करने तथा योग की उच्चतर स्थितियों तक पहुँचने की दृष्टि से ही गृहत्याग किया था। वे उन योगियों की तलाश में थे जो उन्हें साधना का सही रास्ता बता सकें। उन दिनों काठियावाड़ में लाला भक्त नाम के एक योगी की विशेष ख्याति थी जो सायला ग्राम में रहते थे।[1] अतः मूलशंकर ने सायला को ही अपना प्रथम गन्तव्य स्थान बनाया। देवेन्द्रनाथ के अनुसार मूलशंकर टंकारा के जामनगर द्वार से निकल कर पश्चिम की ओर गये। स्वकथित आत्मवृत्तान्त में दयानन्द लिखते हैं कि चार कोस चल कर वे एक ग्राम में पहुंचे और वहां के हनुमान मन्दिर में रात्रि निवास किया। यह ग्राम बड़ा रामपुर था। इसी ग्राम के मारुति मन्दिर में निवासादि की पूर्ण सुविधा है। दूसरे दिन प्रहर रात्रि उठकर १५ कोस चले परन्तु चलते समय उन्होंने इतनी सावधानी अवश्य रक्खी कि

प्रसिद्ध ग्रामों, सड़क मार्गों तथा अन्य जनस्थानों को भी छोड़ते गये, जहां उन्हें परिचित जनों के मिलने की सम्भावना थी। यह सर्वथा स्वाभाविक ही था, क्योंकि टंकारा जैसे बड़े ग्राम के जमेदार का पुत्र उस प्रदेश में सुपरिचित ही था। तीसरे ही दिन उन्हें किसी राजपुरुष से यह समाचार मिला कि अमुक व्यक्ति का पुत्र घर छोड़ कर चला गया है और उसकी तलाश में अश्वारोही तथा पैदल आदमी वहाँ तक आये थे।

यहां उन्हें एक विचित्र अनुभव हुआ। मूलशंकर तो उन्हीं मूल्यवान वस्त्राभूषणों सहित घर से भाग खड़े हुए थे, जिन्हें वे साधारणतया अपने घर में धारण करते थे। इस समय उनके पास इन आभूषणों के अतिरिक्त कुछ द्रव्य भी था। मार्ग में उन्हें कुछ ऐसे तथा-कथित वैरागी मिले जो गोस्वामी तुलसीदास को

नारि मुई घर सम्पति नासी।
मूंड मुंडाय भये संन्यासी॥

वाली उक्ति को सार्थक करते हुए अनावश्यक भ्रमण करते रहते हैं। इस युवा वैरागी के शरीर पर इन बहुमूल्य वस्त्रों तथा अलंकारों को देख कर इन वेशधारी वैरागियों का प्रलुब्ध हो जाना स्वाभाविक ही था। अतः अपनी प्रवंचनापूर्ण बातों से उन्होंने मूलशंकर को उन वस्त्रों और गहनों को त्यागने के लिये राजी कर लिया।[२] मूलशंकर तो सर्वथा निःस्पृह वृत्ति को धारण करके ही घर से चले थे, अतः भौतिक ऐश्वर्य के प्रतीक, इन मूल्यवान वस्तुओं को त्यागने में भला उन्हें क्यों संकोच होता? ये महार्घ वस्त्रालंकार उनके लिये तो भारस्वरूप ही थे। यदि रत्नराशि तथा वस्त्र ही उन्हें अभीष्ट होते तो वे पिता के सम्पन्न घर को छोड़ते ही क्यों?

इन वंचकों से छुट्टी पाकर मूलशंकर लाला भक्त के सायला ग्राम में पहुंचे और योगसाधना सीखने लगे। यहां की एक घटना के विषय में उन्होंने स्वयं लिखा है—"रात को एक वृक्ष के नीचे बैठ गया तो वृक्ष के ऊपर घूघू (उल्लू) बोलने लगा। उसकी आवाज सुनकर मुझे भूत का भय हुआ। मैं मठ के भीतर घुस गया।"[३] भूतप्रेतादि के जो मिथ्या संस्कार बाल्यकाल में ही माता पिता के अज्ञानवश बच्चों के मन पर पड़ जाते हैं, वे ही कालान्तर में भयोत्पादक हो जाते हैं। मूलशंकर के इस अनुभव से यही बात चरितार्थ होती है। सायला ग्राम में रहते हुए उन्होंने एक अज्ञातनामा ब्रह्मचारी से ब्रह्मचर्य की दीक्षा ग्रहण की। अब वे शुद्ध चैतन्य के नाम से जाने गये।[४] ब्रह्मचर्याश्रम की मर्यादा के अनुसार साधारण वस्त्रों को त्याग कर पीत तथा रक्त वर्ण के वस्त्रों को उन्होंने धारण किया। सायला में कुछ काल तक निवास करने के पश्चात् श्रावण १९०३वि. में उन्होंने कोट कांगड़ा के लिये प्रस्थान किया। कोट कांगड़ा अहमदाबाद के निकट है। यहां अनेक वैरागियों तथा साधु संन्यासियों से उनकी भेंट हुई। इस प्रसंग में उन्होंने स्वयं लिखा है—"वहां बहुत से वैरागी रहते थे। एक कहीं की रानी वैरागी के फंदे में आ गई थी। इस रानी ने मेरे साथ ठट्ठा (उपहास) किया परन्तु मैं जाल से छूट गया।"[५] इस स्थान पर वे तीन मास तक रहे। वैरागियों के उपहास के परिणाम-स्वरूप उन्होंने अपने रेशमी किनारेदार अधोवस्त्र (धोती) उतार दिये तथा साधारण वस्त्र धारण कर लिये। इस समय उनके पास केवल तीन रुपये ही अवशिष्ट रह गये थे।

अब तक ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य को अपने निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति में सफलता नहीं मिली थी। वे प्रयोजन की सिद्धि के लिये यत्र तत्र भटक ही रहे थे। पता लगा कि सिद्धपुर में कार्तिक के मेले के अवसर पर बहुत से साधु संन्यासी आते हैं। आशा की एक क्षीण रेखा उन्हें दृष्टिगोचर हुई। सम्भवतः इसी सन्त समागम में उन्हें कोई ऐसा रत्न मिल जाय जिसकी तलाश में वे इतस्ततः भ्रमण कर रहे हैं। इसी उद्देश्य को ध्यान में रख कर ब्रह्मचारी जी सिद्धपुर की ओर चल पड़े।

सिद्धपुर गुजरात का एक प्रसिद्ध शैव तीर्थ है। यहां प्रतिवर्ष कार्तिक मास में मेला लगता है जिसमें सहस्रों स्त्रीपुरुष, गृहस्थ, संन्यासी, आबालवृद्ध एकत्रित होते हैं। शुद्धचैतन्य भी योगी संधान का लक्ष्य रख कर इस मेले में चले आये। वि. सं. १९०३ का आश्विन मास। पं. श्रीकृष्ण शर्मा के अनुसार ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य प्रथम तो लीला बाबा के मंदिर में ठहरे।[६] उन दिनों नीलकण्ठेश्वर महादेव के पीठ स्थान पर श्रीमद्राजराजेश्वर नाम के एक विख्यात शैव साधक आसीन थे। उन्होंने जब इस युवा ब्रह्मचारी को गम्भीर मौन मुद्रा में ध्यानावस्थित देखा, तो वे उसे अपने साथ नीलकण्ठ के मंदिर में ले आये। इसी बीच जो वैरागी शुद्धचैतन्य से कोट कांगड़ा में मिला था, उसने मूलशंकर के पिता को सूचित कर दिया कि उनका पुत्र पीत वस्त्र धारण कर ब्रह्मचारी वेश में उसे मिला है। अब वह सिद्धपुर के कार्तिकी मेले में गया है। करसनजी अपने पुत्र का समाचार पाकर कुछ सिपाहियों के साथ अविलम्ब सिद्धपुर पहुंचे। पिता ने देखा कि उनका पुत्र महादेव के मंदिर में साधु संन्यासियों से परिवृत्त होकर विरक्त भाव से बैठा है। अपने प्रिय पुत्र को इस विपन्न वेश में देखकर दुखी पिता के हृदय का आक्रोश एक बार ही उमड़ पड़ा। उसने क्रुद्ध भाव से पुत्र से कहा कि तू हमारे कुल में कलंक लगाने वाला हुआ है। परन्तु ब्रह्मचारी भी कम चतुर नहीं निकला। उसने परिस्थिति को भांप लिया और तुरन्त पितृचरणों का स्पर्श कर नमस्कारपूर्वक कहने लगा कि आप क्रुद्ध न हों। मैं तो किसी व्यक्ति के बहकाने में आकर घर से चल पड़ा था। मैं स्वयं घर लौटने का इच्छुक हूँ। मैंने इस प्रवासकाल में बड़ा कष्ट पाया है। अच्छा हुआ जो आप स्वयं पधार गए। अब मैं आपके साथ ही अविलम्ब लौट जाऊंगा। परन्तु पुत्र के इन समाधानकारक वचनों का पिता पर कोई विशेष प्रभाव नही पड़ा। क्रोधाविष्ट भाव से उन्होंने वैराग्य के प्रतीक उन पीत वस्त्रों को फाड़ कर खण्ड खण्ड कर दिया, उसके तूंबे को तोड़ दिया तथा अनर्गल रूप से दुर्वचनों का प्रहार करते हुए कहा—तू मातृहन्ता है। तेरी माता तेरे वियोग में प्राण त्याग कर रही है। तू निष्ठुर होकर उसे छोड़ कर आया है।

वस्तुतः ब्रह्मचारी शुद्धचतन्य ने पिता के कोप को शान्त करने के लिये जो कुछ कहा था वह सत्य से कोसों दूर ही था, क्योंकि न तो गृहत्याग करने के लिये ही उन्हें किसी अन्य व्यक्ति ने उकसाया था और न उन्होंने हार्दिक भाव से ही पिता के साथ लौट जाने की बात कही थी। देवेन्द्रनाथ ने इस प्रसंग की नैतिक दृष्टि से परीक्षा करने के पश्चात् जो निष्कर्ष निकाला है वह इस प्रकार है—सर्वथा अप्रत्याशित परिस्थिति में पिता को अपने सामने पाकर मूलशंकर क्षण भर के लिये किंकर्त्तव्यविमूढ हो गये। ऐसी स्थिति में आसन्नविपत्ति से त्राण पाने के लिये ही उन्हें यह मिथ्या कथन करना पड़ा। इसे युवजनोचित चापल्य तथा सामयिक प्रमाद तो कहा जा सकता है, अनैतिक नहीं।

येन केन प्रकारेण पुत्र को पुनः अपने समीप पाकर पिता को प्रसन्नता हुई। वह उसे सिपाहियों के पहरे के बीच रख कर निश्चिन्ततापूर्वक घर लौटने की योजना बनाने लगे। परन्तु शुद्धचैतन्य तो इतनी जल्दी अपने निश्चय से डिगने वाले नहीं थे। शायद पहरे के भीतर बैठे-बैठे वे यही विचार कर रहे थे कि एक बार पुनः सांसारिक बन्धनों की इन लौह शृंखलाओं से विमुक्त होने का क्या उपाय हो सकता है? उन्हें अनायास सफलता भी मिल गई। जब तीसरी रात्रि को तीन बजे के पश्चात् प्रहरीगण इस ब्रह्मचारी को सोया जान कर स्वयं भी सो गये तो शुद्धचैतन्य एक जलपात्र लेकर शौच के बहाने निकल पड़े। सोचा, यदि इस बीच पकड़ा गया तो यही बहाना काफी होगा कि शौच के लिये निकला था। थोड़ी देर तक मंथर गति से चलने के पश्चात् वे द्रुतगति से दौड़ने लगे। प्रातःकाल होने पर एक वृक्ष की सघन डालों के बीच में छिप कर बैठ गये। इधर उषाकाल में जब प्रहरी जागे तो उन्होंने देखा कि शिकार तो हाथ से निकल गया है। वे उसकी तलाश में इधर उधर घूमते हुए उसी वृक्ष के समीप पहुँचे जिस पर ब्रह्मचारी जी छिपे बैठे थे। प्रहरियों का वृक्ष तले आगमन जान कर शुद्धचैतन्य दम साधकर बैठ गये। दिन भर उन्हें भूख प्यास को सहन करते हुए निःस्पन्द भाव से एकाकी वृक्ष पर बैठे रहना पड़ा; परन्तु जब सिपाही निराश होकर चले गये तो वे वृक्ष से उतरे और विपरीत दिशा में चल पड़े। इस बार वे प्रसिद्ध मार्गों से नहीं गये और न किसी अन्य व्यक्ति से ही मार्ग की जिज्ञासा की। उन्हें यह भय था कि यदि कोई परिचित व्यक्ति मिल गया तो एक बार पुनः उन्हें पितृगृह में लौटने के लिये विवश होना पड़ेगा।

मूलशंकर की अपने पिता से यही अन्तिम भेंट थी। पुत्र को एक बार फिर खो देने की हताशा और निराशा ने वृद्ध पिता के वात्सल्यप्रवण हृदय को किस प्रकार विदीर्ण किया होगा, इसका अनुमान करना कठिन है। परन्तु वसुधा को ही परिवार मानने वाले परिव्राजक-शिरोमणि दयानन्द भला कब परिजनों के मोह में पड़ने वाले थे। एकांगी दृष्टि से देखने पर भले ही अपने माता पिता तथा अन्य पारिवारिक लोगों के प्रति उनका यह उदासीनता भरा व्यवहार निष्ठुर प्रतीत हो, किन्तु व्यापक दृष्टि से देखें तो विदित होगा कि स्वपरिवार का त्याग कर उन्होंने रोग, शोक, ताप एवं भय से प्रपीडित अखिल जगती के दुःखशमनार्थ जो प्रयत्न किये, उनसे अशेष मानवसमाज का हित ही हुआ।

कार्तिक १९०३ वि. में सिद्धपुर से वे अहमदाबाद आये। वहाँ से चल कर पौष मास में बड़ौदा के चेतन मठ में पहुँचे। यहाँ स्वामी ब्रह्मानन्द नामक संन्यासी तथा अन्य अनेक ब्रह्मचारियों से भेंट हुई। भारत का संन्यासी वर्ग आचार्य शंकर द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद का प्रबल पोषक होने के कारण जगन्मिथ्यावाद तथा मायावाद की विचारधारा का प्रचारक रहा है। अतः शुद्धचैतन्य को भी इन संन्यासियों के सम्पर्क में रह कर इस विचारधारा के विषय में चर्चा और आलोचना करने का अवसर इस मठ में मिला। शाङ्करवेदान्त की तर्कप्रणाली का मनन और चिन्तन करते करते ब्रह्मचारी महाशय स्वयं को ब्रह्म समझने लगे और संसार के मिथ्या होने का उन्हें दृढ़ विश्वास हो गया। अपने आत्मवृत्त में उन्होंने इस सम्बन्ध में लिखा है—"मैं ब्रह्म हूँ, अर्थात् जीव ब्रह्म एक है ऐसा निश्चय उन ब्रह्मानन्दादि ने मुझको करा दिया। पहले वेदान्त पढ़ते समय भी कुछ कुछ निश्चय हो गया था। परन्तु वहाँ ठीक दृढ़ निश्चय हो गया कि मैं ब्रह्म हूँ।"[७]

बड़ौदा में ही वाराणसी निवासिनी किसी विरक्त महिला का आश्रम था। योगी जनों की तलाश में ब्रह्मचारी जी भी वहाँ पहुँचे। यहाँ उनकी भेंट सच्चिदानन्द परमहंस नामक एक संन्यासी से हुई। परमहंस से तत्त्वज्ञानविषयक चर्चा हुई तथा यह भी विदित हुआ कि नर्मदा तट पर चाणोद कर्नाली नामक स्थान में बहुत से साधु संन्यासी रहते हैं, जिनका समागम उनके लिये लाभप्रद हो सकता है। फलतः १९०४ वि. के प्रारम्भ में शुद्धचैतन्य चाणोद कर्नाली पहुँचे। इस प्रवास के विषय में वे स्वयं लिखते हैं—"वहाँ जाके दीक्षित और चिदाश्रमादि स्वामी ब्रह्मचारी और पण्डितों से अनेक विषयों का परस्पर सम्भाषण हुआ। फिर एक परमानन्द परमहंस से वेदान्तसार, हरिमीड़े तोटक, वेदान्तपरिभाषा आदि प्रकरणों का थोड़े महीनों में विचार कर लिया।"[८] स्पष्ट है कि इस स्थान पर रह कर ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य ने शाङ्कर वेदान्त के कुछ अत्यधिक प्रचलित और लोकप्रिय ग्रन्थों का अध्ययन किया। निश्चय ही इन ग्रन्थों के अनुशीलन से शाङ्कर वेदान्त के प्रति उनकी निष्ठा बढ़ी।

अध्ययन का यह क्रम अभी जारी ही था कि उनके मन में चतुर्थाश्रम में दीक्षित होने की लालसा उत्पन्न हुई।

संन्यास लेने के कारण का संकेत स्वयं दयानन्द ने ही अपने आत्मवृत्तान्त में इस प्रकार दिया है—"उस समय ब्रह्मचर्यावस्था में कभी कभी अपने हाथ से रसोई बनानी पड़ती थी इस कारण पढ़ने में विघ्न विचार के चाहा कि अब संन्यास ले लेना अच्छा है।"[९] जहाँ तक संन्यास की आवश्यक शर्त—पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा से पृथक् रहने का सम्बन्ध है, दयानन्द ने तो अपने वैभवशाली घर, परिवार तथा पिता की अतुल सम्पत्ति कों लात मार कर वास्तविक अर्थ में संन्यास तभी ग्रहण कर लिया था, जब वे गृहत्याग कर मुमुक्षु बने। किन्तु प्रचलित आश्रम मर्यादा के अनुसार अब तक वे दीक्षित ब्रह्मचारी ही थे। जब तक किसी तुरीयाश्रमी परिव्राजक को अपना गुरु बना कर, शास्त्र विधि से शिखा सूत्रादि को तिलाञ्जलि दे, काषाय वस्त्र, कमण्डलु, दण्डादि धारण कर वे विधिवत् संन्यास दीक्षा नहीं ले लेते तब तक उन्हें स्वयंपाकी होने आदि के उन बाह्याचारों से छुटकारा नहीं मिल सकता था, जो ब्रह्मचारियों के लिये इति कर्त्तव्य माने गये हैं। यदि अध्ययनप्रवण, जिज्ञासु वृत्ति वाले किसी ब्रह्मचारी का सारा समय भोजन पकाने खाने के पचड़े में ही व्यतीत हो जाय तो वह उच्चतर स्वाध्याय, चिन्तन तथा उपासना के लिये समय कैसे निकालेगा? अतः शुद्धचैतन्य के लिये यह आवश्यक हो गया कि वह यथाशीघ्र संन्यास ग्रहण कर ले तथा अनावश्यक मर्यादाबन्धनों से मुक्त हो जाय। कठिनाई यह थी कि संन्यास की दीक्षा किससे ग्रहण करे?

स्वभावतः उनकी इच्छा शास्त्र निष्णात, योग विद्या के पारगामी विद्वान् चिदाश्रम स्वामी[१०] से ही संन्यास दीक्षा लेने की थी, किन्तु इस ब्रह्मचारी को अल्पवयस जान चिदाश्रम स्वामी ने दीक्षा देना अस्वीकार कर दिया। ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य के लिये निराश होना स्वाभाविक था, किन्तु दो मास पश्चात् एक अन्य सुयोग उत्पन्न हुआ। दक्षिण भारत से एक दण्डी संन्यासी और ब्रह्मचारी चाणोद के निकटवर्ती वन में आकर ठहरे। इन नवागत व्यक्तियों के दर्शनार्थ शुद्धचैतन्य अपने पूर्व परिचित दाक्षिणात्य वेदान्ती विद्वान् के साथ पहुँचे, पारस्परिक परिचय और विचारों के आदान प्रदान से शुद्धचैतन्य को निश्चय हो गया कि

आगन्तुक संन्यासी शास्त्रों के पारगामी विद्वान् तथा वेदान्त के निष्णात पण्डित हैं। यह भी विदित हुआ कि इस समय वे दक्षिण के शृंगेरी मठ से आ रहे हैं और द्वारिका उनका गन्तव्य स्थल है। दण्डी संन्यासी का नाम पूर्णानन्द सरस्वती था। इस प्रकार अनायास ही एक विद्वान् संन्यासी को अपने समीप पाकर शुद्धचैतन्य की संन्यास ग्रहण करने की इच्छा पुनः बलवती हुई और उन्होंने अपने साथी पण्डित से अनुरोध किया कि वे दण्डी स्वामी को उन्हें संन्यासाश्रम में दीक्षित करने के लिये कहें। फलतः पण्डित जी ने शुद्धचैतन्य की आशंसा करते हुए कहा कि यह ब्रह्मचारी अत्यन्त सदाचारी, अध्ययनशील तथा वैराग्यप्रवण है। संन्यास ग्रहण करने के सर्वथा उपयुक्त है। यदि आप इसे चतुर्थाश्रम की दीक्षा देंगे तो यह पूर्वाश्रम की मर्यादाओं तथा आवर्जना विवर्जनाओं से सर्वथा मुक्त होकर तत्त्वचिन्तन तथा ब्रह्ममीमांसा में सर्वथा लीन हो जायगा। पण्डित मित्र की इस संस्तुति को सुन कर प्रथम तो दीक्षार्थी को अल्पवयस जान कर दण्डी स्वामी ने आपत्ति की, पुनः एक कठिनाई यह भी प्रस्तुत की कि इस गुर्जर ब्रह्मचारी को किसी गुजराती संन्यासी से ही दीक्षा लेनी चाहिए। वह स्वयं तो महाराष्ट्र हैं अतः गुजराती ब्रह्मचारी को संन्यास की दीक्षा कैसे दे सकते हैं?

हमारी धार्मिक परम्परायें और प्रथायें भी किस प्रकार अत्यधिक रूढ़िमूलक होकर अपनी गतिशीलता खो चुकी हैं, यह प्रसंग इसका जीता जागता उदाहरण है। संन्यासाश्रम, जो मानवजीवन का अन्तिम सोपान है, जिस पर आरूढ होकर मनुष्य के लिये परलोकचिन्तन, सार्वजनिक हित साधन तथा परमात्म तत्त्व की प्राप्ति के अतिरिक्त और कोई कर्त्तव्य अवशिष्ट नहीं रह जाता, उस आश्रम की दीक्षा का आदान प्रदान भी प्रान्तीयता और क्षेत्रीयता के आधार पर होने लगा था। इससे अधिक विडम्बनामूलक स्थिति और क्या हो सकती थी कि एक दाक्षिणात्य संन्यासी उत्तरापथ के किसी व्यक्ति को संन्यास की दीक्षा नहीं दे सकता। मानो परिव्राजकगण भी प्रान्त और क्षेत्र की संकुचित सीमाओं में आबद्ध हैं। आश्रम मर्यादाओं का यह विकृत, रूढिग्रस्त, स्थितिस्थापक रूप दयानन्द के समक्ष आया था और इससे खिन्न होकर उन्होंने समग्र भारतीय धर्म, समाज तथा चिन्तन के क्षेत्र में यदि नवीन क्रान्ति लाने का यत्न किया, तो इसमें आश्चर्य ही क्या था?

दण्डी संन्यासी की आपत्ति का समाधान शुद्धचैतन्य के मित्र ने इस प्रकार किया। "जब दक्षिणी स्वामी गौड़ादि (बंग देशोत्पन्न) को भी दीक्षित करते हैं तो इस ब्रह्मचारी को दीक्षित करने में क्या आपत्ति है, क्योंकि गुर्जर होने के कारण यह तो पञ्च द्रविड़ों में आता है।" इस युक्ति से पूर्णानन्द स्वामी का भी समाधान हो गया और उन्होंने शास्त्रोक्त विधि से तीसरे दिन शुद्धचैतन्य को संन्यासाश्रम में दीक्षित किया। त्रिविध एषणाओं से तो यह ब्रह्मचारी प्रथम ही मुक्त हो चुका था, अब सनातन विधि से चतुर्थाश्रमी बन कर उसे पूर्ण सन्तोष हुआ। गुरु ने इस नवदीक्षित शिष्य को 'दयानन्द सरस्वती' का नाम दिया। दीक्षा दाता गुरु से आज्ञा लेकर दयानन्द ने दण्डविसर्जन भी उन्हीं के समक्ष कर दिया क्योंकि संन्यास की मर्यादा के अनुसार दण्ड धारण विषयक अनेक जटिल क्रियायें होती हैं और उनके पालन से मुमुक्षु दयानन्द के मार्ग में अनेक बाधायें आने की सम्भावना थी।

दीक्षा देने वाले संन्यासी तथा उनके सहचर ब्रह्मचारी तो द्वारिका की ओर चले गये। तब दयानन्द कुछ दिन चाणोद में व्यतीत कर व्यासाश्रम आये। यहाँ योगानन्द नामक योग

विद्याविशारद योगी रहते थे। दयानन्द ने उनके निकट रह कर कुछ काल तक योग क्रियायें सीखीं। १९०५ वि. में वे सिनोर[११] चले गये। यहाँ कृष्ण शास्त्री नामक पण्डित से संस्कृत व्याकरण का अभ्यास किया। तत्पश्चात् १९०६ वि. में वे पुनः चाणोद आये। इस बार का उनका चाणोद प्रवास कुछ अधिक काल तक रहा। यहाँ उन्हें योग विद्या निष्णात दो योगी मिले जिनके नाम थे शिवानन्द गिरि और ज्वालानन्द पुरी। स्वल्पकाल पर्यन्त दयानन्द इन योगियों से यौगिक क्रियाओं की आलोचना करते रहे। पुनः योगी युगल ने अहमदाबाद की ओर प्रस्थान करते हुए दयानन्द से कहा कि लगभग एक मास पश्चात् वे उक्त नगर के दुग्धेश्वर महादेव के मंदिर में उनसे मिलें। तदनुसार ही जब १९०७ वि. में दयानन्द अहमदाबाद जाकर उनसे मिले तो उन्होंने स्वामी जी को योगाभ्यास की रीति सिखलाई। शिवानन्द गिरि और ज्वालानन्द पुरी ने दयानन्द को योग विद्या का जैसा व्यावहारिक और क्रियामूलक ज्ञान कराया, उसके कारण वे आजन्म उक्त योगियों का कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते रहे। अपने इन योग गुरुओं का अत्यन्त श्रद्धा एवं सम्मान के साथ उल्लेख करते हुए उन्होंने एक प्रसंग में कहा—"वहाँ उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की और अपने वचनानुसार मुझको निहाल कर दिया। अर्थात् उन्हीं महात्मा योगियों के प्रभाव से मुझ को पूर्ण योग विद्या और उसकी साधनक्रिया अच्छी प्रकार विदित हो गई इसलिये मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।"[१२]

योगप्रशिक्षण का कार्य अभी समाप्त नहीं हुआ था। उच्चतर श्रेणी के योगी राजस्थान के अरावली पर्वत की सर्वोच्च शैल माला के अर्बुद शिखर (आबू) पर रहते हैं, यह जानकर स्वामी दयानन्द १९०९ वि. में आबू पहुँचे। आबू पर्वत के अर्बुदा भवानी आदि शिखरों पर योगिगवेषणा में तत्पर होकर भ्रमण करते रहे। यहाँ उन्हें भवानीगिरि नामक एक अन्य योगी मिले जिनसे योगाभ्यास की कुछ अन्य रीतियों का ज्ञान हुआ। योगसाधना का सिलसिला यहीं समाप्त नहीं हुआ। उन्हें यह विदित ही था कि उत्तराखण्ड के हिमाच्छादित पर्वत शिखरों पर, कलकलनादिनी सरिताओं के तटों पर तथा घनघोर अरण्यों में तपस्वी योगी तथा साधक विरक्त जन अब भी निवास करते हैं। अतः इस युवा संन्यासी का विचार उत्तराखण्ड भ्रमण करने का हुआ। अन्ततः वे १९११ वि. के अन्त में हरिद्वार पहुँचे,[१३] जहाँ कुम्भ पर्व के कारण विशाल जनसमूह स्वतः ही एकत्र हो गया था।

दयानन्द की यह प्रथम हरिद्वार यात्रा थी। इसके सम्बन्ध में वे स्वयं लिखते हैं—"संवत् १९११ के वर्ष के अन्त में हरद्वार के कुम्भ के मेले में आके बहुत साधु संन्यासियों से मिला और जब तक मेला रहा तब तक चण्डी के पहाड़ के जंगल[१४] में योगाभ्यास करता रहा। जब मेला हो चुका तब हृषीकेश में जाके संन्यासियों और योगियों से योग की रीति सीखता और सत्संग करता रहा।"[१५] हृषीकेश से वे वैशाख १९१२ वि. में टिहरी गये। इस समय उनके साथ एक ब्रह्मचारी और दो पहाड़ी साधु थे। टिहरी उत्तराखण्ड के गढ़वाल प्रान्त की राजधानी थी। उस स्थान को दयानन्द ने साधुओं तथा राजपण्डितों से परिपूर्ण पाया। इस स्थान पर घटित एक घटना का उल्लेख करते हुए स्वामीजी ने स्वकथित जीवनचरित में लिखा है—

"एक दिन एक राजपण्डित ने अपने यहाँ मेरा निमंत्रण किया और निश्चित समय

पर एक पुरुष भी बुलाने भेजा। उनके साथ मैं और ब्रह्मचारी दोनों उस स्थान पर पहुंचे। परन्तु मुझको वहाँ एक पण्डित को मांस काटते और बनाते देख अत्यन्त घृणा हुई।.....इतने में गृहस्वामी ने प्रसन्नतापूर्वक हमसे कहा कि भीतर चले आइए। मैंने कहा मेरे लिये कुछ कष्ट न कीजिये। यह कह झट वहाँ से उलटे पांव अपने स्थान का मार्ग लिया। कुछ काल पीछे वही मांसभक्षी पण्डित मेरे पास आया और कहा कि यह मांसादि उत्तम भोजन केवल आप ही के लिये बनाये गये हैं। मैंने उससे स्पष्ट कह दिया कि यह सब वृथा और निष्फल है। मेरे योग्य तो केवल फल आदि हैं। मांस खाना तो दूर रहा, मुझे तो उसके देखने से ही रोग हो जाता है। यदि आपको मेरा न्यौता करना ही है तो कुछ फलादि वस्तु भिजवा दीजिये, मेरा ब्रह्मचारी यहाँ पर भोजन बना लेगा। इन सब बातों को उक्त पण्डित ने स्वीकार किया।"[१६]

इस घटना से स्वामीजी की मांसाहार के प्रति घोर घृणा तथा विरक्ति की सूचना मिलती है। भारत में सामान्यतया धार्मिक और नैतिक दृष्टि से आमिष भोजन को अच्छा नहीं माना जाता। शाक्त एवं वाममार्ग के अनुयायी साधकों को छोड़ कर अन्य सभी साधु संन्यासी और विरक्तजन मांसाहार से घृणा करते हैं। ब्राह्मणकुलोत्पन्न दयानन्द के लिये यह स्वाभाविक ही था वे मांसभोजन के प्रति अपनी अतिशय विरक्ति और घृणा का परिचय देते।

टिहरी में रहते हुए दयानन्द ने संस्कृत के विभिन्न शास्त्रीय ग्रन्थों को देखने की इच्छा व्यक्त की। इस पर पूर्वोक्त राजपण्डित उन्हें साहित्य, ज्योतिष, व्याकरण एवं तंत्र विषयक प्रभूत साहित्य दे गया। स्वामीजी ने अब तक व्याकरण, ज्योतिष आदि के ग्रन्थ तो पढ़े थे। परन्तु तंत्र साहित्य को देखने का उनका यह प्रथम अवसर ही था। उन्होंने जब इन ग्रन्थों को यत्र तत्र देखा तो उन्हें यह जानकर अत्यन्त आश्चर्य और खेद हुआ कि इन ग्रन्थों में कतिपय ऐसी बातें लिखी हुई हैं जो न केवल सामान्य सामाजिक मर्यादाओं का ही उल्लंघन करने वाली हैं, किन्तु जो नैतिकता के प्रचलित मापदण्डों से भी विपरीत हैं। जिन ग्रन्थों में मद्य, मांस आदि अखाद्य एवं अपेय पदार्थों के खानपान का विधान हो तथा व्यभिचार एवं दुराचार के कतिपय निष्कृष्टतम एवं बीभत्सतम रूपों को धार्मिक साधना के सोपानों के रूप में स्वीकार किया गया हो, उन ग्रन्थों के विषय में कोई प्रशंसामूलक धारणा बनाना असम्भव ही था। दयानन्द के आश्चर्य की सीमा नहीं रही जब उन्होंने देखा कि इन्हीं विचित्र, भयावह और घृणापूर्ण अनुष्ठानों को इन ग्रन्थों में मुक्ति का साधन और हेतु बताया गया है। उनकी यह सहज धारणा बन गई कि ये ग्रन्थ धूर्त एवं दुष्ट लोगों द्वारा रचे गये हैं।

आगे चलकर दयानन्द ने जब अपने लोकविश्रुत ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश की रचना की और उसके एकादश समुल्लास में भारतवर्ष में प्रचलित वेदविरुद्ध मत मतान्तरों की आलोचना की, तो सर्वप्रथम उनका ध्यान इसी तंत्राश्रित वाममार्ग की ओर गया, जिसमें शक्ति की पूजा और उपासना के लिये लोकग्राह्य दक्षिणाचार पद्धति के स्थान पर लोकनिन्दित तथा शास्त्रीय एवं सामाजिक मर्यादा के प्रतिकूल वामाचार पद्धति को अपनाने पर जोर दिया गया है। यहाँ शाक्त मतोक्त पञ्चमकारों की कटु आलोचना करते हुए दयानन्द ने आश्चर्य व्यक्त किया है कि जो चीजें सामान्यतया मनुष्य के लिये हानिकारक हैं तथा उसे पतनोन्मुख करती हैं, उन्हें ही वामाचारी साधकों ने श्रेयस्कर और आध्यात्मिक उत्थान का कारण माना है।

वाममार्ग में प्रचलित इन गर्हित पद्धतियों का बचाव यदा कदा यह कह कर किया जाता है कि इन ग्रन्थों में उल्लिखित मद्य, मांस, मैथुन आदि का उल्लेख मात्र आलंकारिक या प्रतीकात्मक है। इन्हें स्थूल रूप में कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार की व्याख्यायें तंत्र ग्रन्थों के कुछ पौरस्त्य और पाश्चात्य अध्येताओं ने भी की हैं, परन्तु यदि पूर्वाग्रह मुक्त दृष्टि से देखा जाय तो कोई निष्पक्ष व्यक्ति इसी निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि यह साहित्य सदाचार-विनाशक तथा लोक एवं शास्त्र की मर्यादा को धक्का पहुँचाने वाला है।

तंत्र साहित्य के सम्बन्ध में इस प्रकार अपनी सुनिश्चित धारणा बनाने के पश्चात् दयानन्द वैशाख १९१२ वि. में टिहरी से श्रीनगर आये।[२७] श्रीनगर से केदारघाट पहुंचे[२८] और एक मंदिर में निवास किया। यहाँ जब किसी पण्डित या पुजारी से कोई शास्त्रीय चर्चा या वार्तालाप होता तो वे तंत्रों के गर्हित एवं जुगुप्साजनक प्रसंगों का उल्लेख कर उसे चुप कर देते। साधु गंगागिरि नामक एक सहृदय संन्यासी से उनका परिचय केदारघाट में ही हुआ। जब ये दोनों मिलते तो योगविषयक तत्त्वों की आलोचना और विभिन्न विषयों पर वार्तालाप करते। दोनों का परस्पर सुहृदभाव एक दूसरे के लिये स्पृहणीय बन गया।

केदारघाट में दयानन्द ने वर्षाकाल व्यतीत किया। पुनः उसी ब्रह्मचारी तथा पूर्व वर्णित पर्वतीय साधुओं के साथ रुद्र प्रयाग[२९] तथा अगस्त्याश्रम होते हुए वे आषाढ़ १९१२ वि. में शिवपुरी नामक पर्वतशिखर पर पहुंचे। उत्तराखण्ड के इस पार्वत्य प्रदेश में निर्बाध भाव से विचरण करते हुए दयानन्द शिवपुरी से नीचे उतरे और गुप्तकाशी, गौरीकुण्ड, भीमगुहा एवं त्रियुगीनारायण आदि स्थानों को देखते हुए पुनः केदारघाट जा पहुंचे। इस यात्रा को उन्होंने आश्विन १९१२ वि. में समाप्त किया।

केदारनाथ का सुरम्य स्थल दयानन्द को बहुत पसन्द आया। यहाँ उनके प्रवास के साथी ब्रह्मचारी और साधुयुगल पुनः उनसे आ मिले। इस स्थान के निवासी पण्डे पुजारी जंगम सम्प्रदाय के लोग थे। दयानन्द तो आर्यावर्त देश में प्रचलित विभिन्न मत सम्प्रदायों तथा पन्थों के सम्बन्ध में परिपूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिये ही जिज्ञासु बन कर भ्रमण कर रहे थे, अतः उन्होंने कोई ऐसा अवसर हाथ से जाने नहीं दिया जिससे उन्हें मत सम्प्रदायों की रीति नीति, आचारपद्धति तथा सिद्धान्तों का परिज्ञान होता हो। यहाँ रह कर भी उन्होंने पण्डे पुजारियों से जंगमसम्प्रदाय विषयक अनेक ज्ञातव्य बातें जानीं।

इसी समय उनके मन में विचार आया कि हिमाच्छादित पर्वतशिखरों तथा शैल उपत्यकाओं का भ्रमण कर उन योगिजनों की गवेषणा करनी चाहिए जिनके सम्बन्ध में यह प्रवाद प्रचलित है कि हिमालय के इन्हीं दुरूह एवं अगम्य स्थानों पर उनका निवास है। शीताधिक्य एवं पर्वतीय यात्रा की कठिनाइयों ने उन्हें किंचित् भी हतोत्साहित नहीं किया और वे निरन्तर बीस दिन तक हिमगिरि के दुर्गम स्थलों में घूम कर योगियों की तलाश करते रहे। अविरत भ्रमण और पार्वत्यप्रदेशों की कठिनाइयों ने दयानन्द के उत्साह को कम नहीं किया, परन्तु उनकी अभीष्ट सिद्धि नहीं हुई। उनके साथीगण (ब्रह्मचारी और साधु) भी उन्हें छोड़ कर चले गये।

आश्विन १९१२ वि. में वे तुंगनाथ की चोटी पर चढ़े। यहाँ के मंदिरों में उन्हें

शतशः पाषाण मूर्तियाँ तथा पुजारियों का विशाल समूह दिखाई पड़ा। प्रतिमाओं के पूजन एवं अर्चन को ही धर्म समझने वाले पौराणिक समुदाय के श्रद्धाकेन्द्र इन मठ मंदिरों में उन्हें कोई ऐसा व्यक्ति दृष्टिगोचर नहीं हुआ जो उनकी धर्मपिपासा को शान्त कर सके अथवा उन्हें वास्तविक धर्म के स्वरूप से परिचित करा सके। अतः वे नीचे उतरे। यहाँ उन्हें दो भिन्न भिन्न मार्ग दीख पड़े। एक पश्चिम और दूसरा नैऋत्य दिशा की ओर जा रहा था। पर्वतीय दुर्गम पथ पर एकाकी विचरण करने वाले इस कौपीनशेष दिगम्बर परिव्राजक को किन किन शारीरिक एवं मानसिक यातनाओं का शिकार बनना पड़ा, यह उनके आत्मकथन से ही स्पष्ट हो जाता है। वे लिखते हैं—"मैं स्थिर नहीं कर सका कि मुझे किस मार्ग से जाना चाहिए। तब मैं उस मार्ग को जो जंगल की ओर था, झुक पड़ा। कुछ दूर तक चल कर मेरा गमन एक ऐसे घने बन में हुआ जहाँ के प्रस्तरखण्डों और शुष्क नाले के कारण आगे का मार्ग अवरुद्ध हो गया था।"

यहाँ पहुंच कर वे एक ऊँची चट्टान पर खड़े हो गये। उन्हें सर्वत्र पर्वत, टीलों तथा घोर अरण्य के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं पड़ा। सूर्यास्त का समय निकट आ गया। कटीले वृक्षों और झाड़ियों में उलझने के कारण वस्त्रखण्ड जीर्ण शीर्ण हो गये। इधर रात्रि का अंधकार बढ़ने लगा। अन्त में वे एक ऐसे स्थान पर पहुंचे जहाँ उन्हें कुछ पर्णकुटियाँ दृष्टिगोचर हुईं। उन कुटीरों में निवास करने वाले व्यक्तियों से ज्ञात हुआ कि यह मार्ग ऊखी मठ की ओर जाता है, फलतः वे उसी मार्ग का अनुसरण करते हुए ऊखी मठ पहुंच गये।[२१]

रात्रि उस मठ में व्यतीत हुई। प्रातः वहाँ से चल कर गुप्तकाशी आये।[२२] पुनः ऊखी मठ पहुंचने की इच्छा हुई क्योंकि वहाँ के जनशून्य पार्वत्य प्रदेश, दुर्गम गुहाकन्दराओं में भ्रमण करने की इच्छा अभी शेष थी। फलतः साधु संन्यासियों तथा काषाय वस्त्राच्छादित विरक्तजनसंकुल इस तीर्थ को निकट से देखा। मठ के महन्त ने दयानन्द को विरक्ति, तितिक्षा, अध्यवसाय तथा साधना के लिये उपयुक्त दृढता आदि गुणों से सम्पन्न देख कर उसे अपना शिष्य बना लेने, तथा कालान्तर में मठाधीश पद प्राप्त करने का प्रलोभन दिया। दयानन्द भला इस विभूति एवं सम्पत्ति से क्यों आकर्षित होने लगे? जिसने अपने अशेष वैभव-सम्पन्न गृह का परित्याग कर स्वेच्छा से निस्पृह जीवन अपनाया, उस दयानन्द का ऐसे प्रलोभनों में फंसना असम्भव ही था। दयानन्द ने निर्लोभ भाव से कहा—"यदि मुझे धन की लालसा होती तो मैं अपने पिता की सम्पत्ति को, जो तुम्हारे इस स्थल, धनधान्य से कहीं बढ़ कर थी, न छोड़ता। किंच मैंने यह भी कहा कि जिस उद्देश्य के लिये मैंने घर छोड़ा और सांसारिक ऐश्वर्य से मुंह मोड़ा, न तो मैं उसके लिये तुम्हें यत्न करते देखता हूँ और न तुम्हें उसका ज्ञान ही प्रतीत होता है। पुनः तुम्हारे पास मेरा रहना कैसे हो सकता है?"[२३]

दयानन्द की इस निर्भीक तथा अनासक्त भाव को व्यक्त करने वाली उक्ति को सुन कर सांसारिक वैभव को ही जीवन का चरम लक्ष्य मानने वाले मठाधीश का स्तम्भित एवं चकित हो जाना स्वाभाविक ही था। अपने थोथे ऐश्वर्य और वैभव का निरर्थक प्रदर्शन कर भक्त समुदाय को आश्चर्यान्वित एवं आतंकित करने वाले इस महन्त के जीवन में यह प्रथम अवसर था जब किसी सच्चे विरक्त एवं जिज्ञासु पुरुष का उससे सम्पर्क हुआ। अतः महन्त ने

जिज्ञासावश पूछा कि वह कौनसा उद्देश्य है जिसकी प्राप्ति के लिये वे इतना परिश्रम कर रहे हैं ? दयानन्द का सहज उत्तर था—"मैं सत्य योग विद्या और मोक्ष (जो बिना अपनी आत्मा की पवित्रता और सत्य, न्याय आचरणों के नहीं प्राप्त हो सकता) चाहता हूँ और जब तक यह अर्थ सिद्ध नहीं होगा तब तक बराबर अपने देश वालों का उपकार, जो मनुष्य पर कर्त्तव्य है, करता रहूंगा।"[२४] लोककल्याण और जनसेवा ही दयानन्द की दृष्टि में मोक्ष-प्राप्ति के साधन थे।

जोशी मठ[२५] में स्वामीजी का सम्पर्क कतिपय दाक्षिणात्य विद्वानों एवं संन्यासियों से हुआ। इनसे उन्होंने योग के तत्त्व सीखे तथा शास्त्रीय विषयों पर वार्तालाप किया। कार्तिक १९१२ वि. में वे बद्रीनाथ पहुंचे।[२६] उत्तराखण्ड के धार्मिक स्थलों में बद्रीनाथ का सर्वोपरि महत्त्व है। इसके प्रधान महन्त दक्षिण के नम्बूदरी ब्राह्मण होते हैं, जो रावल कहलाते हैं। तत्कालीन रावलजी से दयानन्द का वेदों तथा दर्शनों के तत्त्वज्ञान पर परस्पर वादविवाद होता रहा। जब स्वामीजी ने पूछा कि क्या इस ओर कोई उच्चकोटि के विद्वान् और तपस्वी योगी भी निवास करते हैं, तो रावलजी ने निषेधात्मक उत्तर ही दिया किन्तु यह भी कह दिया कि यदा कदा सच्चे योगी जन यहाँ मन्दिर के दर्शनार्थ आते रहते हैं।

एक दिन सूर्योदय के साथ ही वे अपनी यात्रा पर निकल पड़े। पर्वतीय उपत्यका को पार करते हुए अलकनन्दा नदी के तटवर्ती क्षेत्र में जा पहुंचे। नदी के पार जाने की उनकी किंचित् मात्र भी इच्छा नहीं थी। नदी के दूसरे किनारे माना[२७] नामक ग्राम दिखाई पड़ा। वे नदी के किनारे किनारे चलने लगे। दुर्गम पथ का अतिक्रमण करते हुए अनायास वे उस स्थान पर पहुंच गये जो अलकनन्दा का उद्गम स्थल है। यहाँ उन्होंने प्रकृति का अभूतपूर्व संभार देखा। यह स्थान चतुर्दिक पर्वतश्रेणियों से घिरा था। कुछ समय तक निष्प्रयोजन इधर उधर घूमने के पश्चात् उन्होंने अनुभव किया कि मार्ग का चिह्नमात्र भी नहीं है। थोड़ी देर के लिये वे किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये परन्तु पुनः उन्होंने नदी के दूसरे तट पर जाकर मार्गानुसंधान करने का निश्चय किया।

इस समय दयानन्द के शरीर पर बहुत हल्के और थोड़े वस्त्र थे। शीताधिक्य के कारण वातावरण असह्य हो रहा था। क्षुधा और पिपासा को शान्त करने का तो कोई उपाय ही नहीं था। जब भूख और प्यास सताने लगी तो बर्फ का एक टुकड़ा उठा कर मुंह में रख लिया। परन्तु इससे भला क्षुधा की निवृत्ति कैसे होती ? अब वे नदी के अथाह प्रवाह में उतर पड़े। छोटे बड़े हिमखण्डों से भरी नदी को पार करना सहज नहीं था। उनके पाँवों को पत्थर के नुकीले टुकड़ों ने लहूलुहान कर दिया। अत्यन्त शीतल पानी ने पावों को सुन्न बना दिया। उन्हें यह प्रतीत हुआ कि वे एक बार इस हिममयी शय्या पर शिथिल हो कर गिर गये तो पुनः उठना असंभव हो जायगा। यत्नपूर्वक वे नदी से निकल आये और उनकी प्राणरक्षा हो गई। कुछ काल पर्यन्त तो शारीरिक अशक्तता के कारण वे अर्धमृत जैसी अवस्था में ही रहे। पुनः सावधान होकर उन्होंने अपने वस्त्र उतारे और तलवों से लेकर घुटनों तक पैरों को ढँक लिया।

शक्तिहीन और भयभीत से वे इस प्रतीक्षा में थे कि कोई सहायता मिले, परन्तु उस

निर्जन अरण्य में सहायता की अपेक्षा करना व्यर्थ ही था। थोड़ी देर पश्चात् उन्होंने देखा कि दो पहाड़ी आदमी उनकी ओर आ रहे हैं। निकट आने पर उन पुरुषों ने इस संकटग्रस्त संन्यासी को प्रणाम किया और उन्हें अपने साथ घर चलने का आग्रह किया। साथ ही यह भी कहा कि वहाँ चलने पर उन्हें भोजनादि भी प्राप्त हो सकेगा। जब स्वामीजी ने अपने भ्रमण वृत्तान्त से उन्हें परिचित कराया तो उन्होंने यह भी आश्वासन दिया कि वे उन्हें सिद्धपत[२८] नामक तीर्थ तक पहुंचा देंगे।

यद्यपि दैवलब्ध इस सहायता को अस्वीकार करना दयानन्द के लिये किसी भी प्रकार उचित नहीं था, परन्तु वे अपनी शारीरिक अक्षमता और अशक्तता को देखते हुए इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं कर सके। उन्होंने कहा—"महाराज ! शोक, मैं आपकी यह सब कृपा स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि मुझ में चलने की किंचित् शक्ति नहीं है।" ऐसा प्रतीत होता है कि दयानन्द के जीवन के ये क्षण अत्यधिक निराशायुक्त एवं अवसादपूर्ण थे। इसके कारणों पर विचार करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उत्तराखण्ड यात्रा का उनका प्रयोजन सफल नहीं हुआ था। उन्हें आशा थी कि हिमाचल प्रदेश के इन एकान्त स्थलों में योग मार्ग के पथिक साधकों के दर्शन प्राप्त होंगे तथा उनका उपदेशश्रवण एवं सत्संगलाभ कर वे अपने को कृतकृत्य अनुभव करेंगे। परन्तु इसके विपरीत उन्हें उत्तरांचल के इन सुदूरवर्ती तीर्थस्थानों में सर्वत्र बाह्याडम्बर, प्रतिमापूजन की दम्भपूर्ण स्थिति, पाखण्ड तथा वैचारिक जड़ता के दर्शन हुए। फलतः उनकी निराशा स्वाभाविक थी। पूना प्रवचन के अन्तर्गत प्रस्तुत किये गये आत्मवृत्त में यह निराशाभाव इन शब्दों में व्यक्त हुआ है—"हिमालय पर्वत पर पहुंच कर यह विचार हुआ कि यहीं शरीर गला दूं।"[२९]

परन्तु निराशा का यह आवेग क्षणिक ही था। दयानन्द जैसे धीर, मनस्वी पुरुष के हृदय में आशा का भाव पुनः संचरित हुआ और दूसरे ही क्षण उनके मन में आया कि यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के बाद शरीर छोड़ना चाहिए।[३०]

पूना में ही दिये गये इतिहासविषयक दसवें प्रवचन में प्रसंगान्तर से दयानन्द ने यही बात कही थी—"जिस पहाड़ पर पुरानी अलकापुरी थी, उस पर भी मैं इस विचार से गया था कि एक बार ही अपना शरीर बर्फ में गला कर संसार के धन्धों से निवृत्त हो जाऊँ परन्तु वहाँ पहुंच कर विचार में आया कि इस जगह पर मर जाना तो कोई पुरुषार्थ नहीं है। अपितु ज्ञान प्राप्त करके परोपकार करना ही पुरुषार्थ है। इस विश्वास के बदलने पर लौट आया था।"[३१] और सचमुच ही दयानन्द ने इस क्षणिक नैराश्यभाव पर विजय प्राप्त कर ली। दोनों पहाड़ी पुरुषों के चले जाने पर वे थोड़ी देर तक वहीं सुस्ताते रहे। पुनः जब उन्हें शक्ति और स्फूर्ति का अनुभव हुआ तो वे चल पड़े और वसुधारा पर किंचित् काल के लिये ठहर कर तथा माना ग्राम को पार्श्व में छोड़ते हुए रात्रि के आठ बजे बद्रीनाथ के मन्दिर में पहुंच गये।

सारे दिन गायब रहे इस निस्संग संन्यासी को पुनः मन्दिर में लौटा देखकर रावलजी का विस्मित होना स्वाभाविक ही था। उन्होंने दयानन्द से दिन भर का इतिवृत्त ज्ञात किया। स्वामीजी स्वल्प भोजन के पश्चात् सो गये। प्रातः उन्हें शरीर में नवीन स्फूर्ति एवं उत्साह

का अनुभव हुआ। वे यात्रा के अगले सोपान पर बढ़ना चाहते थे, अतः रावलजी से विदा लेकर चल पड़े।

अब उनका गन्तव्य स्थल था रामपुर।[३२] यहां वे मार्गशीर्ष १९१२ वि. में पहुंचे। इसी स्थान में उन्हें रामगिरि नाम के एक अद्भुत संन्यासी मिले जो अपने पवित्र आचरण तथा स्वभाव के कारण उस अंचल में प्रख्यात थे। परन्तु उनकी शारीरिक प्रकृति में कुछ अस्वाभाविकता भी थी। वे सारी रात सोते नहीं थे तथा अपने आपसे ऊंचे स्वर में बातें करते रहते। कभी कभी उच्च स्वर से रोने लगते। उनके शिष्यों से पूछने पर उत्तर मिला कि इनकी प्रकृति ही ऐसी है। स्वामीजी ने रामगिरि की इस विचित्र मनःस्थिति का अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि इस व्यक्ति की योगसाधना में गति तो है, परन्तु वे ऐसा कुछ नहीं जानते थे, जिसकी जिज्ञासा स्वयं उन्हें थी।

यहाँ आते आते दयानन्द का उत्तराखण्ड भ्रमण समाप्त होता है। योगविषयक जिज्ञासा तथा योगी पुरुषों के दर्शन की कामना को लेकर ही उन्होंने इस पर्यटन का प्रारम्भ किया था। चाहे उनकी इच्छित मनोभिलाषा पूरी न हुई हो, किन्तु उन्हें भारतीय हिन्दू धर्म को निकटता से देखने का अवसर मिला, जो निश्चय ही स्पृहणीय नहीं था।

□□

पाद टिप्पणियां

१. सायला ग्राम रामचन्द्र के मंदिर के कारण प्रसिद्ध है, जिसे प्रसिद्ध वैश्य सन्त लाला भक्त ने बनवाया था।—काठियावाड़ गजेटियर पृ. ६४५
२. थियोसोफिस्ट में प्रकाशित आत्मवृत्तान्त में यह घटना इस प्रकार वर्णित हुई है—"जो मेरे पास थोड़े से रुपैये और अंगूठी आदि भूषण था, वह पोपों ने ठग लिया। मुझ से कहा कि तुम पक्के वैराग्यवान् तब होगे कि जब अपने पास की चीज सब पुण्य कर दो। फिर उन लोगों के कहने से मैंने जो कुछ था सब दे दिया।" महर्षि दयानन्द की आत्मकथा पृ., १२, भवानीलाल भारतीय द्वारा सम्पादित।
३. पूना प्रवचन—१५ वां व्याख्यान पृ. ११३, भवानीलाल भारतीय द्वारा सम्पादित संस्करण।
४. शंकराचार्य द्वारा स्थापित परम्परा के अनुसार दक्षिणमठ के ब्रह्मचारी अपने नाम के साथ चैतन्य उपाधि धारण करते हैं। तदनुसार मूलशंकर द्वारा नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की दीक्षा लेने पर उनका नाम शुद्ध चैतन्य पड़ा।
५. पूना प्रवचन—१५ वां व्याख्यान पृ. ११४—भवानीलाल भारतीय द्वारा सम्पादित संस्करण।
६. महर्षि दयानन्द सरस्वती का वंश परिचय पृ. २७
७. महर्षि दयानन्द की आत्मकथा पृ. १४
८. वही पृ. १४
९. वही पृ. १४

१०. वेदान्त शास्त्र में विशेष पाण्डित्य एवं व्युत्पन्नता रखने के कारण चिदाश्रम स्वामी 'वेदान्त स्वामी' के नाम से प्रसिद्ध थे।

११. विभिन्न जीवनचरितों में इस स्थान का नाम छिनौर, छिनूर, छिन्नाड़े तथा चित्तौड़ लिखा है। शुद्ध नाम 'सिनोर' है।

१२. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र—पं. लेखराम कृत पृ. ३१

१३. ११ अप्रेल १८५५ ई.

१४. चण्डी मंदिर मुख्य बस्ती से लगभग चार मील दूर एक ऊंची पहाड़ी पर स्थित है। यहां तपस्वियों एवं साधकों के लिये पर्याप्त एकान्त वातावरण है। आज जब कि हरिद्वार नगर का काफी विस्तार हो गया है, तब भी चण्डी मंदिर निर्जन सा ही है। पुनः आज से लगभग सवा सौ वर्ष पूर्व तो वहां और भी अधिक नीरवता रही होगी। उत्तराखण्ड के वन पर्वतों में ऋषि दयानन्द—पृ. ५ ले. विश्वम्भरसहाय प्रेमी

१५. महर्षि दयानन्द की आत्मकथा पृ. १५

१६. ऋषि दयानन्द का स्वरचित जन्मचरित्र पृ. २४-२५ पं. भगवद्दत्त द्वारा सम्पादित

१७. श्रीनगर अलकनंदा नदी के तट पर १७०० फीट ऊंची पर्वतमाला पर बसा है। उन दिनों टिहरी राज्य का यह समृद्धिशाली नगर व्यापार का भी केन्द्र था।

१८. यह केदारघाट श्रीनगर में ही अलकनंदा का एक घाट है, जिसके तट पर बने एक मंदिर में उनका निवास हुआ था।

१९. रुद्रप्रयाग अलकनंदा और मंदाकिनी के संगम पर अवस्थित है। श्रीनगर से इसकी दूरी २२ मील है।

२०. ऋषि दयानन्द का स्वरचित जन्मचरित्र पृ. २८

२१. ऊखी मठ की ऊंचाई ४३०० फीट है। यह स्थान मंदाकिनी के तट पर अवस्थित है। इसके सामने की ओर दूसरे तट पर गुप्तकाशी है।

२२. ऊखी मठ से गुप्तकाशी अधिक दूर नहीं है। स्वामीजी भी गुप्तकाशी से उसी दिन ऊखी मठ लौट आये थे।

२३. ऋषि दयानन्द का स्वरचित जन्मचरित्र पृ. २९

२४. वही पृ. ३०

२५. जोशीमठ एक सुन्दर पर्वतीय नगर है। इसकी ऊंचाई समुद्रतट से ६१५० फीट है। जोशीमठ ज्योतिर्मठ का अपभ्रंश है। यहां शांकर सम्प्रदाय के मठ की स्थापना शंकराचार्य ने अपने निवासकाल में की थी। यह मठ ज्योतिपीठ के नाम से विख्यात है।

२६. जोशीमठ से बद्रीनाथ की दूरी २० मील से कुछ कम है।

२७. ग्राम का सही नाम 'माना' या 'माणा' है, किन्तु स्वामी दयानन्द के विभिन्न जीवनचरितों में इसे कहीं, मांस और कहीं 'मग्रम' लिखा गया है, जो त्रुटिपूर्ण है। माना भारत तिब्बत सीमा का अन्तिम ग्राम है। इसकी ऊंचाई ११००० फीट है।

२८. यह स्थान बद्रीनाथ से जाते समय अलकनंदा के तट पर है।

२९. पूना प्रवचन—(१५ वां प्रवचन) पृ. ११५

३०. वही पृ. ११५

३१. वही पृ. ७९

३२. यह रामपुर केदारनाथ से १८ मील दूरी पर है। □□

गंगा और नर्मदा के तट पर

उत्तराखण्ड के पार्वत्य प्रदेश से नीचे उतर कर मार्गशीर्ष १९१२ वि. में दयानन्द रामपुर होते हुए काशीपुर आये। वहाँ से चल कर द्रोणसागर में उन्होंने शीतकाल व्यतीत किया। शीत ऋतु के समाप्त होने पर वे द्रोणसागर से मुरादाबाद तथा सम्भल होते हुए फाल्गुन १९१२ वि. में गढ़मुक्तेश्वर पहुँचे। इस प्रकार वे गंगा की तटवर्ती भूमि पर विचरण करते रहे। आत्मकथन से विदित होता है कि इस समय उनके पास शिवसंध्या, हठयोग-प्रदीपिका तथा योग बीज आदि हठयोग के कतिपय ग्रन्थ थे। दयानन्द ने इन्हीं ग्रन्थों का पुनः पुनः पारायण और विचार किया। हठ योग की साधना पातञ्जल योग की पद्धति से मूलतः भिन्न है। जहाँ महर्षि पतञ्जलि द्वारा उपदिष्ट राजयोग में यमनियमादि योग के आठ अंगों के परिपालन पर जोर दिया गया है, वहाँ हठयोग में कुछ शारीरिक तथा मानसिक रहस्यपूर्ण क्रियाओं तथा जटिल साधनाओं का प्रतिपादन ही मिलता है। हठयोग के अनुसार मानव शरीर में इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्णा नाड़ियों के अतिरिक्त अष्ट चक्रों की अवस्थिति है। दयानन्द के हृदय में हठयोग के प्रतिपाद्य विषयों की यथार्थ जानकारी प्राप्त करने की इच्छा उत्तरोत्तर बलवती हो रही थी। एक दिन अनायास ही ऐसा संयोग उत्पन्न हुआ, जिसका लाभ उठा कर उन्होंने हठयोग के विधायक ग्रन्थों में वर्णित शरीर स्थित नाड़ी चक्रों की वास्तविकता का परिज्ञान करना चाहा। इस घटना का उल्लेख स्वामीजी ने अपने आत्मकथन में इस प्रकार किया है—

"एक दिन दैव संयोग से एक शव मुझे नदी में बहता हुआ मिला। तब सचमुच मुझे अवसर प्राप्त हुआ कि मैं उसकी परीक्षा करता। .....मैं नदी के भीतर गया और शव को पकड़ तट पर लाया। मैंने तीक्ष्ण चाकू से उसे यथायोग्य काटना आरम्भ किया और हृदय को उसमें से निकाल लिया और ध्यानपूर्वक देख परीक्षा की। अब पुस्तकोल्लिखित वर्णन की उससे तुलना करने लगा। .....यह निश्चय करके कि दोनों अर्थात् पुस्तक और शव लेशमात्र भी परस्पर नहीं मिलते मैंने पुस्तकों को फाड़ कर उनके टुकड़े टुकड़े कर डाले और शव को फेंक, साथ ही पुस्तकों के टुकड़ों को भी फेंक दिया।"[१]

सत्य के प्रति निर्मम आग्रह और दृढ़ जिज्ञासा का भाव रखने वाला व्यक्ति ही ऐसा कर सकता है। सत्य को जानने और उसे स्वीकार करने के लिये दयानन्द की आत्मा में कितना उत्साह और कितनी ललक थी, यह उनके जीवन में घटित कतिपय बातों से स्पष्ट हो जाती है। शिवरात्रि की घटना का वर्णन हम कर चुके हैं। ज्यों ही मूलशंकर को यह विदित हुआ कि प्रस्तर प्रतिमा वास्तविक शिव नहीं है, उसी समय संस्कारों से उपार्जित मूर्तिपूजा के प्रति उनका आस्थाभाव अविलम्ब समाप्त हो गया और फिर शैव पिता के द्वारा प्रस्तुत किये गये कितने ही समाधानात्मक वाक्य और प्रतीकोपासना की आपातरमणीय व्याख्याएं उसे संतुष्ट नहीं कर सकीं। इसी प्रकार मानवशरीर की चीर फाड़ जैसे जुगुप्साजनक कार्य को भी उन्होंने सत्य को जानने की दृष्टि से ही किया। इस बार भी जब उन्हें विदित हो गया कि हठयोग की जो धारणाएं मानवशरीर में पाये जाने वाले तथाकथित नाड़ी चक्रों आदि पर आधारित हैं, उन चक्रों आदि का भी कोई अस्तित्व नहीं है तो उन्हें इस योगपद्धति की निस्सारता का पूर्ण

रूप से विश्वास हो गया। अब उन्होंने यही उचित समझा कि परीक्षित शव के साथ ही हठयोग के इन ग्रन्थों को भी जल समाधि दे देना चाहिए। क्या ये घटनाएं इस बात को सिद्ध नहीं करतीं कि दयानन्द सत्य के वास्तविक रूप का ही साक्षात्कार करना चाहते थे। धर्म और अध्यात्म की यथार्थ साधनापद्धतियां किस प्रकार जटिल, रहस्यपूर्ण, बीभत्स एवं स्थूल रूप धारण कर चुकी हैं, इस तथ्य से परिचित होने के साथ ही उन्होंने इन निरर्थक साधना पद्धतियों को त्यागने में भी कोई संकोच नहीं किया। सत्य के प्रति दृढ आस्था का यह भाव ही दयानन्द की जीवनयात्रा का निर्देशक तत्त्व बना था। इस प्रकार हठयोग की पद्धति और ग्रन्थ राशि के प्रति जब उनकी विरक्ति हुई, तो उनका यह विश्वास और भी दृढ़ हो गया कि वास्तविक योगसाधना के लिये वेद, उपनिषद् तथा सांख्य, योग आदि दर्शनों में प्रतिपादित विचारसरणि का ही अवलम्बन किया जाना चाहिए।

गंगा तट पर विचरण करते हुए वे चैत्र कृष्णपक्ष सं. १९१२ वि. में फर्रुखाबाद पहुँचे। वहाँ से वे शृंगीरामपुर नामक स्थान पर आये। यहाँ से छावनी की पूर्व दिशा वाली सड़क पकड़ कर उन्होंने कानपुर जाने का विचार किया। यह घटना अप्रैल १८५६ की है। विक्रम का १९१२ वां वर्ष समाप्त हो रहा था।

वि. सं. १९१३ के प्रथम पांच मास स्वामीजी ने कानपुर और प्रयाग के मध्यवर्ती स्थानों को देखने में व्यतीत किये। भाद्रपद के प्रारम्भ में वे मिर्जापुर पहुँचे और विंध्याचलेश्वर मन्दिर के निकटवर्ती किसी स्थान पर रहे। आश्विन के प्रारम्भ में वे काशी पहुँचे। काशी की यह प्रथम यात्रा थी। इस समय वे वरुणा और गंगा के संगम पर स्थित एक गुफा में ठहरे। यह स्थान उस समय स्वामी भवानन्द सरस्वती नामक किसी संन्यासी के अधिकार में था। काशी का बारह दिन का यह अल्प प्रवास इस दृष्टि से महत्वपूर्ण रहा कि इस अवधि का उपयोग उन्होंने पं. राजाराम शास्त्री तथा पं. काकाराम शास्त्री आदि सुविख्यात दाक्षिणात्य पण्डितों से परिचय प्राप्त करने में किया।

काशी से वे चुनार की ओर चले। आत्मकथन में इसे चण्डालगढ़ कहा गया है। चुनार के दुर्गाकुण्डस्थित मन्दिर में वे आश्विन शुक्ला २ सं. १९१३ को पहुँचे।[२] दस दिन तक उनका निवास इस स्थान पर रहा। अब वे चावल छोड़ कर मात्र दुग्धाहार पर निर्वाह करने लगे। भारत के साधु संन्यासियों में संसर्ग दोष से भंग आदि मादक द्रव्यों के सेवन का व्यसन शताब्दियों से प्रचलित है। दयानन्द भी इस दोष से बच नहीं सके। एतद् विषयक एक मनोरञ्जक घटना का वर्णन उन्होंने स्वयं अपने आत्मकथन में किया है।[३]

गंगातटवर्ती स्थानों के भ्रमण के उपरान्त स्वामीजी का पर्यटन नर्मदा नदी के मूल स्रोत को देखते के अभिप्राय से प्रारम्भ होता है। जेष्ठ १९१४ वि. में उन्होंने नर्मदा के स्रोत की यात्रा की। इस यात्रा का रोमांचक और वस्तुनिष्ठ वर्णन उन्होंने स्वयं इस प्रकार किया है—"मैंने कभी एक बार भी किसी से मार्ग नहीं पूछा प्रत्युत दक्षिण की ओर यात्रा करता हुआ चला गया। शीघ्र ही एक ऐसे उजाड़ निर्जन स्थान में पहुंच गया जहाँ चारों ओर बहुत घने वन और जंगल थे। वहां जंगल में अनियमित दूरी पर बिना क्रम झाड़ियों के मध्य में कई स्थानों पर मलिन और उजाड़ झोंपड़ियां थीं। उन झोपड़ियों में से किसी एक पर मैंने किञ्चित दुग्ध पान किया और पुनः आगे की ओर चल दिया।"[४]

आगे चलने पर वे एक ऐसे स्थान पर पहुंचे जहाँ से विभिन्न छोटे छोटे मार्ग इधर-

उधर जाते थे। एक मार्ग का अनुसरण कर वे एक निर्जन वन में प्रविष्ट हो गये। यहाँ एक काले रीछ से उनकी मुठभेड़ हुई जो चिंघाड़ मार कर अपनी पिछली टांगों पर खड़ा हो गया। उसने अपना मुख खोल लिया। कुछ काल पर्यन्त दयानन्द स्तब्ध भाव से खड़े रहे, तत्पश्चात् जब उन्होंने अपना सोटा उठाया, तो रीछ भयभीत होकर उलटे पांव भाग गया। रीछ की गर्जना सुनकर निकटवर्ती ग्रामवासी एकत्र हो गये और उनसे अनुरोध करने लगे कि वे घन-घोर अरण्य में प्रवेश न करें। धुन के धनी दयानन्द ग्रामवासियों के अनुनय को अस्वीकार कर आगे बढ़ गये। उनकी निर्भीकता तथा साहसिक प्रवृत्ति का आभास इस बात से भी मिलता है कि ग्राम वालों ने जो एक डंडा उन्हें आत्मरक्षा हेतु दिया था, उसे वे वहीं फेंक कर निविड़ कानन में प्रविष्ट हो गये।

कई घण्टों तक चलने के पश्चात् वे एक और घने जंगल में प्रविष्ट हुए। इस वृक्ष लता गुल्म संकुल महारण्य को उन्हें सर्पवत् रेंग कर पार करना पड़ा। इस प्रयत्न में उनका शरीर क्षत विक्षत हो गया, मांस और रक्त बह निकला। अन्ततोगत्वा वे एक ऐसे भयानक स्थान पर जा निकले जो चारों ओर पर्वतमालाओं से घिरा तथा नाना औषधि, लता, वनस्पति आदि से परिपूर्ण था। यहाँ उन्हें मानव आवास का कोई चिह्न तक दृष्टिगोचर नहीं हुआ। कुछ पर्ण कुटीर अवश्य दीख पड़े जिनके निकट कलरव युक्त एक नदी बह रही थी। वहां कुछ बकरियां भी चर रही थीं। एकाकी पथिक दयानन्द इस स्थान पर पहुंच कर एक विशाल वृक्ष के नीचे विश्राम के लिये बैठे। रात्रि भी यहीं व्यतीत की। प्रातः उठ कर संध्योपासना में प्रवृत्त होने को ही थे कि उन्हें किसी वन्य पशु की गर्जना सुनाई दी। कुछ काल पश्चात् उन्होंने देखा कि एक जनसमूह अपने पशुओं के साथ जा रहा है। सम्भवतः किसी धार्मिक उत्सव को मनाने हेतु ये लोग एकत्र हुए थे और अब अपने घरों को लौट रहे थे।

एक परमहंस संन्यासी को अपने बीच देख कर उनकी जिज्ञासा जागृत हुई और एक वृद्ध पुरुष ने आगे बढ़ कर उनका परिचय पूछा। दयानन्द ने उत्तर में कहा कि वे काशी से आये हैं और नर्मदा स्रोत तक जाना चाहते हैं। कुछ समय पश्चात् उनके समूह का मुखिया स्वामीजी को आतिथ्य ग्रहण करने हेतु आमंत्रित करने आया। स्वामीजी के हृदय में मूर्तिपूजा के प्रति तिरस्कार का भाव इतना तीव्र था कि उन्होंने इन पुरुषों को मूर्तिपूजक जान कर उनका निमंत्रण भी स्वीकार नहीं किया। जब दयानन्द किसी प्रकार से इन अरणयवासियों के निमंत्रण को स्वीकार करने में तत्पर नहीं हुए, तो वे लोग वहां से चले गये। परन्तु इससे पूर्व यह जान कर कि परमहंसजी केवल दुग्ध पान ही करते हैं, उन्होंने स्वामी जी के कमण्डलु को दूध से परिपूरित कर दिया। स्वल्प मात्रा में दुग्ध पान कर स्वामीजी प्रगाढ़ निद्रा में सो गये। प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व ही उठे और संध्योपासना के पश्चात् आगे की यात्रा के लिये सन्नद्ध हुए।

इस प्रकार नर्मदा स्रोत गवेषण तथा नर्मदा के तटवर्ती प्रान्तों के भ्रमण का कार्य तीन वर्ष तक चलता रहा। वस्तुतः इन तीन वर्षों तक का दयानन्द का पर्यटन का काल उनके जीवन का वह भाग है जिसके सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी अद्यापि अनुपलब्ध है। जीवनी लेखकों ने इसे अज्ञात अवस्था का काल कहा है तथा इस समय की सम्भावित घटनाओं के सम्बन्ध में विभिन्न अनुमान लगाये हैं और अनेक कल्पनाएं की हैं। स्वयं देवेन्द्रनाथ ने भी स्पष्ट रूप से लिखा है—"इस विषय में हम कुछ नहीं कह सकते कि नर्मदा के उत्पत्तिस्थान के दर्शन के पश्चात् उन्होंने क्या किया, कहां कहां गये, किस किस नये योगाभ्यास के उद्देश्य

से किस किस योगी के पास गये । वस्तुतः इस पहाड़ी ग्राम के वृक्ष के नीचे रात्रि भर विश्राम करके जब अगले दिन संध्योपासना के पश्चात् आगे जाने को उद्यत हुए, उसके पीछे का उनका जीवन न केवल हमारे ही लिये अंधकार में छिपा हुआ है बल्कि संसार के लिये भी अज्ञात है ।"[५]

स्वामी दयानन्द और १८५७ की हलचल

स्वामी दयानन्द के जीवन के ये तीन वर्ष अज्ञात अवस्था के माने जाते हैं । इस अवधि में वे कहाँ रहे, क्या करते रहे आदि प्रश्नों को लेकर अनेक सम्भावनाएँ प्रकट की गई हैं । सर्वप्रथम 'हमारा राजस्थान' पुस्तक के लेखक पृथ्वीसिंह महता विद्यालंकार ने इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा—

"मार्च १८५७ तक वह प्रायः गंगा के साथ साथ गंगोत्तरी और बद्रीनाथ से बनारस तक गढ़वाल, रुहेलखण्ड, दोआब और काशी के प्रदेश में घूमता रहा, जहाँ तक क्रान्ति की तैयारियां जनता में भीतर ही भीतर जोरों से की जा रही थीं ।

१८५६ के मई मास में वह नाना के नगर कानपुर में गया और आगे पांच मास तक कानपुर, इलाहाबाद के बीच ही चक्कर काटता रहा । फिर बनारस, मिर्जापुर, चुनार होकर मार्च १८५७ में जब क्रांति की तैयारियाँ लगभग पूरी हो चुकीं और नाना साहब के सैंकड़ों संदेशवाहक साधुओं, फकीरों आदि के रूप में पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण देश के हर कोने में क्रान्ति का संदेश लेकर रवाना हुए और स्वयं नाना साहब और अजीमुल्ला भी क्रान्ति आरम्भ करने की तारीख निश्चय कर उसकी सारी तैयारी अपनी आंखों से देख लेने को तीर्थयात्रा करने निकले तब दयानन्द भी बनारस से मिर्जापुर, चुनार होकर नर्मदा स्रोतों के लिये दक्षिण की ओर निकल पड़ा । अपने प्रारम्भिक जीवन का परिचय देने के लिये दयानन्द की स्वलिखित जीवनी का यहां आकर एकाएक अन्त हो जाता है । आगे तीन साल क्रान्ति युद्ध के दिनों में वह कहां रहा और क्या करता रहा इसकी कोई विगत उसने कभी नहीं दी । यह कहना तो कठिन है कि क्रान्तियुद्ध या उसके संगठन के प्रति उसका रुख क्या रहा और उसने भी उसमें कोई भाग लिया या नहीं ? तो भी उसकी जीवन घटनाओं की तिथियों का जो संक्षिप्त सा विवरण ऊपर दिया गया है उससे यह बात तो स्पष्ट हो ही सकती है कि क्रांन्ति की तैयारियों आदि से उसे निकट परिचय करने का अवसर अवश्य मिला । यह बात मान लेना आसान नहीं है कि दयानन्द के सदृश भावनाप्रवण और चेतनावान् हृदय और मस्तिष्क का युवक उसके प्रभाव से अछूता बचा रहा हो और उस युद्ध की सफलता-विफलता की इस पर कोई प्रतिक्रिया न हुई हो ! अतः उसकी उन तीन वर्षों के बारे में यह चुप्पी भी कम अर्थ भरी प्रतीत नहीं होती ।"[६]

श्री पृथ्वीसिंह महता के द्वारा व्यक्त इन धारणाओं को कालान्तर में अन्य लेखकों ने भी अपनी अपनी दृष्टि से प्रस्तुत कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि निश्चय ही १८५७ के विप्लव में स्वामी दयानन्द का किसी न किसी रूप में प्रत्यक्ष या परोक्ष हाथ अवश्य था । कई अत्यन्त उत्साही लेखकों ने तो अपनी कल्पनाशक्ति का निर्बाध प्रयोग करते हुए उन्हें १८५७ की क्रान्तिकारी चेष्टाओं के सूत्रधार—नाना साहब, तात्याटोपे, अजीमुल्ला खां, कुंवरसिंह, झांसी की रानी लक्ष्मी बाई आदि का पथप्रदर्शक तथा परामर्शदाता सिद्ध करने का भी प्रयास किया है ।[७]

जहाँ तक स्वामी दयानन्द की आत्मकथा के नर्मदा स्रोत गवेषण प्रसंग पर आकर यकायक समाप्त हो जाने का प्रश्न है, बात नितान्त सीधी सादी है। जिस समय थियोसोफिस्ट पत्र में यह आत्मवृत्तान्त छपने लगा था, उस समय तक स्वामी जी के सम्बन्ध उक्त पत्र के सम्पादकों से सौहार्दपूर्ण ही थे, परन्तु कालान्तर में जब थियोसोफिकल सोसाइटी और आर्य-समाज के बीच सैद्धान्तिक अन्तर की खाई बढ़ गई, तो न तो, थियोसोफिस्ट के सम्पादकों का ही इस आत्मकथा को छापने का कोई उत्साह रहा और न अपने व्यस्त कार्यक्रम और जटिल संकुल जीवनचर्या के कारण स्वामीजी ही वृत्त की अगली किस्तें लिख पाये। इसी बीच उनका निधन भी हो गया। अतः आत्मवृत्तान्त के अपूर्ण रह जाने में कोई विसंगति नहीं है।

निश्चय ही महता जी की यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि १८५७ के अशान्त और हलचल भरे युग में घटने वाली घटनाओं के प्रति युवा हृदय दयानन्द की प्रतिक्रियायें क्या और कैसी रही होंगी ? यह एक अन्वेषणीय प्रश्न है, किन्तु इसका इदमित्थम् उत्तर देना भी सहज नहीं है। स्वयं महता जी ने भी अनेक अनुमानाश्रित तर्कणाओं को ही प्रस्तुत किया है, जिन पर विचार किया जाना आवश्यक है। उनका कथन है कि "दयानन्द को विरजानन्द के पास पढ़ने की प्रेरणा विरजानन्द के गुरु पूर्णानन्द ने १८५५ में दी थी।" आगे चल कर वे यह भी कहते हैं कि "१८६३ तक ढाई साल वह (दयानन्द) विरजानन्द के पास पढ़ता रहा। उस समय शास्त्रों के अध्ययन के अतिरिक्त देश की दशा पर भी दोनों गुरु शिष्य का संवाद एकान्त में होता था जिसमें उन दोनों के सिवाय वहां तीसरा कोई व्यक्ति नहीं रहने पाता था।"[८] लेखक की इस निर्दोष धारणा से किसी का कोई वैमत्य नहीं हो सकता, परन्तु गुरु शिष्य के एकान्त संवाद के विवेचनीय विषय क्या रहे होंगे, इन्हें भी किसी अन्य व्यक्ति की अनुपस्थिति में सिवाय अन्तर्यामी के और कौन जान सकता है ? निश्चय ही विरजानन्द अपने युग के अत्यन्त तेजस्वी, क्रान्तदर्शी तथा उग्र विचारों से युक्त पुरुष थे तथा उन्होंने अपने विस्मयकारी पाण्डित्य, युगसापेक्ष क्रान्तिकारी विचारधारा तथा गत्यात्मक व्यक्तित्व से दयानन्द को असाधारणतया प्रभावित भी किया था। किन्तु इस बात का क्या प्रमाण है कि उनका पारस्परिक वार्त्तालाप तत्कालीन राजनैतिक घटनाओं से ही सम्बद्ध रहता था।

भारत के प्रथम स्वाधीनता संग्राम या राष्ट्रव्यापी विप्लव में स्वामी दयानन्द का योगदान कितना और कैसा रहा, इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध इतिहासकार पं. जयचन्द्र विद्यालंकार ने अपने उद्गार स्वरचित पुस्तक 'राष्ट्रीय इतिहास का अनुशीलन' में व्यक्त किये हैं। उनकी कुछ उपपत्तियाँ इस प्रकार हैं—"सन् १८४७ में नर्मदा के किनारे महाराष्ट्र संन्यासियों की एक मण्डली से (दयानन्द) मिले जिसके नेता पूर्णानन्द सरस्वती से संन्यास दीक्षा और दयानन्द नाम पाया। इसके बाद भी पूर्णानन्द और उनके साथियों के सम्पर्क में रहे जिनका इन पर इनकी जीवनयात्रा की पहली मंजिल में विशेष प्रभाव पड़ता रहा।"[९] वे आगे लिखते हैं—"१८५५ में दयानन्द हरद्वार के कुम्भ मेले पर पूर्णानन्द से मिलने जा रहे थे, तब उत्तर भारत की जनता में स्वतन्त्र होने के लिये उभार आ रहा था।"[१०]

विद्यालंकार जी के उपर्युक्त कथनों की परीक्षा आवश्यक है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके कथन में निश्चय ही कुछ असंगतियाँ हैं जिनसे वे स्वयं भी परिचित थे। प्रश्न यह है कि जिन महाराष्ट्र संन्यासी स्वामी पूर्णानन्द से दयानन्द ने संन्यास की दीक्षा ली, क्या

फिर कभी जीवन काल में दयानन्द की अपने इस दीक्षा गुरु से भेंट हुई थी ? निश्चय ही नहीं। दूसरा प्रश्न यह है कि १८५५ में दयानन्द कुम्भ के मेले पर जिन पूर्णानन्द से मिलने जा रहे थे, क्या ये उनके दीक्षा गुरु स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती ही थे अथवा कोई अन्य पूर्णानन्द ? निश्चय ही स्वामी दयानन्द के दीक्षा गुरु पूर्णानन्द सरस्वती और हरिद्वार निवासी पूर्णानन्द दो भिन्न व्यक्ति हैं।

देवेन्द्रनाथ ने पूर्णाश्रम स्वामी का उल्लेख दो स्थानों पर किया है। 'विरजानन्द चरित' में स्वामी विरजानन्द के दीक्षा गुरू कनखल निवासी पूर्णाश्रम स्वामी का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं कि 'विरजानन्द ने प्रशंसित विद्या वैराग्य पूर्ण संन्यासी (पूर्णाश्रम स्वामी) से दीक्षा ग्रहण की।'[११] इधर महर्षि दयानन्द के जीवनचरित में भी उन्होंने पूर्णाश्रम की चर्चा की है। उनके अनुसार दयानन्द को विरजानन्द की पुण्यकीर्ति और विद्वता की ख्याति स्वामी पूर्णाश्रम से विदित हो चुकी थी, अतः वे उनसे मिलने के लिये उत्सुक थे।[१२] स्वामी विरजानन्द के एक अन्य जीवनचरित लेखक भीमसेन शास्त्री ने पूर्णाश्रम के स्थान पर विरजानन्द के दीक्षा गुरु का नाम पूर्णानन्द सरस्वती स्वीकार किया है।[13] शास्त्रीजी के अनुसार इनका निवास स्थान हरियाणा प्रदेश था तथा वे गौड़ ब्राह्मण कुलोत्पन्न थे। १९१४ वि. के विप्लव के समय इनकी आयु ११० वर्ष बताई गई है।[१४] जिस समय १९१२ वि. में स्वामी दयानन्द हिमालय पर्वत की उपत्यकाओं में भ्रमण करते हुए सच्चे योगियों के अन्वेषण में तत्पर थे, तो जोशी मठ के शंकराचार्य ने उन्हें हरिद्वार जाकर स्वामी पूर्णानन्द से पढ़ने का परामर्श दिया। जब इसी वर्ष में दयानन्द की भेंट पूर्णानन्द से हुई तो यह संन्यासी १०८ वर्ष की आयु प्राप्त कर चुका था। अत्यन्त वृद्ध होने के कारण उन्होंने अध्यापन कार्य बन्द कर दिया था। भीमसेन शास्त्री के अनुसार उन्होंने दयानन्द के द्वारा पढ़ाने के आग्रह को स्वीकार नहीं किया और एक कागज पर यह लिख कर परामर्श दिया कि वे मथुरा जाकर उनके शिष्य विरजानन्द से पढ़ें।[१५]

दयानन्द को संन्यास की दीक्षा देने वाले और हरिद्वार के कुम्भ मेले में जिनसे भेंट हुई, वे पूर्णानन्द एक ही व्यक्ति हैं, या पृथक्-पृथक्—यह शंका जयचन्द्र विद्यालंकार को भी हुई थी। उत्तर स्पष्ट है। दोनों को एक मानना संभव नहीं है। स्वामी दयानन्द के दीक्षा गुरु महाराष्ट्र देश वासी थे, जब कि विरजानन्द के दीक्षा गुरु पूर्णानन्द हरयाणा देश के निवासी गौड़ ब्राह्मण थे। परन्तु इस यक्ष प्रश्न का समुचित समाधान ढूंढ़ने की चिंता किये बिना ही विद्यालंकार जी अपनी तर्क सरणि को आगे बढ़ाते हैं। अब वे लिखते हैं—"बहुत सम्भवतः दयानन्द सरस्वती ने भी इसी समस्या (देश को विदेशियों के प्रभुत्व से मुक्त कराने) पर विचार-विमर्श करने के लिये हरद्वार का रास्ता पकड़ा था। पर इनके प्रश्न सुनकर बूढ़े पूर्णानन्द ने कहा—"इन प्रश्नों पर हमारे शिष्य विरजानन्द ने विशेष विचार किया है, उनके पास मथुरा जाओ।"[१६] विद्यालंकार जी इस वार्तालाप का यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यदि दयानन्द की जिज्ञासा दर्शन अथवा व्याकरण विषयक होती तो पूर्णानन्द स्वयं ही उसका समाधान कर देते, किन्तु सम्भवतः दयानन्द ने देश को स्वाधीन करने के सम्बन्ध में किसी योजना पर उनके विचार जानने चाहे थे। स्वयं को अत्यन्त वृद्ध एवं जराजीर्ण जान कर पूर्णानन्द ने दयानन्द को एतद् विषयक विचारविमर्श करने के लिये अधिक प्रौढ़ राजनीतिक चिन्तन वाले अपने शिष्य विरजानन्द के पास जाने का परामर्श दिया।

स्वामी विरजानन्द के जीवनी लेखक इस बात से सहमत हैं कि स्वामी पूर्णानन्द

अष्टाध्यायी व्याकरण के निष्णात विद्वान् थे। अतः जब स्वामी दयानन्द अपनी शास्त्र विषयक जिज्ञासाओं को शान्त करने हेतु वयोवृद्ध पूर्णानन्द सरस्वती के समीप गये और उन्हें शारीरिक दृष्टि से शास्त्रालोचन में असमर्थ पाया तो उन्होंने वृद्ध संन्यासी का यह परामर्श सहज ही स्वीकार कर लिया कि उन्हें अपनी शास्त्र विषयक पिपासा को शान्त करने के लिये मथुरा में विरजानन्द से सम्पर्क करना चाहिए। इसके विपरीत यह निष्कर्ष निकालना कि दयानन्द विदेशी शासन से मुक्ति प्राप्त करने का कोई महामन्त्र लेने पूर्णानन्द के निकट गये थे, दूर की कौड़ी लाने के तुल्य ही है। दयानन्द का तत्कालीन चिन्तन और मानसिक उद्वेलन धर्म के स्वरूप तथा शास्त्रों के प्रकृत रूप की जिज्ञासा पर ही केन्द्रित था।

पं. जयचन्द्र ने अपने इस अनुमान की सिद्धि के लिये कि १८५७ की हलचल में स्वामी दयानन्द का किसी न किसी रूप में अवश्य हाथ रहा है, अपनी पूर्व व्यक्त उपपत्ति की पुष्टि में आगे लिखा—"दयानन्द ने हरद्वार से गढ़वाल जाने का संकल्प कर रक्खा था, उस यात्रा से लौट मथुरा जाना तय किया। किन्तु गढ़वाल से गढ़मुक्तेश्वर लौट आगे दक्षिण पश्चिम जाने के बजाय दक्षिण-पूर्व चले गये—मथुरा के बजाय कानपुर, और आगे पांच बरस तक विरजानन्द के पास जाने का अपना संकल्प टाले रखा। प्रकटतः किसी महत्त्व के कार्य से इस बीच इनका सम्पर्क हुआ था जो इन्हें कानपुर खींच ले गया। कानपुर के पास बिठूर में तब इनके समवयस्क नाना साहब धोंधो पन्त और उनके साथी भारत की स्वतन्त्रता के लिये एक बड़े प्रयत्न का आरम्भ और उसके लिये योग्य सहयोगियों की खोज कर रहे थे। साधु संन्यासियों के सहयोग का उनके लिये विशेष मूल्य था।"[१७] जयचन्द्रजी का तर्क इस बात पर आश्रित है कि यदि दयानन्द को मथुरा ही जाना था तो वे कानपुर क्यों चले गये और उसके बाद भी लगभग तीन वर्ष तक नर्मदा के आरण्यक प्रदेश में परिभ्रमण कर उन्होंने अज्ञातवास क्यों किया? परन्तु किसी पर्यटनप्रिय परमहंस से यह पूछना कि उसने अमुक समय में अमुक स्थान का भ्रमण क्यों किया, अथवा अमुक स्थान पर वह क्यों नहीं गया, सर्वथा अनौचित्य पूर्ण है। जब तक दयानन्द ने अपने जीवन के लक्ष्य को सुस्थिर नहीं कर लिया, तब तक तो उनका देशाटन पूर्णतः उनकी स्वतन्त्र इच्छा का ही अनुगामी था। अतः मात्र कानपुर प्रवास के आधार पर नाना साहब से उनके सम्पर्क स्थापित करने की बात कल्पनाश्रित ही है, तथ्याश्रित नहीं।

१८५७ के विप्लव के अन्तिम रूप से विफल हो जाने के लगभग २ वर्ष पश्चात् स्वामी दयानन्द १८६० ई. में विरजानन्द की पाठशाला में आये। पं. जयचन्द्र के अनुसार "१८५७-५९ वाले प्रयत्न के विफल हो जाने के बाद उसकी विफलता के कारणों और उन्हें दूर करने के उपायों पर विचार करने की आवश्यकता थी और दयानन्द ठीक तभी, जान पड़ता है वैसा विचार करने के लिये ही विरजानन्द के पास पहुंचे।"[१८] यह कथन भी अनुमानाश्रित ही है क्योंकि दयानन्द और विरजानन्द का पारस्परिक वार्तालाप और विचार विमर्श शास्त्र विषयक ही होता था। विद्योपार्जन की प्रबल कामना के वशवर्ती होकर ही दयानन्द दण्डी विरजानन्द के निकट गये थे। यह बात तो समझ में आती है कि विरजानन्द सामयिक राजनीतिक एवं सामाजिक समस्याओं के भी पूर्ण जानकार थे तथा वे स्वशिष्य का ध्यान देश और

समाज के अभ्युत्थान की ओर केन्द्रित करना चाहते थे, परन्तु इस तथ्य को अतिवादिता की सीमा तक ले जाकर यह कहना कि दयानन्द १८५७ की विफलता पर परामर्श करने हेतु दण्डी जी की सेवा में आये थे, अनुचित होगा।

देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के अनुसार विरजानन्द का संवाद दयानन्द को उत्तराखण्ड की यात्रा से पहले मिला था। पं. लेखराम के अनुसार नर्मदा तट पर भ्रमण करते समय उन्होंने किसी से विरजानन्द की विद्वत्ता की प्रशंसा सुनी थी। दोनों में कोई भी बात सत्य हो, इतना तो निश्चित है कि मथुरा जाने से पूर्व वे काशी आदि स्थानों पर जाकर विद्वानों से भेंट तथा नर्मदा स्रोत भ्रमण के अपने कार्यक्रम को पूरा कर लेना चाहते थे। इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिये उन्होंने उत्तराखण्ड तथा नर्मदा तट भ्रमण में लगभग चार वर्ष व्यतीत किये। इन वर्षों में उनकी कोई राजनीतिक प्रवृत्ति उद्बुद्ध होकर उन्हें १८५७ की क्रान्ति का सूत्र संचालन करने की प्रेरणा दे रही थी, यह कथन सत्य से कोसों दूर है।

वस्तुतः किसी व्यक्ति की मानसिक चिन्ता धारा और उसकी विचार सरणि ही उसके क्रियाकलापों की निर्देशिका होती है। हम यह देखते हैं कि गृहत्याग से लेकर दण्डी विरजानन्द की पाठशाला में प्रविष्ट होने तक की अवधि में दयानन्द की सभी गतिविधियों और प्रवृत्तियों का संचालन उनके हृदय में विद्यमान उन भावनाओं से हो रहा था, जो मुख्यतः आध्यात्मिक तत्त्वों की जिज्ञासा से उद्भूत हुई थीं। बाह्यसंसार की गतिविधियों से सर्वथा निर्लिप्त, प्राचीन संन्यास परम्पराओं का पूर्ण पालन करने वाले दयानन्द का अचानक ही सत्यान्वेषण, योगिगवेषण तथा शास्त्रालोचन के मार्ग को त्याग कर राजनीतिक हलचलों में उलझ जाना तथा शासन सत्ता कामी राजपुरुषों के सम्पर्क में आकर उन्हें नेतृत्व प्रदान करना समझ में आने वाली बात नहीं है। देश में व्याप्त सामाजिक तथा अन्य सार्वजनिक गतिविधियों का निकट से परिचय तो उन्हें बहुत बाद में हुआ, जब वे भारत की तत्कालीन राजधानी कलकत्ता गये और वहां उन व्यक्तियों के सम्पर्क में आये जो देश की राजनीतिक-सामाजिक प्रवृत्तियों का सूत्रसंचालन कर रहे थे। दयानन्द का तब तक का जीवन तो निरन्तर भ्रमण कर परम तत्त्व की खोज में सर्वात्मना लीन रहने वाले परमहंस परिव्राजक का ही था।

पं. जयचन्द्र विद्यालंकार की एतद् विषयक अन्य उपपत्तियां तो प्रायशः अनुश्रुतियों अथवा अनुमानों पर ही आश्रित हैं। यथा उन्होंने बनारस के उदासी मठ के सत्यस्वरूप शास्त्री के कथन को उद्धृत करते हुए लिखा है—"साधु सम्प्रदाय में तो बराबर यह अनुश्रुति चली आती है कि दयानन्द ने १८५७ के संघर्ष में महत्त्वपूर्ण भाग लिया था।"[१९] परन्तु इस अनुश्रुति का आधार क्या है, इसे आज तक कोई नहीं बता सका। सत्यार्थप्रकाश के ११ वें समुल्लास में १९१४ वि. के वर्ष में अंग्रेजों का तोपों से मूर्तियों को तोड़ देना और इस सन्दर्भ से वाघेर लोगों की वीरता का उल्लेख एक अन्य अनुमान है, जिसके आधार पर पं. जयचन्द्र ने लिखा—"इस तरह की बात कोई ऐसा ही व्यक्ति लिख सकता है जिसने वाघेरों के संघर्ष को निकट से देखा हो या सुना हो और जिसके दिल में यह कसक रह गई हो कि काश, इनका कोई श्रीकृष्ण जैसा नेता रहा होता।"[२०] जो अनुमान विद्यालंकार जी निकालते हैं, वह आपाततः

निर्दोष प्रतीत होता है, किन्तु बिना किसी पुष्ट प्रमाण के यह स्वीकार करना कठिन है कि स्वामी दयानन्द सचमुच ही १८५७ की राजनीतिक गतिविधियों में लिप्त रहे अथवा उन्होंने इनका सूत्रसंचालन भी किया। सत्यार्थप्रकाश में बाघेर जाति के जिन लोगों की वीरता और पराक्रम का उल्लेख किया गया है उनके वीरतापूर्ण कृत्यों का परिज्ञान लेखक को था, यह तो सहज ही अनुमेय है, परन्तु वे स्वयं भी इन लोगों के सम्पर्क में आये थे, अथवा उनके इन संघर्षपूर्ण कृत्यों को उन्होंने निकटता से देखा था, यह अभी तक साध्य कोटि में ही है।

जो हो, यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि पृथ्वीसिंह मेहता विद्यालंकार तथा जयचन्द्र विद्यालंकार ने एक तथ्यान्वेषी जिज्ञासु इतिहासकार की भांति अपनी उपपत्तियां पूर्णतया पूर्वाग्रहमुक्त भाव से पेश की हैं। उन्होंने अपनी धारणाओं की सिद्धि के लिये जो अनुमान प्रमाण तथा सभावनाएं व्यक्त की हैं, उनकी पुष्टि में अन्य अधिक पुष्ट प्रमाण तलाश करने के वे इच्छुक प्रतीत होते हैं। किन्तु कालान्तर में उनके साध्य कोटि में रक्खे गये अनुमानों के आधार पर कुछ पूर्वाग्रही और कल्पनाप्रिय लेखकों ने नाना मनः प्रसूत आधारों और मिथ्या प्रसंगों की अवतारणा कर यह सिद्ध करने का असफल प्रयास किया कि दयानन्द ही १८५७ की क्रान्ति के मूल प्रणेता, प्रस्तोता तथा सूत्रधार थे। अपने कल्पना विलास को उन्होंने सीमातीत रूप से विशद और व्यापक कर दिया, जिसका कोई ओर छोर भी नहीं था। कल्पना प्रवण लेखकों की यह असीमित उड़ान कहां जाकर समाप्त होगी, इसका अनुमान करना भी कठिन है। परन्तु यह निश्चित है कि दयानन्द जैसे सत्यनिष्ठ महापुरुष के चरित्र की आलोचना करते समय जिस प्रकार इतिहासज्ञ को तथ्यों की अवगणना करने का अधिकार नहीं है, उसी प्रकार वास्तविकता को तोड़ मरोड़ कर अतिशयोक्ति करने की छूट भी उसे नहीं दी जा सकती।

यहां हम कतिपय उन प्रयत्नों का संक्षेप में उल्लेख करेंगे जिनके द्वारा स्वामी दयानन्द के १८५७ की हलचल में तथाकथित योगदान को पूर्णतया कल्पनाप्रवण शैली में उभारने का प्रयास किया गया है। साथ ही यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया जायगा कि इस विचार-धारा का प्रतिपादन करने वाले लोग किस प्रकार इतिहास की मौलिक मान्यताओं और अवधारणाओं से खिलवाड़ करते रहे हैं।

आर्यसमाज कलकत्ता के उपदेशक स्व. पं. दीनबंधु वेदशास्त्री ने सार्वदेशिक पत्र में एक लेखमाला का प्रकाशन ५ जनवरी १९६९ से आरम्भ किया। ६६ किस्तों में लिखी गई 'महर्षि दयानन्द की अज्ञात जीवनी' शीर्षक यह लेखमाला ८ नवम्बर १९७० के अंक में समाप्त हुई। कालान्तर में स्वामी सच्चिदानन्द योगी ने इस सामग्री को योगी का आत्मचरित्र शीर्षक देकर पुस्तकाकार प्रकाशित किया।[२१] वेदशास्त्रीजी का यह दावा था कि उन्होंने कलकत्ता के अनेक भद्रपुरुषों के गृहों में अज्ञात जीवनी विषयक सामग्री बंगला भाषा में लिखी गई पाण्डुलिपियों के रूप में प्राप्त की है, जिसका अनुवाद और सम्पादन ही उन्होंने किया है। अज्ञात जीवनी में व्यक्त किये गये तथ्यों और घटनाओं की जब विभिन्न प्रकार से जांच की गई तो यह निष्कर्ष निकला कि यह सारी सामग्री पूर्वापर विरुद्ध, विभिन्न प्रकार के वाक्छलों और हेत्वाभासों से युक्त, स्वामी दयानन्द की जीवनी की प्रमाणित और प्रसिद्ध घटनाओं के विपरीत तथा पूर्णतया कल्पनाश्रित है। अज्ञात जीवनी की समीक्षा करने वालों में इन पंक्तियों के लेखक ने तो महत्वपूर्ण भूमिका अदा की ही,[२२] साथ ही स्वामी पूर्णानन्द

सरस्वती,[२३] राजेन्द्र जिज्ञासु, युधिष्ठिर मीमांसक, प्रो. श्रीराम शर्मा तथा स्वामी दयानन्द के जीवन चरित तथा उनकी विचारधारा के सुधी समालोचक आस्ट्रेलियन विद्वान् डा. जार्डन्स ने भी इस सामग्री को पूर्णतया भ्रान्त, इतिहासविरुद्ध तथा जाली ठहराया।[२४] आर्यसमाज की विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में एतद् विषयक चर्चा और आलोचना प्रत्यालोचना जिस रूप में उभर कर आई, उससे स्पष्ट हो गया कि स्वामी दयानन्द के व्यक्तित्व को एक चमत्कारपूर्ण पैगम्बर के रूप में उभारने का प्रयास ही अज्ञात जीवनी के सर्जक और उद्भावक का ध्येय है। किसी भी गम्भीर विचारक ने इस सामग्री को गम्भीरता से ग्रहण नहीं किया।

१८५७ में स्वामी दयानन्द की भूमिका को निर्धारित करने का एक अन्य प्रयास उन लोगों के द्वारा हुआ है जो मुजफ्फरनगर जिले के सोरम ग्रामनिवासी चौधरी कबूलसिंह के संरक्षण में सुरक्षित सर्वखाप पंचायत के पुराने अभिलेखों और दस्तावेजों के आधार पर अपनी धाराओं को पुष्ट करने का प्रयास करते हैं। इस सामग्री का प्रथम परिचय उस समय मिला जब उक्त पंचायत के अभिलेखों के एक लेखक मीर मुश्ताक मीर इलाही मीरासी लिखित एक उर्दू पत्र को प्रकाशित कराया गया,[२५] जिसमें यह उल्लेख किया गया था कि १८५६ ई. (१९१३ वि.) में मथुरा में हिन्दू मुसलमानों की एक सम्मिलित सभा आयोजित की गई, जिसे एक अंधे हिन्दू संन्यासी ने सम्बोधित किया। यह मान लिया गया कि यह अंधा संन्यासी और कोई नहीं स्वामी विरजानन्द ही थे। इस सभा में स्वामी विरजानन्द ने अपने भाषण में अंग्रेजी शासन की बुराइयों को प्रस्तुत कर स्वराज्य की आवश्यकता पर जोर दिया था।

कालान्तर में सर्व खाप पंचायत के इस रिकार्ड के आधार पर कुछ और लेख भी प्रकाशित हुए जिनसे यह ध्वनि निकलती थी कि स्वामी दयानन्द और उनके शिक्षागुरु स्वामी विरजानन्द का १८५७ की क्रान्ति के विधायकों से निकट का सम्पर्क था तथा इस संघर्ष का सूत्रपात करने वाले सेनानायकों को वे समय समय पर समुचित परामर्श भी देते थे। परन्तु इन्हीं लेखों से प्रायः ऐसी बातें भी उभरती रहीं जो इस समस्त सामग्री की प्रामाणिकता पर प्रश्नचिह्न लगा देती है। यह परामर्श दिये जाने पर भी कि इस सामग्री की वैज्ञानिक ढंग से परीक्षा करने या कराने के पश्चात् ही उसे प्रकाशित करना उचित होगा, सोरम सामग्री के उत्साही उद्भावकों ने आपत्तियों का निराकरण किये बिना ही उसका प्रचार करना वांछनीय समझा।[२६] इस दृष्टि से सोरम सामग्री के आधार पर प्रकट की जाने वाली धारणाएं भी साध्य कोटि में ही हैं।

वस्तुतः जो लोग १८५७ की हलचल में स्वामी दयानन्द की भूमिका को स्थापित करने के लिये उत्सुक हैं, वे ऐतिहासिक तथ्यों, घटनाओं के पूर्वापर क्रम, चरितनायक की मानसिक दशा तथा उसकी क्रमिक एवं प्रवहमान अवधारणाओं की किंचित् मात्र की परवाह किये बिना अपनी स्थापनाओं की येन केन प्रकारेण पुष्टि करना चाहते हैं। इसका एक प्रमाण यह भी है कि बिना अधिक छानबीन किये तथा वैज्ञानिक इतिहास लेखन के सर्वमान्य नियमों की अवहेलना करके भी ऐसी पुस्तकें बराबर लिखी जाती रहीं हैं, जिनमें योगी का आत्म-चरित्र, सोरम सामग्री अथवा अन्यान्य किंवदन्तियों और प्रचलित अनुश्रुतियों को ही आधार बनाकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि स्वामी दयानन्द ही विगत शताब्दी के प्रथम विप्लव के सूत्रधार थे तथा उन्हीं की देख रेख या मार्गदर्शन में वह सब कुछ हुआ जो १८५७ के इतिहास में अंकित है। कहना नहीं होगा कि इस प्रकार इतिहास के तथ्यों से खिलवाड़ करना कभी कभी अत्यन्त हानिकर होता है।

तथ्य यह है कि इस समय तक स्वामी दयानन्द विशुद्ध आध्यात्मिक जिज्ञासु बन कर ऐसे योगियों की तलाश में इधर उधर भ्रमण कर रहे थे जो उन्हें योग साधना, प्रभुभक्ति तथा मोक्ष मार्ग के बारे में सही जानकारी दे सकें। धर्म और अध्यात्म के भिन्न लौकिक प्रश्नों के समाधान में न तो अभी तक उनकी कोई अभिरुचि ही जागृत हुई थी और न वे देश में होने वाले राजनैतिक अथवा अन्य प्रकार के अन्दोलनों से ही अपना कोई सम्पर्क रखते थे। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इतिहास की घटनाओं के पूर्वापर क्रम, स्वामी दयानन्द की वैचारिक पृष्ठभूमि एवं मनोदशा का पूर्वाग्रहमुक्त अध्ययन इस अनुमान की पुष्टि नहीं करता कि उन्होंने १८५७ के विद्रोह के नेताओं से सक्रिय सम्पर्क कर किसी भी सैनिक हलचल में भाग लिया था। अब तक के तथ्य तो इसी बात को पुष्ट करते हैं।

□□

पाद टिप्पणियां

१. महर्षि दयानन्द की आत्मकथा पृ. २१
२. वही पृ. २१
३. वही पृ. २२
४. वही पृ. २२
५. महर्षि दयानन्द का जीवन चरित भाग १-पं. घासीराम द्वारा लिखित पृ. ८९
६. हमारा राजस्थान पृ. २५८, हिन्दी भवन इलाहाबाद १९५० ई.
७. द्रष्टव्य-१-अठारह सौ सत्तावन और स्वामी दयानन्द। ले.—वासुदेव वर्मा। भारतीय लोक समिति, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित २०२६ वि.
२. १८५७ के स्वातन्त्र्य संग्राम में स्वराज्य प्रवर्तक महर्षि दयानन्द का क्रियात्मक योगदान ले. पिण्डीदास ज्ञानी। आर्य प्रकाशन अमृतसर द्वारा प्रकाशित-१९७१ ई.
३. राष्ट्रीय क्रान्ति के सूत्रधार-स्वामी दयानन्द सरस्वती-ले. विभुमित्र शास्त्री, सरस्वती सदन चारूसुवा (नालंदा) द्वारा प्रकाशित-१९७३ ई.
८. हमारा राजस्थान पृ. २७०
९. राष्ट्रीय इतिहास का अनुशीलन पृ. ७ हिन्दी भवन, जालंधर २०२३ वि.
१०. वही पृ ७
११. विरजानन्द चरित—आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त द्वारा प्रकाशित। १९१९ ई. का प्रथम संस्करण पृ. १७
१२. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित भाग १, पं. घासीराम द्वारा लिखित पृ. ९०
१३. हमें यह मत समीचीन जान पड़ता है कि विरजानन्द के दीक्षागुरु का नाम पूर्णाश्रम न होकर पूर्णानन्द सरस्वती था। संन्यासियों की प्रचलित मर्यादा के अनुसार दशनामी संन्यासी अपने नाम के अन्तिम शब्द के अनुकूल ही अपने शिष्यों का भी नामकरण करते हैं। तदनुकूल विरजानन्द के गुरु का नाम भी पूर्णानन्द होना अभीष्ट है।
१४. विरजानन्दप्रकाश—रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर से प्रकाशित द्वितीय संस्करण-२०२६ वि. पृ. ९
१५. वही पृ. ८२

१६. राष्ट्रीय इतिहास का अनुशीलन पृ. ८
१७. वही पृ. ८
१८. वही पृ. ९
१९. वही पृ. ३६
२०. वही पृ. ४४
२१. पातञ्जल योगसाधना संघ, रोहतक से प्रकाशित।
२२. सार्वदेशिक, आर्य मर्यादा, आर्य ज्योति, परोपकारी, आर्यमित्र आदि पत्रों में प्रकाशित शताधिक लेख।
२३. योगी का आत्मचरित्र एक षड्यंत्र है—२०३८ वि. में प्रकाशित।
२४. डा. जार्डन्स ने स्वलिखित पुस्तक 'दयानन्द सरस्वती : हिज लाइफ एण्ड आइडियाज' के परिशिष्ट में योगी के आत्मचरित्र को जाली और अप्रामाणिक सिद्ध किया है। उन्हीं के एक शोध छात्र आर. थ्वाएतस (R. Thwaytis) ने 'दयानन्द सरस्वती और १८५७ का सिपाही विद्रोह' शीर्षक एक लघु शोधप्रबंध लिखकर सुनिर्धारित ऐतिहासिक तथ्यों की छाया में प्रमाणित किया है कि योगी का आत्मचरित्र में प्रस्तुत बातें अलीक हैं।
२५. आर्यमर्यादा में प्रकाशित
२६. सोरम सामग्री को पत्रों में यदा कदा उछालने का श्रेय दिल्ली निवासी मास्टर निहालसिंह आर्य को है। परन्तु इनके द्वारा प्रस्तुत इस सामग्री का जब सूक्ष्म निरीक्षण किया गया तो स्वतः ही इसकी अविश्वसनीयता सिद्ध हो गई। द्रष्टव्य—आर्यजगत् १८ मई १९८० में प्रकाशित—"सन् १८५७ के स्वातन्त्र्यसंग्राम के संयोजक—चार वेदज्ञ संन्यासी" शीर्षक लेख, इस लेख में भालोठ ग्राम निवासी श्री नन्हेराम के हवाले से यहां तक लिख दिया गया है कि १८५७ में स्वामी दयानन्द अश्वारोही होकर इधर उधर भ्रमण करते थे।
२७. द्रष्टव्य—पाद टिप्पणी सं. ७ में उद्धृत ग्रन्थ तथा अन्य लेख जो समय समय पर आर्य-सामाजिक पत्रों में प्रकाशित हुए हैं।

□□

बंदौ विरजानन्द विषयांसिधु कुम्भज सरिस।
जा रसना स्वच्छन्द नाची बानी नर्तकी॥

—अखिलेश शर्मा

जैसे सूर्यमण्डल से तेजोराशि विनिःसृत होती है, जैसे झरने से जलधारा बहती है, वैसे ही विरजानन्द की वागिन्द्रिय से भी नाना शास्त्रों की नाना व्याख्या अविरत रूप से निकल कर शिष्य मण्डली को विस्मित करती है। स्वयं चक्षुहीन होने पर भी वे प्रज्ञा की चक्षु के प्रभाव से सब शास्त्रों के सब स्थानों का दर्शन करके जिज्ञासित विषय की सुचारु मीमांसा कर देते थे। और शरीर के पञ्चराशि मात्र में पर्यवसित हो जाने पर भी वे युवकजनोचित उत्साह और तेजस्विता के साथ अध्यापन में रत रहते थे।

—देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय

दण्डी विरजानन्द की शून्य और निष्प्रभ आंखें उस दिन को देखने के लिये लालायित थीं, जब कि देश में प्रचलित विभिन्न सम्प्रदायों के बाह्याडम्बरों से जन-समाज प्रवंचित और प्रपीड़ित नहीं होगा। वे उस घड़ी की प्रतीक्षा कर रहे थे, जब विशुद्ध वैदिक धर्म अपनी दिव्य-आभा का प्रसार कर जनसाधारण के अभ्युदय एवं निश्रेयस का साधन बनेगा। सम्भवतः वे उस युग के आगमन की भी आशा रखते थे जब कि धर्म के नाम पर होने वाले पाखण्डों और अत्याचारों से मुक्त होने के पश्चात् इस देश के वासी विदेशी दासता के बंधनों को तोड़ कर वास्तविक स्वराज्य और सुराज्य का उपभोग कर सकेंगे। इन सब स्वप्नों की पूर्ति के साथ-साथ वे संस्कृत के शास्त्रीय अध्ययन के क्षेत्र में भी एक मौलिक परिवर्तन लाना चाहते थे जिसके द्वारा ऋषि प्रणीत ग्रन्थों का प्रचार और मान्यता बढ़े और क्षुद्र, संकीर्ण तथा साम्प्रदायिक भावापन्न लोगों के द्वारा लिखे गये (विरजानन्द की दृष्टि में अनार्ष—सामान्य मनुष्यों द्वारा लिखित) ग्रन्थों के अध्ययन को निरुत्साहित किया जा सके। स्वयं जर्जर, वयोवृद्ध तथा चक्षुहीन होने के कारण उन्हें यह तो आशा नहीं थी कि उनके जीवनकाल में ही यह सब कुछ हो जायगा, अथवा वे स्वयं इस सम्बन्ध में कुछ उल्लेखनीय कार्य कर सकेंगे। यों तो उनकी पाठशाला में अनेक विद्याव्यसनी छात्र आये और गये, किन्तु जिस शिष्य ने अपने गुरु के आदर्शों और मान्यताओं को चरितार्थ करने के एकमात्र ध्येय से वसुधा मण्डल पर एक नवीन वैचारिक क्रान्ति का सूत्रपात किया, वह था दयानन्द सरस्वती।

—भवानीलाल भारतीय

मथुरा की पाठशाला

अब तक दयानन्द सरस्वती सच्चे योगियों की तलाश में उत्तराखण्ड तथा गंगा नर्मदा के तटवर्ती प्रदेशों का भ्रमण कर चुके थे। उनका यह पर्यटन सर्वथा निष्फल ही रहा, यह तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसी अवधि में उन्होंने योग साधना के कुछ ऐसे रहस्यों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था, जो आगे चल कर उनके लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए। उन्होंने स्वयं शिवानन्द गिरि, ज्वालानन्द पुरी तथा भवानी गिरि आदि योग विद्या के पारगामी साधकों का उल्लेख अपने आत्मकथन में पूर्ण कृतज्ञता भाव के साथ किया है,[1] जिनके सान्निध्य में रहकर उन्होंने पातञ्जल योग के रहस्यों को आत्मसात् किया था।

इस बीच उनके मन में देश और मानवता की सेवा करने का विचार स्फुरित हुआ। ज्ञान प्राप्ति अपने आप में लक्ष्य नहीं है, किन्तु आध्यात्मिक विभूतियों से सम्पन्न बन कर उन्हें परोपकार एवं लोकहित के व्यापक लक्ष्यों की पूर्ति में समर्पित करना ही मनुष्य जीवन का आदर्श ध्येय होना चाहिए, यह धारणा अनायास ही उनके मन में जागृत हुई। परन्तु धर्म-प्रधान देश भारत के तत्कालीन जन समुदाय की सर्वतोमुखी अधोगति का निवारण किस प्रकार किया जा सकता है, यह प्रश्न अपनी सम्पूर्ण जटिलता के साथ उनके समक्ष उपस्थित था। वे इस निष्कर्ष पर तो पहुंच चुके थे कि धर्म के वास्तविक स्वरूप को स्वयं जाने बिना उसका मानव समाज में प्रचार करना शक्य नहीं है और धर्म के स्वरूप को जानने के लिये धर्म ग्रन्थों की विशाल राशि का अवगाहन करना भी आवश्यक था। गृहत्याग के पश्चात् वे विभिन्न योग-साधनाओं को सीखने तथा उनमें व्युत्पन्नता प्राप्त करने में तो सफल हो गये थे, किन्तु धर्म के स्वरूप की वास्तविक व्याख्या करने वाले आर्य जाति के शास्त्र समुदाय का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना अद्यापि शेष था। देवेद्रनाथ मुखोपाध्याय के अनुसार मथुरा निवासी प्रज्ञाचक्षु संन्यासी विरजानन्द का परिचय उन्हें तब मिला, जब वे उत्तराखण्ड का भ्रमण कर रहे थे और पूर्णाश्रम स्वामी नामक एक संन्यासी ने उन्हें मथुरा निवासी विरजानन्द के समीप जाकर शास्त्राध्ययन करने का परामर्श दिया था।[2] इसके विपरीत पं. लेखराम के अनुसार दयानन्द ने विरजानन्द की विद्वत्ता, शास्त्राध्यापन की क्षमता तथा विद्यादान के प्रति उनके असीम अनुराग की बात उस समय सुनी थी, जब वे नर्मदा के तटवर्ती प्रदेश का भ्रमण कर रहे थे।[3] अस्तु। जो हो, दयानन्द ने विद्याध्ययन का दृढ़ संकल्प बना कर मथुरा की ओर प्रमाण किया।

दयानन्द मथुरा किस समय आये, इस बात को लेकर भी जीवनी लेखकों में मतभेद है। पं. लेखराम के अनुसार दयानन्द रींवा (बुन्देलखण्ड) से चल कर कार्तिक शुक्ला द्वितीया १९१७ वि. बुधवार (४ नवम्बर १८६० ई.) को मथुरा आये।[4] उन्होंने इस तिथि का निश्चय किस आधार पर किया है, यह ज्ञात नहीं हो सका। स्वामी दयानन्द के सहाध्यायी पं. युगलकिशोर के अनुसार मथुरा में उनका आगमन वैशाख या ज्येष्ठ मास में हुआ था। वर्ष के बारे में वह यही बता सके कि उस समय पश्चिमोत्तर प्रदेश में सर्वत्र दुर्भिक्ष पड़ा था। सरकारी सूचना के अनुसार उक्त प्रदेश में दुर्भिक्ष का भयंकर प्रकोप नवम्बर १८६० ई. से अक्टूबर

१८६१ ई. तक रहा। इस प्रकार पं. युगलकिशोर के अनुसार स्वामीजी का मथुरा आगमन का समय विक्रम संवत् १९१७ और १९१८ के बीच का होना चाहिए। देवेन्द्रनाथ ने दण्डी विरजानन्द के एक अन्य शिष्य पं. बनमाली चौबे की साक्षी से १९१६ वि. को स्वामी दयानन्द के मथुरा आगमन का काल स्वीकार किया है।[५]

इससे पूर्व कि हम विरजानन्द की पाठशाला में स्वामी दयानन्द के अध्ययन का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करें, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि उनके विद्यागुरु दण्डी विरजानन्द का किञ्चित् विस्तार से परिचय दिया जाय।[६] संस्कृत व्याकरण के अध्ययन में एक नवीन क्रान्ति का सूत्रपात कर समस्त वाङ्मय को आर्ष एवं अनार्ष श्रेणी में विभक्त किये जाने के मूल सूत्र को उपस्थापित करने वाला यह अंधा संन्यासी जन्मना पंजाब देश का सारस्वत ब्राह्मण था। जालंधर जिले के कर्तारपुर कस्बे के निकट गंगापुर ग्रामवासी नारायणदत्त ब्राह्मण के घर सं. १८३५ वि. पौष मास में इसका जन्म हुआ था। हरिद्वार के तीर्थ पुरोहितों से प्राप्त वंशावली के आधार पर इस बालक का नाम ब्रजलाल सिद्ध होता है। नारायणदत्त भारद्वाज गोत्र के थे तथा उनकी शाखा शारद थी। बाल्यकाल में ही शीतला रोग से आक्रान्त होने के कारण यह बालक दृष्टिहीन हो गया। दैव दुर्विपाक से इसके माता पिता की मृत्यु भी शीघ्र ही हो गई। अब इस अनाथ, दृष्टिहीन बालक के लिये एकमात्र सहारा बड़े भाई तथा भावज का ही रह गया। भावज का व्यवहार भी अनाथ देवर के प्रति अत्यन्त रूक्ष एवं कठोर रहा, अतः भावज की इस प्रताड़ना तथा भाई की उपेक्षा को न सहकर बालक ने किशोर-वय में प्रविष्ट होते होते गृह त्याग दिया। यत्र तत्र निरुद्देश्य भ्रमण करता हुआ यह सन्तप्त एवं व्याकुल किशोर जब हरिद्वार आया तो स्वामी पूर्णानन्द नामक एक संन्यासी से १८५३ वि. में उससे संन्यास की दीक्षा ले ली।[७] इससे पूर्व वह लगभग ३ वर्ष तक हृषीकेश में रहकर गायत्री का अनुष्ठान कर चुका था। इस समय उसने हरिद्वार में लगभग तीन वर्ष तक विशद शास्त्रानुशीलन किया, तदुपरान्त संन्यासियों में प्रचलित परम्परा का पालन करते हुए गंगा की प्रदक्षिणा की। हरिद्वार से गंगासागर तक का भ्रमण कर लौटते समय पर्याप्त समय तक काशी में निवास किया। कहते हैं कि गंगासागर से लौटते समय गया के निकट कुछ डाकुओं ने इस निरीह संन्यासी को पकड़ लिया और जब वे नाना प्रकार से उसे पीड़ित करने लगे, तो असहाय संन्यासी ने संस्कृत भाषा में ही सहायता हेतु पुकार की। इसे सुन कर समीप में ठहरे एक मराठा सरदार सहायता के लिये उपस्थित हुए और संन्यासी को डाकुओं से मुक्त कराया। कुछ काल तक वे भारत की तत्कालीन राजधानी कलकत्ता में भी रहे थे।

इस प्रकार गंगा प्रदक्षिणा समाप्त कर दण्डीजी सोरों के गढ़ियाघाट पर निवास करने लगे। एक बार जब वे गंगा के आवक्ष प्रवाह में खड़े होकर विष्णु स्तोत्र का पाठ कर रहे थे तो अलवर नरेश महाराजा विनयसिंह ने इस तेजस्वी संन्यासी को मुग्ध भाव से देखा। मधुर स्वर में संन्यासी के स्तोत्र पाठ ने नरेश के मन पर एक दिव्य प्रभाव अंकित कर दिया। उसने विरजानन्द से अपनी राजधानी अलवर पधारने की प्रार्थना की। सारस्वत साधना को ही जीवन का प्रथम और अन्तिम लक्ष्य मानने वाले वीतराग संन्यासी के लिये राजधानी अलवर में रहने का कोई आकर्षण नहीं था, किन्तु जब राजा ने उनसे संस्कृत पढ़ना स्वीकार कर लिया, तो वे इस शर्त पर अलवर चलने के लिये तैयार हो गये कि जिस दिन भी राजा पठन कार्य में अनध्याय करेंगे उसी दिन दण्डीजी नगर का परित्याग कर देंगे। इस प्रकार राजा को वचन-

बद्ध कर दण्डीजी १८८९ वि. में अलवर आये। उनका यहां निवास लगभग तीन वर्ष का रहा। इसी प्रवास काल में दण्डीजी ने संस्कृत भाषा का सुगमरीत्या ज्ञान कराने के लिये शब्द बोध नामक एक व्याकरण ग्रन्थ की भी रचना की।[८] एक दिन जब राजा विनयसिंह किसी कारणवश दण्डीजी की सेवा में नहीं पहुंचे, तो विरजानन्द ने अलवर का त्याग कर दिया।

सोरों, हाथरस आदि स्थानों पर कुछ काल तक निवास करने के पश्चात् दण्डीजी ने मथुरा को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। एक जगह स्थिर होकर संस्कृत व्याकरण का अध्यापन ही अब उनके जीवन का प्रमुख लक्ष्य बन गया। विश्रामघाट को जाने वाले मुख्य राजमार्ग पर एक अट्टालिका के ऊपरी भाग को किराये पर लेकर दण्डीजी ने अपने विद्यालय का आरम्भ किया।[९] सांसारिक आकर्षणों तथा सभी प्रकार के द्वन्द्वों से सर्वथा निर्लिप्त इस संन्यासी अध्यापक के ज्ञान सत्र का लाभ लेने के लिये सुदूरवर्ती स्थानों से झुण्ड के झुण्ड विद्यार्थी एकत्र होने लगे। विरजानन्द जहाँ संस्कृत व्याकरण के प्रकाण्ड पण्डित थे, वहाँ वे साम्प्रतिक धर्म, समाज तथा राजनीति के सम्बन्ध में भी कुछ क्रान्तिकारी विचार अपने भीतर संजोए थे, इस बात का आभास उन लोगों को हो चुका था, जो उनके निरन्तर सम्पर्क में आते थे। सम्भवतः यह दृष्टिहीन और जराजीर्ण संन्यासी उस दिन की प्रतीक्षा में था जबकि कोई सुयोग्य शिष्य उसे मिले, जिसे वे अपनी सर्वतोमुखी क्रान्तिकारी विचारधारा को सौंप कर निश्चिन्त हो सकें।

इसी बीच एक और घटना घटी। वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य रंगाचार्य के गुरु पं. कृष्ण शास्त्री से दण्डीजी का विवाद व्याकरण के एक सूक्ष्म प्रश्न को लेकर हुआ। अजाद्युक्तिः शब्द में कौन सा समास है, यही विवाद का विषय था। शास्त्री जी इसमें सप्तमी तत्पुरुष मानते थे, जब कि दण्डीजी के अनुसार यहां षष्ठी तत्पुरुष होना चाहिए। शीघ्र ही विवाद ने शास्त्रार्थ की सम्भावना उत्पन्न कर दी। कृष्ण शास्त्री तो पराजय के भय से दण्डीजी के समक्ष शास्त्रार्थ हेतु सन्नद्ध नहीं हुए किन्तु उनके धनाढ्य शिष्य सेठ राधाकृष्ण ने अपने धन के बल पर मथुरा में यह प्रसिद्ध कर दिया कि उनके गुरु शास्त्री जी का ही पक्ष प्रबल रहा है और दण्डीजी पराजित हो गये हैं। उन्हें यह घोषणा करके ही संतोष नहीं हुआ, बल्कि काशी के कतिपय अर्थलोलुप पण्डितों को उत्कोच देकर उन्होंने अपने गुरु के मत के समर्थन में व्यवस्था भी मंगा ली, जिसे उन्होंने प्रचारित कर दिया।

धन के बल से विद्या और ज्ञान के क्षेत्र में मचाई गई इस धांधली को देखकर प्रज्ञाचक्षु विरजानन्द का मन अत्यन्त विक्षुब्ध हो गया, साथ ही विद्या की नगरी काशी और उसके गौरवस्वरूप पण्डित समुदाय के प्रति भी उनकी श्रद्धा निःशेष हो गई। संन्यासी के मुख से अनायास ही यह उद्गार निकला, 'कथं काशी विदुष्मती ?'[१०] इसी बीच उन्हें अपने मन की पुष्टि में पाणिनीय अष्टाध्यायी और पातञ्जल महाभाष्य जैसे व्याकरण शास्त्र के आर्ष ग्रन्थों से समर्थन मिला। इसके पश्चात् तो उपर्युक्त ग्रन्थों के सतत अध्ययन और मनन से उनके हृदय में आर्ष और अनार्ष ग्रन्थों के पार्थक्य की एक ऐसी विवेकपूर्ण धारणा ही बन गई, जिसने आगे चलकर न केवल उनके प्रमुख शिष्य दयानन्द सरस्वती की वैचारिक भूमि को ही सुदृढ़ बनाया, अपितु भारत के धार्मिक और अध्यात्मिक चिन्तन में भी एक नवीन आयाम उपस्थित कर दिया। अब विरजानन्द की यह धारणा बनी कि अष्टाध्यायी और महाभाष्य ही व्याकरण के प्रामाणिक ग्रन्थ हैं।[११] भट्टोजि दीक्षित रचित सिद्धान्तकौमुदी तथा सारस्वत, चन्द्रिका आदि

व्याकरण के अनार्ष ग्रन्थों के प्रति उनकी आस्था एक झटके में ही समाप्त हो गई। अब तो उनके चिन्तन के क्षितिज ने और भी विस्तार लिया और वे यह मानने लगे कि भारत के धर्म, दर्शन और उपासना के क्षेत्र में जितना कुछ साम्प्रदायिक, संकीर्ण कल्मष प्रसरित है, उसका एकमात्र कारण संस्कृत भाषा के अनार्ष ग्रन्थ ही हैं। व्याकरण के क्षेत्र में आर्ष और अनार्ष ग्रन्थों के निर्धारण के पश्चात् वाङ्मय के अन्य क्षेत्रों में भी उन्होंने अपनी आर्ष अनार्ष ग्रन्थों की कसौटी को विभिन्न ग्रन्थों की प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता के निर्धारण हेतु अपनाया। फलतः पुराणों और तंत्रों के विषय में उनकी धारणाएं बदल गईं। श्रीमद्भागवत और ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणों में उन्हें वैष्णव सम्प्रदाय का वह रूप दृष्टिगोचर हुआ, जो अनेक प्रकार के संकीर्ण मतवादों से संकुल है तथा जिसमें पुरातन वैदिक चिन्तन की उदारता, निर्मलता तथा विश्व-जनीन भावनाओं का नितान्त अभाव है। निश्चय ही विरजानन्द द्वारा आविष्कृत एवं प्रति-पादित आर्ष ग्रन्थ प्रामाण्यवाद ने भारतीय धर्म और शास्त्रालोचन के क्षेत्र में युगान्तरकारी परिवर्तन उपस्थित कर दिया।

दण्डी विरजानन्द की शून्य और निष्प्रभ आंखें उस दिन को देखने के लिये लालायित थीं, जब कि देश में प्रचलित विभिन्न सम्प्रदायों के बाह्याडम्बरों से जनसमाज प्रवंचित और प्रपीड़ित नहीं होगा। वे उस घड़ी की प्रतीक्षा कर रहे थे, जब विशुद्ध वैदिकधर्म अपनी दिव्य आभा का प्रसार कर जनसाधारण के अभ्युदय एवं निश्रेयस का साधन बनेगा। सम्भवतः वे उस युग के आगमन की भी आशा रखते थे जब कि धर्म के नाम पर होने वाले पाखण्डों और अत्या-चारों से मुक्त होने के पश्चात् इस देश के वासी विदेशी दासता के बंधनों को तोड़कर वास्तविक स्वराज्य और सुराज्य का उपभोग कर सकेंगे। इन सब स्वप्नों की पूर्ति के साथ साथ वे संस्कृत के शास्त्रीय अध्ययन के क्षेत्र में भी एक मौलिक परिवर्तन लाना चाहते थे जिसके द्वारा ऋषि प्रणीत ग्रन्थों का प्रचार और मान्यता बढ़े और क्षुद्र, संकीर्ण तथा साम्प्रदायिक भावापन्न लोगों के द्वारा लिखे गये (विरजानन्द की दृष्टि में अनार्ष—सामान्य मनुष्यों द्वारा लिखित) ग्रन्थों के अध्ययन को निरुत्साहित किया जा सके।[१२] स्वयं जर्जर, वयोवृद्ध तथा चक्षुहीन होने के कारण उन्हें यह तो आशा नहीं थी कि उनके जीवनकाल में ही यह सब कुछ हो जायगा, अथवा वे स्वयं इस सम्बन्ध में कुछ उल्लेखनीय कार्य कर सकेंगे। यों तो उनकी पाठशाला में अनेक विद्या-व्यसनी छात्र आये और गये, किन्तु जिस शिष्य ने अपने गुरु के आदर्शों और मान्यताओं को चरितार्थ करने के एकमात्र ध्येय से वसुधा मण्डल पर एक नवीन वैचारिक क्रान्ति का सूत्रपात किया, वह था **दयानन्द सरस्वती**।

स्वयं दयानन्द ने ही अपने इस गुरु के विषय में पुणे में दिये गये व्याख्यानों के अन्तर्गत आत्मवृत्तान्तपरक कथन में कहा था—"मथुरा में एक संन्यासी सत्पुरुष मुझे मिले। उनका नाम विरजानन्द स्वामी है। वे पहले अलवर में थे। उस समय उनकी आयु ८१ वर्ष की थी। उनकी वेद से लेकर आर्ष शास्त्रों में अत्यधिक रुचि थी। वह दोनों चक्षुहीन थे। उनके उदर में सदा शूल की पीड़ा रहती थी। उनकी आधुनिक कौमुदी, शेखर आदि ग्रन्थों में बड़ी अश्रद्धा थी। भागवत आदि पुराणों का तो बहुत ही तिरस्कार करते थे। समस्त आर्ष ग्रन्थों पर उनकी अत्यन्त भक्ति थी। आगे जब उनका परिचय हुआ, तो 'तीन वर्ष में व्याकरण आता है' उनके ऐसा कहने पर मैंने उनसे पढ़ने का निश्चय किया।"[१३]

इसी दण्डी विरजानन्द से शास्त्रों में पारगामिता प्राप्त करने हेतु प्रौढ़ वय संन्यासी दयानन्द मथुरा आये और प्रथम नगर के बाहर रंगेश्वर महादेव के निकट एक बगीची में ठहरे।[१४] पं. लेखराम के अनुसार उस समय वे रुद्राक्ष की माला पहनते, भस्म लगाते, और संन्यासियों की भांति कौपीन बांधते, अचरा छाती पर रखते, सिर पर मुंडासा बांधते और एक बहुत बड़ी लाठी हाथ में रखते थे। एक पुस्तक पास थी और यात्रा की कठिनाइयों के कारण शरीर निर्बल हो रहा था। बोल चाल में गुजराती भाषा के 'हमारूं तुमारूं" शब्दों का बहुत प्रयोग करते थे।[१५]

एक दिन वे दण्डीजी के अन्तेवासी बनने का विचार लेकर गुरु की सेवा में उपस्थित हुए और अपना अभिप्राय व्यक्त किया। परिचय पूछे जाने पर दयानन्द ने नाम और आश्रम का उल्लेख किया। पुनः यह पूछने पर कि कुछ व्याकरण भी पढ़ा है, दयानन्द ने सारस्वत आदि नव्य व्याकरणों का नाम बताया। अब वृद्ध संन्यासी ने अपनी स्पष्ट सम्मति व्यक्त करते हुए कहा कि "अब तक जो कुछ तुमने पढ़ा है वह मनुष्यकृत अनार्ष ग्रन्थसमूह है। जब तक अनार्ष ग्रन्थों के संस्कार तुम्हारे मन पर अंकित रहेंगे तब तक आर्ष ज्ञान, आर्ष प्रज्ञा और आर्ष विवेक का जागृत होना असम्भव है। अतः अनार्ष ग्रन्थों को यमुना में प्रवाहित कर दो, उनमें प्रतिपादित मिथ्या बातों को विस्मृत कर दो। पुनः अपने अन्तस्तल को विशुद्ध और निर्मल बना कर आओ तभी आर्ष ग्रन्थों का रहस्य तुम्हारी समझ में आ सकेगा।"

दण्डीजी ने एक अन्य कठिनाई भी व्यक्त की। उन्होंने कहा, तुम संन्यासी हो और मैं किसी संन्यासी को छात्र रूप में ग्रहण नहीं करता। कारण कि उसके भोजन और निवास की जब तक स्थिर व्यवस्था न हो जाय, तब तक वह मनोयोग पूर्वक विद्याभ्यास कैसे करेगा ? अतः पहले तुम अपने निवासादि की स्थायी व्यवस्था करो, पश्चात् ही अध्ययन का क्रम आरम्भ होगा।

गुरु की बात सुन कर दयानन्द चिन्तित मन से बाहर निकले। इस अपरिचित स्थान में अनजान संन्यासी के भोजन और निवास की स्थायी व्यवस्था कैसे होगी ? उनके मथुरा आगमन के थोड़े समय पूर्व ही पश्चिमोत्तरप्रदेश में घोर दुर्भिक्ष पड़ा था। ऐसे समय में जब कि सामान्य गृहस्थियों के लिये भी जीवन यापन दुष्कर हो रहा था, दयानन्द जैसे परिव्राजक भिक्षु के आहार निवास की व्यवस्था कैसे होती ? रहने के लिये तो दयानन्द को विश्रामघाट पर लक्ष्मीनारायण के मंदिर में एक छोटी कोठरी मिल गई। प्रारम्भ में दुर्गाप्रसाद खत्री ने खाने के लिये चनों की व्यवस्था कर दी,[१६] किन्तु केवल सूखे चनों को खाकर शरीर निर्वाह करना तो कठिन था। ऐसे समय में दयानन्द के विद्या सत्र की सफलता हेतु जोशी अमरलाल नामक एक सम्पन्न सद् गृहस्थ होता बन कर आये। जोशी बाबा के नाम से विख्यात अमरलाल स्वामी दयानन्द के ही सजातीय औदीच्य ब्राह्मण थे।[१७] उनकी ज्योतिष शास्त्र में अबाध गति थी। अतः महाराजा सिंधिया (ग्वालियर) ने उन्हें १०-१२ ग्रामों की मालगुजारी भेंट रूप में प्रदान की थी। यह जानकर कि एक जिज्ञासु संन्यासी दण्डीजी की पाठशाला में अध्ययनार्थ आये हैं और भोजन की स्थायी व्यवस्था के अभाव में उनके अध्ययन की क्षति हो रही है, जोशी जी ने दयानन्द के भोजन की व्यवस्था अपने घर पर ही कर दी। जब तक दयानन्द

मथुरा प्रवासी होकर शास्त्राध्ययन में रत रहे, तब तक जोशी जी की हवेली में उन्हें भोजन की सुविधा उपलब्ध रही। अपने इसी अन्नदाता जोशी अमरलाल के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए कालान्तर में दयानन्द ने कहा था—"मथुरा में एक भद्रपुरुष अमरलाल नाम का था। मेरे विद्याध्ययन काल में जो उपकार उसने मुझ पर किये हैं उन्हें मैं कभी न भूलूंगा। पुस्तक सामग्री और भोजन आदि का प्रबंध उसने अति उत्तम कर दिया। स्वयं उसे कहीं बाहर भोजन करने जाना होता तो प्रथम मुझको घर में बना कर खिलाता पुनः आप बाहर जाता। इस प्रकार वह पुरुष बहुत उदारचित्त था।"[१८]

दयानन्द के चरितलेखक देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने अमरलाल जोशी की इस अज्ञात संन्यासी के प्रति दिखाई गई भोजन विषयक अहैतुकी कृपा का उल्लेख कर उसे भावभीनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए लिखा—"अमरलाल ने इस निःसहाय संन्यासी की सहायता करके अपने को अमर कर लिया था। कौन जानता था कि यह संन्यासी एक दिन वैदिक धर्म का पुनरुद्धारक और आर्य जाति का उन्नायक होगा। अमरलाल को क्या खबर थी कि वह उक्त अपरिचित संन्यासी का पालन पोषण करके भारत के ही नहीं; प्रत्युत सारी पृथ्वी के धर्म-बुभुक्षुओं को अन्न दे रहा है। अमरलाल तुझे धन्य है। दयानन्द दिवाकर में जो तेजोपुञ्ज था उसके सञ्चय में तेरा भी भाग है और जिन्होंने उस दिवाकर के प्रकाश से अपनी हृदयाविष्ट तिमिरराशि को छिन्न भिन्न किया है तू भी उनकी श्रद्धाञ्जलि का अधिकारी है।"[१९]

यों तो संसार में दानी जनों की स्तुति प्रशंसा में नाना काव्यादि ग्रन्थ लिखे गये हैं। बलि, हरिश्चन्द्र तथा कर्ण जैसे पौराणिक आख्यानों में प्रसिद्ध दानवीरों की उज्ज्वल गाथाएं बहुशः गाई गई हैं किन्तु जिन अमरलाल जोशी, खेतामल नन्नूमल सर्राफ[२०] तथा हरदेव पत्थर वाले[२१] आदि मथुरा के सामान्य जनों ने एक अज्ञात, अप्रसिद्ध किन्तु विद्यापिपासु संन्यासी की भोजनादि सांसारिक अपेक्षाओं की सुव्यवस्था कर उसे शास्त्राध्ययन का निर्बाध अवसर प्रदान किया, क्या उनके नाम और काम भी कवियों और साहित्यकारों की वाणी का शृंगार बनेंगे ?

इस प्रकार भोजन एवं आवास की चिन्ता से मुक्त होकर दयानन्द ने पाठशाला में प्रवेश किया। सर्वप्रथम उसने पाणिनीय शब्दानुशासन का अध्ययन किया, पुनः इन सूत्रों पर लिखे गये महर्षि पतञ्जलि के महाभाष्य का विस्तृत अनुशीलन किया। महामेधावी दयानन्द की अद्भुत प्रतिभा, तीव्र ज्ञानपिपासा, आर्ष ग्रन्थों को स्वायत्त करने में उसका अनन्य परिश्रम सभी कुछ अपूर्व था। विरजानन्द को अपने सुदीर्घ अध्यापनकाल में कोई ऐसा प्रतिभाशाली शिष्य नहीं मिला था और न प्रौढ़ वय प्राप्त होने तक विद्या प्राप्ति हेतु इतस्ततः भटकने वाले दयानन्द को दूसरा कोई गुरु; जो अपने तलस्पर्शी शास्त्रज्ञान की सहायता से शिष्य के अज्ञान तिमिरांध नेत्रों को ज्ञानाञ्जनशलाका से उन्मीलित कर दे।

आर्ष व्याकरण ग्रन्थों का अध्ययन समाप्त करने के अनन्तर दयानन्द ने अन्य शास्त्रों के पढ़ने में मनोनिवेश किया। दण्डीजी के समीप रहकर दयानन्द ने किन किन शास्त्रों का विशद अध्ययन किया, इसे सम्यक् रूप से जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। इतना तो निश्चित है कि उन्होंने संस्कृत व्याकरण के मुनिद्वय प्रणीत ग्रन्थों[२२] का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन

किया था। यह भी ज्ञात हुआ है कि वेदाध्ययन के आधारभूत निघण्टु, निरुक्त आदि कतिपय वेदाङ्गों का भी उन्होंने अनुशीलन किया था। चाहें हमें उन विद्याओं और ग्रन्थों का सुस्पष्ट नाम ज्ञात न हो, जिन्हें दयानन्द ने इस अवधि में पढ़ा था, किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि दयानन्द ने दण्डीजी से शास्त्राध्ययन और शास्त्रालोचन विषयक एक सुस्पष्ट दृष्टि अवश्य प्राप्त कर ली थी, जिसे 'आर्ष अनार्ष ग्रन्थविवेक' की संज्ञा दी जा सकती है। निश्चय ही दयानन्द ने मथुरा के गुरुकुल में रहकर यह निश्चय कर लिया होगा कि भारतीय धर्म मीमांसा में वेदों का सर्वोपरि महत्त्व है। ये वेद ही परा एवं अपरा विद्याओं के आदि स्रोत हैं, जिन्हें हमारी धार्मिक परम्परा अपौरुषेय मानती आई है। सभी शास्त्रकारों और सम्प्रदायाचार्यों ने ऋग्वेदादि संहिता-चतुष्टय को सूर्यवत् स्वतः प्रमाण माना है, जिनसे विरुद्ध होने पर किसी भी ग्रन्थ या शास्त्र की प्रामाणिकता स्वीकार नहीं की जाती। उन्होंने यह भी निष्कर्ष निकाला कि व्याकरण में अष्टाध्यायी और महाभाष्य ही सर्वोपरि महत्त्व के ग्रन्थ हैं, जिनकी शैली से अध्ययन करके देववाणी पर सुगमरीति से अधिकार प्राप्त किया जा सकता है। वेदों का प्रकृत अर्थ जानने में निरुक्त, निघण्टु, अष्टाध्यायी व्याकरण तथा ब्राह्मणग्रन्थों से जैसी सहायता मिलती है वैसी अवान्तरकालीन ग्रन्थों से नहीं। इसी काल में उन्होंने वैष्णवों के भागवतादि पुराणों तथा वामाचार प्रतिपादक तन्त्र ग्रन्थों, अर्वाचीन काल के निर्णयसिंधु, धर्मसिंधु आदि कर्मकाण्ड ग्रन्थों, शीघ्रबोध, मुहूर्तचिन्तामणि आदि फलित ज्योतिष के ग्रन्थों के मिथ्यात्व को भी भली भांति हृदयंगम कर लिया था। धर्म विवेचना का यह मौलिक आधार तथा शास्त्रपरीक्षण की यह सूक्ष्म दृष्टि ही दयानन्द को दण्डीजी से मिली थी।

गुरु के निकट अध्ययन करने का यह काल २॥-३ वर्ष का ही था। इस बीच गुरु-शिष्य सम्बन्धों की निकटता, तथा आत्मीयता एवं अध्यापक-अध्येता के पारस्परिक स्नेह सम्बन्धों की विवेचना की दृष्टि से कतिपय संस्मरणों का उल्लेख आवश्यक है। पं. लेखराम के अनुसार दण्डी जी का नियम था कि वे नित्य ताजा यमुना जल से स्नान करते थे। गुरु के लिये स्वच्छ और ताजा यमुना जल उपलब्ध कराने की दृष्टि से दयानन्द नित्यप्रति नदी तट पर जाकर १२-२० घड़े जल स्वयं ले आते थे। वृद्ध और नेत्रहीन होने के कारण दण्डीजी के स्वभाव में एक सहज कर्कशता आ गई थी। फलतः छात्रों के प्रति वे यदा कदा अकारण अथवा सकारण क्रुद्ध हो जाते थे। कहते हैं कि एक बार विरजानन्द क्रोध से अभिभूत होकर प्रौढ़ वय प्राप्त शिष्य दयानन्द पर दण्ड प्रहार कर बैठे। दयानन्द के वज्र कठोर शरीर पर भी यष्टिका प्रहार का यह चिह्न अमिट हो गया। परन्तु विनम्र शिष्य ने किञ्चित् मात्र भ्रूविक्षेप किये बिना गुरु से कहा—"महाराज, आप मुझे न मारा करें, मेरा शरीर तो वज्र के समान है, उस पर प्रहार करने से आपके कोमल हाथों को ही पीड़ा होगी।" यह बात प्रसिद्ध है कि कालान्तर में दयानन्द अपने शरीर पर लगी इस चोट को भाव विह्वल होकर अपने भक्तों और प्रशंसकों को दिखाया करते और अपने गुरु की प्रशंसा किया करते।

एक अन्य ऐसे अवसर पर जब दण्डीजी ने शिष्य पर प्रहार किया तो नैनसुख जड़िया नामक एक भक्त ने प्रज्ञाचक्षु संन्यासी से कहा—महाराज, दयानन्द हमारे समान गृहस्थ नहीं हैं संन्यासी हैं। उनके आश्रम की मर्यादा को देखते हुए आप उन्हें इस प्रकार की कठोर

शारीरिक ताड़ना न किया करें। विरजानन्द ने तो इस परामर्श को स्वीकार कर लिया, और भविष्य में उनके प्रति कठोर व्यवहार न करने की बात कह दी, परन्तु गुरु के प्रति असीम निष्ठावाले दयानन्द को नैनसुख जड़िया का यह हस्तक्षेप पसन्द नहीं आया। उन्होंने जड़िया को स्पष्ट कह दिया कि गुरुजी शत्रु भाव से दण्डित थोड़े ही करते हैं। उनका भाव तो सुधार करना है। अस्तु।

विद्या समाप्ति के १५-२० दिन ही शेष रहे थे। गुरु की आज्ञा से दयानन्द ने उनकी बैठक में झाड़ू तो लगाया किन्तु कूड़ा बाहर फेंकने के बजाय एक स्थान पर ही एकत्रित कर रख दिया। अनायास ही दण्डीजी का पांव कूड़े पर पड़ गया। क्रुद्ध दण्डीजी दयानन्द पर अपशब्दों की वर्षा करने लगे, उन्हें दण्ड देने के लिये तत्पर हुये और उनकी ड्योढ़ी बन्द कर दी। दयानन्द ने जब यह समाचार सुना तो उनके दुख की सीमा नहीं रही। कहते हैं कि नयन-सुख जड़िया की संस्तुति से ही दयानन्द को क्षमा मिली और वे गुरु के दरबार में पुनः उपस्थित होने का अधिकार पा सके।

दयानन्द की ड्योढ़ी बन्द होने का एक अवसर और भी आया था। स्वामी सत्यानन्द के अनुसार दण्डीजी[२३] का कोई दूर का सम्बन्धी मथुरा आया और इस वीतराग संन्यासी के दर्शनों की कामना से पाठशाला में उपस्थित हुआ। दण्डीजी का कठोर आदेश था कि विद्यार्थियों के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति उनके समीप न आवे। ज्ञान चर्चा तथा शास्त्राध्ययन के अतिरिक्त सम्भवतः इस संन्यासी की अन्य किसी लौकिक विषय में स्वल्प मात्र भी रुचि नहीं थी। आगन्तुक व्यक्ति ने स्वामी दयानन्द से ही सम्पर्क किया तथा उनसे दण्डीजी के समक्ष ले जाने का अनुरोध किया। सरल चित्त दयानन्द ने उसके प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और वे आगन्तुक व्यक्ति को अपने साथ ले गये। जब उस व्यक्ति ने दण्डीजी को देख लिया और वह सीढ़ियों से उतरने लगा, तो दयानन्द के एक सहाध्यायी ने, यह देखकर कि गुरुजी के अनजाने किसी अज्ञात व्यक्ति ने उनके दर्शन कर लिये हैं, दण्डीजी के पास जाकर शिकायत कर दी कि दयानन्द के साथ कोई पंजाबी वेशभूषा का व्यक्ति आया था। दण्डीजी पुनः अप्रसन्न हुए और उन्होंने दयानन्द की ड्योढ़ी बन्द कर दी। नैनसुख जड़िया पुनः सहायक हुआ और उसकी सिफारिश पर ड्योढ़ी खुली।

दयानन्द की अद्भुत धारणाशक्ति का उदाहरण भी स्वामी सत्यानन्द ने दिया है। यद्यपि अद्भुत प्रतिभा सम्पन्न दयानन्द अपने पाठ को एक बार सुन कर ही स्मरण कर लेते थे, किन्तु एक बार गुरु जी द्वारा बताई गई अष्टाध्यायी की प्रयोगसिद्धि उन्हें विस्मृत हो गई। दण्डीजी से पुनः पूछा, किन्तु कठोर अनुशास्ता गुरु ने दुबारा बताने से इन्कार तो कर ही दिया, साथ ही यह भी कह दिया कि यदि यह प्रयोग तुम्हें याद न आये तो यमुना में डूब भले ही जाना परन्तु मेरे समीप मत आना। गुरु के कठोर वचन शिष्य के हृदय में शल्य की भांति चुभ गये। दृढ़ प्रतिज्ञ दयानन्द यमुना तट पर जा विराजे और संकल्प कर लिया कि या तो विस्मृत पाठ को पुनः स्मृतिपथ पर ले आऊंगा अथवा यमुना में कूद कर जलसमाधि ले लूंगा। विश्राम घाट के निकट सीताघाट पर वे पुनः ध्यानमग्न होकर विस्मृत पाठ का स्मरण करने लगे। स्वल्प समय पश्चात् ही वह प्रयोगसिद्धि पुनः उनके स्मृतिपथ में आ गई।

दयानन्दप्रकाश में एक अन्य घटना इस प्रकार वर्णित की गई है—एक देवी यमुना स्नान करने आई और उसने नदी की रेती पर स्वामी दयानन्द को ध्यानावस्थित देखा। भव्य और सौम्य संन्यासी को इस प्रकार समाधिलीन देख कर उसने उनके चरणों में प्रणिपात पूर्वक नमस्कार किया। संन्यास मर्यादा का पालन करते हुए दयानन्द नारी स्पर्श से सदा बचते रहे थे। इस चरण स्पर्श से वे एक दम चौंके और 'माता माता' कहते हुए उठ खड़े हुए। स्त्री स्पर्श का प्रायश्चित्त करने के लिये दयानन्द ने एक निर्जन स्थान पर जाकर तीन दिन तक निराहार व्रत रक्खा तथा ध्यान रत रहे। लौटने पर दण्डीजी ने अनुपस्थिति का कारण पूछा। जब दयानन्द ने सारी बात बताई तो शिष्य के पावन और निष्कलुष चरित्र को जान कर दण्डीजी का मन प्रफुल्लित और आप्यायित हो उठा।

ये हैं वे स्फुट संस्मरण जो दयानन्द के गुरुकुलीय जीवन की झलक प्रस्तुत करते हैं। वस्तुतः दण्डीजी के चरणों में बैठकर दयानन्द ने धर्म, समाज और देश को पुनः प्राणवान् और गतिशील बनाने के लिये क्या प्रेरणा ग्रहण की, यदा कदा गुरु शिष्य निगूढ़ एकान्त में बैठकर धर्म, समाज एवं राष्ट्र के समक्ष उपस्थित समस्याओं का निदान करने के लिये जो कुछ करणीय था उसके सम्बन्ध में किस प्रकार विचारों का ताना बाना बुनते थे, इसका सही ज्ञान तो अन्तर्यामी के सिवाय अन्य किसे हुआ होगा? किन्तु इतना तो निश्चित है कि धर्म और समाज में व्याप्त बुराइयों, राष्ट्र में सर्वत्र फैली जड़ता और तन्द्रावस्था को देखकर दयानन्द के हृदय में इस स्थिति से निपटने की जो अनन्य लालसा जागृत हुई, उसे प्रबुद्ध और दूरदर्शी गुरु विरजानन्द का भी समर्थन प्राप्त था। दण्डीजी ने शीघ्र ही अनुभव कर लिया कि देश में सर्वत्र धर्म के नाम पर अनाचार, अत्याचार, ढोंग और पाखण्ड का जो बोल बाला है उसे दूर करने की तीव्र ललक यह प्रौढ़ संन्यासी अपने मन में रक्खे हुए है। वे सहज ही यह जान सके थे कि उनके इस मेधावी अन्तेवासी के अन्तःकरण में धर्मशोधन, शास्त्रसुधार तथा समाज में व्याप्त विकृतियों को ध्वस्त कर देने की प्रचण्ड इच्छा धूमायित अग्नि की भांति घनीभूत हो रही है, जो अवसर आने पर प्रचण्ड हुताशन के रूप में प्रज्वलित हो जायगी तथा जिसमें अज्ञान, अन्धविश्वास और जड़ता का विशाल स्तूप जलकर कर भस्म शेष रह जायगा।

दण्डीजी ने अपने शिष्य की अन्तःप्रकृति को निकटता से परखा था—पहचाना था। वे प्यार से दयानन्द को 'कुलक्कर' और 'कालजिह्व' जैसे नामों से पुकारते। कुलक्कर का अर्थ है खूंटा—जो अपने पक्ष पर खूंटे की तरह अविचलित रहकर प्रतिपक्षी को पराभूत कर दे, वह है कुलक्कर। भविष्य में दयानन्द द्वारा शास्त्रार्थ संग्राम में प्रतिद्वन्द्वियों को पराजित किये जाने पर दण्डीजी द्वारा प्रदत्त यह विरुद सर्वथा सार्थक हुआ था। असत्य के खण्डन और धर्म के नाम पर फैली नाना मिथ्या भ्रान्तियों के खण्डन में जिसकी जिह्वा काल के समान बन जाती है—ऐसा दयनान्द यथार्थ में कालजिह्व ही था।

विरजानन्द प्रायः अपने शिष्यों से कहा करते थे कि मैं जिस विचाराग्नि को धूमाकार रूप में तुम लोगों में निविष्ट कर रहा हूँ, समय आने पर वह ज्वालामयी होकर देश में विद्यमान नाना सम्प्रदायजन्य आडम्बरों, मिथ्या विश्वासों और भ्रान्त मतों को भस्मसात् कर देगी। किसी अन्य शिष्य में तो यह धूमायित अग्नि प्रस्फुटित नहीं हुई, किन्तु निश्चय

ही समय आने पर दयानन्द ने गुरु द्वारा स्वान्तःकरण में प्रविष्ट कराई गई उस क्रान्ति रूपी वह्निज्वाला को उद्दीप्त किया, जिससे राशि राशि अज्ञान, अविद्या और अंधविश्वास जल कर भस्मीभूत हो गये।

अन्ततः वह घड़ी भी आई जब विद्यार्जन समाप्त होने पर दयानन्द गुरु से विदा लेने उपस्थित हुआ। शास्त्रीय मर्यादा का पालन करते हुए उसे कुछ गुरुदक्षिणा देनी है। दण्डीजी की पाठशाला में रह कर दयानन्द को जो क्रान्तिकारिणी दृष्टि मिली, विपुल शास्त्रीय वाङ्मय में निहित सत्यों को परखने की जो बुद्धि यहां से प्राप्त हुई, आर्ष और अनार्ष ग्रन्थों के विवेक करने की जैसी धारणा यहां से उपलब्ध हुई उसके बदले में कौनसी दक्षिणा गुरु का मनस्तोष करेगी ? इस अकिञ्चन संन्यासी के पास तो अपना कहने लायक कुछ है भी नहीं, जिसे देकर वह गुरु ऋण से उऋण हो सके। परन्तु गुरुदक्षिणा की मर्यादा का पालन तो आवश्यक है। कुछ तो देना ही होगा। दयानन्द जानते हैं कि गुरु जी को लौंगें बहुत प्रिय हैं। वे कहीं से आधा सेर लौंगें ले आये और गुरु चरणों में उपस्थित होकर कहने लगे—"महाराज, मुझ भिक्षुक के पास आपको अर्पित करने लायक तो कुछ भी नहीं है। इधर उधर से जुगाड़ कर अकिञ्चन कुछ लौंगें लेकर ही श्री चरणों में उपस्थित हुआ है। आप इन्हें स्वीकार कर मुझे आशीर्वाद दें।" विरजानन्द के ज्योतिहीन नेत्रों ने चाहे इन दृश्य को न देखा हो, किन्तु वे शिष्य के हार्दिक भाव को तो समझ ही गये। उन्होंने उत्तर में कहा वत्स, क्या तुम इन तुच्छ लौंगों को देकर ही गुरु के महत् ऋण से उऋण होना चाहते हो ? मैं तो इनसे कहीं अधिक मूल्य की दक्षिणा चाहता हूँ। मैं तुम्हारा जीवन चाहता हूँ। देखो, आज सम्पूर्ण भरतखण्ड साम्प्रदायिक आचार विचार, मूढ़ विश्वास तथा अंध धारणाओं का शिकार होकर नष्ट भ्रष्ट हो रहा है। आर्ष ज्ञान की ज्योति विलीन हो चुकी है। अनार्ष ग्रन्थों के प्रचार ने वैदिक प्रज्ञा को समाप्त कर दिया है। दयानन्द उठो, साम्प्रदायिक पाखण्डों का उन्मूलन करने के लिये बद्ध परिकर हो जाओ, आर्ष ज्ञान की दिव्य आभा को पुनः प्रकाशित करो, यही मेरी गुरु दक्षिणा है।"

दयानन्द के लिये गुरु का आदेश पत्थर की लकीर बन गया। उनका जीवन आज से उस आदर्श के लिये समर्पित हो गया जिसे प्रज्ञाचक्षु संन्यासी ने आयु पर्यन्त अपने हृदय में संजोया था। सत् पात्र को दी जाकर गुरु की विद्या फलवती हुई। 'तथास्तु' कहकर दयानन्द ने भी इस गुरुतर आदेश को सहज भाव से स्वीकार किया।

□□

पाद टिप्पणियाँ

१. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र। पं. लेखराम कृत पृ. ३१।
२. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित, भाग १, पं. घासीराम द्वारा संगृहीत पृ. ९४।
३ महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र। पं. लेखराम कृत पृ. ४४।
४. वही, पृ. ४।

५. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित—भाग १, पृ. ९२।

६. दण्डी विरजानन्द के जीवन का विस्तृत परिचय देने वाली निम्न पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं—

(१) विरजानन्द चरित—देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय लिखित व बाबू घासीराम द्वारा अनूदित। आर्य प्रतिनिधिसभा संयुक्तप्रान्त द्वारा १९१९ ई. में प्रकाशित (प्रथम संस्करण)।

(२) स्वामी विरजानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र—वेदानन्दतीर्थ लिखित।

(३) विरजानन्दप्रकाश—भीमसेन शास्त्री, रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर द्वारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण १९५९ ई.।

परन्तु उपर्युक्त जीवन चरित ग्रन्थों से भी पहले पं. लेखराम ने दण्डीजी के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली महत्त्वपूर्ण सामग्री स्वरचित 'महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र' में संकलित की थी।

७. यह एक संयोग ही है कि स्वामी विरजानन्द तथा स्वामी दयानन्द दोनों के दीक्षा गुरुओं का नाम पूर्णानन्द सरस्वती था। दयानन्द को संन्यास दीक्षा देने वाले पूर्णानन्द महाराष्ट्रवासी थे, जबकि विरजानन्द के दीक्षागुरु हरियाणा प्रदेशवासी।

८. इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि राजकीय म्यूजियम, अलवर में पुस्तक संख्या ३३३४ पर सुरक्षित है।

९. सम्प्रति यह भवन मथुरा के छत्ता बाजार में है तथा आर्यसमाज ने इसे एक स्मारक का रूप दे रक्खा है।

१०. 'कथं काशी विदुष्मती' पदान्तक एक श्लोकाष्टक की रचना विरजानन्द ने इसी प्रसंग में की थी। कहते हैं कि स्वामी दयानन्द को यह श्लोकाष्टक कण्ठस्थ था।

११. अष्टाध्यायी महाभाष्ये द्वे व्याकरण पुस्तके।
अतोऽन्यत्पुस्तकं यत्तु तत्सर्वं धूर्तचेष्टितम्॥

१२. इस सम्बन्ध में उनकी योजना थी कि कोई क्षत्रियनरेश सार्वभौम वैयाकरण महासभा का आयोजन करे, जिसमें देशभर के विद्वान्, पण्डितों को आमन्त्रित किया जाये। इस सभा में वे विद्वत्समुदाय के समक्ष कौमुदी आदि ग्रन्थों के अनार्षत्व फलतः अपाठ्य होने को सिद्ध करेंगे तथा पाणिनीय अष्टाध्यायी और महाभाष्य को आर्ष होने के कारण अध्येतव्य घोषित करेंगे। जयपुर के महाराजा रामसिंह ने उन्हें १९१६ वि. में तीन लाख रुपयों के व्यय से सम्पन्न होने वाली इस महासभा के आयोजन का आश्वासन दिया था, किन्तु अपने सम्मतिदाता पण्डितों की बातों में आकर कालान्तर में वे अपने वचन से फिर गये। पश्चात् दण्डीजी ने ग्वालियर तथा काश्मीर के राजाओं से भी ऐसी प्रार्थना की। यहाँ तक कि एक पत्र महारानी विक्टोरिया को भी भेजा। शास्त्र संशोधन के लिये स्वदेशी और विदेशी शासकों के सम्मुख प्रार्थना पत्र भेजने से दण्डीजी के हृदय की एतद् विषयक तीव्र भावनाएं ही दृष्टिगोचर होती हैं।

१३. पूना प्रवचन पृ. ११५ वैदिक यंत्रालय, अजमेर का संस्करण।

१४. पं. लेखराम ने मथुरा में सर्वप्रथम उनका कुब्जा के कुए पर ठहरने का उल्लेख किया है।

१५. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र पृ. ४४ ।

१६. मथुरा में दण्डी विरजानन्दजी का विद्यालय और स्वामी दयानन्दजी की शिक्षा दीक्षा, प्रभुदयाल मीतल, प्रकाशक—आर्यसमाज मथुरा, १९५९ ई. में दयानन्द दीक्षा शताब्दी के अवसर पर प्रकाशित, पृ. १६ ।

१७. जोशी अमरलाल के विस्तृत परिचय हेतु द्रष्टव्य—परोपकारी फरवरी १९७९ में प्रकाशित लेख ।

१८. पूना प्रवचन, पृ. ११५ ।

१९. महर्षि दयानन्द का जीवन चरित भाग १, पृ. ९७ ।

२०. मथुरा निवासी साहित्यकार तथा ब्रजमण्डल के इतिहासमर्मज्ञ श्री प्रभुदयाल मीतल के अनुसार स्वामीजी को रोशनी के लिये चार आने मासिक देने वाले व्यक्ति खेतामल नन्नूमल सर्राफ थे । उनकी सर्राफे की दूकान छत्ताबाजार में अब भी है । मीतल जी को गोवर्धन सर्राफ नामक किसी व्यक्ति का पता नहीं चला, जिसका उल्लेख पं लेखराम ने इस प्रसंग में किया है ।

२१. हरदेव पत्थर वाले से स्वामीजी को २ रु. प्रतिमास दूध के लिये मिलते थे । यह व्यक्ति मूलतः आगरावासी था ।

२२. अष्टाध्यायी और महाभाष्य ।

२३. दयानन्द प्रकाश वैराग्य काण्ड, नवम सर्ग ।

□□

परिव्राजक का देशाटन

गुरु के आदेश और उपदेश को स्वीकार कर दयानन्द अपनी सम्पूर्ण विद्या, तपस्या और योग साधना के सम्बल को जुटा लोकमंगल की सिद्धि में तत्पर हुए। मथुरा से वैशाख १९२० वि. में वे आगरा आये। यहां उन्होंने सेठ गुल्लामल के यमुना तटवर्ती बाग में डेरा डाला। उनके आगमन की सूचना पं. सुन्दरलाल, पं. बालमुकुन्द तथा पं. दयाराम आदि कतिपय प्रतिष्ठित नगरवासियों को मिली। पं. सुन्दरलाल डाक विभाग में उच्चाधिकारी थे। धर्म जिज्ञासा के साथ साथ नगर में यदा कदा आ जाने वाले साधु संन्यासियों से धार्मिक विचारविमर्श करने की भावना उनमें प्रबलता से विद्यमान थी। जब उन्हें दयानन्द के आगमन का समाचार मिला तो वे अपने साथियों सहित संन्यासी की सेवा में पहुंचे। उस समय स्वामीजी भोजन कर रहे थे, अतः आगन्तुकों को उनकी प्रतीक्षा करनी पड़ी। भोजनानन्तर स्वामीजी एक श्लोक को प्रसन्नमन गुनगुनाते बाहर निकले। पं. सुन्दरलाल और उनके साथियों की संस्कृत में स्वल्प गति तो थी ही। वे संन्यासी के श्लोकोच्चारण की अद्भुत शैली से ही समझ गये कि यह व्यक्ति असाधारण प्रतिभासम्पन्न विद्वान् है। कुछ देर परस्पर वार्तालाप होता रहा। अब ये लोग नियमित रूप से सायंकाल सत्संग हेतु आने लगे।

इस समय तक स्वामी दयानन्द अपने भावी कार्यक्रम की कोई स्पष्ट रूपरेखा नहीं बना सके थे। उनके मन में विभिन्न प्रकार के संकल्प विकल्प महासागर में उठने वाली जल वीचियों की तरह उठ उठ कर विलीन हो रहे थे। गुरु के समक्ष धर्म, समाज तथा मानवता के अभ्युत्थान का जो व्रत उन्होंने लिया था, उस लक्ष्य की सिद्धि हेतु क्या कुछ और कैसे करणीय है, इसका अभी तक पूर्ण निश्चय वे नहीं कर पाये थे। प्रसंग आने पर उन्होंने पं. सुन्दरलाल के समक्ष गुरु के निकट रहकर विद्याध्ययन करने और अध्ययन के पश्चात् की गई प्रतिज्ञा का भी उल्लेख किया, किन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया कि इस महत् लक्ष्य की पूर्ति किस प्रकार होगी; इसकी कोई स्पष्ट रूपरेखा वे अभी तक नहीं बना सके हैं।

पं. सुन्दरलाल ने स्वामी जी से भगवद्गीता और अष्टाध्यायी पढ़ना आरम्भ किया। इन महानुभाव से स्वामीजी का घनिष्ठ सम्बन्ध इस आगरा प्रवास काल में ही जुड़ा, जो जीवनपर्यन्त रहा। उन्होंने योगिप्रवर स्वामी दयानन्द से अनेक यौगिक क्रियायें भी सीखीं।

यह काल स्वामीजी के जीवन का वह युग था जब वे निर्धारित लक्ष्य की सिद्धि हेतु अपने को तैयार कर रहे थे। गुजरात के विभिन्न स्थानों तथा आबू पर्वत पर रह कर उन्होंने योग की जिन विभिन्न साधनाओं को सीखा था, अब सतत अभ्यास द्वारा वे उन्हें पुष्ट करते रहे। उनका अधिकांश समय प्राणायाम आदि योगाङ्गों के अभ्यास और समाधि-सिद्धि में ही लगता था। अठारह घण्टे की दीर्घावधि तक निरन्तर एक आसन बैठे रह कर योगाभ्यास उनके लिये नितान्त सहज था। जहां तक शास्त्रालोचन का सम्बन्ध है, वे दण्डीजी

द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों के अनुसार संस्कृत भाषा में प्रणीत अवान्तर कालीन उन ग्रन्थों का खण्डन करते, जो अनार्ष श्रेणी भुक्त कहे जा सकते हैं। इनके विपरीत विमल मेधाबुद्धि सम्पन्न, प्राचीन परिपाटी पर लिखित आर्ष संज्ञा प्राप्त ग्रन्थों का समर्थन और पुष्टि उनका दैनन्दिन कार्य बन गया। नगर के पण्डितों से शास्त्र चर्चा और धर्म विषयक आलोचना भी चलती रहती थी। यदा कदा योगवासिष्ठ और भगवद्गीता की कथा भी करते थे। पं. लेखराम के अनुसार तो आगरानिवास काल में एक मास से अधिक समय तक गीता विषयक उनके प्रवचन चलते रहे। कभी कभी देवीभागवत के स्फुट प्रसंग भी सुनाते थे। इस विवरण से अनुमान होता है कि हिन्दू धर्म के प्रचलित विशाल शास्त्र समुदाय की प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में वे अभी तक कोई स्पष्ट और अन्तिम धारणा नहीं बना सके थे। उन्हें गुरु द्वारा उपदिष्ट आर्ष अनार्ष ग्रन्थों के प्रामाण्याप्रामाण्य की कसौटी तो मिल गई थी, परन्तु ऋषि प्रणीत तथा इतर सामान्यजनों द्वारा निर्मित ग्रन्थों के प्रकट लक्षण क्या हैं, इस पर गहराई से विचार करने का अवसर अभी उन्हें नहीं मिला था।

स्वामी कैलासपर्वत से उनकी प्रथम भेंट आगरा में हुई। आगे चल कर हम देखेंगे कि यह वृद्ध संन्यासी स्वामी दयानन्द के अपार वैदुष्य, उत्कृष्ट साधना तथा तीव्र वैराग्य को देख कर किस प्रकार उनका प्रशंसक एवं मित्र बन गया था। पं. लेखराम ने एक प्रसंग उद्धृत किया है[1] जिससे विदित होता है कि स्वामी कैलासपर्वत जब एक धर्म सभा के समक्ष गीता के 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'[2] श्लोक की व्याख्या कर रहे थे, तो उसे सुनकर श्रोताओं को कुछ अधिक संतोष नहीं हुआ। स्वामी दयानन्द भी वहां विद्यमान थे। लोगों की प्रार्थना पर उन्होंने जब वैष्णवों के शरणागति योग निरूपक इस प्रसिद्ध श्लोक की अपने ढंग से मनोहारी, मौलिक व्याख्या प्रस्तुत की, तो श्रोता धन्य धन्य कह उठे। स्वामी कैलासपर्वत ने भी दयानन्द के वैदुष्य और शास्त्रविषयक उनकी अपूर्व सूझ की प्रशंसा की।

अब तक स्वामी दयानन्द की दार्शनिक धारणाएं पूर्ववत् वेदान्ताभिमुखी ही थीं। परिव्राजक काल के प्रारम्भिक दिनों में उन्हें जिन तुरीयाश्रमियों का साहचर्य प्राप्त हुआ था, वे संन्यासाश्रम की परम्परागत आस्थाओं के अनुसार शाङ्कर वेदान्त के अनुयायी ही थे। फलतः दयानन्द भी ब्रह्मैक्यवाद तथा मायावाद को ही मानव जीवन का चरम सत्य माने जा रहे थे। आगरा में लोगों के आग्रह पर उन्होंने विद्यारण्य स्वामी कृत 'पञ्चदशी' की कथा आरम्भ की।[3] इस ग्रन्थ को इससे पूर्व उन्होंने कभी विचारा नहीं था। एक दिन ग्रन्थ की व्याख्या के प्रसंग में एक संदर्भ ऐसा आया, जिसमें कहा गया था कि ईश्वर को भी भ्रम हो जाता है। विश्व ब्रह्माण्ड का नियन्त्रण करने वाली एक अद्वितीय चिन्मय सत्ता, जिसका सच्चिदानन्दादि लक्षणों से शास्त्रों में विभिन्न प्रकार से कथन किया गया है; विद्यारण्य के अनुसार सामान्य मानव की भांति भ्रम का शिकार हो जाती है और वही ईश्वर अविद्या और अज्ञान के वशवर्ती होकर अपने को अल्पज्ञ, अल्प सामर्थ्यवाला जीव समझ बैठता है, यह पढ़ कर पञ्चदशी के प्रति दयानन्द की आस्था दोलायमान हो उठी। वे अविलम्ब इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि पञ्चदशी को आर्ष ग्रन्थों की श्रेणी में नहीं रक्खा जा सकता। और जब उन्होंने इस

ग्रन्थ के बारे में अपनी यह धारणा बना ली, तो उसकी कथा करना भी तुरन्त बन्द कर दिया। स्वामी दयानन्द की वैचारिक निष्ठा तथा दृढ़ता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि जिस बात पर से उनकी आस्था उठ जाती, उनका विश्वास हिल जाता, उसे तिलाञ्जलि देने में वे थोड़ी भी देर नहीं करते थे। मिथ्या विचारों और भ्रष्ट आस्थाओं को वे अजागल स्तनवत् ढोते रहने के विरोधी थे। ज्यों ही पंचदशी की विचारधारा को उन्होंने निरर्थक समझा, उसे छोड़ने में किञ्चित्मात्र संकोच नहीं किया।

तथापि अभी तक दयानन्द के धार्मिक और दार्शनिक विचारों ने कोई सुनिश्चित रूप धारण नहीं किया था। नाना शास्त्रों के अनुशीलन से उनके समक्ष विभिन्न संदेह उठते, अनेक शंकायें जागृत होतीं। जब इनका समाधान करने में अपने को असमर्थ देखते, तो यदाकदा मथुरा जाकर दण्डीजी से पूछ आते अथवा पत्रों के माध्यम से उनके विचार जानने का यत्न करते। दयानन्द का यह शास्त्रीय शंका समाधान विषयक पत्र व्यवहार आज हमें उपलब्ध नहीं है, अतः यह जानना भी सम्भव नहीं है कि यह प्रश्नोत्तर किन किन विषयों से सम्बन्धित रहा होगा ? उस समय तक वे देशव्यापी ख्याति अर्जित नहीं कर सके थे और न एक उदीयमान समाजसंशोधक के रूप में ही उनकी पहचान होने लगी थी। अतः उस युग के उनके पत्र-व्यवहार का कोई संधान प्राप्त नहीं होता।

यह तो सत्य है कि आगरानिवास काल तक स्वामी दयानन्द अपनी भावी कार्य-प्रणाली को स्थिर नहीं कर पाये थे, किन्तु उनकी यह धारणा तो निश्चय ही बन चुकी थी कि भारत में मूर्तिपूजा जैसी अवैदिक और भ्रान्त पद्धतियों का प्रचलित हो जाना ही देश की धार्मिक अधोगति का प्रमुख कारण है। वे जड़ पूजा को समाप्त कर प्राचीन शास्त्रोक्त संध्योपासनादि प्रणालियों के प्रचार के इच्छुक थे। अतः उन्होंने सर्वप्रथम 'संध्या' शीर्षक पुस्तक लिख कर प्रकाशित की। आगरा के सेठ रूपलाल ने १५०० रु. व्यय कर इस पुस्तक की ३०,००० प्रतियाँ मुद्रित कराईं। पुस्तक ज्वालाप्रकाश प्रेस आगरा में छपी थी, तथा एक प्रति का मूल्य एक आना रक्खा गया था। इस संध्या पद्धति के अन्त में ऋग्वेद के परिशिष्ट भाग में पठित लक्ष्मीसूक्त (श्रीसूक्त) भी संकलित था। खेद है कि इसकी कोई प्रति उपलब्ध नहीं हो सकी। मूर्तिपूजा की अवैदिकता तथा निस्सारता की घोषणा वे पदे पदे करते थे। आगरा में भी उनका यह अभियान जारी रहा। इस नगर के निवासी पं. चेतूलाल और पं. कालिदास ने स्वामीजी की एतद् विषयक युक्तियों और तर्कों को सुन कर यह तो स्वीकार किया कि प्रतिमापूजन का कोई औचित्य नहीं है, किन्तु दबी जबान से यह भी कहा कि गृहस्थ होने के कारण वे लोग शताब्दियों से प्रचलित इस पुरातन प्रथा का खण्डन करने में असमर्थ हैं, जिसके साथ इन लोगों की जीविका भी जुड़ी हुई है।

आगरा का यह पहला प्रवास दो वर्ष की दीर्घ अवधि का था। इस दौरान एक अज्ञातनामा ब्रह्मचारी उनके पास पाचकरूप में रहता था। वे सिले हुए वस्त्र नहीं पहनते थे। लोई ओढ़े रहते, पांव में जूता रहता था। वस्त्र धोने के लिये एक अपठित ब्राह्मण साथ रहता, जो योग के नाना आसन जानता था। यदाकदा उससे आसन लगवा कर स्वामीजी अपना मनोरंजन करते थे। महाभाष्य तथा कुछ ग्रन्थ भी उनके पास थे।

इस समय स्वामीजी की यह धारणा धीरे धीरे दृढ़तर हो रही थी कि वेद के सर्वोपरि प्रामाण्य को स्थापित करके ही वे अवैदिक विश्वासों तथा साम्प्रदायिक धारणाओं का प्रत्याख्यान कर सकेंगे। फलतः वे वेदालोचन और वेदाध्ययन की रूपरेखा बनाने लगे। अपने विश्वस्त भक्त पं. सुन्दरलाल को कहीं से वेद की पुस्तक लाने के लिये कहा। पण्डितजी ने चेतूलाल और कालिदास के द्वारा वेदों के हस्तलिखित पत्रे मंगाये और स्वामीजी की सेवा में उपस्थित किये। स्वामीजी ने इन्हें देख कर कहा कि ये तो थोड़े हैं, इनसे काम नहीं चलेगा। पुनः कहा कि सम्पूर्ण वेदों की व्यवस्था वे स्वयं ही करेंगे। कहीं से लायेंगे।

इस प्रकार पर्याप्तकाल तक आगरा में रह कर, कार्तिक १९२१ वि. में वे धौलपुर चले गये। लगभग पन्द्रह दिन वहां रहे और पुनः ग्वालियर चले गये। जब वे वहां पहुंचे तो पता लगा कि ग्वालियर नरेश महाराजा जीवाजीराव सिंधिया ने अष्टोत्तरशत भागवत पारायण का एक वृहद् आयोजन किया है। भागवत पारायण के लिये विभिन्न नगरों से पण्डितगण आमंत्रित किये गये थे। सम्भवतः भागवत पारायण का समाचार स्वामीजी को आगरे में ही मिल गया था। वैष्णव सम्प्रदाय के सर्वमान्य ग्रन्थ श्रीमद्भागवत के विषय में स्वामीजी के विचार अत्यन्त तीखे थे। वे इसे अनार्ष मानते थे और सदा उसके खण्डन में तत्पर रहते। अतः भागवत सप्ताह के अवसर पर ग्वालियर जाने पर भागवती पण्डितों से शास्त्रार्थ करने का उन्हें अलभ्य अवसर प्राप्त होगा, ऐसा जानकर यदि वे यहां आये हों, तो कोई आश्चर्य नहीं। ज्योतिर्विद् पण्डितों ने माघ शुक्ला नवमी १९२१ वि. को पाठारम्भ की तिथि निश्चित की थी, तदनुकूल ही भागवत पाठ आरम्भ हुआ।

स्वामीजी ने ग्वालियर पहुँच कर महारुद्र मोटेश्वर महादेव के मंदिर में डेरा डाला। उनके राजधानी में पहुँचने का समाचार द्रुतगति से सर्वत्र फैल गया। विभिन्न भागवती पण्डितों से मिल कर वे विस्तृत शास्त्रचर्चा करना चाहते थे, किन्तु विद्वत् समुदाय से भेंट करने में उन्हें सफलता नहीं मिली। मध्व सम्प्रदायानुयायी श्री हनुमन्ताचार्य से तो उनकी भेंट नाटकीय रूप में हुई जिसका उल्लेख स्वयं उन्होंने अपने आत्मकथन में इस प्रकार किया है—

"वहां एक माध्व हनुमन्ताचार्य नाम का था। वह कारकून (लिपिक) के वेश में वाद आदि सुनने बैठा करता था। एक आध बार मेरे मुख से कोई अशुद्ध शब्द निकला तो उसने अशुद्धि पकड़ ली। मैंने उससे अनेक बार 'आप कौन हैं?' पूछा, परन्तु "मैं यों ही एक लिपिक हूँ, सुनते सुनते मुझे कुछ बोध हुआ है" ऐसा उसने उत्तर दिया। एक दिन वैष्णव खड़ी रेखा लगाते हैं' इस विषय में बातचीत में मैंने कहा कि 'एक खड़ी रेखा लगाने से यदि स्वर्ग मिलता है तो सारे मुंह को काला करने से स्वर्ग से अधिक कोई पद मिलता होगा?' ऐसा सुनते ही उसे बहुत क्रोध आया और वह उठ कर चला गया। तत्पश्चात् मुझे जानकारी प्राप्त करने पर 'यह हनुमन्ताचार्य है' ऐसा ज्ञात हुआ।"[४]

दयानन्द के आगमन का समाचार महाराजा सिंधिया को भी मिला। उन्होंने पं. विष्णु दीक्षित को भेज कर भागवत पाठ का माहात्म्य पूछा। स्वामीजी की प्रतिक्रिया सहज किन्तु तीखी थी। उन्होंने कहा दुःख और क्लेश के अतिरिक्त इसका और क्या फल हो सकता है? परमहंस संन्यासी का यह स्पष्ट मत सुन कर महाराज एक बार तो स्तम्भित रह गये,

पुनः इतना ही कहा कि स्वामीजी समर्थ हैं, जो चाहे सो कह सकते हैं किन्तु अब तो भागवत परायण की सारी व्यवस्था हो चुकी है, अतः इसे रोकना सम्भव नहीं है। महाराज ने उन्हें पारायण समारम्भ में आमंत्रित भी किया, किन्तु वे नहीं आये। इसे एक संयोग ही कहना चाहिए कि कथा समाप्त होने के दस दिन पश्चात् ही नगर में विशूचिका का प्रकोप हुआ और सैंकड़ों लोग काल के ग्रास बन गये। विपत्ति का अन्त यहीं नही हुआ। थोड़े समय पश्चात् युवराज भी इस रोग के शिकार हुए। इस प्रकार लोगों को यह कहने का अवसर मिल गया कि भागवत कथा का कोई शुभ परिणाम नहीं निकला।

स्वामीजी का शास्त्रालोचन का कार्य सतत गतिशील था। हम देख चुके हैं कि वैष्णवों के शिरोभूषण तुल्य श्रीमद्भागवत पुराण के प्रति उनकी आस्था बहुत पूर्व ही समाप्त हो चुकी थी, परन्तु अन्य पुराणों के प्रति अभी तक वे कोई निश्चित धारणा नहीं बना सके थे। दण्डी विरजानन्द की ही भांति वे देवी भागवत को प्रामाणिक मानते थे और इसे ही वास्तविक भागवत नाम धारी 'महापुराण' की संज्ञा देते थे। वस्तुतः शाक्त और वैष्णव सम्प्रदायों में 'भागवत' की स्थिति को लेकर एक विवाद प्राचीन समय से चला आ रहा है। वैष्णवों की दृष्टि में शुकप्रोक्त भागवत ही महापुराण की संज्ञा का अधिकारी है जब कि शाक्त और शैव सम्प्रदाय के लोग 'देवी भागवत' को महापुराण कहते हैं। स्कन्द पुराण में तो यहाँ तक कह दिया गया है कि जिस ग्रन्थ में भगवती कालिका का माहात्म्य वर्णित हुआ है तथा देवी द्वारा किये गये नाना दैत्यों के बध का वर्णन जहां उपलब्ध होता है, वही वास्तव में भागवत ग्रन्थ है। कलियुग में कोई दुरात्मा, धूर्त, वैष्णव नामधारी लोग भागवत नाम का एक अन्य ग्रन्थ कल्पित कर लेंगे।[५] निश्चय ही वैष्णव भागवत की तुलना में स्वामी दयानन्द ने देवी भागवत को वरीयता प्रदान की थी। ग्वालियर निवास काल तक स्वामी दयानन्द मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत दुर्गासप्तशती को भी प्रामाणिक मानते थे। ऐसा लगता है कि सम्पूर्ण पुराण साहित्य के सम्बन्ध में उनकी धारणाओं में परिवर्तन इस समय के बाद ही आया था।[६]

ग्वालियर से चल कर दयानन्द ज्येष्ठ सं १९२२ वि. में करौली आये। भद्रवती नदी के तट पर गोपालसिंह के उद्यान में ठहरे। करौली के महाराजा मदनपाल को जब उनके आगमन का समाचार मिला तो उन्होंने स्वामीजी के भोजनादि की व्यवस्था करा दी। कुछ मास करौली में रहकर वे खुशहालगढ़[७] चले गये और वहाँ से कार्तिक १९२२ वि. में जयपुर आये। स्वामी दयानन्द का यह जयपुर निवासकाल कई कारणों से विशेष महत्त्व रखता है। जैसा कि हम देख चुके हैं दयानन्द के जीवन का यह समय अपने मत एवं सिद्धान्तों को क्रमशः निर्धारित करने का काल था। अभी तक धार्मिक और शास्त्रीय समस्याओं पर उनका मानस-मन्थन जारी था। कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण होने से पूर्व की यह भूमिका थी। अभी तक वे धर्म, समाज, देश, सम्प्रदाय, शास्त्र आदि नाना विध विषयों से सम्बद्ध जटिल प्रश्नों का समाधान नहीं निकाल पाये थे। विरजानन्द ने शास्त्र परीक्षण की एक कुञ्जी तो उन्हें दे दी थी, किन्तु आचार्य प्रदत्त इस सूत्र को विराट् शास्त्रसमुदाय पर लागू करना और उसके आधार पर सुविचारित निष्कर्ष निकालना दुष्कर कार्य था। इसी प्रकार देश में विद्यमान शैव, वैष्णव आदि सम्प्रदायों के सिद्धान्तों, कर्मकाण्डों, आस्थाओं और विश्वासों के बारे में भी अभी तक वे दो टूक निर्णय नहीं ले सके थे। जब उन्होंने व्यापक दृष्टि से सर्वाधिक प्रचलित शैव और

वैष्णव मतों की तुलनात्मक आलोचना की, तो उन्हें प्रतीत हुआ कि वैष्णवों की अपेक्षा शैवों की मान्यताएं अधिक वेदानुकूल हैं। वैष्णवों ने राम, कृष्ण आदि महापुरुषों को परम पुरुष विष्णु का अवतार स्वीकार कर इनकी ऐतिहासिकता को तो समाप्त किया ही है, साथ ही इन तथाकथित अवतारी पुरुषों की षोडशोपचार पूजा तथा उनसे सम्बन्धित नानाविध तीर्थयात्रा, व्रत, उपवास तथा अन्यान्य साम्प्रदायिक आचार विचारों के पालन पर जोर देकर इस सम्प्रदाय के लोग वैदिक विचारों और मान्यताओं से बहुत दूर हो चुके हैं।

यों तो शैव सम्प्रदाय ने भी विभिन्न प्रकार के कर्मकाण्डों और प्रतिमार्चन आदि के पाखण्डों को स्वीकार कर रक्खा है, तथापि उसमें बाह्याडम्बर तथा दुराचार उस सीमा तक प्रविष्ट नहीं हो सके हैं, जितने वैष्णव मतावलम्बियों में। तथ्य तो यह है कि शैव लोग भी शिव और लिंग पुराणोक्त जिस परम तत्त्व की आराधना और उपासना 'शिव' कह कर करते हैं उसे इन पुराणों ने कैलासपर्वतवासी, पार्वतीपति, त्रिशूलधारी, भूतगणाधिसेवित एक देवता के रूप में ही कल्पित किया है, किन्तु शिव की पूजा प्रायः यजुर्वेद के उन मंत्रों के आधार पर ही होती है जिन्हें शैवों ने रुद्राध्याय के रूप में पृथक् संकलित किया है।[८] अतः शैव धर्म की ओर दयानन्द का झुकाव समझ में आने की बात है। फिर पारिवारिक दृष्टि से भी उन्हें शैव आस्था ही पैतृक दाय के रूप में मिली थी। अतः शैव निष्ठा के प्रति आसक्ति और वैष्णव मान्यताओं से विरक्ति उनमें स्वाभाविक थी। दयानन्द मानने लगे थे कि वेदों में जिस 'शिव' तत्त्व का वर्णन है वह तो निराकार, अखिल लोकाधार परमात्मा ही है, किन्तु शैव सम्प्रदाय में इसी वैदिक शिव को पौराणिक त्रिदेवों में एक—सृष्टि के संहर्ता रुद्र के रूप में कल्पित किया गया है। अतः पुराण वर्णित शिव को एकान्ततः अस्वीकार करते हुए भी वेद प्रतिपादित 'रुद्र' तथा उसके अनुयायियों के प्रति उनके हृदय में सहानुभूति अवशिष्ट थी। यही कारण है कि जब जयपुर में हुए शैव वैष्णव विवाद में उन्हें किसी एक पक्ष का साथ देना पड़ा, तो उनका स्पष्ट झुकाव शैवों की ओर ही रहा।

दयानन्द की उक्त वैचारिक मनःस्थिति को दृष्टिपथ में रखकर उनके जयपुर प्रवास की प्रमुख घटनाओं की समालोचना करना अधिक समीचीन होगा। जयपुर में स्वामीजी के निवासस्थान निम्न रहे—प्रथम भवानीराम बोहरा का बाग, द्वितीय धूलेश्वर महादेव का मंदिर, अन्ततः वे माली रामपुण्य दरोगा के बाग में चले गये थे। गोपालानन्द परमहंस नामक एक संन्यासी से 'ईश्वर और जीव की स्वतंत्रता या परतंत्रता' विषय पर उनकी चर्चा हुई। परमहंस जी स्वामीजी के समाधान से पूर्ण तुष्ट होकर उनके समीप ही रहने लगे।

जोधपुर में महाराजा मानसिंह के समय से ही शैवमतानुयायी नाथ (कनफटे) सम्प्रदाय का राजन्यवर्ग पर वर्चस्व रहा है। जोधपुर नगर की समीपवर्ती बस्ती महामंदिर इन्हीं नाथ पंथी साधुओं के महन्त को जागीर रूप में मिली थी। इसी सम्प्रदाय की जोधपुर स्थित गद्दी के मुखिया श्रवणनाथ के शिष्य लक्ष्मणनाथ को तत्कालीन जयपुर नरेश, महाराजा रामसिंह ने वैष्णवों से शास्त्रार्थ हेतु आमंत्रित किया। ब्रजनन्दनजी के मंदिर में जब स्वामी दयानन्द की भेंट उक्त स्वामी लक्ष्मणनाथ से हुई, तो नाथजी ने निकट भविष्य के होने वाले शैव वैष्णव शास्त्रार्थ में शैव मत का समर्थन करने का उनसे आग्रह किया। इस पर स्वामी दयानन्द ने स्पष्ट उत्तर दिया कि साम्प्रदायिक आग्रह से पृथक् रह कर ही वे यथासमय अपनी सम्मति व्यक्त करेंगे।

संवत् १९२१ से १९२७ वि. तक जयपुर नगर में शैव वैष्णवों का संघर्ष भयंकर साम्प्रदायिक तनाव का कारण बना था। तत्कालीन जयपुर नरेश महाराजा रामसिंह कट्टर शैव थे। स्वमत के प्रति दृढ़ आस्था होना तो कोई अनुचित बात नहीं थी, किन्तु उन्होंने वैष्णवों का जिस प्रकार विरोध किया, वह आपत्तिजनक था। जयपुर नरेश को वैष्णव मत के प्रति सीमातीत रूप से असहिष्णु हो जाना भी अकारण नहीं था। जयपुर में रामानुज, मध्व तथा वल्लभ आदि वैष्णव सम्प्रदायों के अनेक मंदिर थे। इन मंदिरों का सम्पूर्ण वातावरण साम्प्रदायिक संकीर्ण भावों से ग्रस्त रहता था। यदि कोई अपराधी अपराध करके राजदण्ड से बचने के लिये मंदिर की शरण ले लेता, तो राजपुरुष भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। इस प्रकार इन तथाकथित धर्मसंस्थानों में अनेक अपराधपूर्ण प्रवृत्तियाँ पनपने लगीं। वैष्णव मंदिर दुराचार और व्यभिचार के अड्डे बन गये। वैष्णवाचार्यों तथा मंदिराध्यक्षों का आचरण पूर्णतया मर्यादाहीन, स्वेच्छाचारितापूर्ण तथा लोकनीतिविरुद्ध हो गया था। ऐसी स्थिति में इस सम्प्रदाय के प्रभुत्व और दम्भपूर्ण प्रवृत्तियों को समाप्त करने का निश्चय महाराजा को करना ही पड़ा।

अब महाराजा की यह धारणा बनी कि शास्त्रार्थ संग्राम में पराजित करके ही वैष्णवों की अवांछनीय गतिविधियों को नियंत्रित किया जा सकता है। अतः महाराजा रामसिंह ने शैवों और वैष्णवों को वादयुद्ध में प्रवृत्त किया। शैव मत का समर्थन करने के लिये उन्होंने जोधपुर से पं. लक्ष्मणनाथ तथा दिल्ली से पं. हरिचन्द्र को बुलाया। इस शास्त्रार्थ में वैष्णवों के मत को प्रस्तुत करने के लिये वृन्दावनस्थ श्री सम्प्रदाय के आचार्य रंगाचार्य ने पं सुदर्शनाचार्य को भेजा था।

इसी बीच महाराजा ने एक और चतुराई का कार्य किया। १९२१ वि. में कलकत्ता जाते हुए वे बीच में काशी में रुके और जयपुर के एक काशी प्रवासी पं. शिवराम शास्त्री के माध्यम से काशी के विद्वानों से शैवमत के समर्थन में एक व्यवस्था प्राप्त कर ली। इस व्यवस्था को लेने में प्रचुर द्रव्य दक्षिणा रूप में व्यय भी किया गया। कहते हैं कि द्रव्य लोभ के शिकार जिन टकापंथी पण्डितों ने इस व्यवस्था के द्वारा शैव सम्प्रदाय को वेदविहित और वैष्णव मत को वेद विरुद्ध ठहराया, उनकी संख्या अढ़ाई हजार के लगभग थी। यदि वैष्णव सम्प्रदाय का कोई धनी संरक्षक इन पण्डितों को और अधिक धन दे देता, तो शायद वे उस मत के समर्थन में भी व्यवस्था दे देते। इस घटना से यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि साम्प्रदायिक पक्षपोषण की नीति ने हमारे देश के विद्वत्समुदाय को भी किस प्रकार नैतिक दृष्टि से दिवालिया बना दिया था।

जब महाराजा रामसिंह को काशी के पण्डितों की व्यवस्था मिल गई[९] को उन्होंने निस्संकोच रूप से शैव पक्ष के समर्थक पण्डितों को शास्त्रार्थ समर में कूद पड़ने के लिये कहा।[१०] राजाश्रित शैव धर्म को तो विजय मिलनी निश्चित सी थी। यह घोषित कर दिया गया कि वैष्णव मत की पराजय हुई है। राजा के रुख को देख कर प्रजापक्ष के सहस्रों लोगों ने भी वैष्णव मत का परित्याग कर दिया। वैष्णव सम्प्रदाय को त्यागने के प्रतीक रूप में ऐसे लोगों से प्रायश्चित्त कराया गया। लोग बड़ी संख्या में उर्ध्वपुण्ड्र को छोड़ कर त्रिपुण्ड्र धारण

करते, कण्ठी तोड़ कर रुद्राक्ष धारण करते, पुनः गजारूढ़ हो, 'जय सदाशिव' की ध्वनि करते हुए नगर परिक्रमा करते।

वैष्णवों के पराजय की इस घोषणा से मन्दिरों के पुजारियों और महन्तों के समक्ष एक नवीन संकट उपस्थित हुआ। आसन्न राजकोप की भयंकरता को अनुभव करके वे अपने देव विग्रहों सहित नगर को त्याग कर चले गये। इस प्रकार अपनी आराध्या देवमूर्तियों को ही नगर से निष्कासित होते देख कर भावुक वैष्णव जनता पीछे पीछे रोती कलपती चल पड़ी। स्थिति इतनी भयंकर और विस्फोटक हो गई कि राज्य के पोलिटिकल एजेन्ट को १८६५-६६ के अपने वार्षिक विवरण में इस घटनाचक्र का विस्तारपूर्वक उल्लेख करते हुए महाराजा के आचरण को निर्दोष सिद्ध करना पड़ा था।[११]

इस सारे प्रसंग का विस्तृत उल्लेख करने की आवश्यकता इसलिये हुई, क्योंकि हम देखते हैं कि स्वामी दयानन्द ने भी इस शैव वैष्णव विवाद में प्रमुख भूमिका निभाई थी। जैसा कि उन्होंने स्वयं आत्म वृत्तान्त में लिखा है "वहां (जयपुर में) मैंने प्रथम वैष्णव मत का खण्डन करके शैव मत की स्थापना की। जयपुर के महाराज रामसिंह ने भी शैवमत ग्रहण किया। इससे शैव मत का इतना विस्तार हुआ कि सहस्रों रुद्राक्ष मालाएं मैंने हाथ से दीं। यहां शैव मत इतना दृढ़ हुआ कि हाथी घोड़े आदि सबके गले में रुद्राक्ष की माला पड़ गई।"[१२]

चाहे दयानन्द ने शैवमत का समर्थन ही किया किन्तु मूर्तिपूजा के प्रति उनका विरक्ति भाव इस सारे प्रसंग में पूर्ववत् ही रहा। वे महीनों मन्दिरों में निवास करते रहे, किन्तु उन्होंने न तो मूर्तियों को दण्डवत् प्रणाम ही किया और न वे उनके समक्ष कभी नत हुए। भस्म, रुद्राक्ष आदि शैव प्रतीक चिह्नों को तो धारण करते रहे, किन्तु धातु एवं पाषाण निर्मित जड़ प्रतिमाओं के पूजन अर्चन का कभी समर्थन नहीं किया। वैष्णव सम्प्रदाय के आधार ग्रन्थ श्रीमद्भागवत का खण्डन भी यथावत् करते रहे तथा जन सामान्य को वेदोक्त गायत्री, संध्या वंदनादि का विधेयात्मक उपदेश देते रहे।

जयपुर निवास के कुछ अन्य प्रसंगों का उल्लेख भी आवश्यक है। जयपुर को उत्तर भारत की द्वितीय काशी कहा जाता है। संस्कृत अध्ययन अध्यापन की प्राचीन परम्परा इस नगर में सदा से सुरक्षित रही है। स्वामीजी ने नगर की संस्कृत पाठशाला के पण्डितों के पास १५ प्रश्न लिख भेजे। उत्तर देना तो दूर रहा, जयपुर के इन पण्डितों ने स्वामीजी को दुर्वचनों से सत्कृत किया। अपनी आलोचना का कुछ भी बुरा न मान कर स्वामीजी ने उल्टे उनके लिखित उत्तर में ही आठ प्रकार के भाषागत दोष दिखा कर पुनः पत्र लिख भेजा। पण्डित वर्ग ने इसका कोई लिखित उत्तर तो नहीं दिया परन्तु व्यास बख्शीराम से कहा कि वे स्वामी जी से उनका शास्त्रार्थ करा दें। स्वामीजी तो शास्त्रार्थ के लिये तैयार ही थे। व्यास जी का अनुरोध स्वीकार कर वे राजराजेश्वर के मन्दिर में गये, जहाँ शास्त्रार्थ होना निश्चित हुआ था। दिल्ली निवासी पं. हरिश्चन्द्र भी पण्डितवर्ग में विद्यमान थे। पण्डित समुदाय के प्रमुख प्रवक्ता के रूप में सर्वप्रथम स्वामीजी से उन्होंने यही पूछा कि क्या ये १५ प्रश्न उन्ही के द्वारा लिखे हुए हैं? स्वामीजी द्वारा स्वीकार करने पर पण्डितों ने उत्तर देना आरम्भ किया। उसमें

उन्हें किञ्चित् सफलता मिली ही थी कि स्वामीजी ने प्रबलता से उनके पक्ष का खण्डन कर दिया। ये सभी प्रश्न सम्भवतः संस्कृत व्याकरण से सम्बन्धित थे।

बात यह है कि वैयाकरणकेसरी विरजानन्द का यह उद्भट शिष्य शास्त्रार्थ संग्राम में अपने प्रतिपक्षियों को परास्त करने के कुछ निश्चित दांव पेंच जानता था। संस्कृत की शास्त्रार्थ प्रणाली में व्याकरण का क्षेत्र इतना विस्तृत और व्यापक है, तथा उसमें तर्क वितर्क एवं युक्ति प्रत्युक्ति करने का इतना अवकाश है कि कोई भी शास्त्रार्थी अवसर आने पर अपने प्रतिद्वन्द्वी को वाद के मूल विषय से हटा कर व्याकरण की जटिलताओं में फंसा सकता है तथा इस प्रकार उसे सहज ही निग्रह स्थान पर पहुंचा देता है। दयानन्द जैसे शास्त्रार्थ रूपी अखाड़े के पटु मल्ल के लिये इन दांव पेंचों का ज्ञान तो सामान्य बात थी। पण्डितों से प्रष्टव्य १५ प्रश्नों में निम्न दो प्रश्न व्याकरण से सम्बन्धित थे—

१. कल्म च किं भवति ?

२. येन कर्मणा सर्वे धातवः सकर्मकाः किं तत्कर्म ?

जब पण्डित गण व्याकरणविषयक इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सके तो उन्होंने स्वामीजी से ही इनका समाधान जानना चाहा। स्वामी जी ने चटपट जब समाधान कर दिया तो मैथिल विद्वान् पं. राजीवलोचन ओझा[13] ने उनसे पूछा कि उनके इस प्रकार अर्थ करने का आधार क्या है ? स्वामीजी का उत्तर महाभाष्य पर आधारित था। महाभाष्य का नाम सुनते ही मैथिल पण्डित के मुख से अनायास ही यह वाक्य निकल गया कि महाभाष्य की तो व्याकरण ग्रन्थों में गणना ही नहीं होती। पातञ्जल महाभाष्य के प्रति ऐसे अवगणनापूर्ण उद्गार सुन कर स्वामीजी का रुष्ट होना स्वाभविक ही था। दण्डी विरजानन्द ने जोर देकर जिस बात को उन्हें बताया, वह यही थी कि अष्टाध्यायी और महाभाष्य ही व्याकरण के विषय में सर्वोपरि प्रामाणिक हैं। कौमुदी आदि अनार्ष प्रक्रिया ग्रन्थों के अभ्यस्त पण्डित यदि उस युग में महाभाष्य की अवहेलना करने लगे थे, तो आश्चर्य ही क्या ? स्वामी जी ने तुरन्त कहा—जो लोग महाभाष्य को व्याकरण ग्रन्थ ही नहीं मानते, उनसे संवाद करना निरर्थक है। उन्हें इतने से ही संतोष नहीं हुआ, तो यहां तक कह दिया कि यदि आप महाभाष्य को व्याकरण वाङ्मय से बहिर्भूत समझते हैं, तो अपनी बात को लिख कर दे दें। इस पर पण्डित लोगों को लज्जित होना पड़ा।

विवाद में आई उग्रता को शान्त करने तथा साथी विद्वानों की प्रतिष्ठा बचाने की दृष्टि से व्यास बख्शीराम ने स्वामीजी को स्मरण दिलाया कि नगर के द्वार बन्द होने को हैं तथा उन्हें बाहर पधारना है, अतः इस वाद को यहीं समाप्त किया जाय। स्वामीजी अपनी बात को पुनः कह कर स्वस्थान के लिये प्रस्थित हुए।

जैन सम्प्रदाय के आचार्य श्री पूज्य जती जी से भी स्वामीजी का लिखित शास्त्रार्थ हुआ था। स्वामीजी ने उपर्युक्त प्रसंग में उल्लिखित १५ प्रश्न जती जी की सेवा में लिख भेजे, जिनका उनसे कोई उत्तर देते नहीं बन पड़ा। परन्तु जतीजी ने अपनी ओर से जैनमतविषयक जो ८ प्रश्न स्वामीजी को भेजे, उनका समुचित उत्तर उन्हें मिल गया। अब स्वामीजी ने भी जैन धर्म के सम्बन्ध में ८ प्रश्न लिख कर भेजे, परन्तु जैनाचार्य उनका उत्तर नहीं दे सके।

जयपुर के निकट अचरोल नामक जमींदारी का एक गांव है। वहां के ठाकुर रणजीतसिंह को स्वामी दयानन्द के दर्शन करने की अभिलाषा जागृत हुई, तो उन्होंने अपने पुरोहित जोशी रूपराम को स्वामी महाराज की सेवा में भेजा। जोशीजी स्वामीजी के अद्‌भुत पाण्डित्य, तीव्र वैराग्य, धर्म संशोधन की उत्कट लगन आदि गुणों को देख कर विस्मयविमुग्ध हो गये। तदनन्तर ठाकुर के आग्रह को स्वीकार कर स्वामीजी गंगापोल द्वार के बाहर बदनपुरे में अचरोल ठिकाने के बाग में कुछ दिन तक रहे। उनके सम्पर्क में आकर ठिकाने के कामदार हीरालाल कायस्थ ने मद्यपान, मांस भक्षण आदि आचारजन्य दोषों का परित्याग कर दिया। स्वामीजी ने उसे 'विश्वानिदेव' मंत्र का उपदेश दिया तथा यज्ञोपवीत ग्रहण करने की प्रेरणा दी। अचरोल के ठाकुर साहब को भी गायत्री मंत्र का उपदेश दिया। उन्हें उपनिषदों का अध्ययन करने के लिये प्रेरित किया। 'तत्त्वबोध' शीर्षक एक उपदेशात्मक पत्रक लिख कर ठाकुर रणजीतसिंह को दिया तथा उनके पुत्र को भगवद्‌गीता के कुछ प्रकरण पढ़ाए। स्वयं ठाकुर साहब ने भी उनसे छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषदों के प्रवचन सुने।

पर्याप्त समय तक जयपुर में रहने पर भी महाराजा रामसिंह से उनकी भेंट नहीं हो सकी थी। जब अचरोल ठाकुर तथा व्यास बख्शीराम से महाराजा ने स्वामीजी की प्रशंसा सुनी, तो उनसे मिलने का निश्चय किया। यह निश्चित हुआ कि राजराजेश्वर के मंदिर में स्वामीजी जयपुर नरेश से भेंट करेंगे। नियत समय पर स्वामीजी मंदिर में पहुंच गये परन्तु उन्होंने देवालय के अधिष्ठाता देवता के प्रति किसी प्रकार का सम्मान व्यक्त नहीं किया। यह बात उपस्थित पुजारी वर्ग को अखरी। उन्होंने व्यास जी को यह कह कर भड़काया कि यदि मूर्तिपूजा के विरोधी इस संन्यासी का सम्पर्क महाराजा से हो गया तो उनका वर्चस्व ही समाप्त हो जायगा। फलतः राजा से भेंट कराने में माध्यम का काम देने वाले व्यास बख्शीराम ने स्वामीजी को कहला भेजा कि अवकाश न होने के कारण महाराजा का आना सम्भव नहीं है। इस प्रकार भेंट की सम्भावना भी समाप्त हो गई। दूसरे दिन भी जब वे मंदिर में भेंट हेतु पहुंचे, तो बिचौलियों ने बहाना बना दिया कि आज महाराजा भ्रमणार्थ गये हैं। स्वामीजी तुरन्त समझ गये कि यह छुटभइयों की कारस्तानी है जो नहीं चाहते कि स्पष्ट वक्ता संन्यासी की भेंट राजा से हो। अब तो लोगों के बारबार आग्रह करने पर भी स्वामीजी राजा से भेंट के लिये उद्यत नहीं हुए।

इस प्रकार लगभग साढ़े चार मास तक जयपुर में निवास कर चैत्र कृष्णा पंचमी १९२२ वि. को स्वामीजी ने पुष्कर के लिये प्रस्थान किया। बगरू और दूदू होते हुए किशनगढ़ आये और नगर के समीपवर्ती सुखसागर तालाब पर विश्राम किया। यह स्थान सुरम्य तथा एकान्त का होने के कारण साधु सन्तों के लिये अत्यन्त सुविधाजनक था। आज भी वहां वट वृक्षों की छाया तथा कूप का शीतल मधुर जल आह्लादजनक है। तत्कालीन किशनगढ़ नरेश महाराजा पृथ्वीसिंह यद्यपि वल्लभ सम्प्रदायानुयायी थे, किन्तु विद्याप्रेमी होने के कारण साधु संन्यासियों के स्वागत सत्कार में सदा तत्पर रहते थे। राजा ने स्वामीजी के आगमन का समाचार जानकर उनके भोजनादि की व्यवस्था कर दी तथा राजपण्डित विट्ठलदास तथा देवीदत्त को स्वामीजी के निकट भेजा। यह संयोग ही समझना चाहिए कि स्वामीजी का इन

राजपण्डितों से अनेक शास्त्रीय विषयों पर वाद विवाद छिड़ गया। परिणाम यह निकला कि राजपण्डितों ने राजा के पास पहुंच कर जो कुछ कहा, उसका निष्कर्ष यही था कि यह संन्यासी वैष्णव धर्म का घोर विरोधी तथा भागवत का निंदक है। राजा भी अपने पण्डितों के कहने में आ गये और स्वामीजी को किशनगढ़ छोड़कर चले जाने का आदेश दिया। परन्तु दयानन्द इन थोथी धमकियों में भला कब आते। उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि इस प्रकार के राज्यादेश की वे किंचित् मात्र भी परवाह नहीं करते हैं। सम्राट् के आगे परिव्राट् का दर्जा ऊँचा होता ही है। कुछ दिनों तक यहां रह कर वे अजमेर होते हुए पुष्कर चले गये।

तीर्थगुरु की मान्यता रखने वाले पुष्कर में स्वामीजी का निवास लोकपितामह ब्रह्मा के मंदिर में रहा। समस्त भारत में पुष्कर ही वह स्थान है जहां ब्रह्मा का मंदिर है और त्रिदेवों में आद्य देवता की पूजा होती है। मंदिर में ठहर कर स्वामीजी ने वैष्णव मत तथा उसके आराध्य राम, कृष्णादि की मूर्तियों की पूजा अर्चा एवं कण्ठी, तिलक आदि साम्प्रदायिक चिह्नों का खण्डन प्रारम्भ किया। उन दिनों पुष्कर में रहने वाले एक दाक्षिणात्य पण्डित वेंकट शास्त्री की बड़ी ख्याति थी। शास्त्रीजी का गुरु एक अघोरपंथी साधु था जो समीपवर्ती अगस्त्य ऋषि की गुफा में निवास करता था। यद्यपि उसका आचार तो अघोरी सम्प्रदाय की परम्परा के अनुसार ही भ्रष्ट, बीभत्स तथा जुगुप्सा उत्पादक था, किन्तु वह संस्कृत का व्युत्पन्न पण्डित भी था। वेंकट शास्त्री ने स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने का विचार प्रकट किया, किन्तु यथासमय वे उपस्थित नहीं हुए। तब स्वामीजी स्वयं ही शास्त्री जी के निवासस्थान पर शास्त्रार्थ हेतु पहुंच गये। सिर पर आई बला को टालने के लिये शास्त्रीजी ने कह दिया, 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' अर्थात् विद्या वालों की परीक्षा भागवत में होती है। भागवत के कट्टर आलोचक दयानन्द ने तुरन्त उत्तर दिया—'विद्यावतां भागवते अपरीक्षा'। विद्यावान् व्यक्तियों की भला भागवत से क्या परीक्षा होगी? इन प्रारम्भिक प्रश्नोत्तरों से ही शास्त्रार्थ प्रारम्भ हो गया जो लगभग एक घण्टे तक चलता रहा। अन्ततः शास्त्रीजी निरुत्तर हो गये तथा स्वामीजी को अपने अघोरी गुरु के पास ले गये। अघोरी से उनका स्वल्प काल तक वार्तालाप हुआ जिसकी समाप्ति पर उसने मुक्त कण्ठ से स्वामीजी की मान्यताओं की सत्यता स्वीकार की।

पुष्करनिवास काल में स्वामीजी के विचार किस दिशा की ओर उन्मुख थे, इसका अनुमान उनके आचरण तथा जनसमूह को दी गई उनकी शिक्षाओं से होता है। यह तो सत्य है कि दयानन्द के मानस में धर्मान्दोलन की प्रचण्ड ऊर्मियाँ क्रियाशील थीं। संन्यासियों में प्रचलित परम्पराओं का अनुसरण करते हुए वे मार्कण्डेय ऋषि की गुफा से भस्म के गोले मंगाकर शरीर पर रमाते, रुद्राक्ष की माला भी धारण किये रहते। उनका उपनिषदों का अभ्यास निरन्तर चल रहा था। साम्प्रदायिक आडम्बरों के प्रति उनके मन में तीव्र अनास्था भाव था। वैष्णव मत के प्रतीक चिह्नों—कण्ठी, तिलक आदि उतरवा देते, तुलसी माला के स्थान पर लोगों को विभूति धारण करने की प्रेरणा करते। उनकी मान्यता थी कि वर्तमान में प्रचलित देवी देवताओं के विभिन्न स्तोत्रों की रचना तत् तत् आचार्यों द्वारा नहीं की गई है, जिनके नाम से ये स्तवन प्रचलित हैं, अपितु अन्य लोगों ने इन्हें रच कर पुराकालीन

आचार्यों के नाम से प्रसिद्ध कर दिया है। ऐसा करने में उनका उद्देश्य यही था कि प्रसिद्ध आचार्यों का नाम जोड़ देने से इन स्तोत्रों को भी प्रसिद्धि प्राप्त हो जायगी। वे भागवत को व्यास कृत न मान कर मध्यकाल के विद्वान् बोपदेव कृत मानते थे।[१४] पं. गंगाराम नामक एक भागवती कथावाचक से जब उन्होंने यह बात कही तो वह नाराज हो गया।

इन दिनों स्वामी जी लोगों को पौराणिक देव शिव अथवा विष्णु के स्थान पर परम तत्त्व परमात्मा की उपासना का उपदेश देते थे। पं. गंगाराम के यह पूछने पर कि 'शिव' तत्त्व के सम्बन्ध में उनके क्या विचार हैं, स्वामीजी ने कहा कि वे शिव को परमात्मा के अनेक नामों में से एक नाम मानते हैं, जो उसके कल्याणकारी गुण का वाचक है। पुराण वर्णित पार्वतीपति, वृषभवाहन, किसी त्रिशूलधारी शिव के प्रति उनके मन में कोई आस्था नहीं है। वे रामानुज सम्प्रदाय के इस विचार का भी तीव्र खण्डन करते थे, जिनके अनुसार विष्णु के चिह्नों—शंख, चक्र, गदा, पद्म आदि के लौह प्रतीकों को तपाकर शरीर पर चिह्नित करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। उनका कहना था कि मात्र शरीर को दग्ध करना ही स्वर्ग का हेतु नहीं हो सकता। इसके लिये तो तप, त्याग, वैराग्य, मुमुक्षत्व आदि अपेक्षित हैं। इन गुणों को धारण किये बिना मोक्ष प्राप्ति असम्भव है।

पुष्कर एक ऐसा धर्मस्थान है जहां सैकड़ों हजारों पण्डे, पुजारी, साधु संन्यासी तथा अन्य धर्म व्यवसायी रहते हैं। स्वामीजी ने धर्म के नाम पर आजीविका चलाने वाले इन लोगों से दृढ़तापूर्वक कहा कि वे साम्प्रदायिक आचार विचार का त्याग कर विद्याध्ययन में प्रवृत्त हों। विद्या के प्रति अनुराग रखते हुए भी वे अपने परिवार का पालन ईमानदारी से कर सकते हैं। ब्रह्मा के मंदिर के पुजारी को वे विनोद भाव से कहते—"ब्रह्मा की अढ़ाई मन वजन की मूर्ति तुम्हें क्या मिल गई, मानो पारस पत्थर ही मिल गया है। इस मंदिर से होने वाली आय का सदुपयोग साधु संन्यासियों की सेवा सत्कार में करो। अपने जीवन को दुष्टाचरणों से पृथक् रक्खा करो।" यही बात रतनपुरी नामक एक साधु से भी कही—"विद्या ग्रहण करने में परिश्रम करो, मिष्टान्न भोजन तो स्वतः ही मिल जायगा; उसकी चिन्ता क्यों करते हो?" वेंकट शास्त्री स्वामीजी के विचारों तथा मान्यताओं की सत्यता को तो स्वीकार कर चुके थे, परन्तु उनकी धारणा थी कि जब तक कोई राजा या शासक उनका अनुयायी बन कर प्रजा में इसका प्रचार नहीं करेगा, तब तक यह विचारधारा लोकव्यापी नहीं हो सकती। शायद शास्त्रीजी ने आद्य शंकराचार्य के संदर्भ को ध्यान में रख कर ही यह बात कही थी, क्योंकि यह एक सुविदित तथ्य है कि शंकराचार्य को अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रचार में सफलता तभी मिली थी, जब कि सुधन्वा जैसे राजा उनके पक्षपोषक बन गये थे।

पुष्कर तीर्थवासी लोग अन्य संन्यासियों की ही भांति, उग्र एवं तेजस्वी व्यक्तित्व के धनी इस प्रचण्ड संन्यासी का भी हृदय से सम्मान करते थे, यह इसी बात से विदित होता है कि गुरु पूर्णिमा के दिन इन लोगों ने अन्य संन्यासियों की भांति इनकी भी पूजा की।

पुष्कर निवास के कुछ रोचक संस्मरण जीवनी लेखकों ने संगृहीत किये हैं।

संन्यासियों के पुरोहित एक तीर्थ गुरु ने स्वामीजी से निवेदन किया कि वे उसके व्यवसाय में सहायता पहुंचाने की दृष्टि से पुरोहिताई का एक श्लोक बना दें। जल स्थानों को तीर्थ बना कर व्यवसाय की सिद्धि करने वाले इस पण्डे के आग्रह को ठुकराते हुए दयानन्द ने हंसते हुए कहा कि क्या वह उनका भी पुरोहित बनना चाहता है? ब्रह्मा मंदिर के पुजारी मानपुरी ने एक दिन देव प्रतिमा के आगे दूध चढ़ा कर वही दूध स्वामीजी को पीने के लिये दे दिया। जब स्वामीजी को इस बात का पता चला, तो जड़ मूर्तियों की चेतन वत् पूजा अर्चा करने की अंध धारणा के कट्टर विरोधी दयानन्द ने पुजारी को झिड़कते हुए कहा—अरे पत्थर को भोग लगाकर दूध हमें पिला दिया। आराध्य देव के लिये पत्थर का सम्बोधन सुनकर पुजारी को क्रोध आ गया। भविष्य में उसने स्वामीजी का दुग्ध से सत्कार करना ही बंद कर दिया। स्वामीजी में विनोद का भाव पर्याप्त मात्रा में था। मूर्तिपूजा की आलोचना के प्रसंग में ही उनकी विनोद वार्ताएं अकसर प्रकट होती थीं। ब्रह्मा मंदिर के ही एक अन्य पुजारी शिवदयालु को मूर्तिपूजा से विरत करने की दृष्टि से उन्होंने पूछा—क्या तेरा ब्रह्मा कभी मुख से बोलता भी है? मंदिर में आरती के समय नक्कारा बजाने को चमड़ा कूटना कहते और पूछते कि इससे क्या लाभ है?

स्वामी जी की इन प्रबोधपूर्ण वार्ताओं का पुजारी शिवदयालु पर इतना प्रभाव पड़ा कि उसने पूजारी का कार्य छोड़ दिया और डाकखाने में नौकरी कर ली। पुष्कर से जोधपुर राज्य की सीमा बहुत निकट है। स्वामीजी के भक्त शिवदयालु का विचार था कि इस समय मारवाड़ प्रान्त में धर्म के नाम पर नाना पाखण्ड प्रचलित हैं, अतः उन्हें इसी प्रदेश को अपना प्रचार केन्द्र बनाना चाहिए। जोधपुर राज्यान्तर्गत नागौर परगने के हाकिम ने उन्हें वहां आने के लिये आमंत्रित भी किया परन्तु तब तक वे पुष्कर प्रवास को समाप्त कर अजमेर के लिये प्रस्थान कर चुके थे।

लगभग २ मास पुष्कर में व्यतीत कर स्वामी दयानन्द द्वितीय ज्येष्ठ सं. १९२३ वि. में अजमेर आये तथा राय बंशीलाल सरिश्तेदार के बाग में ठहरे। रुद्राक्ष, विभूति आदि शैव चिन्हों से विभूषित इस संन्यासी को लोग दण्डीजी के नाम से पुकारते थे। लोगों में यह बलवती धारणा प्रचलित हो गई थी कि यह दण्डी संन्यासी विलुप्त वैदिक धर्म की पुनः स्थापना के लिये कृतसंकल्प है। परन्तु अद्यापि स्वामीजी शैव आस्थाओं और मान्यताओं से पूर्णतया उपराम नहीं हो पाये थे। विष्णु की अपेक्षा वे यदा कदा शिव की श्रेष्ठता को सिद्ध करने में एक हेतु यह भी देते कि शिव ही आदि देवता हैं। विष्णु ने जहां मनुष्य के रूप में नाना अवतार लिए हैं, वहां शिव ने कोई अवतार नहीं लिया।[१५]

अजमेर का यह प्रथम प्रवास अनेक दृष्टियों से उल्लेखनीय है। यहां प्रथम बार स्वामीजी हिन्दू धर्म से भिन्न—ईसाई तथा मुसलमान धर्माचार्यों के सम्पर्क में आये। उनसे वाद विवाद तथा शास्त्रार्थ करने का अवसर भी प्रथम बार उन्हें अजमेर में ही मिला। मौलवी मुराद अली से धर्मविषयक अनेक चर्चाएं हुईं। मौलवी निरुत्तर हुए और चले गये। अजमेर में ईसाई प्रचारकों की गतिविधियां ब्रिटिश शासन के प्रारम्भिक दिनों से ही अविरत गति से चलती रही हैं। पादरी जॉन रॉबसन से उनका विचार विमर्श हुआ। इस पादरी ने

अपनी पुस्तक में स्वामी जी से हुई अपनी भेंट का वर्णन किया है।[१६] निश्चय ही पादरी द्वारा लिखित सभी बातों से सहमत होना सम्भव नहीं है। यह तो सत्य है कि इस समय तक स्वामीजी अपनी धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताओं को अन्तिम रूप नहीं दे सके थे। उनका वैचारिक धरातल अभी अपनी निर्माणावस्था में ही था। सम्भवतः वे शाङ्कर वेदान्त की मान्यताओं को पूर्णतया त्याग भी नहीं सके थे। वेदों के प्रति उनका आस्था भाव दृढ़ से दृढ़तर होता जा रहा था। यजुर्वेद का पूर्ण विचार कर लेने के पश्चात् वे ऋग्वेद के स्वाध्याय में रत थे। यह भी सत्य है कि उन्होंने ईसाई मत के ग्रन्थों का विशद अध्ययन अभी तक नहीं किया था, परन्तु पादरी का यह कथन तो अतिरञ्जनापूर्ण ही है कि स्वामीजी मूक भाव से बैठे बैठे उसके द्वारा दिये गये ईसाई मत के प्रवचन को सुनते रहे और ईसा के सूली से पुनरुज्जीवित होने तथा क्रीस्त मत की विश्वासमूलक अन्यान्य बातों पर टीका करने का उन्हें साहस भी नहीं हुआ।

अजमेर के पादरियों से हुए एक अन्य महत्त्वपूर्ण शास्त्रार्थ का उल्लेख पं. लेखराम ने किया है। इस शास्त्रार्थ में ईसाई मत के प्रवक्ता रेवरेण्ड ग्रे, पादरी रॉबसन तथा पादरी शूलब्रेड थे। प्रथम तीन दिनों तक ईश्वर, जीव, सृष्टिक्रम तथा वेद सम्बन्धी विषयों पर चर्चा हुई। चौथे दिन के विवाद का विषय था—ईसा का ईश्वरत्व तथा उसका मृत्यु के पश्चात् पुनरुज्जीवित हो जाना। शास्त्रार्थ से कोई तर्कपूर्ण समाधान उभर कर आया हो, ऐसा तो प्रतीत नहीं होता। सत्य के प्रति दयानन्द का अपूर्व निष्ठा भाव इस बात से प्रकट होता है कि उनके किसी आक्षेपपूर्ण कथन से चिढ़ कर जब पादरी शूलब्रेड ने कहा कि ऐसी बातों से तो उनके गिरफ्तार होने का अंदेशा है, तो स्वामीजी ने निर्भीक भाव से उत्तर देते हुए कह दिया कि कारावास के भय से वे सत्य को त्याग नहीं सकते।

राजस्थान में रामस्नेही सम्प्रदाय का अधिक प्रचार है। यह उत्तरापथ की सन्त परम्परा की ही एक शाखा है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी निर्गुण राम को ही अपना आराध्य और उपास्य मानते हैं। मूर्तिपूजा तो नहीं करते किन्तु गुरु के प्रति अन्ध श्रद्धा, नाम स्मरण मात्र से ही मुक्ति आदि विश्वास अन्य निर्गुणमार्गियों की भांति उनमें भी प्रचलित हैं। अजमेर में उन दिनों इस सम्प्रदाय की शाहपुरा गद्दी के महन्त विराजमान थे। स्वामी जी ने जोशी रूपराम के द्वारा महन्तजी को शास्त्रार्थ के लिये कहलाया तथा एक पत्र में उनके मत की समालोचना विषयक कुछ बातें भी लिख भेजी। महन्तजी टाल गये। शास्त्रार्थ करना तो दूर, वे स्वामीजी के आक्रामक रुख से इतने भयभीत हुए कि रात्रि को ही अपनी भक्तमण्डली सहित अन्यत्र चले गये। अजमेर के पुराणमतावलम्बी पण्डितों को भी शास्त्रार्थ के लिये आहूत किया गया, विज्ञापन पत्र प्रकाशित किये गये, परन्तु कोई भी विद्वान् शास्त्रार्थ के लिये सम्मुख नहीं आया।

अजमेर में रहते हुए स्वामी दयानन्द ने कतिपय अंग्रेज अधिकारियों से भी सम्पर्क किया और देश तथा समाज के हित विषयक नाना विषयों पर उनसे विचारों का आदान प्रदान किया। भारत की संन्यासी परम्परा में सम्भवतः दयानन्द ही पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने विदेशी शासकों से सार्वजनिक विषयों पर निस्संकोच रूप से चर्चा की। अजमेर के डिपुटी

कमिश्नर मेजर ए. जी. डेविडसन जब उनसे भेंट करने आये तो स्वामीजी ने कहा—"राजा प्रजा के पिता तुल्य होता है। पिता का कर्त्तव्य सन्तान को विपथगामी होने से रोकना है। आजकल के सम्प्रदायवादी साधु संन्यासी, पुजारी, महन्त विभिन्न आडम्बरों और पाखण्डपूर्ण व्यवहारों से आपकी प्रजा को लूट रहे हैं। शासक के नाते क्या आपका यह कर्त्तव्य नहीं हो जाता कि सम्प्रदायवादियों की इस वंचक प्रवृत्ति से लोगों को बचायें?" अंग्रेज अधिकारी निश्चय ही इस प्रश्न को सुन कर चकित रह गया, क्योंकि निस्स्वार्थ भाव से देश हित का चिन्तन करने वाले निरीह संन्यासी की यह एक ऐसी अनोखी फरियाद थी, जो स्वयं के लिये कुछ भी न कह कर शताब्दियों से धर्म के नाम पर होने वाले उस शोषण के खिलाफ आवाज उठाना चाहता था, जिससे इस देश के निवासी त्रस्त और पीड़ित हो रहे थे। धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति की दुहाई देने वाला अंग्रेज शासक तो यह कह कर चुप्पी साध गया कि यह धार्मिक विषय है और अंग्रेज सरकार अपनी घोषित नीति के अनुसार ऐसे मामलों में स्वल्प हस्तक्षेप भी नहीं कर सकती। अजमेर के सहायक कमिश्नर अपटन साहब से भी उनकी भेंट हुई।

परन्तु अधिक महत्त्वपूर्ण भेंट कर्नल ब्रुक से हुई जो उस समय 'एजेंट टू दि गवर्नर जनरल' के पद पर कार्यरत थे। उस समय स्वामीजी राय बंशीलाल के उद्यान में कुर्सी पर विराजमान थे। समीप बैठे पं. बृद्धिचन्द्र उनसे अष्टाध्यायी का पाठ सीख रहे थे। उसी समय कर्नल ब्रुक उधर आ निकले। गोरे शासकों के उद्दण्ड स्वभाव से परिचित पं. बृद्धिचन्द्र ने स्वामीजी से अनुरोध किया कि वे अपनी कुर्सी को दूसरी ओर कर लें क्योंकि यह गौराङ्ग अधिकारी काषाय वस्त्रों वाले साधुओं से बहुत चिढ़ता है। स्वाभिमानी और आर्योचित गौरव से मण्डित स्वामी दयानन्द भला इस कायरतापूर्ण प्रस्ताव को कैसे स्वीकार कर लेते? उन्होंने तो अपनी कुर्सी को और आगे खींचा और डट कर बैठ गये। इसी समय कर्नल ब्रुक ने बाग में प्रवेश किया। यह जान कर कि आगन्तुक को सम्मान देने के लिये उनका कुर्सी से उठना आवश्यक हो जायगा, स्वामीजी स्वयं ही उठ खड़े हुए और टहलने लग गये। कर्नल ने आगे बढ़ कर टोप उतारा, संन्यासी से हाथ मिलाया और समीप रक्खी कुर्सी पर बैठ कर उनसे वार्तालाप करने लगा। अपने संक्षिप्त सम्भाषण में स्वामी दयानन्द ने कर्नल ब्रुक का ध्यान गोरक्षा के आर्थिक पहलू की ओर आकृष्ट किया और उनसे अनुरोध किया कि वे भारत में होने वाले निर्मम गोहत्या रूपी नृशंस अत्याचार को बंद कराने में अपने प्रभाव का उपयोग करें। दूसरे दिन कर्नल ने अपनी गाड़ी भेज कर स्वामीजी को अपने निवास पर बुलवाया। यहाँ भी लगभग पौन घण्टे तक इसी विषय पर चर्चा हुई। यद्यपि कर्नल ने स्वामीजी के विचारों से सहमति ही व्यक्त की, किन्तु गोवध को रोकने में अपनी व्यक्तिगत अक्षमता जाहिर की। तथापि उन्होंने स्वामीजी से अनुरोध किया कि वे भारत के वायसराय से मिल कर एतद् विषयक अनुरोध करें। उन्होंने स्वयं वायसराय के नाम एक पत्र लिख कर भी स्वामीजी को दिया। एक अन्य पत्र कर्नल ब्रुक ने जयपुर के महाराजा रामसिंह को भी लिखा, जिसमें उन्होंने स्पष्ट किया कि स्वामी दयानन्द जैसे विद्वान् तथा उदार विचारों वाले मनस्वी पुरुष से भेंट का अवसर खोकर निश्चय ही उन्होंने गलती की है। जब यह पत्र महाराजा को

मिला तो उन्होंने स्वामीजी के भक्त अचरोल के ठाकुर रणजीतसिंह को बुला कर कहा कि वे पुनः स्वामीजी को जयपुर के लिये आमंत्रित करें। ठाकुर ने इसे स्वीकार किया।

अजमेर निवास काल में भागवत पर आधारित वैष्णव मत के खण्डन का उनका अभिमान द्रुतगति से चला। भागवत में वर्णित शृंगारपूर्ण कथाओं को वे सदाचार का विनाशक तथा मंदिरों को दुराचार का अड्डा कहते थे। माला धारण करना उनकी दृष्टि में गले में काष्ठ भार को वहन करना था। इस नगर के ब्राह्मणों ने जब उनसे कहा कि वे भागवत का खण्डन तो करते हैं, इस ग्रंथ की अशुद्धियों और त्रुटियों का भी निर्देश करें, इस पर स्वामीजी ने तीन चार पृष्ठों में उक्त ग्रन्थ की समीक्षा लिख कर प्रस्तुत कर दी। सम्भवतः भागवत खण्डन का यही वह मूल आलेख था, जिसे कालान्तर में उन्होंने पुस्तकाकार प्रकाशित कराया। इस आलेख की प्रतियाँ मसूदा निवासी पं. छगनलाल श्रीमाली तथा पं. वृद्धिचन्द्र के पास थीं।

द्वितीय जेष्ठ १९२३ वि. में अजमेर से जयपुर लौटते समय स्वामी जी का पुनः किशनगढ़ आगमन हुआ। इस बार भी वे सुखसागर कुंए पर ठहरे। यह प्रसंग आ चुका है कि इस राज्य के वल्लभ सम्प्रदायानुयायी राजा पृथ्वीसिंह स्वामीजी के विरोधी बन चुके थे। सम्भवतः राजा का ही संकेत पाकर ठाकुर गोपालसिंह नामक एक सामन्त कुछ राजपण्डितों तथा अन्य लोगों की भीड़ लेकर स्वामीजी को अपमानित और लांछित करने के लिये उनके डेरे पर आया। सायंकाल पांच बजे का समय था। स्वामी महानुभाव शौचादि नित्य कृत्यों से निवृत्त होकर एक काष्ठासन पर विराजमान थे। अन्य श्रोता गण समीप बिछाई गई जाजिम पर बैठे थे। इसी समय उपद्रवकारी आ पहुंचे। स्वामीजी ने इन लोगों से आगमन का कारण पूछा। इस पर वल्लभ मतानुयायी एक पण्डित ने किसी पुस्तक के पत्रे पढ़ना आरम्भ कर दिया, जिसमें उस सम्प्रदाय की प्रशंसा लिखी थी। स्वामीजी ने इसके तुरन्त बाद धाराप्रवाह संस्कृत में वल्लभाचार्य अनुमोदित वैष्णव मत का तीव्र खण्डन आरम्भ कर दिया। पण्डितों के लिये जब स्वामीजी द्वारा प्रस्तुत तर्कों का उत्तर देना सम्भव नहीं हुआ तो वे अपने साथियों सहित एकाकी संन्यासी को अपने आक्रमण का शिकार बनाने का विचार करने लगे। उनकी इस हरकत को देख कर वज्रदेह दयानन्द ने जलदगम्भीर स्वर में गर्जन पूर्वक कहा—"यह मत समझना कि मैं अकेला हूँ और तुम लोग मुझे शारीरिक रूप से पीड़ित कर सकते हो। मैं अकेला ही तुम सबके लिये पर्याप्त हूँ। यदि शास्त्रार्थ के स्थान पर तुम लोग शस्त्रार्थ करना चाहते हो, तो मैं उसके लिये भी उद्यत हूँ।"

सौभाग्य से उस समय कुछ अन्य लोग वहां आ गये, जो संन्यासी वर्ग के लिये अत्यधिक श्रद्धा भाव रखते थे। उन्हें देख कर उपद्रवी समूह चला गया। इस घटना के पश्चात् तीन दिन स्वामीजी किशनगढ़ में ठहरे। पश्चात् दूदू पहुंचे। वहां के ठाकुर के प्रासाद में निवास किया। यहां के तीन दिन के प्रवास के समय उनके प्रवचन होते रहे। तत् पश्चात् एक रात बगरू में व्यतीत कर वे जयपुर पहुंचे और अचरोल ठाकुर के उद्यान में ठहरे।

पूर्वदत्त वचनानुसार ठाकुर ने जयपुर महाराज को स्वामीजी के आगमन की सूचना दी। महाराजा ने अपने विश्वसनीय राजपण्डित व्यास बख्शीराम को आदेश दिया कि वे

स्वामी महाभाग को राजमहल में ले आयें, वे वहीं पर उनसे भेंट करेंगे। जब स्वामीजी को महाराजा का यह विचार ज्ञात हुआ तो उन्होंने व्यासजी को स्पष्ट कह दिया कि अब वे महलों में हरगिज नहीं जायेंगे। यदि जयपुर नरेश सचमुच उनसे मिलने के इच्छुक हैं तो उनके डेरे पर ही चले आयें। परन्तु महाराजा के पुनः पुनः आग्रह करने तथा ठाकुर रणजीतसिंह एवं सामन्त वर्ग के निवेदन पर स्वामीजी येन केन प्रकारेण मौज मंदिर राजप्रासाद में महाराजा से भेंट हेतु उपस्थित हुए। सामन्ती जीवन पद्धति की विडम्बना ही थी कि राजा महाराजाओं से भेंट करने के सम्बन्ध में भी नाना औपचारिकताएं बरतनी होती थीं। भारत के ये राजा और सामन्त न तो जन सामान्य से घुलते मिलते ही थे और न उनके लिये यही सम्भव होता था कि व्यर्थ के राजनैतिक शिष्टाचार को तिलाञ्जलि देकर वे एक सामान्य जन की भांति जीवन निर्वाह करें। जिन खुशामदी और चापलूस लोगों से वे सदा घिरे रहते, उनकी यही चेष्टा रहती थी कि ये राजा लोग जन साधारण अथवा प्रगतिशील एवं उदार विचार के लोगों से न मिल सकें। महाराजा रामसिंह भी कुछ इसी प्रकार के लोगों के चक्कर में पड़ कर स्वामी दयानन्द से भेंट करने का यह अलभ्य अवसर भी खो बैठे। राजा की प्रतीक्षा में विराजमान उन्हें यह सूचना दी गई कि महाराजा साहब तो अन्तःपुर में चले गये हैं, अब उनका यहां आना सम्भव नहीं है। स्वाभिमानी परिव्राजक के लिये राजा से भेंट करना तो कोई अधिक आकर्षण नहीं रखता था, अतः उनसे न मिल पाने का उन्हें कोई दुख भी नहीं था। वे पुनः अपने स्थान पर चले गये। राजा ने एक बार पुनः उनसे मिलने का उद्योग किया, परन्तु इस बार उन्हें विफल मनोरथ ही होना पड़ा।

जयपुर से चल कर स्वामी दयानन्द कार्तिक कृष्णा नवमी सं. १९२३ वि. को आगरा पहुँचे। भारत के वायसराय लार्ड लारेंस ने उस समय आगरा में एक महत्त्वपूर्ण दरबार का आयोजन किया था, जो १० नवम्बर से १९ नवम्बर १८६६ ई. तक चलने वाला था। इस अवसर पर उपस्थित विभिन्न वर्ग के लोगों को स्वामीजी के उपदेश श्रवण का लाभ मिला। वैष्णवमतखण्डन नामक एक लघु पुस्तक भी इस अवसर पर लिख कर प्रकाशित की गई तथा इसकी हजारों प्रतियाँ जिज्ञासुओं में वितरित हुईं। मार्गशीर्ष मास में आगरा से मथुरा आकर दयानन्द ने गुरुवर दण्डी जी से भेंट की। आचार्य चरणों में दो स्वर्ण मुद्रा तथा एक मलमल का थान भेंट रूप अर्पित किया। 'भागवतखण्डन' नामक स्वरचित पुस्तक भी गुरु जी को सुनाई तथा उपस्थित संदेहों का निवारण किया। पुनः निवेदन किया कि सम्प्रति उनका विचार धर्मोपदेश हेतु हरिद्वार जाने का है। प्रतिभाशाली शिष्य को लोकोपकार के महत् अनुष्ठान में कृतसंकल्प जान कर वृद्ध गुरु को जो प्रसन्नता हुई होगी, वह सहज अनुमेय है।

कुछ दिन मथुरा में व्यतीत कर वे मेरठ पहुँचे। वहाँ सूर्यकुण्ड स्थित देवी मन्दिर में निवास किया। यहाँ के प्रसिद्ध रईस पं. गंगाराम से गोरक्षा पर विचार विमर्श किया, पुनः हरिद्वार की ओर चले गये। इस समय दयानन्द की आयु ४२ वर्ष की हो चुकी थी। गृह त्याग किये उन्हें इक्कीस वर्ष व्यतीत हो चुके थे। दो दशाब्दियों की इस दीर्घ अवधि में उन्होंने सहस्रों मीलों का पर्यटन किया। सघन अरण्यों, पार्वत्य उपत्यकाओं, सरिता तटों का एकाकी भ्रमण किया। धर्म के नाम पर प्रचलित नाना अनुष्ठानों और क्रियाकाण्डों को उन्होंने निकट से देखा। उन्हें सर्वत्र धर्म के नाम पर आडम्बर, पाखण्ड और निरर्थक क्रियाजालों का

घटाटोप ही दिखाई दिया। देश में धर्म के शुद्ध, निर्मल तथा आडम्बर विरहित रूप की स्थापना पुनः कैसे हो सकती है, यही अब उनकी चिन्ता का विषय था। साम्प्रदायिक विभ्राट् को समाप्त करने के लिये कैसा पुरुषार्थ अपेक्षित होगा, इसी प्रश्न पर ऊहापोह करते हुए परिव्राजक ने हरिद्वार की ओर पादनिक्षेप किया।

□□

पाद टिप्पणियां—

१. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र पृ. ४८ (हिन्दी अनुवाद)

२. श्रीमद् भगवद्गीता अध्याय १८।

३. पञ्चदशी की कथा करने में स्वामी जी ने पहल नहीं की थी। उन्होंने अपने सत्संगियों से यह स्पष्ट कह दिया था कि वे ऋषि कृत ग्रन्थों के प्रति ही श्रद्धावान् हैं तथा उन्हें ही महत्त्व देते हैं। पञ्चदशी का प्रचलन संन्यासी वर्ग में प्रायः अधिक है। उनसे यह भी कहा गया था कि शंकर स्वामी के शिष्य विद्यारण्य स्वामी रचित यह ग्रन्थ तो साधारण मनुष्य कृत ग्रन्थों में नहीं है। इसी आश्वासन पर स्वामीजी ने इस ग्रन्थ की कथा कहनी आरम्भ की थी।

४. दयानन्द प्रवचन संग्रह, पं. युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित (पूना प्रवचन का १५वां व्याख्यान) पृ. २००

५. भगवत्याः कालिकायाः माहात्म्यं यत्र वर्ण्यते।
नाना दैत्यवधोपेतं तद्धि भागवतं विदुः॥
कलौ किञ्चिद् दुरात्मानो धूर्ता वैष्णवमानिनः।
अन्यद्भागवतं नाम कल्पयिष्यन्ति मानवाः॥

६. दयानन्द कृत भागवतखण्डन शीर्षक पुस्तक से भी यह बात सिद्ध होती है कि उस समय वे वैष्णव भागवत का ही खण्डन करते थे, परन्तु मार्कण्डेय, विष्णु तथा बृहन्नारदीय आदि पुराण उन्हें मान्य थे। इस ग्रन्थ के अन्त में पठनीय ग्रन्थों की सूची में उन्होंने 'हरिवंशपुराण' का भी उल्लेख किया है।

७. आज कल यह कस्बा गंगापुर के नाम से प्रसिद्ध है।

८. द्रष्टव्य—यजुर्वेद अध्याय १६

९. काशी के विद्वानों से प्राप्त इस व्यवस्था का उल्लेख जयपुर महाराजा के व्यक्तिगत ग्रन्थ-संग्रह पोथीखाने में ग्रन्थ सं. ७७३६ पर सुरक्षित 'सत्य धर्म चरित्र प्रदीपः' नामक पुस्तक की एक पाण्डुलिपि में मिलता है जिसे सवाई रामसिंह द्वितीय की पण्डितमण्डली ने बनाया था। प्रासंगिक श्लोक इस प्रकार हैं—

राजराजेश्वरं नत्वा स्मृत्वा च गणनायकम्।
सत्यं धर्मस्य चरितं लिखामि धर्मसिद्धये॥

× × ×

तस्यात्मजो रामसिंहः सूर्यवंशसमुद्भवः ।
विप्राणां पालको नित्यं श्रीमान् जयपुराधिपः ॥
द्विजान् लोभग्रहग्रस्तान् तप्तमुद्रानुधारिणः। नाशकान् वेदधर्माणां पाखण्डशास्त्रमोहितान् ॥

× × ×

दासधर्मानुरक्तानामेषां मुक्तिः कथं भवेत् । इति चिन्तासमाविष्टः स्वधर्मं मनसा स्मरन् ॥
विचार्य मनसा राजा गतो वाराणसीं प्रति । वयोवृद्धान् तपोवृद्धान् शास्त्रवृद्धान् द्विजन्मनः ॥
आहूय परया भक्त्या पप्रच्छ विनयान्वितः । शंखचक्रे तापयित्वा दहन्त्यत्रैव देहिनः ।
वेदमार्गविहीनानां जपे यज्ञे विशेषतः । नाधिकारः कथं तेषां यथार्थं ब्रूत मां द्विजाः ॥
ब्राह्मणाः परमप्रीता धर्माचारमुपाजगुः । तत्तत्पत्रस्थिते सर्वं श्रुत्वाथ स्मृतिपूर्वकम् ॥
फाल्गुने कृष्णे पक्षे च एकादश्यां तथा निशि । शतर्णद्विसहस्रे च द्वाविंशत्यधिके शके ॥
स राजा परमप्रीतः संश्लाघ्य द्विजपुंगवान् ॥
ददौ तेभ्यः प्रहृष्टेभ्यो वरं सर्वार्थसाधकम् । अधिकारास्तु धर्मस्य स्थापयेद्विजपुंगवान् ॥
प्रायश्चित्तविधानस्य तप्तमुद्राङ्कितस्य च । अक्षरा ये नृपमुखान्निसृता धर्मसिद्धये ॥

११. पं. माधव मिश्र ने श्री रंगाचार्य के जीवनचरित के अन्तर्गत इस शास्त्रार्थ का विवरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"सं. १९२१ में जयपुर के महाराजा रामसिंह जी ने श्री वैष्णवों से सम्प्रदायविषयक आठ प्रश्न किये जिनका श्री सम्प्रदाय अर्थात् श्रीमद् रामानुजीय श्री वैष्णवों की ओर से स्वामी रंगाचार्यजी ने 'दुर्जनकरिपञ्चानन' के द्वारा सुतीव्र उत्तर दिया था। इसके पीछे जयपुर नरेश की ओर से 'सज्जनमनोऽनुरञ्जन' का प्रकाशन हुआ। इधर से सं. १९२६ में इसका प्रत्युत्तर 'व्यामोह विद्रावण' नामक ग्रन्थ से मिला। यद्यपि सज्जनमनोऽनुरञ्जन की अपेक्षा 'दुर्जन करिपञ्चानन' आदि स्वामी रंगाचार्य की पुस्तकों की, उनके नाम के समान लेख प्रणाली भी कुछ कठोर है और यह भी सच है कि स्वामी रंगाचार्य ने शिलष्ट पदों में जयपुर नरेश और स्वामी लक्ष्मणगिरि जी को गालियां दी हैं।" माधव मिश्र निबंधमाला पृ. १६२-१६३

११. महर्षि दयानन्द का जीवनचरित भाग १ पं. घासीराम द्वारा संगृहीत पृ. ११८

१२. ऋषि दयानन्द का स्वकथित जन्मचरित्र पृ. ४५

१३. पं. राजीवलोचन ओझा जयपुरनरेश महाराजा रामसिंह के सभा पण्डित थे। प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् म. म. मधुसूदन ओझा इन्हीं के भतीजे थे जो पं. राजीवलोचन के निस्संतान होने के कारण उनके दत्तक पुत्र के रूप में मिथिला से आकर जयपुर रहने लगे।

१४. कालान्तर में स्वरचित सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में स्वामी जी ने श्रीमद्भागवत का रचयिता बोपदेव को माना तथा अपने कथन की सिद्धि में हिमाद्रि (हरिलीलामृत) ग्रन्थ का प्रमाण भी दिया।

१५. शिव के विभिन्न अवतार शिवपुराण में वर्णित हुए हैं। लेखक

१६. Hinduism and its relations to Christianity, London 1893.

□□

गाङ्गेय प्रदेश का भ्रमण (१)

फाल्गुन शुक्ला प्रतिपदा १९२३ वि. (१ मार्च १८६७ ई.) को स्वामी दयानन्द हरिद्वार पहुंचे।[1] इस समय हरिद्वार में कुम्भ का महामेला लगा हुआ था। लाखों की संख्या में यात्री गण पुण्यार्जन के लिये इस तीर्थस्थान में एकत्र हो रहे थे। धार्मिक पर्वों और मेलों के अवसर पर हजारों की संख्या में उपस्थित जनसमूह के समक्ष अपने विचारों को प्रस्तुत करने का अवसर अनायास ही उपस्थित हो जाता है, इसी विचार को दृष्टि में रख कर दयानन्द भी कुम्भ में पहुंचे थे। हरिद्वार और हृषीकेश के बीच सप्तसरोवर नामक स्थान पर ८-१० फूस के छप्पर डाल कर संन्यासी ने अपना डेरा जमाया। उनके साथ कुछ संन्यासी तथा ब्राह्मण भी थे।[2] मुख्य पर्णकुटी के बाहर दयानन्द ने एक पताका गाड़ कर उस पर 'पाखण्ड खण्डन' यह शब्द अंकित कर दिये। काषाय वस्त्र एवं गले में रुद्राक्ष की माला धारण किये इस गौराङ्ग संन्यासी के भव्य रूप, सुन्दर आकृति तथा विराट् व्यक्तित्व से आकृष्ट होकर शत सहस्र जन आश्चर्य एवं संभ्रम के भाव से उनके निकट आने लगे। मेले में एकत्रित लोगों के लिये इस संन्यासी का व्यक्तित्व जितना आकर्षक था, उतना ही विस्मयान्वित करने वाला था उसका 'पाखण्ड खण्डन' का प्रतीक यह गेरुआ ध्वज।

और सचमुच ही दयानन्द ने उपस्थित जनसमुदाय के समक्ष भारत में प्रचलित नाना सम्प्रदायों और उनके द्वारा प्रतिपादित किये जाने वाले मूढ़ मतों, अंध विश्वासों, पाखण्डों तथा बाह्याडम्बर एवं मूर्खतापूर्ण क्रिया कलापों का अप्रतिहत वेग, अजस्र वाणी में खण्डन आरम्भ कर दिया। अग्निजिह्व दयानन्द के मुख से मूर्तिपूजा, अवतारवाद, भागवतादि वैष्णव पुराण, जल स्थानों की तीर्थ संज्ञा. तिलक, कण्ठी, माला आदि साम्प्रदायिक चिह्नों के मिथ्यात्व का प्रतिपादन सुनकर श्रोता समूह का चकित और स्तम्भित हो जाना स्वाभाविक ही था। अनेक लोग तो केवल कुतुहलवश ही इस संन्यासी को देखने आते थे, जो शताब्दियों से प्रचलित तथा धर्म के आधारभूत समझे जाने वाले मूर्तिपूजा, अवतार, तीर्थ आदि की मान्यताओं का तार स्वर से खण्डन करता है तथा इन्हें वेद विरुद्ध बताता है। उन्हें आश्चर्य इसी बात से होता था कि कुम्भ जैसे महापर्व पर एकत्रित हुए विशाल जन समूह के सम्मुख यह संन्यासी उन्हीं मान्यताओं का खण्डन कर रहा है, जिनके प्रति आस्थावान् होने के कारण इसी पवित्र तीर्थ स्थान पर वे आये हैं।

काशी के प्रसिद्ध विद्वान् स्वामी विशुद्धानन्द, जिनसे आगे चलकर स्वामी दयानन्द का १८६९ ई. में शास्त्रार्थ हुआ था, उन दिनों हरिद्वार में ही थे। उन्होंने अपने एक प्रवचन के समय यजुर्वेद के मंत्र—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥[3]

का अर्थ करते हुए कहा कि ब्राह्मणादि चतुर्वर्ण क्रमशः ईश्वर के मुख, भुजा, उरू तथा पैरों से

उत्पन्न हुए हैं। दयानन्द ने यह सुन कर विशुद्धानन्द के अर्थ का खण्डन करते हुए किञ्चित विनोदपूर्वक कहा कि मुख से तो थूक, खखार आदि भी उत्पन्न होता है। पुनः मन्त्र के वास्तविक अभिप्राय को स्फुट करते हुए उन्होंने बताया कि ब्राह्मण समाज रूपी विराट् पुरुष का मुख स्थानीय, क्षत्रिय समाज का रक्षक होने से भुजाओं के तुल्य, वैश्य वर्ग अपने व्यवसाय वाणिज्य के द्वारा समाजरूपी शरीर का धारक उरु तुल्य तथा शूद्र गमनागमन में सहायक पैरों के समान है। मंत्र की इस तर्कपूर्ण एवं सुसंगत व्याख्या को सुन कर प्रबुद्ध श्रोताओं का तो समाधान हुआ, किन्तु जनसामान्य उन्हें नास्तिक तथा वेदों के प्रचलित अर्थों का खण्डन करने वाला बताने लगा।

कुम्भ मेले में स्वामी दयानन्द ने अपनी पूर्व प्रकाशित पुस्तक 'भागवत खण्डन'[४] की सहस्रों प्रतियां जनता में वितीर्ण कीं। दर्शक और धर्म जिज्ञासु स्वामी दयानन्द के निकट आते। सर्व संग परित्यागी परिव्राजक के प्रति श्रद्धा के वशवर्ती होकर यथाशक्ति फल फूल, मेवा, मिष्टान्न आदि की भेंट चढ़ा जाते। सायंकाल तक भेंट में अर्पित इन वस्तुओं का ढेर इकट्ठा हो जाता, तब दयानन्द दीन दुखियों को मेवा मिष्टान्न अर्पित कर देते, अपने लिये कुछ भी नहीं रखते। कई प्रसिद्ध पण्डित तथा धर्माचार्य कभी प्रत्यक्ष रूप में उनके विचार सुनने आते, तो कई अन्य अपने शिष्यों को भेज कर स्वामीजी का मतामत जानने का यत्न करते।

कुम्भ के अवसर पर हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज का बहुविध, सर्वग्रासी रूप दिखाई पड़ता है। विभिन्न मतों और सम्प्रदायों के साधु सन्त, महन्त और आचार्य, मण्डलेश्वर और संन्यासी अपनी अपनी आस्थाओं का प्रदर्शन करते हैं। सम्प्रदायाभिनिवेश से ग्रस्त महन्त वर्ग के लोगों का परस्पर विरोध, एक दूसरे को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति[५] तथा अपने भक्त जनों से एकत्रित धन और वैभव का पाखण्ड पूर्ण प्रदर्शन यदा कदा इन मेलों में कलह और विग्रह का वातावरण भी उपस्थित कर देता है। एक ऐसा ही प्रसंग इस कुम्भ में भी उपस्थित हुआ। गोसाइयों और विशुद्धानन्द में किसी बात पर झगड़ा हो गया। उन्होंने उक्त स्वामी के विरुद्ध न्यायालय में अभियोग दायर कर दिया। गोसाइयों का अनुमान था कि स्वामी दयानन्द और स्वामी विशुद्धानन्द में शास्त्रीय विषयों पर अनेक मतभेद हैं अतः सम्भवतः वे विशुद्धानन्द के विरोध में उनकी सहायता करेंगे। इसी अभिप्राय को लेकर वे स्वामी जी की सेवा में उपस्थित हुए। परन्तु स्वामी दयानन्द तो ऐसे मामलों में पूर्णतया निष्पक्ष थे। उनका न तो स्वामी विशुद्धानन्द से कोई वैयक्तिक विरोध था और न वे किसी मतसम्प्रदाय के प्रति विशिष्ट आग्रह ही रखते थे। अतः उन्होंने गोसाइयों को स्पष्ट कह दिया कि हम न तो तुम्हारे पक्षपाती हैं और न विशुद्धानन्द के। हम तो सत्य के आग्रही और अनुयायी हैं।

हरिद्वारप्रवास काल में निर्मला साधु सन्तसिंह[६] एक दिन स्वामी दयानन्द के पास अद्वैत वेदान्त के ग्रन्थ 'चित्सुखी' की एक पंक्ति का अर्थ पूछने आया। स्वामीजी ने अर्थ तो बता दिया, परन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया कि यह ग्रन्थ प्राचीन आर्ष वेदान्त का प्रतिपादन नहीं करता, अतः उनकी दृष्टि में यह प्रामाणिक ग्रन्थों की कोटि में नहीं आता। उन्होंने तो मात्र अर्थ ही स्पष्ट किया है। इसी अवसर पर दादू पंथी साधु महानन्द उनसे मिले। स्वामी महानन्द उनकी विचारधारा से अत्यन्त प्रभावित हुए तथा उनके द्वारा

प्रतिपादित मन्तव्यों को सत्य स्वीकार कर धर्म प्रचार कार्य को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया।[७]

कुम्भ के इस महान् जन सम्मर्द में दयानन्द ने धर्म के नाम पर प्रचलित नाना विश्वासों, अंध धारणाओं तथा व्यर्थ के क्रिया जालों को देखा। समाज के विभिन्न वर्गों को भी उन्हें निकट से देखने का अवसर मिला। मतों और सम्प्रदायों के नाम पर भारत का जन समाज किस प्रकार शतधा सहस्रधा विभक्त है, यह देख कर उन्हें पीड़ा हुई। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि संस्कृत के शास्त्रज्ञ विद्वान् भी स्वार्थान्ध होकर अपने अनुयायियों को पथभ्रष्ट कर रहे हैं। साम्प्रदायिक आचार्यों ने अपने भक्त समूह को नाना प्रकार ने प्रवंचित कर रक्खा है। धर्माचार्य और धर्म गुरु स्वयं पाखण्डों और मूढ़ विश्वासों के शिकार हैं, अतः अपने शिष्यवर्ग को भी वे विनाश के कगार की ओर ले जा रहे हैं। नाना मतों, सम्प्रदायों और धार्मिक आस्थाओं में बंटा हुआ विराट् हिन्दू समाज विघटन और विनाश के किनारे खड़ा है। सामाजिक कुरीतियों और मिथ्या आचारों ने देश को जर्जर और जीर्ण बना दिया है। इस स्थिति में उनका क्या कर्त्तव्य है? क्या अन्य साधुओं की भांति वे भी व्यर्थ के देशाटन और तीर्थ भ्रमण में ही कालयापन कर देंगे अथवा किसी महत् कार्य की सिद्धि के लिये उन्हें स्वयं उच्चतर त्याग एवं बलिदान का आदर्श उपस्थित करना होगा? दयानन्द के समक्ष आत्मालोचन और आत्मनिरीक्षण की घड़ी उपस्थित हुई।

वे अविलम्ब इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि एक सामान्य संन्यासी के कर्त्तव्यों और आदर्शों से भी ऊपर उठ कर उन्हें अपने भावी कार्यक्रम की रूपरेखा निर्धारित करनी होगी। ऐसा करते समय उन्हें अपनी जीवनचर्या और कार्यप्रणाली में भी कुछ मूलभूत परिवर्तन लाने होंगे। जब तक उत्कृष्ट त्याग और तीव्रतम वैराग्य का आदर्श वे स्वयं उपस्थित नहीं करेंगे, तब तक उनकी वाणी और उनके उपदेशों में वह तेजस्विता और अर्थवत्ता नहीं आ सकेगी जो हजारों, लाखों को प्रभावित कर सके तथा उनकी जीवनधारा और आदर्शों को मोड़ सके। यों तो इक्कीस वर्ष की युवावस्था में ही दयानन्द अपने घर बार, माता पिता, पैतृक सम्पत्ति और विभूति को लात मार कर कल्याण मार्ग के पथिक बन चुके थे, परन्तु उन्होंने अनुभव किया कि सामान्य संन्यासी भी वस्त्र, पुस्तक तथा दान दक्षिणा के रूप में प्राप्त धन से कहाँ तक मुंह मोड़ सकता है? कुछ न कुछ द्रव्य, कोई न कोई वस्तु एवं पदार्थ तो उसके पास स्वयं ही संचित हो जाता है। जीवन की इन सभी मूलभूत आवश्यक वस्तुओं को भी त्याग कर जब तक वे सर्वथा निर्मम, निर्लेप तथा अपरिग्रही नहीं बन जाते, तब तक जन समाज पर उनके विचारों का न तो प्रभाव ही पड़ेगा और न वे दण्डी संन्यासी विरजानन्द के समक्ष की गई अपनी प्रतिज्ञा को ही पूरा कर पायेंगे।

इस विचारांकुर के प्रादुर्भूत होते ही दयानन्द ने 'सर्वमेधयज्ञ' करने का संकल्प कर लिया। एक दिन व्याख्यान देते देते जब उक्त प्रकार के विचारों ने उनके मन एवं मस्तिष्क को क्षुब्ध एवं उद्वेलित कर दिया तो अनायास ही गद्गद् स्वर में वे 'सर्वं वै पूर्णं स्वाहा' के महामंत्र का उच्चारण कर बैठे और उन्होंने सभी एकत्रित वस्तुओं के त्याग का संकल्प कर लिया।[८] व्याख्यान की समाप्ति पर पुस्तक, पात्र, पीताम्बरी धोतियां और कौशेय वस्त्र,

उत्तरीय आदि पदार्थ लोगों में बांट दिये तथा कौपीन मात्र शरीर पर धारण कर अवधूत परमहंस के रूप में प्रकट हुए। दयानन्द के अनन्य सुहृद स्वामी कैलासपर्वत ने जब इनसे ऐसा करने का कारण पूछा तो उनका स्पष्ट उत्तर था कि बिना सर्वस्व त्याग किये, स्पष्ट बातों को कहना तथा यथार्थ उपदेश करना सम्भव नहीं हैं। जब तक हम अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं के लिये भी अन्यों पर निर्भर रहेंगे तब तक उनके सम्पूर्ण हित की बातें कहना भी हमारे लिये सम्भव नहीं होगा।

इस प्रकार सर्वमेध यज्ञ सम्पन्न कर दयानन्द अपनी कुटिया में बैठ आत्मलीन हो गये। अपनी भावी कार्य-प्रणाली को निर्धारित करने के लिये ही वे सर्वथा मौन भाव अंगीकार कर चिन्तन रत हुए। परन्तु उनका यह मौन भाव अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सका। हरिद्वार में एकत्रित साम्प्रदायिक वृत्तियों के पुरुषों को दयानन्द की पाखण्ड विरोधी विचार-धारा का परिचय मिल चुका था। वे जानते थे कि वैष्णव सम्प्रदाय में प्रचलित मिथ्या आचारों और अंध धारणाओं के वे कितने कठोर आलोचक हैं। भागवत के प्रति उनकी आलोचक वृत्ति का परिचय भी जन साधारण को मिल चुका था। अनेक दिनों से दयानन्द को कुटिया में बंद देखकर सम्भवतः उन्हें चिढ़ाने के भाव से ही, एक वैष्णव ने पर्णकुटी के बाहर खड़े हो कर भागवत का प्रशस्तिगान इन शब्दों में करना आरम्भ कर दिया—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतंरसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥[६]

स्वकुटिया में बैठ कर समाज और देश के उद्धार हेतु अपनाई जाने वाली कार्यप्रणाली के निर्धारण के प्रयास करने वाले मौनव्रती दयानन्द के कर्ण कुहरों में जब भागवत का यह झूठा प्रशस्ति पाठ पड़ा, जिसमें भागवत को वेदों से भी श्रेष्ठ ठहराने का बालिश प्रयास किया गया है, तो उनका मौन व्रत अनायास भंग हो गया। वेदों के प्रति अनन्य आस्था रखने वाला ऋषिकल्प दयानन्द भला उत्तरवर्ती पुराणों को वेदों के समकक्ष ही नहीं उनसे भी उत्कृष्ट ठहराने और भागवत जैसे अवतारवाद के पोषक ग्रन्थ को उन्हीं वेदों का सारभूत तत्त्व कहने वाले श्लोक का प्रतिवाद करने के लिये बद्धपरिकर हो उठा। भागवत की प्रशंसा के व्याज से वेदनिंदा को सुन कर तो उनका मौन रहना ही आश्चर्य का कारण होता। वे तुरन्त कुटिया के बाहर आ गये और धाराप्रवाह संस्कृत बोलते हुए श्रीमद्भागवत का खण्डन करने लगे।

इस प्रकार मौन व्रत को भंग कर दयानन्द ने अपने भावी कार्यक्रम की रूपरेखा बनाई। अब वे गंगा तटवर्ती प्रदेश का भ्रमण करने के लिये सन्नद्ध हुए। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि संस्कृत से भिन्न किसी अन्य लोक भाषा में वे सम्भाषण नहीं करेंगे। यह स्वाभाविक ही था, क्योंकि गांगेय प्रदेश में मातृभाषा गुजराती बोलने का कोई अर्थ नहीं था, और इस प्रदेश में बोली जाने वाली हिन्दी भाषा पर अभी तक उनका पूर्ण अधिकार नहीं हो सका था। उनकी दूसरी प्रतिज्ञा भोजन विषयक थी। भोजन के लिये स्वयं किसी से याचना नहीं करेंगे किन्तु अयाचित भोजन यदि प्राप्त हो, तो उसे स्वीकार कर लेंगे।

हरिद्वार से वे हृषीकेश गये। कुछ दिन वहां रह कर पुनः हरिद्वार लौटे तथा गंगा के किनारे चल पड़े। कनखल होते हुए लण्ढौरा (जिला सहारनपुर) पहुंचे। तीन दिन तक

निराहार रहना पड़ा। कृतप्रतिज्ञ थे कि मांग कर भोजन नहीं करेंगे। एक किसान ने तीन बैंगन दिये। इन्हें कच्चा ही खाकर क्षुधा शान्त की। शुक्रताल होते हुए मीरापुर (जिला मुजफ्फरनगर) पहुंचे। पुनः मुहम्मदपुर (जिला बिजनौर) तथा परीक्षितगढ़ (जिला मेरठ) होकर गढ़मुक्तेश्वर आये। यहां से चल कर वैशाख शुक्ल पक्ष १९२४ वि. (मई १८६७) में कर्णवास आये।

स्वामी दयानन्द के कर्णवास आगमन का आँखों देखा वृत्तान्त कविकुमार ठाकुर शेरसिंह वर्मा ने अपनी एक पुस्तक 'कर्णवास में ऋषि दयानन्द' में उपनिबद्ध किया था।[१०] ठाकुर शेरसिंह उन प्रत्यक्षदर्शियों में थे, जिन्होंने दयानन्द को अवधूत दशा में गांगेय प्रदेश में विचरण कर धर्म प्रचार करते देखा था। कर्णवास में स्वामी जी का आगमन एकाधिक बार हुआ था, परन्तु प्रथम बार जब वे यहाँ आये तो एक ही दिन रह कर आगे चले गये। शेरसिंह वर्मा ने अपने संस्मरणों में इस प्रथम बार की यात्रा के सम्बन्ध में लिखा है—"श्री विक्रमादित्य संवत् १९२४ के वैशाख शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा को सर्वाङ्ग गंगारज चढ़ाये, एक अवधूत लंगोटबन्द, अकस्मात् गंगा किनारे पं. भगवानदास ने तप्त रेणुका में अविचल आसन जमाये, मग्नमन, प्रफुल्ल वदन देखा; प्रणाम कर भोजन का निमंत्रण दिया। उत्तर मिला कि ग्राम में नहीं जाता हूँ, श्रद्धा हो तो यहीं भोजन करा देना। उक्त पण्डित ने वैसा ही किया। महात्मा भोजनान्तर उठ कर पूर्व दिशा को गंगा के किनारे चल पड़े।"[११]

कर्णवास के इस प्रथम आगमन के समय परमहंस दयानन्द को गंगा की रेती पर बैठा देख कर दो विद्यार्थी उनकी ओर आकृष्ट हुए। स्वामी जी के यह पूछने पर कि वे क्या पढ़ते हैं, छात्रों ने व्याकरण में सिद्धान्तकौमुदी तथा पुराणों में भागवत के नाम लिये। इस पर संन्यासी ने उन्हें मनुस्मृति और अष्टाध्यायी पढ़ने का परामर्श दिया। रामघाट, सोरों, पटियाली, कम्पिल आदि स्थानों की यात्रा करते हुए ज्येष्ठ १९२४ वि. में वे फर्रूखाबाद आये और लाला जगन्नाथप्रसाद रईस के स्थान पर निवास किया। इस समय उनकी आयु तयालीस वर्ष की थी। कौपीन के अतिरिक्त कोई वस्त्र शरीर पर नहीं होता था और कमण्डलु से भिन्न कोई अन्य पात्र नहीं रखते थे। वार्तालाप का माध्यम संस्कृत ही होता। देश भाषा (हिन्दी) बहुत कम बोलते थे। स्वामी जी के सजातीय औदीच्य ब्राह्मण रावल कृष्णपाल, जो फर्रूखाबाद में रहते थे, यदा कदा उनसे मिलने जाते। उनका कहना था कि स्वामीजी गुजराती भली भाँति बोल लेते थे, यद्यपि उनकी हिन्दी अधिक परिष्कृत नहीं होती थी। इस समय वे ब्राह्मणों को संध्योपासन, वेदाभ्यास तथा अग्निहोत्र का उपदेश करते थे।

लाला मन्नीलाल आढ़ती, जो साधु संन्यासियों के सत्संग में प्रायः जाते रहते थे, एक दिन स्वामी जी की सेवा में पहुँचे और जिज्ञासावश गंगास्नान का फल पूछ बैठे। जलस्थानों को तीर्थ संज्ञा प्रदान करने के औचित्य को अस्वीकार करते हुए दयानन्द ने उत्तर दिया—जल तो जड़ पदार्थ है। इसे परमात्मा ने नहाने, पीने और वृक्षादि को सींचने के लिये बनाया है। स्नान मात्र से किसी को मुक्ति नहीं मिलती। योगाभ्यास ही मुक्ति का साधन है। लालाजी का दूसरा प्रश्न सूर्योपासना के सम्बन्ध में था। सच्चिदानन्द लक्षणान्वित एकमेव परमात्मा के स्थान पर प्रचलित सभी प्रकार की जड़ पूजाओं का खण्डन करने वाले स्वामी ने सूर्यमण्डल को जड़

बताया परन्तु साथ ही यह भी कह दिया कि सूर्य अन्धकार का नाशक तथा संसार के विभिन्न पदार्थों का शोधक है। इसी दृष्टि से शास्त्रों में सूर्य के महत्त्व का प्रतिपादन तो मिलता है, परन्तु वह उपास्य नहीं हो सकता।

नितान्त साधारण से दीख पड़ने वाले इन प्रश्नोत्तरों में दयानन्द की बौद्धिक ईमानदारी तथा तर्कमूलक चिन्तन प्रणाली के दर्शन होते हैं। शताब्दियों से रूढ़बद्ध आस्थाओं को यथावत् स्वीकार करना उन्हें कभी अभीष्ट नहीं था। यही उनकी क्रान्तदर्शिता थी। केवल परम्परानुमोदित होने से ही कोई बात सत्य नहीं हो जाती। इसी दृष्टि से वे तीर्थस्थानों में स्नान करने के माहात्म्य तथा सूर्य-उपासना आदि को चुनौती देते हैं। भारत के सामान्य जन जीवन में पौराणिक मत विश्वास कितने अधिक बद्धमूल हो गये थे तथा उनका विरोध करने का सामर्थ्य देश के प्रबुद्ध लोगों में भी नहीं था, यह इसी बात से सिद्ध होता है कि दयानन्द के ही समकालीन—धर्म, दर्शन तथा अध्यात्म के क्षेत्र में सुगूढ़ चिन्तन तथा आन्दोलनात्मक कार्य करने वाले नवजागरण के अन्य ज्योतिर्धर पुरुषों को भी पूजा और उपासना के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाने वाले अंधविश्वासों और आडम्बरों के प्रतिकार करने का कभी साहस नहीं हुआ।[१२] अथच, इन पाखण्डों का विरोध करने में वे अपने आपको न केवल अपदार्थ ही अनुभव करते थे, परन्तु कभी कभी तो वे मौन भाव से इनकी तात्त्विकता को भी प्रतिपादित करने के लिये सचेष्ट रहते।[१३] ऐसी स्थिति में मध्यकालीन पौराणिक विश्वासों पर कुठाराघात करने वाले दयानन्द के प्रखर व्यक्तित्व तथा उनकी क्रान्तिकारिणी दृष्टि को हृदयंगम करना तत्कालीन सामान्य लोगों के लिये तो कठिन था ही, खण्डन मण्डन में निहित उनके गूढ़ाशय तथा आपाततः असहिष्णुताजनक प्रतीत होने वाले उनके आलोचना कार्य में निहित हार्द को आज के अत्यधिक जागरूक एवं प्रबुद्ध इतिहासकार भी समझने में असमर्थ रहे हैं। यही कारण है कि वे यदा कदा स्वामीजी के समालोचना कार्य की भर्त्सना करके ही चुप नहीं रहते, किन्तु उन्हें अनुदार और संकीर्ण कहने की भूल भी कर बैठते हैं।

फर्रूखाबाद में स्वामी दयानन्द की दिनचर्या इस प्रकार रही। ऊषाकाल से बहुत पूर्व उठ बैठते और समाधि में लीन हो जाते। रात्रि को बहुत कम सोते। नगर में भिक्षाटन नहीं करते, अपितु जो कुछ लाकर दे दिया जाता, उसे ही ग्रहण कर लेते। भोजन एक बार ही करते। एक कौपीन के अतिरिक्त दूसरा कोई वस्त्र नहीं रखते। स्नान करने के पश्चात् गीला अधोवस्त्र शरीर पर स्वतः ही सूख जाता। शीत, आतप और वर्षा के तीक्ष्ण प्रहारों को सहने की तितिक्षा वृत्ति को उन्होंने साध लिया था। शरीर स्वस्थ एवं पुष्ट, स्फीत वक्ष, स्थूल और मजबूत कलाइयां, मुख पर सदा प्रसन्नता का भाव रहता। लाला जगन्नाथप्रसाद ने एक दिन गायत्री जप का फल पूछा तो उत्तर मिला इस मंत्र के जप से बुद्धि निर्मल होती है। द्विजमात्र के लिए संध्योपासना के समय दीर्घकाल तक गायत्री जप को आवश्यक ठहराते थे।

फर्रूखाबाद में तीन दिन तक ठहर स्वामी महाभाग अनूपशहर चले गये। यहाँ उनका निवास लाला गौरीशंकर कायस्थ की बांसों की टाल पर रहा। इन दिनों वे कुछ रुग्ण हो गये थे किन्तु तुलसी के पत्ते और काली मिर्च के क्वाथ का सेवन कर उन्होंने पुनः स्वास्थ्य लाभ कर लिया। एक दक्षिणी संन्यासी सूरजपुरी ने कुछ प्रश्न लिख भेजे, स्वामीजी

ने उनका यथोचित उत्तर दे दिया। उत्तर समझ में न आने पर जब दाक्षिणात्य स्वामी बार-बार पूछने लगा तो दयानन्द ने उत्तर में स्पष्ट कहला भेजा कि तुम्हारी बुद्धि मोटी है, अतः मेरी बात तुम्हारी समझ में नहीं आयगी। अपने कथन की पुष्टि में एक लौकिक उदाहरण भी दे दिया कि यदि मिट्टी में चीनी मिला दी जाय तो हाथी उन सिकता कणों से शर्करा कणों को पृथक् नहीं कर सकता, किन्तु चींटी कर सकती है।

बांसों की टाल से उठकर नर्मदेश्वर के निकट सती की मढ़ी में आसन जमाया। नवलजंग नामक एक स्वस्थ सदाचारी पहलवान उनका भक्त और शिष्य बन गया। एक दिन कुछ वाममार्गी लोग मदिरोन्मत्त होकर आये और स्वामीजी के लिये अंट शंट शब्दों का प्रयोग करने लगे। वाममार्ग के अनुसार तो पञ्चमकारों का सेवा करने वाला व्यक्ति ही वीर कोटि में आता है शेष तो उनकी दृष्टि में पशु ही हैं। ये वाममार्गी भी स्वामीजी को ललकारते हुए स्वस्थान से बाहर आने की चुनौती देने लगे। उनकी धृष्टता यहां तक बढ़ गई कि वे सभ्यता की सीमा का उल्लंघन कर कहने लगे—'दयानन्द बाहर आ, तुझे आज वारुणी पिलाकर शुद्ध करेंगे। तेरा पशुत्व दूर कर तुझे कौलिक परम्परा में दीक्षित करेंगे।' जब स्वामीजी ने अनुभव किया कि ये वामी लोग उद्दण्डता की सीमा का अतिक्रमण कर रहे हैं तो उन्होंने पहलवान नवलजंग को आवाज दी और उसे वस्तुस्थिति से अवगत कराया। पहलवान की हुंकार मात्र से ही वाममार्गियों को भागने के अतिरिक्त और कुछ न सूझा।

अनूपशहर निवासकाल में दयानन्द सैकत शय्या पर ईंट का तकिया लगा कर सुखपूर्वक शयन करते। कौपीन ही उनका वस्त्र था। वे सोचते थे कि यदि समाज के नेता स्वरूप अग्रजन्मा ब्राह्मण ही सजग हो जावें तो देश और धर्म का बहुविध उपकार कर सकते हैं। अतः वे इन दिनों ब्राह्मण और अन्य द्विजों के उत्थान हेतु विशेषरूप से क्रियाशील रहे। संध्या, गायत्री और अग्निहोत्र आदि श्रौत, स्मार्त विधियों का अनुष्ठान वे आर्य मात्र के लिये आवश्यक मानते थे। जो व्यक्ति अधिक पढ़ने की इच्छा व्यक्त करता, उसे मथुरा जाकर दण्डीजी की पाठशाला में पढ़ने की प्रेरणा देते। व्याकरण में अष्टाध्यायी और महाभाष्य तथा धर्मशास्त्रों में वेद और मनुस्मृति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते। यदि कोई वेदानुकूल बात कहता, तो उसे सहज भाव से स्वीकार कर लेते, किन्तु यदि कोई पुराणानुमोदित परन्तु वेद विरुद्ध बात कहता, तो तुरन्त अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहते—"गप्पाष्टकं, मनुष्याणां कोलाहलः।" उनका विनोदी स्वभाव भी कभी कभी प्रतिद्वन्द्वी को अप्रतिभ कर देता। एक पण्डित शास्त्रार्थ करने के विचार से आया और स्वलिखित मन्तव्यों को पढ़ कर सुनाने लगा। जब स्वामीजी उसके इस लम्बे स्वगत भाषण से ऊब गये तो कहने लगे—क्या अपने पुत्र का लग्न पत्र लाये हो? स्वामीजी की इस हास्यपूर्ण उक्ति को सुन कर पण्डित जी घबरा गये। अब उनके मुख से एक भी शब्द नहीं निकला।

अनूपशहर से दयानन्द बुलन्दशहर के जंगल में स्थित चासी नामक स्थान पर आषाढ़ १९२४ वि. में आये। यहां आने का एक विशेष प्रयोजन था। उन्हें ज्ञात हुआ था कि यहां पं. नंदराम नामक एक चक्रांकित वैष्णव अन्य लोगों को स्वमत में प्रविष्ट कराने का यत्न कर रहा है। दयानन्द चक्रांकित सम्प्रदाय के घोर विरोधी थे अतः वे नन्दराम के प्रयत्नों को रोकने

की दृष्टि से वहां पहुंच गये। उन्हें पता चला कि नंदराम अपने अनुयायियों सहित उनके समक्ष स्वमत की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करना चाहता है। स्वामीजी भी चाहते थे कि ऐसा ही हो, किन्तु शायद अपने पक्ष को दुर्बल जान कर नन्दराम स्वामीजी के समक्ष नहीं आया। जब उसके साथियों ने स्वामीजी से वार्तालाप करने के लिये उसे प्रेरित किया, तब भी उसका साहस नहीं हुआ। इस प्रकार चक्रांकित मत में लोगों को दीक्षित करने की उसकी योजना भी असफल हो गई।

चासी से चल कर वे ताहिरपुर होते हुए रामघाट आये। यहां पं. टीकाराम[१४] नामक एक पठित ब्राह्मण से उनकी भेंट हुई।[१५] स्वामीजी ने उन्हें गायत्री मंत्र सुनाने के लिये कहा।[१६] पं. टीकाराम के स्पष्ट और शुद्ध मन्त्रोचारण से वे बड़े प्रसन्न हुए और संध्यापद्धति का पाठ उन्हें स्वहस्त से लिख कर दिया। धीरे धीरे पं. टीकाराम का स्वामीजी से सम्पर्क बढ़ता गया तथा वे उनके पूर्ण अनुगामी बन गये। मूर्तिपूजा के प्रति उनकी आस्था समाप्त हुई तथा संध्या, अग्निहोत्र, बलिवैश्वदेव आदि स्मार्त कर्मों के प्रति निष्ठा बढ़ी। पं. टीकाराम का निवास स्थान उन दिनों कर्णवास था, जो क्षत्रियों की प्रसिद्ध बस्ती थी। पण्डित जी ने अपने यजमान ठा. गोपालसिंह को स्वामीजी का प्रशस्तिपूर्ण परिचय दिया। फलतः कर्णवास के ठाकुरों में इस अश्रुत पूर्व सन्यासी को देखने तथा उनके उपदेशों से लाभान्वित होने की लालसा जागृत हुई। उन्होंने टीकाराम को ही स्वामी महाभाग को कर्णवास लिवा लाने के लिये भेजा। इससेपूर्व कि पं. टीकाराम रामघाट पहुंच कर स्वामीजी से कर्णवास आने की प्रार्थना करते, वे स्वयं ही आषाढ़ शुक्ल पक्ष १९२४ वि. में कर्णवास स्थित नागा बाबा की मढ़ी के निकट बसेन्दू वृक्ष के नीचे आ विराजे। पं. भगवानदास नामक एक भागवती पण्डित ने इस स्थान पर प्रथम आगमन के समय भोजन से उनका सत्कार किया था परन्तु इस बार जब स्वामीजी ने कण्ठी, तिलक आदि वैष्णव मत के प्रतीक चिह्नों का तीव्र खण्डन करते हुए इनके धारण करने को वेदविरुद्ध बताया तो भागवती पण्डित बिगड़ उठा। शेरसिंह वर्मा के शब्दों में—"पं. भगवानदास ने उनको नास्तिक कहा। नगर में आन कर भले प्रकार से प्रकाशित कर दिया—एक संन्यासी नागा बाबा की मढ़ी पर 'बसेन्दू' वृक्ष के नीचे बैठा हुआ, मूर्तिपूजा, कण्ठी, तिलक को मिथ्या बतला रहा है। बड़ा नास्तिक है। पहले जब हमको मिला था तो महात्मा जान भिक्षा कराई थी। परन्तु बिना बातचीत किये चला गया था। अब के वार्तालाप होने से देव-निन्दक धूर्त जान पड़ा। यह रहस्य समस्त नगर में थोड़ी देर में फैल गया। अनेक नगरवासी महात्मा के पास जाने लगे।"[१७]

कर्णवास में स्वामीजी की ख्याति नित्य प्रति बढ़ रही थी। सैकड़ों की संख्या में लोग उनके विचार सुनने आते। कविकुमार शेरसिंह वर्मा ने कर्णवास में स्वामीजी के आगमन को 'धर्म दिवाकर के उदय' की संज्ञा दी है। उनके अनुसार—"पं. टीकाराम शास्त्री ने ठाकुरों से कह दिया कि जो ब्राह्मण क्षत्रियों को राक्षस कहते हैं, उनके मुखभञ्जनकर्ता महात्मा स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी महाराज धर्म दिवाकर का प्रादुर्भाव हो गया। अब आप लोग चल कर अपना संदेह निवारण कर लें और सत्योपदेश ग्रहण कर वेद मार्ग पर चलने को कटिबद्ध हो जावें, फिर ऐसे महात्मा विद्वान् तपस्वी महापुरुष का मिलना दुस्तर है। हम सबों के मन

जो उस समय गुरुजी की वार्ता सुन रहे थे आह्लादित और लालायित हो, उमग उठे थे। कब प्रभात हो जो महात्मा के दर्शन लाभ करें। इसी उद्वेग में अपने अपने स्थानों पर रात्रि व्यतीत कर रहे थे। प्रभात होते ही धर्म की पिपासा से तृषित सूर्योदय से प्रथम गंगा स्नान कर नागा बाबा की मढ़ी पर जा पहुंचे। चारों ओर निगाह फाड़ फाड़ कर देखने लगे कि महात्मा कहां विराजमान हैं। उसी काल में गुरु टीकाराम शास्त्री अपने कुछेक विद्यार्थियों को साथ लिये गंगा स्नानार्थ नित्य नियमानुसार आन पहुंचे। हम सब को आतुर सा देख आश्वासन देकर कहने लगे—यह समय महात्मा के भ्रमण तथा नित्य क्रिया शौचादि से निपटने का है। आप लोग थोड़ी देर बैठें, महात्मा आते ही होंगे। तब तक हम भी स्नान संध्या से निपट कर यहीं आते हैं। हम सब यह सुन कर बसेन्दू के पेड़ तले बैठ गये और पण्डितजी तथा महात्मा जी के आने की बाट जोहने लगे। थोड़ी ही देर में सर्वांग पर गंगारज लेपन किये एक लंगोटी को बांधे पूर्व दिशा से आते हुए महात्मा के दर्शन प्राप्त हुए।"[१९]

स्वामी दयानन्द आकर आसनासीन हुए और उन्होंने उपस्थित वर्ग का प्रणाम स्वीकार किया। पुनः मधुर स्वर से सरल संस्कृत में कहने लगे—"पं. टीकाराम शास्त्री से आप लोगों की धर्म में जैसी श्रद्धा है, प्रथम ही सुन ली है। अब क्षत्रियों के सुसंस्कार का दिन आ गया है शास्त्रानुसार वर्णाश्रम को प्राप्त होना दूर नहीं मानना चाहिए। ब्रह्म गायत्री तीनों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) की समान है, तथा मनुष्य मात्र के लिये वेद का उपदेश भी समान है।"[२०]

स्वामीजी का यह उपदेश सुन कर कर्णवास निवासी ठाकुरों ने परस्पर निश्चय किया कि आने वाले चातुर्मास्य तक स्वामीजी को यहीं रोकना चाहिए। तत्पश्चात् शीतारम्भ में वे यज्ञानुष्ठानपूर्वक सामूहिक रूप से यज्ञोपवीत ग्रहण करेंगे। ठाकुर गोपालसिंह ने यज्ञ का व्यय भार वहन करने की स्वीकृति दी। उनके मंझले भाई ठा. किशनसिंह कट्टर मूर्तिपूजक थे। वे सिंहासनासीन शालिग्राम, गोमती चक्र, नर्मदेश्वर आदि पाषाण प्रतिमाओं का ससंभार षोडशोपचार पूजन पहर दिन चढ़ने तक करते रहते थे। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि यदि स्वामीजी किसी विद्वान् ब्राह्मण से शास्त्रार्थ कर यह निश्चय करा देंगे कि मूर्तिपूजा शास्त्र विरुद्ध है, तो वे इस बखेड़े को त्याग देंगे। निश्चय हुआ कि व्यासपूर्णिमा पर बहुत से पण्डित इधर आते हैं, उनसे ही स्वामीजी का शास्त्रार्थ कराया जाये।

सायंकाल कर्णवास के क्षत्रिय युवक अपने गुरु पं. टीकाराम के साथ स्वामीजी की सेवा में पहुंचे और उनसे समस्त अभिप्राय व्यक्त किया। इतना ही नहीं, वृक्ष का अधोवास स्वीकार करने वाले परमहंस के लिये पर्ण कुटी निर्माणार्थ बांस, छाजन, पूले आदि भी ले आये। जब स्वामीजी ने देखा कि पर्याप्त समय तक उनके यहां ठहरने की व्यवस्था की जा रही है तो उन्होंने कहा—"हमारे रहने का प्रबंध करते हो तो अपना संस्कार कराओ, और यज्ञ करो, तो हम चातुर्मास्य तक यहां रह सकते हैं।" जब ठा. किशनसिंह ने शास्त्रार्थ की बात चलाई तो स्वामीजी ने इसे स्वीकार करते हुए कहा कि यह बात ठीक है। निश्चयार्थ किसी पण्डित को बुला कर तथा विचार (शास्त्रार्थ) कराया जाये। तदुपरान्त जो कुछ सत्य ठहरे उसी में श्रद्धा रखी जानी उचित है। उनके निवास हेतु छप्पर तैयार हो गया।

सायंकालीन भोजन के लिये जब उनसे निवेदन किया गया तो उत्तर मिला कि एक ही समय भोजन करते हैं। दूध भी नहीं पिया।

इस प्रकार कर्णवास में नित्य प्रातः दस बजे तक और सायंकाल ४ बजे से सूर्यास्त पर्यन्त स्वामीजी का धार्मिक सत्संग चलता रहा। इस समय वे आठ गप्पों का खण्डन करते थे जो निम्न प्रकार थीं।[२१]

१. मनुष्यकृताः सर्वे ब्रह्मवैवर्तपुराणादयो ग्रन्थाः प्रथमम् गप्पम्।
२. पाषाणादि पूजनं देव बुद्ध्या द्वितीयं गप्पम्।
३. शैवशाक्तवैष्णवगाणपत्यादयः सम्प्रदायास्तृतीयं गप्पम्।
४. तन्त्रग्रन्थोक्तो वाममार्गश्चतुर्थं गप्पम्।
५. भङ्गादि नशाकरणम् पञ्चमं गप्पम्।
६. परस्त्रीगमनं षष्ठं गप्पम्।
७. चौरीति सप्तमं गप्पम्।
८. कपटच्छलाभिमानानृतभाषणमष्टमं गप्पम्॥
एतान्यष्टौ गप्पानि त्यक्तव्यानि।

आषाढ़ की पूर्णिमा से एक दो दिन पहले स्वामी दयानन्द ने पं. भगवानदास से कहा—"आप से हमारा सबसे प्रथम परिचय हुआ है, और आप भागवत के पण्डित हैं, इसलिये हम मित्र भाव से आपको परामर्श देते हैं। यह ग्रन्थ व्यास प्रणीत नहीं है, टीकाकारों ने भी इसे बोपदेव प्रणीत माना है। यह तिलक माला वेशधारी लोगों का ढ़कोसला है। आप विद्वान् होकर इसे नहीं त्यागते। विचारपूर्वक इस अवैदिक पंथ को त्याग अन्य ब्राह्मण मात्र को सच्चा वेदमार्ग ही ग्रहण कराना सर्वथा उचित है।"[२२] स्वामीजी के इस सत्परामर्श को पं. भगवानदास ने अन्यथा भाव से लिया और वह उनका अकारण ही विरोधी बन बैठा।

पं. भगवानदास ने निश्चय किया कि किसी समर्थ विद्वान् से स्वामी दयानन्द का शास्त्रार्थ कराना चाहिए। यदि इन्हें शास्त्रार्थ संग्राम में पराजित नहीं किया गया, तो उन्हीं की भांति अन्य भागवती पण्डितों की जीविका भी खतरे में पड़ जायगी। फलतः वे सर्वप्रथम अलीगढ़ निवासी एक पण्डित पचौरी जी को शास्त्रार्थ हेतु लिवा लाये। लगभग एक मास तक इनसे स्वामीजी का विचार चलता रहा। अन्ततः स्वामीजी के विचारों से अलीगढ़ निवासी पण्डित को सहमत होना पड़ा। जब पचौरी जी भी स्वामीजी के विचारों को स्वीकार कर बैठे तो पं. भगवानदास की व्यग्रता और बढ़ गई। अब उन्होंने कर्णवास के ही एक अन्यप्रतिष्ठित विद्वान् पं. नंदकिशोर से मंत्रणा की और निश्चय किया कि अनूपशहर के पं. अम्बादत्त[२३] से स्वामीजी का शास्त्रार्थ कराया जाय।

कर्णवास तथा आसपास के प्रान्त में स्वामी दयानन्द की ख्याति निरन्तर बढ़ रही थी। भाद्रपद और आश्विन पर्यन्त उनके व्याख्यान प्रवचन चलते रहे। शरद् पूर्णिमा के आस पास समीपवर्ती ग्रामों के पं. निद्धालाल (दानपुर वासी) तथा पं. कमलनयन (अहमदगढ़ वासी) आये। उन्हें जब सारी बातें ज्ञात हुईं तो वे भी स्वामीजी से विचार विमर्श हेतु उपस्थित हुए। जब स्वामीजी की विचारधारा से अवगत होकर ये आगन्तुक पण्डित भी स्वस्ति

अनुभव करने लगे तो उन्होंने अपनी प्रतिक्रिया स्थानीय विद्वानों के समक्ष व्यक्त करते हुए कहा कहा—"स्वामी दयानन्द देवकोटि के पुरुष जान पड़ते हैं। ईश्वर प्रेरणा से इनका प्राकट्य हुआ समझना चाहिए। इनके सामने मनुष्य की नहीं चल सकती। उन्होंने जो कुछ कहा वह सब प्रामाणिक और शास्त्र युक्त ही जान पड़ा। हम से भी कुछ भी नहीं बन पड़ा। इसलिये पं. अम्बादत्तजी से ही इनको समझवा दें तो अच्छा है। दो चार बातों का खण्डन करना छोड़ दें तो आशा है ब्राह्मणों की जीविका बनी रहेगी नहीं तो भण्डाफोड़ हो जायगा। अब यह पाखण्ड चलता दृष्टि नहीं पड़ता।"[२४]

प्रतिवेशी ग्रामवासी पण्डितों के इस कथन को सुन कर पं. भगवानदास की व्याकुलता बढ़ गई। बड़े यत्न से वे अनूपशहर जाकर पं. अम्बादत्त को लिवा लाये। ये पण्डित वयोवृद्ध थे तथा निकटवर्ती प्रान्तों में उनका बड़ा सम्मान था। प्रथम तो पं. अम्बादत्त ने पं. टीकाराम से ही अनुरोध किया कि वे स्वामीजी को समझा कर कह दें कि यदि वे मूर्तिपूजा और पुराणादि का खण्डन करना छोड़ दें तो ब्राह्मणमण्डली उन्हें देवगुरु बृहस्पति तुल्य पूज्य मानकर उनका आदर करेगी।

पं. टीकाराम ने ऐसा करने में अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए कहा कि आप ही वृद्ध वसिष्ठ तुल्य हैं, आप ही स्वामीजी को कहें, शायद वे मान जायें। कार्तिक कृष्णा पंचमी के दिन स्वामी दयानन्द से पं. अम्बादत्त की भेंट हुई। पण्डित महाशय ने संस्कृत भाषा में स्वामीजी से वार्तालाप करते हुए कहा—आप पुराण ग्रन्थों तथा मूर्तिपूजा आदि का खण्डन छोड़ दें तो सब ब्राह्मण आपको जगत् गुरु बृहस्पति की पदवी से अलंकृत करेंगे। स्वामीजी इस प्रलोभनयुक्त प्रस्ताव को तो विनोद में टाल गये परन्तु पं. अम्बादत्त को यह निश्चय करा दिया कि आर्ष ग्रंथों और वेदों के समक्ष पुराणादि की सम्मति का कोई महत्त्व नहीं रहता। उन्होंने यह भी कहा कि "न तस्य प्रतिमाऽस्ति" जैसे वेद वाक्यों की विद्यमानता में पुराणोक्त प्रतिमा पूजन विधान को आप्त पुरुषों का कथन कैसे माना जा सकता है? स्वामीजो की युक्ति शृंखला को पं. अम्बादत्त ने स्वीकार किया। न्यायप्रिय मनुष्य की भांति उन्होंने माना कि स्वामीजी के मन्तव्य सर्वथा सत्य एवं वेदानुकूल हैं।

इस प्रकार स्थानीय तथा अन्य निकटवर्ती विद्वानों के द्वारा स्वामीजी के सिद्धान्तों का अनुमोदन प्राप्त हो जाने पर कर्णवास के भक्त क्षत्रिय वर्ग का प्रसन्न होना स्वाभाविक ही था। उन्होंने स्वामीजी से यज्ञोपवीत प्रदान करने हेतु प्रार्थना की। यज्ञोपवीत संस्कार के शास्त्रीय अनुष्ठान को सुचारु रूप से सम्पादित करने हेतु पं. टीकाराम को कार्याध्यक्ष बनाया गया। कार्तिक शुक्ला नवमी का दिन उपनयन के लिये निश्चित हुआ। समीपवर्ती ग्रामों के कोई ६० ब्राह्मणों को संस्कार निष्पादन हेतु आमंत्रित किया गया। प्रथम इस कस्बे के १६ क्षत्रियों ने यज्ञोपवीत कराया। पड़ौस के ग्रामों में जब क्षत्रियों के इस उपनयन संस्कार की धूम मची तो भारी संख्या में क्षत्रिय और वैश्य लोग आ आकर वैदिक रीति से यज्ञोपवीत ग्रहण करने लगे।

पर्याप्त समय तक कर्णवास में निवास कर स्वामी दयानन्द कार्तिक मास १९२४ वि० के अन्त में अहार होते हुए चासी आये। पूर्णिमा के पर्व पर आये सहस्रों व्यक्तियों ने उनका

उपदेश श्रवण किया। स्वामीजी के निवास के निकट ही एक वैरागी का डेरा था। इस वैरागी बाबा को यह अच्छा नहीं लगा कि कोई विद्वान् संन्यासी उसके निवास के निकट रहे और जन समाज को मूर्तिपूजा, तीर्थस्नान आदि परम्परागत धार्मिक समझे जाने वाले कृत्यों से विमुख करे। परन्तु उसमें इतना साहस भी नहीं था कि वह स्वामीजी को वहाँ से चले जाने के लिये कहता। दयानन्द का यह नियम था कि जो उन्हें सर्वप्रथम भोजन अर्पित करता, उसे ही वे ग्रहण कर लेते। वैरागी महाराज को जब इसका पता लगा तो वह नित्य दो चार जले भुने, कभी कभी कच्चे टिक्कड़ (मोटी रोटी) लाकर स्वामी सेवा में भोजनार्थ प्रस्तुत करने लगा। उसका हार्दिक भाव तो यह था कि इस प्रकार का स्वादरहित तथा जला भुना भोजन खाकर स्वामी महाभाग जल्दी ही ऊब जायेंगे और इस स्थान को छोड़ देंगे। शारीरिक आवश्यकताओं के प्रति नितान्त अन्यमनस्कता का भाव रखने वाले दयानन्द के लिये भोजन के स्वादु होने अथवा निस्वाद होने का तो अधिक महत्त्व नहीं था, किन्तु जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि उनके वहां रहने से वैरागी बाबा अस्वस्ति अनुभव करते हैं, तो वे स्वतः ही वहाँ से चले गये।

ब्रह्मचर्य से उद्दीप्त स्वामी दयानन्द की तेजोमय काया लोगों का ध्यान सहज ही आकृष्ट करती थी। एक ऐसे ही व्यायामव्यसनी सज्जन ओंकारदास बोहरा जब गंगा स्नानार्थ चासी आये, तो स्वामीजी के तेजस्वी व्यक्तित्व तथा ओजमयी वाणी को सुन कर उनके भक्त बन गये। उनके मन में विचार आया कि स्वामीजी के ब्रह्मचर्य से पुष्ट तथा वर्द्धित शारीरिक बल की परीक्षा करनी चाहिए। बड़े विनम्र भाव से उन्होंने स्वामीजी से पांव दबाने की अनुमति चाही। पहले तो स्वामीजी ने कहा कि हमारे पांव तो दबे दबाये हैं। भक्तों से ऐसी परिचर्या कराना उनके स्वभाव के विपरीत ही था। परन्तु जब बोहराजी ने अधिक आग्रह किया तो उन्हें अपने पांव दबाने की आज्ञा दे दी। जब बोहराजी ने उनके पांवों को स्पर्श किया तो उन्हें लगा कि ये पांव नहीं लौह दण्ड हैं। अत्यधिक बल लगा कर भी वे अपनी अंगुलियों को स्वामीजी की मांसपेशियों में प्रविष्ट नहीं करा सके। पांव दबाते दबाते वे पसीना पसीना हो गये। उन्हें आदित्य ब्रह्मचारी के अप्रतिम शारीरिक बल का स्वतः ही ज्ञान हो गया।

गंगातटवर्ती प्रान्तों में भ्रमण के समय दयानन्द का एकमेव लक्ष्य सामान्य जन-समाज में प्राचीन उपासना पद्धति को प्रचलित करने का रहा। वे चाहते थे कि लोग मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा, कण्ठी तिलक धारण आदि के बाह्य आचारों का परित्याग कर शास्त्रोक्त संध्योपासन, गायत्री जप, अग्निहोत्र आदि की वैदिक तथा स्मार्त विधियों को अंगीकार करें। वे यह भी चाहते थे कि ब्राह्मणों से भिन्न क्षत्रिय, वैश्य आदि द्विजातियों में भी यज्ञोपवीत आदि संस्कारों का पुनः प्रचलन हो। अतः वे यत्र तत्र गायत्री, संध्या, यज्ञोपवीत आदि का प्रचार कर लोगों में उच्चतर धार्मिक भावों के सञ्चार के लिये प्रयत्नशील रहे। परन्तु दयानन्द के चिन्तन में जो मौलिकता तथा रूढ़ियों के विरोध का प्राबल्य था, वह भी यदा कदा परिलक्षित होता रहता था। इसका एक उदाहरण उस समय सामने आया जब पं. गंगाप्रसाद नामक अपने एक भक्त से, जो लोगों को द्विज चिह्न यज्ञोपवीत धारण करने की निरन्तर प्रेरणा करता रहता था, उन्होंने अनायास पूछ लिया—'तुम लोगों को यज्ञोपवीत देते ही हो, या

किसी से यज्ञोपवीत उतरवाते भी हो ?' पं. गंगाप्रसाद का चकित होना स्वाभाविक ही था। उसने पूछा—'क्या जनेऊ उतरवाये भी जाते हैं ?' इस पर स्वामीजी ने कहा, 'क्यों नहीं ! जो अधर्माचरण करे उसका यज्ञोपवीत छीना भी जा सकता है।' बात सुनने में विचित्र लगती है। किन्तु दयानन्द जैसे मौलिक उद्‌भावना सम्पन्न व्यक्ति के लिये ऐसा कहना अत्यन्त स्वाभाविक ही था। यदि धार्मिक चिह्नों को धारण करके भी यदि कोई व्यक्ति अधर्माचरण करता है, तो इससे धर्म के प्रतीकरूप इन चिह्नों का अवमूल्यन ही होता है। ऐसी स्थिति में क्या यह उचित नहीं है कि पापाचरण करने वालों से इन चिह्नों को छीन लिया जाय ?

स्वामी दयानन्द बहुत बार तो हास्य और विनोद का प्रसंग उपस्थित करके ही अपनी बात प्रतिपक्षियों से मनवा लेते थे। अनन्त चतुर्दशी के दिन लोग अपनी भुजा पर एक धागा बांधते हैं तथा उसे 'अनन्त' कहते हैं। उपर्युक्त पं. गंगाप्रसाद की भुजा पर बंधे एक ऐसे ही अनन्त को देखकर उन्होंने विनोद भाव से पूछा—'यह क्या बांध रक्खा है ?' पण्डित ने कहा 'महाराज, अनन्त है।' स्वामीजी तुरन्त उस धागे को नाप कर बोले 'अरे यह अनन्त कहाँ, यह तो दो बालिश्त मात्र है।' पण्डितजी स्वामीजी के अभिप्राय को समझ गये और अनन्त को दूर फेंक दिया।

यह हम देख चुके हैं कि संन्यासाश्रम में दीक्षित होने के बहुत बाद तक दयानन्द की शाङ्कर वेदान्त में अविचलित आस्था रही थी, परन्तु ज्यों ज्यों उनका दार्शनिक चिन्तन प्रौढ़ होता गया और वे आग्रहरहित होकर वेदों, उपनिषदों तथा दर्शनों के सूत्र ग्रन्थों का अधिकाधिक विचार करते गये, शंकर प्रतिपादित अद्वैतवाद के प्रति उनकी निष्ठा समाप्त होती गई। अब तो वे जगन्मिथ्यावाद, जीवब्रह्मैक्यवाद तथा मायावाद आदि शाङ्कर दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों के प्रखर आलोचक बन गये तथा अपनी प्रगल्भ युक्तियों से शाङ्करमत (जिसे वे नव्य वेदान्त कहा करते थे) का तीव्र खण्डन करने लगे थे। साथ ही उन्होंने यह भी अनुभव किया था कि साधारणतया वेदान्त की शंकर प्रतिपादित व्याख्या भारतीय जनसमाज में अत्यधिक घर कर चुकी है, अतः इसी विचारधारा को प्रायः भारतीय दर्शन का प्रामाणिक और अधिकृत रूप स्वीकार कर लिया जाता है। हालांकि वे यह भी जानते थे कि नवीन वेदान्त के प्रति भारतीय जनता की यह आस्था किसी प्रकार के वैज्ञानिक चिन्तन तथा तर्कमूलक परीक्षण पर आधारित न होकर शताब्दियों से प्रचलित विश्वास का सम्बल लेकर ही चल रही है। इस देश के लोगों में संसार के मिथ्यात्व, तथा सब कुछ मायिक प्रपञ्च होने के विश्वासों की व्याप्ति किसी तर्कमूलक धारणा से प्रभावित न होकर मात्र रूढ़िवाद तथा परम्परा से ही पोषित है। अतः वे यदा कदा जगन्मिथ्यात्व जैसे सिद्धान्तों का खण्डन करने में शास्त्रों की औपचारिक तर्कप्रणाली अथवा युक्तिसरणि का प्रयोग न कर लौकिक न्याय से ही अपने कथन की पुष्टि तथा प्रतिपक्षी के मत का निरसन कर देते थे।

एक ऐसा ही प्रसंग यहाँ भी उपस्थित हुआ। निकटवर्ती खंदोई ग्रामवासी छत्रसिंह जाट नवीन वेदान्त का समर्थक था। जब वह दार्शनिक चर्चा में दयानन्द को नहीं जीत सका, तो कहने लगा—"महाराज, आप जो चाहे सो कहें, परन्तु यह संसार तो मिथ्या ही है।" स्वामीजी ने उस समय तो उसके कथन का कोई प्रतिवाद नहीं किया, किन्तु जब वह वहां से

जाने लगा, तो उन्होंने आगे बढ़ कर चौधरी छत्रसिंह के गाल पर एक हल्की सी चपत लगा दी। इस पर वेदान्ती जाट को क्रोध आ गया और वह रोषपूर्वक बोला—"महाराज, सिद्धान्त विषयक मतभेद होने का यह तो अर्थ नहीं कि आप जैसा महात्मा पुरुष मुझे मार बैठे।" उसके इस कथन पर स्वामीजी ने मुस्कराते हुए कहा—"चौधरीजी, जब यह संसार ही मिथ्या है और एक ब्रह्म के अतिरिक्त कोई अन्य सत्ता ही नहीं है, तो कौन किसको मारता है और कौन किस की चोट से आहत होता है? यह तो सारा माया का खेल मात्र है।" अब वेदान्ती महाशय की आंखें खुलीं और उनका यह भ्रम जाता रहा कि संसार के वास्तविक क्रियाकलाप भी मिथ्या ही हैं। संसार की यथार्थता का बोध शास्त्रीय युक्ति प्रत्युक्ति तथा तर्क जाल से चाहे न हुआ हो, परन्तु एक साधारण लौकिक अनुभव ने ही जगन्मिथ्यावाद का पर्दाफाश कर दिया।

दयानन्द का सारा बल धर्म, अध्यात्म तथा मोक्ष जैसे भारी भरकम एवं शास्त्रीय दृष्टि से दुरूह व्याख्या रखने वाले पदों का सरल, लोकोपयोगी तथा व्यावहारिक अर्थ करने पर था। वे चाहते थे कि धर्माचरण, अध्यात्मनिष्ठा तथा मोक्ष कामना को जीवन का लक्ष्य बनाने वाले व्यक्ति सर्वप्रथम अपने लौकिक आचार को शुद्ध रक्खें, सांसारिक कर्त्तव्यों के प्रति सतर्क रहें तथा अपने समस्त क्रियाकलापों का लक्ष्य बहुजनहित एवं लोकमंगल की सिद्धि को मानें। उनकी दृष्टि में धर्म कोई ऐसी वस्तु या पदार्थ नहीं था जिसकी सिद्धि के लिये अनेक प्रकार की अलौकिक तथा दिव्य साधनाओं की आवश्यकता रहती हो, अपितु अपने दैनन्दिन व्यवहारों में भी ईमानदारी, सत्याचरण तथा लोकहित को प्रधानता देकर धर्म का पालन किया जा सकता है। तभी तो जब एक धुनिया उनकी सेवा में उपस्थित होकर स्वकल्याण का मार्ग पूछने लगा तो उनका सहज उत्तर था—"भाई, ओम् का जप करो, अपने लौकिक व्यवहार में सच्चे रहो, जितनी रुई तुम्हें धुनने के लिये दी जावे, उतनी ही धुन कर लौटा दो। यही तुम्हारे लिये श्रेयमार्ग है।"

चांदोख (जिला बुलन्दशहर) निवासी ठाकुर महावीरसिंह ने जब धर्म के लक्षण पूछे तो स्वामीजी ने मनुस्मृति प्रतिपादित दश लक्षणों का उल्लेख कर दिया और अधर्म के लक्षण जानने के लिये भारतीय दण्ड संहिता की विभिन्न धाराओं को पढ़ने के लिये कहा। बात सीधी सी थी। जिन अपराधों को हमारी विधि संहिता में दण्डनीय माना है, वे ही तो अधर्म कृत्य कहे जा सकते हैं।

इस समय तक उनके धार्मिक विचार और मान्यताएं व्यवस्थित और स्पष्टतर होती जा रही थीं। दार्शनिक विचारों की दृष्टि से वे द्वैतवादी थे—जीव ब्रह्म के पार्थक्य को मानते थे। सभी पुराणों के प्रति उनकी आस्था समाप्त हो चुकी थी। इनके स्थान पर वे मनुस्मृति, वाल्मीकीय रामायण, महाभारत आदि आर्ष ग्रन्थों के पठन पाठन के समर्थक थे। मृत पितरों के श्राद्ध तर्पण की अपेक्षा जीवित माता पिता तथा अन्य वयोवृद्ध व्यक्तियों की सेवा सत्कार को ही वे यथार्थ में पितृ यज्ञ की संज्ञा प्रदान करते थे। फलित ज्योतिष तथा सामुद्रिक विद्या (हस्तरेखा विज्ञान) आदि को वे नितान्त अवैज्ञानिक तथा मिथ्या मानते थे।

एक मनुष्य ने जब उन्हें अपना हाथ दिखाया तो बोले—'इसमें अस्थि, रुधिर और चर्म है, और कुछ नहीं।' जन्म पत्र का प्रसंग उठने पर कहा—"जन्मपत्रं किमर्थं, कर्मपत्रम् श्रेष्ठम्।'

मार्गशीर्ष १९२४ वि. में स्वामी दयानन्द रामघाट आये और गंगा के किनारे पद्मासनस्थ हो गये। क्षेमकरण नामक एक ब्रह्मचारी उन्हें गंगा तट पर ध्यानावस्थित देखता है और संन्यासी की इस प्रशान्त मूर्ति से प्रभावित होकर उससे भोजन के लिये पूछता है। महात्मा का तो यह व्रत था कि भिक्षा के लिये किसी से याचना नहीं करना। इसी व्यक्ति के आग्रह पर वे गंगा तट से उठ कर बनखण्डीश्वर महादेव के मंदिर में चले जाते हैं। यहां उन्होंने दो व्यक्तियों को संस्कृत में वार्तालाप करते देखा तो स्वयं भी उसमें सम्मिलित हो गये। अपरिचित संन्यासी के मुख से धारा प्रवाह, मधुर संस्कृत सम्भाषण सुन कर ब्रह्मचारी क्षेमकरण चकित रह जाता है। प्रातःकाल जब अन्य लोगों को भी ज्ञात हुआ कि यह संन्यासी कोई साधारण कोटि का साधु नहीं है, अपितु मूर्तिपूजा, अवतार सिद्धान्त, तीर्थ, पुराण आदि पौराणिक मत में रूढ़ धारणाओं के प्रबल विरोधी दयानन्द हैं, तो उनका आश्चर्यान्वित होना स्वाभाविक ही था।

उन दिनों रामघाट में कृष्णानन्द नामक एक अन्य संस्कृतज्ञ संन्यासी रहते थे। बस्ती के पुराण मतावलम्बी लोगों ने उनके समीप जाकर दयानन्द से शास्त्रार्थ करने की प्रार्थना की। पहले तो स्वामी कृष्णानन्द ने इन्कार कर दिया, परन्तु लोगों के अत्यधिक आग्रह पर वे तैयार हो गये। शास्त्रार्थ प्रारम्भ होने को ही था कि एक व्यक्ति स्वामी कृष्णानन्द से पूछने लगा—'यदि आपकी आज्ञा हो तो महादेव पर जल चढ़ा आऊं।' इस पर प्रत्युत्पन्नमति दयानन्द बोल पड़े—'महादेव यहां कहां—महादेवः कैलासे वर्तते।' विपक्षी संन्यासी को पूछना पड़ा—'क्या महादेव यहां नहीं हैं? स्वामीजी का सहज उत्तर था—'सर्वव्यापक, चराचर जगत् में विद्यमान महादेव तो मंदिर की ही भांति यहां भी विद्यमान हैं, अतः किसी स्थान विशेष पर जाकर ही उनकी पूजा अर्चा करना व्यर्थ है।'

अब स्वामी कृष्णानन्द ने अवतारवाद की स्थापनार्थ गीता के प्रसिद्ध श्लोक 'यदा यदा हि धर्मस्य' को पढ़ा, तो उत्तर में स्वामी दयानन्द ने स्पष्ट कर दिया कि परमेश्वर निराकार है, वह मनुष्यवत् देह धारण नहीं करता। स्वामीजी की प्रौढ़तापूर्ण तर्कणा के आगे कृष्णानन्द निरुत्तर सा होकर बारबार श्रोताओं के समक्ष उपर्युक्त श्लोक का पुनः पुनः पाठ करता रहा। इस पर दयानन्द ने उन्हें टोककर कहा—'आप इन लोगों से शास्त्रार्थ कर रहे हैं, या मुझसे? जो कुछ कहना हो मेरी ओर देख कर कहें।' इस पर तो कृष्णानन्द और भी अप्रतिभ हो गया और विक्षिप्त की भांति प्रकरण के बाहर जाकर 'गंधवती पृथ्वी, धूमवान् अग्निः' आदि न्यायशास्त्र की बातें करने लगा। स्वामीजी ने न्याय के इस प्रकरण को यह कह कर समाप्त कर दिया कि लक्षण का लक्षण नहीं होता। चूर्ण का चूर्ण क्या होगा। लोग हंस पड़े। प्रतिपक्षी को मौन साधना पड़ा। श्रोताओं पर स्वामीजी की विद्वत्ता, वाग्मिता तथा तर्क कौशल का अद्भुत प्रभाव पड़ा। जानकीदास नामक एक वैरागी जब इस शास्त्र विचार की समाप्ति पर परमहंस संन्यासी के प्रति कुछ दुर्वचन बोलने लगा तो कर्णवास निवासी पं. टीकाराम ने उसे टोकते हुए कहा कि परम विद्वान् स्वामीजी से शास्त्र चर्चा करना

तेरे वश की बात नहीं है। शास्त्रार्थ संग्राम में तुझे पराजित करने तो मैं ही काफी हूँ। इस पर वैरागी मौन हो गया।

स्वामीजी की अपूर्व तर्कशक्ति तथा शास्त्रों की पारगामिता का उस ब्रह्मचारी क्षेमकरण पर अद्‌भुत प्रभाव पड़ा। यह कट्टर मूर्तिपूजक ब्रह्मचारी विगत २७ वर्षों से विष्णु (शालिग्राम), शिव (नर्मदेश्वर), गणेश तथा बालमुकुन्द (कृष्ण) आदि की बीस सेर वजनी पाषाण प्रतिमाओं को अपने प्रवास काल में भी घोड़े पर ढोता तथा इनकी पूजा अर्चा में ही उसने अपने समस्त जीवन को समाप्त कर दिया था। स्वामी दयानन्द के मूर्तिपूजा प्रतिषेधक शास्त्रार्थ को सुन कर इस घोर जड़ पूजक को प्रतिमा पूजन से इतनी विरक्ति और वितृष्णा हुई कि उसने देव परिवारों को गंगा में प्रवाहित कर दिया और जड़ देवतार्चन से विरत हो गया।

संस्मरण संग्रहकर्ताओं ने दयानन्द के जीवनी लेखकों को बताया था कि इन दिनों स्वामी महाराज भोजन के पश्चात् तुलसी के पत्ते चबा लिया करते थे। मुख शुद्धि के लिये ही वे ऐसा करते थे। तुलसी के पौधे को घर में लगाना वातावरण की शुद्धि के लिये उपयोगी समझते थे। एक गुंसाई स्वामी सेवा में नित्य तुलसी पत्र लाकर अर्पित करता और विनोद भाव से कहता—'महाराज हमारे तो आप ही शालिग्राम हैं।' स्वामीजी का एक नाम 'कोलाहल स्वामी' भी पड़ गया था, क्योंकि वार्तालाप के प्रसंग में जब अनेक लोग एक साथ बोल पड़ते, तो उनका निवारण करते हुए अकसर वे कह देते—'मनुष्याणां कोलाहलः।' कोलाहल शब्द का पुनः पुनः प्रयोग ही इस नामकरण का कारण था।

मार्गशीर्ष मास में ही वे रामघाट से चल कर बेलौन (जिला बुलन्दशहर) आ गये। खेरा नामक एक स्थान पर पीपल वृक्ष के नीचे निवास किया। यहां भी गायत्री जप के उपदेश का कार्य यथावत् चलता रहा। गायत्री मंत्र से अनभिज्ञ लोगों को न केवल मंत्र का पाठ ही लिख कर देते, साथ ही उसके नीचे १००० का अंक भी लिख देते, जिसका अर्थ होता कि इस मंत्र का सहस्र बार पाठ अभीष्ट है। अवतारवाद का प्रत्यक्ष खण्डन करते हुए राम, कृष्ण आदि को आर्यावर्त का प्रतापी राजपुरुष बताते। रासलीला और रामलीला से उन्हें घोर घृणा थी। राम और कृष्ण के जीवनक्रम को उपहासास्पद तथा बीभत्स एवं अश्लील रूप में प्रस्तुत करने वाली ये लीलायें दयानन्द जैसे परिकृष्त चरित्र तथा आचरण के उच्चतम मानदण्डों को स्वीकार करने वाले महापुरुष के लिये सर्वथा हेय एवं लज्जास्पद ही थीं। वैरागी साधुओं की 'दण्डवत्' अभिधेय नमस्कार प्रणाली को भी वे नवीन तथा अनाचरणीय मानते थे। जब एक दिन एक व्यक्ति ने उन्हें इसी अभिवादन से सम्बोधित किया, तो वे उपहास के भाव से बोल पड़े—'दण्डवत् तुम्ही होवो।' यहां उनका निवास मात्र ३-४ दिन का ही रहा। पश्चात् वे मार्गशीर्ष मास के अन्त में पुनः कर्णवास चले गये।

इसी नगर में अपने पूर्व निवास काल में दयानन्द ने पं. अम्बादत्त व्यास से शास्त्रार्थ कर उसे पराजित किया था। उनके पराजय की पीड़ा को पौराणिक समुदाय ने अत्यन्त तीव्रता से अनुभव किया। विशेषरूप से भागवती पं. भगवानदास चाहते थे कि स्वामीजी का मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ किसी विख्यात विद्वान् से कराया जाय। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने

अनूपशहर वासी पं. हीरावल्लभ शास्त्री से सम्पर्क किया और उसे स्वामी महाराज से शास्त्रार्थ के लिये तैयार कर लिया। पौष शुक्ला दशमी १९२४ वि. को हीरावल्लभ कर्णवास में आ गये। निकटवर्ती ग्रामों से लगभग चार हजार पण्डित एवं विद्वान् ब्राह्मण भी शास्त्रार्थ देखने के लिये एकत्रित हुए। इस समस्त आयोजन का व्यय ठा. मोहनसिंह ने वहन किया। पं. हीरावल्लभ घोर मूर्तिपूजक था। उसने शास्त्रार्थ स्थल पर आते ही एक सुन्दर सिंहासन पर गोपालजी, शालिग्राम, बालमुकुन्द, गोमती चक्र आदि की प्रतिमाओं को स्थापित किया और प्रतिज्ञापूर्वक घोषणा की कि वे दयानन्द को शास्त्रार्थ में परास्त कर उनके हाथों से ही देव प्रतिमाओं को तुलसीदल तथा अन्य नैवेद्य चढ़वायेंगे। शास्त्रार्थ के दिनों में भी उनका नित्य प्रति का नियम यह रहा कि वे स्नानोपरान्त पूजनादि के पात्र ठाकुर प्रतिमाओं के समक्ष रख कर शंख ध्वनि करते, देवताओं की आरती उतारते तथा देर तक स्तोत्र पाठ करते। पुनः उसी सिंहासन को सिर पर उठा कर स्वामीजी के निकट आते और शास्त्रार्थ में प्रवृत्त होते।

पं. हीरावल्लभ से हुआ यह शास्त्रार्थ अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। पं. हीरावल्लभ उच्चकोटि का शास्त्रज्ञ विद्वान् था। शास्त्रार्थ निरन्तर ६ दिन तक चला। कविकुमार शेरसिंह वर्मा ने इस शास्त्र विचार का वस्तुनिष्ठ विवरण स्वलिखित पाण्डुलिपि में प्रस्तुत किया था। उन्होंने प्रत्येक दिन के विचार का पृथक्शः ब्यौरा दिया है। प्रथम दिन के वृत्तान्त को कविकुमार के शब्दों में ही लिखना उचित है—"हीरावल्लभ ने प्रथम ही मूर्तिपूजा और भागवत पर एक व्याख्यान संस्कृत में दिया जिसे तीन घण्टे तक कहते रहे। समस्त मनुष्य स्वामीजी को चुपचाप सुनते हुए जान अपना अपना जनरव करते रहे। बहुतों के मुख से तो यह शब्द सुनने को आये—मुंडा (संन्यासी) अब कुछ नहीं बोलता। आज इसका गुरु मिला है। जो विद्वान् समझते थे, चुपकी लगाए मग्न मन, धाराप्रवाह हीरावल्लभ जी की संस्कृत वक्तृता की महिमा गाने लगे। ग्यारह बजे स्वामीजी ने बड़े गम्भीर स्वर से 'विश्वानि देवेति' मंत्र का उच्चारण किया। बड़े मधुर उच्चारण से संस्कृत बोलना प्रारम्भ किया। बीस मिनिट में उनके प्रश्नों का सविस्तार उत्तर देकर मूर्तिपूजा पर दस आक्षेप (कर) भागवत को कपोल कल्पित तथा बोपदेव प्रणीत सिद्ध किया।"[२५]

पं. हीरावल्लभ ने स्वामीजी के आक्षेपों का उत्तर भी संस्कृत में दिया। अब तक मध्याह्न का एक बज चुका था। पं. हीरावलल्भ ने सभा में उपस्थित लोगों से कहा कि स्वामीजी तो निरुत्तर होने वाले ही हैं, अतः थोड़ी देर ठहर कर उनका पक्ष भी सुन लेना चाहिए। अब दयानन्द के बोलने की बारी आई। उन्होंने दस मिनट में ही पं. हीरावल्लभ की स्थापनाओं का खण्डन कर दिया। अब तक का सारा विचार संस्कृत में ही हुआ था। अतः उपस्थित जनों के आग्रह पर पं. हीरावल्लभ ने वादी और प्रतिवादी पक्ष की बातों का भाषानुवाद कर सुनाया। उन्होंने यह भी कहा कि आज का विचार प्रतिमा, मूर्ति, भागवत आदि शब्दों की व्याकरणमूलक सिद्धि से ही सम्बन्धित था, जिससे स्वामीजी की भी प्रायः सहमति ही है। इस पर स्वामीजी ने स्पष्ट कर दिया कि शब्दार्थ से ही प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। मूर्तिपूजा को वेदोक्त सिद्ध करना होगा, तथा भागवत का व्यासोक्त होना भी अभी साध्य कोटि में ही है। यह ग्रन्थ अनार्ष और अश्लील होने से अप्रामाणिक है। इसके पश्चात् प्रथम दिन की सभा समाप्त हुई।

द्वितीय दिन की कार्यवाही मध्याह्नोत्तर प्रारम्भ हुई। प्रातःकाल पं. हीरावल्लभ के शिविर में आगन्तुक ब्राह्मणों का पारस्परिक विचार विमर्श चलता रहा। इधर प्रातः दस बजे तक स्वामी दयानन्द भी अपने निकट आये लोगों को नानाविध उपदेश देते रहे। तीन बजे पं. हीरावल्लभ आये और पुनः धाराप्रवाह संस्कृत में वार्तालाप आरम्भ हुआ। स्वामीजी ने दो बार अपने पक्ष को प्रस्तुत किया। उन्होंने अत्यन्त संयत और सौम्य भाव से अपने कथन का उपसंहार करते हुए प्रतिद्वन्द्वी पण्डित से कहा—"यह धर्म विचार है। आज आप हठ छोड़ कर वार्ता करें। आप में पहले सा भाव, ओज नहीं पाया जाता। आप समस्त विद्वन्मण्डली के प्रतिनिधि हैं। आप पर सत्यासत्य के विचार में इस समय समस्त जन समुदाय का पूर्ण विश्वास है। आपको शाखान्तर में प्रकरण छोड़ कर जाना उचित नहीं है।"[२६] हीरावल्लभ ने अभिमानपूर्वक उत्तर में कहा कि प्रातःकाल होने दीजिये, आपसे पार्थिव पूजन करा के छोड़ूंगा। इस पर स्वामी दयानन्द ने अट्टहास करते हुए कहा कि यह तो सब प्रकट हो जायगा। जाने आप मुझसे पाषाण पूजन करायेंगे या स्वयं इस व्यावृत्ति से छुटकारा पायेंगे। परन्तु प्रकरण का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। द्वितीय दिन का विचार यहीं समाप्त हो गया। ठाकुर प्रतिमाओं को भोग लगा कर आगन्तुकों को हलुआ पूरी खिलाई गई।

तृतीय दिन के शास्त्रार्थ का प्रारम्भ पं. हीरावल्लभ ने महाभारत के एक आख्यान को सुना कर किया जिसमें भील बालक एकलव्य के गुरुवर द्रोणाचार्य की मूर्ति के समक्ष किये गये शस्त्राभ्यास द्वारा प्राप्त कृतकार्यता का उल्लेख था। इस पर स्वामी महाराज ने कहा—"भावना तीन प्रकार की होती है—सत्य भावना, मिथ्या भावना और दुर्भावना। सत्य भावना का उदाहरण अग्नि के दाह, प्रकाश, गति तथा पदार्थों के सूक्ष्म करने आदि गुणों का हैं। मिथ्या भावना—अग्नि में स्नान, हस्तप्रक्षालन आदि की है जो अग्नि के गुण और लक्षण के विरुद्ध, स्वभाव से सिद्ध न होने से लोक मान्य के योग्य नहीं ठहरती। दुर्भावना का उदाहरण बाजीगर का तमाशा है, जिसमें अग्नि के खेल दिखा कर अनजान लोगों को ठगने और पैसा कमाने की विद्या आती है।" पुनः उन्होंने बलपूर्वक कहा कि भील बालक को जो शस्त्र विद्या प्राप्त हुई वह निरन्तर किये गये अभ्यास का फल था, न कि गुरु की मूर्ति का कृपा प्रसाद। अपने कथन को समाप्त करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि महाभारत के इस आख्यान में वर्णित घटना को न तो शास्त्राज्ञा या वेदाज्ञा ही माना जा सकता है। पुनः व्यंग्यपूर्वक कहा कि क्या प्रतिमा पूजन का आचार्य आप भील को मानते हैं? बनवासी मूर्ख लोगों के ढकोसलों को प्रमाण कोटि में कैसे लिया जा सकता है? ऐसे हास्य विनोद (स्वामीजी के अनुसार प्रकरण के विरुद्ध अनर्गल कथन) शास्त्रार्थ में व्यर्थ और अनुपकारी हैं।[२७]

इसके पश्चात् पं. हीरावल्लभ ने मूर्तियों की प्राण प्रतिष्ठा की बात चलाई और एतद् विषयक प्रमाण दिये। स्वामी जी ने अपने सिद्धान्तपक्ष को स्थापित करते हुए कहा—"जिसको वेद ने ओंकारादि नामों से पुकारा है, जिसे 'न तस्य प्रतिमाऽस्ति' कह कर वर्णन किया है, जिसमें प्रकृति का लेश मात्र भी नहीं है, जिसे शास्त्रकारों ने निर्लेप कहा, उसमें प्राणादि विकार क्यों कर हो सकते हैं? अथवा उसे प्राणों की आवश्यकता ही क्या है? संसार को तो उसने अपनी अकिंचन (स्वल्प) सामर्थ्य से बनाया है, उसकी आप प्राण प्रतिष्ठा करते

हुए प्राणदान देते हैं ? क्या यह आश्चर्य और अविद्या नहीं है ?"[२८] उपर्युक्त विचार के पश्चात् कुछ अन्य लोगों ने भी विभिन्न शकायें उपस्थित कीं, जिनका समाधान स्वामी जी ने भली प्रकार किया।

चतुर्थ दिन औपचारिक रीति से शास्त्रार्थ नहीं हुआ। समीपवर्ती स्थानों—अनूपशहर तथा दानपुर से प्रामाणिक शास्त्र ग्रन्थ मंगाये गये। स्वामी जी ने कहा कि पं. हीरावल्लभ ही इन ग्रन्थों को देख कर अपना पक्ष रक्खें। उन्हें स्वयं पुस्तकों की अपेक्षा नहीं है। सायंकाल के समय विभिन्न वर्गों के लोगों ने स्वामी सेवा में उपस्थित होकर शंकासमाधान किया।

शास्त्रार्थ का पांचवाँ दिन। आज पौष की अमावस्या है। समीपवर्ती ग्रामों से सहस्रों की संख्या में ब्राह्मण, पण्डित और दर्शक एकत्र हो गये। पर्व स्नान की दृष्टि से भी अनेक लोग आ गये थे। शेरसिंह वर्मा के अनुसार कोई चार हजार लोग उपस्थित थे। नौ बजे प्रातः हीरावल्लभ पण्डित मण्डली से घिरे, पुस्तकों सहित आये। बसेन्दू वृक्ष के नीचे ठाकुर जी का सिंहासन रख कर सभा में उपस्थित जनसमुदाय को सम्बोधित कर बोले "आज स्वामी जी महाराज को शालिग्राम पर तुलसी चढ़ाना तथा बालमुकुन्द को भी हाथ से भोग लगाना पड़ेगा। आप लोग उनके हाथ का प्रसाद लेकर ही स्वगृहों को लौटें।" यह सुनकर स्वामी जी ने हंसते हुए कहा—"दूसरा दृश्य भी ऐसा ही है जो हीरावल्लभजी सत्य को ग्रहण करने पर करेंगे और यह सब पाषाण शिला गंगा में लोप को प्राप्त होंगे। उसे भी देखते जाना। समय आ गया है। यह पाखण्ड कल संध्या तक समाप्त हो जायगा। आप समस्त महानुभावों को अवश्य देखना चाहिए।"[२९] इसके पश्चात् प्रमाण ग्रन्थों पर चर्चा हुई। स्वामी जी ने अपनी मान्यता को स्पष्ट करते हुए कहा कि वेद स्वतः प्रमाण और इतर ग्रन्थों के आप्त वचन वेदानुकूल होने पर परतः प्रमाण माने जायेंगे। वाल्मीकीय रामायण और महाभारत के प्रक्षिप्त अंश प्रामाण्य कोटि में नहीं आयेंगे। संध्या पर्यन्त प्रामाण्याप्रामाण्य ग्रन्थों का ही विचार चलता रहा। पश्चात् निश्चय हुआ कि चारों वेद, चारों उपवेद, छः शास्त्र, प्रक्षिप्त भाग छोड़ कर रामायण, महाभारत तथा वेदानुकूल मनुस्मृति का ही प्रामाण्य स्वीकार किया जायगा। इसके बाद सभा समाप्त हुई। निश्चय हुआ कि कल का दिन शास्त्रार्थ का अन्तिम दिन होगा और उसमें ही अन्तिम निर्णय हो जायगा।

और इसके पश्चात् आई पौष के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा। शास्त्रार्थ के अन्तिम दिन का आंखों देखा हाल कविकुमार शेरसिंह वर्मा ने जिस प्रकार काव्यनिष्ठ एवं तथ्य प्रधान शैली में वर्णित किया है, उसे उनके शब्दों में ही व्यक्त करना उचित है—"शीत विशेष पड़ रहा है। बदली छाई हुई है। शीतल वायु चल रहा है। दांत कड़ाकड़ जाड़े से बोल रहे हैं। नगर निवासी तथा प्रवासी सूर्योदय से पूर्व ही गंगा स्नानार्थ आ रहे हैं। जगह-जगह आज जो कुछ होने वाला है उसी की चर्चा हो रही है। कोई कहता है स्वामी जी का पक्ष प्रबल है, कोई कहता है पं० हीरावल्लभ बड़े विद्वान् हैं। कहीं दस, कहीं बीस, कहीं कहीं न्यूनाधिक मनुष्य यही चर्चा आपस में कर रहे हैं। थोड़ी थोड़ी देर में वही 'जय हो जय हो' का जयकार हो उठता है। ....बहुत से आदमी हीरावल्लभजी के स्थान पर इकट्ठा हो गये थे। अनेक लोग ग्राम से चले आते थे। ....हीरावल्लभजी ने जो निकट ही जमुनादास की मढ़ी पर ठहरे थे,

ठाकुर जी की आरती का शंख बजाया, झालर आदि बाजे बजे, ठाकुर जी की पूजा हुई। सब लोग उधर ही को चल दिये। वहां पर चार पांच सौ के लगभग मनुष्यों का जमाव हो गया। थोड़ी देर ठहर कर सब के सब पं० हीरावल्लभजी को साथ लिए हुए स्वामीजी की कुटिया पर आ विराजमान हुए। जान पड़ा कि स्वामीजी अभी भ्रमण करके नहीं आये। यह देख बहुधा लोगों में चर्चा होने लगी—स्वामीजी चले गये, कदाचित अब न आवें।

"इतने में बादल हट गया। सूर्य निकल आया। साढ़े आठ बजे का समय हो गया। पूर्व दिशा से समस्त देह पर गंगा मृत्तिका लेपन किये बड़े वेग से पृथ्वी को दबाते हुए के समान महा प्रकाशवान, एक तेजपुञ्ज के समान, दोनों हाथों की मुट्ठी बांधे, अर्थात् वज्र मुद्रा किये, बड़े बड़े डग धरते हुए, दोनों हाथ हाथी की सूंड के समान हिलाते हुए स्वामीजी आते दीख पड़े। कुटिया के निकट पहुंचते ही 'जय हो जय हो' का शब्द गुंजायमान हो उठा। स्वामीजी मुस्कराते हुए उसी ऊंची ढेरी पर, कुछ वक्षस्थल को झुकाये, पैर गाड़ते, धीरे धीरे चढ़ते, उसी वसेन्दू वृक्ष के नीचे, जहां उनके निमित्त प्रथम से ही चटाई बिछी हुई थी, आन विराजमान हुए। माथे तथा वक्षस्थल को मलने लगे। मलने के कारण तथा परिभ्रमण के कारण पसीना झलक आया, श्वास भी तेज चल रहा था। फिर पद्मासन बैठ, बड़ी प्रेम-दृष्टि से सब की ओर निहारा। पं० हीरावल्लभ से संस्कृत में कहा—"आज आपके शास्त्रार्थ का अन्तिम दिवस है। जो कुछ कहो, समझ कर प्रमाण सहित, सिद्धान्त पक्ष पर ही हो, प्रतिमा पूजन विषय है, जिसको वेदों के प्रमाण से सिद्ध करना, पूर्व पक्ष आपका; प्रतिमा पूजन को वेद विरुद्ध सिद्ध करना, उत्तर पक्ष मेरा है।"

स्वामीजी के इस कथन को सुनकर पं० हीरावल्लभ पाणिनि के 'सर्वादीनि सर्वनामानि' इस सूत्र की व्याख्या करते हुए धाराप्रवाह संस्कृत बोलने लगे।[३०] शेरसिंह वर्मा के अनुसार उस समय अनुमानतः अढ़ाई हजार के करीब लोग उपस्थित थे। पं० हीरावल्लभ का वक्तव्य समाप्त होने पर स्वामी दयानन्द ने पुनः अपनी बात कहनी आरम्भ की। उनके व्याख्यान कौशल तथा वक्तृत्व शैली के सम्बन्ध में प्रत्यक्षदर्शी शेरसिंह वर्मा ने लिखा है—"आज का वक्तृत्व और मधुरालाप तथा शब्दप्रयोग स्वामीजी का नवीन प्रकार का, विलक्षण तथा अपूर्व दीख पड़ा। सब चकित हो गये। वक्तृता करते समय स्वामीजी का स्वरूप प्रकाश कुछ अद्भुत ही दीख पड़ा। सभी सभास्थ महानुभाव तथा साधारण लोग स्तम्भित से रह गये। मुझ लेखक (शेरसिंह वर्मा) का तो कलेजा कम्पायमान हो गया। ....इतने में स्वामीजी व्याख्यान देकर बोले 'शीघ्रं वद, विलम्बं मा कुरु'। यह कह दीर्घ श्वास छोड़ते हुए मौन हो गये।"[३१]

अब पं० हीरावल्लभ के बोलने की बारी आई। उसने संकोचपूर्वक स्वामीजी को सम्बोधन कर कहा—यह आपकी कठिन संस्कृत वैदिक शैली की है, सरल भाषण होना चाहिए। यह सुनकर स्वामी दयानन्द पुनः अट्टहास पूर्वक अपनी बात कहने लगे। लगभग २० मिनट तक सरल संस्कृत में बोलकर अपना अभिप्राय समझाते हुए बड़ी मधुरता से हीरावल्लभ से हंसते हुए बोले—आपने समझा ? समझा ? समझा ? उत्तर में हीरावल्लभ ने हाथ जोड़कर नम्रता पूर्वक पुनः संस्कृत में बोलना प्रारम्भ किया। स्वामी महाराज हंसते हुए 'अस्तु-अस्तु' कहते जाते थे।[३२]

पण्डितजी के कथन के समाप्त होने पर स्वामीजी ने उपसंहार रूप में कुछ वक्तव्य दिया। शास्त्रार्थ समाप्त हुआ। लोग आपस में कानाफूसी करने लगे। जमाव धीरे-धीरे बढ़ने लगा। अब पं० हीरावल्लभ ने समाधानपूर्ण भाषा में उपस्थित जनसमाज को सम्बोधित कर कहा—"भाइयो, स्वामीजी पूर्ण विद्वान्, तपस्वी, त्यागी ब्राह्मण हैं। जब कभी जो कुछ किया है, सब ब्राह्मण ने ही किया है। आज धर्म दिवाकर उदय हो गया। अब निशाचरी उलूकादि का प्राबल्य न रहा, और न रहेगा। अब सबको स्वामीजी से सहमत होकर धर्म और सत्य की शरण लेने में अपना उद्धार समझना चाहिए। स्वामीजी जो कुछ कहते हैं वह वेदोक्त है, सब सत्य तथा निर्भ्रान्त है, मेरा तो निश्चय हो गया।" इतना कह कर वे उठे। ठाकुर मूर्तियों के सिंहासन को लेकर गंगा के जल में प्रवाहित कर दिया।[३३]

भारत के धार्मिक इतिहास में यह घटना विशेष महत्त्व की है। शास्त्रीय विचार के आधार पर ही आज यह निश्चय हो गया कि मूर्तिपूजा का शताब्दियों से प्रचलित विधान वेदानुमोदित नहीं है, अतः इसे धार्मिक कर्त्तव्य नहीं माना जा सकता। पं० हीरावल्लभ के द्वारा प्रस्तुत किये गये शास्त्रार्थ सम्बन्धी निष्कर्ष की विभिन्न प्रतिक्रियायें हुईं। कोई कहने लगा स्वामीजी ने पण्डितजी को अपनी ओर मिला लिया है। किसी ने कहा है कि हीरावल्लभ स्वामीजी के बहकावे में आ गये। कई अल्पमति लोग तो यहां तक कहने लगे कि दयानन्द लाट पादरी है, जो सन्यासी के वेश में भारतवासियों को हिन्दुओं के मूर्तिपूजा आदि परम्परा से प्रचलित धार्मिक कृत्यों से विमुख करने के लिए आया है। जितने मुंह उतनी बातें। परन्तु सत्य के प्रति निष्ठा रखने वाले लोगों ने स्वीकार किया कि पाखण्ड की कलई खुल गई है। आज से पाषाणपूजा देश से उठ गई। कइयों ने स्वामीजी के विचारों से प्रभावित होकर अपनी कण्ठियाँ तोड़कर फेंक दी, अन्यों ने अपने साम्प्रदायिक तिलक पोंछ डाले।

स्वामी दयानन्द के लिए भी यह पहला ही अनुभव था जिसमें कि किसी पुराण-मतावलम्बी ने उनके विचारों की सत्यता स्वीकार करने में इतनी तत्परता दिखाई, यहां तक कि अब तक के अपने संचित मत विश्वासों को एक ही झटके में तोड़ने का साहस भी दिखाया। देवप्रतिमाओं का गंगा में विसर्जन और वह भी शास्त्रार्थ में पराजित होने के पश्चात्। भारत की धरती पर यह एक अद्भुत और अविश्वसनीय सी घटना थी। अधिकांश लोग चले गये थे। अब पं० हीरावल्लभ स्वामीजी के निकट आकर बैठ गये। सत्य को ग्रहण करने से उनके मुख पर प्रफुल्लता तथा एक अपूर्व दीप्ति थी। स्वामीजी ने भी पं० हीरावल्लभ को सम्मान देते हुए जलदगम्भीर स्वर में घोषणा की—"भारतवर्ष में आप सबसे प्रथम श्रेणी के महानुभाव हैं जो सत्य के ग्रहण करने और असत्य के त्याग में निश्चयपूर्वक अग्रसर हुए हैं। आज से मैं आपको 'धर्म संस्थापकाचार्य' कह कर सम्बोधित करूंगा।"[३४] स्वामीजी महाराज की इस उदार वाणी को सुनकर उपस्थितजनों ने 'धर्म की जय हो' का सम्मिलित घोष किया। लगभग १ बजे स्वामीजी अपने आसन से यह कहते हुये उठ खड़े हुए—'ईश्वर सदा तेरी जय हो।'

कर्णवास में हुए इस शास्त्रार्थ की धूम चारों ओर मच गई। क्षत्रियगण इस बात से आश्वस्त थे कि अब उनके वैदिक संस्कारों पर कोई आपत्ति नहीं करेगा। इसके लिए वे

स्वगुरु पं० टीकाराम तथा स्वामी दयानन्द का सम्मिलित रूप से आभार स्वीकार करने लगे। शास्त्रार्थ के परिणाम को सुनकर सैकड़ों मूर्तिपूजकों ने देवप्रतिमाओं को गंगा में प्रवाहित कर दिया।

कर्णवास के निकटवर्ती ग्रामों के लोगों की स्वामीजी के प्रति श्रद्धा अनुदिन बढ़ने लगी। वे उनके निकट आकर यज्ञोपवीत ग्रहण करते। एक दिन शास्त्रीय विधि से यज्ञवेदी की रचना की गई और लगभग ४० व्यक्तियों ने यज्ञ के उपरान्त उपनयन संस्कार कराया। जो लोग किसी कारणवश मुसलमानी शासन में स्वधर्म का परित्याग कर इस्लाम की दीक्षा ले चुके थे, उन्हें भी अपने परम्परागत धर्म में पुनः लौटा लाने का विचार शताब्दियों के पश्चात् दयानन्द के ही मस्तिष्क में आया था। यद्यपि स्मृति साहित्य में किसी कारणवश आर्य जीवन पद्धति से बहिष्कृत हुए लोगों के पुनः संस्कारपूर्वक वृहत्तर आर्यसमाज में प्रविष्ट होने के अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं तथा इतिहास में भी ऐसी घटनाओं का उल्लेख मिलता है, जिनसे जाना जाता है कि ऐसे धर्मच्युत हुए लोगों को समाज में पुनः स्वीकार कर लिया जाता था, तथापि यह तो मानना होगा कि मध्यकालीन युग में जातिप्रथा के सुदृढ़ हो जाने के पश्चात् पतितों को शुद्ध कर लेने की यह प्रथा लुप्त हो चुकी थी। धर्मपुर निवासी एक नौमुस्लिम के यह पूछने पर कि क्या हम भी किसी प्रकार शुद्ध होकर पुनः अपने पूर्वजों के धर्म में प्रविष्ट हो सकते हैं, स्वामी दयानन्द ने यही उत्तर दिया कि यदि वह धर्म का आचरण करे, तो उसके शुद्ध होने में कोई कठिनाई नहीं है।

माघ अमावस्या १९२४ वि. को सूर्यग्रहण था। इस समय हजारों की संख्या में स्त्री-पुरुष पर्व स्नान के लिए कर्णवास स्थित गंगा तट पर एकत्र हुए। सामान्यतया ग्रहण के समय लोग भोजन नहीं करते। एक व्यक्ति ने स्वामीजी से जिज्ञासावश पूछा—'महाराज ग्रहण का सूतक कब तक मानना चाहिए और भोजन कब करना चाहिए?' स्वामीजी ने सहजभाव से उत्तर दिया—'सूतक कोई वस्तु नहीं, क्षुधा अनुभव हो, तभी भोजन कर लेना चाहिए।' दयानन्द ने यह भली भांति अनुभव किया था कि भारत में धर्म के नाम पर मनुष्य के साधारण क्रियाकलापों को भी किस प्रकार विधिनिषेधों की कठोर कारा में जकड़ दिया गया है। जहां साधारण व्यक्ति ही नहीं, बड़े बुद्धिमान तथा पण्डित व्यक्ति भी ऐसे प्रसंगों में अपनी तर्कशक्ति तथा युक्ति कौशल को तिलाञ्जलि देकर गतानुगतिकता का ही अनुसरण करते दीख पड़ते हैं, वहां दयानन्द का यत्न लोगों को अंधविश्वासों और मूढ़ धारणाओं से मुक्त कराने का रहा था।

गाङ्गेय तट पर विचरण करते हुए दयानन्द का यह धर्मप्रचार केवल पुरुष वर्ग तक ही सीमित नहीं था। वे नारी जाति के अभ्युत्थान के प्रबल पक्ष पोषक थे। कर्णवास निवासी ठाकुर गोपालसिंह की एक वृद्धा ताई हंसा ठकुरानी को उन्होंने ओंकारोपासना तथा गायत्री जप का उपदेश दिया। सम्भवतः शताब्दियों के पश्चात् भारत के धार्मिक रंगमंच पर दयानन्द ने ही प्रथम बार अवतीर्ण होकर धर्म तथा उपासना, परिवार एवं समाज—सभी क्षेत्रों में नारी को पुरुष के बराबर अधिकार प्रदान करने की बात कही। मध्यकालीन साधु सन्तों, दार्शनिकों और भक्तों ने तो नारी को आध्यात्मिक साधना के मार्ग में सदा बाधक ही समझा था तथा

उसकी कुत्सा एवं निंदा करने का कोई अवसर उन्होंने हाथ से नहीं जाने दिया। अद्वैतवाद का दार्शनिक घटाटोप खड़ा कर वास्तविक जगत को मिथ्या तथा स्वप्न के तुल्य घोषित करने वाले आचार्य शंकर स्वयं नारी जाति के प्रति कितने अनुदारता पूर्ण भाव रखते थे, इसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है।[३५] यह तो एक सर्वविदित तथ्य है कि परवर्ती युग के सन्तों, भक्तों तथा भाषा कवियों ने नारी जाति के प्रति अपना अनुदार दृष्टिकोण यत्र तत्र सर्वत्र प्रकट किया है। इस परिप्रेक्ष्य में जब हम स्वामी दयानन्द द्वारा नारी उत्थान के लिये किये जाने वाले कार्यों की समीक्षा करते हैं तो सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि न केवल धर्म एवं समाज, बल्कि राजनीति, अर्थनीति आदि क्षेत्रों में भी नारी को स्वाधीन देखने का स्वप्न उस युगपुरुष ने उस समय संजोया था, जब कि उनके अधिकांश समकालीन धर्म-संशोधक गण भी नारी विषयक प्रतिगामी मध्यकालीन विचारधारा से अपने को पृथक् नहीं कर सके थे।

यदा कदा दयानन्द के समक्ष एक प्रश्न रक्खा जाता। उच्च कोटि के वैराग्य तथा अवधूतावस्था को प्राप्त कर जगती तल पर स्वच्छन्द भाव से विचरण करने वाले संन्यासी के लिये क्या वह आवश्यक है कि वह खण्डन के बखेड़े में पड़े और क्या निश्रेयस कामी संन्यासी का इतर लोगों के दुखों और कष्टों के निवारण हेतु प्रयत्नशील होना सर्वथा आवश्यक है? किसी समय उनके प्रिय साथी स्वामी कैलासपर्वत ने भी उनसे यह प्रश्न पूछा था। समाधि सिद्ध कर योगमार्ग से परम तत्त्व को हस्तामलकवत् प्राप्त कर लेने वाले तुरीयाश्रमी दयानन्द लोकहित और जनकल्याण के इस पचड़े में क्यों पड़े हैं? क्या वे स्वयं की मुक्ति के लिये उत्सुक नहीं हैं? लोकमंगल के लिये निर्विकल्पक समाधि के आनन्द का भी तिरस्कार करने वाले दयानन्द का उत्तर स्पष्ट था—**मैं अपनी मुक्ति के लिये उत्सुक नहीं हूँ। मैं तो उस दिन को देखना चाहता हूँ जबकि त्रिताप सन्तप्त जनसमाज नाना क्लेशों और पीड़ाओं से मुक्त होकर श्रेयमार्ग का पथिक बनेगा।** पं. इन्द्रमणि ने भी स्वामीजी से यही बात पूछी थी। परमहंस पद प्राप्त दयानन्द के लिये धार्मिक कुरीतियों के खण्डन तथा सामाजिक कुप्रथाओं के उन्मूलन में माथा खपाने की क्या आवश्यकता है? स्वामीजी का विनम्र उत्तर था—**"मेरे लिये यह कार्य कोई टंटा बखेड़ा जैसा नहीं है। पूर्वज ऋषियों के ऋण से उऋण होने के लिये ही मैं यह कार्य कर रहा हूँ। स्वार्थी लोगों ने शताब्दियों से ऋषि संतानों को मिथ्याडम्बरों और रूढ़िजालों में फंसा रक्खा है। आर्यजाति के विलुप्त गौरव को पुनः प्राप्त कराना ही मेरे जीवन की एक-मात्र साधना है।"**

जिस महत् लक्ष्य की सिद्धि के लिये दयानन्द इस कार्य क्षेत्र में उतरे थे, वहां पदे पदे समाज के विभिन्न वर्गों के लोगों के सम्पर्क में आना आवश्यक ही था। कृषक, वणिक, पण्डित, सरकारी कर्मचारी आदि सभी लोग उनके सम्पर्क में आते। वे जहां कोटि कोटि भारतीय प्रजा को निकट से देख रहे थे, वहां शासकवर्ग के अंग्रेज अधिकारियों से सम्पर्क करने के अनेक अवसर भी उन्हें मिले। बुलन्दशहर के कलेक्टर जब उनसे भेंट करने आये तो उस समय स्वामीजी अपनी कुटिया में ही थे। जिलाधीश ने जब अपने आने की सूचना दी तो स्वामीजी ने उत्तर में कहला दिया कि उन्हें अभी अवकाश नहीं है। इस पर जिलाधीश ने पुनः पुछवाया—आपको अवकाश कब तक होगा? स्वामीजी ने इसका सीधा उत्तर न देकर उल्टे कलेक्टर से

ही पूछ लिया कि उन्हें कब अवकाश होगा ? अब कलेक्टर के उत्तर देने की बारी थी। उसने कहा कि चार घण्टे के पश्चात् उन्हें अवकाश ही अवकाश है। स्वामीजी तो शायद उसके इस उत्तर की प्रतीक्षा ही कर रहे थे। कुटिया से तुरन्त बाहर आ गये और राजपुरुष को राजधर्म का उपदेश करने लगे। और इसी प्रसंग में किञ्चित व्यंग्यपूर्वक यह भी कह दिया कि एक साधारण गृहस्थ के सिर पर भी परिवार पोषण का दायित्व इतना जबरदस्त होता है, जिसके कारण उसे दम मारने तक की फुरसत नहीं मिलती, फिर उनके जैसे अधिकारी, जिन पर सम्पूर्ण जिले की सुरक्षा और सुव्यवस्था का गुरुतर भार है, यह कैसे कह सकते हैं कि चार घण्टे के पश्चात् उन्हें अवकाश ही अवकाश है। दयानन्द का यह सुहृद सम्मित उपदेश गोरे कलेक्टर को अत्यन्त प्रिय लगा।

अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत धारी दयानन्द के लिये स्वस्थ एवं पुष्ट शरीर तथा दृढ़ अंग-प्रत्यंग जीवन यात्रा को निर्विघ्नरूप से निरन्तर लक्ष्य की ओर बढ़ाने के साधन मात्र थे। यही कारण है कि उनकी देव दुर्लभ देह तथा अनिन्द्य छटा को देखकर जहां प्रशंसक एवं भक्त जन विस्मय विमुग्ध हो जाते, वहां मूढ़मति अहंकारी जनों तथा द्वेष बुद्धि रखने वाले के लिये उनकी स्वास्थ्य सम्पदा ईर्ष्या का कारण बन जाती। रतिराम नामक एक ऐसे ही दुष्ट भावा-पन्न पहलवान ने स्वामी महाराज को देखकर कहा—'अरे यह बाबा तो बड़ा हृष्ट पुष्ट है।' स्वामीजी ने वाणी से तो उसे कुछ नहीं कहा किन्तु अपने विशाल तथा प्रभविष्णु नेत्रों से विकीर्ण होने वाली दिव्य ज्योति उस पर कुछ इस प्रकार डाली कि वह लज्जावनत होकर अपनी अशिष्टता के लिये क्षमा मांगने लगा।

दयानन्द का गंगा के तटवर्ती प्रान्तों का यह भ्रमण काल एक द्वन्द्वातीत परमहंस द्वारा अशेष जन समाज के कल्याण और हितचिन्तन की कामना करते हुए, उनके सुखों और दुःखों, अभावों और अभियोगों, तथा आशाओं और आकांक्षाओं से परिचित होकर उन्हें सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देने तथा आप्तोपदिष्ट धर्म पथ का निर्देश करने का काल था। उन्हें न तो अपने शरीर की चिन्ता थी और न आहार विहार की। घोर शीत में भी निर्वस्त्र होकर, गंगा पुलिन पर पद्मासनस्थ, नाना द्वन्द्वों को सहन करते हुए, झंझावात में भी दीप की निष्कम्प लौ की भांति स्थिर होकर परम तत्त्व का चिन्तन करते हुए वे तपस्यालीन रहे। ठाकुर गोपालसिंह के यह पूछने पर कि घोर शीत काल में, जब साधारण लोगों के लिये रजाई और कम्बल से बाहर निकलना भी दुष्कर होता है, उनका शरीर शीत से प्रभावित क्यों नहीं होता ? उत्तर में स्वामीजी ने बताया कि ब्रह्मचर्य और योगाभ्यास ही इसका कारण है। ठाकुर ने पुनः पूछा कि हम आपके योग बल को कैसे जान सकते हैं। इस पर स्वामीजी ने हाथों के अंगूठों को घुटनों पर रख कर दबाया तो तत्काल उनके शरीर से पसीना चूने लगा। यह देख कर दर्शकगण आश्चर्यचकित रह गये।

योग साधना ने स्वामीजी के शरीर को तो स्वस्थ, पुष्ट तथा द्वन्द्वों को सहन करने योग्य बनाया ही था, उन्हें कतिपय उन सिद्धियों की भी प्राप्ति हो चुकी थीं, जिनका वर्णन योगदर्शन के विभूतिपाद में आता है। यदा कदा अनेक प्रसंगों में उनकी योगज विभूतियों का प्रमाण लोगों को मिला था। पं. नंदकिशोर एक अध्यापक थे। एक दिन स्वामीजी के निकट

आते हुए मार्ग में उन्होंने किसी खेत से सेम की फलियां इस अभिप्राय से तोड़ लीं कि साधु-सन्त के निकट खाली हाथ नहीं जाना चाहिए। जब उसने इन्हें श्री सेवा में प्रस्तुत किया तो स्वामीजी अनायास ही बोल उठे—'ये फलियां चोरी की हैं। क्या आप इन्हें खेत के स्वामी से पूछ कर लाये हैं?' इस पर पं. नंदकिशोर का लज्जित होना स्वाभाविक ही था। स्वामीजी ने उन फलियों को स्वीकार नहीं किया।

धीरे धीरे स्वामी दयानन्द के तेजस्वी व्यक्तित्व में निहित दुर्धर्षता तथा उनके विचारों की दुर्जेयता का पता लोगों को मिलने लगा। पं. कमलनयन और पं. सुखदेव आदि कुछ विद्वान् कतिपय अतिशय क्लिष्ट प्रश्न पूछने के अभिप्राय से स्वामीजी के निकट गये। महाराज ने उन्हें आसन देकर प्रश्न पूछने के लिये कहा। पण्डितगण उनके ओज, तेज तथा गौरवपूर्ण मुख मुद्रा से कुछ ऐसे प्रभावित हुए कि जो प्रश्न पूछना चाहते थे, वे भी नहीं पूछ सके और भक्ति प्रवण भाव से स्वामीजी के मुख से निस्तृत उपदेशों को सुनकर 'सत्य सत्य' कहते हुए उनके विचारों का अनुमोदन ही करते रहे। लौटते हुए उन्होंने यह अनुभव किया कि इस संन्यासी में प्रचण्ड आत्मिकशक्ति है, जिसके कारण प्रतिपक्षी न तो अपने पक्ष की स्थापना ही कर पाता है, और न उसके विचारों का प्रतिवाद ही कर पाता है।

धर्मोपदेशक की कार्य कुशलता का रहस्य इस बात में निहित है कि वह किस प्रकार सहज भाव से अपने विचारों का प्रभाव श्रोतृमण्डली पर डाल सकता है। स्वामी दयानन्द तो कभी कभी साधारण विनोदवार्ता के माध्यम से ही अपने अभिप्राय को व्यक्त कर देते थे। एक दिन एक व्यक्ति ने पूछा 'आप गंगा को क्या मानते हैं?' स्वामीजी का उत्तर था, 'वही जो दिखाई देती है।' आगन्तुक ने पूछा—'आपको क्या दिखाई देता है?' प्रत्युत्तर में स्वामीजी ने ही उससे पूछ लिया—'तुम्हें क्या दिखाई देता है?' उसने कहा 'मुझे तो जल दिखाई देता है।' महाराज ने विनोदभाव से कहा, 'मुझे भी यही दिखाई देता है।' और इस साधारण वार्तालाप से ही उन्होंने गंगादि नदियों के दैवत्व या अलौकिकत्व का खण्डन कर दिया।

जिस समय स्वामीजी कर्णवास में ही निवास कर रहे थे, पीलीभीत निवासी पं. अंगद शास्त्री ने एक आत्मश्लाघापूर्ण पत्र संस्कृत भाषा में लिख कर स्वामीजी के पास भेजा।[३६] स्वामीजी ने पत्र का उत्तर देते हुए शास्त्रीजी के पत्र की भाषागत अशुद्धियों तथा उनके द्वारा प्रशंसित भागवत पुराण की भी अशुद्धियों का उल्लेख किया। इस पर अंगद शास्त्री मौन साध गये।

कर्णवास से एक दिन बिना सूचना दिये ही स्वामाजी गंगा तट पर विचरण हेतु चले गये। एक रात्रि वे गंगा के पुलिन पर शीतल, दुग्ध धवल चन्द्रिका का आनन्द लेते हुए सैकत शय्या पर विराजमान थे। उस समय उनके शरीर पर सदा की भांति कौपीन के अतिरिक्त अन्य कोई वस्त्र भी नहीं था। प्रचण्ड शीत होने पर भी वे ठण्डी रेत पर ध्यानावस्थित थे। इस समय आखेट के प्रयोजन से बदायूं के अंग्रेज कलेक्टर अपने एक मित्र पादरी के साथ उधर आ निकले। एक नंगे हिन्दू साधु को इस प्रकार एकाकी ध्यानस्थ बैठा देख कर उनके मन में कुछ हंसी ठिठोली करने का भाव आया। ज्यों ही स्वामीजी ने आंखें खोली, दोनों गौराङ्ग पुरुष उनके निकट आये। कलेक्टर महोदय ने आश्चर्य भाव से पूछा—"इस ठण्डी रेत

पर शीतकालीन रात्रि में नंगे शरीर आपको सर्दी नहीं लगती ?" इसके पहले कि स्वामीजी कुछ उत्तर देते, पादरी महाशय व्यंग्य भाव से कह उठे—'मुफ्त का माल खाकर मुटिया गये हैं। इन्हें भला सर्दी क्यों लगेगी !' इस पर स्थितप्रज्ञ संन्यासी ने नितान्त निर्लेप भाव से उत्तर दिया—'हम दालरोटी खाने वाले भला माल कहाँ पायेंगे। मांस, अण्डे, मदिरा आदि तो आप उड़ाते हैं। यदि सर्दी में मेरे साथ आप भी अपने वस्त्र उतार कर थोड़ी देर बैठें तो पता लग जायगा कि हममें से कौन इस भयंकर शीत को सहन करने का साहस रखता है ? दाल रोटी खाने वाला साधु या तामसी भोजन करने वाले आप लोग।' इस पर पादरी लज्जित हो गया और विनम्र भाव से पूछने लगा—'फिर क्या कारण है कि आपको शीत नहीं लगता ?' स्वामीजी ने उत्तर दिया 'यह अभ्यास की बात है। आपका मुख सदा खुला रहता है। जैसे मुख को शीत नहीं सताता, उसी प्रकार हमारा सारा शरीर ही शीत ऊष्ण आदि को सहने का अभ्यासी बन गया है।' इस पर क्लेक्टर और पादरी मौन हो गये और संन्यासी को नमस्कार कर आगे बढ़ गये।

चैत्र संवत् १९२५ वि. में स्वामी दयानन्द सोरों के निकट गढ़ियाघाट पर पहुंचे। इस समय तक उनकी कीर्ति कौमुदी दिग्दिगन्त व्यापिनी हो गई थी। यहां बलदेव गिरि गोसांई ने उनकी आवभगत और सत्कार किया। निम्बार्क मतानुयायी एक उद्दण्ड ठाकुर ने स्वामीजी द्वारा वैष्णव मत का खण्डन किये जाने से रुष्ट होकर उन्हें अपमानित करने का प्रयत्न किया, किन्तु बलदेवगिरि की सतर्कता के कारण वह अपने उद्देश्य में असफल रहा।

सोरों अपर नाम शूकरक्षेत्र हिन्दुओं का प्रसिद्ध तीर्थस्थल है। पुराणों के अनुसार विष्णु ने इसी स्थान पर वराह अवतार धारण किया था। मूर्तिपूजा और पौराणिक संस्कारों के गढ़, इस तीर्थ स्थान में दयानन्द के आगमन के समाचार ने ही भूकम्प सा पैदा कर दिया। विभिन्न वर्गों के लोग इस विचित्र संन्यासी के दर्शनार्थ झुण्ड के झुण्ड बना कर आने लगे। सोरों के निकटवर्ती बदरिया ग्राम निवासी पं. अंगदराम शास्त्री एक प्रसिद्ध पण्डित थे, जिन्होंने दण्डी विरजानन्द से, उनके सोरों निवासकाल में सिद्धान्त कौमुदी पढ़ी थी। व्याकरण में उनकी अच्छी गति थी तथा वे भागवतपाठी पण्डित के रूप में पर्याप्त ख्याति अर्जित कर चुके थे। स्वामीजी के सोरों आगमन का समाचार सुन कर शास्त्रीजी शास्त्रार्थ की इच्छा से वहां आये। मूर्तिपूजा पर बातचीत चली, परन्तु शास्त्रीजी इस विषय में स्वामी दयानन्द की युक्तियों का न तो खण्डन कर सके और न उसके विरोध में प्रस्तुत किये गये शास्त्रीय प्रमाणों का समाधान ही कर सके। अब भागवत का प्रसंग छिड़ा। स्वामीजी ने भागवत के दशम स्कन्ध के प्रथम श्लोक—

कथितो वंशविस्तारो भवता सोमसूर्ययोः।
राज्ञां चोऽभय वंशानां चरितं परमाद्भुतम्॥

को उद्धृत कर कहा कि इसमें 'विस्तार' शब्द अशुद्ध है, 'विस्तर' चाहिए। पं. अंगदराम ने स्वामीजी के कथन को सत्य स्वीकार किया तथा सब उपस्थित व्यक्तियों के समक्ष उस शालिग्राम शिला को गंगा में प्रवाहित कर दिया, जिसकी वे आज तक पूजा करते आये थे। अब उन्होंने यह भी प्रतिज्ञा की कि भविष्य में कभी भागवत की कथा नहीं करेंगे। अपने प्रदेश के

ही एक प्रसिद्ध पण्डित को मूर्तिपूजा के प्रति इस प्रकार आस्था खोते देख कर, बलदेव गिरि भी उनका अनुकरण कर बैठे और 'तथास्तु' कह कर अपनी पूज्य प्रतिमाओं को गंगार्पण कर दिया।

स्वामी दयानन्द के एक सहाध्यायी पं. युगलकिशोर इन दिनों सोरों आये थे। उन्होंने स्वामीजी से भेंट की। उस समय पं. अंगदराम भी उपस्थित थे। दोनों सहपाठियों को समीप देख कर पं. अंगदराम ने स्वामीजी से कहा, 'महाराज आप अन्य लोगों से तो प्रतिमार्चन त्यागने, कण्ठी, माली, तिलक आदि साम्प्रदायिक चिन्हों को छोड़ने की बात कहते हैं, भला सहपाठी को भी यह उद्‌बोधन क्यों नहीं देते ?' इस पर स्वामीजी बोल पड़े—'ये मथुरावासी हैं, इनकी जीविका ही इन बातों से चलती है।' उस समय तो पं. युगलकिशोर कुछ नहीं बोले किन्तु मन ही मन उन्होंने रोष अनुभव किया और मथुरा पहुंच कर गुरुवर विरजानन्द से शिकायत के स्वर में कहा—'महाराज, दयानन्द तो सोरों में अनर्थ कर रहा है। वह प्रबलता से शालिग्राम पूजन, कण्ठी तिलक धारण आदि का खण्डन करता है।' अपने प्रिय शिष्य द्वारा साम्प्रदायिक कलुष को नष्ट कर आर्ष ज्ञान और वैदिक कर्मकाण्ड की दिव्य ज्योति के विकीर्ण करने का समाचार सुनकर जराजीर्ण अंध संन्यासी की प्रसन्नता का पार नहीं रहा। पुलकित होकर उन्होंने कहा—'युगलकिशोर, शालिग्राम क्या होता है ? 'शालीनां यो ग्रामः सः शालि-ग्रामः' और कण्ठी तिलक आदि के लिये आर्ष ग्रन्थों में कहां लिखा है ?' पं. युगलकिशोर ने जब गुरुजी को दयानन्द के पक्ष का ही समर्थन करते देखा तो स्वयं ने भी अपनी कण्ठी तोड़ कर फेंक दी।

सोरों निवासी स्वामी कैलासपर्वत से स्वामीजी का पुराना परिचय था। वे इधर काशी में रहने लगे थे। जब एक दिन स्वामी कैलासपर्वत सोरों से गढ़ियाघाट आये तो स्वामी जी अपने इस परिचित सुहृद् से मिलने उनकी कुटिया पर चले गये। विनोदभरे स्वर में कुटिया में बैठे स्वामी कैलासपर्वत से बोले—'अरे इस छोटी सी कुटिया में इतना बड़ा कैलास पर्वत कैसे आ गया ?' यह तो विनोद की बात रही। स्वामी दयानन्द वस्तुतः इस समय साम्प्रदायिक संकीर्णता को दूर कर व्यापक एवं उदार भावापन्न वैदिक उपासना प्रणाली के सार्वत्रिक प्रचार हेतु प्रयत्नशील थे। उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि रामानुज, मध्व, निम्बार्क तथा वल्लभ जैसे विभिन्न वैष्णवाचार्यों द्वारा प्रतिपादित वैष्णव मत की भिन्न भिन्न शाखाओं के प्रचार प्रसार से देश की जनता में साम्प्रदायिक कट्टरता, अनुदारता तथा पारस्परिक द्वेष-भाव की ही वृद्धि हुई है। अतः वे सर्वात्मना सम्प्रदायवाद के दुर्ग को ध्वस्त करने में लगे थे। कैलासपर्वत जैसे साधु से भी वे अपने इन कार्य की सिद्धि में सहायता के इच्छुक थे। परन्तु स्वयं कैलासपर्वत सोरों में वराह मन्दिर के अधिष्ठाता होने के कारण मूर्तिपूजा तथा पुराण प्रतिपादित अन्य बातों का विरोध करने में असमर्थ थे। वे यों तो वैष्णवों की साम्प्रदायिक रीति नीति के विरोधी थे, परन्तु मूर्तिपूजा और पुराणों का खण्डन करना उनके लिये संभव नहीं था। ऐसी स्थिति में उन्होंने स्वामी दयानन्द को इस शर्त पर समर्थन देने की पेशकश की, जिसमें मूर्तिपूजा तथा पुराणों का खण्डन न करने की बात कही गई थी। दयानन्द के लिये तो इस शर्त को स्वीकार करने का कोई अर्थ ही नहीं था। वे जानते थे कि रामानुजादि वैष्णव

सम्प्रदायों का मूल आधार भी पुराण ग्रन्थ तथा उनकी संकीर्ण शिक्षाएं हैं। इन्हीं पुराणों में मूर्तिपूजा, अवतार, व्रत, तीर्थ, माला, तिलक, छाप आदि समाज में विभाजन पैदा करने वाली प्रवृत्तियों का उल्लेख मिलता है। अतः जब तक मूल का ही उच्छेद नहीं किया जायगा, तब तक केवल पत्तों और शाखाओं को काटने मात्र से ही सम्प्रदायरूपी महावृक्ष का उन्मूलन नहीं हो सकता।

कैलासपर्वत ने स्वामीजी के सहयोग के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। परन्तु बात यहीं तक नहीं रही। उसने 'सत्य धर्म संरक्षिणी' नामक एक पुस्तक संस्कृत भाषा में लिखी[३७] जिसमें मूर्तिपूजा, पुराण, एकादशी आदि व्रतों के माहात्म्य का प्रतिपादन किया गया था। वस्तुतः कैलासपर्वत का यह असहयोगपूर्ण रवैया दुर्भाग्यपूर्ण ही था, अन्यथा यदि वे स्वामी दयानन्द के प्रति सहायता और सहयोग का हाथ बढ़ाते, तो सम्प्रदायवाद पर विजय पाना कठिन नहीं था। इतना होने पर भी कैलासपर्वत स्वामीजी के वैदुष्य, वाग्मिता, तप, त्याग और लोकहित की भावना के सदा प्रशंसक ही रहे। दोनों में दृढ़ मैत्री भाव रहा।

मूर्तिपूजा का विरोध करने तथा अपने अपूर्व वैदुष्य तथा शास्त्रज्ञान के बल पर इसे सर्वथा निर्मूल सिद्ध करने के लिये दयानन्द सदा कटिबद्ध रहते थे। सोरों में चिदानन्द नामक एक संस्कृतज्ञ साधु का आगमन हुआ, जिसके बारे में यह प्रसिद्ध था कि वह मूर्तिपूजा की वैदिकता सिद्ध कर सकता है। स्वामीजी ने पत्र लिख कर उसे विचार के लिये आमंत्रित किया। परन्तु संन्यासी सम्भवतः अपने पक्ष की दुर्बलता से परिचित था, अतः वह शास्त्रार्थ के लिये तैयार नहीं हुआ।

शूकर क्षेत्र में सहस्रों की संख्या में ब्राह्मणों का निवास है, जो यजमान वृत्ति, फलित ज्योतिष, कथा श्रावण जैसे व्यवसायों पर ही निर्भर हैं। यही स्थिति उस समय भी थी जब स्वामी जी ने इस स्थान की यात्रा की थी। स्वामीजी के खण्डन रूपी कुठार का लक्ष्य प्रायः वे ही कार्य और व्यवसाय थे जिनसे ब्राह्मणवर्ग की जीविका चलती थी। ऐसी स्थिति में इसी वर्ग के लोगों ने उनका सतत विरोध किया। पं. सुखानन्द नामक एक भागवती पण्डित से उनका ज्योतिषविषयक विचार हुआ। नवग्रहों की पूजा में पौराणिकों ने वेद के मंत्रों को विनियुक्त कर लिया है तथा नाम साम्य के आधार पर ही यह धारणा बना ली है कि अमुक मंत्र में अमुक ग्रह की पूजा का विधान है। इसी सिद्धान्तानुसार 'शन्नोदेवी'[३८] मंत्र को शनैश्चर की पूजा में कल्पित किया गया है। परन्तु ज्योतिष विचार के इस प्रसंग में, जब स्वामी दयानन्द ने उपर्युक्त मंत्र की भावपूर्ण, अपूर्व व्याख्या की, तो भागवती पण्डित का महाराज की विद्वता पर मुग्ध हो जाना स्वाभाविक ही था। तब से वे स्वामी जी के अनुगामी बन गये।

बदरियावासी पं. अंगदराम ने स्वामी दयानन्द के उपदेशों को श्लोकबद्ध करने का प्रयास किया। इन श्लोकों में से मात्र एक ही श्लोक जीवनी लेखकों को प्राप्त हो सका जो निम्न प्रकार है—

रुद्राक्ष तुलसी काष्ठमालातिलकधारणम्।
पाखण्डं विजानीयात् पाषाणादिकाऽर्चनम्॥

इन्हीं पं. अंगदराम ने अपने ही नामधारी पीलीभीतवासी पं. अंगदशास्त्री से उनके सोरों आने पर शास्त्रार्थ किया और विजयी हुए। शास्त्रार्थों का क्रम तो चलता ही रहता था। कैलासपर्वत ने बरेली से पं. जगन्नाथ को इसी प्रयोजन वश बुलाया। वह आ तो गया परन्तु स्वामीजी के सामने आकर विचार करने के लिये तत्पर नहीं हुआ। उसने पुराणों के प्रामाणिक होने की पुष्टि में मनुस्मृति के एक वचन 'इतिहास पुराणानि धर्मशास्त्राणि श्रावयेत्' लिख भेजा। उत्तर में स्वामीजी ने अपने पुराण विषयक मन्तव्य को स्पष्ट किया कि यहाँ पुराणों से अभिप्राय प्रचलित अष्टादश पुराणों से नहीं है, किन्तु सनातन इतिहास ग्रन्थों की ही पुराण संज्ञा है।

गंगातटवर्ती तीर्थस्थानों तथा पुण्यार्जन के लिये साधनभूत समझे जाने वाले धर्मस्थलों पर जाकर पौराण मत का खण्डन करना साहसपूर्ण कार्य था। शताब्दियों से रूढ़ हुए विश्वासों, अंध श्रद्धा के केन्द्रीभूत मत मतान्तरों तथा गतानुगतिकता से चिपटे, जड़ता-ग्रस्त समाज की मूढ़ धारणाओं पर चोट करना, वस्तुतः लोगों का कोपभाजन बनना ही था। दयानन्द पर भी, यदा कदा, उनके खण्डन कार्य से क्षुब्ध एवं असंतुष्ट लोगों के प्रहार होते ही रहते थे, किन्तु अपने अटल ईश्वर विश्वास तथा लक्ष्य प्राप्ति की अनन्य निष्ठा के कारण उन्होंने इन आसन्न विपत्तियों तथा अप्रत्याशित आक्रमणों की कभी चिंता नहीं की। सोरों में ही कुछ ऐसी घटनाएं हुईं, जिनका विवरण दिया जाना आवश्यक है।

स्वामीजी के मूर्तिपूजा के प्रति आक्रामक रुख से रुष्ट कुछ उद्दण्ड व्यक्तियों ने उनके प्राणहरण की चेष्टा की। एक दिन रात के समय वे इसी उद्देश्य से आये कि स्वामी दयानन्द को गंगा में डुबो दिया जाय। यह एक संयोग ही था कि स्वामीजी जहां विश्राम कर रहे थे, वहाँ एक अन्य साधु भी सोया था। गुण्डों ने उसे ही दयानन्द समझा और उठा कर गंगा में फेंक दिया। जब वह चिल्लाने लगा तो उन्हें सचाई का पता लगा कि यह दयानन्द नहीं है। गनीमत हुई कि उन्होंने निरपराध साधु को गंगा से पुनः बाहर निकाल दिया।

एक दिन जिस स्थान पर स्वामीजी उपदेश कर रहे थे, एक उज्जड़ प्रकृति का व्यक्ति मोटा लट्ठ लेकर आया और उपदेशकर्ता संन्यासी को सम्बोधित कर कहने लगा, अरे साधु तू ही मूर्तिपूजा का खण्डन करता है और देवी देवताओं की निंदा करता है। बता इस लट्ठ को तेरे शरीर पर कहाँ मार कर तुझे समाप्त करूं ? इस धृष्ट व्यक्ति की उद्दण्डतापूर्ण वाणी को सुन कर तो समस्त श्रोतृमण्डल ही स्तम्भित सा रह गया, किन्तु स्वामी महाराज ने नितान्त अविचलित भाव कहा—'यदि तू मेरे उपदेशों को अनुचित समझता है, तो इसका अपराधी तो मेरा यह मस्तिष्क है, जो इन सारे विचारों का उद्गम स्थल है। तुझे मेरे इस मस्तिष्क पर ही प्रहार करना चाहिए।।' यह कह कर स्वामीजी ने प्रखर दृष्टि से उस आततायी को देखा। उनके इस प्रकार दृष्टि निक्षेप करने मात्र से ही उस हिंस्रभावापन्न व्यक्ति का रोष लुप्त हो गया। चरणों में प्रणत होकर उसने अपने अपराध के लिए क्षमायाचना की। निर्लेप संन्यासी के लिए क्षमादान कठिन नहीं था।

ज्येष्ठ कृष्णा त्रयोदशी सं. १९२५ वि. को स्वामीजी पुनः कर्णवास आ गये। ज्येष्ठ शुक्ला दशमी को इस स्थान पर गंगादशहरा का प्रसिद्ध मेला लगता है। आसपास के

लोग सहस्त्रों की संख्या में पर्व स्नान के लिये आते हैं। स्वामीजी तो ऐसे ही अवसरों की प्रतीक्षा करते थे, जबकि हजारों लोगों तक अपनी बात पहुंचाना उनके लिए सुलभ होता। कर्णवास के निकटवर्ती बरौली ग्राम का राव कर्णसिंह जो बड़गूजर क्षत्रिय था, मेले में स्नानार्थ आया। यह व्यक्ति वृंदावन के श्रीवैष्णवमत के प्रसिद्ध आचार्य रंगाचार्य का दृढ़ अनुयायी था। जब उसे यह विदित हुआ कि एक संन्यासी गंगास्नान, तीर्थाटन, मूर्तिपूजा, कण्ठीतिलक आदि का खण्डन करते हैं, तो वह अपने शस्त्रधारी अनुचरों सहित श्रीसेवा में उपस्थित हुआ।

राव कर्णसिंह और स्वामीजी के इस साक्षात्कार तथा राव द्वारा की गई उद्दण्डतापूर्ण कार्यवाहियों का उल्लेख प्रत्यक्षदर्शी लोगों ने भिन्न भिन्न प्रकार से किया है।[३९] हमारे विचार से कविकुमार शेरसिंह वर्मा लिखित इतिवृत्त को अधिक प्रामाणिक माना जाना चाहिए क्योंकि वे न केवल स्वामीजी के अनुरक्त भक्त ही थे, किन्तु एक सतर्क लेखक की भांति अपने जीवन काल में ही उन्होंने कर्णवास विषयक स्वामीजी के संस्मरणों को लिपिबद्ध भी कर लिया था। वर्माजी के अनुसार—"सबके बीच से निकलते हुए राव स्वामीजी के निकट पहुंचे। स्वामीजी ने सत्कारपूर्वक बैठने को कहा। रईस ने उत्तर में कहा—जहां तुम बैठे हो हम वहीं बैठेंगे। इस पर स्वामीजी अपने आसन से कुछ सरके और उसके लिये जगह बनाते हुए बोले, आओ विराजो। यह सुन रईस ने कहा—आप गंगाजी को कैसा मानते हैं? स्वामीजी बोले—जैसी है, वैसी ही मानते हैं। हम संन्यासियों के लिए तो गंगा कमण्डलु भर है क्योंकि हमारे पास कोई अन्य पात्र नहीं है। इस पर रईस ने जगन्नाथ त्रिशूली कृत गंगा-लहरी के दो श्लोक पढ़े। स्वामी जी ने कहा—यह काव्य है, इसका कुछ प्रमाण नहीं। गंगा की जय हुई तो किनारे के गांवों का क्या ठिकाना लगेगा? सब जलमग्न हो जावेंगे। इस पर रईस ने कहा—श्री गंगा जी की शान में अगर तुमने कुछ कहा तो जीभ मुख से बाहर निकाल ली जायगी। यह सुन कर स्वामी जी ने कहा, तुम में विद्याबुद्धि नहीं है। इसलिये शास्त्र का रहस्य और आनन्द तब आयगा, जब अपने गुरु रंगाचार्य से शास्त्रार्थ कराओगे। उन्हें बुलाओ या हम वहां चलें। तब देखना कि यह भिक्षुक रूपी तिलक धारण करना उचित ठहराते हैं या नहीं। इस पर रईस ने कुपित होकर कहा—तू हमारे गुरु महाराज के सामने बोलने के काबिल है? तुमसे तो उनके सामने जूतियों पर खड़े रहते हैं। राव के यह कह देने के पश्चात् बलदेवदास नामक एक पुष्ट शरीर वैरागी आगे बढ़ कर तलवार उठा स्वामी जी से कहने लगा—खबरदार हो मुण्डा, तेरा काल आया। अब स्वामी जी भी आगे बढ़े। उन्होंने एक घुटने पर उचक कर उसका तलवार वाला हाथ इस जोर से पकड़ा कि वह वहीं बैठ गया और अपने दूसरे हाथ से रईस का हाथ पकड़ कर बोले—शस्त्रार्थ करना है तो जयपुर जोधपुर के राजाओं से जाकर करो। शास्त्रार्थ करना है तो रंगाचार्य को बुलाओ। तुम कैसे क्षत्रिय हो जो अपने पूर्व पुरुष रामचन्द्र आदि का स्वांग बना उनकी पतिव्रता स्त्री आदि के वेश बना लीला कराते हो। यदि तुम्हारी स्त्री, पुत्री, भगिनी आदि की कोई इस प्रकार लीला बनावें तो तुमको अच्छा लगेगा?"[४०]

वर्मा जी ने आगे लिखा है कि राव कर्णसिंह को इस प्रकार स्वामी जी के लिये अपशब्दों का प्रयोग करते सुन ठाकुर किनशसिंह ने लाठी संभाल ली और डपटते हुए राव से

बोले "महात्मा के आगे सख्त कलामी की तो सिर तोड़ दूंगा। बस यहीं तक रिश्ता है। हमारे भाई के आप जामाता हैं, परन्तु आपका यह धूर्तपना हम नहीं सह सकते। खैर इसी में है कि अपनी बदजुबान पर लगाम लगाओ, नहीं तो लोथों पर लोथ पड़ेगी। यह सब तलवार धरी रहेगी।" इस पर राव ने चुप्पी साध ली। स्वामीजी पूर्ववत् सिंह गर्जना करते हुए सभा में खण्डन करते रहे।

पं० भूमित्र शर्मा ने इस घटना का वर्णन कुछ भिन्न प्रकार से किया है। उनके अनुसार जब राव कर्णसिंह स्वामी जी के निकट आया तो उसके श्रीवैष्णव तिलक और चक्रांकित चिन्हों (अग्नि दग्धशरीर) को देख कर उन्होंने संस्कृत में कहा-"तुमने क्षत्रिय होकर चांडाल की सी आकृति क्यों बना रक्खी है?" राव प्रथम तो स्वामी जी के संस्कृत कथन को समझा ही नहीं, तब स्वामी जी ने ही पं० टीकाराम से कहा कि वे उनके अभिप्राय से राव साहब को अवगत करा दें। पं० टीकाराम शस्त्रों से सुसज्जित कर्णसिंह तथा उसके हथियारबंद अनुचरों को देख कर प्रथम तो भयभीत हो गये, किन्तु स्वामीजी के आश्वस्त करने पर उन्होंने राव महाशय को स्वामी जी के कथन का आशय बता दिया। इस पर राव लाल पीला होकर बोला—यह हमारा परम मत है, इसको तुम किस प्रकार बुरा कहते हो ?

कर्णवास निवासी मास्टर गोपालसिंह वर्मा ने इस विवरण को प्रस्तुत करते हुए बताया—राव ने स्वामी जी से कहा, हम अभी रंगाचार्य स्वामी को वृन्दावन में पत्र भेजते हैं। शास्त्रार्थ में जो मत सच्चा सिद्ध हो वही सच्चा है। तुमने हमारे मत को बुरा कहा, हम तुमको इसका मजा चखायेंगे। पं० कृष्णवल्लभ के अनुसार तो राव ने स्वामीजी को अपमानित करते हुए यहां तक कहा—तुम महाराज रंगाचार्य के सामने कीड़े के तुल्य हो। तुझसे उसके आगे जूतियां उठाते हैं। इस पर स्वामी जी ने आवेशपूर्ण स्वर में कहा था—'रण्डाचार्यस्य का गणना ममसमीपे। एकः आगतः सहस्रा आगताः लक्षा आगताः शास्त्रार्थं कुरु।' स्वामी जी के इन तीखे वाक्यों को सुन कर राव स्वामीजी पर अपशब्दों की वर्षा करता हुआ अपने गुरु रंगाचार्य की प्रशंसा में बहुत कुछ बक गया। उसका एक हाथ तलवार की मूठ था और दूसरा कभी मूठ पर, तो कभी स्वामी जी की ओर संकेत रूप में उठता।

पं. भूमित्र शर्मा ने इसी प्रसंग में कहा था कि स्वामी जी तो राव के आवेशपूर्ण कथन और गालिप्रदान को सुन कर हंसने लगे और कहा कि तुम शस्त्रार्थ करना चाहते हो तो जयपुर, धौलपुर के राजाओं के साथ जाकर लड़ो और यदि शास्त्रार्थ करना चाहते हो तो अपने गुरु रंगाचार्य को वृन्दावन से बुला लो। मास्टर गोपालसिंह वर्मा ने इस प्रसंग को इस रूप में रक्खा—यदि तू हमसे लड़ना चाहता है तो अपने सिपाहियों में से एक एक को खड़ा कर दे।

ठाकुर गोपालसिंह रईस कर्णवास ने राव कर्णसिंह की एक गर्वोक्ति को इस रूप में प्रस्तुत किया—हमारे स्वामी जी (रंगाचार्य)के सामने आप से बात भी न होगी, उनसे शास्त्रार्थ करो। स्वामी दयानन्द ने इस पर कहा कि उनको शास्त्रार्थ के लिये बुलाओ और यदि उनमें आने की सामर्थ्य न हो तो उनको लिखो, हम वहां चलें। इस पर राव बड़ा क्रुद्ध हुआ और

गाली गलौच करने लगा। इससे पूर्व उसने स्वामीजी को रासलीला में चलने के लिये आमंत्रित किया था। स्वामी जी ने रामलीला और रासलीला का तीव्र प्रतिवाद करते हुए कहा था कि तुम कैसे क्षत्रिय हो जब कि तुम्हारे सामने वे (रामलीला और रासलीला वाले) तुम्हारे पुरुषाओं को नचाते हैं। यदि तुम्हारी बहिन बेटी को कोई नचाये, तो कैसा बुरा मानो।

पं० गोपालचन्द्र के अनुसार स्वामीजी ने रासलीलादि के खण्डन में मनु का एक वाक्य बोला, जिसका आशय यह था कि पुरुष के वेश में स्त्री को और स्त्री के वेश में पुरुष को यदि देखे तो चान्द्रायण व्रत करे। इस प्रकार रासलीला का तीव्र खण्डन सुन कर राव पुनः क्रोध में आ गया और बोला—तुम हमारे इष्टदेव का खण्डन करते हो। यह कह कर तलवार निकाल ली और स्वामी जी पर प्रहार करने के लिये तैयार हो गया। उस समय स्वामी जी ने कहा, यदि सत्य कहते हुए सिर ही कटता है तो तुमको अधिकार है कि काट डालो। स्वामी जी को इस निर्भीक वाणी को सुन कर राव स्तम्भित सा खड़ा रहा, न कुछ बोल सका, न कुछ कर सका। इस पर स्वामी जी ने पुनः कहा—क्षत्रिय या तो शस्त्र निकाले नहीं, और निकाले तो अपने संकल्प को पूरा करे। यदि ऐसा न कर सके तो उसके क्षत्रिय होने में संदेह है।

इस उत्तेजक प्रसंग की परिणति किस प्रकार हुई, इसमें विभिन्न मत हैं। राजा उदितनारायण रईस मथुरा ने पं० लेखराम को बताया था कि राव ने अन्त में क्रोध में भर कर तलवार निकाली और स्वामी जी को मारने के लिये उद्यत हुआ। तब स्वामी जी ने गर्जना पूर्वक उसके हाथ से तलवार छीन ली और एक हाथ से पृथ्वी पर टेक देकर और उसका हाथ पकड़ कर कहा कि क्या तू यह चाहता है कि यह तलवार तेरे शरीर में ही घुसेड़ दूं। इसी समय ठाकुर किशनसिंह खड़े हो गये और राव की कटु शब्दों में भर्त्सना करते हुए कहा कि यदि एक शब्द भी उसने स्वामीजी की शान के खिलाफ कहा, तो फौजदारी हो जायगी। यदि तुझे उपदेश नहीं सुनना है तो चला जा। फलतः कर्णसिंह अधिकांश उपस्थित लोगों के कठोर रुख को देख कर वहां से चला गया।

कर्णसिंह के चले जाने के पश्चात् लोगों ने स्वामीजी से कहा कि आप इस घटना की रिपोर्ट पुलिस थाने में कर दें, परन्तु स्वामीजी ने ब्राह्मणोचित विनम्रता तथा उच्चकोटि के तपस्वियों में पाई जाने वाली सहिष्णुता का परिचय देते हुए कहा—"यदि वह अपने क्षत्रियत्व पर पूरा नहीं उतरा तो हम अपने ब्राह्मणत्व से पतित क्यों हों? साथ ही उन्होंने मनुस्मृति के श्लोक—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मानो धर्मो हतोऽवधीत्॥ [४१]

को भी पढ़ा।

स्वामी दयानन्द के जीवन में एकाधिक प्रसंग ऐसे आये थे, जब कि उनके प्राण हरण की चेष्टाएं की गईं। इससे स्पष्ट है कि उनके स्पष्ट किन्तु हितकर उपदेशों को अन्यथा भाव से लेने वालों की संख्या भी कम नहीं थी। अनेक बार उनके जीवन को समाप्त कर देने के षड्यंत्र किये गये, किन्तु दयानन्द ने अपने प्राणहरण के लिये लालायित रहने वाले इन

आततायियों के प्रति कभी दुर्भावना का परिचय नहीं दिया। उन्होंने अपने प्रति किये जाने वाले अपराधों को सदा उपेक्षा की दृष्टि से देखा, यह उनके चरित्र की उदात्तता तथा महनीयता का प्रमाण है।

स्वामीजी को क्षति पहुंचाना तो दूर, कर्णसिंह स्वयं ही तिरस्कृत, अपमानित और लज्जित होकर घर पहुंचा, परन्तु तब भी उसके हृदय से स्वामीजी के प्रति शत्रता तथा विरोध का भाव गया नहीं। उसने कुछ गुण्डों को इस बात के लिये तैयार किया कि वे सोते समय दयानन्द का सिर काट लें। उसने उन्हें आश्वस्त किया कि वह अपने पास से रुपया खर्च कर उन्हें बचा लेगा। यद्यपि स्वामीजी सभी प्रकार के भय, आपद, विपद के प्रति सर्वथा उदासीन थे, तथापि उनके भक्तजनों ने कैथलसिंह नामक एक व्यक्ति को रात्रि के समय स्वामीजी के स्थान पर पहरा देने के लिये नियत कर रक्खा था। शीतकाल में परमहंस संन्यासी तो पयार घास को ओढ़ कर ही सो जाते थे, ऐसे समय शीताधिक्य से उनकी रक्षा हो सके, इस विचार से कैथलसिंह को यह भी आदेश दे दिया गया था कि वह उन्हें कम्बल ओढ़ा दिया करे।

एक दिन रात्रि के दो बजे कर्णसिंह ने अपने तीन गुण्डों को स्वामीजी को मार डालने का आदेश देकर भेजा। आततायी लोग स्वामीजी की कुटिया के निकट तो आ गये, किन्तु भीतर प्रविष्ट होने का साहस उनमें नहीं था। अतः वे लौट कर चले गये। अब कर्णसिंह ने उन्हें डांट डपट कर दुबारा भेजा। स्वामीजी को जब कुछ व्यक्तियों की हलचल सुनाई पड़ी तो वे सजग हो गये और ज्यों ही घातक लोग उनकी कुटिया के निकट आये, उन्होंने एक प्रबल हुंकार की। वीर संन्यासी के इस प्रचण्ड गर्जन से त्रस्त और कम्पित होकर घातक भाग खड़े हुए। उनके हाथों से तलवारें गिर पड़ीं। इतने में सेवक कैथलसिंह भी जग गया और जब उसे सारी स्थिति का ज्ञान हुआ तो उसने स्वामीजी से निवेदन किया कि हत्यारे उनके पीछे पड़े हुए हैं, अतः उन्हें स्वप्राणरक्षार्थ वहां से अन्यत्र चले जाना चाहिए। इस पर आत्मा के अमरत्व का प्रतिपादन करने वाले गीता के प्रसिद्ध श्लोक[४२] का उच्चारण कर स्वामीजी ने कहा कि अमर आत्मा को मारने का सामर्थ्य किस में है? जिसका रक्षक परमात्मा है उसे कोई क्षति नहीं पहुंचा सकता। परम आस्तिक दयानन्द का ईश्वरीय सत्ता के प्रति प्रगाढ़ निष्ठाभाव ऐसी अनेक घटनाओं से सिद्ध होता है, जब कि बड़े से बड़े खतरे का सामना उन्होंने दृढ़ आत्मबल और अपरिमेय भगवद्विश्वास के आधार पर ही किया था।

स्वामी दयानन्द तो इस अकल्पनीय घटना से अप्रभावित ही रहे। किन्तु सेवक कैथलसिंह भाग कर बस्ती में गया और उसने श्रीमहाराज के क्षत्रिय भक्तों को सारा वृत्तान्त सुनाया। जब ठाकुर किशनसिंह तथा अन्य लोगों को कर्णसिंह के इस दुष्टतापूर्ण षड्यंत्र का पता चला, तो वे अपशब्दों की वर्षा करते हुए उसे सम्मुख आकर लड़ने के लिये ललकारने लगे। राव सामने आने का तो साहस ही नहीं कर सका, वह अपने श्वसुर का परामर्श मान कर कर्णवास से तुरन्त चला गया। आगे चल कर उसकी बहुत दुर्गति हुई। इसे दैव विधान कहें या संन्यासी को अकारण कष्ट देने का ईश्वर की न्याय व्यवस्था के अनुसार मिला दण्ड?

इस घटना के चार पांच दिन पश्चात् स्वामीजी अम्बागढ़ चले गये। यहां उनके साथ पं. अंगदराम थे। पण्डित जी महाभारत का प्रायः पाठ करते रहते थे। स्वामीजी के साथ उनका महाभारत के मूल पाठ तथा उसमें समय समय पर किये गये प्रक्षेपों को लेकर विचार चलता रहता था। कहते हैं कि स्वामीजी ने महाभारत के मूल व्यासोक्त आर्ष पाठ तथा कालान्तर में मिलाये गये श्लोकों को पृथक् करने की किसी तर्कसरणि का उन्हें निर्देश किया था।

जिस समय स्वामी दयानन्द सोरों के निकट शहबाजपुर नामक ग्राम में विराज रहे थे, उन्हें दण्डी विरजानन्द के निधन का समाचार मिला। आश्विन कृष्णा त्रयोदशी १९२५ वि. को दण्डीजी मथुरा में कीर्तिशेष हुए थे। गुरुवर के महाप्रयाण का समाचार सुनकर सांसारिक मोह माया से नितान्त विरक्ति रखने वाले दयानन्द के मुंह से अनायास ये शब्द निकले—**आज व्याकरण का सूर्य अस्त हो गया।** प्रत्यक्षतः तो दयानन्द ने गुरु वियोग को सहन कर लिया, किन्तु स्वयं को धर्मसंशोधन तथा समाज में सर्वांगीण क्रान्ति लाने की प्रेरणा देने वाले इस अंध संन्यासी का धराधाम से उठ जाना उनकी एक वैयक्तिक क्षति थी। एक क्षण के लिये दयानन्द का मुखकमल मुरझा गया, शोक की कालिमा ने उन्हें ग्रस लिया, किन्तु स्थितप्रज्ञ मुनि की भांति वे तुरन्त प्रकृतिस्थ होकर उपदेश कार्य में लग गये। उन्होंने सोचा कि गुरुप्रदत्त संदेश को जन जन तक पहुंचाना ही दण्डीजी के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि है।

शहबाजपुर से कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी १९२५ वि. को वे कादिरगंज होते हुए ककौड़ा नामक स्थान पर पहुंचे जहां गंगा स्नान का मेला लगता है। मेले के अवसर पर एकत्रित विशाल जनसमूह को वे धर्मोपदेश दे सकेंगे, इस स्थान पर आने में उनका यही एकमात्र प्रयोजन था। अनेक भक्त और प्रशंसक भी इस समय साथ थे। यहां एक अंग्रेज पादरी से धर्म विषयक विभिन्न प्रश्नोत्तर हुए। अन्य प्रश्नों के अतिरिक्त पादरी ने उनसे शरीर को निरावृत्त रखने का कारण पूछा। इस पर स्वामीजी ने किञ्चित विनोद और किंचित गम्भीरता से कहा—'सुख के लिये ही हम निर्वस्त्र रहते हैं। आपके कपड़ों पर मिट्टी पड़ जाय तो वे मैले हो जायेंगे। मेरे शरीर पर यदि मिट्टी गिरे तो कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि मैंने पहले से ही शरीर पर मिट्टी मल रक्खी है।' पादरी को स्वामीजी के उत्तम स्वास्थ्य और ब्रह्मचर्यदीप्त शरीर पर भी आश्चर्य हुआ। स्वामीजी ने कहा कि संतोष ही इसका कारण है।

बरेली निवासी पं. उमादत्त से इस अवसर पर मूर्तिपूजा को लेकर चर्चा हुई। पण्डित जी ने एकलव्य का उदाहरण देकर मूर्तिपूजा का औचित्य सिद्ध करना चाहा। इस पर स्वामी जी ने कहा कि क्या एक अज्ञानी बनवासी के किसी कृत्य को प्रमाण कोटि में रख कर आचरण का विषय बनाया जा सकता है? इसी मेले में उनकी भेंट गोविन्ददास कायस्थ से हुई जो गृह त्याग कर वैरागी बन गये थे, तथा लोगों में अकर्मण्यता का प्रचार कर रहे थे। उन्होंने इस वैरागी से कहा—"तुम्हारा लोगों को यह उपदेश करना कि संसार के सभी कामों को वे त्याग दें, निरर्थक ही है। शुभ कामों को छोड़ने का कोई औचित्य नहीं है। मनुष्य सब

कामों को छोड़ भी कैसे सकता है ? क्या भोजनादि कार्य, जो जीवननिर्वाहार्थ किये जाते हैं, छोड़े जा सकते हैं ?'' इस पर वैरागी मौन हो गया। वस्तुतः स्वामी दयानन्द मध्यकालीन भक्ति आन्दोलनों के द्वारा जन सामान्य को संसार से विमुख कर उनमें मिथ्या वैराग्य के भावों को भरे जाने के विरुद्ध थे। उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि मिथ्या वैराग्य और त्याग की इसी विचारधारा ने देशवासियों को आलसी, अकर्मण्य तथा प्रमादग्रस्त बना दिया है। भाग्यवादी बन कर पुरुषार्थ को तिलाञ्जलि दे बैठना, उनकी दृष्टि में देश की सार्वत्रिक अधोगति का प्रमुख कारण था। ईश्वर भक्ति के नाम पर कर्मवाद का खण्डन करना वे अपराध मानते थे।

कायमगंज निवासी पं. श्यामलाल से जब स्वामीजी ने उनके व्यवसाय के बारे में पूछा तो उस सरल हृदय ब्राह्मण ने सहज उत्तर दिया—'कथा पुराण बांच कर जीविका चलाता हूँ।' इस पर स्वामीजी ने पुनः प्रश्न किया 'कौन सी कथा बांचते हैं' ? पण्डित जो का उत्तर था कि आजकल वे ब्रह्मवैवर्त पुराण के कृष्णखण्ड की कथा कर रहे हैं। स्वामीजी ने विनोद भाव से कहा—''पण्डितजी कथा जल्दी खत्म कर लो, बीस दिन बाद यह शरीर (वे स्वयं) वहां पहुंच जायगा।'' स्वामीजी के कथन में निहित व्यञ्जना स्पष्ट ही थी कि जब वे वहां आकर ब्रह्मवैवर्तादि अश्लील पुराणों के खण्डन में प्रवृत्त होंगे तो लोगों की श्रद्धा इन ग्रन्थों से हट जायगी, परिणाम स्वरूप कथावाचक ब्राह्मण को आर्थिक हानि उठानी पड़ेगी।

ककौड़े से नरदौली होते हुए मार्गशीर्ष कृष्णा एकादशी १९२५ वि. को स्वामीजी कायमगंज पहुंचे। हरिशंकर पाण्डेय के शिवालय में उनका निवास रहा। स्वामीजी पूर्व की ही भांति संध्योपासना, गायत्री जप, अग्निहोत्र, बलिवैश्वदेव आदि नित्यकर्मों का उपदेश देते रहे। त्रिकाल संध्या का उन्होंने निषेध किया क्योंकि संध्याकाल प्रातः और सायं ही माने गये हैं। सत्यनारायण व्रत कथा के पाठमात्र से जो लोग अनायास लक्षाधीश हो जाने के स्वप्न देखते हैं, उनके मत का खण्डन करते हुए, धनोपार्जन तथा विद्या प्राप्ति को श्रम-साध्य बताया। उनकी धारणा थी कि इन मिथ्या कथाओं पर विश्वास करने से भारतवासी पुरुषार्थहीन और अकर्मण्य बन गये हैं।

स्वामीजी अपनी पूर्वकृत प्रतिज्ञा का पालन करते हुए भोजन के लिये किसी से याचना नहीं करते थे। 'अन्नं न निन्द्यात तद् व्रतम्' इस उपनिषद् वाक्य[४३] का पालन करते हुए जो कुछ मिलता उसे ही प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण कर लेते। रात्रि को अपने स्थान पर निस्संग, एकाकी रहते। शीतकाल में भी कम्बल का प्रयोग नहीं करते। यदि कोई ओढ़ा भी जाता तो उसे उतार फेंकते। द्वन्द्वातीत होकर तपस्वी का सा जीवन व्यतीत करते।

मेले में ईसाई मत का प्रचार करने के लिये आये पादरी अनलन तथा भारतीय पादरी हरप्रसाद एक दिन वार्तालाप के लिये आये। आते ही उद्यान में एक ऊंचे स्थान पर बैठ गये। लोगों ने इसे अशिष्टतापूर्ण तथा अनुचित बताया तो स्वामीजी ने उनके इस व्यवहार की उपेक्षा करते हुए कहा—'पक्षिणः सन्ति,-पक्षिवत् एषां गतिः' इनकी गति पक्षियों के तुल्य है। पादरी हरप्रसाद ने कहा—स्वामीजी संस्कृत बोलते हैं, हम तो यह भाषा नहीं समझते। इसके पश्चात् दोनों पादरी चले गये।

कायमगंज से मार्गशीर्ष शुक्ल पक्ष १९२५ वि. में कम्पिल होते हुए स्वामी दयानन्द शुकरुल्लापुर (जिला फर्रूखाबाद) पहुंचे यहां के एक रईस पं. चोखेलाल ने उनका आतिथ्य किया। कुछ दिन निवास कर वे फर्रूखाबाद चले गये।

□□

पाद टिप्पणियां

१. पं० लेखराम ने हरिद्वार आगमन की तिथि १२ मार्च १८६७ ई. मानी है।
२. पं० लेखराम के अनुसार स्वामी विश्वेश्वरानन्द तथा स्वामी शंकरानन्द नामक दो संन्यासी तथा दिल्ली निवासी ईश्वरीप्रसाद गौड़ ब्राह्मण तथा कुछ अन्य ब्राह्मण उनके साथ थे।
३. यजुर्वेद ३१।११
४. भागवतखण्डनम् की रचना स्वामी दयानन्द ने १९२१ वि. के उत्तरार्द्ध में की थी। इसको उन्होंने १९२३ वि. के अन्त अथवा १९२४ वि. के प्रारम्भ में ज्वालाप्रकाश प्रेस आगरा से मुद्रित कराया था। वर्षों तक अनुपलब्ध रहे इस ग्रन्थ का सम्पादित संस्करण पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने भारतीय प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान अजमेर से २०१८ वि. में प्रकाशित किया।
५. कुम्भ पर्व पर नागे संन्यासी सर्वप्रथम तीर्थस्नान करने का अपना अधिकार समझते हैं। इसी बात को लेकर उनका अन्य साधुओं से कभी कभी झगड़ा भी हो जाता है जो बहुत बार हिंसक रूप ग्रहण कर लेता है।
६. पं. लेखराम ने इस साधु का नाम सन्त अमीरसिंह बताया है।
७. आगे चल कर स्वामी महानन्द ने वैदिक धर्म का प्रचार किया। आर्यसमाज देहरादून का सभा भवन उनके नाम पर ही बनाया गया है।
८. स्वामीजी ने महाभाष्य की एक पुस्तक, ३५ रुपये नकद तथा मलमल का एक थान पं. दयाराम के हाथ मथुरा में दण्डीजी की सेवा में भेजा। अन्य वस्तुएं बांट दीं।
९. श्री मद्भागवत प्रथम स्कन्ध।
१०. कवि कुमार द्वारा लिखित इस विवरण की पाण्डुलिपि को इन पंक्तियों के लेखक ने उनके पुत्र ठा. गवेन्द्रसिंह से प्राप्त कर 'कर्णवास में महर्षि दयानन्द के ऐतिहासिक संस्मरण' शीर्षक से सम्पादित कर प्रकाशित कराया है।
११. कर्णवास में महर्षि दयानन्द के ऐतिहासिक संस्मरण पृ. ६ दयानन्द संस्थान नई दिल्ली से प्रकाशित—२०३२ वि.
१२. रामकृष्ण परमहंस न केवल कट्टर मूर्तिपूजक ही थे, किन्तु वे धर्म के नाम पर प्रचलित सभी प्रकार की अंध परम्पराओं तथा विश्वासों को यथावत् स्वीकार करने के पक्षपोषक थे।
१३. केशवचन्द्र सेन ने कालान्तर में ब्रह्म समाज के मूल सिद्धान्त-निराकार एकेश्वर उपासना

के स्थान पर भिन्न-भिन्न देवी देवताओं की पूजा उपासना को भी सत्य स्वीकार कर लिया था।

१४. पं. टीकाराम शास्त्री कर्णवास निवासी क्षत्रियों के गुरु थे। उनका मूलनिवास स्थान बदायूं जिले में चन्द्रनगर नामक ग्राम था। ग्यारह वर्ष की अवस्था में इन्होंने स्वामी दयानन्द के समीप रह कर विद्याध्ययन आरम्भ किया। इनका यज्ञोपवीत संस्कार भी स्वामीजी द्वारा ही हुआ था। प्रसिद्ध संस्कृत कवि पं. अखिलानन्द शर्मा इन्हीं पं. टीकाराम के पुत्र थे। द्रष्टव्य—दयानन्द दिग्विजय (ग्रन्थकार का परिचय) अखिलानन्द लिखित : इण्डियन प्रेस, प्रयाग से १९१० ई. में प्रकाशित

१५. यह भेंट आषाढ़ शु. ५. १९२४ वि. को बनखण्डी महादेव के मंदिर में हुई थी।

१६. प्रथम तो पं. टीकाराम ने कह दिया था कि गुरु जी ने गायत्री सुनाने का निषेध किया है, परन्तु स्वामीजी के यह कहने पर कि संन्यासी तो ब्राह्मणों का भी गुरु होता है, उन्होंने गायत्री मंत्र सुना दिया।

१७. कर्णवास में महर्षि दयानन्द के ऐतिहासिक संस्मरण पृ. ६

१८. कार्तिक १९२३ वि. में पं. टीकाराम ने जब दो क्षत्रियकुमारों को त्रिपदा वैदिकी गायत्री का उपदेश दिया था, तो कर्णवास के ब्राह्मणों ने यह कहकर कि ठाकुर राक्षसों को इसने ब्रह्मगायत्री का उपदेश दिया है, उसे जातिच्युत कर दिया था।—उपर्युक्त पुस्तक में कविकुमार शेरसिंह वर्मा की प्रस्तावना।

१९. उपर्युक्त पृ. ७

२०. वही पृ. ७

२१. इन्हीं आठ गप्पों को कालान्तर में स्वामीजी ने कानपुर में प्रकाशित किये गये अपने एक संस्कृत विज्ञापन में भी सम्मिलित किया था। द्रष्टव्य—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन। पं. भगवदत्त द्वारा सम्पादित २०१२ वि. द्वितीय संस्करण पृ. ३

२२. कर्णवास में महर्षि दयानन्द के ऐतिहासिक संस्मरण पृ. ९

२३. पं. अम्बादत्त स्वामी विरजानन्द तथा उनकी शिष्यमण्डली से परिचित थे। मथुरा तथा आगरा में वे स्वामी दयानन्द से भी भेंट कर चुके थे।

२४. कर्णवास में महर्षि दयानन्द के ऐतिहासिक संस्मरण पृ. १०

२५. वही पृ. १२

२६. वही पृ. १३

२७. वही पृ. १४

२८. वही पृ. १४

२९. वही पृ. १५

३०. इससे पूर्व पं. हीरावल्लभ ने पाणिनि के सूत्र 'इवे प्रतिकृतौ' तथा 'जीविकार्थेचापण्ये' की व्याख्या करते हुए काशिका तथा सिद्धान्तकौमुदी के प्रमाणों से ईश्वर के अवतार तथा मूर्तिपूजा की सिद्धि करने की चेष्टा की थी।

३१. कर्णवास में महर्षि दयानन्द के ऐतिहासिक संस्मरण पृ. १७

३२. वही पृ. १७

३३. वही पृ. १८

३४. वही पृ. १८

३५. द्रष्टव्य—शंकराचार्य कृत पुस्तक 'प्रश्नोत्तरी' जिसमें आचार्य ने 'द्वारं किमेकं नरकस्य' का उत्तर दिया है 'नारी'।

३६. इस पत्र के अन्त में पं. अंगद ने स्वयं अपनी प्रशंसा में यह श्लोक लिखा था—
शेषः पातालके चास्ति स्वर्लोके च बृहस्पतिः।
पृथिव्यामंगदः साक्षात् चतुर्थो नैव विद्यते॥

३७. यह पुस्तक स्वामी कैलासपर्वत ने भाद्रपद शुक्ला ७ सं. १९२५ वि. (२७ अगस्त १८६८ ई.) को लिखी तथा भगवन्त प्रकाश प्रेस धौलपुर से मई १८६९ ई. (वैशाख १९२६ ई.) में प्रकाशित हुई। इसकी एक प्रति सरदारमल अग्रवाल फर्रूखाबाद निवासी ने पं. लेखराम को दी थी।

३८. यजुर्वेद ३६/१२

३९. इस प्रसंग को पं. लेखराम ने पं. भूमिद्र शर्मा, पं. कृष्णवल्लभ पुजारी (कर्णवास), गोपालसिंह वर्मा (कर्णवास), ठाकुर गोपालसिंह रईस (कर्णवास), पं. गोपालचन्द्र सनाढ्य (मेरठ), राजा उदितनारायण रईस (मथुरा), ठाकुर शेरसिंह (कर्णवास) आदि अनेक प्रत्यक्षदर्शियों द्वारा प्रदत्त साक्षियों के आधार पर स्वलिखित जीवन चरित में निबद्ध किया है।

४०. कर्णवास में महर्षि दयानन्द के ऐतिहासिक संस्मरण पृ. १९

४१. अध्याय ८ श्लोक १५

४२. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥२। २३

४३. तैत्तिरीयोपनिषद्—भृगुवल्ली, सप्तम अनुवाक।

□□

गाङ्गेय प्रदेश में भ्रमण–(२)

पौष १९२५ वि. में स्वामी दयानन्द द्वितीय बार फर्रूखाबाद आये और लाला जगन्नाथप्रसाद के विश्रान्त घाट पर ठहरे। इस बार उनका निवास लगभग ६ मास तक रहा। इस समय तक उनकी ख्याति सुविस्तृत हो चुकी थी, अतः सहस्रों व्यक्ति उपदेश श्रवणार्थ तथा शंका समाधानार्थ उनके निकट आते। फर्रुखाबाद में स्वामीजी के निवास काल की घटनाओं को पं गणेशप्रसाद शर्मा ने पूर्ण सतर्कता से निबद्ध किया है।[1] उनके अनुसार एक कथावाचक पं. गंगाराम शास्त्री जब स्वयं स्वामीजी के सम्मुख आकर शास्त्रार्थ करने का साहस नहीं बटोर सके तो उन्होंने अपने पुत्र तथा एक अन्य युवक शिष्य को स्वामीजी के निकट भेजा। ऐसा करने में उनका प्रयोजन यह था कि ये लोग वार्तालाप कर स्वामीजी की विद्या तथा पाण्डित्य का पता लगा सकेंगे। जिस समय ये लोग स्वामीजी के निकट उपस्थित हुए, उस समय स्वामी महाराज अपने एक शिष्य पं. गंगादास को कुछ पढ़ा रहे थे। आगन्तुकों ने संन्यासी को प्रणाम किया तो महाराज ने 'आयुष्मान् भव' कह कर आशीर्वाद दिया, पुनः अध्यापन में लग गये। आगन्तुक युवक तो उद्दण्ड प्रकृति के ही थे, अतः उनमें से एक बोल पड़ा—'अहंकारी चाण्डाल होता है।' उसे इस बात से नाराजगी थी कि स्वामीजी अध्यापन छोड़ कर तुरन्त उसकी ओर अभिमुख क्यों नहीं हुए। युवक की इस धृष्टतापूर्ण उक्ति को सुन कर भी स्वामीजी अविचलित भाव से पं. गंगादास को पढ़ाते रहे। जब पाठ समाप्त हो गया तो उन्होंने आगन्तुकों से उनके आने का प्रयोजन पूछा। पं. गंगाराम शास्त्री का युवक छात्र तनिक भी विनम्र हुए बिना पुनः वही वाक्य कह बैठा, जो उसने पहले कहा था। इस पर स्वामीजी ने सुस्पष्ट वाणी में कहा—"तुम्हें पता नहीं, अहंकार क्या वस्तु है ? क्या तुमने मुझे अहंकारी कह कर स्वयं के अहंभाव को प्रकट नहीं किया है ?" इस पर युवक किञ्चित लज्जित होकर बोल पड़े—"आप जैसे उदाराशय महानुभाव को अहंकार शोभा नही देता।" अब स्वामीजी ने उन्हें समझाते हुए कहा कि स्वकार्य में प्रवृत्त रहना अहंकार नहीं है। मैं पढ़ाने के बीच में तुमसे बातचीत कैसे करता ?

युवकों का इस कथन से समाधान तो हुआ ही, वे स्वामीजी की विद्वता तथा उनके अपूर्व शास्त्रज्ञान के प्रति पूर्ण आश्वस्त भाव लेकर लौटे। उन्होंने पं. गंगाराम शास्त्री को समस्त वृत्तान्त कह सुनाया तथा स्वामीजी की अध्यापन शैली की भूरि भूरि प्रशंसा की। शास्त्रीजी ने अब स्वामी दयानन्द से शास्त्रार्थ करने का विचार त्याग दिया।

फर्रुखाबाद में रह कर दयानन्द ने पुरातन वैदिक पारिपाटियों को पुनः प्रचलित करने का जो अभियान आरम्भ किया, उसके अनुकूल परिणाम निकलने लगे। अनेक वैश्य महानुभावों ने विधिवत् यज्ञोपवीत दीक्षा ली। इससे पूर्व ब्राह्मणों ने उन्हें द्विजाति मानने से इन्कार कर दिया था तथा उन्हें यज्ञोपवीत के अधिकार से भी वंचित कर रक्खा था। वैश्य समुदाय में यज्ञोपवीत ग्रहण करने में पहल लाला जगन्नाथप्रसाद ने ही की। स्वामीजी से परामर्श कर मुख्य संस्कार सम्पन्न किये जाने से पूर्व ग्यारह पण्डितों से गायत्री पुरश्चरण कराया गया।

तदनन्तर तीन दिन के उपवास के पश्चात् १४ मार्च १८६९ को यज्ञोपवीत संस्कार विधिपूर्वक हुआ। अनेक वैश्यों ने तो विश्रान्त घाट पर स्वामीजी से ही उपनयन संस्कार कराया जब कि लाला जगन्नाथप्रसाद को उनके घर पर पं. पीताम्बरदास के द्वारा यज्ञोपवीत प्रदान किया गया था। इस समय तक स्वामी दयानन्द न तो नगरों में ही अनावश्यक रूप से जाते थे और गृहस्थ घरों में प्रवेश करना भी वे संन्यासाश्रम की मर्यादाओं के प्रतिकूल समझते थे।

वैश्यों के इस प्रकार सामूहिकरूपेण यज्ञोपवीत ग्रहण करने से पुरातन पन्थियों में असन्तोष फैलना स्वाभाविक ही था। पौरोहित्य वृत्ति से जीविका चलाने वालों को स्वामीजी का यह क्रान्तिकारी कदम कैसे रास आता? उन्होंने दो आपत्तियां उठाई। प्रथम तो यह कहा गया कि इन संस्कारों में गणपति पूजन आदि पौराणिक कृत्य नहीं किये गये। उनकी दूसरी आपत्ति यह थी कि ये यज्ञोपवीत संस्कार उस समय कराये गये हैं जब कि शुक्र अस्त हो चुका है। यह काल फलित ज्योतिष के विधान से अप्रशस्त माना जाता है। स्वामीजी ने दोनों बातों का समाधान इस प्रकार किया—वैदिक कर्मों के प्रारम्भ में गणेश आदि की विधियां नितान्त अर्वाचीन हैं। प्राचीन ग्रन्थों में इनका कहीं विधान नहीं मिलता। जहाँ तक शुक्र के अस्त होने का सवाल है, उन्होंने स्पष्ट किया कि हम तो उस शुक्र—शुद्ध, तेजस्वी परमात्मा को मानते हैं जो कभी अस्त नहीं होता।[२] भला सौरमण्डल का जड़ शुक्र ग्रह हमारे शुभाशुभ का नियामक कैसे हो सकता है? पौराणिक मण्डली महाराज के इन समाधान कारक वचनों को सुन कर भी आश्वस्त नहीं हुई। वैश्यों को यज्ञोपवीत पहना कर मानों उनके अधिकार एवं सत्ता को ही चुनौती दी गई थी।

जब स्वामी महाभाग के सम्मुख इन लोगों का कुछ भी बस नहीं चला तो उन्होंने मेरठ के पं. श्रीगोपाल[3] को स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिये बुला लिया। पं. श्रीगोपाल अपने सैकड़ों अनुयायियों और प्रशंसकों के साथ फर्रुखाबाद आया। शास्त्रार्थ की घोषणा कर दी गई। पं. पीताम्बरदास को मध्यस्थ नियत किया गया। निश्चय हुआ कि मूर्तिपूजा के औचित्य को शास्त्रार्थ का विषय रक्खा जाय। सर्व प्रथम अपने पक्ष की स्थापना करते हुए पं. श्रीगोपाल ने कहा—भो स्वामिन् मया रात्रौ विचारः कृतः सर्वत्र मूर्तिपूजनस्य व्यवस्थाऽस्ति पुनः कथं खण्डन क्रियते।

(मैंने रात्रि को विचार किया है कि मूर्तिपूजा की व्यवस्था सर्वत्र है, पुनः आप इसका कैसे खण्डन करते हैं?)

स्वामीजी ने इसके उत्तर में कहा—कुत्र लिखितमस्तितदुच्यताम् (मूर्तिपूजा की व्यवस्था कहाँ लिखी है, सो कहिए?)

इस समय श्रीगोपाल ने मनुस्मृति का निम्न श्लोक पढ़ा—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च॥ २।१७६

स्वामीजी ने कहा, अस्यार्थः क्रियताम्—इसका अर्थ कीजिए। उत्तर में पण्डितजी ने मनु के श्लोक का अर्थ करते हुए कहा कि इसमें देवताओं के पूजन तथा सायं प्रातः होम करने की आज्ञा है। साथ ही यह भी कह दिया कि पूजा तो मूर्ति की ही होती है। अतः इस श्लोक में मनु ने मूर्तिपूजा का ही विधान किया है।

पं. श्रीगोपाल के कथन के उत्तर में स्वामीजी ने 'पूजा' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ करते हुए कहा कि 'अर्च पूजायाम्' इस धातु से 'अर्चन' शब्द बनता है, जिसका अर्थ सत्कार करना होता है। यज्ञादि में विद्वानों का सत्कार ही देवपूजा है। उससे मूर्तिपूजा की तो कथमपि सिद्धि नहीं होती। इस प्रकार पर्याप्त देर तक तर्क वितर्क चलता रहा। तत्पश्चात् पं. श्रीगोपाल निरुत्तर होकर चले गये। पं. श्रीगोपाल की इस पराजय को पौराणिक मण्डल ने बड़ी गम्भीरता से लिया। उन्होंने निश्चय किया कि चाहे पण्डित जी स्वामीजी की युक्तियों का उत्तर नहीं दे सके, किन्तु इस पराजय को मौन भाव से स्वीकार कर लेना तो उनके लिये आत्मघाती होगा। अब उन्होंने निश्चय किया कि वे काशी की विद्वन्मण्डली से मूर्तिपूजा के समर्थन में व्यवस्था मंगायेंगे और उसे प्रचारित करेंगे।

इस निश्चय के पश्चात् पं. श्रीगोपाल अपने साथियों सहित काशी गये और फर्रूखाबाद के ही एक विद्वान् पं. शालिग्राम शास्त्री,[४] जो काशी में रहते थे, के माध्यम से काशी के शीर्षस्थ विद्वान् पं. राजाराम शास्त्री से मिले। पं. राजाराम को पं. शालिग्राम अपना गुरु मानते थे। पं. श्रीगोपाल ने पं. राजाराम से स्पष्ट कहा कि यदि उन्हें मूर्तिपूजा के समर्थन में व्यवस्था नहीं मिली तो फर्रूखाबाद के पण्डितों के गौरव को असीम क्षति पहुँचेगी और उनकी गरिमा नष्ट हो जायगी। वे अपने यजमानों को मुंह दिखाने लायक भी नहीं रहेंगे। इस पर पं. राजाराम ने कहा कि एक बार दक्षिण में जब मूर्तिपूजा के विरुद्ध चर्चा चली; तो काशी के विद्वानों ने एक व्यवस्था दी थी। यदि वे चाहें तो इसी की एक प्रति ले जायें। पं. श्रीगोपाल को इसी व्यवस्था से संतोष करना पड़ा।

व्यवस्था[५] लेकर वे फर्रूखाबाद लौटे तथा उसे प्रचारित कर दिया। संस्कृत में लिखी गई इस व्यवस्था में न तो पाषाण पूजन के समर्थन में कोई वैदिक प्रमाण ही प्रस्तुत किया गया था और न अष्टादश पुराणों की प्रामाणिकता ही सिद्ध की गई थी। वस्तुतः 'देव्याथर्वशीर्ष' तथा 'गोपालतापिनीय' आदि आधुनिक उपनिषदों के प्रमाणों से मूर्तिपूजा को सिद्ध करने का प्रयास इस व्यवस्था में था। सामवेदीय विंशति ब्राह्मण के 'अद्भुत शान्ति प्रकरण' का वह बहुचर्चित उद्धरण भी इस व्यवस्था के प्रमाण भाग में सम्मिलित कर लिया गया था जिसमें देव प्रतिमाओं के हंसने, रोने, गाने, नाचने आदि का उल्लेख मिलता है। व्यवस्था पर हस्ताक्षर करने वाले काशी के निम्नलिखिन १५ विद्वान् थे—स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती, पं. सखाराम भट्ट, पं. बापूदेव शास्त्री, पं. राजाराम शास्त्री, पं. बालशास्त्री, पं. चन्द्रशेखर, पं. कृपाकृष्ण, पं. बस्तीराम द्विवेदी, पं. दुर्गादत्त, पं. शीतल मिश्र, पं. देवदत्त, पं. घनश्याम, पं. चन्द्रधर मैथिल, पं. कालीप्रसाद बंगवासी तथा पं. दयाराम सारस्वत।

काशी के विद्वानों से प्राप्त इस व्यवस्था को लाकर पं. श्रीगोपाल ने फर्रूखाबाद में एक विचित्र कोलाहल उत्पन्न कर दिया। वैशाख शुक्ला चतुर्दशी १९२५ वि. (२४ मई १८६८) को उसने गंगा की रेती पर एक बांस गाड़ कर उस पर एक झण्डा लहरा दिया। इस ध्वजा पर लिखा था—'धर्मध्वजेऽयम्'। श्रीगोपाल ने उपस्थित वर्ग से कहा कि वह इस धर्मध्वजा पर जल चढ़ाए। उसने स्वयं भी एकत्रित मूर्ख मण्डल के समक्ष शोर शराबा किया तथा स्वामीजी के विरुद्ध अनर्गल कथन करता रहा। जब इसका समाचार स्वामी दयानन्द को मिला तो उन्होंने

शान्त भाव से कहा कि इस प्रकार गुल गड़ापा मचाना व्यर्थ है। यदि पण्डित जी को शास्त्रार्थ ही करना है, तो यहाँ आकर शान्तिपूर्वक शास्त्रविचार करें। जब अनेक तटस्थ व्यक्तियों ने स्वामी जी का यह अभिप्राय पं. श्रीगोपाल तक पहुँचाया और उससे आग्रह किया कि वह खुद स्वामी जी के निवास पर जाकर उनसे शंका समाधान क्यों नहीं कर लेता, तो इसके उत्तर में उसने कहा—स्वामी जी ने मंत्र प्रयोग से बिसरान्त (विश्रान्त) को कील दी है। यदि मैं वहाँ गया, तो मेरी पराजय हो जायगी। उसके इस उत्तर से लोगों ने समझ लिया कि पं. श्रीगोपाल का पक्ष कितना दुर्बल है। उन्मत्त की भांति श्रीगोपाल काशी से लाई व्यवस्था को दिखाता तथा 'दयानन्द परास्त हुए' की घोषणा करता रहा। 'जय देवी', 'जय काली' के उद्घोषों से वातावरण को गुंजाता वह समझ बैठा कि उसने सचमुच ही दयानन्द को शास्त्रार्थसंग्राम में पराजित कर दिया है।

पं. श्रीगोपाल के इस शास्त्रार्थ तथा उसके पश्चात् उत्पन्न अशान्तिपूर्ण परिस्थितियों को देखते हुए जिला दण्डनायक ने एक आरक्षी अधिकारी की नियुक्ति स्वामीजी के निवासस्थान पर कर दी तथा वहां नियुक्त प्रहरियों को आदेश दे दिया कि स्वामीजी से मिलने के लिये केवल जिज्ञासु वृत्ति के लोगों को आने दिया जाय। धूर्त एवं उद्दण्ड प्रकृति के लोग वहाँ आकर उपद्रव न करें, इस बात की सख्त ताकीद कर दी गई।

फर्रूखाबाद के इस निवासकाल की कतिपय अन्य घटनाएं भी उल्लेखनीय हैं। ज्वालाप्रसाद नामक एक ब्राह्मण, जो पोस्ट मास्टर के पद पर कार्य करता था, एक वाममार्गी पण्डित को पालकी में बिठा कर स्वामीजी के निकट ले गया। इस अविनीत पुरुष ने आते ही स्वामीजी पर दुर्वचनों की वर्षा आरम्भ कर दी, किन्तु निन्दा एवं स्तुति को तुल्य समझने वाले वीतराग संन्यासी ने उसकी ओर भ्रूनिक्षेप भी नहीं किया। वे स्वयं ही उस स्थान से चले गये। स्वामीजी के भक्तों को जब इस घटना का पता चला, तो उन्होंने उद्दण्ड वामाचारी को मारपीट कर भगा दिया। स्वामीजी जब थोड़ी देर पश्चात् पुनः अपने स्थान पर आये और उन्हें सारे तथ्यों का पता चला, तो उन्होंने अपने भक्तों को भी इस बात के लिये क्षमा नहीं किया कि उन्होंने उक्त अविनीत पुरुष के प्रति आवश्यकता से अधिक कठोरता दिखाई है। जब लाला जगन्नाथप्रसाद को इस घटना का पता चला तो उन्होंने कुछ व्यक्तियों को स्वामीजी की सुरक्षा की दृष्टि से नियुक्त कर दिया। फर्रूखाबाद में रहने वाले साध जाति[७] के लोगों ने भी स्वामी जी की सुरक्षा के लिये बारी बांध ली। वे नियमपूर्वक उस स्थान पर रहते, ताकि कोई व्यक्ति अपनी उद्दण्डता और दुष्ट प्रकृत्ति के कारण स्वामीजी को क्षति न पहुँचा सके।

तथ्य यह है कि सत्य के प्रति अविचल निष्ठा रखने तथा ढोंग, पाखण्ड और असत्य-आचरण पर निरन्तर प्रहार करते रहने के कारण स्वामी दयानन्द के जीवन में यदा कदा ऐसे प्रसंग आते ही रहे, जब कि दुष्ट वृत्ति के स्वार्थान्ध लोग उन्हें हानि पहुँचाने की चेष्टा करते थे। परन्तु दृढ़ ईश्वर विश्वासी और सत्य के प्रति अनन्य निष्ठावान् इस संन्यासी ने तो मृत्यु का कभी भय माना ही नहीं। जब लाला जगन्नाथप्रसाद ने उन्हें कहा कि सुरक्षा की दृष्टि से वे विश्रान्त के नीचे के अधिक सुरक्षित स्थान पर रहें, तो स्वामीजी ने अविचल भाव से उत्तर दिया—"यहाँ आप मेरी रक्षा कर लेंगे, परन्तु अन्यत्र कौन करेगा? मैं तो सर्वत्र एकाकी

भ्रमण करता हूँ। **"आज तक मेरे प्राण हरण की अनेक चेष्टाएं हुईं, किन्तु सर्व रक्षक परमात्मा के भरोसे मैं अपने कर्त्तव्य पालन में तत्पर रहा हूं और इसी प्रकार आगे भी रहूंगा।"**

'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्' का नीति वाक्य तो अपनी जगह ठीक ही है, किन्तु महामति विदुर की एक उक्ति को अपने जीवन का निर्देशक सिद्धान्त स्वीकार कर दयानन्द ने इस महान् सत्य का उद्घोष कर दिया था, कि **अप्रिय किन्तु लाभकारी सत्य को सुनने वाले और कहने वाले संसार में विरले ही होते हैं।**[८] नव जागरण के इसी काल में धर्म एवं समाज के सुधार एवं संस्कार का बीड़ा उठाने वाले महापुरुषों में अनेक ऐसे भी रहे हैं जिन्होंने केवल जन सामान्य की तुष्टि के लिये ही, यदा कदा, मिथ्याविश्वासों, अंध धारणाओं तथा रूढ़ियों से समझौता कर लिया था। कटु सत्य को कहने के साहस का अभाव, तथा ऐसा कथन करने के परिणामों को न झेल पाने के कारण ऐसे व्यक्ति सदा मुँहदेखी बातें करते रहे। सामाजिक बुराइयों की दो टूक निन्दा करने तथा धर्म के नाम पर पालित एवं पोषित अंध विश्वासों का खण्डन करने का साहस वे जन्म भर नहीं बटोर पाये। किन्तु दयानन्द कुछ अन्य धातु के ही बने थे। उन्होंने असत्य से कभी समझौता नहीं किया। अन्याय और अत्याचार के समक्ष कभी समर्पण नहीं किया। इस अविचल सत्यनिष्ठा के कारण चाहे उन्हें अपरिमित शारीरिक हानि, निन्दा और कुत्सा भी सहन करनी पड़ी, किन्तु सत्य और न्याय के पथ से वे कभी विचलित नहीं हुए।

यदि वे चाहते तो अपने समकालीन तथा परवर्ती तथाकथित लोकसंग्रही धर्म संशोधकों तथा समाज सुधारकों की ही भांति असत्य तथा पाखण्ड से समझौता भी कर सकते थे, धर्म के नाम पर प्रचलित अंधविश्वासों की तर्क पूर्ण वकालत भी कर सकते थे। उनके जैसे अपार वैदुष्य के धनी व्यक्ति के लिये पुराण कथाओं तथा भ्रष्ट तंत्र साहित्य की आलंकारिक व्याख्या करना भी कठिन नहीं था। थियोसोफिस्टों की ही भाँति हिन्दू धर्म में प्रचलित सभी प्रकार के आचार विचारों और थोथे कर्मकाण्डों की तथाकथित वैज्ञानिक व्याख्या करना भी उनके लिये शक्य था, तथा ऐसा करके वे सस्ती लोकप्रियता भी अर्जित कर सकते थे। परन्तु दयानन्द की प्रकृत्ति सर्वथा भिन्न प्रकार की थी। निन्दा और स्तुति को समान रूप से स्वीकार करने वाले, ऐश्वर्य और वैभव को जान बूझ कर ठुकरा देने वाले तथा जीवन और मृत्यु को समान रूप से देखने वाले निरीह परिव्राजक के लिये सत्य साधन से बढ़ कर और कुछ नहीं था। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

फर्रूखाबाद के रहने वाले गोवर्धनदास नामक एक वैरागी बाबा ने स्वामीजी को अपमानित करने के लिये जानबूझ कर एक उद्दण्ड तथा फक्कड़ व्यक्ति को उसके निकट भेजा। उसने स्वामीजी से पूछा—आप गंगा को मुक्तिदात्री मानते हैं या नहीं? स्वामीजी ने स्पष्ट किन्तु सरल भाव से कहा, भला नदी कैसे किसी को मुक्ति दे सकती है। मुक्ति के लिये तप, त्याग, तितिक्षा, तीव्र वैराग्य, परोपकार आदि वे गुण अपेक्षित हैं, जिनका शास्त्रों में उल्लेख हुआ है। स्वामीजी के इस कथन को सुन कर उस गुण्डे ने आव देखा न ताव, एक जूता महाराज के पुण्य शरीर पर फेंका और भागने लगा। उपस्थित साध जाति के सत्संगियों ने आक्रमणकारी बदमाश को पकड़ लिया और दण्डित करना चाहा। परन्तु वैयक्तिक मानापमान

से किंचित मात्र भी विचलित न होने वाले, दीपक की निष्कम्प लौ की भांति स्थिर रहने वाले इस स्थितप्रज्ञ संन्यासी ने अपराधी को छुड़ा दिया और कहा कि यह कृत्य इसने अज्ञानवश किया है। दूसरे के बहकावे में आकर जो किया जाता है, वह क्षम्य है। निर्बलों पर दया दिखाना सज्जनों का धर्म है।

मैं कभी कभी सोचता हूं कि क्या दयानन्द भी रामकृष्ण, विवेकानन्द की ही भांति विशाल और विराट् हिन्दू धर्म की समस्त प्रचलित रीति नीतियों के प्रति सहिष्णुता का भाव धारण कर सस्ती लोकप्रियता अर्जित नहीं कर सकते थे?[६] उन्हें क्या पड़ी थी कि वे अंध विश्वासों और मूढ़ता पूर्ण धारणाओं के स्तूपाकार पुञ्ज पर निर्मम प्रहार कर जन जन को अपना शत्रु बनाते? निश्चय ही दयानन्द अपने युग के अन्य धर्माचार्यों से नितान्त भिन्न प्रकृति के थे। असत्य, अन्याय और अज्ञान से समझौता करना उन्होंने सीखा ही नहीं था।

पुराण मतावलम्बियों से तो स्वामीजी की शास्त्रचर्चा होती ही थी, परन्तु अन्य मतावलम्बी भी यदा कदा धर्म चर्चा में सम्मिलित हो जाते। एक दिन इस्लाम के अनुयायी भी उनकी सेवा में पहुंचे। स्वामीजी ने इस मत के मानने वालों में पाई जाने वाली धार्मिक असहिष्णुता तथा मतान्धता की ओर संकेत करते हुए कहा कि धर्म चर्चा करने में तो मुझे आपत्ति नहीं है, किन्तु भय इस बात का है कि मेरी निस्संग और निष्पक्ष आलोचना को सुन कर कहीं आप आवेश में न आजावें। मुसलमानों के यह कह कहने पर कि वे धैर्यपूर्वक उनकी बातों को सुनेंगे, स्वामीजी वे निरपेक्ष भाव से इस्लाम में व्याप्त व्यर्थ के अनेक कर्मकाण्डों तथा प्रथाओं का खण्डन किया।

इधर पं० श्रीगोपाल द्वारा काशी से लाकर प्रचारित की गई मूर्तिपूजा विषयक व्यवस्था की चर्चा नगर में पर्याप्त समय तक चलती रही। लाला पन्नीलाल नामक एक धर्मनिष्ठ एवं श्रद्धालु रईस ने पं० पीताम्बरदास को यह कहकर काशी भेजा ताकि वे वहाँ से पता करके आवें कि काशी की विद्वन्मण्डली ने यह व्यवस्था क्यों और किन परिस्थितियों में दी है। फलतः जब पं० पीताम्बरदास काशी जाकर व्यवस्थादाता पण्डितों से मिले तो उन्हें बताया गया कि मूर्तिपूजा के समर्थन में एक पुरानी व्यवस्था पड़ी थी, उसे ही हमने पं० श्री गोपाल को दे दिया था। पण्डितों ने यह भी कहा कि मूर्तिपूजा तो एक लौकिक कृत्य है, उसके समर्थन में वैदिक प्रमाण तलाश करना असम्भव है। निष्कर्षतः उन्होंने कहा कि प्रतिमा-पूजन तो गुड़ियों के खेल के तुल्य क्रीड़ा मात्र है।

पं० पीताम्बरदास इन्हीं तथ्यों को लेकर फर्रूखाबाद लौटे और व्यवस्था का सारा कच्चाचिट्ठा लाला पन्नीलाल को कह सुनाया। इसे सुन कर लालाजी का मन भी प्रतिमार्चन से विरक्त हो गया। वे एक देवमंदिर के निर्माण का संकल्प किये बैठे थे, किन्तु अब उनका यह विचार भी समाप्त हो गया। स्वामी दयानन्द के अनुरोध से उन्होंने इसी धन से संस्कृत पाठशाला स्थापित करने का निश्चय किया। इस समय स्वामीजी की यह धारणा भी दृढ़ होती जा रही थी कि पुरातन संस्कृत विद्या का पुनः प्रचार हुए बिना आर्योचित आचारव्यवहार तथा वैदिक रीति नीति का प्रचलन होना सम्भव नहीं है। अतः वे ऐसी पाठशालाओं की स्थापना के लिये प्रयत्नशील थे, जिनमें वैदिक तथा आर्ष शास्त्रों की शिक्षा दी जा सके। फर्रूखाबाद में ही

उनके इस मनोरथ को सर्व प्रथम सफलता मिली। पं० ब्रजकिशोर को ३० रु. मासिक पर अध्यापक नियत किया गया तथा छात्रों को भोजन, वस्त्र तथा पुस्तक आदि निःशुल्क देने की व्यवस्था की गई। पाठशाला के लिये बाबू दुर्गाप्रसाद का आर्थिक सहयोग भी प्राप्त हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी का भारतवासी यूरोपीय जातियों के सम्पर्क में आकर उनके अनेक गुण दोषों को ग्रहण कर चुका था। यों कहना चाहिए कि गुणों की अपेक्षा उसने पाश्चात्यों के दोषों को ही अधिकांश में स्वीकार किया था। हिन्दू रईसों में विलासिता, दुराचार और वेश्यागमन जैसी बुराइयां जोरों पर थीं। धनी और सम्पन्न गृहस्थ वेश्याओं से संसर्ग रखना अपनी शान समझते थे। दुराचारग्रस्त लोगों को कुपथ से हटा कर सुपथगामी बनाना दयानन्द का प्रियतर कार्य था। फर्रूखाबाद के ही किसी धनाढ्य पुरुष के कुपथगामी पुत्र को सदाचार की ओर प्रवृत्त करने के लिये जब महाराज से निवेदन किया गया, तो उन्होंने उस दुराचारी युवक को अपने निकट बुला कर वेश्यागमन तथा उससे होने वाली हानियों का अत्यधिक लोमहर्षक वर्णन किया। परिणामस्वरूप उस युवक ने तत्काल अपनी दुर्वृत्ति को छोड़ कर सदाचारपूर्ण जीवन यापन का संकल्प कर लिया।

पुनः पं. श्रीगोपाल के प्रसंग पर आना होगा। इस पण्डित की शास्त्रार्थ में पराजय क्या हुई, पौराणिक दल में अवसाद सा छा गया। कुछ लोगों ने एक सम्पन्न व्यक्ति प्रेमदास देवीदास खत्री से अनुरोध किया कि वे कानपुर के पं हलधर ओझा को स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने हेतु आमंत्रित करें। उन्हें विश्वास था कि ओझाजी स्वामीजी को शास्त्रार्थ समर में पराजित कर देंगे। फलतः पं. हलधर ओझा को बुलाया गया। ज्येष्ठ शुक्ला दशमी सं. १९२६ वि. (१९ जून १८६९ ई. शनिवार) का दिन शास्त्रार्थ के लिये निश्चित हुआ। एक बड़े हुजूम को लेकर ओझाजी स्वामीजी के निवास पर पहुंचे। पं. हलधर ने स्वामीजी को प्रणाम किया, उत्तर में महाराज ने भी 'आनन्दितोऽसि ?' आप आनन्द में हैं ? ऐसा कह कर आगमन का कारण पूछा। ओझाजी अभी बोल भी नहीं पाये थे कि लाला देवीदास ने ओझाजी के आगमन का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए कहा कि शास्त्रीय विषयों पर वार्तालाप के लिये ही ये आये हैं। स्वामीजी के सहमति प्रदान करने पर प्रथम मूर्तिपूजा पर चर्चा चली, परन्तु ओझाजी ने शीघ्र ही प्रकरण को छोड़कर मद्यपान की बात चला दी।[१०] इस पर स्वामी ने कहा कि इन्हें शास्त्रार्थ के मूल मुद्दे से हटकर अन्य विषय की चर्चा नहीं चलानी चाहिए, साथ ही उन्होंने मद्यपान के शास्त्रवर्णित दोष भी बताए।

पं. हलधर तो मत्सरग्रस्त थे, अतः उन्हें येनकेन प्रकारेण मदिरापान का समर्थन करना ही अभीष्ट जान पड़ा। उन्होंने 'सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्' इस वचन को उद्धृत कर सौत्रामणियाग में सुरापान की शास्त्रीय परिपाटी का उल्लेख किया। स्वामीजी ने उत्तर में कहा कि यहां 'सुरा' से अभिप्राय शराब का नहीं है। यज्ञों में सोमलतादि औषधियों का ही वर्णन मिलता है, अतः उनके रसों का पान ही अभीष्ट है। मदिरापान को तो सभी शास्त्रों ने गर्हित बताया है। ओझा जी ने अब प्रकरण को ताक में रख कर स्वामीजी से संन्यासी के लक्षण पूछे। परन्तु जब महाराज ने बदले में उनसे ब्राह्मण के लक्षण पूछ लिये, तो वे बगलें झांकने लगे। अन्ततः स्वामीजी ने ओझाजी की संस्कृत में सम्भाषण करने की असमर्थता को

लक्षित कर कहा—'भाषायांवद, प्रकरण विहाय मा गच्छ।' यदि संस्कृत में नहीं बोल सकते तो भाषा में बोलो। प्रकरण को छोड़कर इधर उधर मत भटको। अब ओझा के लिये और कोई उपाय अवशिष्ट नहीं रहा तो उसने स्वामीजी के कथन में आये 'प्रकरण' शब्द को ही पकड़ लिया और कहा—'अहं तु प्रकरणं विहाय न गच्छामि किन्तु श्रीमतां पुनः पुनः प्रकरणमभिनयते प्रकरणशब्दस्य कथं सिद्धि ?' मैं तो प्रकरण नहीं छोड़ता परन्तु आप जो बारबार प्रकरण शब्द का उच्चारण करते हैं, भला बताइये प्रकरण शब्द की सिद्धि कैसे होगी ?

संस्कृत शास्त्रार्थ प्रणाली की एक रूढ़ प्रवृत्ति यह रही है कि यदा कदा वादी प्रतिवादी अपने विचारणीय मूल विषय को छोड़कर व्याकरण की सूक्ष्म एवं जटिल प्रक्रियाओं पर प्रश्नोत्तर करने लगते हैं। ऐसा करने में उनके द्विविध प्रयोजन होते हैं। प्रथम तो वे शास्त्र चर्चा के मौलिक प्रसंग से श्रोताओं के ध्यान को हटाने में सफल हो जाते हैं, द्वितीयतः वे अपने व्याकरण ज्ञान का सिक्का भी प्रतिपक्षी पर जमाना चाहते हैं। सम्भवतः हलधर का इरादा भी मूर्तिपूजा के मूल विचार से स्वामीजी को हटाकर उन्हें व्याकरण की दुरूह प्रक्रियाओं में उलझाने का था। इसलिए उसने 'प्रकरण' शब्द की सिद्धि पूछी। उसे शायद पता नहीं था कि दयानन्द ने एक ऐसे गुरु के सान्निध्य में रहकर संस्कृत व्याकरण का अध्ययन किया है, जो अपने युग का महान् वैयाकरण था।

अब बात धातु के समर्थ अथवा असमर्थ होने की चल पड़ी। इस प्रसंग में पाणिनीय सूत्र[११] को उद्धृत करते हुए स्वामीजी ने धातु को समर्थ सिद्ध किया तथा अपने पक्ष की पुष्टि में महाभाष्य को भी प्रस्तुत किया।[१२] ओझा ने महाभाष्य के वचन की अवगणना करते हुए प्रथम तो कह दिया कि यह वाक्य महाभाष्य में है ही नहीं। इस पर स्वामीजी ने महाभाष्य की पुस्तक मंगाकर विचारणीय वाक्य उन्हें दिखा दिया। अब ओझा के लिए व्यर्थ की दाम्भिकता दिखाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग अवशिष्ट नहीं रहा, तो वे यह कर मौन हो गये कि हमारा कथन भी महाभाष्य वचन से किसी भी प्रकार कम नहीं है। ओझाजी की इस गर्वोक्ति का प्रत्याख्यान करते हुए स्वामी महाभाग ने स्पष्ट कर दिया कि भगवान् भाष्यकार के समक्ष उनकी कोई गणना नहीं है। पुनः कहा—यदि आपको अपने पाण्डित्य का इतना गर्व है तो बताइये कि 'कल्म' किसकी संज्ञा है ?

इस पर ओझा निरुत्तर हो गये। तब स्वामीजी ने ही महाभाष्य की पुस्तक खोल कर बताया कि अष्टाध्यायी के 'अकथितं च'[१३] सूत्र की व्याख्या में महाभाष्यकार ने 'कर्म' की 'कल्म' संज्ञा की है। इस व्याकरणशास्त्रीय चर्चा में ही अतिकाल हो गया, मध्य रात्रि भी व्यतीत हो गई, तो निश्चय हुआ कि शास्त्रार्थ दूसरे दिन के लिये स्थगित कर दिया जाय। अब विचार का बिन्दु यही रह गया कि 'समर्थः पद विधिः' सूत्र सर्वत्र लगता है या नहीं। स्वामी जी का पक्ष था कि प्रस्तुत सूत्र सर्वत्र लगता है, जब कि ओझा जी इसे स्वीकार नहीं करते थे।

दूसरे दिन ज्येष्ठ शुक्ला एकादशी को पुनः शास्त्रार्थ सभा रात्रि के ८ बजे जुटी। स्वामीजी ने महाभाष्य की पुस्तक मंगाई तथा दीपक के प्रकाश में सम्बन्धित सूत्र की व्याख्या को पढ़ कर सुनाया। पुनः अनेक उदाहरण देकर उन्होंने सूत्र की व्यापकता सिद्ध की। इस पर

ओझा जी ने मौन साध लिया। जब लाला जगन्नाथप्रसाद ने उपस्थित विद्वत् समुदाय से शास्त्रार्थ का निष्कर्ष व्यक्त करने के लिये कहा, तो पण्डित वर्ग ने मुक्त कण्ठ से कह दिया कि ओझा जी अपने पक्ष को सिद्ध नहीं कर सके। पराजय की यह घोषणा पं. हलधर के लिए चरम निराशा भाव लेकर आई। उनके चेहरे का रंग उड़ गया, यहां तक कि वे मूर्छित से हो गये। उन्हें तुरन्त सभास्थल से हटाया गया। उपस्थित जनसमाज ने विद्वन्मूर्धन्य दयानन्द के जयजयकार से दिग्दिगन्त को गुंजा दिया।

जिस समय स्वामी दयानन्द शास्त्रार्थ के अवसर पर अपनी अपार विद्वता, अगाध पाण्डित्य तथा वाद विवाद कौशल का परिचय देते, तो श्रोतृवर्ग उनकी तेजस्विता, ओजस्विता तथा प्रभावोत्पादकता से विस्मय विमुग्ध हो जाता। उन्हें उस संन्यासी का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रखर तथा दुर्धर्ष लगता, किन्तु उनके चरित्र में मादर्वता तथा कोमलता के तत्त्वों की भी कमी नहीं थी। उनकी सहनशीलता भी पराकाष्ठा की थी। मत सम्प्रदायों को वे देश की एकता को क्षति पहुचाने वाला समझते थे। खेद है कि साम्प्रदायिक निष्ठा तथा भारतीय समाज को विश्रृंखलित एवं विभाजित करने में उत्तरदायी भूमिका निभाने वाली सामाजिक कुप्रथाओं की दयानन्दकृत आलोचना को अनेक लोग सही परिप्रेक्ष्य में नहीं देख सके थे। इन आलोचनाओं में लोगों को कठोरता, असहिष्णुता, आग्रह की प्रवृत्ति तथा कट्टरता दिखाई देती थी। वास्तव में उनके व्यक्तित्व में कोमलता का भाव इतना प्रबल था कि वे अपने विरोधियों के प्रति भी उदारता तथा क्षमाशीलता का आचरण करने में संकोच नहीं करते थे। एक दिन जब भ्रमण के लिये जा रहे थे, तो मार्ग में सिद्धू नाम के एक उद्दण्ड ब्राह्मण ने अनेक दुर्वचन कह कर उन्हें तिरस्कृत किया। इस व्यक्ति की धृष्टता उस समय सीमा का अतिक्रमण कर गई, जब उसने देशोद्धार के लिये कृतसंकल्प, सर्वस्व-त्यागी, संन्यासी को ईसाइयों का वेतनभोगी कहा, तथा यह भी आरोप लगाया कि हिन्दुओं को ईसाई बनाना ही दयानन्द का लक्ष्य है। स्वामीजी ने इस दुष्ट पुरुष के अपशब्दों पर किञ्चित भी कर्णपात नहीं किया, अपितु जब वह गालियाँ देता देता स्वामीजी के निवास स्थान पर आ गया, तो महाराज ने उसे प्रेमपूर्वक बैठने के लिये कहा। परिव्राजक संन्यासी की अद्भुत क्षमाशीलता तथा विनम्रता को देखकर उद्दण्ड ब्राह्मण पानी पानी हो गया और महाराज के चरणों में प्रणिपात कर अपनी धृष्टता के लिए क्षमायाचना करने लगा। भूत मात्र के लिए दया एवं करुणा का भाव रखने वाले परिव्राट् ने नितान्त निर्लिप्त भाव से कहा—"तुम्हारे दुर्वचन तो हम तक पहुंचे ही नहीं। वे आकाश से प्रकट होकर आकाश में ही विलीन हो गये। तुमने मेरा कुछ भी अपराध नहीं किया है, अतः तुम्हारी चिंता व्यर्थ है।"

इसी प्रकार फर्रुखाबाद के नामी गुण्डे प्रसाद ने एक बार कुछ लोगों के बहकावे में आकर स्वामीजी से उद्धत व्यवहार करना चाहा। उनके निवासस्थान पर पहुंचकर वह कुछ काल तक तो मूर्तिपूजा और अवतार आदि विषयों पर चर्चा करता रहा, परन्तु अन्ततः उस पर स्वामी महाराज के सौजन्य और सौमनस्यपूर्ण व्यवहार का कुछ ऐसा असर पड़ा कि वह अपनी उद्दण्डता को सर्वथा भूल ही गया। हाथ की लाठी को तुरन्त फेंककर उनके चरणों में गिर पड़ा। इस प्रसंग में एक अन्य घटना भी उल्लेखनीय है। एक दिन जब स्वामीजी विश्रान्त घाट पर गंगा में पैर लटकाये बैठे थे, तो कुछ शरारती लड़कों ने रेत के गोले बनाकर

उन पर फेंकने आरम्भ किये। वे कुछ देर तक तो चुपचाप लड़कों की इस उद्दण्डतापूर्ण कार्यवाही को सहन करते रहे, परन्तु जब रेत के कण उनकी आंखों में गिरने लगे, तो वे उठकर स्वस्थान में चले आये।

कायमगंज के प्रसिद्ध रईस पं० परमानन्द चतुर्वेदी[१४] पं० बलदेवप्रसाद के साथ स्वामीजी से मिलने आये। मृगया में पशुहिंसाजन्य पाप तथा मद्यपान के दोष आदि विषयों पर उनसे चर्चा हुई। जून १८६८ ई. के किसी दिन स्वामीजी बिना किसी को सूचित किये फर्रूखाबाद से चले गये। एक दिन श्रृंगीरामपुर रह कर वे ज्येष्ठ १९२६ वि. में जलालाबाद पहुंचे। यहां पहले तो एक वृक्ष के नीचे ही डेरा किया, पुनः शरणदास उदासी की कुटिया में चले गये। यहां पं. हकूमतराय नामक एक विद्वान् से उनकी शास्त्रार्थ विषयक प्रारम्भिक चर्चा हुई परन्तु पण्डित महाशय शिरोपीड़ा का बहाना बनाकर टाल गये। यह भी कह दिया कि दयानन्द नास्तिक है, उससे शास्त्रार्थ करना व्यर्थ है। जलालाबाद से चल कर वे आषाढ़ १९२६ वि. में कन्नोज आये।

कन्नौज में उनका निवास कालिन्दी नदी के तट पर गौरीशंकर महादेव के चबूतरे पर हुआ। नगर के प्रसिद्ध पं. हरिशंकर शास्त्री उनसे शास्त्रार्थ करने आये। यह शास्त्रार्थ बड़ा मनोरञ्जक रहा। प्रारम्भ में जब स्वामीजी ने शास्त्रीजी से उनका नाम पूछा तो पण्डितजी ने एक श्लोक पढ़ा[१५] जिसका अभिप्राय यह था कि अपना और अपने गुरु का नाम नहीं बताना चाहिए। इस पर स्वामीजी ने आपत्ति करते हुए कहा कि जब आप कर्मकाण्ड के प्रारम्भ में संकल्प वाक्य पढ़ते हैं तो क्या अपने नाम का उच्चारण नहीं करते? इस पर शास्त्रीजी निरुत्तर हो गये, उन्होंने अपना नाम भी बता दिया।

अब मूर्तिपूजा पर चर्चा चली। स्वामीजी ने कहा कि शास्त्रों में मूर्तिपूजा का विधान कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता, अलबत्ता पञ्चमहायज्ञों को गृहस्थियों का इतिकर्त्तव्य अवश्य बताया गया है।[१६] जब शास्त्रीजी ने मूर्तिपूजा के निषेध में शास्त्राज्ञा जाननी चाही तो उत्तर में स्वामीजी ने कहा कि वे स्वयं इस विधान के समर्थन में कोई विधि वाक्य बतायें। इस पर पं. हरिशंकर ने मनुस्मृति के 'वेदः स्मृतिः सदाचारः'[१७] इस श्लोक को प्रस्तुत किया और कहा कि 'सदाचार' के अन्तर्गत मूर्तिपूजा आदि के विधान आ जाते हैं। स्वामीजी ने उनकी इस धारणा का खण्डन करते हुए कहा कि मनूक्त सदाचार के अन्तर्गत पञ्चमहायज्ञादि विधान स्वीकार किये जाते हैं। अन्त में मनुस्मृति में प्रयुक्त 'प्रतिमा' शब्द पर चर्चा चल पड़ी। स्वामी के अनुसार यह शब्द वस्तुओं के 'बाट तोल' के अर्थ में यहाँ प्रयुक्त हुआ है, जब कि शास्त्री जी के अनुसार यहां 'मूर्ति' अर्थ लिया जाना चाहिए। शास्त्रार्थ निर्णायक दौर में तब पहुंचा, जब शास्त्री जी ने कहा कि पूर्वमीमांसा से उनके मत की पुष्टि होती है। उनका अभिप्राय था कि पूर्वमीमांसाकार ने 'प्रतिमा' शब्द का प्रयोग देव मूर्तियों से ही लिया है। स्वामीजी उसका प्रतिवाद करते थे।

अन्ततः पं. हरिशंकर ने कहा कि यदि मीमांसा दर्शन से मेरे मत की पुष्टि नहीं हो, तो मैं शिखा सूत्र का त्याग कर संन्यासी हो जाऊंगा। स्वामीजी इस पर यही कह कर रह गये कि यह तो आपकी इच्छा पर निर्भर है। घर लौट कर जब शास्त्री जी ने मीमांसा के पूर्वोक्त प्रकरण को देखा, तो उन्हें स्वामीजी का कथन ही सत्य प्रतीत हुआ। उनकी सत्यनिष्ठा

ने कुछ ऐसा जोर मारा कि वे अपनी पराजय स्वीकार कर पूर्व कृत प्रतिज्ञानुसार संन्यासी होने के लिये तैयार हो गये। स्वामीजी के निकट आकर कहा कि उनका पक्ष गिर गया है और वे संन्यास ग्रहण करने के लिये तत्पर हैं। स्वामीजी को यह कदापि अभीष्ट नहीं था कि कोई विद्वान् शास्त्रार्थ में पराजित होने मात्र से संन्यास ले ले। अतः उन्होंने पण्डित जी से कहा कि संन्यास तो उत्कृष्ट ज्ञान और वैराग्य से लिया जाता है, न कि शास्त्रार्थ में पराजित होने मात्र से। साथ ही उन्होंने उपस्थित जन समुदाय के समक्ष पं० हरिशंकर की भूरि भूरि प्रशंसा यह कह कर की कि ऐसे सत्यप्रतिज्ञ पण्डित इस युग में दुर्लभ हैं।

स्वामीजी हास्य विनोद का कोई अवसर हाथ से नहीं जाने देते थे। वे सामान्य विनोद के माध्यम से ही कभी कभी तत्त्व की बातें कह जाते। पं० पुतईलाल भट्टाचार्य नामक एक विद्वान् यह तो स्वीकार करने लगे कि मूर्तिपूजा वेदविरुद्ध है, परन्तु स्वयं ५० वर्ष की दीर्घावधि तक मूर्तिपूजक रहे थे। उनके पास सिंहासन भरी मूर्तियां थी। एक दिन स्वामीजी के समक्ष कहने लगे कि जिस कृत्य को मैं निरन्तर पचास वर्ष तक करता रहा, उसे एकाएक छोड़ना दुष्कर है। भला अर्ध शताब्दी पर्यन्त पूजा में रही इन देव प्रतिमाओं को गंगा में कैसे विसर्जन कर दूँ? अब स्वामीजी ने हंसते हुए कहा, ऐसा करिये, रात्रि के समय इन प्रतिमाओं के मुंह में मिष्टान्न लगा दीजिये, ये स्वयं ही पधार जायेंगी। उनके कथन का अभिप्राय था कि मिष्टान्न पूरित प्रतिमाओं को चूहे उठा कर ले जायेंगे।

स्वामी दयानन्द में प्रत्युत्पन्नमतित्व भी उत्कृष्ट कोटि का था। इसी हाजिरजवाबी के बल पर वे अनेक गम्भीर बातें अनायास कह देते। पं० गयादीन नामक एक व्यक्ति उनसे मिलने आये। पूछने पर उन्होंने अपना नाम बता दिया। स्वामीजी ने चट कह दिया, जब दीन (धर्म) ही चला गया तो, बचा ही क्या? पुनः खेद प्रकट करते हुए कहा कि देश का कैसा दुर्भाग्य है, आज हम लोग अपने नाम रखने की पुरातन परिपाटी को भूल गये और घृणित, अर्थहीन, तथा निंदास्पद नाम रखने लगे हैं।

जैसा कि हम देख चुके हैं गाङ्गेय प्रदेश में भ्रमण करते समय दयानन्द सम्पूर्ण हिन्दू समाज के लिये एक सी पूजा उपासना पद्धति तथा समान धार्मिक कर्मकाण्ड का प्रचार करते रहे। ऐसा करने में उनका मुख्य लक्ष्य था, धार्मिक और साम्प्रदायिक वैषम्य को समाप्त कर देश के जनजीवन को एक समान भावधारा में प्रवाहित करना। उन्होंने यह अनुभव कर लिया था कि पूजा उपासना प्रणालियों के वैविध्य और पार्थक्य ने समस्त समाज को विभाजित कर दिया है। जिनकी उपासना प्रणाली में एकता नहीं है, वे लोग सामाजिक और राष्ट्रीय दृष्टि से भी एक नहीं हो सकते। कैसी विडम्बना थी कि शास्त्रीय दृष्टि से द्विज कहे जाने वाले लोगों में भी पृथक् पृथक् गायत्री मंत्र प्रचलित थे। विभिन्न देवी देवताओं के नाम पर भी पृथक् पृथक् गायत्री मंत्र कल्पित कर लिये गये थे।[१६] वैश्यों के लिये धनाधीश कुबेर के नाम का गायत्री मंत्र प्रचलित था। एक वैश्य ने स्वामीजी को बताया कि उनके गुरु ने कुबेर गायत्री के जप करने का उसे उपदेश दिया है। यह कुबेर गायत्री इस प्रकार है—

तत्पुरुषाय विद्महे कुबेराय धीमहि। तन्नो धनदः प्रचोदयात्॥

स्वामी महाराज यह सुनकर बोले कि इस प्रकार भिन्न भिन्न वर्णों के लिये विभिन्न ायगत्रियों की कल्पना शास्त्र विरुद्ध तथा अलीक है। सभीवर्णों के लिये वेदोक्त गायत्री के जप

तथा उपासना का ही समान विधान है। निश्चय ही स्वामी दयानन्द विभिन्न साम्प्रदायिक और सामाजिक विभेदों को समाप्त कर बृहत्तर आर्यसमाज को संगठन और एकता के सूत्र में बंधा देखना चाहते थे। न केवल एकदेशीय समाज तथा भारत राष्ट्र, अपितु विश्वमानवता की मौलिक एकता के प्रतिष्ठाता दयानन्द के लिये इस प्रकार की उपासना गत एकता के सूत्रों का अन्वेषण स्वाभाविक ही था।

कन्नौज के प्राचीन नगर में मात्र ७-८ दिन निवास कर स्वामी दयानन्द आषाढ़ १९२६ वि. में कानपुर आये और भैरव मन्दिर के निकट दरगाहीलाल वकील के घाट पर ठहरे। कानपुर में उनके आगमन का समाचार विद्युत् प्रवाह की भांति फैल गया। सैंकड़ों व्यक्ति शंका समाधान तथा विचार विमर्श हेतु आने लगे। कर्णवास निवास के दिनों में वे जिन अष्टविध गप्पों का खण्डन तथा आठ प्रकार के सत्यों का मण्डन करते थे,[२०] उन्हें अब एक संस्कृत विज्ञापन के रूप में छपा कर प्रकाशित करा दिया। इन गप्पों के खण्डन करने तथा वार्तालाप के प्रसंग में भूयोभूयः 'गप्प' शब्द का प्रयोग करने के कारण लोग उन्हें 'गप्पा बाबा' के नाम से पुकारने लगे। धर्म चर्चा में जहाँ कहीं उन्हें किसी व्यक्ति से पाखण्ड और मिथ्या को प्रश्रय देने वाली कथा सुनाई पड़ती, वे अनायास कह उठते, 'एतदपि गप्पमस्ति'—यह भी गप्प ही है।

कानपुर के इस निवास काल में पं. हलधर ओझा तथा पं. लक्ष्मण शास्त्री से उनका प्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ से पूर्व स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती नामक एक संन्यासी ने कानपुर में स्वामी दयानन्द को बदनाम करने के लिये नाना प्रवाद प्रचलित किये और कहा कि यह नास्तिक होने के साथ साथ ईसाइयों का एजेन्ट है। इन्हें अंग्रेजी सरकार ने हिन्दुओं को ईसाई बनाने के लिये नियुक्त किया है। एक दिन यही संन्यासी जब शास्त्रार्थ का विचार लेकर स्वामी जी के निकट आया तो स्वामी महाराज ने उसे मूर्ख और अविद्वान् कह कर उससे शास्त्रार्थ करना अस्वीकार कर दिया। इस पर ब्रह्मानन्द रुष्ट हो गया और कहने लगा कि जो लोग दयानन्द के निकट जाकर उनसे शास्त्र चर्चा और वार्तालाप करते हैं, वे सभी इस नास्तिक संन्यासी के संसर्ग के कारण अशुद्ध हो गये हैं। उन्हें प्रायश्चित करना चाहिए। अनेक भोले भाले व्यक्ति उसके कहने में आकर गंगा स्नान, पञ्चगव्य भक्षण तथा यज्ञोपवीत परिवर्तन कर प्रायश्चित करने भी लगे। इसी संन्यासी ने कानपुर के दो सम्पन्न व्यक्तियों—पं. गुरुप्रसाद और पं. प्रयागनारायण को यह प्रेरणा दी कि वे पं. हलधर ओझा को बुला कर स्वामी दयानन्द से उनका शास्त्रार्थ करायें। उक्त दोनों व्यक्ति कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। वे आर्थिक दृष्टि से पर्याप्त सम्पन्न थे तथा उन्होंने लाखों रुपया व्यय कर 'कैलास' और 'वैकुण्ठ' नामक दो मन्दिरों का निर्माण भी कराया था।

स्वामी दयानन्द का यह सुनिश्चित मत था कि मूर्तिपूजा और मन्दिरों के विस्तार ने देश को आर्थिक दृष्टि से दुर्बल बनाया है। इन देवस्थानों के निर्माण और रख रखाव में प्रतिवर्ष करोड़ों रुपया व्यय होता है। यह सारी धनराशि अनुत्पादक कार्यों में ही खर्च होती है। यदि इस अपरिमित द्रव्य का उपयोग राष्ट्र निर्माण के कार्यों में किया जाय, तो देश को समृद्ध होते कितनी देर लगेगी। उन्होंने पं. गुरुप्रसाद और पं. प्रयागनारायण से भी यही कहा कि मन्दिर निर्माण में धन व्यय करने की अपेक्षा वे यदि इससे कला कौशल का विस्तार करते, तो

हजारों बेरोजगारों को रोजी मिलती। इतना ही क्यों, यदि वे चाहते तो इस धन का सदुपयोग दरिद्र कान्यकुब्ज ब्राह्मणों की उन बिन ब्याही कन्याओं का विवाह कराने में कर सकते थे, जो कि धनाभाव के कारण ३०-३० वर्ष की हो जाने पर भी कुंवारी बैठी हैं।

पण्डितद्वय को श्री महाराज का यह सत् परामर्श अच्छा नहीं लगा। वे तो मूर्तिपूजा और देवायतनों के विरोधी संन्यासी को शास्त्रार्थ सभा में पराजित करने के लिये पं. हलधर ओझा तथा पं. लक्ष्मण शास्त्री को खींच लाये। ३१ जुलाई १८६९ को शास्त्रार्थ निश्चित हुआ। शास्त्रार्थ देखने के लिये नगर की मानवमेदिनी उमड़ आई। लगभग २०-२५ हजार व्यक्ति शास्त्रार्थ स्थल पर उपस्थित थे। ओझा जी का आग्रह था कि कानपुर के सहायक जिलाधीश डब्लू. थेयर्स[२१] शास्त्रार्थ की मध्यस्थता करें। ये महानुभाव संस्कृतज्ञ थे। पं. प्रयागनारायण के आग्रह पर उन्होंने मध्यस्थ बनना स्वीकार भी कर लिया। दरगाहीलाल के घाट पर ही शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। दर्शकों में सरकारी अधिकारी तथा अनेक अंग्रेज भी उपस्थित थे।

पं. हलधर ने शास्त्रार्थ चर्चा को आरम्भ करते हुए स्वामी जी द्वारा प्रकाशित 'अष्ट गप्पम्' और अष्ट सत्यम्' शीर्षक विज्ञापन[२२] की किसी व्याकरण विषयक त्रुटि के सम्बन्ध में पूछा। उत्तर में स्वामीजी ने कहा कि भाषा विषयक साधारण बातों पर तो संस्कृत पाठशालाओं के बालक विवाद करते हैं। यहाँ उपस्थित सहस्रों लोग तो शास्त्र विषयक विवादों का निर्णय जानना चाहते हैं, अतः यहाँ उन्हीं विषयों की चर्चा अभीष्ट है। इस पर हलधर ने ग्रन्थ प्रामाण्य का विषय उठा कर महाभारत की प्रामाणिकता जाननी चाही। स्वामी जी ने उसे आर्ष ग्रन्थ स्वीकार किया। अब ओझाजी ने महाभारत वर्णित एकलव्य उपाख्यान का उल्लेख करते हुए कहा कि यदि द्रोणाचार्य की मूर्ति की पूजा करने से भील बालक को सिद्धि प्राप्त हो सकती है, तो मूर्तिपूजा की उपयोगिता निर्विवाद है। इसके उत्तर में स्वामीजी का कथन था कि एक अज्ञानी जंगली बालक के कार्य को आदर्श कैसे कहा जा सकता है? उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि एकलव्य को अस्त्र शस्त्र संचालन में नैपुण्य मूर्तिपूजा के कारण नहीं, अपितु निरन्तर अभ्यास के कारण प्राप्त हुआ था। पं. लक्ष्मण शास्त्री ने भी एकाध प्रश्न किया, जिसका स्वामीजी ने तत्काल समाधान कर दिया। जब पण्डितद्वय मौन हो गये तो मध्यस्थ थेअर्स साहब ने स्वामीजी से एक प्रश्न पूछा कि वे किसे पूज्य मानते हैं? स्वामीजी का उत्तर था कि उनकी दृष्टि में तो एकमेव परमात्मा ही पूज्य और उपास्य है। अब थेअर्स साहब ने दूसरा प्रश्न किया—तो फिर आप अग्नि में घृतादि होम कर अग्नि की पूजा क्यों करते हैं। इसके उत्तर में स्वामीजी ने अग्निहोत्र में निहित वैज्ञानिक रहस्यों का उद्घाटन करके बताया कि इस होम से हम जड़ अग्नि की पूजा नहीं करते, अपितु सुगन्धित द्रव्यों को उसमें डाल कर उन्हें अधिकाधिक सूक्ष्म बनाते हैं तथा इस प्रकार वायुमण्डल को शोधित करते हैं।

मध्यस्थ महोदय को स्वामी जी के उत्तरों से संतोष हो गया। वे अपनी छड़ी उठा कर चले गये। मध्यस्थ के जाते ही पं. हलधर के साथियों ने उनकी जयजयकार की तथा उन्हें गाड़ी में सवार करा कर ले गये। कानपुर से प्रकाशित होने वाले 'शोलाएतूर' पत्र ने पं. गुरुप्रसाद शुक्ल के कहने पर स्वामीजी के शास्त्रार्थ में पराजित होने के समाचार को प्रकाशित

कर दिया।[२३] जब यह बात स्वामीजी के भक्तों को ज्ञात हुई तो वे शास्त्रार्थ में उपस्थित रहने वाले कानपुर के मुन्सिफ तथा सब जज आदि के परामर्श से श्री डब्लू. थेग्रर्स के निकट गये तथा उनसे शास्त्रार्थ विषयक लिखित निर्णय देने की प्रार्थना की। इस पर श्री थेग्रर्स ने स्पष्ट लिख दिया कि उस समय मैंने स्वामी दयानन्द के पक्ष में अपना निर्णय दिया था और मुझे विश्वास है कि उनकी युक्तियाँ वेदों के अनुकूल थीं। मेरे विचारानुसार शास्त्रार्थ में उनकी विजय हुई। यदि आप कहेंगे तो मैं अपने निर्णय के कारण थोड़े दिन पश्चात् आपको बतला दूंगा।"[२४]

यह हम देख चुके हैं कि विरक्त अवस्था को स्वीकार करने के पश्चात् ही स्वामी दयानन्द ने योगसाधन में अपना अधिकांश समय व्यतीत किया था, जिसके परिणामस्वरूप उन्हें योगजन्य सिद्धियों की भी प्राप्ति हुई थी। सच्चे योगियों की भांति योगज सिद्धियों और विभूतियों का प्रदर्शन उन्हें कभी अभीष्ट नहीं रहा। परन्तु यदा कदा उनकी योग विषयक उपलब्धियों का परिचय लोगों को मिल ही जाता था। कानपुर में स्वामी जी का निवास गंगा के तट पर ही था। वे यदा कदा गंगा जल में लेट जाते और जलक्रीड़ा का आनन्द लेते। एक दिन जब उनका आधा शरीर जल के भीतर और आधा बाहर था, अचानक उन्हें जल में एक मगर दीख पड़ा। इस हिंसक जीव को देखते ही साथ में खड़े पं. हृदयनारायण वकील के अनुज भाग खड़े हुए और दूर से ही स्वामीजी को मगर के आसन्न भय से सतर्क करते हुए उन्हें जल से बाहर निकल आने के लिये कहा। 'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः'[२५] योग दर्शन के इस सूत्र में वर्णित तथ्य 'अहिंसा की सिद्धि से वैर त्याग होता है,' उस समय मूर्तिमान हो गया जब कि इस हिंसक जन्तु के सामीप्य से किंचित् मात्र भी भय माने बिना, स्वामी जी ने निर्विकार भाव से कहा—जब हम उसका कुछ नहीं बिगाड़ते, तो वह भी हमें पीड़ित नहीं करेगा।

कानपुर प्रवास काल में ही स्वामी जी की योग विषयक अबाध गति का परिचय उनके भक्तों एवं प्रशंसकों को मिला। पं. हृदयनारायण वकील और पं. काशीनाथ मुन्सिफ ने उन्हें समाधिस्थ अवस्था में सर्वथा निष्कम्प, निस्पन्द और अडोल देखा। उस समय उनके चेहरे पर योगसाधना जन्य दिव्य आभा झलकती थी।

मूर्तिपूजा के प्रति दयानन्द के भावों में जो उग्रता थी, उसे उन्होंने कभी छिपाया नहीं। वे इस प्रथा को भारत की चहुंमुखी अधोगति का कारण मानते थे और प्रत्येक स्तर पर इसका विरोध करने के लिये तत्पर रहते। शास्त्रप्रमाण, युक्ति और तर्क आदि से तो वे मूर्ति-पूजा के औचित्य का निषेध करते ही थे, यदा कदा सहज विनोद भाव से भी ऐसी बातें कह जाते, जिनसे उनकी वाग्विदग्धता भी प्रकट होती और प्रतिपक्षी का भी समाधान हो जाता। कानपुर निवास काल की ही कुछ घटनायें हैं जो उनके मूर्तिपूजा विषयक विचारों को तो स्पष्ट करती ही हैं, उनकी रोचक खण्डन शैली की भी एक झलक प्रस्तुत करती हैं।

एक दिन कुछ पण्डित मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ करने के लिए आये और षड्विंश ब्राह्मण के बहुधा उद्धृत उसी प्रमाण को प्रस्तुत करने लगे, जिसमें कहा गया है कि प्रतिमाएं हंसती हैं, रोती हैं, नृत्य करती हैं आदि। स्वामीजी ने सहज भाव से पूछ लिया—मूर्तिपूजा के समर्थन

के कोई प्रमाण लाये हैं ? पण्डितों ने कहा कि हां, लाये हैं। अब स्वामीजी अनायास बोल पड़े—वही षड्विंश ब्राह्मण का 'प्रतिमा हसन्ति' वाला लाये होंगे। यह देख कर कि स्वामीजी तो उनके द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले शास्त्रीय प्रमाण को पहले ही जान चुके हैं, पण्डितों का शास्त्रार्थ करने का उत्साह तो वहीं समाप्त हो गया। अतः उन्होंने लौट जाना ही श्रेयस्कर समझा।

कानपुर के भैरवमंदिर में स्थित भैरव की प्रतिमा को लेकर अनेक चमत्कारपूर्ण प्रवाद प्रचलित थे। एक दिन लोगों ने यह किंवदन्ती प्रचलित कर दी कि मंदिर के निकटवर्ती सरकारी शस्त्रागार के प्रहरी ने जब भैरव प्रतिमा की सवारी को रोका तो जागृत भैरव ने सिपाही को दे मारा। सिपाही बेचारा गिर पड़ा। जब यह कहानी स्वामीजी ने सुनी तो उन्होंने हंसते हुए कहा—भैरव ने क्या दे मारा, सिपाही नींद में होगा, तन्द्रावस्था में गिर पड़ा। यदि भैरवजी अपना रौद्र रूप दिखाते हैं, तो हमें क्यों नहीं दण्डित करते, हम तो नित्य ही उनका खण्डन करते हैं।

साम्प्रदायिक प्रतीकों और चिह्नों ने भी समाज में विभाजन के ही बीज बोये हैं, यह उनका दृढ़ विचार था। वैष्णव सम्प्रदाय के तिलकधारी व्यक्ति को देखकर कहते, मस्तक पर श्री (लक्ष्मी) का प्रतीक तिलक धारण रक्खा है, और मांगते हैं भीख। इन तिलकधारियों की कैसी विडम्बना है। श्रावण मास में शिवपिण्डी पर बिल्व पत्र चढ़ाये जाते हैं। एक दिन कुछ ब्राह्मण शिवजी को बिल्वपत्र अर्पित कर स्वामीजी से भेंट हेतु आये। जब स्वामीजी को यह ज्ञात हुआ कि ये लोग महादेव की प्रतिमा पर बिल्व अर्पित कर आये हैं, तो विनोद भाव से बोले—किसी ऊंट को बेल के पत्त खिलाते तो उसका पेट भरता। पत्थर पर चढ़ाने से क्या लाभ हुआ ?

पुलिस का एक हैडकान्सटेबिल स्वामीजी के उपदेश को शिरोधार्य कर शिव के पार्थिव पूजन से विरक्त हो गया और आकर कहने लगा कि मैंने महादेव की प्रतिमा फेंक दी है, और रुद्राक्ष की माला भी तोड़ दी है। बताइये, यदि मेरे इन कृत्यों से यदि पाप हुआ तो उसका दायित्व किस पर होगा ? स्वामीजी ने हंस कर कहा, जो पाप होगा वह मुझे ही होगा, इसकी तुम्हें चिन्ता नहीं करनी है। हां, जो पुण्य हुआ तो वह तुम्हें ही होगा। रुद्राक्ष को वे फल की गुठलियाँ कहते और जोर देकर बताते कि रुद्राक्ष धारण मुक्ति का साधन नहीं होता, मुक्ति तो ज्ञान से होती है।

स्वामीजी के परिचित तथा सुहृद संन्यासी कैलासपर्वत किसी कार्यवश कानपुर आये। जब श्री महाराज ने उन्हें विचारार्थ अपने स्थान पर आमंत्रित किया तो जन्मना जाति के आधार पर ऊंचनींच का भाव रखने वाले संन्यासी कैलासपर्वत ने कहला भेजा कि हम शूद्र के स्थान पर नहीं आते। बात यह थी कि स्वामी दयानन्द जिस घाट पर ठहरे थे, वह मुन्शी दरगाहीलाल वकील का था, जो जाति से कायस्थ थे। उस युग में कायस्थ जैसी प्रबुद्ध जाति को भी पौराणिक लोग शूद्रों में परिगणित करते थे। स्वामीजी ने जब एक संन्यासी के मुख से ऐसे संकीर्ण विचार सुने, तो उन्होंने व्यंग्यपूर्वक उत्तर देते हुए कहलाया—यदि शूद्र के स्थान पर आने में आपको आपत्ति है, तो म्लेच्छ राज्य में क्यों रहते हो ? कितना सटीक उत्तर

था। भारतवासियों के बहुमुखी अधःपतन का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता था कि जहाँ वे विदेशियों की दासता को मुक्त भाव से स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं करते, वहाँ अपने ही देशवासी और स्वधर्मानुयायी के प्रति उनकी घृणा और तिरस्कार की कोई सीमा भी नहीं थी। अतः शूद्र के स्थान पर आने में संकोच करने वाले साधु कैलासपर्वत के प्रति स्वामीजी की यह उक्ति इस निर्मम सत्य की ही उद्घोषणा करती है कि यदि विदेशी और विधर्मी म्लेच्छ के शासन को सहन कर सकते हो तो स्वधर्मी तथा अपने देश के निवासी के प्रति इतनी विरक्ति क्यों ?

निश्चय ही स्वामीजी का कानपुर प्रवास अत्यन्त सफल रहा। सैंकड़ों व्यक्तियों ने जड़ पदार्थों की पूजा का परित्याग कर दिया। प्रतिमा पूजन के प्रति उनकी विरक्ति इस सीमा तक पहुंच गई कि लोग देवविग्रहों को गंगा में प्रवाहित करने लगे। देव प्रतिमाओं का यह तिरस्कारपूर्ण जल विसर्जन मूर्तिपूजक हिन्दू समुदाय को सह्य नहीं हुआ। उन्होंने हलधर ओझा के नाम से एक विज्ञप्ति प्रकाशित कराई, जिसमें स्वामी दयानन्द के उपदेशों को ग्रहण करने वाले लोगों से प्रार्थना की गई थी कि वे मूर्तियों को गंगा में न बहाकर कैलास अथवा वैकुण्ठ नामक मंदिरों में पहुंचा दें। यदि वे मूर्तियों को उपर्युक्त मंदिरों तक पहुंचाने में भी अक्षम हों, तो वे इस विज्ञप्ति के प्रकाशित करने वालों को मात्र सूचना ही दे दें, ताकि परित्यक्त मूर्तियों को मंदिरों में पहुंचाने की अन्य व्यवस्था की जा सके।

मथुरा निवासी प्रसिद्ध साहित्यकार तथा कालान्तर में स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित परोपकारिणी सभा के संयुक्त मंत्री पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने कानपुर में गंगातट पर ही इस संन्यासी के दर्शन किये थे तथा उनके द्वारा किया गया वेदगान सुना था। सायंकाल का समय था। पण्ड्याजी अपने एक अध्यापक मित्र के साथ भ्रमण करते करते गंगातट पर पहुंच गये। यहां उन्होंने स्वामी महाराज की मधुर कण्ठध्वनि सुनी। इस मधुर वेदध्वनि से आकृष्ट होकर जब वे निकट गये तो ज्ञात हुआ कि संन्यासी अर्ध निमीलित नेत्र, पद्मासन लगाये बैठे हैं तथा सामगान कर रहे हैं। पण्ड्याजी अपने साथी के साथ थोड़ी देर बैठ कर इस अपूर्व दृश्य को देखते रहे।

परन्तु शीघ्र ही वहाँ एक दुर्घटना घटित हुई। स्वामीजी के विरोधियों की भी कमी नहीं थी। संन्यासी को घाट की बुर्ज पर अकेला बैठा जानकर बदमाशों का एक समूह लाठी घुमाते और ढेले फेंकते हुए वहां आया। इन्हीं में से एक व्यक्ति, ज्यों ही साध कर लाठी का प्रहार स्वामीजी पर करने लगा, तो उन्होंने उसकी लाठी को पकड़कर आक्रमणकारी आततायी को ही गंगा के प्रवाह में ढकेल दिया। पुनः फुर्ती से समीपवर्ती एक वृक्ष की शाखा को उखाड़ कर आक्रमणकारियों का मुकाबिला करने के लिए तत्पर हो गये। सिंह गर्जना करते हुए संन्यासी ने दुष्ट समुदाय को ललकारा—मुझे निरा साधु ही मत समझना। तुम्हारे जैसे अनेकों के लिए तो मैं अकेला ही काफी हूं। वीर संन्यासी के इस वज्रघोष को सुनकर उपद्रवी लोग भाग खड़े हुए।

यहां आते आते हम देखते हैं कि स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों, विचारों तथा कार्य पद्धति में निरन्तर स्पष्टता, प्रौढ़ता तथा परिपक्वता आती जा रही है। वे अपने जीवन के

उद्देश्यों और लक्ष्यों को तो पहले से ही स्थिर कर चुके थे। उन्होंने प्रसंगोपात्त कहा कि अब तक इस देश के पण्डितगण व्यक्तिगत निंदा, स्तुति, अर्थ लोभ अथवा प्राणहानि के भय के कारण सत्य को छिपाते रहे हैं, परन्तु मेरा मार्ग उनसे भिन्न है। मैं अपने गुरुदेव की आज्ञानुसार अपनी अधिकतम शक्ति से सत्य स्थापना और असत्य के खण्डन में तत्पर रहूँगा। यदि इसके लिए देश में वृहद् आन्दोलन भी करना पड़े, तो ऐसा करने में मुझे कोई संकोच नहीं होगा।

सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन को वे सदा वरीयता प्रदान करते थे। इस दृष्टि से वे अपने पूर्ववर्ती और परवर्ती सभी समाजसुधारकों से अधिक प्रगतिशील तथा युगधर्म का अनुसरण करने वाले महापुरुष थे। उनके पूर्ववर्ती समाज संशोधक राजा राममोहनराय यद्यपि धर्म शोधन तथा समाज संस्कार की भावनाओं के लिये पुरातन वैदिक धर्म तथा उपनिषद् प्रतिपादित विचारधारा के ऋणी थे, किन्तु यह भी सत्य है कि प्रचलित सामाजिक कुप्रथाओं तथा दूषित रीति रिवाजों का विरोध करने में वे समकालीन ईसाई प्रचारकों की हिन्दू धर्म और रीति नीति की कठोर आलोचनाओं से भी प्रभावित हुए थे। इसी प्रकार स्वामीजी के समकालीन ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तथा केशवचन्द्रसेन आदि समाज संशोधकों ने भी विदेशी धर्म प्रचारकों द्वारा की गई हिन्दू धर्म तथा समाज की समालोचना के परिप्रेक्ष्य में ही अपनी सुधार विषयक नीतियों का निर्माण किया था। परन्तु दयानन्द की यह विशेषता है कि उन्होंने बाल निवाह विषेध, विधवा विवाह का औचित्य, अस्पृश्यता का उन्मूलन, नारी जाति का सार्वत्रिक उत्थान आदि सुधार कार्यक्रमों को केवल इसीलिये स्वीकार नहीं किया था कि इन कार्यक्रमों को ईसाई पादरियों अथवा अंग्रेजी शिक्षित व्यक्तियों का समर्थन प्राप्त था, अपितु उनकी दृढ़ धारणा थी कि समाज सुधार का यह कार्यक्रम आर्य सभ्यता की मूल अवधारणाओं के सर्वथा अनुकूल है, तथा इसका प्रचलन सामयिक परिस्थितियों में आवश्यक भी है।

यह बात भी नहीं कि स्वामी दयानन्द केवल स्वधर्म तथा स्वसमाज के दोषदर्शन में ही तत्पर रहते थे। अवसर आने पर वे हिन्दू धर्म से भिन्न सैमेटिक मतों में प्रचलित अंधविश्वासों तथा मूर्खतापूर्ण धारणाओं के उन्मूलन का भी प्रयास करते। यदा कदा मुसलमान मौलवियों और ईसाई पादरियों से भी उनका धर्म विषयक वार्तालाप होता था। कानपुर में ही जब एक मौलवी ने उनके निकट आकर कुरान के ईश्वरीय ज्ञान होने तथा खुदा के कलाम होने की चर्चा का सूत्रपात किया तो स्वामीजी ने इस विश्वास का प्रतिवाद करते हुए कहा कि जिस ग्रन्थ के आदि में ही 'प्रारम्भ करता हूँ मैं अल्लाह के नाम पर, जो बख्शने वाला तथा रहम करने वाला है' यह वाक्य प्रयुक्त हुआ हो, भला उसका रचयिता स्वयं ईश्वर कैसे हो सकता है ? कहना नहीं होगा कि स्वामीजी के इस अकाट्य तर्क ने मौलवी साहब का मुख बंद कर दिया।

परन्तु निश्चय ही उनका मुख्य लक्ष्य हिन्दू धर्म में व्याप्त दोषों तथा हिन्दू समाज में प्रचलित बुराइयों को दूर करना ही था। वे हिन्दू जाति की सार्वत्रिक अधोगति का एक प्रमुख कारण मूर्तिपूजा को मानते थे। इस प्रथा के दोषों का उद्घाटन करते समय वे प्रायः दो बातें प्रस्तुत करते। प्रथम तो उनका कथन था कि हमारी परस्परा में वेदाज्ञा को ही

धर्म कहा गया है और मूर्तिपूजा का विधान वेदों में कहीं भी उल्लिखित नहीं है। जो यह कहता है कि मूर्तिपूजा भावना का प्रश्न है, तो इसका उत्तर यह होगा कि मिथ्या भावना से लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो सकती। कोई दरिद्र भिक्षुक भावना करने से ही चक्रवर्ती सम्राट् नहीं बन सकता, इसी प्रकार मूर्ति में ईश्वर की भावना करने से यह मानव निर्मित जड़ वस्तु सच्चिदानन्दादि लक्षणान्वित परमात्मा की स्थानापन्न नहीं हो सकती।

स्वामी दयानन्द की मूर्तिपूजा प्रतिषेध विषयक इसी विचारसरणि को दृष्टिपथ में रख कर उनके द्वारा व्यक्त किये गये खण्डनात्मक उद्‌गारों की समीक्षा करना उचित होगा। कानपुर का ही एक प्रसंग है। एक साधु ने स्वामीजी से उनका जल पात्र मांगा। यह पूछने पर कि वह उससे क्या करेगा, साधु ने उत्तर दिया कि शिवप्रतिमा पर जल चढ़ाऊंगा। मूर्तिपूजा के प्रति अत्यन्त तिरस्कार का भाव रखने वाले दयानन्द ने चट कह दिया यदि पत्थर पर ही जल चढ़ाना है, तो पात्र की क्या आवश्यकता है? मुंह में पानी भर कर कुल्ला क्यों नहीं कर देते। शब्द कठोर अवश्य हैं, किन्तु दयानन्द की वाचिक कठोरता को बुरा कहने वालों ने क्या कभी यह भी सोचा है कि उन्हीं की पूज्य देव प्रतिमायें कुत्ते आदि पशुओं द्वारा तो अपवित्र होती ही रही हैं, मूर्तिभंजक समुदाय ने भी विगत काल में नितान्त बर्बरता और पशुता के साथ इनका तिरस्कार ही किया है। यदि वे धर्म और संस्कृति के शत्रु इन मूर्तिभंजकों के कृत्यों को क्षमा कर सकते हैं, तो उनके ही धर्म और परम्पराओं के पुरस्कर्ता दयानन्द के प्रति व्यर्थ का आक्रोश प्रकट करने में क्या औचित्य है?

जिस महापुरुष ने धार्मिक और सामाजिक रूढियों, अंधविश्वासों और अनाचारों के प्रति सतत अभिशाप वृष्टि की, वह अपने व्यक्तिगत व्यवहार में कितना उदार, सहनशील तथा निर्लेप था, यह भी कानपुर के ही एक संस्मरण से स्पष्ट होता है। गंगास्नान के लिये आने वाले यात्रियों की यजमानवृत्ति से जीविकोपार्जन करने वाला एक गंगापुत्र (पण्डा) नियमित रूप से स्वामीजी के स्थान पर आकर उन पर गालियों की वर्षा करता। स्वामीजी ने उसके इस कटूक्ति वर्षण की ओर कभी ध्यान ही नहीं दिया। संन्यासीजी का यह नियम था कि श्रद्धालु जनों से जो फल, फूल, मेवा, मिष्टान्न आदि पदार्थ उन्हें भेंट स्वरूप मिलते, उन्हें वे आगन्तुक व्यक्तियों में बाँट देते। एक दिन ये पदार्थ प्रचुर मात्रा में शेष रह गये। स्वामीजी यह विचार कर ही रहे थे कि इन पदार्थों को वे किसे देवें, उन्होंने देखा कि वही अवाच्य-वर्षणपटु गंगापुत्र उनके निवास पर आया है। स्वामीजी ने सहज भाव से उसे अपने निकट बुलाया और स्नेह पूर्वक उसे फल, मिठाई आदि देते हुए कहा कि आगे भी वह वहां आता रहे। संन्यासी का यह कृपा प्रसाद उसे नियमित रूप से मिलता ही रहेगा। स्वामीजी की इस अहैतुकी कृपा तथा अनन्य औदार्य को देख कर गंगापुत्र के पश्चाताप की कोई सीमा नहीं रही। वह आचार्य चरणों में प्रणिपात कर कहने लगा—'यदि मेरी दुष्टता की सीमा नहीं है तो आपकी सुजनता का भी कोई पार नहीं है। मेरा अपराध क्षमा करें।' स्वामीजी ने उसी सहजता से उत्तर दिया, 'भाई मैंने तुम्हारी गालियों को कभी अपने हृदय में स्थान दिया ही नहीं, अतः तुम्हारा दुखी होना अकारण ही है।'

यह बात नहीं कि स्वामी महाराज जड़ पूजा का निषेध करके ही अपने कर्त्तव्य की

इतिश्री समझ लेते थे। वे आर्यों के लिये आचरणीय वैदिक कर्मों का विधान भी करते थे। संध्यादि पञ्चमहायज्ञ, गायत्री जप, वेदादिशास्त्रों का अध्ययन सभी द्विजातियों के लिये विधेयात्मक कर्त्तव्य हैं, यह उनका क्रियात्मक उपदेश था। यह पूछने पर कि मूर्तिपूजा भी तो पर्याप्त प्राचीन काल से प्रचलित है, इसे करने में क्या हानि है, अपनी प्रत्युत्पन्नमति से वे उत्तर देते—चोरी का कृत्य भी तो पुराना है। केवल पुरातन होने से ही कोई वस्तु आचरणीय नहीं हो जाती। पुराणमित्येव न साधु सर्वम्।

इस प्रकार लगभग तीन मास का काल कानपुर नगर में व्यतीत कर, बिना किसी को सूचना दिये पर्यटन प्रिय संन्यासी यहाँ से चले गये। उनकी अपरिग्रह वृत्ति का परिचय इस बात से मिला कि वे अपनी अतिरिक्त कौपीन को भी वहीं छोड़ते गये। एक सज्जन ने कानपुर में उन्हें नया कौपीन प्रदान किया था, अतः पुराना कौपीन भी उन्हें भार मात्र ही प्रतीत हुआ।

□□

पाद टिप्पणियां

१. फर्रूखाबाद का इतिहास—ले. पं. गणेशप्रसाद शर्मा, आर्यसमाज फर्रूखाबाद द्वारा १९३१ ई. में प्रकाशित।

२. तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः। यजुर्वेद ३२। १

३. पं. श्रीगोपाल मेरठ जिले के भूड़बराल नामक ग्राम के निवासी थे। कालान्तर में इन्होंने स्वामी दयानन्द प्रतिपादित सिद्धान्तों में खण्डन में 'वेदार्थ प्रकाशः' नामक एक द्वादशाध्यायात्मक ग्रन्थ लिखा था। विशेष जानकारी के लिये द्रष्टव्य दयानन्द दिग्विजयार्क (द्वितीय खण्ड) पं. गोपाल शास्त्री शर्मा लिखित।

४. पं. शालिग्राम शास्त्री कालान्तर में गवर्नमेंट कालेज, अजमेर में हैड पण्डित के पद पर नियुक्त हुए थे। वे विचारों से आर्यसमाजी थे।

५. मूल व्यवस्था दयानन्द दिग्विजयार्क प्रथम खण्ड पृ. ९७-१०० तथा फर्रूखाबाद का इतिहास पृ. १००-१०३ पर उद्धृत हुई है।

६. देवतायतनानि कम्पन्ते दैव प्रतिमाहसन्ति दपन्ति गायन्ति खिद्यन्ति।

७. सतनामी मत के मानने वाले साध जाति के लोग फर्रूखाबाद जिले में बहुसंख्यक हैं। ये लोग परिश्रम पूर्वक जीविका निर्वाह करते हैं तथा मद्य मांसादि का प्रयोग नहीं करते। प्रायः निर्व्यसनी और सात्विक स्वभाव के होते हैं। स्वामी दयानन्द की शिक्षाओं से यह वर्ग बड़ा प्रभावित हुआ था। स्वामीजी ने जब इन लोगों द्वारा प्रदत्त कढ़ी भात का भोजन स्वीकार किया, तो तथाकथित उच्च जाति वालों ने आपत्ति की। परन्तु स्वामीजी ने यह कह कर समाधान किया कि शुद्ध आचार व्यवहार के पुरुष का भोजन स्वीकार करने में कोई हानि नहीं है।

८. पुरुषा बहवो राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥ महाभारत-उद्योगपर्व ३७।१५

९. स्व. रामधारीसिंह दिनकर ने रामकृष्ण परमहंस द्वारा सभी पुरातन रीति नीति के समर्थन की वकालत करते हुए लिखा है—"रामकृष्ण में आकर ही देवी देवता, पौराणिक आचार और अनुष्ठान, धर्म की विविध साधनाएं एवं जनता के वे अनेक धार्मिक विश्वास भी सत्य हुए जिनकी ओर से बोलने का साहस किसी भी सुधारक को नहीं हुआ था।" धर्म की साकार प्रतिमा परमहंस रामकृष्णदेव सरस्वती—१९५५ ई. परन्तु विचारणीय बात यह है कि क्या सभी प्रकार के अच्छे बुरे पुरातन आचार, अनुष्ठान का समर्थन औचित्य पूर्ण माना जा सकता है ?

१०. कहते हैं कि हलधर ओझा तांत्रिक थे, अतः उनके द्वारा प्रसंग से बाहर जाकर मद्य की चर्चा उठाना अधिक असंगत नहीं था।

११. अष्टाध्यायी २।१।१

१२. सापेक्षोऽसमर्थो भवति। महाभाष्य २।१।१

१३. अष्टाध्यायी १।४।५१

१४. पं. परमानन्द चतुर्वेदी कालान्तर में झालावाड़ राज्य के दीवान नियुक्त हुए। ये एक सुपठित तथा विद्या प्रेमी पुरुष थे।

१५. आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च।
श्रेयस्कामो न गृह्णीयात् तथा पुत्र कलत्रयोः॥

१६. मनुस्मृति ४।२१

१८. मनुस्मृति २।१२

१९. महानारायणोपनिषद् में भिन्न भिन्न देवताओं के विभिन्न गायत्री मंत्र संगृहीत हैं।

२०. दयानन्द प्रतिपादित आठ सत्य निम्न हैं—

१. ऋग्वेदादीन्येक विंशति शास्त्राणि परमेश्वरर्षिरचितानि प्रथमं सत्यम्।

२ ब्रह्मचर्याश्रमेण गुरुसेवास्वधर्मानुष्ठानपूर्वकं वेदानां पठनं द्वितीयं सत्यम्।

३. वेदोक्त वर्णाश्रमस्वधर्म संध्या वंदनाग्निहोत्राद्यनुष्ठानं तृतीयं सत्यम्।

४. यथोक्तदारादिगमनम् पञ्चमहायज्ञानुष्ठानमृतुकाल स्वदारोपगमनं श्रौतस्मार्ताचाराद्यनुष्ठानम् चतुर्थ सत्यम्।

५. शमदमतपश्चरणयमाविसमाध्यन्तोपासना सत्संगपूर्वकं वानप्रस्थाश्रमानुष्ठानं पञ्चमं सत्यम्।

६. विचारविवेकवैराग्यपराविद्याभ्याससंन्यासग्रहणपूर्वकं सर्वकर्मफलत्यागाद्यनुष्ठानं षष्ठं सत्यम्।

७. ज्ञानविज्ञानाभ्यां सर्वानर्थजन्ममरणहर्षशोककामक्रोधलोभमोहसंगदोषत्यागानुष्ठानं सप्तमं सत्यम्।

८. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशतमोरजःसत्त्वसर्व क्लेशनिवृत्तिः पञ्चमहाभूतातीतमोक्षस्वरूपस्वाराज्यप्राप्तिः अष्टमं सत्यम्।
एतान्यष्टौ सत्यानि ग्रहीतव्यानि।

२१. इन महानुभाव के सही नाम को लेकर जीवनी लेखकों में एक मत दृष्टिगोचर नहीं होता। फर्रूखाबाद के इतिहास का लेखक इन्हें डब्लू थैरा (W. Thaira) कहता है तो पं. घासीराम लिखित जीवनी में इन्हें W. Thaine (थेन) कहा गया है। हमारे विचार से इनका नाम W. थेअर्स था, क्योंकि यही नाम स्वामी दयानन्द के सर्वाधिक प्राचीन जीवन चरित दयानन्द दिग्विजयार्क खण्ड २ पृ. १४० पर उद्धृत हुआ है।

२२. यह विज्ञापन प. भगवद्दत्त द्वारा सम्पादित 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन' ग्रन्थ में पृ. १ पर ही उद्धृत है।

२३. शोलाएतूर-जिल्द १० सं. ३१

२४ At the time in question, I decided in favour of Dayanand Saraswati Fakir, and I believe his arguments are in accordance with the Vedas. I think he won the day. If you wish it, I will give you my reasons for my decision in a few days.

२५ योगदर्शनः विभूतिपाद।

जिनका धार्मिक जीवन अशेष अभिज्ञता के ऊपर प्रतिष्ठित था, जिनकी शास्त्रदर्शिता, तार्किकता, मनस्विता सब प्रकार से असाधारण थी, और विशेषत: जिनके निष्कण्टक ब्रह्मचर्य का प्रभाव उस शास्त्रदर्शिता, तार्किकता और मनस्विता को उज्ज्वल और सुतीक्ष्ण बनाता था, उनके मुख से निकला हुआ एक उपदेश नहीं, वरन् एक-एक शब्द लिपिबद्ध करने, मनुष्यों के आलोचना करने तथा संसार के कल्याणार्थ प्रचार करने योग्य है।

—देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय

काशी शास्त्रार्थ

कानपुर से चल कर गंगा तट पर भ्रमण करते हुए स्वामी दयानन्द आश्विन कृष्णा प्रतिपदा १९२६ वि. मंगलवार तदनुसार २१ सितम्बर १८६९ को राम नगर[1] (काशी) पहुँचे और एक वृक्ष के नीचे आसन जमाया। उनके यहाँ आगमन का समाचार विद्युत वेग की भांति फैल गया। स्थान स्थान पर चर्चा होने लगी कि एक परमहंस संन्यासी मूर्तिपूजा का खण्डन करते हैं तथा उसे वेदविरुद्ध बतलाते हैं। तत्कालीन काशीनरेश महाराजा ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह साधु संन्यासियों के प्रति अत्यन्त आस्थावान थे। जब उन्होंने स्वामी दयानन्द के आने का वृत्त सुना तो उनके भोजन व्ययार्थ राजकोष से प्रति दिन आठ आने देने का आदेश दिया। एक मूल्यवान् दुकूल भी सेवा में भेजा, जिसे स्वामी जी ने अस्वीकार कर दिया। महाराजा ने अपने राजपण्डितों को उनके विचारों को जानने के लिये भेजा। उन्हें जब यह विदित हो गया कि संन्यासी महानुभाव मूर्तिपूजा तथा अन्य पौराणिक मान्यताओं का कटुतम खण्डन करते हैं तो उन्हें आश्चर्य तो हुआ ही, साथ ही इस बात की चिन्ता भी हुई कि यदि काशी जैसे धर्म और विद्या के केन्द्रस्थल में आकर कोई संन्यासी इस प्रकार पुराण प्रतिपादित अवधारणाओं को कठोरतम चुनौती देने लगेगा, तो प्रचलित धर्म और परम्पराओं को कहाँ शरण मिलेगी ?

प्रथम तो काशी नरेश ने साम नीति का आश्रय लेते हुए संन्यासी को मूर्तिपूजा विरोधी अभियान चलाने से विरक्त करने का प्रयास किया। जब उन्हें इस कार्य में कुछ भी सफलता नहीं मिली तो 'दान' की नीति चलानी चाही। सभी प्रकार के प्रलोभनों को त्याग कर स्वेच्छा से विरत अवस्था को स्वीकार करने वाले साधु को कहला भेजा कि यदि वे प्रतिमा-पूजन का विरोध त्याग दें तो उन्हें राजकोष से १०० मासिक वृत्ति मिला करेगी। उन्हें शायद यह भ्रम था कि अनेक धन लोलुप साधुओं और पण्डितों की भांति वे भी दयानन्द को अर्थ का प्रलोभन देकर कर्त्तव्य च्युत कर सकेंगे। परन्तु जिस व्यक्ति ने अपने श्रीसम्पन्न, वैभवपूर्ण घर को लात मार कर स्वेच्छा से वैराग्य पथ को अंगीकार किया, जिसने वित्तैषणा को सर्वथा ठुकरा कर सत्यानुसंधान को वरीयता प्रदान की, वह भला राजा के द्वारा दिये जाने वाले इन तुच्छ प्रलोभनों में कैसे फंसता ? स्वामीजी ने स्पष्ट कहा—"यदि आप अपना सम्पूर्ण राज्य भी मुझे दे दें तो भी मैं मूर्तिपूजा के मिथ्यात्व तथा ईश्वरोपासना में उसकी अनुपयोगिता का प्रतिपादन करने से कभी विरत नहीं होऊंगा।" स्वामीजी की इस स्पष्टवादिता तथा निर्लोभ वृत्ति को देख कर राजा की अप्रसन्नता का पार नहीं रहा। अब उसके लिये यही मार्ग शेष रह गया था कि वह अपने नगरवासी पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिये तत्पर करता। पौत्तलिक उपासना के केन्द्र काशी की मर्यादा की रक्षा इस दिगम्बर अवधूत को शास्त्र सभा में परास्त करने से ही हो सकती थी।

यद्यपि महाराजा अपना यह विचार बना चुका था कि स्वामी जी को शास्त्रार्थ संग्राम

में पराजित करा कर मूर्तिपूजा के पौराणिक मतवाद की रक्षा की जाय, परन्तु वह यह भी नहीं चाहता था कि काशी के उद्दण्ड धर्मध्वजियों की मण्डली से यह परमहंस किसी भी प्रकार अपमानित अथवा लांछित हो। यही कारण है कि जब एक दिन पचास साठ वैरागियों ने मिल कर स्वामीजी को नाना प्रकार के कुवाच्य शब्द कहे, तो काशी नरेश ने उनके इस कार्य की तीव्र भर्त्सना करते हुए स्पष्ट कर दिया कि राम नगर में स्वामीजी हमारे अतिथि हैं। उनसे शास्त्रार्थ तो कोई यथेच्छ करे, परन्तु उनका अपमान करना अनुचित है। खेद है कि कालान्तर में काशी शास्त्रार्थ की समाप्ति पर यही काशी नरेश स्वामीजी को लांछित एवं अपमानित करने वालों के संरक्षण एवं प्रोत्साहन दाता बने।

एक दिन काशी से श्री अविनाशीलाल मेहरोत्रा, मुन्शी हरवंशलाल[२] तथा उदासीन सम्प्रदाय के आचार्य पं० ज्योतिस्वरूप उदासीन स्वामीजी के दर्शनार्थ रामनगर आये। उस समय एक वृक्ष के नीचे बैठे स्वामी दयानन्द पण्डित समुदाय से मूर्तिपूजा विषयक आलोचना कर रहे थे। लगभग दो घण्टे तक यह वार्तालाप चलता रहा। जब स्वामीजी ने अपना कथन समाप्त किया, तो बाबू अविनाशीलाल ने पं० ज्योतिस्वरूप से अपने विचार आलोच्य विषय पर प्रस्तुत करने के लिये कहा। पण्डितजी ने स्वामीजी द्वारा व्यक्त विचारों का ही अनुमोदन कर दिया। यों तो हिन्दू धर्म के अनेक सम्प्रदायों के आचार्यगण तथा सन्तपरम्परानुवर्ती साधु संन्यासी मूर्तिपूजा के विरोध में कभी मौनभाव से, तो कभी मुखर होकर स्वमत अभिव्यक्त करते रहे हैं, परन्तु स्पष्ट तथा निर्भीकभाव से किसी आचार्य अथवा धर्माध्यक्ष ने पाषाण पूजा का प्रत्याख्यान करते हुए उसे वेदादि शास्त्रों से विरुद्ध नहीं कहा था। उन्नीसवीं शताब्दी में जब स्वामी दयानन्द ने अत्यन्त दृढ़ स्वर में यह कहा कि मूर्तिपूजा जैसे विधान के लिए अर्वाचीन काल में लिखे गये पुराणों से पूर्ववर्ती किसी भी शास्त्र तथा प्रामाणिक धर्मग्रन्थ की स्वीकृति उपलब्ध नहीं होती, तो अधिकांश परम्पराप्रिय लोगों ने स्वामी महाराज के इस कथन को अत्यन्त दुस्साहसपूर्ण ही कहा, परन्तु उनकी इस घोषणा से उन विद्वानों एवं धर्माचार्यों को एक संबल प्राप्त हुआ जो किसी कारणवश, अब तक जड़ पदार्थों की पूजा का स्पष्ट विरोध करने में संकोच कर रहे थे। पं. ज्योतिस्वरूप भी इसी श्रेणी में आते हैं।

इस सम्बन्ध में काशी नरेश ने स्वामी निरञ्जनानन्द नामक एक अन्य संन्यासी का मत जानना चाहा, तो उसने स्पष्ट कह दिया कि मूर्तिपूजा, रामलीला, रासलीला आदि का वेदादिशास्त्रों में कहीं विधान नहीं है। ये तो लोकाचार हैं, जो कुछ शताब्दियों से चल पड़े हैं। परम्परा से प्राप्त इन लोकरीतियों का अनुपालन ही श्रेयस्कर है। उक्त संन्यासी के इन विचारों से भी स्पष्ट होता है कि स्वामी दयानन्द की विचारधारा का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव लोगों पर पड़ने लगा था। वे यह मानने लगे थे कि मूर्तिपूजा की वैदिकता सिद्ध नहीं की जा सकती। भले ही लोकाचार अथवा परम्परानुमोदित कह कर उसका समर्थन वे करते रहें।

लगभग एक मास तक रामनगर में रह कर कार्तिक कृष्णा द्वितीया अथवा तृतीया (२२ या २३ अक्टूबर १८६९) को स्वामी दयानन्द काशी आये। प्रारम्भ में वे गोसांईजी के बाग में ठहरे, पश्चात् अमेठी के राजा माधोसिंह के दुर्गाकुण्डस्थित उद्यान में चले गये। काशी जैसे

स्थान पर स्वामीजी का आगमन एक प्रचण्ड धर्मान्दोलन का कारण बना। नित्य प्रति सैंकड़ों की संख्या में लोग उनसे वार्तालाप, शास्त्र चर्चा तथा शंका समाधान के लिए उपस्थित होने लगे। इनमें जहाँ सच्चे जिज्ञासु थे, तो केवल कौतूहल शान्त करने के लिये आने वालों की संख्या भी कम नहीं थी। काशी निवासियों के लिये यह एक अभूतपूर्व तथा अश्रुतपूर्व प्रसंग था कि कोई संन्यासी मूर्तिपूजा का खण्डन करे।

काशी के विद्वत् समुदाय ने प्रथम तो संन्यासी के प्रति उपेक्षा भाव प्रदर्शित किया। ऐसा कर मानो वह यह दिखाना चाहता था कि भगवान् पिनाकपाणि के त्रिशूल पर स्थित काशी में मूर्तिपूजा का विरोध करने वाला व्यक्ति अपने उद्देश्य में कभी सफल नहीं हो सकता। परन्तु जब उन्होंने देखा कि अकेले इस परमहंस ने ही काशी के सम्पूर्ण वातावरण को प्रतिमा पूजन के प्रतिकूल बना दिया है, तो उनका ध्यान आगन्तुक संन्यासी की ओर जाना स्वाभाविक ही था। स्वामीजी के मूर्तिपूजा खण्डन का प्रत्यक्ष प्रभाव इस रूप में दृष्टिगोचर हुआ कि जो लोग दुर्गा मंदिर में दर्शनार्थ आते थे, वे प्रथम तो इस दिव्य संन्यासी के तेजस्वी उपदेश को सुनने के लिए रुक जाते, तत् पश्चात् जब उनकी मूर्ति पूजन के प्रति धारणा में ही परिवर्तन हो जाता, तो वे देवी का दर्शन किये बिना ही अपने घरों को लौट जाते। इस प्रकार श्रद्धालु भक्तों की संख्या का कम होना मंदिर के पुजारी के लिए खतरे की घण्टी थी। उन्होंने स्वामीजी से निवेदन किया कि वह कहीं अन्यत्र पधार जायें।

शास्त्रार्थ के लिए सामने आने से पूर्व काशी की विद्वन्मण्डली ने स्वामीजी के वैदुष्य तथा उनके शास्त्र ज्ञान की परीक्षा लेने का विचार किया। प्रत्यक्ष रूप में तो वे उनसे वार्तालाप करने से कतराते थे, अतः कभी प्रच्छन्न रूप में उनकी सभा में आते और कभी स्वयं न आकर अपने विद्यार्थियों को स्वामीजी की शास्त्र विषयक जानकारी की थाह लेने के लिए भेजते। जो विद्वान् इस प्रकार गुप्त रूप से स्वामीजी के निकट आकर उनके शास्त्र ज्ञान का परिचय प्राप्त कर सके, उनमें रामशास्त्री, दामोदर शास्त्री, बालशास्त्री आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। सम्भवतः राजाराम शास्त्री भी गोपन रूप से आये थे।

इधर काशी नरेश का यह आग्रह बढ़ रहा था कि दयानन्द को शीघ्रातिशीघ्र शास्त्रार्थ समर में पराजित कर काशी की लाज रखनी चाहिए। उन्होंने पण्डितों को आहूत कर शास्त्रार्थ की तैयारी करने का आग्रह किया। परन्तु विद्वान् लोगों को शास्त्रार्थ साम्मुख्य में संकोच हो रहा था। प्रथम तो उन्होंने दयानन्द की अगाध विद्वता, तलस्पर्शी शास्त्रज्ञान, अपूर्व वाग्मिता, अद्भुत तर्क कौशल तथा असाधारण शास्त्रार्थ पटुता को देखा था। साथ ही वे यह भी जान चुके थे कि दयानन्द का आग्रह मूर्तिपूजा की सिद्धि में वेदों के प्रमाण प्रस्तुत करने पर है। वस्तुस्थिति यह थी कि उनकी न तो वेदों में गति ही थी और न वे मूर्तिपूजा की सिद्धि में कोई वैदिक प्रमाण प्रस्तुत ही कर सकते थे।

कहते हैं कि काशिराज ने पं. सखाराम भट्ट से प्रस्ताव किया था कि वे भावी शास्त्रार्थ में पौराणिक पक्ष के मुख्य प्रवक्ता बन कर इस वाद का संचालन करें। परन्तु भट्ट जी उनके इस प्रस्ताव से सहमत नहीं हुए। सम्भवतः वे जान गये थे कि वैदिक प्रमाणों के अभाव में दयानन्द को परास्त करना सम्भव नहीं होगा और यदि अपनी नीति एवं प्रकृति के अनुकूल

काशी के पण्डित मुख्य विषय से हट कर दयानन्द को व्याकरण विषयक प्रश्नों में उलझाना चाहेंगे, तब भी उन्हें सफलता नहीं मिलेगी, क्योंकि वैयाकरणमूर्धन्य विरजानन्द दण्डी के शिष्य को शब्दशास्त्र हस्तामलकवत् प्राप्त है। ऐसी स्थिति में वे शास्त्रार्थ में उपस्थित रहने के लिए भी राजी नहीं हुए।

पण्डित वर्ग ने काशी नरेश का जब शास्त्रार्थ विषयक मन्तव्य, जो आदेश के रूप में ही था, जान लिया तो बड़े सिटपिटाये। प्रथम तो शास्त्रार्थ से कन्नी काटने के लिये वे अनेक प्रकार के बहाने बनाने लगे। उन्होंने यह कहना आरम्भ किया कि दयानन्द क्रिस्तान है, गोरी सरकार का गुप्तचर है। कभी कहते, व्याकरण को छोड़ कर उनकी किसी शास्त्र में गति नहीं है। परन्तु बहाने करके भी शास्त्रार्थ से पिण्ड छुड़ाना कठिन हो गया। जब महाराजा ने स्पष्ट कहा कि आप लोगों की जीविका ही मूर्तिपूजा के सहारे चलती है, लाखों रुपये दक्षिणा रूप में आपको प्रतिमा पूजन से ही प्राप्त होते हैं, अतः आपका कर्त्तव्य है कि आप इस सनातन (अथवा परम्परा प्राप्त) व्यवस्था का समर्थन करें। इस प्रकार राजा का प्रत्यक्ष निर्देश पाकर पण्डितों ने शास्त्रार्थ करना स्वीकार तो किया, किन्तु नरेश से यह भी अनुरोध किया कि इसकी समुचित तैयारी के लिये उन्हें पर्याप्त समय दिया जाय। राजा ने उनके इस प्रस्ताव को मान लिया।

अब पण्डितगण शास्त्रालोचन में तत्पर हुए। उनमें से कुछ तो वास्तव में ही शास्त्रा-लोड़न तथा आवश्यक प्रमाणों के संग्रह में लगे, जब कि अन्यों ने दयानन्द के विरोध में नगर में आन्दोलन जैसी स्थिति उत्पन्न कर दी। उनकी चेष्टा यह थी कि दयानन्द को प्रच्छन्न ईसाई तथा अंग्रेजी राज्य का गुप्तचर कह कर बदनाम किया जाय। इन्हीं लोगों से प्रेरणा पाकर काशी का बदनाम गुण्डावर्ग यह निश्चय कर चुका था कि परम्परागत और जनानुमोदित मूर्तिपूजा को चुनौती देकर काशी जैसी पवित्र नगरी में अकारण हलचल मचाने वाले इस संन्यासी का अपमान करने और उसे सब प्रकार से लांछित करने में कोई कसर न रक्खी जाय।

इसी बीच स्वामीजी द्वारा उपदेश और धर्म चर्चा का कार्यक्रम यथापूर्व चलता रहा। एक दिन स्वामीजी ने पं. राजाराम शास्त्री के पास एक प्रश्न भेजा। प्रश्न इस प्रकार था—येनोच्चरितेन सास्नालांगूलककुदखुरविषाण प्रत्ययो भवति सः शब्दः; अथवा प्रतीत पदार्थ—को लोके ध्वनिः शब्दः, अथवा श्रोत्रोपलब्धि बुद्धिनिर्ग्राह्य आकाशदेशः स शब्दः अस्योदाहरण प्रत्युदाहरणपूर्वकं समाधानं कुर्यात्।[४] पं. राजाराम ने प्रश्न को देख कर उसका समुचित समा-धान करना तो दूर रहा, एक विचित्र बात कही-'दयानन्द और मेरे बीच में एक छुरी रखी जाय। यदि हम इस प्रश्न का उत्तर प्रत्युदाहरण पूर्वक समाधान कर देंगे तो उसकी नाक काट लेंगे।' यह अशिष्टतापूर्व उत्तर सुनकर स्वामीजी ने भी कहला भेजा—एक छुरी क्यों, दो रखिये। यदि शास्त्रचर्चा के स्थान पर आपको शस्त्रचर्चा अभीष्ट है, तो वही सही। कहने को तो पं. राजाराम ने यह बात कह दी, किन्तु स्वामीजी के सम्मुख जाने का साहस उन्हें नहीं हुआ। इतना ही कह कर रह गये कि जल्दी क्या है। अब तो स्वामीजी काशी में आ ही गये हैं। देखा जायगा। इसके साथ ही स्वशिष्य पं. शालिग्राम शास्त्री को स्वामीजी की योग्यता और विद्वता जानने के लिये उनके निकट भेजा। पं. शालिग्राम स्वामीजी से भेंट कर जब गुरु

के पास लौटे तो अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा—दयानन्द विद्वान् तो है, परन्तु है नास्तिक।

इधर पं. बालशास्त्री आदि पण्डितों ने अपने छात्रों को स्वामाजी के निकट भेजकर उनसे प्रामाण्याप्रामाण्य ग्रन्थों की सूची मंगाई। जो लोग इस प्रयोजन से स्वामीजी के निकट गये उनमें पं. शालिग्राम शास्त्री, पं. ढुंढ़िराज शास्त्री धर्माधिकारी, पं. दामोदरशास्त्री तथा पं. रामकृष्ण शास्त्री अपर नाम तात्या के नाम उल्लेखनीय हैं। जिस समय इन लोगों ने स्वामी जी के निकट जाकर उनसे प्रामाणिक ग्रन्थों की सूची मांगी, उस समय मुन्शी हरवंशलाल भी वहां बैठे थे। उन्होंने स्वामीजी को संकेत रूप में बता दिया कि आगन्तुक लोग पण्डित नहीं, अपितु उनके छात्र हैं, अतः उन्हें कुछ भी बताना समीचीन नहीं है, परन्तु कालान्तर में जब काशी नरेश ने अनुरोध किया और पुलिस कोतवाल पं. रघुनाथ प्रसाद ने भी मध्यस्थता की, तो स्वामीजी ने अपने द्वारा मान्य प्रामाणिक ग्रन्थों की सूची स्वहस्ताक्षर सहित उन्हें दे दी। जो इक्कीस शास्त्र उस समय प्रमाण कोटि में स्वीकार किये गये, वे निम्न थे—चार वेद संहिताएं, चार उपवेद, वेदों के ६ अंग, ६ उपाङ्ग तथा प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़कर मनुस्मृति।

अन्ततः शास्त्रार्थ का दिन निश्चित हुआ और तदनुसार विज्ञापन भी कर दिया गया। काशी के अंग्रेज जिलाधीश को जब सूचना मिली, तो उसने काशी नरेश को कहलाया कि अच्छा हो, यदि शास्त्रार्थ रविवार को रक्खा जाये, ताकि वे भी उसमें सम्मिलित हो सकें। परन्तु यह सोच कर कि यदि कलेक्टर उपस्थित रहेंगे तो पूर्व नियोजित षड्यंत्रकारियों को यथेच्छ गड़बड़ और मनमानी करने का अवसर नहीं मिलेगा, मंगलवार का दिन नियत किया गया। उस दिन कार्तिकशुक्ला द्वादशी १९२६ वि. तथा ईस्वी सन् १८६९ की १६ नवम्बर थी।

जिसकी प्रतीक्षा थी, वह शास्त्रार्थ का दिन भी आ गया। पूर्व रात्रि को पर्याप्त समय तक जग कर पण्डितों ने शास्त्रों का अवलोकन और विचार किया। इस हेतु काशी के राजा ने उनके घर तेल भी भिजवाया ताकि प्रकाश की सुविधा हो। प्रातःकाल होते ही जन-समूह आनन्दबाग में एकत्रित होने लगा। दर्शकों की संख्या का अनुमान पचास साठ हजार के लगभग लगाया गया था। पं. बलदेव प्रसाद शुक्ल नामक एक भक्त ने स्वामीजी से कहा—महाराज, यह काशी नगरी गुण्डों का घर है। यदि फर्रूखाबाद होता, तो वहाँ आपके दसबीस भक्त और अनुयायी भी निकल आते परन्तु यहां तो शत्रुशिविर में रह कर ही आपको रण-कौशल दिखलाना होगा। दृढ़ आस्तिक दयानन्द का सहज उत्तर था—डर क्या है? **एक ईश्वर है, एक मैं हूँ, एक धर्म है,** और कौन है? सत्य का सूर्य प्रबल अज्ञान और अविद्या के अंधकार पर अकेला ही विजयी होता है। जो पक्षपात रहित होकर सत्य का उपदेश करता है वह किसी से भयभीत क्यों होने लगा? इस प्रकार अविचल ईश्वरविश्वास के एकमात्र बल पर दयानन्द ने जड़ उपासना के प्रतीयमान दृढ़ दुर्ग को अकेले ही भेदने का निश्चित कर लिया।

शास्त्रार्थ के दिन प्रातः स्वामीजी ने क्षौर कराया, स्नान किया, शरीर पर मृत्तिका धारण की, पश्चात् पद्मासनस्थ होकर दीर्घ काल पर्यन्त परमेश्वर का ध्यान किया, पुनः भोजन किया। बाद में वे शास्त्रार्थ स्थल पर पहुंचे। इस समय तक अपार जनसमूह एकत्र हो

चुका था। इनमें पण्डित और मूर्ख, सज्जन और दुर्जन, जिज्ञासु और तमाशबीन सभी तरह के लोग थे। भोजूपुर थाने के कोतवाल पं. रघुनाथप्रसाद[५] ने विभिन्न पण्डितों तथा अन्य गण्य-मान्य लोगों के बैठने की पृथक् व्यवस्था की थी। कोतवाल ने बरामदे में स्वामीजी को ऐसे स्थान पर बिठाया, कि यदि उपद्रव भी हो तो, किंवाड़ बंद कर स्वामीजी की रक्षा की जा सके। उनके सामने के आसन पर शास्त्रार्थकर्ता पण्डित को बैठना था। एक तीसरा आसन काशी नरेश के लिये लगाया गया, किन्तु कोतवाल की व्यवस्था तथा उसके द्वारा निर्धारित आसनों के क्रम को न तो राजा ने ही माना और न पण्डित मण्डली ने। काशी नरेश ने आतंक का वातावरण बनाने तथा स्वामीजी को प्रभावित करने की दृष्टि से पण्डितों को शास्त्रार्थ स्थल पर लाने के लिये पालकियों तथा तामझामों की व्यवस्था की। इस प्रकार बड़े आडम्बर के साथ काशी के विद्वान् पालकियों में बैठकर, चंवर डुलवाते तथा 'जय' के उद्घोषों के साथ वहां आये। पण्डितों के यथास्थान बैठ जाने पर काशीनरेश का आगमन हुआ। पण्डित वर्ग ने अपने आश्रय दाता तथा शास्त्रार्थ के नियोजक नरेश को आशीर्वाद दिया तथा स्वामीजी को घेर कर बैठ गये। कोतवाल की व्यवस्था गड़बड़ा गई।

काशी में यों तो स्वामीजी के पक्ष का समर्थन करने वाला कोई भी पण्डित या विद्वान् नहीं था, किन्तु कतिपय परमहंस साधुओं ने उनके विचारों के प्रति सहानुभूति तथा उनके उद्देश्यों से सहमति व्यक्त की थी। वे लोग शास्त्रार्थस्थल पर पहुंचे। इनमें स्वामीजी के परिचित साधु ज्योतिस्वरूप उदासीन का नाम उल्लेखनीय है। जब ये लोग उद्यान के भीतर प्रविष्ट होने लगे तो पण्डितों के गुर्गों ने टोकाटाकी की। किन्तु जब थानेदार होरीलाल ने अन्दर कोतवाल रघुनाथप्रसाद को सूचित किया, तो परमहंस मण्डली को भीतर प्रविष्ट कर लिया गया। यहां भी पण्डितों ने चालाकी की, और इन परमहंसों तथा स्वामीजी के बीच इतने आदमी बिठा दिये जिससे कि अवसर आने पर वे शास्त्रार्थ में महाराज की सहायता न करने पावें। तथापि पं. ज्योतिस्वरूपजी स्वामीजी के निकट ही बैठे। शास्त्रार्थ स्थल पर दो पादरी भी उपस्थित थे।

जब पण्डितों ने देखा कि स्वामी दयानन्द के समर्थक संन्यासीगण भी यथास्थान बैठ गये हैं, तो उन्होंने काशीराज को संकेत से कहा कि प्रथम तो अकेले दयानन्द ही हमारे लिये भारी पड़ रहे हैं, यदि इन्हें पं. ज्योतिस्वरूप जैसे विद्वान् का सहयोग मिल गया तो ये सर्वथा अपराजेय हो जायेंगे। कूटनीतिप्रवण राजा ने हाथ पकड़ कर पं. ज्योतिस्वरूप को स्वामीजी के निकट से हटा दिया। निष्पक्ष कोतवाल पं. रघुनाथप्रसाद से यह अनर्थ देखा नहीं गया। उसने प्रतिवाद किया और राजा से स्पष्ट कह दिया कि उसकी व्यवस्था में हस्तक्षेप किया जा रहा है।

स्वामीजी को तो अपने पक्ष के प्रबल होने पर पूर्ण विश्वास था, साथ ही वे यह भी जानते थे कि काशी के इन विद्वानों की वेद में स्वल्प गति भी नहीं है। ये नव्य न्याय और नव्य व्याकरण में तो पारंगत हैं किन्तु इनका वेदार्थ ज्ञान शून्य ही है, अतः वैदिक प्रमाणों से मूर्तिपूजा को सिद्ध करना उनके लिये शक्य नहीं होगा। काशी के विद्वानों में पं. बाल शास्त्री तथा पं. सखाराम भट्ट ही ऐसे दो विद्वान् थे, जिनकी थोड़ी बहुत गति वेदों में थी। यह हम देख

चुके हैं कि पं. सखाराम भट्ट ने तो शास्त्रार्थ में सम्मिलित होने से इन्कार कर ही दिया था। बालशास्त्री अवश्य आये थे, परन्तु उन्हें यह कह कर लाया गया था कि पं. सखाराम भट्ट भी आयेंगे, अतः उन्हें भी चलना चाहिए। वास्तविकता यह थी कि सखाराम भट्ट को तो आना ही नहीं था। इस शास्त्रार्थ में मूर्तिपूजा के समर्थन में जो पण्डित उपस्थित हुए उनके नाम इस प्रकार हैं—

स्वामी विशुद्धानन्द, पं. बालशास्त्री,[६] पं. शिवसहाय, पं. माधवाचार्य, पं. वामनाचार्य, पं. देवदत्त शर्मा, पं. जयनारायण तर्कवाचस्पति, पं. चन्द्रसिंह त्रिपाठी, पं. राधेमोहन तर्कवागीश, पं. दुर्गादत्त, पं. वस्तीराम द्विवेदी, पं. काशीप्रसाद शिरोमणि, पं. हरिकृष्ण व्यास, पं. अम्बिकादत्त व्यास,[७] पं. घनश्याम, पं. ठाकुरदत्त, पं. हरिदत्त दुबे, पं. भैरोंदत्त, पं. श्रीधर शुक्ल, पं. विश्वनाथ मैथिल, पं. नवीननारायण तर्कालंकार, पं. मदनमोहन शिरोमणि, पं. कैलासचन्द्र शिरोमणि,[८] पं. मायाकृष्ण वेदान्ती, पं. धनीराम, पं. नारायण शास्त्री, पं. देवधर, पं. नरसिंह शास्त्री, पं. जवाहरदास उदासी,[९] पं तारावरण तर्करत्न,[१०] पं. गणेशप्रसाद श्रोत्रिय, स्वामी निरंजनानन्द, पं. रामशास्त्री, पं. शालिग्राम,[११] पं. ढुंढ़िराज शास्त्री, पं. रामस्वामी मिश्र, पं. भारद्वाजशास्त्री, पं. रामकृष्ण शास्त्री, पं. दामोदर शास्त्री, पं. प्रमदादास मित्र।[१२]

उपर्युक्त विद्वानों के अतिरिक्त काशी के अन्य प्रतिष्ठित पुरुषों को भी शास्त्रार्थ स्थल पर बैठने के लिये समुचित स्थान दिया गया था। ऐसे व्यक्तियों के नाम उल्लेखनीय हैं—

काशीनरेश—महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायणसिंह, काशीनरेश के भ्राता, राजकुमार वीरेश्वरनारायणसिंह शर्मा, बाबू फतहनारायणसिंह शर्मा, ऐश्वर्यनारायणसिंह शर्मा, तेजसिंह वर्मा, रईस मैनपुरी, राव कृष्णदेवशरणसिंह, चौधरी गुरुदत्तसिंह शर्मा, हजारी यदुनंदन नागल, बाबू हरिश्चन्द्र गुप्त,[१३] बाबू गोकुलचन्द्र।[१४]

यद्यपि इस समय काशी के लगभग सभी प्रमुख पण्डित उपस्थित थे, परन्तु मूर्तिपूजा विषयक मुख्य शास्त्र चर्चा में केवल तीन चार पण्डितों ने ही भाग लिया। सर्व प्रथम काशी नरेश का संकेत पाकर बंगाली विद्वान् पं. ताराचरण तर्करत्न ने स्वामीजी से वाद आरम्भ किया। शास्त्रार्थ का प्रारम्भ स्वामीजी ने तर्करत्न से यह पूछ कर किया कि क्या वे वेदों का प्रमाण स्वीकार करते हैं? इसका सीधा उत्तर न देकर तर्करत्न महाशय ने कहा कि जो भी वर्णाश्रमधर्म को मानते हैं, वे सब वेदों का प्रमाण भी स्वीकार करते हैं। इस पर स्वामीजी ने मुख्य प्रश्न को उपस्थित करते हुए कहा कि क्या वेदों में पाषाणादि की कल्पित मूर्तियों को पूजने का भी विधान है? यदि है, तो प्रमाण पुरस्सर बताइये। अब जब तर्करत्न महाशय को मूर्तिपूजा के समर्थन में वेदप्रमाण प्रस्तुत करने में कठिनाई हुई तो उन्होंने वाद को एक नया मोड़ देने का यत्न किया। उन्होंने चट पूछ लिया—क्या केवल वेदों का ही प्रामाण्य स्वीकार किया जाना चाहिए या अन्य ग्रन्थों का भी। स्पष्ट है कि शास्त्रार्थ अपने मूल विषय से हट कर प्रामाण्याप्रामाण्य मीमांसा की ओर झुक रहा था। स्वामीजी के लिये इस विषय पर अधिकारपूर्वक कहना कुछ कठिन नहीं था, अतः वे अविलम्ब बोले—अन्यो विचारस्तु पश्चाद् भविष्यति वेद विचार एव मुख्योऽस्ति। तस्मात् स एवादौ कर्त्तव्यः।

और साथ ही उन्होंने मन्वादि स्मृति ग्रन्थों के वेदमूलक होने के कारण ही प्रमाण कोटि में परिगणित किये जाने की बात कही। तर्करत्न तो मानो इसी की प्रतीक्षा कर रहे थे, अतः तुरन्त पूछ बैठे—मनुस्मृति की वेदमूलकता कैसे है ? इस पर स्वामीजी ने सामवेद के ब्राह्मण का प्रमाण देते हुए मनुवचनों की वेद मूलकता बताई।[१५]

अब तर्करत्नजी के लिये उत्तर में कुछ भी कहने के लिये शेष नहीं रहा। अतः स्वामी विशुद्धानन्द ने चर्चा का सूत्र अपने हाथों में लेते हुए अन्य शास्त्रों की वेदमूलकता का प्रश्न उठाते हुए पूछा—'रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्'[१६] इस वेदान्त सूत्र का मूल वेद में कहाँ है ? स्पष्ट है कि न तो तर्करत्न और न स्वामी विशुद्धानन्द ही शास्त्रार्थ के मौलिक विषय पर स्थिर रह सके थे। अतः स्वामी दयानन्द ने स्पष्ट कहा कि प्रकरण से भिन्न विषय पर बात करना उचित नहीं है। इस प्रकार बातों ही बातों में स्वामी विशुद्धानन्द ने न केवल विषयान्तर ही कर दिया, अपितु न्यायशास्त्र प्रतिपादित 'वाद' को 'वितण्डा' में परिवर्तित करते हुए किञ्चित् गर्व के साथ कहा, यदि आपको समग्र शास्त्र उपस्थित (कण्ठस्थ) नहीं हैं तो काशी में शास्त्रार्थ हेतु आये ही क्यों ? स्वाभाविक ही था कि स्वामी दयानन्द इस चुनौती का उत्तर देते। अतः उन्होंने अपनी बारी आने पर विशुद्धानन्द से पूछ लिया—क्या आपको सब शास्त्र कण्ठस्थ हैं ? स्वामी विशुद्धानन्द ने अहंकारपूर्वक कहा—'मम सर्वकण्ठस्थं वर्तत इति। 'हां, मुझे सब कण्ठस्थ हैं। इस पर स्वामीजी उनके शास्त्रज्ञान की परीक्षा लेते हुए पूछ बैठे—अच्छा तो आप धर्म का लक्षण बताइये। अब विशुद्धानन्द के लिये तो धर्म के लक्षण बताना ही कठिन हो गया। जब वे निरुत्तर हो गये तो बालशास्त्री उनकी सहायता के लिये सम्मुख आये। इस वेदज्ञ पण्डित ने जब गर्वपूर्वक कहा कि 'अहं सर्वं धर्मशास्त्र पठितवानिति' मैंने सब धर्मशास्त्रों को पढ़ा है, तो स्वामीजी ने उनसे अधर्म के लक्षण पूछ लिये। इस पर सर्वशास्त्रज्ञ होने का दावा करने वाले बालशास्त्री भी मौन साध गये। इस प्रकार स्वामीजी ने एक ही दांव में तीनों प्रतिद्वन्द्वियों को पछाड़ दिया।

अब अवशिष्ट पण्डितों में से बहुतों ने एक साथ पूछा—क्या वेद में 'प्रतिमा' शब्द है ? स्वामीजी ने यह तो कभी कहा ही नहीं था कि वेदों में 'प्रतिमा'[१७] शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। उनकी मान्यता तो यही थी कि पाषाणादि जड़ पदार्थों से निर्मित राम, कृष्ण, शिव, गौरी, गणेश, भैरव आदि की काल्पनिक मूर्तियों को षोडशोपचार से ईश्वर के नाम पर पूजना वेद विहित नहीं है। वे यह तो जानते ही थे कि माप तोल आदि अर्थों में 'प्रतिमा' शब्द का बहुशः प्रयोग यजुर्वेद तथा अन्यत्र भी हुआ है। अतः उन्होंने यह स्वीकार किया कि इस शब्द का प्रयोग वेद में तथा अन्यत्र वैदिक वाङ्मय में भी हुआ है। उन्होंने यह भी कहा कि सामवेद के षड्विंश ब्राह्मण के अद्भुत शान्ति प्रकरण में 'प्रतिमा' शब्द का प्रयोग हुआ है।[१८] किन्तु मंदिरों में प्रतिष्ठित मूर्तियों के अर्थ में यह संदर्भ नहीं है। पर्याप्त समय तक इसी विषय पर चर्चा चलती रहती।

पं. शिवसहाय ने इस बीच कुछ कहने का प्रयत्न किया, परन्तु स्वामीजी ने उन्हें चुप करा दिया। शास्त्रार्थ के बीच आये गत्यवरोध को तोड़ते हुए स्वामी विशुद्धानन्द ने मूल विषय से सर्वथा भिन्न प्रकरण छेड़ दिया। उनका प्रश्न था—वेदाः कस्माज्जाता ? वेद किससे

उत्पन्न हुए। ईश्वर और वेद पर दृढ़ आस्था रखने वाले दयानन्द के लिये इसका उत्तर देना कठिन नहीं था। उन्होंने चट कह दिया—वेदाः ईश्वराज्जाताइति। वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं। विशुद्धानन्द ने स्वामीजी के कथन के वास्तविक अभिप्राय को समझते हुए भी 'जल्प' का आश्रय लेकर पूछा—किस ईश्वर से वेद उत्पन्न हुए? क्या न्यायशास्त्रोक्त ईश्वर से, या योग-शास्त्रप्रसिद्ध ईश्वर से, अथवा वेदान्त प्रतिपाद्य ईश्वर से? प्रश्न नितान्त हास्यास्पद ही था, क्योंकि न्याय, योग तथा वेदान्त ने अपने अपने दृष्टिकोण से परम सत्ता को चाहे जिस प्रकार परिभाषित किया हो, अनन्तः वह ईश्वरीय सत्ता तो एक ही है, और उसे ही शास्त्रों में वैदिक ज्ञान का आदि उत्स कहा गया है। इस पर स्वामी दयानन्द का यह व्यंग्यपूर्ण आक्षेप नितान्त उचित ही था—ईश्वरा बहवो भवन्ति किमिति? क्या ईश्वर भी बहुत से हैं?

अब ईश्वर और वेद पर ही चर्चा चल पड़ी। स्वामी दयानन्द के अनुसार ईश्वर और वेद में कारण कार्य सम्बन्ध है। इस प्रकरण के समाप्त होने पर प्रतीकोपासना पर विचार चला। विशुद्धानन्द के अनुसार 'मनोब्रह्मेत्युपासीत'[१९] आदि उपनिषद् वाक्यों में जिस प्रकार मन, आदित्य आदि में ब्रह्म बुद्धि करके प्रतीकोपासना का विधान किया है, उसी प्रकार शालिग्राम शिला में भी विष्णु (परमात्मा) की भावना हो सकती है। स्वामी दयानन्द को उपनिषद् वाक्यों में प्रतिपादित मन, आदित्य आदि के प्रतीकों पर तो कोई आपत्ति नहीं थी, किन्तु उनका सीधा प्रश्न यह था कि इसी प्रकार 'पाषाणादि ब्रह्मेत्युपासीत' जैसे वाक्य लिख कर तो उपनिषद्कार ने कहीं पत्थर, धातु, काष्ठ तथा मृत्तिका से बनी मूर्तियों में ब्रह्म की भावना करने का आदेश नहीं दिया है। अतः उपनिषद् के इन प्रसंगों से मूर्तिपूजा की सिद्धि नहीं होती।

जब पौराणिकमण्डली का यह दांव भी खाली गया तो यजुर्वेद के मंत्र में प्रयुक्त 'इष्ट' और 'पूर्त'[२०] शब्दों पर विचार प्रारम्भ किया गया। उनका कथन था कि मंत्रोक्त 'पूर्त' शब्द के अन्तर्गत मूर्तिपूजादि कृत्यों का भी ग्रहण होना चाहिए, जब कि स्वामीजी के अनुसार वेद में प्रयुक्त इस शब्द का अभिप्राय वापी, कूप, तड़ागादि लोकोपकारी निर्माण-कार्यों से लिया जाना उचित है। जब यह वार भी खाली गया तो दोनों पक्षों की चर्चा 'पुराण' शब्द तथा उसके अर्थों पर केन्द्रित हो गई। स्वामीजी ने स्पष्ट किया कि यद्यपि 'पुराण' शब्द का प्रयोग तो वेद में भी हुआ है,[२१] किन्तु वहां उसका अर्थ प्रचलित ब्रह्म-वैवर्तादि अठारह पुराणों से नहीं है। 'एतस्य महतोभूतस्य निश्वसितं' इस बृहदारण्यकोपनिषद् के पाठ में भी 'पुराण' शब्द प्रयुक्त हुआ है,[२२] परन्तु यह शब्द यहां इतिहास के विशेषण रूप में आया है न कि विशेष्य रूप में। इसी प्रसंग में जब स्वामीजी ने उपनिषद् के इस उद्धरण को देखने के लिये मूल ग्रन्थ मांगा, तो माधवाचार्य ने दो पत्रे निकाल कर प्रस्तुत किये और 'ब्राह्मणनीतिहासाः पुराणानीति' यह वचन पढ़ा। 'पुराण' शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को लेकर पर्याप्त समय तक दोनों पक्षों में वादविवाद होता रहा।

एक बार पुनः शास्त्रार्थ अपने मूल विषय से हट गया। जब कि स्वामी दयानन्द ने प्रश्न पूछा कि व्याकरण में 'कल्म' संज्ञा कहीं लिखी है या नहीं? ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी जी के लिये व्याकरण का यह प्रश्न ब्रह्मास्त्र के तुल्य था। विगत काल में भी इस

अपराजेय व्याकरणास्त्र के द्वारा वे अपने प्रतिपक्षियों को पराजित कर चुके थे। यहां काशी में भी उन्होंने यही प्रश्न किया तो सभा में एक बारगी सन्नाटा छा गया। अन्त में विद्या की नगरी की लाज रखते हुए बालशास्त्री ने कहा, 'संज्ञा तो नहीं लिखी, किन्तु एक सूत्र में महाभाष्यकार ने उपहास किया है।' जब स्वामीजी ने यह पूछा कि किस सूत्र के भाष्य में महाभाष्यकार ने संज्ञा नहीं की, अपितु उपहास किया है, तो पुनः सभी लोग मौन रह गये।

अब तक शास्त्रार्थ होते होते पर्याप्त समय हो चुका था। सायंकाल का झुटपुटा होने लगा। दीपकादि की समुचित व्यवस्था तो थी नहीं। प्रकाश के अभाव के कारण पुस्तक पढ़ने में भी असुविधा होने लगी। ऐसी परिस्थिति में वैयाकरण मूर्धन्य दयानन्द के प्रश्न का उत्तर देने में काशी की विद्वन्मण्डली को असमर्थ पाकर पं. माधवाचार्य ने किसी ग्रन्थ के दो पत्रे निकाल कर स्वामीजी के सम्मुख रक्खे तथा कहा कि ये वेद के पत्रे हैं, इनमें लिखा है कि यज्ञ की समाप्ति पर दसवें दिन यजमान को पुराण पाठ सुनना चाहिए। इस उद्धरण को प्रस्तुत कर उन्होंने स्वामीजी से पूछा कि यहां प्रयुक्त 'पुराण' शब्द किस का विशेषण है ? स्वामीजी ने जब स्वामी विशुद्धानन्द से इन पत्रों में पठित आलोच्य पाठ को ठीक ठीक पढ़ने के लिये कहा, तो उक्त स्वामी ने ऐनक न होने की बात कह कर उल्टे वे पत्रे स्वामी दयानन्द के हाथों में दे दिये। स्वामीजी ने पत्रे ले लिये। इससे पूर्व कि वे विचार कर उत्तर देते, स्वामी विशुद्धानन्द यह कहते हुए उठ खड़े हुए कि हमें विलम्ब हो रहा है। इतना ही नहीं उन्होंने 'हर हर विश्वेश्वर' कह कर ताली पीट दी और स्वामीजी की पीठ पर हाथ रख कर कहने लगे, दयानन्दजी तुम हार गये। विशुद्धानन्द का ऐसा आचरण तो संकेत मात्र था। अन्य पण्डित भी शोर करते और यह कहते हुए कि 'दयानन्द पराजित हुए' उठ खड़े हुए। इस प्रकार काशी का यह प्रसिद्ध शास्त्रार्थ बिना किसी निर्णय के ही समाप्त हुआ।

शास्त्र विचार तो समाप्त हुआ, किन्तु काशी की दुर्जनमण्डली का मुख्य कार्य तो इसके बाद ही आरम्भ हुआ। पूर्वनियोजित गुण्डों ने स्वामीजी पर ईंट, गोबर, मिट्टी और ढेलों की अजस्र वर्षा आरम्भ कर दी। पं. रघुनाथप्रसाद कोतवाल को सम्भवतः इस षड्यंत्र की सम्भावना पहले से ही थी, इसलिये अपनी प्रत्युत्पन्नमति का सहारा लेकर उसने अविलम्ब स्वामीजी को कमरे के भीतर कर कपाट बंद करा दिये तथा आरक्षी लोगों को आदेश देकर उपद्रवी गुण्डों को वहां से भगा दिया। पुलिस विभाग के इस उत्तरदायी, विचारशील तथा कर्त्तव्यनिष्ठ अधिकारी की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। यदि वह अपनी कर्त्तव्यबुद्धि से उस समय स्वामी महाराज के पुण्य शरीर की रक्षा में तत्पर नहीं होता तो शतप्रतिशत यही सम्भावना थी कि स्वामीजी उद्दण्डमण्डली के शिकार हो जाते। श्री महाराज के जीवनीकार पं. घासीराम ने ठीक ही लिखा है—"समस्त भारतवासी ही नहीं, वरन् संसार के सब मनुष्य सदा के लिये इस कर्त्तव्यनिष्ठ, न्यायशील कोतवाल के आभारी रहेंगे। वह मूर्तिपूजक था, परन्तु उसने एक क्षण के लिये भी पक्षपात नहीं किया, और वह अणुमात्र भी अपने कर्त्तव्य से पराङ्मुख नहीं हुआ .....अतः जब तक दयानन्द का नाम संसार में रहेगा, तब तक रघुनाथप्रसाद कोतवाल का नाम भी गौरव और प्रतिष्ठा के साथ संसार में अमर रहेगा।"[२३]

शास्त्रार्थ तो समाप्त हुआ परन्तु काशी की विद्वन्मण्डली ने अपने न्याय, विवेक तथा सत्य को सर्वथा तिलाञ्जलि देकर समस्त नगर में स्वामी दयानन्द के पराजित होने की उद्घोषणा कर दी। दयानन्द को तो जय पराजय की कोई चिन्ता ही नहीं थी क्योंकि वे द्वन्द्वातीत, स्थितप्रज्ञ परमहंस की दशा को प्राप्त कर चुके थे। उन्हें यदि कोई क्षोभ या दुःख था तो इसी बात का कि पण्डितों ने न्यायपूर्वक शास्त्रार्थ नहीं किया, यदि ऐसा होता तो निश्चय ही कोई विचारपूर्ण परिणाम इस शास्त्रविचार से अवश्य निकलता।

पौराणिक समुदाय ने दयानन्द की तथाकथित पराजय को विज्ञापित करने का बहुशः प्रयत्न किया। 'दयानन्द पराभूति'[२४] तथा 'दुर्जनमुख मर्दन'[२५] नामक दो पुस्तकें क्रमशः संस्कृत तथा हिन्दी में लिख कर प्रकाशित कराई गईं, जिनमें स्वामी जी के पराजित होने का डिंडिम घोष किया गया था। कालान्तर में बालशास्त्री आदि विद्वानों के हस्ताक्षरों से एक विज्ञापन प्रकाशित करा कर नगर में अनेक स्थानों पर लगवाया गया, जिसमें दयानन्द के परास्त होने की घोषणा की गई थी, किन्तु विचारशील लोगों से यह अविदित नहीं रहा कि वस्तुस्थिति क्या थी और काशी का विद्वत्समुदाय किस प्रकार मूर्तिपूजा की वैदिकता को सिद्ध करने में अकृतकार्य हुआ था।

स्वामीजी की इस काशी विजय ने उस नगर के वासियों को किस प्रकार आकुल व्याकुल और आन्दोलित कर दिया था, यह इस बात से भी जाना जाता है कि वल्लभ सम्प्रदायानुयायी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसा प्रबुद्ध हिन्दी लेखक तथा अनेक अर्थों में प्रगतिशील विचारधारा में विश्वास रखने वाला व्यक्ति भी अपने आपको तटस्थ नहीं रख सका। भारतेन्दु स्वयं शास्त्रार्थस्थल पर उपस्थित थे, किन्तु स्वामीजी की कार्यप्रणाली तथा उनके धर्मान्दोलन को सम्भवतः वे आग्रह रहित दृष्टि से देख पाने में असमर्थ रहे। उन्होंने स्वामीजी के काशी से चले जाने के बाद चौसठ प्रश्नों की एक लघु पुस्तिका प्रकाशित की। 'दूषणमालिका' के नाम से लिखी गई यह पुस्तक इन वाक्यों से आरम्भ होती है—

"अथ दयानन्द नामी क्या जाने कौन जाति वा किस आश्रम के कोई नग्न पुरुष सब देशों में भ्रमण करते हुए सनातन सद्धर्म रूपी सूर्य को राहु की भांति ग्रास करते हुए इसी बहाने अपना नाम लोगों में विदित करते हुए और अपने वाक्य बना के आडम्बर से साधु लोगों का हृदय दहन करते हुए काशी में आये और दुर्गाकुण्ड निवासियों के सहवासी हुए, और उनने जो व्यर्थ उपद्रव किये वह सब पर विदित हैं। अब उन्होंने एक छोटी सी पुस्तक छपवा कर लोगों पर यह विदित करना चाहा है कि मैं हारा नहीं। इससे मैंने ऐसा विचार किया कि ऐसे मनुष्य से सम्भाषण करना उचित नहीं और पत्र द्वारा शास्त्रार्थ करना जिसमें सब लोगों पर सदसत् का प्रकाश हो और हारने जीतने का निश्चय हो जाय, इस हेतु यह दूषणमालिका उनके गले में पहनाई जाती है। उनको उचित है कि इन सब प्रश्नों का प्रतिपद उत्तर दें और इसी प्रकार से बराबर शास्त्रार्थ हो।"

यह पुस्तक १९२७ वि. (१८७० ई.) में काशी की लाजरस कम्पनी के मेडिकल हाल प्रेस में छपी थी।

शास्त्रों के अद्वितीय ज्ञाता दयानन्द को शास्त्रार्थ के लिये ललकारते समय सम्भवतः

भारतेन्दु बाबू ने न तो इसी बात का ध्यान रक्खा कि उनका निज का शास्त्राध्ययन कितना और कैसा है ? शायद वे यह भी भूल गये कि जो व्यक्ति विशुद्धानन्द और बालशास्त्री जैसे प्रखर विद्वानों से भी पराजित नहीं हुआ तथा जिनकी तेजस्विनी प्रज्ञा के समक्ष काशी के मूर्धन्य पण्डित भी दिग्मूढ़ हो गये थे, उन शास्त्रनिष्णात दयानन्द को उनके जैसे सामान्य योग्यता के व्यक्ति द्वारा शास्त्रार्थ के लिये आहूत करना विडम्बना ही है।

तत्कालीन पत्र पत्रिकाओं में इस शास्त्रार्थ का विवरण प्रकाशित हुआ था। इन पत्रों की टिप्पणियों को देखने से विदित होता है कि निष्पक्ष पत्रकारों ने वस्तुस्थिति का तथ्यपूर्ण उल्लेख करते हुए स्पष्ट लिखा कि शास्त्रार्थ में स्वामी दयानन्द का ही पलड़ा भारी रहा था। यहां पत्र पत्रिकाओं की शास्त्रार्थ विषयक सम्मतियों का संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है। शास्त्रार्थ के कुछ समय पश्चात् इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाले 'पायोनियर' नामक एक अंग्रेजी दैनिक में एक व्यक्ति ने यह समाचार प्रकाशित कराया कि पण्डित माधवाचार्य और वामनाचार्य ने दयानन्द को दबा लिया और उन्हें अपनी हार स्वीकार करनी पड़ी।[२६] किन्तु काशी से ए. एम. के. नामक एक सज्जन ने २० नवम्बर १८६९ ई. को एक पत्र उक्त दैनिक के सम्पादक के नाम लिख कर शास्त्रार्थ का सत्य विवरण दिया और काशी के विद्वानों द्वारा स्वामीजी के प्रति किये गये व्यवहार की आलोचना की।

डा. रूडोल्फ हार्नले नामक ईसाई पादरी ने A.F.R.H. के नाम से The Christian Intelligencer शीर्षक पत्र के मार्च १८७० के अंक में शास्त्रार्थ का पूरा विवरण दिया है तथा अन्त में यह लिख दिया है कि प्रतिपक्षी विद्वान् स्वामीजी के उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही शास्त्रार्थस्थल से उठ खड़े हुए और उनका अपमान करते हुए चले गये। पण्डितों द्वारा उठाये गये प्रश्नों का उत्तर बाद में स्वामीजी ने प्रकाशित करा दिया था।[२७]

हिन्दू पेट्रियट (The Hindoo Patriot) के १७ जनवरी १८७० के अंक में एक विस्तृत लेख प्रकाशित कर एक प्रत्यक्षदर्शी ने स्पष्ट किया कि काशी के विद्वानों ने जब यह अनुभव किया कि नियमित एवं न्यायपूर्वक किये गये वाद में संन्यासी को परास्त करना सम्भव नहीं होगा तो वे अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये धूर्तता एवं चालाकी के रास्ते पर उतर आये[२८] और यह कहते हुए कि दयानन्द पराजित हो गये, उठ कर जाने लगे।

हमने जिस पायोनियर पत्रिका का ऊपर उल्लेख किया है, उसमें, शास्त्रार्थ के लगभग दस वर्ष पश्चात् ८ जनवरी १८८० के अंक में एक व्यक्ति ने काशी शास्त्रार्थ का पूर्वाग्रह पूर्ण वर्णन करते हुए स्वामीजी की पराजय की घोषणा की। इस पक्षपातपूर्ण वृत्तान्त में उसने यहाँ तक लिख दिया—"The Swami hung down his head, and the Pandits clapped their hands in triumph"[२९] अर्थात् स्वामीजी ने अपना सिर झुका लिया और विजयी पण्डितों ने विजय में करतल ध्वनि की। यहां तक ही नहीं, उसने अन्त में चल कर लिखा—The Swawi remained at Benaras for some days, but he had lost his Prestige.[३०] अर्थात् स्वामीजी कुछ दिन बनारस में रहे, किन्तु उनकी प्रतिष्ठा समाप्त हो गई। यद्यपि इस लेखक ने अपने विवरण को 'अनतिरञ्जित तथा यथार्थ' (unvarnished account) बताया है, परन्तु इसी पत्र के पन्द्रह जनवरी के अंक में एक अन्य सज्जन ने पूर्वोद्धृत

लेख का प्रतिवाद करते हुए यह स्पष्ट कर दिया कि पण्डित लोग वाद के मूल प्रकरण से बराबर हट कर अप्रासंगिक बातों की चर्चा करते रहे। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह कैसे कहा जा सकता है कि स्वामीजी पराजित हो गये थे ?[३१]

अंग्रेजी पत्रों के अतिरिक्त भारतीय भाषाओं के पत्रों की सम्मतियां भी द्रष्टव्य हैं। ब्रह्मसमाज के प्रधानाचार्य श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा प्रवर्तित तथा अक्षयकुमार दत्त द्वारा सम्पादित तत्त्वबोधिनी मासिक पत्रिका ने लिखा—"कोई पण्डित वेद से प्रतिमापूजन प्रभृति व्यवस्थाओं का प्रवर्तन (सिद्ध) करके स्वामीजी को परास्त नहीं कर सका।" पुनः इसी पत्रिका के आश्विन १७९४ शकाब्द के अंक में सम्पादक ने लिखा—"दयानन्द सरस्वती नामक एक वेदज्ञ संन्यासी ने काशी आदि देशों में जाकर उच्च स्वर से कहा था कि वेद में प्रतिमा पूजन की विधि नहीं है। इसी विषय में काशीराज की सभा में काशी के वासी और अन्य देशों के वासी अनगिनत पण्डितों की सभा हुई थी परन्तु कोई भी पण्डित वेद से प्रतिमा-पूजन का प्रमाण नहीं दिखला सका था।"[३३] रोहेलखण्ड समाचार ने लिखा—"दयानन्द सरस्वती स्वामी, जो मूर्तिपूजा का निषेध करते हैं, और जिनका कानपुर के पण्डितों से भी शास्त्रार्थ हुआ था, काशी के पण्डितों को उन्होंने जीत लिया और काशी के पण्डितों ने व्यर्थ ही अपनी विजय को प्रकट किया।"[३४] मेरठ से प्रकाशित होने वाले सहीफएआलम नामक पत्र ने इस बात पर दुख प्रकट किया कि बनारस वालों ने ताली बजाई और बात बात पर कोलाहल मचाया।[३५]

पंजाब ब्रह्मसमाज के नेता श्री नवीनचन्द्र राय ने काशी शास्त्रार्थ पर अपनी सम्मति देते हुए लिखा—"शास्त्रार्थ में दोनों ओर से व्यर्थ वितण्डावाद बहुत हुआ, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि प्रतिमापूजन की आज्ञा वेदों से पण्डित सिद्ध नहीं कर सके।"[३६]

बंगाल के प्रसिद्ध वेदज्ञ विद्वान् पं. सत्यव्रत सामश्रमी ने, जो स्वयं शास्त्रार्थ के समय उपस्थित रह कर दोनों पक्षों की सहमति से शास्त्रार्थ की मुख्य मुख्य बातों को लिखने के लिये नियुक्त किये गये थे,[३७] अपनी प्रत्नकम्रनन्दिनी नामक संस्कृत पत्रिका के अंक में इस शास्त्रार्थ का तथ्यपूर्ण विवरण अंकित किया था।[३८] इस विवरण को पढ़ने से भी यही विदित होता है कि शास्त्रार्थ में स्वामी दयानन्द का पक्ष प्रबल रहा और काशी के पण्डित मिल कर भी इस एकाकी संन्यासी को पराजित नहीं कर सके थे।

पत्र पत्रिकाओं में अभिव्यक्त शास्त्रार्थविषयक सम्मतियों को पढ़ कर भी जिन लोगों को सन्तोष नहीं हुआ, उन्होंने व्यक्तिगत जानकारी प्राप्त कर शास्त्रार्थ के फलागम को जानने का प्रयास किया। स्वामी दयानन्द के प्रथम जीवनी लेखक पं. गोपालशास्त्री शर्मा ने इस सम्बन्ध में लिखा है—"उन्हीं दिनों की बात है, हमको माह अगहन में मुकाम जौन्हरी परगना एतमादपुर जिला आगरा में दो अच्छे विद्वान् संन्यासी कुंए पर बैठे मिले। वे काशी से आये थे, मथुरा को जाते थे। उनके मुख से प्रथम इस शास्त्रार्थ का समाचार वहां मिला था। उनने स्पष्ट काशी वालों की हार बताई और उनकी विद्या तथा बुद्धि और चाल चलन पर उन लोगों ने अत्यन्त ही शोक किया। पीछे से मुकाम फर्रूखाबाद में एक महाराष्ट्र के परमहंस आत्मानन्दजी मिले, जो खुद शास्त्रार्थ के समय ऐन स्वामीजी के निकट बैठे थे। उन्होंने ठीक

वैसा ही सब हाल कहा जैसा कि पुस्तक शास्त्रार्थ में लिखा है और स्वामीजी की जीत बताई और बहुत कुछ काशी वालों के कर्मों पर बारम्बार धिक्कारते थे। तत्पश्चात् प्रसिद्ध साहूकार लाला पन्नीलाल जी मिले। उनने भी सब हाल ऐसा ही कहा। वे खुद खास इस बात की तहकीकात के लिये फर्रूखाबाद से काशी गये थे। अनन्तर जब हमको काशी जाने का प्रसंग हुआ तो वहाँ भी बहुत से मिलापी और रिश्तेदारों ने स्वामीजी की अतिप्रशंसा के साथ उनकी जीत और काशी वालों की हार बताई।"[३९]

स्वामी दयानन्द के जीवनी लेखक पं. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय को बैरिस्टर चन्द्रशेखर सेन ने बताया कि काशी के शास्त्रार्थ में स्वामीजी पराजित नहीं हुए थे। सेन महाशय स्वयं शास्त्रार्थ के समय काशी में ही थे और शास्त्रार्थ के दूसरे ही दिन उनको स्वामीजी ने कहा था—"मैं पराजित नहीं हुआ, केवल पण्डितों ने कोलाहल मचा दिया है कि मैं पराजित हो गया।"[४०] यदि सचमुच ही दयानन्द परास्त हुए होते तो उनका मनोबल इतना गिर जाता कि दुबारा कभी काशी में आने का साहस ही नहीं करते। परन्तु हम देखते हैं कि इस घटना के बाद भी काशी में एकाधिक बार उनका आगमन हुआ। उन्होंने इस नगर में आकर न केवल अपने धर्मान्दोलन का ही तत्परतापूर्वक संचालन किया, किन्तु प्रत्येक बार काशी के विद्वानों को मूर्तिपूजा को वेदोक्त सिद्ध करने के लिये आहूत भी करते रहे। आश्चर्य है कि अपनी विजय की मिथ्या उद्घोषणा करने वाले इस विद्वत् समुदाय में एक भी माई का लाल ऐसा नहीं था, जो स्वामीजी की चुनौती को स्वीकार कर पाषाण पूजा को वेद प्रतिपादित सिद्ध करने के लिये आगे आता।

इस समय तो काशी नरेश मूर्तिपूजा के प्रति अपने आग्रह और अनुराग वश स्वामीजी के विरोधी बन गये थे, किन्तु कालान्तर में जब उन्हें अपने इस अनुचित कृत्य का ज्ञान हुआ, तो प्रायश्चित के रूप में उन्होंने स्वामीजी को अपने रामनगरस्थित राजप्रासाद में न केवल सत्कारपूर्वक आमंत्रित ही किया, अपितु शास्त्रार्थ के समय किये गये अपने अनुचित व्यवहार के लिये क्षमा याचना भी की। परन्तु उस समय तक स्वामी दयानन्द एक प्रसिद्ध धर्मसुधारक तथा समाज संशोधक के रूप में ख्याति अर्जित कर चुके थे।

शास्त्रार्थ के समाप्त होने पर विपक्षी विद्वानों द्वारा नाना प्रकार की भ्रान्तियाँ फैलाई गईं। स्वामीजी नहीं चाहते थे कि उनके विचारों के सम्बन्ध में जनसाधारण में किसी प्रकार की भ्रान्ति रहे। अतः विचार के जिस बिन्दु पर शास्त्रार्थ की समाप्ति हो गई थी, उसी वाक्य 'दशमेऽहनि किञ्चितपुराणमाचक्षीत' का विस्तृत अर्थ उन्होंने छपवा कर बंटवा दिया। यह उन पत्रों में लिखा गया वाक्य था, जो पं. माधवाचार्य ने शास्त्रार्थ सभा में उपस्थित किये थे और जिन पर स्वामीजी विचार कर ही रहे थे कि पौराणिक मण्डल ने शोर शराबे और स्वयं की जय घोषणा के साथ शास्त्रार्थ स्थल का त्याग कर दिया था। आश्चर्य की बात है कि स्वामीजी के इस स्पष्टीकरण का प्रतिवाद करने का साहस अब किसी भी पण्डित में नहीं था।

वस्तुतः दयानन्द काशी शास्त्रार्थ में हुई अनीति, अनियमितता तथा पक्षपात से तनिक भी विचलित नहीं हुए। उनके मन में पण्डितों द्वारा किये गये दुर्व्यवहार के लिये कोई

मलाल नहीं था और न ही ग्लानि या दुःख का भाव। पं. ईश्वरसिंह नामक एक निर्मला साधु यही देखने के लिये उनके निकट गया कि काशी की धूर्त मण्डली द्वारा अपमानित इस परमहंस पर इस दुखद घटना की क्या प्रतिक्रिया हुई है? परन्तु उसने देखा कि महाराज के निर्मल मुखमण्डल पर विषाद की एक रेखा भी नहीं है तथा वे प्रशान्त भाव से अपने आसन पर विराजमान हैं। इस पर उसने स्वाभिमत व्यक्त करते हुए कहा—"अब तक मैं आपको वेद का अद्वितीय विद्वान् ही समझता था, किन्तु अब तो मुझे निश्चय हो गया कि आप वीतराग, स्थितप्रज्ञ महात्मा भी है।"

काशी के विद्वानों में उस समय साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह, मूढ़ता तथा प्रतिगामी विचारों का कितना बोल बाला था, यह राममिश्र शास्त्री[४१] जैसे विद्वान् के आचरण से व्यक्त होता है, जो उसने काशी निवास के समय स्वामी दयानन्द के प्रति किया। संस्कृत के इस धुरंधर विद्वान् ने अपने सम्पूर्ण शील और सौन्जय को तिलाञ्जलि देकर स्वामीजी के प्रति अपशब्दों का प्रयोग करने में तनिक भी संकोच नहीं किया। एक दिन मिश्रजी बड़े गर्व से कहने लगे कि यदि दयानन्द मुझसे शास्त्रार्थ करे तो उससे मूर्तिपूजा का खण्डन छुड़वा दूं, परन्तु कठिनाई यही है कि मैं तो उस नास्तिक का मुख देखना भी पाप समझता हूँ। एक दिन यही पं. राममिश्र रात्रि के समय, जिससे कि उन्हें स्वामीजी का मुख न देखना पड़े, उनके डेरे पर आये और गर्वस्फीत वाणी में बोले, "देववाणी में तो तुझसे बात करना मैं पाप समझता हूँ, अतः देशभाषा में ही हमारा संवाद होगा। संवाद प्रारम्भ करने से पूर्व मेरी एक और शर्त है। हम दोनों के बीच एक छुरी रहेगी जो हारेगा, उसकी नाक काट ली जायगी।" इस अपमान एवं धृष्टतापूर्ण उक्ति को स्वामीजी ने तो विनोद में ही लिया और कहा कि एक क्यों दो छुरी रक्खी जानी चाहिए ताकि पराजित होने वाले की नाक के साथ जीभ भी काट ली जाय। वाद विवाद में बोलने का काम तो जिह्वा ही करती है। नाक तो बेचारी बेकसूर है। मिश्रजी का उद्दण्डतापूर्वक बोलने का क्रम स्वल्प काल तक तो जारी रहा, किन्तु जब स्वामीजी पूर्ण शिष्टता और सौजन्य पूर्वक उन्हें प्रत्युत्तर देते रहे, तो मिश्र महाशय निरुत्तर होकर स्वयं ही चले गये।

साम्प्रदायिक मतों के तीव्र खण्डन के कारण स्वामीजी को यदा-कदा मतवादी, दुराग्रही लोगों के क्रोध का शिकार होना पड़ता था। ऐसी कुछ घटनायें काशी में भी घटीं। इस्लाम की आलोचना से चिढ़े मुसलमानों के एक दल ने जब उन्हें गंगा तट पर एकाकी विराजमान देखा तो उनमें से दो प्रचण्ड बलशाली व्यक्तियों ने स्वामीजी के दोनों पार्श्वों में हाथ डालकर उन्हें अधर में उठा लिया। पुनः वे गंगा की ओर इस अभिप्राय से चले कि उन्हें नदी में फेंक कर जलसमाधि दे देंगे। स्वामीजी भी उनकी दुष्ट भावना को समझ गये, अतः उन्होंने अपनी दोनों बगलों में हाथ डाले उन दुष्टों के हाथों को जोर से दबा कर शिकंजे की भांति कस लिया। अब वे स्वयं उन दोनों को इर्द गिर्द दबाये गंगा की ओर बढ़े और धारा के निकट आकर दोनों गुण्डों सहित पानी में छलांग लगा ली। यदि स्वामीजी चाहते तो उन गुण्डों को जलमग्न कर देते, किन्तु आततायियों के प्रति भी असीम करुणभाव रखने वाले दयानन्द ने उन्हें जल में ही डुबकी खाते छोड़ दिया और स्वयं जल के भीतर ही तैरते हुए बहुत दूर निकल गये। इधर उन बदमाशों ने जल से बाहर आकर हाथों में

पत्थर के ढेले ले लिये और प्रतीक्षा करने लगे कि ज्यों ही यह बाबा पानी के बाहर आये या पानी के ऊपर अपना सिर निकाले, वे ढेलों की वर्षा कर उसका सिर कुचल देंगे। परन्तु प्राणायाम का दीर्घकाल तक अभ्यास रखने वाले स्वामीजी के लिये तो पर्याप्त समय तक जल में रुके रहना सम्भव था। अतः बहुत प्रतीक्षा करने पर भी जब वे बाहर नहीं आये, तो उन्हें डूबा हुआ समझ कर गुण्डा मण्डली वहां से चली गई। कालान्तर में स्वामीजी भी जल से बाहर निकल कर स्वस्थान पर चले आये।

भोजन के माध्यम से उन्हें विष देने की घटना भी यहीं घटी। एक मनुष्य श्रद्धा भाव से उनके लिये भोजन लाया और खाने के लिये अनुरोध करने लगा। स्वामीजी तो भोजन कर चुके थे, अतः उन्होंने खाने से इन्कार कर दिया। इस पर उस व्यक्ति ने एक पान का बीड़ा उनकी ओर कर कहा, यदि भोजन नहीं करें तो पान ले लीजिये। स्वामी जी ने पान को हाथ में लेकर खोला, तो इतने में क्या देखते हैं कि लाने वाला व्यक्ति भागा जा रहा है। वस्तुतः भोजन और पान दोनों ही विषमिश्रित थे। काशी में यदा कदा एकाकी या झुण्डबद्ध गुण्डे स्वामीजी को शारीरिक क्षति पहुंचाने के लिये उनके पीछे पीछे फिरते ही रहते थे, किन्तु निर्भीक संन्यासी सर्वथा निडर भाव से यथेच्छ भ्रमण करते। इसी प्रकार पीछा करने वाले एक गुण्डे को तो उन्होंने हुंकार मात्र से भयभीत कर भगा दिया था।

एक दिन महाराज उदासीन साधु जवाहरदास जी के डेरे पर पहुंचे। वहाँ उस समय सन्तमण्डली भंग घोट रही थी। एकाएक स्वामीजी को सामने पाकर साधुजी कुण्डी सोटा छिपाने लगे, परन्तु स्वामीजी से यह अप्रकट नहीं रहा। वे विनोद भाव से बोले— अच्छा, शिवबूटी तैयार हो रही है। विजया पान कर आप लोग भी शिव बनना चाहते हैं। भई, बात यह है कि शिव बनने में लगता भी क्या है ? भंग पी और शिवोऽहम् शिवोऽहम् कहने लगे। वस्तुतः स्वामीजी की यह व्यंग्यात्मक टिप्पणी उन नवीन वेदान्तियों के क्रिया-कलापों पर एक तीखा प्रहार था, जो मादक द्रव्य पीकर अद्वैतानुभूति का दावा करते हैं।

विनोद का प्रसंग तो समाप्त हुआ। अब स्वामीजी ने गम्भीर भाव से साधु जवाहर दास को लोककल्याण के प्रयोजन से उपदेशक बन कर भ्रमण करने तथा लोकहित के लिये ही अपने आपको समर्पित कर देने की प्रेरणा दी। परन्तु जमात और डेरे रखने वाले तथा वैरागी का बाना धारण करके भी मठों, मंदिरों तथा साधुमण्डलियों के ऐश्वर्यपूर्ण आडम्बरों में फसे अन्य भारतीय साधुओं की ही भांति जवाहरदास के लिये भी स्वामी दयानन्द का यह उद्‌बोधन कटु औषधि के तुल्य ही था। उन्होंने यह कह कर अपना पीछा छुड़ाया कि आप तो निर्द्वन्द्व भाव से सर्वत्र विचरते हैं परन्तु मैं तो डेरे वाला साधु हूँ। भला मैं स्वतंत्रता पूर्वक विचर कर उपदेश कैसे कर सकता हूँ ? दयानन्द तो इस वर्ग के साधुओं की मनःस्थिति को भली भांति समझते थे, अतः उन्होंने एक बार और सभी प्रकार की माया और ममता को छोड़कर निःस्पृह भाव से लोकहित में जुटने की प्रेरणा साधुजी से की परन्तु उनका यह कथन अरण्यरोदन ही सिद्ध हुआ।

बनारस कालेज में अध्ययनरत भरतपुर के नरेश, रींवा के राजा तथा तिरवा के शासक विदेशी पादरी रुडोल्फ हार्नली के साथ एक बार स्वामीजी से मिलने आये और

नास्तिकता के समर्थन में अनेक युक्तियाँ प्रस्तुत कीं। स्वामीजी ने विभिन्न युक्तियाँ देकर परमात्मा की सत्ता सिद्ध की। आगन्तुकों का समाधान हो गया।

बनारस में स्वामी महाराज के निवास के दिन समाप्त हो रहे थे। भारत की इस धार्मिक राजधानी में पौराणिक समुदाय को ललकार कर सचमुच दयानन्द ने एक क्रान्तिकारी कदम उठाया था। उस नगर में जहां गली गली, चौराहे चौराहे पर देवमूर्तियाँ विराजमान हों, जहाँ का प्रत्येक कंकर शंकर से उपमित होता हो, जिस नगर में मंदिरों और धर्मस्थानों से हजारों लोगों की जीविका चलती हो, धर्म के रूढ़ियों में आबद्ध रूप पर प्रहार करना सचमुच एक साहस का कार्य था। गंगा के तटवर्ती गावों, कस्बों और देहातों में मूर्तिपूजा आदि पौराणिक पाखण्डों का खण्डन कर उसे त्यागने के लिये जन समाज को प्रेरित करना तथा इसके स्थान पर विशुद्ध वैदिक तथा स्मृति प्रतिपादित संध्या, यज्ञ आदि का अनुष्ठान का उपदेश अब तक वे देते रहे थे। उनके इस प्रचार कार्य का अभीष्ट परिणाम भी निकलने लगा था। हजारों लोगों की आस्थाएं धर्म के रूढ़ि प्रधान रूप से हटकर उसके निर्मल एवं उदात्त स्वरूप की ओर आकृष्ट होने लगीं थीं। साथ ही वे यह भी समझने लगे थे कि धर्म के नाम पर धारण किये जाने वाले कण्ठी, तिलक, छाप आदि बाह्याचारों की तुलना में सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, शौच आदि नैतिक नियमों का पालन अधिक श्रेयस्कर है।[४२]

तथापि स्वामी दयानन्द ने यह अनुभव किया था कि हिन्दू धर्म के सर्वोच्च व्याख्याकार तथा अनुशास्ता काशी के विद्वन्मण्डल को जब तक अपने विचारों और कार्यों से प्रभावित नहीं किया जायगा, तब तक जनसामान्य सम्भवतः उनके उपदेशों को गम्भीरता से नहीं लेगा। प्राचीन काल के धर्माचार्यों में भी यह परिपाटी प्रचलित रही है। अपने सिद्धान्तों और विचारों को देशव्यापी बनाने की दृष्टि से वे शास्त्रार्थों के माध्यम से दिग्विजय हेतु प्रस्थान करते थे और सभी प्रतिद्वन्द्वी विद्वानों को वादविवाद के समर में परास्त कर अपने विचारों की धूम मचाते थे। शंकर, रामानुज तथा वल्लभ जैसे वेदान्त तथा भक्ति के आचार्यों की विजययात्रायें भारत के धार्मिक इतिहास में सुख्यात रही हैं। काशी की विजययात्रा में उनका यही लक्ष्य प्रतिबिम्बित होता है।

परन्तु शास्त्रार्थ का जो परिणाम निकला, उससे भी उन्हें संतोष नहीं हुआ। उन्होंने सोचा था कि काशी की विद्वन्मण्डली निष्पक्ष होकर सत्यासत्य का विचार करेगी तथा प्रचलित पाखण्डों के उन्मूलन हेतु किये जाने वाले उनके कार्यों को अपना समर्थन प्रदान करेगी। ऐसा होना तो दूर रहा, काशी के इन पण्डितों ने तो स्वामीजी को परम्परागत आचारों तथा धर्म के प्रचलित मानदण्डों का विरोधी एवं शत्रु घोषित कर उनके सामाजिक बहिष्कार जैसी परिस्थिति पैदा कर दी। जैसा कि रूडोल्फ हार्नली ने लिखा था—"शास्त्रार्थ के पहले जहाँ बहुसंख्यक लोग उनसे मिलने जाते थे, अब जाने वालों की संख्या बहुत कम हो गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि सुधारक (स्वामी दयानन्द) का पण्डित वर्ग ने सामाजिक बहिष्कार सा कर दिया है, तथा उनके निकट जाने वालों को भी ऐसी ही धमकियां दी जाती हैं।"[४३]

जो कुछ भी हो, स्वामीजी ने यह अनुभव किया कि उन्हें अपनी कार्य प्रणाली पर

थोड़ा और विचार करना होगा। जिस प्रकार काशी के विद्वानों ने मिलकर शास्त्रार्थ संग्राम में उनका मुकाबिला किया था, उसी प्रकार धर्म के वास्तविक रूप को जन साधारण में प्रचारित करने तथा धार्मिक पाखण्डों तथा सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन हेतु संगठित प्रयास की आवश्यकता उन्हें दिखाई दे रही थी। एक विचार उनका यह भी था कि वेद की वास्तविक शिक्षाओं के प्रचारार्थ वेदविद्यालयों की स्थापना की जानी चाहिए। सत्रह जनवरी १८७० ई. के हिन्दू पेट्रियट में एक विस्तृत लेख लिखकर एक व्यक्ति ने यह स्पष्ट कर दिया कि स्वामी दयानन्द काशी में एक वेद विद्यालय की स्थापना के लिये उत्सुक हैं। उनकी धारणा है कि वास्तविक ईश्वरवाद की स्थापना तथा वर्तमान के संन्यासी एवं विद्वानों में प्रचलित बहुदेववाद का उन्मूलन तभी सम्भव है, जब कि वेदों के वास्तविक ज्ञान का प्रचार किया जाय।[४४] उक्त पत्रिका के सम्पादक ने भी इस प्रस्ताव का समर्थन करते हुए वेद विद्यालय के प्रस्तावक व्यक्ति से यह अनुरोध किया कि वह इस चर्चा को आगे बढ़ाये तथा विद्यालय के स्थापित करने में कितना कुछ व्यय होगा, इसका आनुमानिक ब्यौरा प्रस्तुत करें।

इस पर यह व्यक्ति आनन्दबाग में जाकर स्वामी दयानन्द से मिला तथा उनसे हिन्दू पेट्रियट सम्पादक के सम्पादकीय टिप्पण की चर्चा की। स्वामीजी यह जान कर अत्यन्त प्रसन्न हुए कि पत्रों में उनकी वेदविद्यालय विषयक योजना की अनुकूल प्रतिक्रिया हुई है। उन्होंने विद्यालय की योजना का विस्तृत प्रारूप प्रस्तुत करते हुए बताया कि संस्कृत के प्रारम्भिक शिक्षण के लिये उनके गुरुवर विरजानन्द के ही योग्य शिष्यों की सेवा ली जा सकती है। कालान्तर में वेद का अध्ययन कराने के लिये १०० रु. मासिक पर उच्चकोटि के वैदिक पण्डित भी नियुक्त किये जा सकते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि इस विद्यालय की स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिये वे भारत की राजधानी कलकत्ता जाने का भी विचार रखते हैं। उनकी धारणा थी कि काशी में स्थापित होने वाला वेद का यह विद्यालय एक केन्द्रीय संस्थान रहे, जिसकी शाखाओं के रूप में देश में सर्वत्र विद्यालयों की स्थापना की जा सके।[४५]

काशी निवास के समय ही वे एक बार मुगलसराय जाकर रेलवे कर्मचारियों को सम्बोधित कर चुके थे। दीनानाथ गंगोपाध्याय नामक एक सज्जन ने उन्हें यहाँ आमंत्रित किया था। लगभग चार मास तक काशी में रहकर स्वामी दयानन्द ने २६ जनवरी १८७० को प्रयाग के लिये प्रस्थान किया।

□□

पाद टिप्पणियाँ

१. काशी नरेश की राजधानी रामनगर गंगा पार की बस्ती है। यहां काशी के ब्राह्मण नरेशों के प्राचीन महल हैं। यहां की रामलीला प्रसिद्ध है। स्वामीजी जिन दिनों यहां आये थे, उन दिनों रामलीला चल रही थी।

२. मुंशी हरिवंशलाल बनारस में स्टार प्रेस के मालिक थे। इसी प्रेस में सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण १८७५ ई. में मुद्रित हुआ था।

३. काशी का सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ भी इसी आनन्दबाग में हुआ था। शास्त्रार्थ की स्मृति में अमेठी नरेश राजा रणञ्जयसिंह ने एक शिलालेख यहां स्थापित किया है, जिस पर निम्न श्लोक अंकित हैं—

शास्त्रद्वन्द्वाङ्कचन्द्रेब्दे वैक्रमे कार्तिकेसिते।
भौमेभास्वातितिथौ दिव्ये मूर्तिपूजाविनिर्णये॥
अमेठ्यानन्दबागेऽस्मिन् काशिराजसभापतौ।
जनौघे विपुले वादः प्रवृत्तः श्रुतितत्परः॥
विशुद्धानन्दसुप्रज्ञैर्बालशास्त्र्यादिभिर्बुधैः।
शास्त्रार्थमकरोत् साकं दयानन्दो यतिर्महान्॥
भगवान्बख्शभूपाल-वचनात् तत्सुतः सुधीः।
अलेखयच्छिलालेखं श्रीमान् राजा रणञ्जयः॥

अर्थात् १९२६ वि. कार्तिक शुक्ला द्वादशी मंगलवार के दिन मूर्तिपूजा का निर्णय करने हेतु अमेठी राज्य के आनन्दबाग में काशीराज के सभापतित्व में विपुल जनसमूह के बीच वेद पर आधारित शास्त्रार्थ हुआ। विशुद्धानन्द तथा बालशास्त्री जैसे लोकविश्रुत विद्वानों के साथ महान् यति दयानन्द ने शास्त्रार्थ किया। राजा भगवान् बख्श की आज्ञा से उनके पुत्र विद्वान् राजा रणञ्जयसिंह ने इस शास्त्रार्थ की स्मृति में यह शिलालेख लगवाया है।

४. महाभाष्य १. १. १.

५. पं. रघुनाथप्रसाद सनाढ्य वंशोद्भव ब्राह्मण थे। उनका मूल निवास बुन्देलखण्ड था।

६. पूरा नाम बालशास्त्री रानडे। ये महाराष्ट्र के चितपावन ब्राह्मण थे। गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज बनारस में अध्यापक रहे। जन्म १८३९ ई., मृत्यु १८८० ई.।

७. पं. अम्बिकादत्त व्यास के पूर्वज राजस्थान के जयपुर राज्य के निवासी थे। इनका जन्म १८५९ ई. तथा निधन १९ नवम्बर १८९० ई. को हुआ। शिवराजविजय इनका प्रसिद्ध संस्कृत गद्य ग्रन्थ है।

८. कैलासचन्द्र शिरोमणि (१८३० ई. - १९०७ ई.) गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज बनारस में न्याय के प्राध्यापक थे। पं. वामनाचार्य तथा पं. बस्तीराम द्विवेदी भी इसी कॉलेज में पढ़ाते थे।

९. परमहंस जवाहरदास उदासीन सम्प्रदाय के आचार्य थे। सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् तथा दर्शनों के भाष्यकार स्वामी हरिप्रसाद वैदिक मुनि इन्हीं के शिष्य थे।

१०. भाटपाड़ा जिला हुगली निवासी थे। इन्होंने कालान्तर में 'ख्रीष्टोपनिषद्' लिखी थी जिसमें बाइबिल की चार गॉस्पेल्स को संस्कृत में अनूदित किया गया था।

११. कालान्तर में गवर्नमेंट कॉलेज, अजमेर में हैडपण्डित रहे। इन्होंने न्यायदर्शन पर संस्कृत में एक टीका लिखी है।

१२. प्रमदादास मित्र काशी निवासी बंगाली सज्जन थे।

१३. हिन्दी के प्रख्यात साहित्यकार और भारतेन्दु के नाम से प्रसिद्ध।

१४. ये भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के छोटे भाई थे।

१५. "यद् वै किंचन मनुरवदत्तद् भेषजं भेषजतायै" ताण्ड्य ब्राह्मण २३।१६।७

१६. वेदान्तदर्शन २।२।१

१७. यजुर्वेद अध्याय १४-१८, १५-६५, ३२-३, ऋग्वेद मण्डल १०.१३०-३, तथा अथर्ववेद काण्ड ८.९.६ तथा ९.४.२ में 'प्रतिमा' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

१८ षड्विंश ब्राह्मण ५।९

१९. छान्दोग्य उपनिषद् ३।१८।१

२०. यजुर्वेद अध्याय १५ मंत्र ५४

२१. 'पुराण' शब्द ऋग्वेद के ४।१८।१ तथा अथर्ववेद के २०।१७।५ मंत्रों में प्रयुक्त हुआ है।

२२. बृहदारण्यकोपनिषद २।४।१०

२३. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवनचरित भाग-१, पृ. २०६

२४. यह पुस्तक काशी राज के यंत्रालय से प्रकाशित हुई थी। द्रष्टव्य—आर्यदर्पण जनवरी १८८० ई.

२५. उन्नीस पृष्ठों की इस पुस्तक में पुराण वाक्यों की भरमार थी किन्तु किसी भी वेद मंत्र को मूर्तिपूजा की सिद्धि में उद्धृत नहीं किया गया था।

२६. पायोनियर २२ नवम्बर १८६९ ई,

२७. "His opponents waited but two minutes, and as still no answer was forthcoming, they rose, jeering and calling out that he was unable to answer and was defeated and went away. The answer, he afterwards published in his pamphlet."

28. "Finding it impossible to overcome the great man by a regular discussion the Pandits resorted to the adoption of a sinister end to subserve their purpose."

२९. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय लिखित दयानन्द चरित—बाबू घासीराम द्वारा अनूदित तथा जुलाई १९१२ में भास्कर प्रेस मेरठ से प्रकाशित प्रथम संस्करण, पृ. १८१।

३०. वही पृ. १८१

३१. "The Brahmins did not confine their arguments to his point at issue... How can in the face of the above facts bodly asset that the Swami got the worst of the fight."

३२. शास्त्रार्थ के समाप्त होने पर स्वामीजी ने इसका विवरण 'शास्त्रार्थ व सत्यधर्म विचार' शीर्षक पुस्तक में प्रकाशित करा दिया था। यह पुस्तक गोपीनाथ पाठक के लाइट प्रेस बनारस में १९२६ वि. में ही प्रकाशित हुई थी। इसी पुस्तक की समालोचना करते हुए तत्त्वबोधिनी पत्रिका ने यह सम्मति अपने ज्येष्ठ १७९४ शकाब्द के अंक में प्रस्तुत की थी। शास्त्रार्थ का यह 'सत्यधर्म विचार' शीर्षक प्रकाशित विवरण ही कालान्तर में मुन्शी बख्तावरसिंह द्वारा आर्यदर्पण के जनवरी १८८० ई. के अंक में हिन्दी और उर्दू में समानान्तर कालमों में छापा गया था। आगे चलकर वैदिक यंत्रालय से जो काशी शास्त्रार्थ संस्कृत तथा हिन्दी में प्रकाशित हुआ, वह आर्यदर्पण में प्रकाशित विवरण का ही संशोधित एवं सटिप्पण रूप है।

३३. तत्त्वबोधिनी पत्रिका संख्या ३२५ पृ. ९५ पं लेखराम लिखित जीवन चरित्र में पृ. १५७ पर उद्धृत।

३४. नवम्बर १८६९ ई. का अंक

३५. २ दिसम्बर १८६९ ई. का अंक

३६. द्रष्टव्य—ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका लाहौर संख्या ४ खण्ड-५ चैत्र १९२७ वि., अप्रैल १८७० ई. राय महाशय ने अपनी यह सम्मति उस समय प्रस्तुत की जबकि मुगलसराय निवासी किसी सज्जन ने 'सत्यधर्म विचार' पुस्तक उनके पास अवलोकनार्थ भेजी।

३७. "परमहोकाश्यानन्दोद्यानविचारे यत्र वयमास्म मध्यस्थाः विशेषतो वादिप्रतिवादिवचसामनुलेखनेऽहमेक एवोभयपक्षतो नियुक्तः" ऐतरेयालोचनम् पृ. १२७.

३८. सामश्रमी लिखित यह विवरण प्रत्नकम्रनन्दिनी (अंग्रेजी नाम the Hindu Commentator) के दिसम्बर १८६९ ई. के अंक में प्रकाशित हुआ। इन पंक्तियों के लेखक द्वारा सम्पादित दयानन्द शास्त्रार्थ संग्रह (प्रकाशकः रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़-१९८२ ई. का द्वितीय संस्करण) के द्वितीय परिशिष्ट में यह विवरण 'काशीस्थराजसभायां प्रतिमापूजनविचारः' शीर्षक से हिन्दी अनुवाद सहित उद्धृत किया गया है।

३९. दयानन्द दिग्विजयार्क प्रथम खण्ड पृ. ३०

४०. दयानन्द चरित देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय पृ. १९० (प्रथम संस्करण)

४१. राममिश्र शर्मा बनारस संस्कृत कॉलेज में अध्यापक थे।

४२. स्वामी दयानन्द प्रतिपादित आठ सत्य इसी नैतिक उपदेश के प्रतीक थे।

४३. "Whereas, before, multitudes flocked to see him, those who came afterwards might be easily counted. The reformer himself was practically excommunicated, and, anyone who would visit after his refutation was threatened with the same mearure." Quoted in Dayanand Saravati. His life and Ideas. By J. T. F Jordens p. 68. Oxford University Press, New Delhi 1978.

४४. "With the view of promulagating correct theistic doctrines and dispelling the misunderstanding of the present Sanyasis and pandits, who held pantheism to be the main doctrine of the Vedas, he is thinking to establish a Vedic School.

४५. The Hindu Patriot, February 14, 1870.

□□

पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा बिहार में

काशी से प्रस्थान कर मिर्जापुर होते हुए माघ शुक्ला ५ शनिवार १९२६ वि. (५ फरवरी १८७०) को स्वामी दयानन्द प्रयाग आये। उस समय वहां पर माघी कुम्भ की धूम थी। वे वासुकि मंदिर में ठहरे। उनके आगमन का समाचार सर्वत्र फैल गया और अनेक लोग उनसे भेंट करने तथा धर्मोपदेश ग्रहण करने के लिये आने लगे। मिर्जापुर निवासी संस्कृतज्ञ विद्वान् पं. मोतीराम एक दिन अपने एक विद्यार्थी सहित स्वामीजी से भेंट करने प्रातः चार बजे ही उस स्थान पर पहुंचे जहाँ कौपीन मात्र वस्त्र धारण किये परमहंसजी दिगम्बर अवस्था में घोर शीत की परवाह किये बिना घाट की बुर्ज पर निश्चिन्त सो रहे थे। उन्हें यह देख कर आश्चर्य हुआ कि माघ मास की घोर शीत में यह व्यक्ति इस प्रकार खुले में लेटा है। पं. मोतीराम के छात्र ने स्वामीजी के दर्शन काशी शास्त्रार्थ के समय किये थे, इसलिये उसने महाराज को पहचान लिया और अपने गुरु से कहने लगा कि यही वह गप्पाष्टक बाबा है[1] जिसने काशी में पण्डितों से शास्त्रार्थ किया था।

थोड़ी देर में स्वामीजी की निद्रा टूटी और गंगा किनारे जाकर वे नित्य कर्मों से निवृत्त हुए। पुनः उनकी पं. मोतीराम से धर्मचर्चा प्रारम्भ हुई। इसी समय मिर्जापुर के रईस सेठ रामरतन लड्ढा के साथ दो चक्रांकित मतानुयायी वैष्णव भी धर्मचर्चा के लिये आ गये। उन्हें देखकर तिलक आदि बाह्य आचारों का खण्डन करते हुए कहने लगे कि नाना प्रकार की लाल पीली रेखाओं से मस्तक का शृंगार करने की अपेक्षा सदाचार धारण कर आत्मा का शृंगार करना कहीं अधिक श्रेयस्कर है। उन्होंने इस पर खेद प्रकट किया कि तिलक छाप लगाने में तो सम्प्रदायवादियों की रुचि है, किन्तु योगाभ्यास में किसी की अभिरुचि नहीं है। इसके पश्चात् वे पं. मोतीराम की ओर उन्मुख हुए और इनसे धर्म के स्वरूप पर चर्चा हुई। जब पण्डित जी ने यह स्वीकार कर लिया कि वेद प्रतिपादित मन्तव्य ही वास्तविक धर्म है, तो स्वामीजी ने चट पूछ लिया—क्या मूर्तिपूजा का भी वेदों में कहीं विधान है? इस पर पण्डित जी का यह कहना था कि देव प्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा करने तथा उनमें तत् तत् देवता का आह्वान करने में अनेक वेद मंत्रों का विनियोग तो किया ही गया है।[2] यही मंत्र मूर्तिपूजा की सिद्धि में भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं। उनके ऐसा कथन करने पर स्वामीजी ने प्राण प्रतिष्ठा आदि में प्रयुक्त मंत्रों के वास्तविक अर्थों की व्याख्या की और स्पष्ट किया कि इन मंत्रों में जड़ प्रतिमाओं को फल फूल, नैवेद्य अर्पित करने अथवा धूप, दीप आदि से उनकी पूजा करने का कोई उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार यह भी सिद्ध किया कि नवग्रह पूजन में जिन वेद मंत्रों का विनियोग किया जाता है,[3] उनके अर्थ सर्वथा भिन्न ही हैं तथा इन मंत्रों का बुध, शुक्र, शनि आदि सौरमण्डल के ग्रहों से कोई लेना देना नहीं है। इस प्रकार पुराण प्रतिपादित मूर्तिपूजा तथा तत्सम्बन्धी अन्य कर्मकाण्डों की अवैदिकता स्वामीजी ने प्रमाण पुरस्सर सिद्ध की।

कुम्भ के इस समागम में हाथरस निवासी पं. हरजसराय नामक एक विद्वान् भी आये

थे, जो स्वामी विशुद्धानन्द के गुरुभाई थे। मेले में स्वामी विशुद्धानन्द भी आये हुए थे। पण्डित हरजसराय अकसर अपने विद्यार्थियों से कहते रहते थे कि स्वामी दयानन्द अलग बैठे बैठे ही मूर्तिपूजा का खण्डन करते रहते हैं यदि वे मेरे समक्ष आयें तो उनकी बोलती बंद हो जायगी। जब स्वामीजी को पण्डित जी की यह आत्मश्लाघापूर्ण उक्ति कर्णगोचर हुई तो उन्होंने पं. हरजसराय और स्वामी विशुद्धानन्द दोनों को ही शास्त्रचर्चा के लिये आमंत्रित किया, परन्तु ये वाक्शूर पण्डित सामने नहीं आये।

आदि ब्रह्मसमाज के नेता श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर उस समय प्रयाग में उपस्थित थे। स्वामीजी की लोकविश्रुत कीर्ति को सुनकर वे दर्शनार्थ सेवा में उपस्थित हुए। पारस्परिक परिचय के अनन्तर विचारों का आदान प्रदान हुआ। स्वामीजी अब यह अनुभव करने लगे थे कि एक ओर जहाँ मूर्तिपूजा, अवतारवाद, तथा अन्यान्य साम्प्रदायिक धारणाओं का खण्डन आवश्यक है, वहां वेद पर आधारित विशुद्ध आर्य धर्म के वास्तविक रूप का लोगों को परिज्ञान कराया जाना भी आवश्यक है। जब तक वेदों में व्याख्यात धर्म के मौलिक, उदात्त स्वरूप को जनसामान्य के समक्ष उपस्थित नहीं किया जायगा, तब तक समाज और राष्ट्र के अभ्युत्थान का कार्य सम्भव नहीं होगा। इसी तथ्य को अनुभव कर स्वामीजी ने वैदिक पाठशाला की स्थापना विषयक चर्चा ठाकुर महाशय से की। एक ऐसा ही प्रस्ताव वे काशी निवास काल में भी कर चुके थे। देवेन्द्रनाथ ठाकुर का मत स्वामीजी से बहुत कुछ मिलता था। जैसा कि हम देखते हैं, ठाकुर महाशय ब्रह्मसमाज में भी वेदों और उपनिषदों पर आधारित धर्म एवं उपासना प्रणाली के प्रचार के ही इच्छुक थे। अतः उन्होंने स्वामीजी के विचारों से पूर्ण सहमति व्यक्त की तथा उन्हें कलकत्ता आने का निमंत्रण दिया, ताकि वहां पर वेद विद्यालय विषयक चर्चा को आगे बढ़ाया जा सके।

पं. घासीराम के अनुसार प्रयाग में स्वामीजी ने अपने भक्तों और प्रशंसकों के सम्मुख स्वजीवन की कुछ घटनाएं भी वर्णित कीं। अनुसंधान के अनन्तर ज्ञात हुआ कि इनमें कोई भी घटना ऐसी नहीं थी, जिसका उल्लेख स्वामीजी ने अपने आत्मचरित में न किया हो।

स्वामी दयानन्द बराबर इस बात के लिये प्रयत्नशील रहते थे कि लोग सदाचारी बनें, अपने दुर्व्यसनों को त्याग कर सादा, सरल तथा गरिमापूर्ण जीवन व्यतीत करें। वस्तुतः हिन्दू जाति के सार्वत्रिक पतन का एक कारण यह भी था कि विगत काल में विदेशों से आने वाली संस्कृतियों और जीवन पद्धतियों का विषाक्त प्रभाव उस पर पड़ता रहा। स्वदेश की गरिमा तथा स्वजाति और स्वधर्म की अस्मिता को भुला कर जब इस देश के लोग परकीय जातियों के रहन सहन,आचार विचार, वेशभूषा आदि का अंधानुकरण करने लगे, तो 'स्व' का ह्रास होना स्वाभाविक ही था। स्वामी दयानन्द की प्रयाग में एक ऐसे ही व्यक्ति से भेंट हुई जो फारसी और अंग्रेजी का अध्ययन करने के पश्चात् अपने परम्परागत धर्म तथा आचार विचारों को तिलाञ्जलि दे बैठा था। वह अपने आपको पक्का नास्तिक मानता, तथा गर्वपूर्वक घोषणा करता था कि ईश्वरीय सत्ता के खण्डन में उसके पास १०१ युक्तियों का अद्भुत संग्रह है। उसकी धारणा थी कि ये युक्तियां अकाट्य हैं। विचारों की ही भाँति आचार की दृष्टि से भी वह पतन की पराकाष्ठा तक पहुंच चुका था। मद्य मांस सेवन में तत्पर, वेश्यागमन के

दुर्व्यसन में फंसा यह माधवचन्द्र चक्रवर्ती नामक धनाढ्य बंगाली स्वामीजी के निकट आया और गर्वस्फीत स्वर में ईश्वर की खण्डनपरक एक सौ एक युक्तियों को उनके समक्ष रक्खा।

स्वामी दयानन्द जैसे कुशल तार्किक तथा महान् मेधावी पुरुष के लिये इन युक्तियों का समाधान कोई कठिन कार्य नहीं था। जब चक्रवर्ती महाशय को यह विश्वास हो गया कि इस अपराजेय साधु के आगे उनकी युक्तियां एवं तर्क वाग्जाल मात्र हैं, तो वे स्वामीजी के समक्ष श्रद्धानत हुए तथा उनकी शिक्षाओं तथा उपदेशों को स्वीकार करने में विलम्ब नहीं किया। अब चक्रवर्ती महाशय के जीवन में एक नया विहान आया। वे दुराचारों से घृणा करने तथा स्वामीजी द्वारा उपदिष्ट संध्या, अग्निहोत्र एवं बलिवैश्वदेव आदि यज्ञों को नियमित रूप से करने के लिये कृतप्रतिज्ञ हुए। चक्रवर्ती के जीवन में आया यह आकस्मिक परिवर्तन सिद्ध करता है कि महापुरुषों का समागम किस प्रकार व्यक्ति के लिये प्रेरणादायी तथा उसके जीवन को ऊर्ध्वमुखी बनाने में सहायक होता है। आस्तिकता और धर्माचरण चक्रवर्ती के जीवन को नवीन दिशा बोध देने वाले तत्त्व बने तथा उनके नैतिक एवं आध्यात्मिक पुनरुत्थान का मार्ग प्रशस्त हुआ। अपने ग्वालियर निवासी मित्र शरच्चन्द्र चौधरी के समक्ष उसने स्वीकार किया कि उसकी मानसिक और आत्मिक उन्नति का श्रेय स्वामी दयानन्द को ही है।

कुम्भ जैसे धार्मिक मेलों की उपयोगिता स्वामी दयानन्द के लिये इतनी ही थी कि वे ऐसे अवसरों पर जहां बृहत् मानव समुदाय के समक्ष अपने विचारों को सशक्त ढंग से प्रस्तुत कर सकते थे, वहाँ उन्हें हिन्दू जाति के साधु संन्यासियों, वैरागियों तथा धर्माचार्यों के आचार विचारों तथा क्रियाकलापों को निकट से देखने का अवसर भी प्राप्त हो जाता था। भारत का यह वैरागी समुदाय अपने आपको निवृत्तिमार्गी कहता है। यह दूसरी बात है कि निवृत्ति पथ के पथिक इन्हीं साधु सन्तों और महन्तों के पास विशाल धन सम्पति, ऐश्वर्य तथा वैभव के प्रतीक मठ मंदिर तथा विराट् धर्म संस्थान भी हैं। उनका सारा समय इसी सम्पत्ति की देख-रेख तथा व्यवस्था में जाता है। तथापि परलोक तथा परमार्थ की चर्चा भी उनके होठों से कभी नहीं उतरती। स्वामी दयानन्द इस कथनी और करनी के अन्तर को घोर पाखण्ड समझते थे। कुम्भ के उस मेले में स्वामी दयानन्द की भेंट एक ऐसे ही निवृत्ति मार्ग का उपदेश देने वाले साधु से हुई। वार्तालाप के प्रसंग में स्वामीजी ने स्पष्ट किया कि एकान्तिक निवृत्ति मार्ग मनुष्य की उन्नति में बाधक है। दूसरों को सांसारिक दायित्वों से मुंह मोड़ने की शिक्षा देने वाले ये तथाकथित निवृत्तिमार्गी स्वयं घर घर भीख मांग कर उदरपूर्ति करते हैं, क्या यह विडम्बना नहीं है? स्वामीजी के विचारानुसार वैदिक धर्म मनुष्य को भाग्यवादी, अकर्मण्य तथा पलायनवादी नहीं बनाता। वेदमंत्रों में तो सर्वत्र कर्मनिष्ठा, पुरुषार्थ तथा कठिनाइयों से जूझने की प्रेरणा ही मिलती है।

इस प्रकार प्रयाग के कुम्भ मेले में धर्मचक्र का प्रवर्तन कर स्वामी दयानन्द फाल्गुन १९२६ वि. में मिर्जापुर आये तथा पूर्व परिचित सेठ रामरतन लड्ढ़ा के बाग में ठहरे। प्रयाग में जिन पं. मोतीराम से उनकी भेंट हुई थी वे सूचना मिलने पर यहां भी स्वामीजी के दर्शनार्थ उपस्थित हुए। स्वामीजी ने प्रयाग में हुई मूर्तिपूजा विषय चर्चा के सूत्र को पुनः उठाते हुए पूछा कि क्या इस अवधि में उन्हें पाषाण पूजा के समर्थन में कोई वैदिक या आर्ष प्रमाण मिला

है ? पण्डितजी के इन्कार करने पर महाराज ने दृढ़तापूर्वक कहा कि योगाभ्यास ही ईश्वर प्राप्ति का एक मात्र साधन है, तथा भारत की प्राचीन उपासना प्रणाली में इसे ही एकमात्र साधन के रूप में स्वीकार किया गया है।

एतद्देशीय व्यक्तियों की ही भांति शासक जाति के लोग भी स्वामीजी के सम्पर्क में आने के इच्छुक रहते थे। उनके प्रगतिशील विचारों को जान कर उन्हें प्रसन्नता होती थी। मिर्जापुर के कलेक्टर श्री जेन्किसन नगर के एक रईस चौधरी गुरुचरण के माध्यम से स्वामीजी से भेंट करना चाहते थे। इससे पूर्व कि ऐसा सुयोग बनता, उनका स्थानान्तरण हो गया। परन्तु इसी नगर के पादरी मैथर से उनकी भेंट हुई थी। पादरी ने कहा कि जब वे वेदों के प्रचलित भाष्यों और टीकाओं को ठीक नहीं मानते, तो स्वयं ही उस पर टीका क्यों नहीं लिखते ? इसके उत्तर में स्वामीजी ने स्पष्ट किया कि वेदों पर टीका लिखना साधारण बात नहीं है। इसके लिये असाधारण प्रतिभा, योग्यता तथा वैदुष्य अपेक्षित है। तपःपूत प्रज्ञा का धनी तथा योगजन्य प्रातिभ ज्ञान रखने वाला व्यक्ति ही वेदभाष्य लिखने का अधिकारी होता है। यह स्पष्ट है कि स्वामीजी स्वयं में इस प्रकार की योग्यता धीरे-धीरे अर्जित कर रहे थे।

वेदों के विषय में उनके सुसंगत, तर्कपूर्ण तथा प्राचीन शास्त्रानुमोदित विचार लोगों के समक्ष आने लगे थे। उनकी यह धारणा दृढ़तर होती जा रही थी कि पुरातन आर्ष-प्रणाली पर किये गये वेदभाष्य ही इन रहस्यपूर्ण ग्रन्थों के अभिप्राय का उद्घाटन कर सकते हैं। उन्हें यह भी पता लग चुका था कि समसामायिक यूरोपीय विद्वानों ने भी वेदार्थ के क्षेत्र में अपना पद निक्षेप कर दिया है। अतः वे मैक्समूलर आदि द्वारा किये गये वेद विषयक परिश्रम से परिचित होना चाहते थे। स्वयं अंग्रेजी भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण उन्होंने एक बंगाली सज्जन को मैक्समूलर कृत वेदों की अंग्रेजी टीका का अनुवाद सुनाने तथा अंग्रेजी सिखाने के लिये वेतन देकर नियुक्त किया था।

अन्य स्थानों की भांति यहां भी स्थानीय पण्डितों से नाना शास्त्रीय विषयों पर उनका वार्तालाप हुआ। महाभारत की नवीन टीका लिखने वाले बाबा बालकृष्ण ने प्रथम तो स्वामीजी के विचारों की प्रशंसा की, परन्तु जब उनकी टीका में महाराज ने कुछ व्याकरण के दोष दिखाये, तो बाबाजी अप्रसन्न हो गये। स्वामीजी ने उनसे अनुरोध किया कि वे पारस्परिक चर्चा के द्वारा अपनी टीका के भाषागत दोषों को समझ लें, परन्तु टीकाकार इसके लिये भी तत्पर नहीं हुए। इसी नगर के पं. गोविन्द भट्ट और पं. जयश्री शास्त्रार्थ हेतु उपस्थित हुए। प्रारम्भ में भागवत विषयक चर्चा चली, जिसे पं. गोविन्दभट्ट ने उठाया था। परन्तु इस चर्चा का उपसंहार होने के पूर्व ही शास्त्रार्थ मूर्तिपूजा की ओर मुड़ गया। इस बार मिर्जापुर की विद्वन्मण्डली के प्रवक्ता बने पं. जयश्री। स्वामीजी ने ईश्वर की निराकार सत्ता तथा उसके किसी प्रतिमान, प्रतिरूप अथवा प्रतीक के न होने के प्रमाण रूप में यजुर्वेद के प्रसिद्ध मंत्र 'न तस्य प्रतिमाऽस्ति'[४] को प्रस्तुत किया। जब विचारों का आदान प्रदान चल ही रहा था कि किसी व्यक्ति ने ताली बजा दी। शास्त्रार्थ की गम्भीरता को इस प्रकार समाप्त किये जाने का प्रयास होते देख कर स्वामीजी स्वभावतः आवेश में आ गये

और ताली बजाने वाले को डपट दिया। पं. सरयूप्रसाद शुक्ल ने बीच बचाव किया। तब तक सायंकाल हो चला था, अतः संध्योपासना का समय जानकर स्वामीजी ने शास्त्रार्थ को समाप्त कर दिया।

यह हम देख चुके हैं कि मूर्तिपूजा जैसी शताब्दियों से रूढ़ प्रथा पर प्रहार करके और इस प्रकार धर्म के नाम पर जुड़ी व्यावसायिकता का विरोध कर स्वामीजी ने न जाने कितने लोगों को अपना विरोधी बना लिया था। यत्र तत्र मंदिरों के पुजारी तथा धर्म व्यवसायी पण्डे, पुरोहित उनके प्राणहरण के लिये उद्यत रहते, किन्तु अपने दुर्दमनीय व्यक्तित्व, प्रचण्ड शारीरिक बल एवं दृढ़ कर्त्तव्यनिष्ठा के बल पर वे उक्त लोगों की षड्यंत्र पूर्ण कार्यवाहियों को सदा विफल करते रहे। मिर्जापुर के बूढ़ा महादेव मंदिर का पुजारी छोटूगिरि भी स्वामीजी से मूर्तिपूजा खण्डन के कारण अत्यन्त रुष्ट था। एक दिन यह उद्दण्ड व्यक्ति उनके निकट जाकर कहने लगा—बच्चा, हम तेरे गुरु हैं। तू जो शिवलिङ्ग अर्चन का खण्डन करता है, इसका फल आज तुझे देंगे। स्वामीजी भला ऐसी धमकियों में क्यों आने लगे। उन्होंने मूर्ख पुजारी को ललकार कर कहा कि यदि वे इस प्रकार की थोथी धमकियों से डरते, तो पाखण्ड खण्डन के देशव्यापी कार्यक्रम को पूरा करना उनके लिये असम्भव ही हो जाता। महाराज के इस रौद्र रूप को देखकर छोटूगिरि कांपने लगा। वह शीघ्र ही वहाँ से चला गया।

अब स्वामीजी की प्रचारप्रणाली तथा कार्यपद्धति में भी धीरे धीरे परिवर्तन के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे थे। उन्होंने यह समझ लिया था कि एक अकेले धर्मप्रचारक के लिये विस्तृत भरतखण्ड में भ्रमण कर धर्म ज्योति को प्रज्वलित करना सम्भव नहीं है। इसी संदर्भ में वे भारत सन्तान के नैतिक, आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक पुनरुत्थान को दिशा देने के लिये वैदिक पाठशालाओं की स्थापना का कार्यक्रम बनाने लगे। काशी में वे इस चर्चा का सूत्रपात कर चुके थे। मिर्जापुर में चौधरी गुरुचरण की आर्थिक सहायता से इस योजना को क्रियान्वित किया गया। चौधरी जी द्वारा प्रदत्त एक मकान में ही पाठशाला प्रारम्भ हुई जिसमें स्वामीजी के सहपाठी पं. युगलकिशोर तथा एक अन्य विद्वान् पं. बलदेवप्रसाद को अध्यापक नियुक्त किया गया। छात्रों के भोजन, वस्त्र तथा ग्रन्थ आदि का व्यय भी पाठशाला के संस्थापक चौधरी महाशय ही वहन करते। प्रत्येक छात्र को प्रवेश इसी शर्त पर मिलता था कि न्यून से न्यून ६ वर्ष तक यहाँ रह कर वह अपने अध्ययन को जारी रक्खेगा। प्रातः सायं संध्या तथा अग्निहोत्र छात्रों के लिये अनिवार्य रक्खे गए थे। सूर्योदय से पूर्व शय्या त्याग आवश्यक था। इसमें प्रमाद करने वाले तथा संध्या न करने वाले छात्र को निराहार रहकर गायत्री जप करना पड़ता था। पाठशाला की स्थापना चैत्र १९२७ वि. में हुई।

मिर्जापुर से चल कर गंगा तट पर विचरते हुए स्वामी जी चैत्र शुक्ल पक्ष १९२७ वि. में काशी आये।[५] यह उनकी तीसरी काशी यात्रा थी। इस बार उनका निवास दुर्गाकुण्ड के निकट माधोदास रईस के उद्यान में हुआ। पूर्व ही की भांति वे मूर्तिपूजा आदि पाखण्डों के खण्डन में तत्पर रहे तथा पौराणिक मण्डली को शास्त्रार्थ के लिये भी आमंत्रित किया। इस सम्बन्ध में उन्होंने एक विज्ञापन भी प्रकाशित कराया परन्तु कोई भी पण्डित सामने आ कर

अवैदिक कृत्यों के समर्थन हेतु तैयार नहीं हुआ। धर्म और उपासना के क्षेत्र में जहाँ वे प्राचीन वैदिक मर्यादा तथा श्रौत स्मार्त प्रणालियों को प्रतिष्ठित करना चाहते थे, वहां दर्शन के क्षेत्र में भी नवीन चिन्तन को प्रवर्तित करने के इच्छुक थे। उन्होंने अनुभव किया था कि शाङ्कर वेदान्त के मौलिक सिद्धान्त चाहे कुछ भी रहे हों, भारत की सामान्य जनता ने इस दर्शन को अपनाकर अकर्मण्यता, आलस्य तथा प्रमाद का ही पाठ पढ़ा है। संसार को मिथ्या और माया समझ लेने के कारण वे अपनी लौकिक उन्नति के प्रति सदा उदासीन रहे हैं तथा झूठे ब्रह्मवाद के फेर में पड़कर उन्होंने भगवद्भक्ति तथा वैदिक उपासना प्रणाली के उदात्त तत्त्वों की अवहेलना की है।

अद्वैतवेदान्त की विचारधारा के प्रसार से होने वाले दुष्परिणामों को देख कर उन्होंने उसके उन्मूलन में अपनी सारी शक्ति लगा दी। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि शाङ्कर दर्शन के प्रति उनकी विरक्ति का कारण उसके द्वारा होने वाली प्रत्यक्ष हानि का आकलन ही था। वेदों, उपनिषदों तथा वैयासिक सूत्रों में प्रतिपादित दार्शनिक मतवादों का आलोचनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् उनकी यह धारणा सुदृढ़ हो गई थी कि आचार्य शंकर ने वेदान्त दर्शन पर भाष्य लिखते समय सूत्रकार के मूल अभिप्राय को महत्त्व न देकर अपने विचारों को ही सूत्रों पर आरोपित किया है।[६] शंकर के दार्शनिक विचारों का मूल उत्स वेद, उपनिषद आदि न होकर उनके दादा गुरु आचार्य गौडपाद प्रवर्तित वे धारणाएं हैं जिनमें बौद्ध-दर्शन के शून्यवाद आदि सिद्धान्तों को प्रकारान्तर से वैदिक दर्शन के ढ़ांचे में फिट करने का प्रयास किया गया है।[७]

एक समय के अद्वैतवादी दयानन्द अब ईश्वर, जीव, तथा प्रकृति के अनादित्व को स्वीकार करने लगे थे। काशी में रहते हुए उन्होंने 'अद्वैतमत खण्डन' नामक एक पुस्तक लिखी, जिसमें शंकराचार्य के मत का विशद खण्डन किया गया था।[८] लगभग दो मास तक काशी में व्यतीत कर वे १९२७ वि. के ज्येष्ठ मास में सोरों आये। कासगंज निवासी पं. सुखानन्द तथा अयोध्याप्रसाद आदि के आग्रह को स्वीकार कर वे इस कस्बे में यह आश्वासन प्राप्त करने के पश्चात् आये थे कि यहां शीघ्र ही वैदिक पाठशाला की स्थापना हो जायगी। नगर निवासी भक्तजनों ने उनके आगमन के उपलक्ष्य में शोभायात्रा का आयोजन किया और गोसांई बलदेवगिरि[९] की बग्घी में विराजमान होकर स्वामीजी निवास हेतु मुकुन्दराम रईस के उद्यान में आये।

कासगंज में भी पाठशाला स्थापित हो गई। फर्रूखाबाद से वहां की पाठशाला के अध्यापक पं. दुलाराम[१०] को बुला कर अध्यापन का कार्य सौंपा गया। छात्रों के लिये संध्योपासना तथा वैदिक अग्निहोत्र के कृत्य आवश्यक रक्खे गये। पाठ्य विषयों में वेद, अष्टाध्यायी और महाभाष्य के साथ मनुस्मृति को भी रक्खा गया। नगर के धनीमानी लोगों ने पाठशाला की आर्थिक सहायता करने का निश्चय किया।

इन दिनों स्वामीजी की दिनचर्या में योगाभ्यास को विशिष्ट स्थान प्राप्त था। वे प्रहर रात्रि रहते शय्या त्याग देते और योग साधना में तत्पर हो जाते। जब ध्यानावस्था समाप्त होती तो वे बाहर आते, उस समय उनके नेत्र किञ्चित् रक्त वर्ण होते। धीरे धीरे आंखों पर

जल छिड़क कर वे इस लालिमा को दूर करते। सायंकाल के समय भी योगाभ्यास का क्रम जारी रहता। ब्रह्मचर्य की कठोर साधना के कारण महाराज को अपार शारीरिक बल प्राप्त था। यद्यपि वे अपनी योगसाधना एवं ब्रह्मचर्य शक्ति का कभी प्रदर्शन नहीं करते थे, किन्तु यदा कदा ऐसी घटनाएं घटित हो जातीं, जिनसे उनकी अशेष शारीरिक क्षमता का पता लोगों को चल ही जाता। एक ऐसी ही घटना कासगंज में घटी, जब कि उन्होंने द्वन्द्वयुद्ध में भिड़े दो भयंकर सांडों को सींग पकड़ कर पृथक् कर दिया। इन उन्मत्त सांडों ने सारे मार्ग को घेर रक्खा था और लोग भयभीत होकर मार्ग छोड़ कर जा रहे थे।[११]

बिना किसी को सूचित किये स्वामीजी कासगंज से चले गये। यत्र तत्र अनेक ग्रामों का भ्रमण करते हुए[१२] आश्विन १९२७ वि. में वे अनूपशहर आये और दो दिन गौरीशंकर कायस्थ की बांसों की टाल पर रह कर लाला बाबू की कोठी चले गये। जिस समय स्वामीजी का उस नगर में आगमन हुआ, रामलीलायें चल रही थीं। स्वामीजी तो इन लीलाओं के घोर विरोधी थे। उनके विचार से राम, कृष्ण आदि महापुरुषों के जीवन को फूहड़ ढंग से प्रस्तुत करना अत्यन्त अनुचित था। पुरुषों द्वारा स्त्रियों की वेशभूषा धारण करने तथा स्त्रैण अभिनय को भी वे बुरा समझते थे। जब स्वामीजी ने रामलीला का खण्डन आरम्भ किया, तो ये लीलायें बंद हो गईं। नायब तहसीलदार कल्याणसिंह, जो रामलीला के आयोजन में अधिक रुचि रखता था, स्वामीजी के इस खण्डन से अप्रसन्न हुआ। उसने निश्चय किया कि इस संन्यासी को नीचा दिखाना चाहिए। फलतः उसने रामघाट निवासी एक स्वामी कृष्णानन्द को शास्त्रार्थ के लिये बुलाया। स्मरण रहे कि ये स्वामी कृष्णानन्द एक बार रामघाट में ही स्वामी दयानन्द से शास्त्रार्थ में पराजित हो चुके थे।[१३] अतः इस बार तो शास्त्रार्थ के लिये स्वामी के समक्ष आने का साहस भी उनमें नहीं था। तथापि कृष्णानन्द बार बार यह आग्रह करता रहा कि स्वामीजी ही उसके स्थान पर आकर शास्त्रार्थ करें। अन्ततः यह निश्चय हुआ कि किसी मध्यवर्ती स्थान पर शास्त्रार्थ हो। तिथि का भी निश्चय हो गया और दोनों प्रतिद्वन्द्वी महारथी अपने अपने समर्थकों के साथ निश्चित स्थान पर पहुंचे। परन्तु स्वामी कृष्णानन्द को शास्त्रार्थ समर में उतरने का साहस नहीं हुआ। इस प्रकार यह काण्ड समाप्त हो गया।

स्वामी दयानन्द के चिन्तन और कार्यों में सतत गतिशीलता तथा अग्रगामित्व दृष्टिगोचर होता हैं। अपने समकालीन समाजसुधारकों तथा धर्माचार्यों की तुलना में उनके विचार और कार्य अत्यन्त उदार तथा प्रगतिशील थे। धार्मिक क्षेत्र में युगान्तरकारी परिवर्तन लाना तो उनका लक्ष्य था ही, स्वदेश की साम्प्रतिक हीनावस्था से भी वे अपरिचित नहीं थे। उनकी यह धारणा बन चुकी थी कि अंग्रेजी शासन में प्रचलित न्यायप्रणाली दोषपूर्ण है। उनका विश्वास था कि प्राचीन काल में प्रचलित पञ्चायत प्रणाली, जिसमें ग्राम को इकाई मानकर वहाँ के निवासियों के आपसी वाद विवादों का मिल बैठ कर निर्णय कर लिया जाता है, ग्रामव्यवस्था प्रधान भारत के लिये अनुकूल है। वे गोरक्षा की आवश्यकता को भी अनुभव करते थे। उनके विचारानुसार गोवंश की समुचित देखभाल से ही भारत की आर्थिक व्यवस्था में सुधार हो सकता है। अंग्रेजी राज्य में होने वाले निरंकुश गोबध ने उन्हें पीड़ित किया था। वे इस अत्याचार को समाप्त करने के लिये आन्दोलनात्मक उपाय करने के भी पूर्ण समर्थक थे। परन्तु इससे पूर्व वे चाहते थे कि देशवासियों को एतद् विषयक अपना प्रार्थनापत्र महारानी

विक्टोरिया तथा ब्रिटिश संसद तक पहुंचाना चाहिए। वेदों पर लिखी जाने वाली नवीन टीकाओं से वे परिचित हो चुके थे। उनकी धारणा थी कि जिस प्रकार उव्वट, महीधर आदि मध्यकालीन वेदभाष्यकार वेदों के तात्त्विक अर्थ तक नहीं पहुंच सके हैं, उसी प्रकार वेद के पाश्चात्य टीकाकार एवं व्याख्याकारों ने भी वेदार्थ को समझने में भूलें की हैं।

सर्व तन्त्र स्वतंत्र संन्यासी होने तथा परमात्मा में अविचल विश्वास रखने के कारण इस महापुरुष के व्यक्तित्व में धैर्य, गाम्भीर्य तथा निर्भीकता आदि अनेक गुणों का समावेश हुआ था। उस युग में, जब कि अन्य समाजसुधारक और सार्वजनिक जीवन में सक्रिय लोग पदे पदे अपने गौराङ्ग शासकों का मुंह जोहते तथा उनके कृपापात्र बनने के इच्छुक रहते, स्वामी दयानन्द अत्यन्त निर्भीक भाव से सर्वत्र विचरण करते हुए अपनी क्रान्तिकारी विचार-धारा को देशवासियों के मानस में जमाने की चेष्टा करते थे।

अनूपशहर के निवास काल में ही एक दिन ऐसा प्रसंग आया जब कि लालाबाबू की कोठी के कर्मचारियों ने उनसे यह स्थान छोड़ कर चले जाने के लिये कहा। पूछने पर बताया गया कि कलेक्टर साहब आयेंगे और उन्हें इसी कोठी में ठहराया जायगा। स्वामीजी ने अत्यन्त शालीन भाव से कहा कि कोठी आपकी है और आपके संकेतमात्र से ही हम अन्यत्र चले जायेंगे। परन्तु उन्होंने यह स्पष्ट भी कर दिया कि सम्भवतः उनके यहां रहने से कलेक्टर को क्या आपत्ति हो सकती है? ऐसा ही हुआ। कलेक्टर भी कोठी के एक भाग में ठहर गये। स्वामीजी से परिचय प्राप्त कर उन्हें प्रसन्नता ही हुई।

अनूपशहर का तहसीलदार सैयद मुहम्मद स्वामीजी के निष्कलुष जीवन, औदार्य तथा लोकसंग्रह वृत्ति को देखकर उनका भक्त बन गया था। इस व्यक्ति का सम्बन्ध स्वामी दयानन्द के एक ऐसे संस्मरण से जुड़ गया है, जो इस महामानव के हृदय में विद्यमान अपार क्षमा तथा करुणा के भावों को व्यक्त करता है। मूर्तिपूजा के खण्डन से रुष्ट होकर एक पुजारी ब्राह्मण ने विष से भरा हुआ पान लाकर स्वामीजी को खिला दिया। वह प्रतिमार्चन के विरोधी इस संन्यासी के प्राणों का ग्राहक बनकर इस नीचतापूर्ण कृत्य के लिये तैयार हुआ था। स्वामीजी तो पान खाते ही भांप गये कि उन पर विष प्रयोग किया गया है। न्यौली क्रिया के द्वारा उन्होंने विष के प्रभाव को निर्मूल कर दिया। परन्तु विष देने की बात अप्रकट नहीं रही। जब तहसीलदार सैयद मुहम्मद को इसका पता लगा तो उसने अपराधी को गिरफ्तार कर लिया। वह उस ब्राह्मण को लेकर स्वामीजी के समक्ष उपस्थित हुआ तथा उनसे निवेदन किया कि इस पर विधिवत् अभियोग चलाया जाना चाहिए। सैयद मुहम्मद का अनुमान था कि स्वामीजी उसके इस कार्य से प्रसन्न होंगे, परन्तु वीतराग संन्यासी के हृदय में तो प्राणहरण की क्रूर चेष्टा करने वाले आततायी के प्रति भी करुणा का सागर उमड़ रहा था। उन्होंने जो उत्तर दिया वह अत्यन्त मार्मिक था—मैं संसार के लोगों को कैद कराने नहीं, अपितु उन्हें अज्ञान, अविद्या तथा अंधविश्वासों की कारा से मुक्त कराने आया हूँ। यदि दुष्ट आदमी अपनी दुष्टता को नहीं छोड़ता, तो सज्जन अपनी सज्जनता क्यों छोड़े? स्वामीजी के हृदय की विशालता तथा उनके असीम करुण भाव ने तहसीलदार को अभिभूत कर लिया। उसने तुरन्त अपराधी को मुक्त कर दिया। संसार में ऐसे उदाहरण

अत्यन्त विरल हैं, जहाँ प्रतिशोध एवं प्रतिहिंसा के भाव को त्याग कर लोगों ने अनिष्टकारियों के प्रति इस प्रकार के क्षमाभाव का परिचय दिया हो।

अनूपशहर में उनकी भेंट उन्हीं पं. अम्बादत्त से हुई जिनसे उनका शास्त्रार्थ कर्णवास में हो चुका था। पण्डितजी ने स्वामीजी के विचारों से प्रभावित होकर उस समय तो मूर्तिपूजा का त्याग कर दिया था, किन्तु कालान्तर में स्वार्थ से अभिभूत होकर वे पुनः जड़ोपासना में लग गये। स्वामीजी को जब इस बात का पता चला तो उन्होंने पं. अम्बादत्त को बुला भेजा। परन्तु लज्जावश पण्डित जी नहीं आये और इतना ही कह कर रह गये कि स्वामीजी साधु हैं और हम गृहस्थी। हमारा उनका क्या मुकाबिला? वे तो निर्द्वन्द्व भाव से सभी पाखण्डों का खण्डन कर सकते हैं, किन्तु हमारी तो जीविका ही इन पर चलती है।

सभी महापुरुषों में हास्य और विनोद की वृत्ति समान रूप से पाई जाती है। स्वामी दयानन्द भी इसका अपवाद नहीं थे। वे सहज हास्य और विनोद के माध्यम से ही कभी कभी ऐसी बात कह जाते, जिसे सुन कर लोग अत्यधिक प्रभावित होते तथा उनकी शिक्षाओं को अंगीकार कर लेते। गंगा के निकट सूर्य को अर्घ्य देते देखकर वे लोगों से कहते कि जल में जल को डालने से क्या लाभ? अच्छा होता यदि यही जल किसी पेड़ की जड़ में डाला जाता, तो उससे वृक्ष को लाभ होता। इसी नगर की एक अन्य घटना है। एक नाई ने स्वगृह पर भोजन तैयार किया और श्रद्धापूर्वक स्वामीजी को खिलाने के लिये ले आया। महाराज ने इस भोजन को सहर्ष ग्रहण किया। उपस्थित लोगों ने जात्याभिनिवेश के वशवर्ती होकर पूछा—महाराज, यह तो नाई की रोटी है, क्या आप इसे स्वीकार कर लेंगे? इस पर स्वामीजी ने विनोद भाव से कहा—नाई की कहां, यह गेहूँ की रोटी है। जिस युग में खानपान विषयक कट्टरता अपनी चरम सीमा पर पहुंची हुई थी, उस समय तथाकथित निम्न वर्ग के लोगों के प्रति इस प्रकार की उदारता का प्रदर्शन अपने आप में एक नवीन अनुभव था।

कार्तिक पूर्णिमा १९२७ वि. को स्वामीजी रामघाट पर पहुंचे। सहस्रों धर्मजिज्ञासुओं ने उनके निकट आकर अपनी जिज्ञासाओं को शान्त किया। १९२७ वि. के मार्गशीर्ष मास में उनके चासी के निकटवर्ती अरण्य में उपस्थित होने का उल्लेख मिलता है। यहां भी दर्शनार्थियों तथा भक्तों का सतत आगमन होता रहा। जिस पं. श्रीगोपाल से स्वामीजी का साम्मुख्य फर्रूखाबाद में हुआ था, वह यहां भी उनके पीछे आया तथा महाराज के यहां से प्रस्थान करने पर उनके सम्बन्ध में नाना प्रकार की भ्रान्तियां फैलाने लगा। वह स्वामी महाराज को ईसाइयों तथा अंग्रेजों के एजेंट के रूप में प्रचारित करने का दुष्प्रयत्न करता रहा। साधारण लोग तो बहकावे में आ जाते थे, किन्तु विचारशील लोग उसके इस दूषित प्रचार से रंच मात्र भी प्रभावित नहीं हुए।

छलेसर के सम्पन्न जमींदार ठाकुर मुकुन्दसिंह[१४] ने कर्णवास में १९२४ वि. में श्री महाराज के दर्शन किये थे। स्वामीजी के दिव्य चरित्र तथा तेजस्वी व्यक्तित्व ने इस सरल हृदय क्षत्रिय को एक बार में ही प्रभावित कर दिया। अब उन्होंने स्वामीजी को अपने यहाँ आमंत्रित किया। फलस्वरूप मार्गशीर्ष कृष्णा चतुर्थी १२ नवम्बर १८७० ई. को स्वामीजी छलेसर पहुंचे। ठाकुर मुकुन्दसिंह ने लगभग अढ़ाई, तीन सौ लोगों की

उपस्थित में संन्यासी का भावभीना स्वागत किया। यद्यपि अतिथि के लिये पालकी की व्यवस्था की गई थी, किन्तु स्वामीजी ने भक्त समूह के साथ पैदल चलना ही पसन्द किया। एक उद्यान के अन्तर्वर्ती भाग में उनके निवास की व्यवस्था की गई। अन्य स्थानों की ही भांति यहां भी पौराणिक पण्डितों ने स्वामीजी से शास्त्रार्थ, शंका समाधान आदि के कार्यक्रम आयोजित किये। मौलवी लोग भी यदा कदा आकर विचारों का आदान प्रदान करते थे। अतरौली (जिला अलीगढ़) के काजी इमदाद अली नामक एक सुपठित एवं विचारशील मुसलमान सज्जन ने स्वामीजी से विचार विमर्श किया तथा उनके उद्देश्यों से सहमति व्यक्त की।

छलेसर में भी स्वामी दयानन्द की प्रेरणा से वैदिक पाठशाला की स्थापना हुई। स्वगुरु दण्डी विरजानन्द के आर्ष शास्त्रों की सत्यता विषयक विचारों का प्रचार भी तभी सम्भव था, जब कि इन ग्रन्थों का पठन पाठन सुव्यवस्थित रीति से हो पाता। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिये स्वामी दयानन्द विभिन्न स्थानों पर आर्ष पठन पाठन प्रणाली को आधार बना कर वैदिक विद्यालयों की स्थापना कर रहे थे। इस ग्राम में विधिवत् पाठशाला की स्थापना से पूर्व यज्ञ, ब्राह्मण भोजन आदि धार्मिक कृत्य सम्पन्न किये गये। फर्रूखाबाद की पाठशाला में विद्या प्राप्त किये हुए पं. कुमारसेन[१५] को यहां अध्यापक नियुक्त किया गया। तीन दिनों के भीतर ही बीस छात्र प्रविष्ट हुए। शाला के नियम अन्य वैदिक विद्यालयों के तुल्य ही रक्खे गये।

स्वामी दयानन्द के मानस में यह विचार भी दृढ़ हो चुका था कि भारतवर्षीय क्षत्रिय वर्ग देश और समाज के सर्वांगीण उत्थान में अपना मूल्यवान योगदान कर सकता है। इसी बात को ध्यान में रख कर वे राजन्य वर्ग के लोगों को संस्कारवान् बनाने के लिये यत्नशील रहते थे। ठाकुर मुकुन्दसिंह के परिवार को वे पुरातन क्षत्रियों के चरित्र का अनुकरण करने का उपदेश देते। ठाकुर तथा उनके पुत्र चंदासिंह में कुछ मनोमालिन्य था। स्वामीजी ने समझा बुझा कर दोनों में पुनः सौहार्द भाव उत्पन्न करा दिया। समाज के निम्न एवं दलित वर्ग के लोगों के प्रति विश्व को ही कुटुम्ब मानने वाले इस संन्यासी के हृदय में कैसा स्नेह भाव था, यह एक घटना से विदित होता है। एक कृषक मक्के की मोटी रोटियां बना कर सेवा में उपस्थित हुआ और श्रद्धाविगलित स्वर में उन्हें स्वीकार करने का आग्रह करने लगा। महाराज ने निस्संकोच भाव से विपन्न भक्त के इस भक्तिपूरित अन्न को स्वीकार किया। कृषक ने गद्गद् कण्ठ से कृतज्ञता व्यक्त की।

जिस समय छलेसर से स्वामीजी के विदा होने की घड़ी आई तो आतिथेय ठाकुर मुकुन्दसिंह तथा उनके पुत्र मुन्नासिंह को हार्दिक वेदना हुई। शोकाश्रु नेत्रों से भावविह्वल होकर वे संन्यासी को विदा देने हेतु आये। महाराज ने उन्हें यह कह कर सान्त्वना दी कि अभी तो छलेसर में कई बार आना होगा। साथ ही यह भी कहा कि सभी प्रकार के मोह और ममता को त्याग देने वाले परमहंसों को इस प्रकार स्नेहपाश में बांधना उचित नहीं है। यदि वे लोग स्वामी प्रदत्त उपदेशों का पालन करते रहेंगे तो यह उनके सान्निध्य में रहने के तुल्य ही होगा।

छलेसर से प्रस्थान कर स्वामी दयानन्द पुनः गंगा तटवर्ती प्रान्त का भ्रमण करते हुए ज्येष्ठ १९२८ वि. में रामघाट पहुंचे।[१६] इस समय उनका अधिकांश समय शास्त्र चिन्तन में ही व्यतीत होता था। यदा कदा वे स्वस्थापित पाठशालाओं का निरीक्षण भी करते। मार्गशीर्ष १९२८ वि. में वे फर्रूखाबाद पधारे।[१७] इस नगर में उनका यह पाँचवीं बार आगमन था। इस बार के प्रवास में कोई विशिष्ट उल्लेख योग्य बात नहीं हुई। जिस पाठशाला की स्थापना श्री महाराज की प्रेरणा से लाला पन्नीलाल द्वारा की गई थी, उसमें अव्यवस्था देखकर प्रबंध का कार्य लाला निर्भयराम को सौंप दिया। यह वही पाठशाला थी जहाँ स्वामीजी के शिष्य और कालान्तर में उनके ग्रन्थों के लिपिकर्ता एवं संशोधक पं. भीमसेन, पं. ज्वालादत्त तथा पं. दिनेशराम ने अध्ययन किया था।

फाल्गुन कृष्णा षष्ठी, शनिवार १९२८ वि. (१ मार्च १८७२ ई.) को स्वामीजी काशी आये। पूर्व की भांति पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिये आहूत किया, किन्तु कोई सामने नहीं आया। अब तक स्वामीजी अपनी पूर्वकृत प्रतिज्ञानुसार धर्म के मौलिक सिद्धान्तों का प्रचार करते हुए गंगा के तटवर्ती ग्रामों तथा नगरों का भ्रमण करते रहे। इस अवधि में उन्होंने धर्म के नाम पर प्रचलित सभी पाखण्डों तथा व्यर्थ के कर्मकाण्डों का खण्डन कर विशुद्ध वैदिक पूजा उपासना प्रणाली का प्रचार किया। इसी प्रकार विद्या के पिपासुओं को पुराण, तंत्र आदि मिथ्या ग्रन्थों के स्थान पर वेद, उपनिषद्, मनुस्मृति, दर्शन आदि आर्यों के सनातन शास्त्रों को पढ़ने की प्रेरणा दी। वैदिक जीवन पद्धति के पुनः प्रचलन की आवश्यकता को अनुभव करते हुए उन्होंने नई पीढ़ी को सुसंस्कारवान बनाने की दृष्टि से पाठशालाओं की स्थापना भी की। इस प्रकार तत्कालीन पश्चिमोत्तर प्रदेश (वर्तमान उत्तर प्रदेश) के लगभग सभी प्रमुख स्थानों का भ्रमण करने के पश्चात् उन्होंने कलकत्ता जाने का निश्चय किया। भारत की राजधानी कलकत्ता तत्कालीन बंगीय सुधारक वर्ग की प्रवृत्तियों का मुख्य केन्द्र था। भावी कार्य पद्धति के निर्धारण से पूर्व इस वर्ग से भेंट तथा विचार विमर्श आवश्यक था।

चैत्र शुक्ला नवमी मंगलवार १९२९ वि. तदनुसार १६ अप्रैल १८७२ को स्वामी दयानन्द मुगलसराय आये। कुछ दिन श्मशान घाट पर ही रहे, पुनः बाबू वृन्दावन मण्डल के उद्यान में चले गये। कलकत्ता के पादरी लालबिहारी दे उनसे मिलने आये। दोनों में धर्म विषयक अनेक विषयों पर वार्तालाप हुआ। पादरी महाशय ने इस प्रसंग में ईसाई मत की उत्कृष्टता को सिद्ध करते हुए बताया कि पापों की क्षमा भी हो सकती है। इसके उत्तर में स्वामीजी ने कहा कि बिना फल भोगे पापों का प्रायश्चित नहीं होता। उन्होंने ईसा के व्यक्तित्व की प्रशंसा की, किन्तु साथ ही यह भी कहा कि ईसा अथवा कोई भी व्यक्ति किसी अन्य के पापों को क्षमा करा सकता है, यह सम्भव नहीं है। पादरी का एक अन्य प्रश्न भक्ष्या-भक्ष्य के विषय में था। उन्होंने पूछा कि क्या स्वामी दयानन्द को उनके साथ भोजन करने में कोई आपत्ति है? उत्तर में स्वामीजी ने स्पष्ट किया कि भोजन का विषय बहुत कुछ व्यक्ति की रुचि पर निर्भर करता है। परन्तु इस में ऊंच नीच का भेद करना व्यर्थ है।

मुगलसराय में दस दिन रुक कर २६ अप्रैल १८७२ ई. (वैशाख कृ. चतुर्थी १९२९

को स्वामीजी डुमरांव पहुंचे। यहां उनका निवास उदासीन साधु नागाजी के मठ में हुआ। नागाजी का स्वामीजी से परिचय काशीशास्त्रार्थ के समय हुआ था और उन्हीं के अनुरोध पर वे डुमरांव आये। डुमरांव के महाराजा महेश्वरबख्शसिंह के नायब दीवान बाबू जयप्रकाशलाल को जब स्वामीजी के आगमन का समाचार मिला तो उन्होंने शासक महाराजा से स्वीकृति लेकर उन्हें राजकीय कोठी में ठहराने की व्यवस्था की। तदनुसार वे रेलवे स्टेशन के निकट राजा के अतिथिगृह में ठहराये गये। भोजनादि की व्यवस्था भी रियासत की ओर से की गई। एक दिन इस राज्य के राजकुमार लालमाधवप्रसादसिंह कतिपय अन्य उच्च राज्याधिकारियों के साथ स्वामीजी से भेंट करने आये। मूर्तिपूजा पर सामान्य चर्चा हुई, जिसमें श्री महाराज ने स्पष्ट किया कि वेदों में इसका कोई विधान नहीं है।

डुमरांव में स्वामीजी का शास्त्रार्थ प्रसिद्ध शैव पण्डित दुर्गादत्त से हुआ। उनकी इस नगर में बड़ी प्रतिष्ठा थी और वे उच्च कोटि के विद्वान् समझे जाते थे। शैव होने के कारण पं. दुर्गादत्त नर्मदेश्वर महादेव की पाषाण लिङ्गाकृति सदा अपने पास रखते थे। शास्त्रार्थ के समय भी वे इस पाषाणप्रतिमा को साथ लेते आये थे, जिसे उन्होंने अपने समक्ष कुर्सी पर रख दिया। स्वामीजी ने इस प्रस्तर खण्ड को देख कर सहज भाव से पूछा—यह क्या है? उत्तर में पं. दुर्गादत्त ने इसे नर्मदेश्वर महादेव बताया। इस पर स्वामीजी ने कहा कि ऐसे महादेव तो नर्मदा तट पर सहस्रों की संख्या में पड़े रहते हैं। मूर्ति के प्रकरण को यहीं छोड़ कर पं. दुर्गादत्त ने द्वैताद्वैत पर संवाद आरम्भ किया। स्वामी दयानन्द ने अपने को द्वैतवादी स्वीकार करते हुए 'एकमेवाद्वितीयम्' इस उपनिषद् वाक्य की तात्त्विक व्याख्या करते हुए शंकराचार्य के इस मत का खण्डन किया कि ब्रह्म सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद से रहित है। बातों का क्रम पुनः मूर्तिपूजा की ओर मुड़ा। स्वामीजी ने जब प्रतिमार्चन की सिद्धि में कोई वेदप्रमाण मांगा, तो पं. दुर्गादत्त ने 'त्र्यम्बकं यजामहे'[१५] तथा 'ब्राह्मणोऽस्यमुख-मासीद्'[१६] आदि यजुर्वेद के मंत्रों को प्रस्तुत किया। स्वामीजी ने इन मंत्रों की वास्तविक व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया कि प्रस्तुत मंत्रों का मूर्तिपूजा से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रसंग में जाबालोपनिषद् की भी चर्चा हुई जिसमें ललाट पर भस्म धारण करने आदि के शैवाचारों का उल्लेख हुआ है। स्वामीजी ने व्यंग्यपूर्वक कहा कि यह जाबालोपनिषद् नहीं किन्तु जाल उपनिषद् है, क्योंकि इसमें केवल वाग्जाल का सहारा लेकर वेदविरुद्ध साम्प्रदायिक विधानों का संग्रह किया गया है। अन्ततः पं. दुर्गादत्त ने यह स्वीकार किया कि वेदों में मूर्तिपूजा का विधान तो नहीं है, किन्तु 'प्रतिमा' शब्द अवश्य है। उन्होंने एक वाक्य भी उद्धृत किया जिसमें इस शब्द का प्रयोग हुआ था। स्वामीजी ने इतना ही कहा कि उनके द्वारा उद्धृत वाक्य वेद का नहीं है। शास्त्रार्थ का कोई निर्णय नहीं निकला। पं. दुर्गादत्त अपने सभी साथियों सहित चले गये।

कालान्तर में स्वामीजी के निधन के एक वर्ष पश्चात् पं. दुर्गादत्त ने अपनी प्रशस्ति में एक पुस्तक छपवाई जिसमें गर्वपूर्वक यह लिखा गया था कि स्वामी दयानन्द को परमहंस दुर्गादत्त ने परास्त किया तथा स्वयं स्वामीजी ने ही उनकी अत्यन्त प्रशंसा करते हुए उन्हें महान् आत्मा, सर्वज्ञ, शास्त्रपारग आदि विशेषणों से सम्बोधित किया। निश्चय ही यह विवरण अतिरंजनापूर्ण था।[२०]

डुमरांव से चल कर भाद्रपद कृष्णपक्ष १९२९ वि. में स्वामीजी आरा आये। महाराजा डुमरांव के उद्यानगृह में उनका निवास हुआ। प्रसिद्ध अंग्रेजी पत्र ट्रिब्यून लाहौर के सम्पादक स्व. नगेन्द्रनाथ गुप्त ने स्वामीजी के आरा निवास का उल्लेख करते हुए अपनी संस्मरणात्मक पुस्तक में लिखा है—"आरा में ही मैंने विश्रुत संस्कृत विद्वान्, सुधारक तथा आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती को देखा। वह डुमरांव महाराजा के उद्यान-गृह में ठहरे हुए थे। मुझे स्वामीजी के विषय में कुछ अधिक पता नहीं था, परन्तु एक दिन मध्याह्न में बाल सुलभ जिज्ञासा से प्रेरित होकर मैं एक चपरासी के साथ उद्यानगृह में गया। स्वामीजी बरामदे में खड़े थे। वे मात्र एक कौपीन ही पहने हुए थे और उन्होंने अपना दैनन्दिन व्यायाम अभी समाप्त किया ही था। जिन मुग्दरों का संचालन उन्होंने किया था, वे एक कोने में रक्खे थे। स्वामीजी उस समय हिन्दी भाषा धाराप्रवाह रूप से नहीं बोल सकते थे, उससे पूर्व वे मात्र संस्कृत ही बोलते रहे थे। परन्तु उन्होंने चपरासी से कुछ प्रश्न पूछे। मुझसे भी एक दो सवाल किये तथा मेरा सिर थपथपाया। वे एक सुदृढ़ शरीर, आकार में मध्यम, उन्नत शिर तथा गोल एवं श्मश्रुहीन चेहरे वाले थे।"[२१]

उपर्युक्त उद्धरण से स्वामीजी की बाह्य आकृति प्रकृति का निदर्शन होता है। मुन्शी हरिवंशलाल वकील तथा बाबू रजनीकान्त मुखोपाध्याय ने उनका आतिथ्य किया। यहां भी सहस्रों व्यक्ति उनके दर्शनार्थ तथा उपदेशश्रवणार्थ आते रहे। पं. रुद्रदत्त तथा पं. चन्द्रदत्त से मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ हुआ। जब पूर्वपक्षी विद्वान ने अपने मत के समर्थन में पुराणों के प्रमाण प्रस्तुत किये, तो स्वामीजी ने उन्हें अमान्य घोषित करते हुए वेदों तथा मनुस्मृति के प्रमाण मांगे। वस्तुतः स्वामी दयानन्द का धर्मान्दोलन और समाज संशोधन का कार्य हिन्दू शास्त्रों की सही पहचान तथा उसकी सही व्याख्या पर ही निर्भर था। उनकी धारणा थी कि शास्त्रों में प्रामाण्य बुद्धि रखने वाले इस देश के लोगों के समक्ष यदि शास्त्रों के वास्तविक रूप तथा उनमें निबद्ध उपदेशों को सही संदर्भ में प्रस्तुत किया जाय तो वे समझ जायेंगे कि मूर्तिपूजा, अवतारवाद, जातिवाद का दम्भ, तीर्थस्नान से पुण्यार्जन आदि विश्वास हमारे प्रामाणिक शास्त्रों की मौलिक शिक्षाओं के नितान्त प्रतिकूल ही हैं। इस प्रकार मध्ययुग में प्रचलित हो जाने वाले अवैज्ञानिक, युक्तितर्कविरहित तथा अंधविश्वासों के स्रोत रूप मतवादों का उन्मूलन सहज ही सम्भव है। शास्त्रार्थ प्रसंग में जब स्वामीजी ने तंत्रों की आलोचना की, तो पं. रुद्रदत्त क्षुब्ध भाव से सभा त्याग कर चले गये।

आरा निवास काल में स्वामीजी के दो व्याख्यान राजकीय विद्यालय के प्रांगण में हुए।[२२] व्याख्यानों का विषय था, वैदिक धर्म। दोनों व्याख्यानों में उन्होंने हिन्दू धर्म की प्रचलित रीति नीति की आलोचना करते हुए प्रतिमापूजन, बालविवाह, अपठित गुरुओं से दीक्षा एवं मंत्र ग्रहण आदि नवीन परिपाटियों की आलोचना की तथा विधवा विवाह को आपद्धर्म के रूप में कुछ प्रतिबंधों के साथ शास्त्रसम्मत प्रतिपादित किया। ये व्याख्यान संस्कृत में हुए थे तथा रजनीकान्त मुखोपाध्याय ने श्रोताओं के लिये उनका हिन्दी अनुवाद किया। आरा में ही स्वामीजी ने वैदिक नीति रीति के प्रचलन तथा आर्य धर्म के पुनः प्रचार हेतु एक सभा की स्थापना की। इसे आर्यसमाज स्थापना का पूर्वाभ्यास कहा जा सकता है। परन्तु जब स्वामीजी आरा से चले गये, तो एक दो अधिवेशनों के पश्चात् यह सभा भी समाप्त हो गई।

स्वामी दयानन्द के कार्य की प्रणाली पर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि संस्कृत शास्त्रों का प्रकाण्ड पण्डित तथा संन्यासाश्रम की शास्त्रीय मर्यादाओं का कठोरता से पालन करने वाला यह परिव्राजक धीरे धीरे अपने जीवन को अधिकाधिक सार्वजनिक बनाने हेतु कृत-संकल्प है। अब तक वे छोटे छोटे समूहों को ही सम्बोधित करते थे तथा व्यक्तियों को पृथक् रूप से उपदेश देते रहे थे। यदा कदा शास्त्रार्थों के अवसर पर उपस्थित विशाल जनसमूह को उनके विचार सुनने का अवसर मिल जाता था। परन्तु अब वे व्यवस्थित रूप से सभाओं का आयोजन कर देश हित, समाजहित, रूढ़ियों के उन्मूलन तथा मानव जीवन के सार्वत्रिक उत्थान से सम्बन्धित विषयों पर स्फूर्तिदायिनी वक्तृता करते हैं।

काशी में पौराणिक धर्म के दिग्गज पण्डितों को शास्त्रार्थसमर में पराभूत कर उन्होंने अपनी कीर्तिपताका को सर्वत्र फहराया था। उनके विचारों और कार्यों से लोग अब अधिकाधिक परिचित होने लगे थे। प्रयाग में ब्राह्म नेता देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने भी उन्हें कलकत्ता आने का निमंत्रण दिया था। बंगाल उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक एवं सांस्कृतिक नवजागरण का प्रमुख केन्द्र था। देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, परमहंस रामकृष्ण आदि महापुरुष कलकत्ता में रहकर ही धर्म, समाज तथा राष्ट्र के सम्मुख प्रस्तुत नानाविध समस्याओं के समाधान में दत्तचित्त थे। अतः स्वामी दयानन्द भी जल्दी से जल्दी बिहार की यात्रा समाप्त कर बंगभूमि को देखने के लिये उत्सुक थे।

मुन्शी हरिवंशलाल के आग्रह पर स्वामीजी आरा के मजिस्ट्रेट श्री एच. डब्लू. अलैक्जेण्डर से मिले। रजनीबाबू ने दुभाषिये का कार्य किया। मजिस्ट्रेट ने सर्वप्रथम तो उनसे वार्तालाप में संस्कृत का प्रयोग करने का ही कारण पूछा। उत्तर में स्वामीजी ने बताया कि सम्प्रति इस देश में विभिन्न आर्य तथा द्रविड़ भाषायें प्रचलित हैं, परन्तु इनमें से सर्वाधिक प्राचीन तथा अन्य भाषाओं की जननी के तुल्य संस्कृत भाषा है। अतः मैं इसी भाषा के माध्यम से अपने विचारों की अभिव्यक्ति करता हूँ। कतिपय अन्य प्रश्नों पर भी विचारों का आदान प्रदान हुआ। स्वामीजी ने आर्यों की समाज व्यवस्था में प्रचलित वर्णव्यवस्था को कर्म पर निर्भर बताया तथा संकेत दिया कि आज के तथाकथित ब्राह्मण अपने कर्मों से हीन होकर पाचक कर्म करते हैं, जो वास्तव में शूद्रों का कर्म है। आरा में उनका निवास लगभग पन्द्रह दिन तक रहा।

भाद्रपद शुक्ला तृतीया या चतुर्थी सं. १९२९ वि. को स्वामीजी पटना पहुंचे तथा महाराजा भूपसिंह के एशबाग में डेरा किया। विभिन्न वर्गों के बहुसंख्यक लोग सेवा में आने लगे। नगर में स्वामीजी के आगमन की सर्वत्र चर्चा हो गई। पं. रामजीवन भट्ट अपने साथियों को लेकर शास्त्रार्थ के लिये आये, परन्तु शास्त्र विचार को अधूरा छोड़ कर ही चले गये। एक प्रश्न के उत्तर में स्वामीजी ने मृत्यु के पश्चात् जीव की गति का निरूपण उपनिषदों के प्रमाणों के आधार पर किया। सहज हास्य और विनोद के बिन्दु यदा कदा उनके आलाप रूपी ऊर्मिप्रवाह से छलकते रहते थे। वे दुर्गापाठ को जब 'मुर्गापाठ', कौमुदी को 'कुमति' और मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक को 'उल्लूक' कहते, तो श्रोतृमण्डल अट्टहास कर उठता।

नार्मल स्कूल का एक विद्यार्थी राजनाथ तिवारी उनके समीप रहने लगा था। अन्य किसी पाचक के अभाव में वह महाराज का भोजन भी पकाने लगा। प्रथम दिन ही जब तिवारी ने भोजन बनाया और स्वामीजी को परोसने लगा तो उसे 'शाकं देहि, सूपं देहि' जैसे वाक्यों को उनके मुख से सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ। बिहार में 'सूप' छाज के लिये प्रयुक्त होता है। राजनाथ तिवारी को हक्का बक्का देख कर स्वामीजी ने इशारे से दाल, शाक आदि देने के लिये कहा।

योगदर्शन में जिन विभूतियों की चर्चा हुई है, उनमें से अनेक सिद्धियां स्वामीजी को प्राप्त थीं। अन्यत्र हुई घटना का ज्ञान उन्हें योगज शक्ति के द्वारा हो जाता था। एक ऐसी ही घटना पटना निवासकाल में घटित हुई। राजनाथ स्वामीजी के निवास पर दूध ले जा रहा था। मार्ग लम्बा था तथा रात्रि का अंधकार छा चुका था। रास्ते में उसे सांप दिखाई दिया। किशोर राजनाथ घबरा कर भागा और जैसे तैसे स्वामीजी के डेरे पर पहुंच गया। अब स्वामीजी उसे पूछ बैठे। क्या तू रास्ते में डर गया था, तुझे सांप दिखाई पड़ा था? निश्चय ही स्वामीजी के इस कथन से राजनाथ आश्चर्यचकित हुआ कि मार्ग के एकान्त में घटित इस घटना का ज्ञान इन्हें कैसे हुआ?

मिथ्या वैराग्य का आडम्बर कर संसार को त्यागने की घोषणा करने वाले लोगों को स्वामीजी प्रथम श्रेणी का दाम्भिक समझते थे। एक दिन वार्त्तालाप के प्रसंग में उन्होंने बाबू गुरुप्रसाद सेन, रईस से स्पष्ट कहा कि संसारत्याग कथमपि सम्भव नहीं है। जो लोग ऐसा करते हैं, वे पाखण्डी हैं। यों तो लोग गृहस्थाश्रम को तिलाञ्जलि देकर संन्यासी होने का दम भरते हैं, परन्तु क्या संन्यासियों को भी आहार, वस्त्र, निवास आदि की आवश्यकता नहीं होती? पुनः संसार त्याग का क्या अभिप्राय है? पुराणादि अनार्ष ग्रन्थों के प्रति स्वामीजी का दृष्टिकोण बहुत पहले ही निर्धारित हो चुका था। शास्त्रार्थ के एक प्रसंग में जब प्रतिपक्षी पण्डित ने श्रीमद्भागवत का प्रमाण दिया, तो महाराज ने उसे अप्रामाणिक घोषित किया। पुराणों में शिरोभूषण तुल्य समझे जाने वाले शुकप्रोक्त भागवत के खण्डन और उसकी अवहेलना से प्रतिपक्षी को बड़ी पीड़ा हुई। वह तत्परता दिखाते हुए बोल पड़ा—महाराज खण्डन करना तो सहज है, किन्तु भगवान् कृष्ण द्वैपायन ने भागवत की रचना के प्रसंग में अठारह सहस्र श्लोकों की रचना जिस प्रसन्नगम्भीर शैली तथा सरसतायुक्त ढंग से की है, वैसे श्लोक बना कर कोई दिखाये तो जानें। इस पर स्वामीजी ने स्पष्ट किया कि साहित्यिक गुणयुक्त होने से ही कोई रचना धार्मिक विषयों के निर्णयानिर्णय में प्रमाणकोटि में नहीं आती। यदि आप भागवत के १८ हजार श्लोकों के काव्यात्मक सौन्दर्य पर ही मुग्ध हैं तो मैं १८ हजार नहीं ३८ हजार श्लोक बना सकता हूँ। पुनः वार्तालाप के धरातल को गम्भीरता से मुक्त कर उन्मुक्त हास्य-पूर्वक कहने लगे कि आप लिखते चलिये, मैं जूता और खड़ाऊ का संवाद भागवत की शैली में ही लिखाता हूँ। श्लोक वैसे ही ललित और मधुर होंगे। यह कहने के पश्चात् महाराज के मुखारविंद से वाग् वैखरी मकरन्द की भांति निसृत होने लगी। पण्डितजी ने एक दो श्लोकों को तो लिखा, पुनः यह स्वीकार कर लिया कि केवल कलात्मक होने से ही कोई ग्रन्थ प्रमाण-कोटि में नहीं आता। स्वामीजी द्वारा रचित इन श्लोकों में उन्हें अश्रुतपूर्व शब्द सौन्दर्य तथा व्याकरण कौशल दृष्टिगोचर हुआ। .पता चला है कि भागवत के प्रशंसक ये पण्डित संस्कृत के प्रसिद्ध साहित्यकार अम्बिकादत्त व्यास थे।

पुराणों में जो शीर्ष स्थान भागवत को प्राप्त है, वैसी ही प्रतिष्ठा व्याकरण ग्रन्थों में भट्टोजि दीक्षित रचित सिद्धान्तकौमुदी को भी मिली है। परन्तु वैयाकरण शिरोमणि विरजानन्द दण्डी से स्वामीजी को आर्ष और अनार्ष व्याकरणों का जैसा पार्थक्य ज्ञान प्राप्त हुआ था, उसे देखते हुए सिद्धान्तकौमुदी जैसे ग्रन्थ के प्रति उनकी आलोचना अधिकाधिक मुखर होती गई। इसी पटना नगर में जब पं. रामावतार तिवारी नामक एक पण्डित कौमुदी के मंगल श्लोक[२३] को पढ़ कर शास्त्रार्थ करने लगा तो स्वामीजी प्रतिवादी के अशुद्ध उच्चारण तथा संस्कृत भाषण की अक्षमता को देख कर हंस पड़े। अन्य उपस्थित लोग भी जब शास्त्रार्थ-कर्ता का उपहास करने लगे, तो पं. रामावतार प्रतिवादिभयंकर दयानन्द के समक्ष सर्वथा निःसत्व होकर चले गये। पटना नगर में स्वामीजी ने विज्ञापन प्रसारित कर दिया था कि वे अभी और पन्द्रह दिन तक इस नगर में रहेंगे, अतः शास्त्रार्थ के इच्छुक व्यक्ति उनसे सम्पर्क कर सकते हैं। इसके बावजूद कोई शास्त्रार्थ के लिये नहीं आया। अन्ततः उन्होंने तीन अक्टूबर गुरुवार १८७२ को बेगमपुर स्टेशन से रेल मार्ग द्वारा मुंगेर के लिये प्रस्थान किया।

अर्धरात्रि के समय उनकी गाड़ी जमालपुर जंकशन पर पहुंची। मुंगेर के लिये रेल बदलने में थोड़ा समय था, अतः स्वामीजी डिब्बे से बाहर आकर प्लेटफार्म पर टहलने लगे। संयोगवश एक अंग्रेज इंजीनियर अपनी पत्नी के साथ स्टेशन पर ही खड़े थे। जब उन्होंने कौपीन मात्र वस्त्र धारण किये, प्रायः दिगम्बर, साधु को सार्वजनिक स्थान पर टहलते देखा, तो इस गौराङ्ग दम्पती का जातिगत दम्भ जागृत हो गया। हिन्दुस्तानी साधु का यह नंगापन जब उन्हें असह्य हो उठा, तो तुरन्त स्टेशन मास्टर के पास जाकर आदेश दिया कि वे इस नंगे फकीर को प्लेटफार्म से हटा दें। स्टेशन मास्टर जानता था कि यह साधु कौन है। वह अपने भीतर साहस समेट कर स्वामीजी के निकट गया और कहने लगा—'महाराज, गाड़ी के चलने में तो अभी समय है, आप विश्रामालय में चलकर कुर्सी पर विराजें।' स्वामीजी तुरन्त स्टेशन-मास्टर के कथन का अभिप्राय समझ गये। उन्हें यह भी अविदित नहीं रहा कि गोरे साहब का आदेश पाकर ही यह रेल कर्मचारी उन्हें टहलने से मना कर रहा है। शासक जाति के इस पुरुष के मिथ्या दम्भ तथा धौंस को सहन न करते हुए संन्यासी ने निर्भीक भाव से कहा "साहब से कह दो कि प्लेटफार्म पर टहलने वाला साधु उस युग का है, जब बाबा आदम तथा बीबी हव्वा अदन के बाग में नंगे ही टहला करते थे।" स्वामीजी के इस स्पष्ट किन्तु तीखे उत्तर को सुन कर स्टेशन मास्टर स्तब्ध रह गया। अप्रतिभ सा होकर वह अंग्रेज इंजीनियर के पास आया और कहने लगा, हुजूर, यह कोई भिखमंगा साधु तो है नहीं, जिसे यहां से धौंस देकर हटाया जाये, ये तो प्रसिद्ध सुधारक स्वामी दयानन्द सरस्वती हैं। जब इंजीनियर को विदित हुआ कि जिस व्यक्ति को वे एक साधारण नंगा फकीर समझने की भूल कर रहे थे, वह और कोई नहीं, प्रसिद्ध समाज संशोधक दयानन्द सरस्वती हैं, तो साहब बहादुर स्वयं महाराज के निकट गये और गाड़ी छूटने तक उनसे आदरपूर्वक संलाप करते रहे।

शुक्रवार चार अक्टूबर १८७२ को स्वामीजी मुंगेर पहुंचे तथा गंगा के तटवर्ती एक आश्रम में डेरा डाला। तीसरे दिन एक मौनी साधु उनकी सेवा में पहुंचे तो उसे अनावश्यक रूप से मौन धारण करने वाला जान कर महाराज बोले—'यदि तू मूर्ख है, तब तो तेरा मौन रहना

उचित ही है, किन्तु यदि तू पठित है और समझदार है, तब तो तुझे बोलना ही चाहिए।' भारत के साधु समुदाय में मौन रहना भी तपस्या का एक अंग समझा जाता है और ऐसे मौनी बाबाओं की संख्या कम नहीं है। स्वामीजी के इस कथन से मौनी बाबा का मौन भंग हुआ। स्वल्प वार्तालाप के पश्चात् वह चला गया।

यद्यपि शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार संन्यासियों के लिये भिक्षाचर्या वर्जित नहीं है, किन्तु शताब्दियों से भिक्षावृत्ति करते करते भारत का साधुसमुदाय समाज के लिये भार-स्वरूप बन गया था। देश हित के लिये कुछ भी त्याग न करने वाला यह साधु समाज मात्र परोपजीवी बन कर आलस्य, अकर्मण्यता तथा प्रमादपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहा था। स्वामी दयानन्द भारत के संन्यासी वर्ग को पुरुषार्थी, कर्मनिष्ठ तथा लोकहित के लिये अपने आपको समर्पित करने के लिये तत्पर देखने के इच्छुक थे। एतदर्थ वे स्वयं भी अपनी जीवनचर्या के द्वारा एक उदाहरण प्रस्तुत करना चाहते थे। जब उनका पाचक मुंगेर में किसी टाल वाले से रसोई हेतु मुफ्त लकड़ी मांगने लगा, तो उन्होंने उसे फटकारा। किसी के घर जाकर भोजन करना भी वे अच्छा नहीं समझते थे। भोजन की व्यवस्था उनकी अपनी रहती थी।

अनार्ष ग्रन्थों में उनकी श्रद्धा तो बहुत पहले ही समाप्त हो गई थी और उनका यह प्रयत्न रहता था कि उनके शिष्य तथा सहयोगी भी इन ग्रन्थों को पढ़ने में अपना समय नष्ट न करें। जब उन्होंने अपने अनुचर शिष्य राजनाथ तिवारी को एक दिन 'आदित्य हृदय' का पाठ करते देखा तथा उसकी अन्य पुस्तकों का भी अवलोकन किया तो ज्ञात हुआ कि इनमें अधिकांश ग्रन्थ वे हैं जो अनार्ष श्रेणी में रक्खे जा सकते हैं। महाराज की प्रेरणा से तिवारी ने इन ग्रन्थों का स्वाध्याय बंद कर दिया और आर्ष ग्रन्थों के पढ़ने में मन लगाया।

कार्तिक कृष्णा चतुर्थी १९२९ वि. २० अक्टूबर १८७२ रविवार को वे भागलपुर पहुंचे। यहां पं. मोहनलाल शाकद्वीपी के मंदिर में ठहरे। एक अग्रवाल गृहस्थ ने उनके लिये दो दिन तक निरन्तर भोजन भिजवाया। ऐसा करने में उसकी हार्दिक भावना यह थी कि सम्भवतः इस साधु सेवा से उन्हें पुत्र लाभ होगा। ऐसी धारणाएं हिन्दू समाज में आज भी प्रचलित हैं, जब कि निस्सन्तान दम्पती साधु संन्यासियों की सेवा कर उनसे पुत्र जन्म की याचना करते हैं। जब महाराज को उक्त गृहस्थ के मनोभाव का पता चला, तो उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि स्वार्थ भावना से प्रेरित होकर ही तुमने मेरे लिये भोजन की व्यवस्था की है, परन्तु स्मरण रक्खो, पुत्र लाभ का वरदान देना किसी मनुष्य के लिये संभव नहीं है।

इसी नगर के एक संभ्रान्त नागरिक बाबू पार्वतीचरण के आग्रह पर स्वामीजी उनके बाग में चले आये, जहाँ उनके निवास की अधिक सुविधा थी। गवर्नमेंट हाई स्कूल के मुख्याध्यापक श्री निवारणचन्द्र मुकर्जी के आग्रह पर उन्होंने उनके विद्यालय के सभागार में 'मनुष्य के कर्त्तव्याकर्त्तव्य' विषय पर एक व्याख्यान भी दिया। अन्य बातों के साथ साथ उन्होंने स्पष्ट किया कि शास्त्रों में जो श्राद्ध, तर्पण आदि गृहस्थ के इतिकर्त्तव्य बताये गये हैं, वे जीवित माता पिता के लिये ही होते हैं, न कि मृतकों के लिये। कर्त्तव्याकर्त्तव्य की यह विवेचना सर्वथा अनूठी तथा विचारोत्तेजक थी। इस नगर में स्वामीजी की भेंट बर्दवान (प्राचीन नाम वर्धमान) के महाराजा से भी हुई जो चार नैयायिक पण्डितों के साथ उनसे

विचार विमर्श हेतु आये थे। पादरियों और मौलवियों से भी उनकी धर्म चर्चा हुई। एक बंगाली ईसाई, जो मूलतः ब्राह्मणकुलोत्पन्न था, स्वामीजी और पादरियों के संवाद को सुन कर अश्रुपूर्ण नेत्र तथा पश्चाताप युक्त स्वर से कहने लगा कि यदि उनके जैसे स्वधर्म के अपूर्व व्याख्याता महापुरुष का संसर्ग उसे पूर्व ही मिला होता, तो वह अपने पूर्वजों के धर्म का परित्याग क्यों करता? उसने अपने धर्म परिवर्तन की घटना सुनाते हुए कहा कि जब वह स्कूल में पढ़ता था, तो अध्यापक पादरी हिन्दू धर्म पर नाना प्रकार के व्यंग्य और कटाक्ष करते, जिनका उत्तर देना उसके लिये तो क्या, बड़े बड़े पण्डितों और धर्माचार्यों के लिये भी कठिन हो जाता। इस प्रकार ईसाइयों द्वारा किये गये आक्षेपों को पूर्ण सत्य तथा अकाट्य समझ कर उसने अपने परम्परागत धर्म को तिलाञ्जलि दे दी।

वस्तुतः भारत में ईसाई मत के प्रचार के पीछे इसी प्रकार के कारण रहे हैं। थोड़े समय के भीतर ही बंगाल जैसे सुशिक्षित प्रान्त में शतशः, सहस्रशः कुलीन हिन्दुओं का स्वधर्म परित्याग कर ईसाइयत को ग्रहण करना एक विडम्बना ही थी। लाल बिहारी दे, मधुसूदन दत्त, व्योमेशचन्द्र बनर्जी आदि कई उच्च कुलोत्पन्न हिन्दू ईसाई बन कर हिन्दू धर्म के खोखलेपन तथा हिन्दू समाज के दौर्बल्य की घोषणा कर रहे थे। खेद है कि दयानन्द के अतिरिक्त किसी अन्य तत्कालीन समाजसुधारक अथवा धर्माचार्य ने ईसाइयत के इस अनपेक्षित प्रचार प्रसार तथा हिन्दुओं के बहुसंख्यक धर्म परिवर्तन की विभीषिका को अनुभव नहीं किया था। इससे विपरीत बंगीय सुधारकों में तो केशवचन्द्र सेन जैसे लोग भी थे, जो उच्च कोटि के धर्म प्रवक्ता, समाज संस्कारक तथा सफल वाग्मी होने पर भी ईसाई मत विश्वासों तथा ईसाइयत की नैतिक शिक्षाओं से अत्यधिक प्रभावित थे। उनकी दृष्टि में ईसाइयत की शिक्षायें तथा मत विश्वास हिन्दू धर्म में प्रतिपादित धार्मिक सिद्धान्तों तथा नैतिक धारणाओं से कथमपि न्यून न होकर उत्कृष्टतर ही थे। उन्होने ऐसा विचार परमतसहिष्णुता या सर्वधर्म समभाव के उदार दृष्टिकोण से ही बनाया हो, ऐसी बात नहीं थी, अपितु हिन्दू धर्म में प्रतिपादित मत विश्वासों तथा नैतिक अवधारणाओं के प्रति उनके अन्तर्तम में कहीं न कहीं हीन भावना विद्यमान थी। अथवा यह भी हो सकता है कि वे शासक जाति के धर्म तथा उसके प्रवर्तक महापुरुष की शिक्षाओं की गुरुता तथा महत्ता को लेकर अनावश्यक रूप से आक्रान्त थे। कुछ भी हो, केशवचन्द्र सेन ने यह स्पष्ट घोषित कर दिया था कि ईसाई मत की शिक्षाओं को स्वीकार कर लेना हिन्दुओं के लिये नितान्त वांछनीय तथा हितकर है।

इसी संदर्भ में दयानन्द के ईसाइयत के प्रति दृष्टिकोण को परखा जाना चाहिए। उन्होंने ईसाइयत के प्रति अकारण ही आकृष्ट होने वाले सुधारकों की तो आगे चल कर आलोचना की ही, साथ ही जनसाधारण में प्रचलित इस विश्वास को भी निर्मूल कर दिया कि शासक जाति के लोगों का मत विश्वास उनके द्वारा मान्य धर्म से अधिक उत्कृष्ट अथवा श्रेष्ठ है। इसी के साथ साथ उन्होंने सैमेटिक मजहबों में पाई जाने वाली अवैज्ञानिक, युक्ति एवं तर्कविरुद्ध मान्यताओं का खण्डन कर प्रकारान्तर से पादरियों द्वारा की जाने वाली हिन्दू धर्म की विभिन्न आलोचनाओं का मुँह तोड़ उत्तर भी दिया। इस प्रकार जहां सामान्य हिन्दू धर्मावलम्बियों में एक बार ही निर्भीकता जागृत हुई, वहां वे यह भी समझने लगे कि

'साहब लोगों का धर्म' उनके परम्परागत धर्म से हर भांति श्रेष्ठ एवं वरणीय ही है, ऐसी बात नहीं है।

भागलपुर हाईस्कूल के हैडमास्टर मुखोपाध्याय महाशय ब्रह्मसमाजी थे। तत्कालीन ब्रह्मसमाज के अनुयायी जहां प्राचीन प्रथाओं तथा परम्परागत परिपाटियों के विरोधी होकर उनके तोड़ने में ही गौरव का अनुभव करते थे, वहां वे अपने आद्य संस्थापक राजा राममोहनराय की मूल भावनाओं के विरुद्ध आर्य धर्म की कतिपय श्रेष्ठ मान्यताओं तथा प्रशस्त अवधारणाओं का भी विरोध करने लगे थे। उदाहरणतः वे वर्णव्यवस्था को अनुपयोगी मानते थे, यज्ञादि उपयोगी कर्मकाण्डों को भी मूर्तिपूजा के समकक्ष ठहरा कर त्याज्य समझते थे तथा यज्ञोपवीत आदि द्विजोचित संस्कारों को जातिभेद का सूचक समझते थे। खानपान विषयक उचित मर्यादाओं की अवहेलना करने को आधुनिकता का चिन्ह समझते थे। स्वामीजी ने मुखोपाध्माय महाशय तथा उनके ब्राह्म मित्रों से उपर्युक्त बातों पर चर्चा की, तथा सिद्ध किया कि निर्दोष मान्यताओं तथा आयुर्वेद एवं स्वास्थ्य विज्ञान पर आधारित खानपान की मर्यादाओं की अवहेलना कदापि उचित नहीं है।

स्वामी दयानन्द की वैचारिक उदारता को सही परिप्रेक्ष्य में अभी तक नहीं समझा गया है। साधारणतया सभी उन्हें स्वमत के प्रति अत्यन्त कट्टर तथा आग्रहशील, किन्तु अन्य मतावलम्बियों के प्रति नितान्त असहिष्णु व्यक्ति के रूप में समझते रहे। इसी कारण ईसाइयत तथा इस्लाम के प्रति उनके कठोर रवैये की आलोचना यदा कदा, यत्र तत्र की जाती रही। परन्तु ऐसा सोचने वाले इस तथ्य की उपेक्षा कर जाते हैं कि अन्य देशों में उत्पन्न मत-विश्वासों का खण्डन करने से पूर्व तथा उस खण्डन से कहीं अधिक उग्र खण्डन तो उन्होंने स्वदेशस्थ मतों एवं सम्प्रदायों का किया है, जिनसे उनका वंशगत एवं परम्परागत सम्बन्ध भी रहा था। इस प्रकार की धारणा रखने वालों ने कभी यह भी नहीं सोचा कि दयानन्द की विचारभूमि कितनी विशाल तथा व्यापक थी। इस सच्चाई का अनुभव तब तक नहीं हो सकता, जब तक हम उनके जीवन के ऐसे प्रसंगों का ऊहापोह न कर लें, जिनसे कि उस धीरोदात्त महापुरुष की उच्चस्तरीय भावभूमि का वास्तविक अनुमान हो सकता है।

भागलपुर की ही घटना है। एक सुशिक्षित मौलवी स्वामीजी से धर्मसम्बन्धी विचार के लिये आया। जब उन्होंने स्वामीजी के कमरे में जल तथा भोज्य सामग्री पड़ी देखी, तो संकोचवश बाहर ही खड़ा रह गया। हिन्दू समाज में प्रचलित धारणा को अनुभव करते हुए वह सोचता था कि कहीं कमरे में चले जाने मात्र से ही हिन्दू संन्यासी का भोजन-पान दूषित हो जायगा। स्वामीजी के बार बार कहने पर भी कि वे भीतर आ जायें, वह नहीं आया। अन्ततः स्वामी दयानन्द को उसे आश्वस्त करना पड़ा कि उनके कमरे में आने मात्र से ही ये भोज्य पदार्थ अशुद्ध नहीं होंगे, कि इस प्रकार का भेदभाव धर्म की मौलिक भावनाओं से किसी भी प्रकार मेल नहीं खाता। इसी प्रसंग में उन्होंने हिन्दू मुसलमानों में तनाव के कारणों की वास्तविक मीमांसा करते हुए स्पष्ट किया कि बहुसंख्य हिन्दुओं के मन में अपने पड़ौसी मुसलमानों के प्रति जो विरक्ति अथवा सहानुभूति का अभाव दिखाई देता है, उसका कारण कोई नैसर्गिक द्वेष का भाव नहीं है। हमारे पारस्परिक व्यवहार में ही इतनी रूक्षता तथा उदासीनता आ गई है कि परस्पर पड़ौस में रहते हुए भी हिन्दू-

मुसलमान एक दूसरे के प्रति अजनबी का सा आचरण करते हैं। निश्चय ही हिन्दू मुसलमानों के बीच के सम्बन्धों का मनोविज्ञान के तथ्यों पर आधारित तथा वस्तुनिष्ठ ऐसा विश्लेषण विगत शताब्दी के किसी भी सामाजिक या राजनैतिक चिंतक ने नहीं किया था।

हिन्दू समाज में व्याप्त कदाचारों, रूढ़ियों तथा अंधविश्वासों को देख कर इस महामानव का हृदय किस प्रकार संतप्त एवं पीड़ित हो जाता था, इसका उदाहरण उस समय देखने को मिला, जब कि गंगा तट पर लगे एक मेले में उन्होंने देखा कि हिन्दुओं के धार्मिक मत विश्वास मूढ़ता की पराकाष्ठा पर पहुंच चुके हैं। दान तथा तीर्थ विषयक हमारी धारणाएं इतनी कलुषित, पापपूर्ण तथा भ्रष्ट हो गई थीं कि लोग धर्म का काम समझ कर अपनी कुंवारी पुत्रियों का तीर्थजीवी पण्डों को दान कर देते थे। जब कन्याओं का यह पण्डों के प्रति अर्पण का कृत्य शास्त्रानुमोदित संकल्प वाक्य के साथ समाप्त हो जाता, तो स्वभावत: उस लड़की पर लम्पट पण्डे का अधिकार हो जाता। तब वे मूढ़ माता पिता कुछ द्रव्य देकर लड़की को पण्डे से मुक्त कराते, परन्तु कभी कभी स्त्री लोलुप पण्डे उस लड़की को उसके माता पिता को द्रव्य के बदले लौटाने में संकोच करते। उस समय उन अंधविश्वासों के शिकार मातापिताओं की दुर्दशा तथा उनका करुणार्द्र क्रन्दन बड़ा हृदयद्रावक होता है।

एक ऐसे ही दृश्य को देखकर जब स्वामीजी अपने निवास पर लौटे तो देखा कि उनका भक्त जो प्राय: भोजन लाया करता था, महाराज को अनुपस्थित देख कर भोजन रख कर चला गया है। स्वामी दयानन्द स्वस्थान पर लौट कर भी धर्मजीवी पण्डों की धूर्तता तथा धर्म के नाम पर प्रवञ्चित होने वाले भोले भाले लोगों की मूढ़ता, कदर्यता, तथा अकृतकार्यता का चिन्तन करते करते इतने अनुतप्त हो गये कि उन्हें भोजन करने का ध्यान ही नहीं रहा। प्रात: जब भोजन लाने वाले ओझाजी आये तो उन्होंने देखा कि महाराज का भोजन तो यथावत् रक्खा है। कारण पूछने पर स्वामीजी ने करुणा विगलित स्वर में कहा—**रात्रि को मैं स्वधर्म के दारुणह्रास का चिन्तन करता रहा।** हमारी दान प्रणाली इतनी दूषित हो गई है कि लोग जड़ वस्तुओं की ही भांति स्वकन्याओं को भी तीर्थगुरुओं को भेंट करने में संकोच नहीं करते। जिस जाति के धर्म याजक हमारे इन तीर्थ पण्डों के तुल्य पतित हो जायें, उस अभागी जाति का अभ्युत्थान कैसे होगा, इसी बात का चिन्तन करते करते मुझे इतना दुख हुआ कि भोजन करने का ध्यान ही नहीं रहा। सांसारिकता के प्रति नितान्त निरासक्त, वीतराग, तथा सब प्रकार से निर्द्वन्द्व संन्यासी अपने सहधर्मियों के मूर्खतापूर्ण आचरण से कितने दुखी थे, यह सहज ही अनुमेय है।

अन्तत: पौष कृष्णा प्रतिपदा १९२९ वि. तदनुसार १५ दिसम्बर १८७२ को महाराज ने रेल द्वारा भारत की तत्कालीन राजधानी कलकत्ता के लिये प्रस्थान किया। वे उन समकालीन समाजसुधारकों तथा धर्मसंशोधकों से भेंट हेतु अत्यन्त लालायित थे, जो भारतीय नवजागरण के ज्योतिर्धर बन कर नवीन विचार, नये भाव तथा अभिनव आशा और विश्वास के ज्योतिपुञ्जों को विकीर्ण करने में संलग्न थे। □

पाद टिप्पणियां

१. आठ गप्पों का खण्डन करने के लिये स्वामी दयानन्द को अज्ञानी जन 'गप्पाष्टक बाबा' के नाम से पुकारने लगे थे।

२. 'प्रतिष्ठामयूख' आदि ग्रन्थों में 'प्राणाइहागच्छन्तु चिरं तिष्ठन्तु' आदि वाक्य कल्पित कर मूर्तियों में प्राणप्रतिष्ठा का विधान परवर्ती काल में किया गया है। स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में देवताओं के इस आवाहन विसर्जन आदि का खण्डन किया है। द्रष्टव्य—सत्यार्थप्रकाश—श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट का आर्यसमाज शताब्दी संस्करण पृ. ४८५.

३. द्रष्टव्य सत्यार्थप्रकाश—एकादशसमुल्लास-नवग्रहपूजन में वेद मंत्रों के मनमाने विनियोग पर स्वामी दयानन्द की आलोचना।

४. अध्याय ३२। मंत्र ३

५. पं. लेखराम ने इस बार के काशी आगमन की तिथि १६ मई १८७० ई. लिखी है जो सत्य हो सकती है, परन्तु उनका ज्येष्ठ बदी का उल्लेख स्पष्ट ही त्रुटिपूर्ण है।

६. संस्कृत साहित्य के इतिहास में ए. बी. कीथ ने स्पष्ट लिखा है—"What does seem clear is that Badarayana was not a believer in the illusion doctrine of Shankar's school, that he held that individual souls, if derived from the absolute, remained distinct from it and real, and that matter derived also from the absolute had a distinct reality of its own" पृ. ४७५। अर्थात् यह स्पष्ट विदित होता है कि बादरायण शांङ्कर सम्प्रदाय के मायावाद में विश्वास नहीं करते थे। उनकी धारणा थी कि यदि जीवात्माओं को परम तत्त्व(ब्रह्म) से उत्पन्न भी मानें तो भी उनकी पृथक् तथा वास्तविक सत्ता है। इसी प्रकार ब्रह्म से उद्भूत प्रकृति भी अपनी पृथक् एवं वास्तविक सत्ता रखती है। शंकर की तार्किक क्षमता को स्वीकार करते हुए भी प्रो. कीथ की धारणा है कि उन्होंने बादरायण के विचारों को गलत रूप में प्रस्तुत किया है—Shankar's dialectical skill is very great, but he doubtless misrepresents Badarayana. —उपर्युक्त पृ. ४७७.

७. इस सम्बन्ध में प्रो. ए. बी. कीथ का स्पष्ट मत है—"There is no doubt that this work (माण्डूक्य कारिका) of which the first part deals with the short Mandukya Upanishad, is strongly influenced by the nihilistic school of Buddhism." History of Sanskrit Literature P. 476. अर्थात् गौडपाद कृत माण्डूक्य कारिका का प्रथम भाग, जिसमें माण्डूक्य उपनिषद् की ही व्याख्या है, बौद्धों के शून्यवादी दर्शन से अत्यधिक प्रभावित है।

८. यह लघु पुस्तिका गोपीनाथ पाठक के प्रबंध से लाइट प्रेस बनारस में १९२७ वि. में मुद्रित हुई थी। प्रसिद्ध साहित्यकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्वसम्पादित कविवचनसुधा नामक मासिक पत्रिका के दो अंकों—खण्ड-१ सं. १४, १५ ज्येष्ठ व आषाढ़ १९२७ वि. तदनुसार १३ जून व १२ जुलाई १८७०) में पृ. ८७ से ९० तथा पृ. ९२ से ९६ तक

इसी ग्रन्थ को पुनर्मुद्रित किया था। विदित होता है कि वल्लभ सम्प्रदायानुवर्ती भारतेन्दु शाङ्कर दर्शन के समर्थक नहीं थे। अतः उन्होंने अद्वैतमत खण्डन को स्वयं अपने पत्र में प्रकाशित किया। सम्प्रति यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है। 'कविवचनसुधा' की पुरानी फाइलों में ढूंढ कर इसे प्राप्त किया जा सकता है। इस पत्रिका की फाइलें नेशनल लाइब्रेरी कलकत्ता के दुर्लभ संग्रह में विद्यमान हैं।

९. यह व्यक्ति सोरों में निवास करता था। इसका वहां के धर्माचार्यों में प्रमुख स्थान था। स्वामीजी के विचारों की सत्यता को स्वीकार कर वह वेदमार्ग पर आरूढ़ हो गया था। द्रष्टव्य—कर्णवास में महर्षि दयानन्द के ऐतिहासिक संस्मरण, पृ. २२।

१०. स्वामी दयानन्द ने इसका नाम परिवर्तन कर पं. दिनेशराम रख दिया था।

११. एक प्रत्यक्षदर्शी ने इस घटना को इस प्रकार वर्णित किया है—"एक वार स्वामीजी जा रहे थे कि मार्ग में पगडंडी पर एक बड़ा शक्तिशाली सांड सामने आ गया। हम लोग उसको देख कर हट गये, परन्तु स्वामी छाती ठोक कर सामने खड़े हो गये। हमने बहुत पुकारा कि 'सांड आया है, सांड।' परन्तु उन्होंने कुछ ध्यान न देकर कहा कि 'किंकरिष्यति।' यह मार्ग में डटे खड़े थे कि वह स्वयं मार्ग छोड़ कर चला गया। हमने कहा कि स्वामीजी यदि वह सींग मारता तो क्या होता? कहने लगे, "रे सुन, मैं दोनों हाथों से उसके सींगों को पकड़ कर हटा देता।" पं. लेखराम कृत जीवन चरित्र में पं. चैनसुख का बयान पृ. २१२।

१२. इस अवधि में उन्होंने बिलराम, चकेरी तथा हरनोट आदि ग्रामों में विचरण किया था।

१३. द्रष्टव्य—इसी ग्रन्थ का गाङ्गेयप्रदेश में (१) शीर्षक अध्याय।

१४. स्वामीजी के भक्त क्षत्रिय तालुकदारों में ठाकुर मुकुन्दसिंह का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने 'तहकीकुलहक' नामक एक पुस्तक उर्दू में लिखी थी। इसमें जो वर्ण्य विषय हैं, उन पर स्वामी दयानन्द के विचारों की स्पष्ट छाप है। इस पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद भी हुआ था, जिसकी एक दुर्लभ प्रति विश्वेश्वरानन्द पुस्तकालय (पंजाब विश्वविद्यालय के होश्यारपुर स्थित विश्वेश्वरानन्द विश्वबंधु प्राच्य विद्या एवं संस्कृत संस्थान) में सुरक्षित है।

१५. यह व्यक्ति ग्राम दानपुर धौरऊ का निवासी था। स्वामीजी द्वारा स्थापित छलेसर, अलीगढ़ तथा कासगंज की पाठशालाओं का मुख्याध्यापक रहा।

१६. पौष कृ. प्रतिपदा १९२७ वि. शुक्रवार (९ दिसम्बर १८७०) को स्वामीजी ने छलेसर से प्रस्थान किया था। इसके पश्चात् वे अतरौली, बिजौली तथा सोरों में पौष मास पर्यन्त रहे। चैत्र कृष्ण पक्ष १९२७ वि. में उनके कासगंज जाने का उल्लेख मिलता है, जहाँ वे चैत्र शुक्ल पक्ष (१९२८ वि.) पर्यन्त रहे। परन्तु इसी समय कासगंज से प्रस्थान करने तथा ज्येष्ठ १९२८ वि. में रामघाट पहुंचने के बीच वे कहाँ रहे, इसका विवरण अज्ञात है। इसी प्रकार रामघाट से आषाढ़ १९२८ वि. में प्रस्थान कर वे कर्णवास में द्वितीय भाद्रपद मास में पहुंचे। बीच के तीन मासों का विवरण उपलब्ध नहीं होता।

१७. यहाँ आने से पूर्व वे अनूपशहर तथा कर्णवास में रहे थे।

१८. यजुर्वेद अध्याय ३/६०

१९. यजुर्वेद अध्याय ३१/११

२०. इस शास्त्रार्थ का इसी प्रकार का अतिरंजित वर्णन 'पं. दुर्गादत्त परमहंस' शीर्षक एक धारावाही लेख में पं. अक्षयवट मिश्र ने देवनागर मासिक पत्र (जस्टिस शारदाचरण मित्र द्वारा नागरी लिपि के प्रसार हेतु प्रकाशित प्रसिद्ध पत्र) के वर्ष ३ संख्या ५-८ के अन्तर्गत पृ. १२२-१२६ तक प्रकाशित कराया था। इसमें प्रस्तुत वर्णन लेखक का मनः प्रसूत ही है, इसका एक कारण यह है कि परमहंस दुर्गादत्त द्वारा मूर्तिपूजा की सिद्धि में यूरोपीय तथा अमरीकी देशों में उपलब्ध प्राचीन ग्रीक तथा अन्य देवताओं की मूर्तियों आदि का उल्लेख, (यदि वास्तव में किया गया) जो इस लेख में किया गया है, वह सर्वथा अप्रासंगिक ही था। इस लेख माला के लेखक ने उपसंहार में स्वामी दयानन्द की प्रशंसा में लिखा था—"स्वामी दयानन्दजी अद्वितीय विद्वान् थे, उनकी चतुरता अलौकिक थी, उनकी युक्तियां अखण्डनीय थीं। उनका रूप हिमाचल के समान स्वच्छ और उच्च था। उनके वचन गंगाप्रवाह के समान निकलते थे।" परन्तु आगे चल कर उसने स्वामीजी को बुद्ध के तुल्य तथा परमहंस दुर्गादत्त को शंकराचार्य के तुल्य बताया है। स्पष्ट ही यह तुलना अनुपयुक्त है। वेदों के प्रति अपार श्रद्धा रखने वाले दयानन्द को वेदों के अविश्वासी बुद्ध के तुल्य बताना हास्यास्पद ही है। पं. अक्षयवट मिश्र का यह निष्कर्ष कि "स्वामी दयानन्द इन्हीं परमहंस जी के वाग्जाल से बद्ध हुए, निरुत्तर हुए, स्तब्ध हुए, अवाक् हुए और यथेष्ट संतुष्ट हुए" अपने आप में तथ्यों से दूर वागाडम्बर मात्र है।

२१. Reflections and Reminiscences.

२२. श्री नगेन्द्रनाथ गुप्त ने अपनी पुस्तक Reflections and Reminiscences नामक पुस्तक में इन व्याख्यानों के विषय में लिखा था—"उसी सायंकाल हमारे विद्यालय के हॉल में स्वामीजी का एक व्याख्यान हुआ। सभास्थल पूर्णतया भर गया था। इसलिये छोटे बालकों का एक समूह जिसमें मैं भी था, हाल के बाहर खड़े रह कर लोगों का आगमन देख रहा था। उसी समय स्वामी दयानन्द वहाँ आये। उस समय वे गेरुवा वस्त्र धारण किये थे, तथा पगड़ी बांधे थे। उनके साथ कई व्यक्ति थे। हमने जनसमूह को थोड़ी देर तक देखा, पुनः चुपचाप घर की ओर चले गये।"

२३ मुनित्रयं नमस्कृत्य तदुक्ति परिभाव्य च। आदि

□□

आर्य जाति के धर्मप्रवक्ता वा धर्माचार्य पद के लिये कठोर तपस्या आवश्यक है, ज्वलन्त वैराग्य आवश्यक है, एवं विषयतृष्णा वा वैषयिकता के साथ सर्वप्रकार से सम्बन्ध छोड़ देना आवश्यक है। यह हो सकता है कि कोई व्यक्ति इच्छा करने से ही ज्ञानापन्न हो जाय, प्रथितनामा पण्डित हो जाय, किंवा मेधा और मनस्विता के सम्पर्क से लोगों के हृदय में विस्मय उत्पन्न करदे; परन्तु यह नहीं हो सकता कि वह इस देश में धर्माचार्य वा धर्मप्रचारक के नाम से परिगणित हो जाय। सौभाग्य से दयानन्द में वे सभी गुण विद्यमान थे, जिनके कारण वे आर्यजाति के धर्म प्रवक्ता के पद पर आरूढ़ हो सके।

—देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय

भारत की तत्कालीन राजधानी में

पौष कृष्णा द्वितीया १९२९ वि. १६ दिसम्बर १८७२ सोमवार को दयानन्द सरस्वती कलकत्ता पहुंचे। उनके साथ गजानन नामक एक विद्यार्थी था। बैरिस्टर चन्द्रशेखर सेन नामक एक ब्रह्मसमाजी सज्जन ने उन्हें कलकत्ता आने का निमंत्रण दे दिया था।[1] ब्राह्म नेता देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने प्रयाग में उनसे आग्रह किया था कि वे कलकत्ता आयें, जहां कि वेद विद्यालय की स्थापना के सम्बन्ध में आगे विचार किया जाना सम्भव होगा। स्वामीजी को आमंत्रित करने वाले सेन महाशय स्वागतार्थ हावड़ा स्टेशन पर पहुंचे। उनके साथ पं. सत्यव्रत सामश्रमी तथा व्योमेशचन्द्र बनर्जी भी थे।[2] राजा सौरीन्द्रमोहन ठाकुर[3] के प्रमोद-कानन नामक उद्यान में उन्हें ठहराया गया। यह स्थान बैरकपुर रोड के साथ वाले टाला गांव के निकट था।

स्वामीजी के कलकत्ता प्रवास का विवरण पं. लेखराम ने ब्रह्मसमाज के उपदेशक श्री हेमचन्द्र चक्रवर्ती द्वारा संग्रह किया था, जो इस समय उनके साथ रहे थे। कालान्तर में चक्रवर्ती महाशय की लिखी हुई एक डायरी आदिब्रह्मसमाज के पुराने कागजों में मिली, जिसे बंगाल के वैदिक प्रचारक श्री दीनबंधु वेदशास्त्री ने महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के भतीजे श्री क्षितीन्द्रनाथ ठाकुर से प्राप्त किया।[4] इस डायरी में श्री हेमचन्द्र चक्रवर्ती ने स्वामी दयानन्द के बंगाल प्रवास का विवरण तिथिक्रम से लिपिबद्ध किया है।[5] जिस समय बैरिस्टर सेन स्वामीजी को लेकर राजा सौरीन्द्रमोहन के उद्यान में पहुंचे, तो ऐसा लगा कि ठाकुर महाशय स्वामीजी को अपने स्थान पर ठहराने के लिये अधिक उत्सुक नहीं हैं। किन्तु जब उन्होंने देखा कि स्वामीजी को स्टेशन से सीधे उनके स्थान पर ले आया गया है, तो वे लोकलाजवश ठहराने के लिये तैयार हो गये।

इससे पूर्व कि हम कलकत्ता प्रवास के समय स्वामी दयानन्द द्वारा तत्कालीन धर्मसुधारकों, समाजसंस्कारकों, शिक्षाविदों तथा सार्वजनिक नेताओं से सम्पर्क किये जाने तथा इस प्रकार के पारस्परिक विचार विमर्श तथा आदान प्रदान के परिणामों का मूल्यांकन करें, यह आवश्यक है कि हेमचन्द्र चक्रवती की डायरी के आधार पर ३० जनवरी १८७३ तक के उनके प्रारम्भिक कलकत्ता निवास की घटनाओं का एक स्थूल विवरण प्रस्तुत कर दिया जाय। चक्रवर्ती महाशय के अनुसार १७ दिसम्बर से २० दिसम्बर तक संन्यासी के दर्शनार्थ पर्याप्त संख्या में जनता आती रही, अतः डायरी लेखक को उनसे वार्तालाप करने का अवसर नहीं मिला। २१ दिसम्बर को उनकी स्वामीजी से बातचीत हुई। वार्तालाप के विषय जातिभेद, वर्ण व्यवस्था, ईश्वर का निराकारत्व, ईश्वर प्राप्ति, योगानुष्ठान आदि थे। अन्त में जब सांख्यदर्शन में ईश्वरवाद की चर्चा चली तो स्वामीजी ने विस्तारपूर्वक बताया कि कापिल सांख्य अनीश्वरवादी नहीं है। यह परवर्ती टीकाकारों का ही दोष है कि उन्होंने कपिलप्रोक्त सांख्य को अनीश्वरवादी घोषित किया है। जिस ईश्वरासिद्धे:[6] सूत्र के आधार

पर सांख्य के निरीश्वरवादी होने की घोषणा की जाती है, वह वास्तव में पूर्वपक्ष का सूत्र है। उन्होंने यह भी कहा कि सांख्यदर्शन पर भागुरि मुनि की टीका[७] आर्ष होने के कारण प्रमाण कोटि में आती है। उन्होंने यह भी बताया कि षडदर्शन एक दूसरे के विरोधी नहीं, अपितु पूरक हैं।[८]

इसी दिन केशवचन्द्र सेन से भी उनकी मुलाकात हुई थी। पं. लेखराम के अनुसार जब केशवचन्द्र सेन प्रथम बार स्वामीजी से मिले तो उन्होंने अपना परिचय नहीं दिया। वार्तालाप की समाप्ति पर सेन महाशय ने स्वामीजी से पूछा—'आप केशवसेन से मिले हैं?' स्वामीजी ने कहा 'हां मिला हूँ।' इस पर केशव बोले कि वे तो यहां हैं ही नहीं, आप कैसे मिले? महाराज ने उत्तर दिया कि आप ही केशवचन्द्र सेन हैं। यह पूछने पर कि स्वामीजी ने उन्हें कैसे पहचाना, उत्तर में दयानन्द ने कहा—जो वार्तालाप आपसे हुआ, वह किसी अन्य से हो ही नहीं सकता था। पुरुष परीक्षा की इस शक्ति से सेन बाबू बड़े प्रसन्न हुए थे।

२२ दिसम्बर को चक्रवर्ती महाशय ब्रह्मसमाज के आचार्य देवेन्द्रनाथ ठाकुर के पुत्र द्विजेन्द्रनाथ तथा सौमेन्द्रनाथ को साथ लेकर स्वामीजी से मिलने गये। आज की वार्ता का मुख्य विषय यज्ञोपवीत और वर्णभेद रहा। ब्रह्मसमाज के अनुशीलनकर्ता यह जानते हैं कि उन दिनों इस समाज में यज्ञोपवीत को लेकर बड़ा मतभेद था। ठाकुर महाशय तथा उनके अनुगामी आर्योचित मर्यादा के प्रतीक उपनयन धारण करने को आवश्यक समझते थे जबकि केशवचन्द्र सेन तथा उनके साथी इसे जातिभेद का चिह्न मानते थे। केशव के प्रभाव में आकर एक बार तो ब्रह्मसमाज की वेदी पर उस आचार्य अथवा पुरोहित का बैठना भी बंद कर दिया गया था, जो यज्ञोपवीत पहनता हो। जब चक्रवर्ती महाशय ने स्वामीजी से इस विषय में मार्गदर्शन चाहा तो महाराज ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा कि यज्ञोपवीत तो एक वैदिक परिपाटी है, जिसका जाति अथवा मूर्तिपूजा से कोई लेना देना नहीं है। स्वामीजी के इस परामर्श को मान कर चक्रवर्ती ने अपना जनेऊ कभी नहीं उतारा। वे आजीवन इस बात के लिये स्वामीजी के कृतज्ञ रहे कि उन्हीं का मार्गदर्शन प्राप्त कर वे वैदिक मर्यादा के प्रतीक यज्ञोपवीत से विरहित नहीं हुए।

२९ दिसम्बर को चक्रवर्ती के साथ स्वामीजी की उपनिषदों पर चर्चा हुई। सम्भवतः इस प्रसंग में उन्होंने चक्रवर्ती को बताया होगा कि उपनिषदों की मौलिक शिक्षा अद्वैतवाद का समर्थन नहीं करती। कालान्तर में उन्होंने चक्रवर्तीजी को ६ उपनिषदें पढ़ाईं। ३० और ३१ दिसम्बर को अक्षयकुमार दत्त[१०] तथा राजनारायण वसु[११] से महाराज की भेंट हुई। दत्त महाशय ने 'धर्मनीति' तथा 'भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय' (प्रकाशन काल १८७०) नामक ग्रन्थों की रचना की थी। वे ब्रह्मसमाज के प्रमुख नेता, कार्यकर्ता तथा सुधारक थे। राजनारायण वसु ने अपनी 'हिन्दू धर्मेर श्रेष्ठता' (प्रकाशन काल १८७२ ई.) नामक पुस्तक स्वामीजी को भेंट रूप में दी तथा उसका बहुलांश पढ़ कर भी सुनाया। स्वामीजी ने इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में अपनी राय व्यक्त करते हुए कहा कि यदि इसमें पुराणों तथा तंत्रों के उद्धरण नहीं दिये जाते, तो अच्छा होता। निश्चय ही उनकी धारणा थी कि पुराण एवं तंत्र साहित्य भारत के पराभव एवं पतन के युग की कृतियां हैं।

पहली जनवरी १८७३ को केशवचन्द्र के साथ स्वामीजी ने कलकत्ता महानगर के कुछ स्थानों का भ्रमण किया। २ जनवरी को बंगाल गवर्नर की कौंसिल के सदस्य कृष्णदास पाल[१२] स्वामीजी से मिलने आये। उनसे वेद विद्यालय की स्थापना के सम्बन्ध में चर्चा हुई। ३ जनवरी को वे केशव सेन के साथ बादुड़बागान स्थित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के निवास पर भेंट हेतु गये। उस समय विद्यासागर रुग्ण थे। दोनों सुधारकों के बीच विधवा विवाह, नियोग प्रथा, बाल विवाह, वृद्ध विवाह तथा बंगाल में प्रचलित कुलीन प्रथा जैसे सामाजिक विषयों पर वार्तालाप हुआ। यह सर्व विदित है कि ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने विधवा विवाह को वैध ठहराने की दृष्टि से विगत शताब्दी के पांचवें दशक में ही कानून बनवा लिया था। विधवाओं के पुनर्विवाह के समर्थन में उन्होंने शास्त्रीय प्रमाणों को प्रस्तुत कर सामाजिक सुधार को शास्त्रीय आधार दिया था। ४ जनवरी को राजा राजेन्द्रनाथ मलिक के निवास पर एक बैठक आयोजित की गई। इसमें स्वामी दयानन्द के अतिरिक्त महाराजा यतीन्द्रमोहन ठाकुर,[१३] उत्तरपाड़ा के जमींदार जयकृष्ण मुखोपाध्याय, चारुचन्द्र मल्लिक, कृष्णदास पाल, द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तथा भूदेव मुखोपाध्याय[१४] उपस्थित थे। सभा के संयोजक केशवचन्द्र सेन थे। निश्चय हुआ कि यदि गवर्नमेंट संस्कृत कालेज में वेद के अध्यापन की सुविधा न हो तो पृथक् वेद विद्यालय स्थापित करने के लिये उद्योग किया जाना चाहिए। स्मरणीय है कि उन दिनों पंजाब के लेफ्टिनेंट गवर्नर केम्पबेल ने यह प्रस्ताव रक्खा था कि संस्कृत कालेज को बंद कर दिया जाय। इस पर स्वामीजी ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा कि जिस विद्यालय में वेदों की शिक्षा नहीं दी जाती, उसको बंद कर देना ही ठीक है। वे यह भी अनुभव करते थे कि उच्च जातियों के लड़के तो राजभाषा अंग्रेजी तथा फारसी पढ़ते हैं। फिर केवल साधारण वर्ग के लोग ही अपने लड़कों को संस्कृत पढ़ाते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि समाज के धनाढ्य तथा प्रबुद्ध वर्ग के लोग भी अपनी सन्तान को संस्कृत पढ़ायें।

पांच जनवरी को हेमचन्द्र चक्रवर्ती ने उनसे यम, नियम और प्राणायाम की साधना सीखी। इसी दिन केशवचन्द्र सेन तथा राजेन्द्रलाल मित्र[१५] उनसे मिले। मित्र महाशय ने वैदिककालीन इतिहास विषयक जो दृष्टिकोण अपने ग्रन्थों में उपस्थित किया था, स्वामीजी उससे असहमत थे। उन्होंने मित्र महाशय के इतिहास विषयक नवीन दृष्टिकोण की आलोचना की। ८ जनवरी को उनसे भेंट करने वालों में राजनारायण वसु, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तथा रामतनु लाहिड़ी[१६] के नाम उल्लेखनीय हैं। विद्यासागर महाशय से स्वामीजी ने बंगाल में वेद प्रचार करने का अनुरोध किया, परन्तु अपने दुर्बल स्वास्थ्य को ध्यान में रखते हुए उन्होंने इतना ही कहा, 'इस जन्म में नहीं होगा, अगले जन्म में देखा जायगा।'

९ जनवरी को स्वामीजी बंगाल ऐशियाटिक सोसाइटी के कार्यालय में गये। उनके साथ पं. राजकुमार विद्यारत्न थे। यहां से उन्होंने वेदों और उपनिषदों के मूल ग्रन्थ क्रय किये तथा उपपुस्तकालयाध्यक्ष प्रतापचन्द्र घोष से वार्तालाप किया। तत्पश्चात् वे केशवचन्द्र सेन के लिली काटेज नामक निवास स्थान पर गये। यहां उनका संस्कृत में एक व्याख्यान हुआ। कलकत्ते के अनेक विशिष्ट व्यक्ति इस व्याख्यान में उपस्थित थे। केशव सेन तथा अन्य उपस्थित व्यक्ति संस्कृतज्ञ नहीं थे, परन्तु स्वामीजी की संस्कृत इतनी सरल तथा

प्रसाद गुण युक्त होती थी, कि इन लोगों को समझने में कोई कठिनाई नहीं हुई।[१७] अपने भाषण में स्वामीजी ने मूर्तिपूजा तथा प्रचलित जातिप्रथा का खण्डन किया। अद्वैतवाद की आलोचना भी उन्होंने प्रसंगवशात् की तथा विधवा विवाह की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा कि अठारह वर्ष की आयु से पूर्व कन्याओं का विवाह करना उचित नहीं है।

१० जनवरी को स्वामीजी ने रमेशचन्द्र दत्त[१८] से भेंट की। रमेशचन्द्र मित्र[१९] से भी उनका परिचय हुआ। दत्त महाशय ने अंग्रेजी में वेदों का अनुवाद किया था। वे संस्कृतज्ञ थे तथा भारतीय इतिहास के अधिकृत विद्वान् माने जाते थे। स्वामीजी से उनकी इन्हीं विषयों पर आलोचना हुई। दत्त महाशय स्वामीजी के प्रगाढ़ पाण्डित्य को देख कर चकित रह गये। ग्यारह से अठारह जनवरी तक उनसे भेंट करने वालों में डा. महेन्द्रलाल सरकार,[२०] प्रतापचन्द्र मजूमदार[२१] गंगाधर कविराज[२२] आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

इन्हीं दिनों में ब्रह्मसमाज का माघोत्सव मनाया गया।[२३] आदि ब्रह्मसमाज के आचार्य देवेन्द्रनाथ ठाकुर की इच्छा थी कि इस उत्सव पर स्वामीजी को आमंत्रित किया जाय। तदनुसार उन्होंने अपने पुत्र द्विजेन्द्रनाथ को महाराज को लेने के लिये भेजा। स्वामीजी चक्रवर्ती महाशय के साथ जोड़ासाकों स्थित ठाकुरबाड़ी में पधारे। यहां ब्रह्मसमाज के गण्य-मान्य व्यक्तियों की उपस्थिति में स्वामीजी का धर्मोपदेश हुआ। मुख्यतः ब्रह्मसमाज के सिद्धान्तों तथा वेदप्रामाण्य पर चर्चा हुई। देवेन्द्रनाथ के पुत्रों ने इस अवसर पर वेदमंत्रों का मधुर गान किया, जिसे सुन कर स्वामीजी बड़े प्रसन्न हुए।[२४] सायंकाल होने पर ठाकुर महाशय ने उनसे अनुरोध किया[२५] कि वे ठाकुर परिवार के विशाल एवं ऐश्वर्यपूर्ण भवन में ही ठहरें, किन्तु संन्यासी को सांसारिक वैभव से परिपूर्ण प्रासाद में रहना रुचिकर नहीं लगा। फलतः वे सायंकाल के समय स्वस्थान पर लौट आये। २२ से ३० जनवरी की अवधि में विद्यासागर, राजनारायण वसु, अक्षयकुमार दत्त तथा केशवचन्द्र सेन आदि बंगाल के प्रमुख धर्मोपदेष्टा एवं विचारक उनसे भेंट करने हेतु आये।

स्वामी दयानन्द का कलकत्ता आगमन तथा यहां के विभिन्न समाजसुधारकों, धर्मोपदेष्टाओं, शिक्षाविदों तथा देश सेवा में संलग्न पुरुषों से उनका विचार विनिमय अनेक दृष्टियों से नितान्त उपयोगी सिद्ध हुआ। अब तक वे गंगा तटवर्ती प्रदेश पर घूम कर धर्म के प्राचीन किन्तु मौलिक तत्त्वों का ही उपदेश करते रहे थे। समाज और देश के समक्ष उपस्थित समस्याओं को ठीक प्रकार से जानना तथा उनके समाधान का उपाय ढूंढना अब उन्हें आवश्यक प्रतीत हुआ। अब तक तो उनके समक्ष जो विद्वान्, पण्डित तथा धर्म याजक उपस्थित होते थे, उनसे उनका वार्तालाप धर्म, दर्शन तथा अध्यात्म के क्षेत्रों तक ही सीमित रहा था, परन्तु यहां कलकत्ता में सुपठित, सुसंस्कृत तथा उच्च श्रेणी के उन प्रबुद्ध लोगों के समक्ष उन्हें अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करना था, जो पश्चिम की नवीन विचारशृंखला तथा भावधारा से भी सुपरिचित थे। अतः अब दयानन्द के लिये यह और भी आवश्यक हो गया कि वे अपनी चर्चा और आलोचना को धार्मिक विषयों तक ही परिसीमित न करें बल्कि समाज तथा देश के सामने जो ज्वलन्त प्रश्न उपस्थित हैं, उन्हें हल करने के उपायों की भी तलाश करें।

कलकत्ते के प्रबुद्ध समाजसुधारकों में भी उन्हें विभिन्न विचारों तथा भिन्न भिन्न कार्य प्रणालियों को लेकर चलने वाले व्यक्ति दिखाई दिये। एक ओर देवेन्द्रनाथ ठाकुर तथा केशवचन्द्रसेन आदि ब्रह्मसमाजी नेताओं का वर्ग था, जो धार्मिक दृष्टि से विशुद्ध एकेश्वरवाद, निराकर ईश्वरोपासना तथा उपनिषदों पर आधारित अध्यात्मवाद का समर्थक था, तो दूसरी ओर इसी कलकत्ता में परमहंस रामकृष्ण तथा उनके इर्द गिर्द का एक अन्य समुदाय भी था, जो इस बात का हामी था कि हिन्दू धर्म के परम्परागत रूप तथा उसकी बहुदेवोपासना की किसी भी प्रकार से आलोचना किये बिना भी आध्यात्मिक जीवन जिया जा सकता है। जहां समाजसुधारक गण सभी प्रकार के क्रान्तिकारी सुधार कार्यक्रमों के प्रबल समर्थक थे, वहां इसी महानगर में पुरातन पन्थियों का भी एक वर्ग था, जो प्राचीन रीति नीति को किसी भी प्रकार त्यागने के विरुद्ध था।[२६] पश्चिमी शिक्षा से शिक्षित तथा विदेशी भावधारा में दीक्षित नवीन वर्ग के लोग पुरातन आस्थाओं के कट्टर विरोधी थे। वे प्रत्येक उस वस्तु एवं विचार का विरोध करने के लिये तत्पर रहते थे, जो किसी न किसी प्रकार प्राचीनता से जुड़ी हुई हैं। ऐसे लोग रहन सहन, खानपान तथा आचार विचार में पश्चिम की अंधी नकल करके ही अपने को क्रान्तिकारी तथा परम्पराओं का भंजक कहलाने में गर्व महसूस करते थे।

कट्टर रूढ़िवादी तथा पुरातन धारणाओं के समग्र बहिष्कार के पक्षपाती तथाकथित क्रान्तिकारियों से भिन्न गम्भीर विचारकों का एक दल भी उस समय कलकत्ता में निवास करता था। इनमें से अनेक व्यक्ति साहित्य, शिक्षा, समाज तथा राजनैतिक क्षेत्रों में उल्लेखनीय कार्य कर रहे थे। स्वामी दयानन्द की भेंट उपर्युक्त वर्णित सभी प्रकार के लोगों से हुई और अपनी सारग्रहणी बुद्धि के द्वारा उन्होंने इन सभी से धर्म, समाज तथा देश के व्यापक क्षेत्र में कार्य करने की बहुविध प्रेरणायें प्राप्त कीं। एक ओर वे ब्रह्मसमाज के रूप में धर्मसंशोधन, समाजसुधार तथा नवीन विचारों को आत्मसात् करने में संलग्न एक व्यवस्थित संस्था के सिद्धान्तों एवं क्रियाकलापों से परिचित हुए, तो दूसरी ओर उन्होंने ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, भूदेव मुखोपाध्याय, राजेन्द्रलाल मित्र, रमेशचन्द्र दत्त आदि के सम्पर्क में आकर शिक्षा, साहित्य, इतिहास, पुरातत्त्व आदि के विभिन्न क्षेत्रों में किये जाने वाले व्यापक कार्यक्रमों का भी सिंहावलोकन किया। सभी प्रकार से स्वामी दयानन्द का कलकत्ता प्रवास उनकी भावी कार्यप्रणाली को निश्चित करने की दृष्टि से अतीव उपयोगी रहा।

चक्रवर्ती की डायरी के अनुसार स्वामीजी ने ३१ जनवरी १८७३ को मुर्शिदाबाद के लिये प्रस्थान किया। लगभग तीन सप्ताह तक वे राजधानी से बाहर रहे। २१ फरवरी को वे पुनः कलकत्ता लौटे और बालुचर नामक स्थान के एक उद्यानगृह[२७] में एकान्तवास किया। कलकत्ते में उनका छह सप्ताह का निवास विभिन्न व्यक्तियों से भेंट करने, शास्त्र चर्चा करने तथा व्याख्यान आदि देने के कारण पर्याप्त व्यस्त रहा था। २२ फरवरी को एकान्तवास से लौटकर उन्होंने राजधानी में पुनः धर्मप्रचार का कार्य आरम्भ किया। २३ फरवरी[२८] (फाल्गुन कृष्णा दशमी) को केशवचन्द्र सेन के उद्योग से गोराचांद दत्त (गौरचन्द्र दत्त) के निवास पर एक सभा का आयोजन किया गया, जिसमें स्वामी दयानन्द ने ईश्वर

तथा धर्म विषय पर सरल संस्कृत में एक प्रभावपूर्ण भाषण दिया। व्याख्यान लगभग दो घण्टे तक चला, जिसमें वक्ता ने प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—तीनों प्रमाणों के आधार पर ईश्वर की सिद्धि की, तथा मनुस्मृति वर्णित धर्म के दस लक्षणों की विवेचना की।[२९] इसी वक्तृता के प्रसंग में उन्होंने यह भी बताया कि एतद्देशीय लोगों को 'हिन्दू' नाम से पुकारना उनकी अवमानना है, क्योंकि यह नाम इस देश के निवासी आर्यों को विदेशियों ने दिया है। 'हिन्दू' शब्द किसी भी गौरवपूर्ण भावना का द्योतन नहीं करता है। वह हमारे सांस्कृतिक ह्रास की याद दिलाता है। प्रासंगिक रूप में उन्होंने वेदों में बहुदेवतावाद का भी खण्डन किया।

इस सभा में श्रोताओं की संख्या लगभग चार सौ थी, जिनमें गवर्नमेंट संस्कृत कालेज के अनेक छात्र भी मौजूद थे। इसी कालेज के उपाचार्य पं. महेशचन्द न्यायरत्न[३०] ने स्वामी जी के संस्कृत भाषण का बंगला भाषा में अनुवाद श्रोताओं की सुविधा की दृष्टि से किया था, परन्तु किसी प्रसंग में उन्होंने वक्ता के कथन के प्रतिकूल बात श्रोताओं के समक्ष प्रस्तुत कर दी। इस पर संस्कृत कालेज के छात्रों ने आपत्ति उठाते हुए कहा कि जब स्वामीजी ने अपने भाषण के दौरान अमुक बात कही ही नहीं, तो उनके मूल अभिप्राय के विरुद्ध कहना अनुवादकर्ता के लिये कहां तक उचित है। न्यायरत्न को छात्रों की यह आपत्ति बुरी लगी और वे अप्रसन्न होकर चले गये। २४ से २८ फरवरी तक स्वामीजी के व्याख्यान केशवचन्द्र सेन के कोलू टोला स्थित पैतृक निवास, बेहाला स्थित आदिब्रह्मसमाज में तथा खिदिरपुर एवं काशीपुर (कलकत्ता के उपनगर) में भी हुए। इन व्याख्यानों की व्यवस्था भी सेन महाशय ने ही की। एक से ग्यारह मार्च तक वे बेहाला में एकान्तवासी होकर रहे। यदा कदा नगर के प्रतिष्ठित पुरुषों से विचार विनिमय भी होता था।

१३ मार्च को वे लक्ष्मीनारायण गोस्वामी के साथ बंगाल के प्रसिद्ध विद्या केन्द्र नदिया (नवद्वीप) में आये। यह स्थान नव्य न्याय के अध्यपन अध्यापन का प्राचीन केन्द्र रहा है। १५ मार्च को नवद्वीप के बाजार में और १६ मार्च को गंगा के किनारे पर बृहत् सभायें आयोजित की गईं जिनमें स्वामीजी के व्याख्यान हुए। मूर्तिपूजा आदि परम्परागत क्रियाओं और अनुष्ठानों का एक संन्यासी के मुख से तीव्र खण्डन सुन कर जन सामान्य का हैरान हो जाना स्वाभाविक ही था। विरोधी लोगों ने जनता में प्रचलित कर दिया कि जर्मनी का संस्कृतज्ञ पण्डित मैक्समूलर ही हिन्दुओं को ईसाई बनाने के लिये संन्यासी के वेश में यहां आया है। इस प्रचार का परिणाम यह हुआ कि हजारों लोग तो उत्सुकतावश स्वामीजी को देखने के लिये ही सभास्थल पर उमड़ पड़े, परन्तु जब उन्हें वस्तुस्थिति का ज्ञान हुआ, तो विरोधी प्रचार की कलई खुल गई।

१९ मार्च को स्वामीजी नवद्वीप से लौटे। इस यात्रा में हेमचन्द्र चकवर्ती भी उनके साथ रहे थे। २२ मार्च से ३१ मार्च तक उनका वराहनगर (कलकत्ता) में रहने का उल्लेख हेमचन्द्र बाबू ने किया है। चक्रवर्ती के अनुसार उन्होंने यह समय किसी ग्रन्थ के लिखने में लगाया था, परन्तु इस अवधि में उनके द्वारा लिखे गये किसी ग्रन्थ की जानकारी अनुसंधानकर्ताओं को उपलब्ध नहीं है।

उपर्युक्त विवरण से विदित होता है कि भारत की तत्कालीन राजधानी में उन्होंने साढ़े तीन मास तक निवास किया। स्वामी दयानन्द के विचारों तथा कार्यप्रणाली के निर्धारण की दृष्टि से उनका कलकत्ता प्रवास मील के पत्थर के तुल्य समझा जाना चाहिए। यों तो उनके धार्मिक तथा दार्शनिक सिद्धान्त अब तक पूर्णतया स्थिर हो चुके थे, परन्तु स्वयं के द्वारा चलाये जाने वाले धर्मान्दोलन और समाजसंशोधन को आगे वे किस प्रकार संचालित करेंगे, उनकी कार्यशैली कैसी होगी, यह सब स्थिर करने का अवसर उन्हें बंगालयात्रा के उपरान्त ही मिला। ऊपरी दृष्टि से देखें तो विदित होगा कि स्वामीजी ने बंगीय समाज-सुधारकों तथा शिक्षा, पुरातत्त्व, धर्म आदि के क्षेत्रों में कार्य करने वाले विभिन्न विद्वानों, विचारकों तथा नेताओं से निकट सम्पर्क स्थापित कर अपने विचारों को अधिक से अधिक प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करने की विधियों का अध्ययन किया। उनका सर्वाधिक सम्पर्क तथा सौहार्द ब्रह्मसमाज के उदीयमान नेता तथा अंग्रेजी एवं बंगला भाषाओं के प्रखर वक्ता केशवचन्द्र सेन के साथ रहा। केशव ने स्वामीजी के सम्पर्क में आकर क्या कुछ सीखा या ग्रहण किया, यह कहना तो सम्भव नहीं है, किन्तु यह तो निश्चित है कि स्वयं दयानन्द ने ही सेन महाशय के दो उपयोगी सुझावों को स्वीकार कर लिया। केशवचन्द्र सेन तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर दोनों ने ही स्वामीजी को सुझाया था कि जब वे सभाओं में भाषण देने जायें तो मात्र कौपीन ही धारण न करें, अपितु पूरे वस्त्र पहन कर जायें। स्वामीजी ने इस सुझाव को सहर्ष स्वीकार किया।

वार्तालाप के एक प्रसंग में सेन महाशय ने स्वामी से कहा कि यदि उनके जैसा वैदिक विद्वान् अंग्रेजी जानता, तो वे उन्हें अपने साथ इंग्लैण्ड ले जाते, जिससे कि पश्चिमी देशों के निवासियों को स्वामी दयानन्द जैसे अद्वितीय वेदज्ञ के वेद विषयक विचारों को सुनने का अवसर मिलता। स्वामीजी ने इसके उत्तर में स्पष्ट कर दिया कि उन्हें उस बात का थोड़ा भी खेद नहीं है कि उन्हें अंग्रेजी नहीं आती। परन्तु साथ ही केशव सेन के संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ होने पर शोक प्रकट करते हुए कहा कि ब्रह्मसमाज के एक गौरवास्पद नेता के लिये स्वधर्म और स्वसंस्कृति की वाहिका संस्कृत भाषा का न जानना सचमुच खेद की बात है। उनका कहना था कि केशव अपने देशवासियों को उस भाषा में धर्मबोध देते हैं, जिसे अधिकांश देशवासी नहीं समझते। इस स्पष्टोक्ति को सुन कर सेन महाशय हतप्रभ तो हुए, परन्तु उन्होंने इसी प्रसंग में स्वामीजी को एक अन्य व्यावहारिक सुझाव यह कह कर दिया कि अपनी वक्तृताओं में वे संस्कृत के स्थान पर लोकभाषा हिन्दी का प्रयोग करें, क्योंकि जनसाधारण के लिये संस्कृत दुष्कर है, जब कि हिन्दी उनके लिये सुगम है। स्वामीजी ने केशव बाबू के इस सुझाव को सहर्ष स्वीकार कर लिया। महेशचन्द्र न्यायरत्न द्वारा उनके संस्कृत भाषण के गलत अनुवाद के अनुभव ने उन्हें यह निश्चय करा दिया था कि संस्कृत की अपेक्षा हिन्दी का प्रयोग उन्हें जनता के अधिक निकट ले जाने में सहायक होगा।

इस प्रकार प्रचार प्रणाली को अधिक सशक्त, लोकप्रिय तथा प्रभावी बनाने की दृष्टि से उपर्युक्त सुझावों को स्वीकार करने के साथ साथ स्वामीजी ने यह निश्चय किया कि वे अपने विचारों और मन्तव्यों के आधार पर ही अपने भावी कार्यक्रम की रूप रेखा बनायेंगे। उनका आत्मविश्वास तब और बढ़ गया जब उन्होंने देखा कि कलकत्ते का सुधारक वर्ग

यद्यपि धर्म, समाज और देश के सर्वतोमुखी उत्थान के लिये कृतसंकल्प है, किन्तु उनकी वैचारिक विभिन्नताओं तथा दृष्टिकोणों के पार्थक्य ने एक होकर कार्य करने की क्षमता को अवरुद्ध कर दिया है। अब वे और अधिक दृढ़ता से मानने लगे थे कि वेद को आधार बनाकर धर्मसंशोधन का कार्य अधिक सुगमता से हो सकता है, क्योंकि वेदों के प्रति सभी आचार्यों, धर्म-प्रवर्त्तकों तथा सम्प्रदायों की समान आस्था एवं श्रद्धा है। यह दूसरी बात है कि कलकत्ता में उनसे भेंट करने वाले अधिकांश विचारक और चिंतक उनके वेद विषयक विचारों से सहमत नहीं हो सके थे। तथापि देवेन्द्रनाथ ठाकुर आदि ब्राह्मनेता तथा अन्य संस्कृतज्ञ विद्वान् एवं पण्डित इस विचार को ठीक मानते थे कि वैदिक अध्ययन को गति मिलनी चाहिए।

स्वामी दयानन्द के चिन्तन के क्षेत्र में जिस एक अन्य नवीन क्षितिज का उद्भव कलकत्ता में आकर हुआ, वह भी महत्त्वपूर्ण तथा विवेचनीय है। अब तक उनका धर्म विषयक चिंतन परम्परागत वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा तथा वर्तमान में प्रचलित हिन्दू धर्म में विद्यमान बुराइयों को उखाड़ फेंकने तक ही सीमित था। परन्तु कलकत्ता में आकर उन्हें अधिक स्पष्ट रूप से ज्ञात हुआ कि वैदिक धर्म की इस विजय यात्रा को अधिक प्रशस्त बनाना तब सम्भव होगा जब कि हिन्दू धर्म के प्रचलित रूप पर आक्रमण करने वाले ईसाई मत तथा इस्लाम के स्वरूप तथा कार्य प्रणाली को भी भली प्रकार समझ लिया जाय। बंगाल तो प्रारम्भ से ही ईसाई प्रचारकों की गतिविधियों का केन्द्र रहा था। ब्रह्मसमाज के प्रवर्त्तक राजा राममोहनराय ने सर्वप्रथम ईसाईमत के आक्रमणों का न केवल प्रबल प्रतिरोध ही किया था, अपितु वेद और उपनिषदादि ग्रन्थों पर आधारित एकेश्वरवाद एवं निराकारोपासना के प्रतिपादन तथा मूर्तिपूजा आदि पाखण्डों को अस्वीकार कर जनसाधारण पर स्पष्ट कर दिया था कि भारतवर्ष के प्राचीन धर्ममत को मानने वालों के लिये सैमेटिक मतावलम्बियों के समक्ष लज्जित होने का कोई कारण नहीं है। केशवचन्द्र सेन का दृष्टिकोण भिन्न प्रकार का था। वे ईसाइयत में निहित आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों के प्रशंसक बन कर पादरी वर्ग तथा विदेशी शासक वर्ग के प्रशंसाभाजन बनना चाहते थे। स्वामी दयानन्द तत्कालीन ब्रह्मसमाजियों के ईसाइयत विषयक दृष्टिकोण को अंगीकार करने के लिये तत्पर नहीं थे। वे यह अनुभव करने लगे थे कि आगे चल कर उन्हें भी ईसाईमत और इस्लाम के प्रचारअभियान से टक्कर लेनी पड़ेगी। फलतः उन्होंने तुलनात्मक दृष्टि से आर्य धर्म की उत्कृष्टता और श्रेष्ठता को सिद्ध करने की तत्परता दिखाई।

कलकत्ता के सामाजिक सम्पर्क ने समाज सुधार विषयक उनके विचारों तथा चिन्तन को भी नवीन आयाम दिये। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, केशवचन्द्र सेन आदि सुधारकगण बाल-विवाह, अनमेल विवाह आदि का निषेध करते हुए नारी शिक्षण, विधवाविवाह के समर्थन, जातिप्रथा के उन्मूलन जैसे सामाजिक संदर्भों में जिस रूप में संपृक्त थे, उसे देख कर दयानन्द भी इन क्षेत्रों में प्रविष्ट होने की संभावनाओं पर विचार करने लगे। निश्चय ही वैदिक पाठशालाओं की स्थापना कर वे आर्षज्ञान की विलुप्त ज्योति को पुनः प्रदीप्त करने का यत्न कर चुके थे, किन्तु बंगाल में किये जाने वाले शिक्षाविषयक नवीन प्रयोगों को देखकर उन्होंने एतद् विषयक अपनी धारणाओं को अधिक विशद और व्यापक बनाया। आगे चल कर हम देखेंगे कि सत्यार्थप्रकाश आदि स्वरचित ग्रन्थों में उन्होंने जिस पाठ्यक्रम का उल्लेख किया है,

वह शास्त्रों के परम्परागत अध्ययन के साथ साथ गणित, भूगोल, चिकित्सा, गृहविज्ञान, कलाकौशल आदि की शिक्षा पर भी बल देता है।

सर्वोपरि बात तो यह है कि स्वामी दयानन्द ने कलकत्ता के ब्रह्मसमाजियों तथा उनके सभा संस्थानों आदि को देखकर यह निश्चय किया कि संगठित रूप से धर्मप्रचार, कुरीतियों के उन्मूलन तथा देश के समग्र उत्थान के लिये आगे चल कर ब्रह्मसमाज की ही भांति किसी सामाजिक संस्था की नींव डालना अनुपयोगी नहीं होगा। यों तो वे आरा निवास काल में ही एक सभा की स्थापना कर ऐसा प्रयोग कर चुके थे। परन्तु कलकत्ता में ब्रह्मसमाज की रीति-नीति, कार्यप्रणाली आदि को देखकर वे यह अनुभव करने लगे थे कि वेदों को आधार बनाकर पुनर्जागरण के लक्ष्य की पूर्ति के लिये संगठित प्रयास निश्चय ही अभीष्ट फलदायी हो सकता है।

साथ ही ब्रह्मसमाज की पारस्परिक फूट, उसके सैद्धान्तिक मतभेद तथा केशव जैसे मर्यादा का अतिक्रमण कर समाज सुधार के कार्यक्रमों को उतावली से लागू करने वालों ने उन्हें इस बात के लिये भी सावधान कर दिया था कि सुधार कार्यों में अनावश्यक जल्दबाजी करना हानिकारक हो सकता है। तथापि यह निश्चित है कि स्वामी दयानन्द ने कालान्तर में 'आर्यसमाज' के रूप में वैदिक धर्म के पुनरुत्थान, आर्य संस्कृति के पुनर्जागरण तथा भारतदेश की सर्वतोमुखी उन्नति एवं प्रगति की सिद्धि के लिये जिस आन्दोलन का सूत्रपात किया, उसकी रूपरेखा, संगठन का ढ़ांचा, कार्यक्रम तथा प्रचार प्रणाली को बहुत कुछ ब्रह्मसमाज के अनुकरण पर ही तैयार किया गया था।

यहाँ आकर ही उन्होंने अनुभव किया कि प्रचार माध्यम की दृष्टि से सार्वजनिक व्याख्यान प्रणाली तथा ग्रन्थ लेखन को अपनाना अधिक उपयुक्त होगा। अब तक वे बिना किसी पूर्व सूचना के, यत्र तत्र नगरों और ग्रामों में जाते थे। वहां भी धर्म जिज्ञासुजन स्वतः ही उनके निकट आकर धर्मचर्चा में संलग्न हो जाया करते थे। इस प्रकार छोटे छोटे समूहों के समक्ष ही बोलने का अवसर उन्हें अब तक मिला था। यद्यपि शास्त्रार्थों के अवसर पर श्रोताओं तथा दर्शकों का समूह निश्चय ही बढ़ जाता था, परन्तु इस जन वर्ग के अधिकांश लोग वादी और प्रतिवादी की तर्क निपुणता, युक्ति कौशल तथा वक्तृत्व प्रगल्भता को देखने के लिये ही आते थे। वास्तविक तत्त्वजिज्ञासा उनमें शून्य के बराबर होती थी। इसलिये स्वामी दयानन्द ने अनुभव किया कि भविष्य में उनके लिये सार्वजनिक सभाओं का आयोजन कर उनके समक्ष अपने विचारों को प्रस्तुत करना अधिक लाभदायक होगा।

विचारों की सशक्त अभिव्यक्ति के लिये साहित्य प्रणयन के माध्यम को अपनाना भी उन्होंने नितान्त आवश्यक समझा। ब्रह्मसमाज के सभी धर्माचार्य एवं उपदेशक स्वविचारों को प्रकट करने के लिये अंग्रेजी तथा बंगला भाषा में ग्रन्थों की रचना कर रहे थे। बंगाल के युवा वर्ग में केशवचन्द्र सेन के व्याख्यानों को जिस रुचि के साथ सुना जाता था, उसी अभि-रुचि के साथ उनकी रचनाओं को भी पढ़ा जाता था। यों तो 'संध्या' की एक लघु पुस्तक तथा 'भागवत खण्डन' एवं अद्वैतवाद की आलोचनापरक एक अन्य कृति को प्रकाशित करके स्वामी दयानन्द ने लेखन के क्षेत्र में भी प्रवेश कर लिया था, परन्तु अब उन्होंने द्रुत गति से,

अधिक महत्त्वपूर्ण एवं विशद, सिद्धान्तग्रन्थों के लेखन का मन बनाया। जैसा कि हम देखेंगे अगले वर्ष १८७४ में ही उनके द्वारा सत्यार्थप्रकाश जैसी रचना लिखी गई, जो उनके तत्कालीन विचारों की सशक्त अभिव्यक्ति थी।

इस प्रकार कलकत्ता का यह प्रवास अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण, उपयोगी एवं प्रेरणादायक रहा। देश की राजधानी के सुशिक्षित एवं पश्चिमी विचारों से परिचित नागरिक वर्ग ने इस संन्यासी के धर्म, समाज तथा संस्कृति विषयक उदार एवं प्रगतिशील विचारों को तत्परता एवं सहानुभूति के साथ सुना। यह दूसरी बात है कि नगर के परित्याग के तुरन्त पश्चात् ही बंगाल का यह आभिजात्य वर्ग दयानन्द की शिक्षाओं के प्रति पर्याप्त उदासीन सा हो गया। इसके कारणों की मीमांसा तो अप्रासंगिक ही है, किन्तु यह निश्चित है कि स्वयं दयानन्द ने कलकत्ता के प्रबुद्ध समाजसुधारकों, धर्माचार्यों, शिक्षाविदों तथा देशभक्तों को स्वविचारों से पर्याप्त प्रभावित किया। साथ ही उन्हें स्वयं भी इन लोगों के सम्पर्क में आने से अनेक प्रेरणाएं मिलीं, जो उनके कार्य की भावी रीति नीति के निर्धारण में सहायक सिद्ध हुईं।

कुछ अन्य स्फुट प्रसंग

यह उल्लेख मिलता है कि कलकत्ता में ही स्वामी दयानन्द की भेंट प्रख्यात आध्यात्मिक साधक परमहंस रामकृष्ण से हुई थी। स्वामीजी के जीवनीलेखकों ने भेंट का कोई ब्यौरा नहीं दिया और न यही ज्ञात हो सका कि दोनों महापुरुषों के बीच किन विषयों पर वार्तालाप हुआ था। स्वामी दयानन्द यथासम्भव बंगाल के सभी विख्यात पुरुषों से भेंट करने के इच्छुक थे। अतः रामकृष्ण परमहंस से उनकी भेंट हुई थी, यह तो निश्चित है। परमहंस जी के फ्रेंच जीवनीलेखक रौमां रौला ने इस सम्बन्ध में जो विवरण प्रस्तुत किया है वह सर्वथा एकांगी एवं अविश्वसनीय प्रतीत होता है। फ्रेंच लेखक के अनुसार—"दयानन्द के बारे में रामकृष्ण ने अपना यह निर्णय प्रकट किया कि उनका अधिक महत्त्व या मूल्य नहीं है। यह तो स्वीकार करना होगा कि जब इन दोनों व्यक्तियों का मिलन हुआ था, उस समय तक आर्यसमाज की स्थापना नहीं हुई थी और समाजसुधारक दयानन्द अपने कर्मजीवन के मध्याह्न में ही थे। जब रामकृष्ण ने उनकी परीक्षा की तो उन्होंने उनमें बहुत कम शक्ति पाई। इससे उनका अभिप्राय भगवान् के साथ वास्तविक सम्पर्क से था। रामकृष्ण की दृष्टि में दयानन्द स्वयं उत्पीड़ित व्यक्ति थे जो दूसरों को भी उत्पीड़ित करते रहते थे। वेदों के ध्वजवाहक बन कर वे अपने युद्धाभिमुख पौरुष के प्रदर्शन के सदा इच्छुक रहते थे। उनका यह उत्तेजनापूर्ण आग्रह था कि अकेले वे ही सच्चे हैं, और इसलिये उन्हें अपनी इच्छाओं एवं विचारों को अन्यों पर लादने का अधिकार प्राप्त है। रामकृष्ण की दृष्टि में ये सब बातें उनके ध्येय एवं आदर्श पर कालिमा के तुल्य थीं। उन्होंने दयानन्द को रात दिन वाद विवाद करते देखा जो शास्त्रों के अर्थों को स्वेच्छानुसार तोड़ता मरोड़ता है तथा एक अन्य सम्प्रदाय की स्थापना के लिये कटिबद्ध है। परन्तु रामकृष्ण की सम्मति में इस प्रकार की वैयक्तिक एवं लौकिक सफलता की आकांक्षा वास्तविक भगवत्प्रेम को दूषित कर देती है। अतः वे दयानन्द की ओर से शीघ्र ही पराङ्मुख हो गये।"[31]

इससे पूर्व कि रौमां रौला के उपर्युक्त कथन की समीक्षा में कुछ लिखा जाय, यह कह

देना सर्वथा निरापद ही होगा कि रामकृष्ण और दयानन्द की भेंट तथा तत्सम्बन्धी यह व्याख्या परमहंसदेव के शिष्यों की मनःप्रसूत कल्पना ही प्रतीत होती है।[३२] परन्तु रौमां रौला ने इस विवरण के मूल स्रोत का कोई पता नहीं बताया और न उसने रामकृष्ण के दयानन्द विषयक इस मूल्यांकन की गहराई से परख करने की ही आवश्यकता समझी। कहते हैं कि रामकृष्ण ने दयानन्द के वक्ष में विद्यमान लालिमा की परीक्षा करने के अनन्तर यह निर्णय दिया था कि उनमें बहुत कम आध्यात्मिक शक्ति है।[३३] यह आश्चर्य की बात है कि वर्षों तक विधिवत् योग साधना में संलग्न रहने वाले महान् राजयोगी दयानन्द के सम्बन्ध में यह टिप्पणी की जाय। रामकृष्ण स्वयं शास्त्रों से सर्वथा अनभिज्ञ, नितान्त अशिक्षित थे। अतः दयानन्द के शास्त्रार्थों तथा वेद विषयक उनकी धारणाओं के बारे में उनका कोई निष्कर्ष निकालना, उनकी अपात्रता ही सूचित करता है। यह तो और भी हास्यास्पद है कि उन्होंने दयानन्द पर शास्त्रों के अर्थों को तोड़ने मरोड़ने का आक्षेप लगाया। स्वयं शास्त्रों में निष्णात कोई व्यक्ति यदि ऐसा कहता, तो बात समझ में आने लायक थी। किन्तु शास्त्र परिशीलन से सर्वथा असंपृक्त रह कर केवल दक्षिणेश्वर की शक्तिपीठ में तांत्रिक साधना के बल बूते पर कतिपय आध्यात्मिक शक्तियां अर्जित करने वाले परमहंस देव का अपने युग के महान् वैदिक विद्वान् तथा शास्त्र अध्येता के प्रति ऐसे उद्गार प्रकट करना असमीचीन एवं अन्यायपूर्ण ही समझा जायगा। यह आरोप लगाना भी अयुक्त है कि दयानन्द किसी नवीन सम्प्रदाय का प्रवर्तन करना चाहते थे। उन्होंने एकाधिक बार यह स्पष्ट कर दिया था कि किसी नवीन मत या सम्प्रदाय की स्थापना उनका अभीष्ट नहीं है, अपितु वे तो पुरातन वैदिक धर्म की पुनःस्थापना के ही इच्छुक हैं। उनका सम्पूर्ण धर्मान्दोलन वैदिक आदर्शों तथा आर्योचित जीवन पद्धति की पुनः स्थापना के लिये ही प्रवर्तित किया गया था। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि रामकृष्ण परमहंस के अनुयायियों तथा जीवनीलेखकों ने स्वामी दयानन्द विषयक उपर्युक्त प्रसंग की अवतारणा कर उस महापुरुष के प्रति थोड़ा भी न्याय नहीं किया है।

क्या स्वामी दयानन्द की तत्कालीन वायसराय एवं गवर्नर जनरल लार्ड नार्थब्रुक से भेंट हुई थी ?

अम्बाला निवासी दीवान अलखधारी नामक एक सज्जन ने मेरठ कालेज मेरठ की पत्रिका में १९६३ में एक लेख प्रकाशित कराया जिसका शीर्षक था—Dayanand : Political Genius. इसमें उन्होंने स्वामी दयानन्द के १८७३ के कलकत्ता प्रवास के समय की एक घटना का उल्लेख किया जिसके अनुसार स्वामीजी ने भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड नार्थ-ब्रुक से भेंट की थी। लेखक के अनुसार इस भेंट का आयोजन कलकत्ता के लार्ड बिशप ने किया था और दोनों व्यक्तियों का वार्तालाप किसी बिचौलिये (Inter pretor) के माध्यम से हुआ। इस तथाकथित वार्तालाप में वायसराय को स्वामीजी से यह आग्रह करते हुए बताया गया है कि वे अपने भाषणों में अंग्रेजी राज्य के उपकारों का वर्णन किया करें, क्योंकि इसी राज्य में वे निर्भीक होकर अपने धर्म का प्रचार कर रहे हैं। दीवान अलखधारी के अनुसार इसके उत्तर में स्वामीजी ने कहा बताते हैं कि व ऐसी प्रार्थना कदापि नहीं करेंगे। इसके विपरीत वे तो परमात्मा से अहर्निश प्रार्थना करते हैं कि उनके देश को विदेशियों की दासता

से मुक्ति मिल जाय। इसी लेख में आगे लिखा गया कि स्वामी दयानन्द के उक्त कथन को ध्यान में रख कर वायसराय ने उन्हें बाग़ी फकीर (Rebel Fakir) करार दिया तथा उनके सम्बन्ध में गुप्त रिपोर्ट लंदन के इण्डिया आफिस को भेजी। साथ ही गुप्तचर विभाग को निर्देश दिया गया कि वह इस व्यक्ति पर कड़ी निगरानी रक्खे।

आश्चर्य है कि स्वामी दयानन्द के किसी भी पुराने जीवनी लेखक ने इस प्रसंग का कभी उल्लेख नहीं किया। कलकत्ता जैसे विख्यात तथा राजधानी के नगर में यदि सचमुच स्वामीजी की भेंट वायसराय से हुई होती तो उसका उल्लेख तत्कालीन पत्र पत्रिकाओं में अवश्य होता। हेमचन्द्र चक्रवर्ती की जिस डायरी को पं. दीनबंधु वेदशास्त्री ने ढूंढ़ निकाला था, उसमें भी इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु मेरठ कालेज में उपर्युक्त लेख के प्रकाशित होने के उपरान्त अनेक उत्साही लेखकों ने बिना अधिक छानबीन किये, इस प्रसंग को उद्धृत करना आरम्भ कर दिया।[३४] जब स्वयं अलखधारी जी से इस घटना के मूल स्रोत के सम्बन्ध में पूछा गया तो उन्होंने बताया कि गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया के अभिलेखागार से उन्हें यह सूचना १९२१ में प्राप्त हुई थी। आश्चर्य यह है कि एक ओर तो वे यह लिखते हैं कि दयानन्द विषयक गुप्त खरीता लंदन के इण्डिया आफिस को भेजा गया, और दूसरी ओर वे इसकी अवस्थिति भारत सरकार के अभिलेखागार में बताते है। १९२१ में किसी भारतवासी द्वारा सरकारी अभिलेखागार के गुप्त दस्तावेजों को देखना असम्भव ही था।

प्रो. जयदेव आर्य द्वारा लार्ड नार्थब्रुक के प्रसंग के विषय में जब अखलधारी जी से जिज्ञासा की गई, तो उन्होंने अपने १६ फरवरी १९६७ के पत्र में लिखा कि वायसराय से हुई इस भेंट का संकेत पं. लेखराम रचित स्वामी दयानन्द के उर्दू जीवन चरित में मिलता है।[३५] तथ्य यह है कि पं. लेखराम कृत जीवन चरित में ऐसे किसी प्रसंग का उल्लेख नहीं है। दयानन्द के शोधपूर्ण जीवनीलेखक प्रो. बी. के. सिंह[३६] तथा डा. जॉर्डन्स[३७] ने भी वायसराय द्वारा ऐसे किसी खरीते के भेजे जाने का खण्डन किया है।

इन पंक्तियों के लेखक ने अपने एक मित्र पं. ईश्वरनाथ शिवपुरी, जो शोधकार्य हेतु १९७४ में लंदन गये थे, के द्वारा इण्डिया आफिस लाइब्रेरी में लार्ड नार्थब्रुक के इस तथा-कथित डिस्पैच के सम्बन्ध में जब खोज करवाई, तो ज्ञात हुआ कि १८७३ में वायसराय नार्थब्रुक ने ड्यूक ऑफ आरगल को जो आफिशियल डिस्पैच भेजे थे उनमें स्वामी दयानन्द विषयक कोई सूचना नहीं थी। श्री शिवपुरी ने इन सारे खरीतों के एक एक पन्ने को सावधानी से देखा था।[३८] इस नवीनतम जानकारी के आधार पर यह कहना सर्वथा युक्ति-संगत है कि न तो स्वामी दयानन्द की तत्कालीन वायसराय से कलकत्ते में कोई भेंट हुई थी, और न कोई ऐसी गुप्त रिपोर्ट ही लंदन के इण्डिया आफिस को उस समय भेजी गई थी। सम्भावना यह जान पड़ती है कि स्वामीजी की अजमेर में तत्कालीन एजेंट टू दि गर्वनर जनरल कर्नल ब्रुक से जो भेंट हुई थी, उसी का आधार लेकर १८७३ में लार्ड नार्थब्रुक से उनकी भेंट की कल्पना कर ली गई।[३९] ऐतिहासिक शोध का तकाजा है कि बिना पूर्ण अनुसंधान किये मात्र भावुकतावश किसी बात को स्वीकार न किया जाय। उपर्युक्त विवेचन के आधार

पर दीवान अलखधारी द्वारा प्रवर्तित वायसराय से भेंट का यह प्रसंग ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में अपुष्ट ही रह जाता है।[४०]

स्वामी दयानन्द के बंगाल आगमन पर समाचारपत्रों का ध्यान भी उनकी ओर आकृष्ट हुआ। वे यदा कदा उनके कलकत्ता प्रवास के समय के कार्यक्रमों की पर्यालोचना करते तथा महाराज के स्वधर्म एवं स्वजाति के अभ्युत्थान हेतु किये जाने वाले प्रयत्नों की प्रशस्तिपूर्ण टीका भी करते थे। कुछ पत्रों ने वस्तुस्थिति के विपरीत भी लिखा। उदाहरणार्थ, सोमप्रकाश नामक एक पत्र ने अपने २ मार्च १८७३ (फाल्गुन शुक्ला ११.) के अंक में स्वामी दयानन्द की कलकत्ता यात्रा को स्वामी शंकराचार्य की दिग्विजय के तुल्य बताया, परन्तु साथ ही यह शंका भी व्यक्त की, कि क्या ऐसी दिग्विजय यात्रा से वे शंकराचार्य द्वारा अद्वैतमत प्रचारित करने से जो उपकार हुआ है, वैसा कोई लोकहित का कार्य भी सम्पादित कर सकेंगे? इसी के साथ उन्होंने स्वामीजी को पाण्डित्य का प्रदर्शन करने वाला तथा प्रसिद्धि का इच्छुक भी बताया। स्पष्ट ही यह टिप्पणी तथ्यों के विपरीत थी, क्योंकि न तो स्वामीजी अपना पाण्डित्य ही प्रदर्शित करना चाहते थे और न उन्हें ख्याति की ही इच्छा थी। इसके विपरीत वे तो सर्वात्मना वैदिक जीवनप्रणाली को पुनः प्रचारित करना चाहते थे। उनका ध्येय सामाजिक और धार्मिक बुराइयों का उन्मूलन कर एक संगठित एवं शक्तिशाली समाज का निर्माण करना ही था।

'धर्म तत्त्व' नामक पत्र ने १ चैत्र १७९४ शकाब्द के अंक में 'दयानन्द सरस्वती' शीर्षक लेख देकर स्वामी महाराज के व्यक्तित्व तथा विचारों की सम्यक् आलोचना की। उसके अनुसार 'यह एक दिग्गज पण्डित हैं, यह हिन्दू शास्त्र विशारद हैं, संस्कृत भाषा इनके अधिकार में है। विशेष कर इनकी संस्कृत भाषा इतनी प्राञ्जल, श्रुतिमधुर और सरल है कि संस्कृत से अनभिज्ञ पुरुष भी उसे अनायास बहुत कुछ समझ सकते हैं।" पत्र ने आगे लिखा—"पाश्चात्य विज्ञान के आलोक से आलोकित न होने पर भी वह जिस विशद रूप से, उदारता के साथ सारे विषयों को प्रकट करते हैं, उसे देखकर अवाक् होना पड़ता है।....आश्चर्य का विषय है कि वेद के इतने पक्षपाती होते हुए भी वे अद्वैतवादी नहीं हैं। वह वेद के टीकाकार सायणाचार्य को अत्यन्त अग्राह्य कहते हैं।" इस प्रकार स्वामीजी के प्रायः सभी सिद्धान्तों का संक्षेप रूप में वर्णन कर लेखक ने इस आशा के साथ लेख को समाप्त किया है कि इनके द्वारा हिन्दू समाज पुनरुज्जीवित हो सकेगा।

स्वामी दयानन्द प्रदत्त व्याख्यानों की चर्चा भी इन पत्रों में प्रायः होती रहती थी। २ मार्च १८७३ को उनका एक व्याख्यान बराह नगर स्थित बोरन्यो कम्पनी के हाल में 'हवन के लाभ' विषय पर हुआ था। एक सप्ताह पश्चात् ९ मार्च को इसी स्थान के लाइट स्कूल में वैदिक सिद्धान्तों पर उन्होंने एक प्रभावशाली व्याख्यान दिया। इसका विवरण प्रकाशित करते हुए १५ मार्च के दैनिक अंग्रेजी पत्र इण्डियन मिरर ने लिखा था—"व्याख्यान स्थल पर प्रतिष्ठित सम्भ्रान्त पुरुषों की बहुत बड़ी संख्या थी।—व्याख्यान साढ़े तीन बजे प्रारम्भ हुआ। पहले उन्होंने सर्वशक्तिमान् पिता से प्रार्थना की और बड़ी ओजस्विनी और सरल संस्कृत में तीन घण्टे वक्तृता दी।" इण्डियन मिरर के अतिरिक्त ज्ञानेन्द्रलाल राय सम्पादित

बंगला पत्रिका 'पताका', ढ़ाका से प्रकाशित होने वाले पत्र 'हितैषी', नवगोपाल मित्र द्वारा सम्पादित 'नेशनल' तथा ब्राह्मपत्रिका (ब्रह्मसमाज की मुखपत्रिका) ने भी समय समय पर स्वामी दयानन्द विषयक समाचार तथा टिप्पणियां प्रकाशित की थीं।[४१]

सुप्रसिद्ध शिक्षाविद् भूदेव मुखोपाध्याय के साथ स्वामी दयानन्द चैत्र शुक्ला चतुर्थी १९३० वि. तदनुसार १ अप्रैल १८७३ को हुगली पहुंचे। वृन्दावनचन्द्र मण्डल के उद्यान में उनके ठहरने की व्यवस्था की गई। सुप्रसिद्ध बंगाली ईसाई रेवरेंड लालबिहारी दे, जो हुगली कालेज के प्रिंसिपल भी थे, स्वामीजी से भेंट हेतु उपस्थित हुए। वर्णव्यवस्था के औचित्य को लेकर दोनों का वार्तालाप हुआ। २ अप्रैल से ५ अप्रैल तक अनेक लोग स्वामीजी के दर्शनार्थ आते रहे। इस अवधि में उपदेश, प्रश्नोत्तर आदि का कार्यक्रम बराबर चलता रहा। ६ अप्रैल को वृन्दावनचन्द्र मण्डल के उद्यान में ही स्वामीजी की सरल संस्कृत में एक वक्तृता हुई। हुगली के अनेक गण्यमान्य, सुशिक्षित पुरुष इसमें उपस्थित थे। श्रोतृमण्डली में सुप्रसिद्ध बंगला साहित्यकार अक्षयकुमार दत्त भी थे। उन्होंने स्वामी दयानन्द के यशस्वी जीवनीलेखक देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय को इस संस्कृत वक्तृता के सम्बन्ध में लिखा था—"मेरी उपस्थिति में चूचड़ा के मण्डलों के गृह पर पण्डित प्रवर दयानन्द ने एक दिन अपराह्न में एक वक्तृता दी थी। उस समय भट्टपल्ली (भाटपाड़ा) के कई पण्डित उपस्थित थे। दयानन्द की सरल संस्कृत में बोलने की शक्ति को देखकर मैंने मन ही मन सौ बार प्रशंसा की थी। उससे पहले मेरा विश्वास नहीं था कि ऐसी सरल संस्कृत में ऐसे कठिन विषयों की व्याख्या हो सकती है। उनकी प्रचुर भङ्गी से ही अनेकों को उनकी भाषा सहज में ही बोधगम्य हो जाती थी।"[४२]

भाटपाड़ा (भट्टपल्ली) के अनेक पण्डितों ने तो अपने पाण्डित्य के अभिनिवेश को त्याग कर स्वामीजी का व्याख्यान सुना, किन्तु इसी ग्राम के निवासी पं. ताराचरण तर्करत्न अभिमानवश सभा में नहीं आये। स्मरणीय है कि तर्करत्न महाशय काशीराज की सभा के प्रमुख पण्डित थे, तथा काशी शास्त्रार्थ में उन्होंने पौराणिक पण्डित मण्डली के विशिष्ट प्रवक्ता की भूमिका निभाई थी। वृन्दावन मण्डल चाहते थे कि तर्करत्नजी का स्वामीजी से पुनः शास्त्रार्थ कराया जाय। येन केन प्रकारेण उन्हें शास्त्रार्थ के लिये तैयार किया गया और प्रतिमा पूजन पर शास्त्र विचार के लिये चैत्र शुक्ला एकादशी १९३० वि. (८ अप्रैल १८७३) की तिथि निश्चित हुई।

निर्दिष्ट समय पर पं. ताराचरण भाटपाड़ा की पण्डित मण्डली से विभूषित होकर सभा स्थल पर आये। श्रोताओं की अत्यधिक भीड़ थी। पं. भूदेव मुखोपाध्याय की मध्यस्थता में विचार आरम्भ हुआ। आरम्भ में तर्करत्न ने योग दर्शन पर व्यास भाष्य के वचन को पढ़ कर सिद्ध करना चाहा कि चित्त की स्थिरता के लिये स्थूल वस्तु का सहारा चाहिए, और ऐसा स्थूल पदार्थ तो प्रतिमा ही हो सकती है। इस प्रकार पर्याप्त समय तक शास्त्रार्थ चलता रहा। अन्त में तर्करत्न ने कह दिया—'उपासनामात्रमेव भ्रममूलम्।' इस पर भूदेव मुखोपाध्याय यह कह कर उठ खड़े हुए कि आप आये तो प्रतिमापूजन की स्थापना के लिये, किन्तु अब आप स्वयं ही उसका खण्डन करते और उपासना मात्र को ही भ्रममूलक

बताते हैं। स्वामीजी ने भी कहा—श्रीमत्कथनेनैव प्रतिमापूजनविधातो जात एवेति शिष्टा विचारयन्तु। आपके कहने से ही प्रतिमापूजन का खण्डन हो गया।[४३]

जब ताराचरण शास्त्रार्थ से उठ कर उद्यान भवन की ऊपरी मंजिल पर जाने लगे तो स्वामीजी भी उनके साथ उठ गये। दोनों ऊपर पहुंचे। यहां वृन्दावन मण्डल तथा अन्य उपस्थित संभ्रान्त लोगों के समक्ष स्वामीजी ने तर्करत्न से पूछा कि वे ऐसा बखेड़ा क्यों करते फिरते हैं। उनका अभिप्राय था कि यह स्पष्ट जानते हुए भी कि मूर्तिपूजा का विधान वेदोक्त नहीं है, वे पुनः पुनः शास्त्रार्थ में इस मत की स्थापना करने के लिये क्यों तत्पर रहते हैं। इस पर तर्करत्न ने स्पष्ट कह दिया मैं तो काकभाषा (नव्य न्याय) का खण्डन करता हूँ और सत्यशास्त्र पढ़ने तथा पढ़ाने का उपदेश भी करता हूँ, और पाषाणादिक मूर्तिपूजन भी मिथ्या ही जानता हूँ। परन्तु मैं जो सत्य सत्य कहूँ तो मेरी आजीविका नष्ट हो जाये, तथा काशीराज महाराज जो सुनें तो मुझको निकाल बाहर करें। इससे मैं सत्य सत्य नहीं कह सकता हूँ, जैसे कि आप सत्य सत्य कह सकते हैं।[४४] इस प्रकार काशीशास्त्रार्थ के मुख्य प्रवक्ता ने ही यह स्वीकार कर लिया कि मूर्तिपूजा उनकी जीविका के साथ जुड़ी है, अतः उसका स्पष्ट विरोध करना उनके लिये शक्य नहीं है।

हुगली प्रवास में कलकत्ता के एक नवयुवक श्री मन्मथनाथ चौधरी स्वामीजी के साथ थे। पर्याप्त समय तक कलकत्ता तथा हुगली में महाराज के निकट रह कर उन्होंने इस महापुरुष की दिनचर्या एवं जीवन पद्धति को निकट से देखा था। देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय को लिखे अपने विस्तृत पत्र में चौधरी महाशय ने स्वामीजी को अद्वितीय योगी, प्रगल्भ वक्ता अपूर्वशास्त्रज्ञ, स्वतंत्र चेता एवं निस्स्वार्थ देशभक्त कहा है।[४५] हुगली में स्वामीजी का एक अन्य व्याख्यान वर्णभेद पर भी हुआ। उन्होंने वर्णव्यवस्था को गुणकर्म पर आधारित सिद्ध किया तथा अपने समीप बैठे अक्षयचन्द्र सरकार की ओर संकेत करते हुए कहा कि यदि पहले का समय होता तो यह विनीत, शिष्ट और कृतविद्य बाबू अवश्य ही ब्राह्मण वर्ग में परिगणित किया जाता।

इस प्रकार दस दिन तक हुगली में रह कर स्वामीजी बर्दवान चले गये। यहां उसका आतिथ्य राजा बनविहारी कपूर ने किया। वर्दवान में स्वामीजी के प्रवचनों का क्रम तो चला, किन्तु शास्त्रार्थ हेतु कोई पण्डित उपस्थित नहीं हुआ। १७ अप्रैल (वैशाख कृष्णा षष्ठी १९३० वि.) को वे भागलपुर आये और पूर्वपरिचित बाबू पार्वतीचरण के उद्यान में ठहरे। यहां लगभग एक मास तक रहे और १८ मई को पटना पहुंचे। गुलाब बाग में उनके रहने की व्यवस्था हुई। शास्त्रार्थ और शंका समाधान के लिये विज्ञापन प्रकाशित किया गया। मूर्तिपूजा एवं मृतक श्राद्ध खण्डन तथा सृष्टि उत्पत्ति विषय पर उनके दो व्याख्यान हुए। आठ दिवस पटना में रह कर छपरे के लिये प्रस्थान किया। ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी १९३० वि. (२५ मई १८७३) को वे छपरा आये तथा यहां के रईस राय शिवगुलाम शाह के अतिथि रहे। जब स्थानीय पण्डितों ने देखा कि मूर्तिपूजा के घोर विरोधी संन्यासी का आतिथ्य एक धनीमानी व्यक्ति कर रहा है, तो वे लोग ईर्ष्याग्नि में भस्म होने लगे। यहां भी पूर्व नियमानुसार स्वामीजी ने पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिये आहूत किया। इस पर पौराणिक मण्डली ने निश्चय

किया कि प्रथम तो येन केन प्रकारेण दयानन्द को शास्त्रार्थ समर में पराजित किया जाय और यदि यह सम्भव न हो सके तो उन्हें लाठियों से पीटा जाय। जब इस पण्डित समुदाय ने इसी नगर के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् पं. जगन्नाथ को स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिये प्रेरित किया, तो वे बोल उठे—'दयानन्द नास्तिक है, उसका मुख देखना भी पाप है।' जब यह बात स्वामीजी तक पहुंची तो उन्होंने पण्डित जगन्नाथ को कहलाया कि बेशक, आप मेरा मुंह न देखें, पर्दे की ओट से ही शास्त्रार्थ करें। इस पर पं. जगन्नाथ भी निरुपाय हो गये और उन्हें शास्त्रार्थ हेतु आना ही पड़ा। दोनों के बीच एक पर्दा लगा दिया गया। इस प्रकार की विचित्र व्यवस्था के पश्चात् शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। स्वामीजी की प्रखर तर्क शैली तथा उनके प्रमाणपुष्ट कथन के समक्ष पण्डित जी मौन साध गये और उपस्थित जन समूह को यह विश्वास हो गया कि उनका पक्ष कितना दुर्बल है। तत्पश्चात् स्वामीजी ने सरल एवं प्रसाद-गुणपूरित संस्कृत में धारा प्रवाह चार घण्टों तक वैदिक मन्तव्यों का विशद निरूपण किया, जिसे सुनकर श्रोतृवृन्द विस्मय विमुग्ध तथा श्रद्धाभिभूत हुआ। परन्तु जिन विघ्नतोषी पण्डितों ने स्वामीजी के कार्यक्रम में अव्यवस्था फैलाने का निश्चय कर रक्खा थे, वे गुण्डों की सहायता से उपद्रव करने लगे। एक दम शोर और हुल्लड़ मच गया तथा सभा बीच में ही समाप्त करनी पड़ी।[४६]

आषाढ़ कृष्णा प्रतिपदा १९३० वि. (११ जून १८७३ बुधवार) को स्वामीजी आरा पहुंचे। इस बार भी महाराजा डुमरांव की कोठी पर उन्हें ठहराया गया। यहां पं. रुद्रदत्त पौराणिक तथा पं. उमानन्द नामक एक जैन पण्डित से उनका शास्त्र विचार हुआ। एक दिन बाबू रजनीकान्त से जब स्वामीजी का वार्तालाप हो रहा था, तो इस व्यक्ति को यह जान कर आश्चर्य हुआ कि स्वामीजी को वर्तमान प्रचलित कानूनों का भी पर्याप्त ज्ञान है। जिज्ञासा प्रकट करने पर स्वामीजी ने बताया कि लौकिक विषयों की भी उपयोगिता होती है, अतः वे कानून की इन सूक्ष्म बातों से स्वयं को परिचित रखते हैं। एक मास से कुछ अधिक समय तक उनका निवास इस नगर में रहा। इस अवधि में उनकी अनेक वक्तृताएं भी हुईं।

श्रावण शुक्ला द्वितीया सं. १९३० वि., २६ जुलाई शनिवार को स्वामी दयानन्द डुमरांव आये। रेलवे स्टेशन के समीप महाराज डुमरांव की उसी कोठी में ठहरे जहां बंग-यात्रा के लिये जाते समय ठहरे थे। इस बार उनके यहां आने का प्रयोजन महाराजा डुमरांव की सहायता से वैदिक पाठशाला स्थापित करने की सम्भावनाओं का पता लगाना था, परन्तु जब उन्हें ज्ञात हुआ कि ऐसी कोई सहायता मिलना सम्भव नहीं है, तो वे श्रावण पूर्णिमा (८ अगस्त) को मिर्जापुर चले गये। मिर्जापुर में पूर्वपरिचित सेठ रामरतन लड्ढा के बाग में ठहरे। यहां उहोंने वैदिक पाठशाला की स्थापना की थी। पं. ज्वालादत्त को पाठशाला का प्रबंधक तथा मुख्य शिक्षक बनाया गया था। इस बार जब स्वामीजी ने पाठशाला के प्रबध में अव्यवस्था देखी, तो उसे बंद कर देना ही उचित समझा। वैदिक पाठशालाओं की स्थापना में उनका प्रयोजन आर्ष ग्रन्थों के पठनपाठन की प्रणाली को प्रचलित करना था, परन्तु जब उन्होंने देखा कि छात्रों की अपात्रता एवं अध्यापकों की अयोग्यता के कारण उनसे लक्ष्य की पूर्ति होना सम्भव नहीं है, तो उन्होंने पाठशालाओं को बंद कर देने में कोई हानि नहीं समझी।

अनावश्यक रूप से संस्थावाद के चक्कर में पड़ना उन्हें अभीष्ट नहीं था। यहां उनका एक व्याख्यान गवर्नमेंट हाई स्कूल में हुआ ।

मिर्जापुर में ही स्वामीजी ने काशी निवासी पूर्व परिचित पं. जवाहरदास साधु उदासीन को बुलाकर काशी में वैदिक पाठशाला स्थापित करने की प्रेरणा दी। स्वामी दयानन्द के मार्गदर्शन और साधुजी के उद्योग से पौष कृष्णा द्वितीया १९३० वि. को काशी में 'सत्यशास्त्र पाठशाला' की स्थापना हुई। काशी के प्रसिद्ध विद्वान् (कालान्तर में जो महामहोपाध्याय की उपाधि से सम्मानित हुए) पं. शिवकुमार शास्त्री को १५ रु. मासिक पर अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य पढ़ाने के लिये नियुक्त किया गया। जब काशीवासी अन्य पण्डितों ने शास्त्रीजी को मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी इस संन्यासी द्वारा स्थापित पाठशाला में पढ़ाने से विरत करना चाहा, तो उदारमना पं. शिवकुमार से स्पष्ट कह दिया कि मैं तो छात्रों को अष्टाध्यायी और महाभाष्य पढ़ाता हूँ। स्वामीजी क्या मानते हैं और क्या नहीं मानते, इससे मुझे कोई मतलब नहीं है। कुछ समय तक मिर्जापुर ठहर कर स्वामीजी प्रयाग आये। अलोपीबाग में उन्होंने कुछ दिन निवास किया, पुनः कानपुर चले गये।

□□

पाद टिप्पणियां

१. चन्द्रशेखर सेन ब्रह्मसमाज के अनुयायी थे। इन्होंने स्वामी दयानन्द से काशी शास्त्रार्थ के समय भेंट की थी तथा उन्हें कलकत्ता आने के लिये कहा था।

२. हेमचन्द्र चक्रवर्ती की डायरी पर टिप्पणियों के लेखक पं. दीनबंधु वेदशास्त्री ने यह उल्लेख किया है कि वैदिक विद्वान् सत्यव्रत सामश्रमी तथा व्योमेशचन्द्र बनर्जी भी चन्द्रशेखर सेन के साथ स्वामीजी का स्वागत करने हेतु स्टेशन पर उपस्थित थे। सामश्रमी जी तो काशी शास्त्रार्थ में उभयपक्ष सम्मत लेखक के रूप में विद्यमान थे। बनर्जी महाशय भारतीय ईसाई थे जो अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के १८८५ ई. में सम्पन्न हुए प्रथम अधिवेशन के सभापति बने थे।

३. राजा सौरीन्द्रमोहन ठाकुर सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ थे। उनके उद्यान प्रमोद कानन को 'नाइनान' के नाम से भी अभिहित किया जाता था।

४. वेद, बंगाल और दयानन्द—'आर्यसंसार' कलकत्ता में पं. दीनबंधु वेदशास्त्री का लेख।

५. 'दयानन्द प्रसंग' शीर्षक से यह डायरी मूल बंगला में १९५४ ई. में पुस्तकाकार प्रकाशित हुई थी।

६. सांख्य दर्शन १।९२

७. स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में शास्त्रों के जिस पाठ्यक्रम का विधान किया है, वहां भी सांख्यदर्शन पर भागुरिकृत भाष्य को ही पढ़ने की संस्तुति की है। सम्प्रति यह भाष्य अनुपलब्ध है।

८. षड्दर्शन समन्वय के मौलिक सूत्रों को कालान्तर में स्वामीजी ने स्वरचित सत्यार्थ-प्रकाश में प्रस्तुत किया।

९. पं. लेखराम कृत महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवनचरित्र पृ. २३२।

१०. अक्षयकुमार दत्त—(१८२०-१८८६) ब्रह्मसमाज की तत्त्वबोधिनी पत्रिका के सम्पादक तथा सुलेखक। इनकी कृति 'भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय' एच. एच. विल्सन की पुस्तक Hindu Sects पर आधारित है।

११. राजनारायण वसु (१८२६-१८९९) ब्रह्मसमाज के प्रसिद्ध नेता तथा अनेक ग्रन्थों के लेखक। योगी अरविंद के मातामह थे।

१२. कृष्णदासपाल—(१८३८-१८८४) हिन्दू पेट्रियट के सम्पादक तथा कलकत्ता नगर-पालिका क सदस्य।

१३. यतीन्द्रमोहन ठाकुर (१८३१-१९०८) पथुरिया घाट के जमींदार। बंगाल के गवर्नर की कौंसिल के सदस्य थे।

१४. भूदेव मुखोपाध्याय—(१८२४-१८९४) प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री तथा बिहार एवं उत्तर प्रदेश में स्कूलों के इन्सपैक्टर। हिन्दी को शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रयोग करने के प्रबल पक्षपाती थे।

१५. राजा राजेन्द्रलाल मित्र (१८२४-१८९१) रॉयल ऐशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल के अध्यक्ष तथा प्रसिद्ध भारत तत्त्वविद्।

१६ रामतनु लाहिड़ी (१८१३-१८९८) डेविड हेयर तथा डिरोजियो के भक्त, समाजसुधारक तथा पं. ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के सुहृद।

१७. श्रोताओं में से एक श्री नगेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय ने स्वामीजी की सरल संस्कृत शैली के सम्बन्ध में कहा था—"When I first heard Swami Dayanand speaking at the house of Keshab Babu, I became aware of a new thing. I did not know till then that one could speak in Sanskrit so sweet and so easy. He spoke in a style so simple that one who knew even a little of Sanskrit would follow him easily. There was another matter that was a surprise to me. I had never before heard such advanced views on religious and social questions coming from a Sanyasi who knew not a word of English" N. N. Chattopadhyaya quoted in The Life of Swami Dayanand by S. P. Kulyar, P. 97. चट्टोपाध्याय महाशय के लिये स्वामीजी का सरल संस्कृत सम्भाषण तो आश्चर्यकारक था ही, उससे भी अधिक चकित वे इस बात पर थे कि अंग्रेजी भाषा का एक शब्द भी न जानने वाला संन्यासी धार्मिक और सामाजिक विषयों पर इतने प्रगतिशील विचार प्रस्तुत कर रहा है।

१८. रमेशचन्द्र दत्त (१८४८-१९०९) इण्डियन सिविल सर्विस के प्रतिभाशाली अधिकारी। बंगला के प्रसिद्ध लेखक तथा साहित्यकार। कांग्रेस के अध्यक्ष भी रहे।

१९. रमेशचन्द्र मित्र (१८४०-१८९९) कलकत्ता हाईकोर्ट के वकील तथा कालान्तर में उसी न्यायालय के न्यायाधीश।

२०. डा. महेन्द्रलाल सरकार एम. डी., डी. एल. सी. कलकत्ता विश्वविद्यालय के फेलो।

२१. प्रतापचन्द्र मजूमदार (१८४०-१९०५) केशवचन्द्र सेन के अनुयायी, ब्रह्मसमाज की नवविधान शाखा के नेता तथा विश्वधर्मसम्मेलन के शिकागो अधिवेशन में ब्रह्मसमाज के प्रवक्ता।

२२. गंगाधर कविराज (१७९८-१८८५) चरक संहिता के टीकाकार, प्रसिद्ध आयुर्वेदज्ञ।

२३. ब्रह्मसमाज का यह प्रसिद्ध माघोत्सव माघ कृष्णा ८, १९२९ वि. (११ माघ १७९४ शकाब्द) २१ जनवरी १८७३ को मनाया गया था। इसका विवरण आदिब्रह्मसमाज की मुखपत्रिका तत्त्वबोधिनी (फाल्गुन १७९४ शकाब्द) में प्रकाशित हुआ था।

२४. पं. दीनबंधु वेदशास्त्री द्वारा संकलित विवरण के अनुसार महर्षि देवेन्द्रनाथ के पुत्र महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने स्वामी दयानन्द विषयक संस्मरणों को इस प्रकार प्रस्तुत किया था—"स्वामी दयानन्द सरस्वती ब्रह्मसमाज के माघोत्सव पर हमारे घर में आये थे। ब्रह्मसमाज के करीब सभी नेता उस समय हमारे घर पर उपस्थित थे। मेरे पिताजी ने स्वामीजी का बहुत ही स्वागत सत्कार करके ऊपर तल्ले के घर (कमरे) में बिठाया था। स्वामीजी के उज्ज्वल चक्षु, सहास्य मुख, तेजोमय वार्तालाप, सरल और मधुर आचरण से सभी लोग मुग्ध हो गये थे। हम सभी भाइयों ने उनका पादस्पर्श करके प्रणाम किया था। उन्होंने हम सबको आशीर्वाद दिया। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, अक्षय कुमार दत्त, राजनारायण वसु और हेमचन्द्र चक्रवर्ती आदि से उनकी वेद और ब्रह्मसमाज विषयक आलोचना हुई थी। पिताजी के आदेशानुसार हम कई भाइयों ने मिश्रित कण्ठों से वेद और उपनिषदों के मंत्र पढ़ कर स्वामीजी को सुनाये थे। स्वामीजी इससे बहुत प्रसन्न हुए थे। स्वामीजी ने हमारे घर में केवल एक गिलास दूध पिया था।" बंगाल और महर्षि दयानन्द—आर्यमित्र ७ जुलाई १९६३ ई. का अंक।

परन्तु महाकवि ने २१ फरवरी १९३५ को डी. ए. वी. कालेज लाहौर के विद्यार्थियों को सम्बोधित करते हुए स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में जो कुछ कहा, वह उपर्युक्त विवरण से किन्हीं अंशों में भिन्न है। उस अवसर पर उन्होंने कहा था—"He (Tagore) had only heard that Dayanand was a great scholar who gave non-idolator's interpretation of the Vedas. He was anxious to see that great scholar...His brothers were constantly discussing with him the meaning of the Vedas and the deeper significance of the Aryan Culture. He sat at his own corner. He was very young. But the magnificient presence of the great Dayanand produced a very deep effect upon his mind. Dayanand's face was beaming with strength and brightness. He embodied a spirit of immence strength and intelligence. This was all that he (The poet) felt after knowing him fully. That memory, said the poet, is still cherished in our family and our hearts." The Tribune : Lahore. 23 Feb. 1935. P. 16

२५. ऋषिकल्प देवेन्द्रनाथ ठाकुर के प्रति स्वामी दयानन्द के हृदय में असीम आदर एवं अनुराग का भाव था। प्रमोदकानन वाटिका (स्वामीजी का कलकत्ता निवास के समय का डेरा) में देवेन्द्रनाथ ठाकुर तथा केशवचन्द्र सेन के चित्र लगे हुए थे। स्वामीजी ने ठाकुर महाशय के सौम्य मुखमण्डल को देख कर कहा था—इनका स्वाभाविक अनुराग ऋषि श्रेणी की ओर है।

२६. वाचस्पत्यभिधान कोष के रचयिता तारानाथ तर्कवाचस्पति इसी वर्ग के थे। पं. लेखराम के अनुसार तर्कवाचस्पति महाशय भी स्वामीजी से मिले थे तथा उनसे अनेक विषयों पर वार्तालाप किया था।

२७. यह उद्यान थानसिंह नामक एक जैन का था।

२८. पं. घासीराम संगृहीत जीवन चरित में इस व्याख्यान की तिथि २३ मार्च (१३ फाल्गुन १७९४ शकाब्द) अंकित की गई है। हमें पं. लेखराम द्वारा निर्दिष्ट २३ फरवरी ही सही प्रतीत होती है क्योंकि २२ फरवरी के इण्डियन मिरर में इस सभा की अग्रिम सूचना प्रकाशित हुई है तथा हेमचन्द्र की डायरी से भी इसकी पुष्टि होती है।

२९. इस विवेचना के प्रसंग में वक्ता ने मनुस्मृति में वर्णित धर्म के दस लक्षणों के अतिरिक्त 'अहिंसा' को ग्यारहवें लक्षण के रूप में वर्णित किया। एकादश लक्षणात्मक धर्म का प्रतिपादन स्वामीजी की मौलिक ऊहा थी। इस व्याख्यान का विवरण देते हुए 'आचार्य केशवदेव' नामक ग्रन्थ के लेखक ने भी संकेत दिया है कि वक्ता ने धर्म का एकत्व वर्णन करते हुए उसके ग्यारह लक्षण दिखाये थे। १८७५ ई. में पुणे नगर में दिये गये अपने 'धर्माधर्म' शीर्षक तृतीय व्याख्यान में भी स्वामीजी ने इसी एकादश लक्षणान्वित धर्म का विवेचन किया था।

३०. महेशचन्द्र न्यायरत्न (१८३८-१९०५) संस्कृत कालेज, कलकत्ता के उपाचार्य तथा भारत सरकार द्वारा महामहोपाध्याय उपाधि प्राप्त करने वाले प्रथम विद्वान्।

३१. The Life of Ramakrishna : By Romain Rolland. P. 163-164 Advaita Ashrama, Almora-1954.

३२. रामकृष्ण परमहंस के एक शिष्य महेन्द्रनाथ गुप्त ने अपने ग्रन्थ 'रामकृष्ण वचनामृत' में उपर्युक्त प्रसंग का उल्लेख किया है, परन्तु स्वामी दयानन्द के किसी भी जीवनी लेखक ने इसकी पुष्टि नहीं की। स्वयं बंगाली लेखक देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने भी रामकृष्ण द्वारा स्वामी दयानन्द के विषय में की गई ऐसी किसी टिप्पणी का उल्लेख नहीं किया है।

३३. वक्षस्थल की लालिमा ही आध्यात्मिक शक्ति का मापदण्ड होता है, यह योग शास्त्र में कहीं उल्लिखित नहीं है।

३४. सर्वप्रथम स्व. पं. रामगोपाल शास्त्री ने 'आर्यसमाज की राष्ट्रीय विचारधारा' शीर्षक पुस्तक में इस काल्पनिक प्रसंग को उद्धृत किया। पुनः उन्हीं के अनुकरण पर वासुदेव वर्मा ने '१८५७ और स्वामी दयानन्द' तथा पिण्डीदास शास्त्री ने '१८५७ के स्वातन्त्र्य संग्राम में महर्षि दयानन्द का क्रियात्मक योगदान' तथा कुछ अन्य लेखकों ने भी स्वरचित ग्रन्थों में इस घटना का उल्लेख किया।

३५. प्रो. जयदेव आर्य के नाम लिखा गया यह पत्र १० सितम्बर १९७२ के 'आर्यमर्यादा' में प्रकाशित हुआ है।

३६. स्वामी दयानन्द पृ. १३९ नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित १९७० ई.

३७. डा. जॉर्डन्स ने एक वार्तालाप के दौरान इन पंक्तियों के लेखक से यह चर्चा की थी।

३८. द्रष्टव्य—वायसराय का डिस्पैच और ऋषि दयानन्द—'परोपकारी' अजमेर, अगस्त १९७४ ई. का सम्पादकीय।

३९. वायसराय लार्ड नार्थब्रुक तथा कर्नल ब्रुक के नाम में किंचित् साम्य होने के कारण इस सम्भावना को बल मिलता है।

४०. कलकत्ता में वायसराय लार्ड नार्थब्रुक से भेंट का प्रसंग एक अन्य कारण से भी कल्पित प्रतीत होता है। जब १८७५ ई. में स्वामी दयानन्द बम्बई गये हुए थे, उस समय प्रिंस ऑफ वेल्स (कालान्तर में सप्तम एडवर्ड के नाम से ब्रिटिश सम्राट्) के भारत आगमन पर उनका स्वागत करने हेतु लार्ड नार्थब्रुक भी बम्बई आये थे। कलकत्ता से केशवचन्द्र सेन ने बम्बई निवासी श्री आत्माराम पाण्डुरंग को पत्र लिखा कि वे वायसराय और स्वामीजी की भेंट की व्यवस्था करायें। इस पर आर्यसमाज बम्बई के प्रथम प्रधान गिरधरलाल दयालदास कोठारी ने स्वामीजी से निवेदन किया कि यदि वे चाहें तो वायसराय से उनकी भेंट की व्यवस्था की जा सकती है। स्वामी दयानन्द की इस प्रस्ताव पर जो प्रतिक्रिया रही, वह कुछ इस प्रकार थी—"लार्ड नार्थब्रुक तो हमारे पास आयेंगे नहीं और हम भी संन्यासी हैं, हम भी उनसे मिलने नहीं जायेंगे। एक मध्यस्थ स्थान नियत करो जहाँ दोनों का मिलन हो सके।" स्पष्ट है कि जो संन्यासी आर्य-समाज की स्थापना होने के पश्चात् भी विदेशी सत्ता के प्रतिनिधि से मिलने के लिये तैयार नहीं था, वह भला १८७३ में उनसे भेंट हेतु क्यों उत्सुक होता? अन्ततः यह मुलाकात नहीं हो सकी। द्रष्टव्य—महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवनचरित—भाग-२ (पृ. ३७०) पं. घासीराम कृत।

४१. द्रष्टव्य—स्वामी दयानन्द—तत्कालीन समाचारपत्रों के संदर्भ—(२) परोपकारी अप्रैल १९७६ में प्रकाशित डा. भवानीलाल भारतीय का लेख।

४२. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित भाग १, पृ. २७०—पं. घासीराम कृत।

४३. हुगली के इस शास्त्रार्थ का विस्तृत विवरण भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'प्रतिमापूजन विचार' शीर्षक से १९३० वि. (१८७३ ई.) में ही लाइट प्रेस बनारस से मुद्रित कराकर प्रकाशित किया था। यह आश्चर्य की बात है कि १८७० में जिन हरिश्चन्द्र ने 'दूषण मालिका' जैसी पुस्तक लिखकर स्वामी दयानन्द पर अनर्गल आक्षेप वृष्टि की थी, अब वे ही तीन वर्ष पश्चात् प्रतिमा पूजन का निषेधपरक शास्त्रार्थ प्रकाशित करते हैं। विशेष द्रष्टव्य—दयानन्द शास्त्रार्थ संग्रह (सम्पादक डा. भवानीलाल भारतीय) का प्रकरण 'शास्त्रार्थ हुगली'—प्रकाशक रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ (द्वितीय संस्करण १९८२ ई.)

४४. द्रष्टव्य— प्रतिमापूजनविचार—खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर पटना से प्रकाशित १८८८ ई. का द्वितीय संस्करण।

४५. यह पत्र मन्मथनाथ चौधरी ने १९०० वि. में स्वामीजी की मृत्यु के सत्रह वर्ष पश्चात् लिखा था। वर्द्धमान में स्वामीजी से विलग होकर मन्मथ बाबू १८७३ ई. में ही दरबार हाई स्कूल जोधपुर के मुख्याध्यापक पद पर चले गये थे। मूल पत्र के लिये देखें पं. घासीराम कृत महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित भाग. १, पृ. २७४-२७५

४६. द्रष्टव्य—बिहार दर्पण मई १८७३ ई., सम्पादकीय टिप्पणी।

अतिरिक्त टिप्पणियां--

१. उपर्युक्त पादटिप्पणियों में संख्या १० से २२ तक बंगाल के जिन व्यक्तियों के जन्म एवं निधन की तिथियाँ अंकित की गई हैं, उनका आधार पं. दीनबंधु वेदशास्त्री द्वारा लिखी गई 'दयानन्द प्रसंग'—(हेमचन्द्र चक्रवर्ती की डायरी) की टीका है। यह सामग्री उक्त वेदशास्त्रीजी के 'आर्य संसार' कलकत्ता में प्रकाशित 'वेद, बंगाल और दयानन्द' शीर्षक लेखमाला से संगृहीत की गई है। इन तिथियों की सत्यता-असत्यता के लिये उक्त लेखक ही उत्तरदायी हैं।

२. डा, जे. टी. एफ. जॉर्डन्स ने अपनी पुस्तक—'दयानन्द सरस्वती : जीवन और विचार' के चतुर्थ अध्याय—Calcutta : A Cauldron of New Ideas में इस बात पर अत्यधिक जोर दिया है कि स्वामी दयानन्द रचित सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण देवेन्द्रनाथ ठाकुर रचित 'ब्राह्मधर्म' से वैचारिक साम्य रखता है। उनके निष्कर्ष हैं कि निश्चय ही स्वामीजी ठाकुर महाशय की 'ब्राह्मधर्म' में निबद्ध विचारधारा से प्रभावित हुए हैं। यह तो सत्य है कि कलकत्ता प्रवास के समय उन्हें ठाकुर महाशय रचित 'ब्राह्मधर्म' का परिचय मिला था, और उन्होंने कहा था कि जब इस ग्रन्थ में बहुशः उपनिषदों के ही प्रमाण संकलित किये गये हैं तो इसे 'उपनिषदों की व्याख्या' कहना अधिक समीचीन होगा। परन्तु यह निष्कर्ष निकालना दूरगामी ही है कि स्वामी दयानन्द की सत्यार्थ-प्रकाश में प्रतिपादित विचारधारा बहुलांश में 'ब्राह्मधर्म' से साम्य रखती है। तथापि उक्त विद्वान् द्वारा किया गया यह तुलनात्मक अध्ययन पर्याप्त रोचक है।

□□

पुनः पश्चिमोत्तर (वर्तमान उत्तरप्रदेश) प्रदेश में

कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी १९३० वि. (१० अक्टूबर १८७३) सोमवार को स्वामी दयानन्द कानपुर आये और टूकाघाट पर उनके निवास की व्यवस्था हुई। फूलचंद मक्खनलाल की कोठी में एक व्याख्यान हुआ जिसमें उन्होंने पितृयज्ञ के शास्त्रगर्भित अर्थ को स्पष्ट करते हुए जीवित माता, पिता, आचार्य आदि गुरुजनों की सेवा को ही वास्तविक श्राद्ध तथा तर्पण सिद्ध किया। उन्होंने यह भी बताया कि वेदों में विभिन्न वैज्ञानिक सिद्धान्त व्यवस्थित रूप से वर्णित हुए हैं। इस धारणा की पुष्टि में उन्होंने यजुर्वेद के मंत्र ३।६ को प्रस्तुत कर सिद्ध किया कि पृथ्वी की गति एवं भ्रमण विषयक खगोल शास्त्रीय सिद्धान्त यहां उल्लिखित हुआ है।[1] स्वामीजी के कुछ भक्तों की इच्छा थी कि उनके व्याख्यान परेड के मैदान में हों, किन्तु सुलतान अहमद कोतवाल की दुरभिसंधि के कारण यह सम्भव नहीं हो सका। यद्यपि व्याख्यान के लिये नगर दण्डनायक डेनियल साहब का आदेश प्राप्त कर लिया गया था, किन्तु पं प्रयागनारायण[2] तथा पुलिस कोतवाल के सम्मिलित षड्यंत्र से इस आयोजन को विफल कर दिया गया। हुआ यह कि ज्यों ही महाराज ने व्याख्यान वेदी पर आकर मंत्रोच्चारण आरम्भ किया, एक ओर से एक पण्डित तथा दूसरी ओर से एक मौलवी जोर जोर से बोलने लगे। व्याख्यान में व्यवधान पड़ गया। इस व्यवस्था के भंग हो जाने पर स्वामीजी ने 'ईश्वर सिद्धि' विषयक एक व्याख्यान शिवप्रसाद के राजगद्दी हाल में दिया। उनका एक अन्य व्याख्यान इंगलिश थियेटर हाल में 'आर्यावर्त की इदानींतन अवस्था' पर हुआ। शेष १०-१२ व्याख्यान बाबू क्षेत्रनाथ घोष सब-जज के बंगले पर हुए।

हम यह देख चुके हैं कि स्वामीजी के बंगाली भक्त श्री हेमचन्द्र चक्रवर्ती ने कलकत्ता निवास काल में ही उनसे उपनिषदों का अध्ययन आरम्भ किया था। इस बार वे अपने उस अध्ययन को पूरा करने के लिये कलकत्ता से कानपुर आये और स्वामी सेवा में रह कर इसे पूर्ण किया। चक्रवर्ती महाशय निरन्तर श्री महाराज के सम्पर्क में रहे थे, अतः उन्होंने स्वामी जी की दिनचर्या को निकट से देखा था। उन्होंने बताया कि टूकाघाट स्थित एक कुटिया में बिछी पर्ण शय्या ही महाराज का बिछौना थी। प्रचण्ड शीत में भी द्वन्द्व सहिष्णु दयानन्द इसी तृण शैय्या पर ही सोते थे। प्रातः नित्य कृत्यों से निवृत्त होकर वे चक्रवर्ती को उपनिषदों का पाठ पढ़ाते। पुनः स्नान के लिये सूर्याभिमुख होकर गंगा में तैरते हुए बहुत दूर तक चले जाते। भोजन के पूर्व बलिवैश्वदेव यज्ञ के विधानानुसार कुत्ते, कव्वे आदि को रोटी डालते। रात्रि को योगासनारूढ़ होकर पर्याप्त समय तक ध्यानावस्थित रहते। गर्म वस्त्रों का उपयोग नहीं करते।

लाला गजाधरप्रसाद के अनुरोध पर वे मार्गशीर्ष कृष्णा चतुर्दशी (१० नवम्बर १८७३) को लखनऊ आये और उन्हीं की कोठी पर ठहरे। लालाजी से शिव के तथाकथित ज्योतिर्लिंगों पर बात हुई तो महाराज ने विदग्ध शैली में पूछा—क्या शिव का ज्योतिर्लिंग

अंधकार में प्रकाश कर सकता है ? यदि नहीं तो उसे ज्योतिर्लिंग कहना ही निरर्थक है। लालाजी बेचारे इसका क्या उत्तर देते ?

कैनिंग कालेज लखनऊ के प्राच्यविद्या विभाग के अध्यक्ष पं. गंगाधर शास्त्री से स्वामीजी का शास्त्रार्थ मार्गशीर्ष अमावस्या को मूर्तिपूजा विषय पर हुआ। शास्त्रार्थ को सुनने के लिये सैकड़ों की संख्या में लोग उपस्थित थे। स्वामीजी ने स्वमत समर्थन में एक वेद मंत्र प्रस्तुत किया परन्तु शास्त्रीजी ने उसका भिन्न प्रकार से अर्थ करते हुए कहा कि कलकत्ता से प्रकाशित वेद की अमुक पुस्तक में यही अर्थ लिखा हुआ है। इससे पूर्व कि स्वामी दयानन्द को शास्त्रीजी द्वारा किये गये अर्थ पर आक्षेप करने का अवसर दिया जाता, शास्त्रार्थ सभा भंग हो गई और यह घोषित कर दिया गया कि स्वामीजी पराजित हो गये हैं। शास्त्रार्थ के दूसरे दिन लाला गजाधरप्रसाद ने पं. गंगाधर शास्त्री को पुरस्कृत किया तथा नगर में उनकी विजय की घोषणा करा दी गई। शास्त्रार्थ की वास्तविकता को जानने के लिये जब देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने गंगाधर शास्त्री से सम्पर्क किया तो उन्हें बताया गया कि ऋग्वेद के मंत्र 'निषुसीद गणपते'[४] को शास्त्रीजी ने गणपति के आवाहन के प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया था। शास्त्रीजी भला यह कब स्वीकार करने लगे कि शास्त्रार्थ में धांधली उनकी ही ओर से हुई थी, किन्तु उन्हीं के एक साथी श्री केदारनाथ चट्टोपाध्याय ने एक विस्तृत पत्र में मुखोपाध्याय महाशय को बताया कि वास्तव में इस शास्त्रार्थ में बहुत गोलमाल हुआ था, और स्वामीजी का उत्तर सुने बिना ही गंगाधर शास्त्री सभा को त्याग कर चले गये थे।

लखनऊ से स्वामीजी कानपुर आये और उसी दिन सायंकाल रवाना होकर मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा १९३० वि. (२१ नवम्बर) को फर्रूखाबाद पहुंचे। यह यात्रा घोड़ागाड़ी में की गई थी। उनके साथ चक्रवर्ती महाशय भी थे। जैसा कि हम देख चुके हैं, स्वामी दयानन्द का वैचारिक धरातल दिन प्रतिदिन विस्तृत होता जा रहा था। धर्मशोधन के साथ साथ देश की आर्थिक दुरवस्था को दूर करने तथा समाज में व्याप्त नाना बुराइयों की ओर जन साधारण का ध्यान आकृष्ट करना वे अपना कर्त्तव्य समझते थे। फर्रूखाबाद में राजकीय हाई स्कूल के भवन की आधारशिला रखने के लिये पश्चिमोत्तर प्रदेश के गवर्नर म्योर साहब तथा प्रान्तीय शिक्षा विभाग के निदेशक कैम्पसन का आगमन उसी समय हुआ, जब कि स्वामी जी इस नगर में विराज रहे थे। इन दोनों राज्याधिकारियों से मिल कर स्वामीजी ने देश हित के अनेक विषयों पर चर्चा की, तथा विशेषरूप से आग्रह किया कि जब उन्हें इंग्लैण्ड जाने का अवसर मिले तो वे भारत मंत्री से भेंट कर उन्हें गोवध बंद करने की प्रेरणा करें। म्योर साहब ने उन्हें आश्वस्त किया और इस विषय में समुचित कदम उठाने का वचन भी दिया।

एक दिन वृन्दावन निवासी प्रसिद्ध हिन्दी लेखक पं. राधाचरण गोस्वामी, पं. गंगादत्त तथा सेठ निर्भयराम स्वामी से भेंट करने आये और कुछ मिष्टान्न प्रस्तुत किया। यह पूछने पर कि मिठाई लाने का क्या प्रयोजन है, सेठजी ने बताया कि उनके पुत्र के विवाह के उपलक्ष्य में जो व्यञ्जन बने थे, वे ही उपहार रूप में उनकी सेवा में प्रस्तुत किये गये हैं। इस पर स्वामी जी ने विवाह आदि सामाजिक उत्सवों में अपव्यय को अनुचित बताया और कहा कि अकर्मण्य भोजनभट्ट ब्राह्मणों को खिलाने से किसी प्रकार का पुण्यार्जन नहीं होता। पुनः विनोद भाव से

कहा, हाँ पुलिस वालों को खिलाने से अवश्य फल होता है, क्योंकि वे आपके घर की रक्षा तो करते हैं।

स्वार्थी लोगों ने स्वामीजी के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के निंदात्मक प्रवाद प्रचलित कर रक्खे थे। यह प्रसिद्ध किया गया कि यह संन्यासी ईसाइयों का वेतनभोगी प्रचारक है, जो हिन्दुओं को उनके मत एवं विश्वासों से विचलित करने के लिये प्रयत्नशील है। अनेक लोग तो इस प्रकार की अफवाहों के शिकार होकर स्वामीजी के दर्शनों से ही वंचित रह जाते थे। पं. विश्वेश्वरदयालु शास्त्री नामक एक सुपठित ब्राह्मण तो इसी बात का निश्चय करने के लिये कि क्या सचमुच ही दयानन्द ईसाइयों के एजेंट हैं, उनसे भेंट हेतु अर्धरात्रि के समय आये। उस समय महाराज ध्यानावस्थित थे। स्वामीजी ने समाधि भंग होने पर जब इस समय आने का कारण पूछा, तो शास्त्रीजी ने कहा कि कारण तो बाद में बताऊंगा। वे पहले उनके प्रश्नों का समाधान श्रुतियों और स्मृतियों के आधार पर करें। स्वामीजी से अपने प्रश्नों का समुचित उत्तर पाकर और यह जान कर कि यह संन्यासी वैदिक धर्म के प्रचार हेतु कृत-संकल्प हैं, तथा च, इनका ईसाइयत से किसी प्रकार का लगाव नहीं है, शास्त्रीजी का समाधान हो गया। अब उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि हमें आपके बारे में गलत सूचनाएं दी गईं और बताया गया कि आप ईसाई पादरियों के गुप्तचर हैं।

फर्रूखाबाद में हेमचन्द्र चक्रवर्ती ने स्वामीजी से पूछा कि बड़े बड़े विद्वान् आपके समीप शास्त्रार्थ हेतु आते हैं तथा मूर्तिपूजा का समर्थन करते हैं। क्या ये सभी गलत हैं। उत्तर में स्वामीजी ने स्पष्ट किया कि सत्यासत्य का विवेक तो थोड़े लोगों को ही होता है। अधिकांश तो मूर्तिपूजा को अपनी आजीविका का साधन समझते हैं, अतः उनके लिये इसका त्याग करना कठिन ही है।

पौष कृष्णा ६ सं. १९३० वि,, १० दिसम्बर को स्वामीजी ने कासगंज के लिये प्रस्थान किया। कासगंज पहुंच कर स्वामीजी ने पूर्व स्थापित वैदिक पाठशाला का निरीक्षण किया तथा व्यवस्था सम्बन्धी त्रुटियों को दूर किया। यहाँ दस दिन तक उनका निवास रहा। पश्चात् पौष शु. प्रतिपदा (२० दिसम्बर) को छलेसर आये। यहां भी पाठशाला में ही ठहरे और उसके प्रबंध में समुचित परिवर्तन किया। अलीगढ़ के डिप्टी कलेक्टर राजा जयकृष्णदास से उनकी प्रथम भेंट यहीं हुई। आगे चल कर हम देखेंगे कि राजा साहब का ही अनुरोध स्वीकार कर स्वामीजी ने अपने प्रमुख सिद्धान्त ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' की रचना की थी। राजा साहब ने स्वामीजी को अलीगढ़ आने के लिये आमंत्रित किया था। अतः २६ दिसम्बर को गजारूढ़ होकर उन्होंने अलीगढ़ के लिये प्रस्थान किया। साथ में ठाकुर मुकुन्दसिंह अपने कतिपय क्षत्रिय साथियों सहित अश्वारूढ़ होकर चले। अलीगढ़ में अचल तालाब पर चाऊलाल की आम्रवाटिका में उनका डेरा कराया गया। आतिथ्य का भार राजा साहब ने उठाया। इसी वाटिका में उनका प्रथम व्याख्यान २७ दिसम्बर को हुआ जिसे बड़ी संख्या में लोगों ने सुना। स्थानीय संस्कृत पाठशाला के अध्यापक पं. मिहिरचन्द्र ने स्वामीजी के आगमन से पूर्व बार बार यह घोषणा की थी कि वे दयानन्द के आने पर उससे शास्त्रार्थ करेंगे, परन्तु जब महाराज का आगमन हो गया, तो पण्डित जी कतराने लगे। जब स्वामीजी को इस बात का

पता लगा, तो उन्होंने पं. मिहिरचन्द्र को सादर शास्त्रार्थ हेतु आमंत्रित किया। पण्डितजी यह कह टालने लगे कि मूर्तिपूजा के विरोधी व्यक्ति का तो मुख देखना भी पाप है, फिर भला ऐसे व्यक्ति से शास्त्रचर्चा कैसे की जा सकती है ? स्वामीजी ने तुरन्त कहलवाया—आप शास्त्रार्थ तो कीजिये, मुख न देखना चाहें, तो अपने और मेरे बीच में एक पर्दा डाल दिया जायगा।

स्वामी महाराज के विनोदी स्वभाव के अनेक उदाहरण अलीगढ़ प्रवास के समय भी लोगों के समक्ष आये। एक दिन एक पण्डित जी आये और काफी ऊंचे चबूतरे पर बैठ कर शास्त्र चर्चा करने लगे। स्वामीजी का आसन नीचे फर्श पर था। लोगों ने उसे समझाया कि यदि सर्वपूज्य संन्यासी से शास्त्र विचार ही करना है तो विनम्रतापूर्वक नीचे आकर बैठें। स्वामीजी ने अहंकारी पण्डित के इस आचरण का कुछ भी बुरा नहीं माना। इतना ही कहा "ऊपर बैठने से ही कोई व्यक्ति बड़ा नहीं होता। वृक्ष पर बैठा कौआ तो पण्डित जी से भी ऊंचा बैठा है।" एक विजया सेवी साधु आंखे लाल किये हुए महाराज के निकट आया और उद्दण्डतापूर्ण वार्तालाप करने लगा। उस समय नगर के गण्यमान्य व्यक्ति स्वामीजी के निकट बैठे थे। स्वामीजी ने साधु के गले में पड़े रुद्राक्ष को देख कर विनोदपूर्ण स्वर में कहा, अरे साधुजी, आप तो शिवजी के नेत्रों को ही निकाल लाये। वह मूर्ख व्यक्ति स्वामीजी की विनोद वार्ता को कुछ भी समझ नहीं सका।

मुरादाबाद के मुन्शी इन्द्रमणि भी स्वामीजी से भेंट हेतु अलीगढ़ आये तथा जीव के अनादित्व पर चर्चा करते रहे। स्वामी दयानन्द स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग के प्रबल पक्षपाती थे। उनका यह दृढ़ विचार था कि देश का सर्वांगीण उत्थान तभी सम्भव है, जब स्वदेश के कला कौशल और उद्योगों को उन्नत बनाया जायगा। स्वदेशी वाणिज्य व्यवसाय को भी प्रगति तभी मिल सकती है, जब इस देश के लोग विदेशों में बनी वस्तुओं के प्रयोग के मोह को त्यागें और स्वदेशी के व्रत को धारण करें। यह ध्यातव्य है कि उन्नीसवीं शताब्दी में स्वदेशी वस्तुओं के प्रति ऐसी निष्ठा व्यक्त करना एक अपूर्व बात थी। उस समय विदेशी माल से भारत के बाजार भरे हुए थे और स्वदेशी कलाकौशल का ह्रास हो रहा था। जब स्वामी दयानन्द के दर्शनार्थ ठाकुर भूपालसिंह के पुत्र उधोसिंह उपस्थित हुए तो उनके शरीर पर विदेशों में बने वस्त्र सुशोभित हो रहे थे। इस पर स्वामीजी ने कोमल शब्दों में उनका तिरस्कार करते हुए कहा कि भारतवासियों को स्वदेशी वस्त्रों का ही व्यवहार करना चाहिए। ऐसा करने से ही हम अपने कारीगरों और उद्यमियों की आजीविका को बचा सकेंगे।

स्वामीजी का सभी सम्प्रदायों एवं वर्गों के लोगों से पूर्ण सौहार्द भाव था। मुस्लिम नव जागरण के अग्रदूत और कालान्तर में ऐंग्लो मुहम्मडन कालेज के संस्थापक सैयद अहमद खां (कालान्तर में 'सर' उपाधि प्राप्त) भी स्वामीजी से भेंट करने आये। उस समय महाराज पत्र लेखन में व्यस्त थे, अतः सैयद महाशय को सत्कार पूर्वक आसन देकर वे स्वकार्य में लग गये। पुनः जब पत्र लिखने का कार्य समाप्त हो गया तो उन्होंने प्रेमपूर्वक सैयद अहमद खां से वार्तालाप किया। सैयद साहब स्वामीजी की देशोद्धार तथा स्वदेश को उन्नत बनाने के सभी कार्यक्रमों से सहमत थे। उन्होंने स्वामीजी द्वारा एकेश्वरवाद के प्रतिपादन तथा जड़ोपासना के विरोध का भी प्रशंसापूर्ण उल्लेख किया, परन्तु हवन के लाभों के प्रति वे अपने आपको

आश्वस्त नहीं कर सके थे। उन्होंने स्वामीजी के समक्ष शंका प्रस्तुत करते हुए कहा कि अग्नि में स्वल्प मात्रा में सुगंधित द्रव्यों को डालने से विस्तृत वायुमण्डल कैसे शुद्ध हो जाता है? इस पर स्वामीजी ने उन्हें समझाया कि जिस प्रकार हांडी भरी दाल को घृत मिश्रित जीरे या हींग का थोड़ा सा बघार भी सुवासित बना देता है, उसी प्रकार अग्नि में हुत थोड़े से द्रव्य भी सूक्ष्म रूप धारण कर वायुमण्डल में सर्वत्र फैल जाते हैं और उनसे वातावरण का शोधन होता है। सैयद साहब स्वामीजी की इस युक्ति के कायल हो गये।

२२ जनवरी १८७४ को स्वामीजी हाथरस आये। इस नगर में यह उनका द्वितीय बार का आगमन था। प्रथम बार दण्डी विरजानन्द की सेवा में मथुरा जाते हुए हाथरस आये थे। उस समय वे सर्वथा अप्रसिद्ध, विद्यापिपासु के रूप में इधर से निकले थे, परन्तु आज देशवासी उन्हें विख्यात धर्मप्रचारक एवं पुरातन मान्यताओं के कट्टर आलोचक के रूप में जानने लगे हैं। सेठ विष्णुदयाल की वाटिका में उनका निवास हुआ। इस प्रवास में वे मृतकश्राद्ध खण्डन पर केवल एक व्याख्यान ही दे सके। यद्यपि पुराण मतावलम्बी स्वामीजी के आगमन से प्रसन्न नहीं थे, परन्तु उनका विरोध भी व्यर्थ सिद्ध हुआ। पांच दिन हाथरस में रह कर स्वामीजी मथुरा आये।

मथुरा नगरी वही है जिसमें लगभग तेरह वर्ष पूर्व दयानन्द एक अन्तेवासी के रूप में आये थे तथा प्रज्ञाचक्षु गुरु के चरणों में बैठ कर उन्होंने वैदिक एवं आर्ष शास्त्रों के रहस्यों का ज्ञान प्राप्त किया था। आज वे एक विख्यात धर्माचार्य तथा शास्त्रों के अपूर्व व्याख्याता के रूप में पुनः इस नगर में आये हैं। राजा उदितनारायणसिंह रईस ने स्वामीजी के आतिथ्य की व्यवस्था की। इस बार स्वामीजी वृन्दावन जाकर वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य रंगाचार्य से शास्त्रार्थ करने के लिये उत्सुक थे। फलतः मथुरा के डिप्टी कलेक्टर पं. देवीप्रसाद द्वारा वृन्दावन में चुंगी के महकमे के बख्शी महबूब मसीह के नाम एक पत्र लेकर वे फाल्गुन शुक्ला एकादशी (२७ फरवरी १८७४) को वृन्दावन पहुंचे। रंगाचार्य को शास्त्रार्थ के लिये आहूत करने का एक विशिष्ट कारण भी था। मथुरा की पाठशाला में जब स्वामी दयानन्द अध्ययन कर रहे थे तो उनके एक सहाध्यायी पं. गंगादत्त थे।[५] उन्होंने अपने इसी सहपाठी से फर्रूखाबाद की वैदिक पाठशाला में अध्यापन करने का अनुरोध किया। जब मथुरा के चतुर्वेदी समाज में यह समाचार फैला कि पं. गंगादत्त (जो स्वयं चौबे थे) स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित पाठशाला में अध्यापक बन कर जा रहे हैं, तो उसकी कड़ी प्रतिक्रिया हुई। पं. गंगादत्त को नाना प्रकार की धमकियां दी गईं और कहा गया कि यदि वे फर्रूखाबाद की पाठशाला का कार्य स्वीकार करेंगे तो उन्हें जातिच्युत कर दिया जायगा। पं. गंगादत्त बड़े धर्मसंकट में पड़े। उन्होंने स्वामीजी को पत्र लिख कर सूचित कर दिया कि जब तक वे स्वयं आकर मथुरा एवं वृन्दावन रूपी मूर्तिपूजा के दृढ़ दुर्ग को ध्वस्त नहीं करेंगे, तब तक उनका फर्रूखाबाद आना सम्भव नहीं है। फलतः स्वामीजी को मथुरा पहुंचते ही वृन्दावन का कार्यक्रम बनाना पड़ा।

वृन्दावन स्थित रंगजी के मंदिर के महन्त रंगाचार्य पौराणिक मत के प्रबल पोषक थे।[६] स्वामीजी ने सर्वप्रथम उन्हीं से शास्त्रार्थ करने का विचार किया। फाल्गुन मास में

वृन्दावन नाना उत्सवों और पर्वों के कारण एक विचित्र शोभा धारण कर लेता है। उस अवसर पर रथयात्रा का समारोह मनाया जाता है, जिसे ब्रह्मोत्सव भी कहते हैं। इस अवसर पर सहस्रों नर नारी एकत्र होते है। मंदिरों को नाना भांति से सजाया जाता है। होली के दो दिन पश्चात् चैत्र कृष्णा द्वितीया से स्वामीजी ने मूर्तिपूजा, तिलक, कण्ठी धारण, अवतार-वाद आदि पौराणिक विश्वासों का अपने व्याख्यानों में खण्डन करना आरम्भ किया। कुल दस व्याख्यान हुए जिनमें वैष्णवों के प्रमुख सम्प्रदायों के बाह्याचारों तथा पाखण्डपूर्ण क्रिया-काण्डों की युक्ति पूर्ण समीक्षा की गई। रंगाचार्य ने प्रथम तो यह संदेश कहलाया कि ब्रह्मोत्सव का मेला समाप्त होने पर वह शास्त्रार्थ करने के लिये उद्यत है, किन्तु उत्सव की समाप्ति के पश्चात् भी वह शास्त्रार्थ के लिये नहीं आया। पं. लेखराम ने स्वरचित जीवन चरित में लिखा है कि बीमारी का बहाना बना कर रंगचार्य शास्त्रार्थ के संग्राम में नहीं उतरा, किन्तु देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय अनुसंधान के पश्चात् इस निर्णय पर पहुंचे थे कि वस्तुतः उन दिनों रंगाचार्य रुग्ण हो गये थे। स्वामीजी के वृन्दावन से चले जाने के एक मास पश्चात् ही उनका देहान्त भी हो गया। कुछ भी हो। रंगाचार्य यदि शास्त्रार्थ के लिये उपस्थित भी हुए होते, तो उसका परिणाम उनके अनुकूल नहीं होता। जैसा कि उन्होंने स्वयं एक व्यक्ति से कहा था—'शास्त्रार्थ से हमें क्या लाभ ? यदि दयानन्द हार गये, तो उस साधु का क्या बिगड़ेगा ? यदि हम हार गये तो वैष्णव समुदाय में हमारी प्रतिष्ठा नष्ट हो जायगी।'

मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में स्वामीजी के विचार नितान्त स्पष्ट, प्रखर तथा दृढ़ थे। अपने सहपाठी पं. उदयप्रकाश के यह परामर्श देने पर कि वे मूर्तिपूजा का खण्डन करना छोड़ दें, महाराज ने बिना किसी लाग लपेट के कहा कि यदि यह आचार असत्य और अलीक है, तो इसका खण्डन होना ही चाहिए। मध्यकालीन वैरागियों, गोसाइयों तथा विभिन्न सम्प्रदायाचार्यों ने इसी पाखण्ड को प्रश्रय देकर देश और समाज की प्रगति को अवरुद्ध कर रक्खा है। अतः मूर्तिपूजा को किसी भी रूप में सहन करना, प्रगति और उन्नति के मार्ग में रुकावट डालना है। राधारमण मंदिर के आचार्य गोस्वामी सखालाल तथा ग्वालियर नरेश के गुरु ब्रह्मचारी गिरिधरदास ने भी स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने की चर्चा चलाई, परन्तु यह योजना क्रियान्वित नहीं हुई। स्वामी दयानन्द की अनन्य क्षमाशीलता के दृष्टान्त इस से पूर्व भी आ चुके हैं। मुन्शी हरगोविन्द नामक एक झगड़ालू किस्म के कट्टरपंथी ने स्वामी जी के शरीर पर मिट्टी उछल दी, परन्तु सम्मान और असम्मान को तुल्य समझने वाले संन्यासी ने इसका कुछ भी बुरा नहीं माना।

पं. राधाचरण गोस्वामी वृन्दावन के गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के प्रमुख व्यक्ति थे। कालान्तर में वे हिन्दी के प्रमुख लेखक तथा पत्रकार के रूप में प्रसिद्ध हुए। यद्यपि कुल परम्परा से वे वैष्णव मतावलम्बी थे, किन्तु स्वामी दयानन्द के देशभक्तिपूर्ण भावों तथा प्रगतिशील विचारों के प्रति उनके मन में अत्यन्त आदर भाव था। स्वामीजी के सम्पर्क में आने का यह परिणाम निकला कि गोस्वामीजी बालविवाह के विरोधी, विधवाविवाह के समर्थक तथा हिन्दू समाज में प्रचलित अन्यान्य कुरीतियों के कट्टर टीकाकार बन गये। जिस समय स्वामीजी का वृन्दावन में आगमन हुआ उस समय राधाचरण गोस्वामी की आयु केवल

१५ वर्ष की ही थी, परन्तु स्वामीजी के सम्पर्क में आने पर वैष्णवगद्दीधारी महन्त के इस किशोर पुत्र में आशातीत वैचारिक परिवर्तन आया। स्वामीजी ने गोस्वामीजी को अपने द्वारा मान्य प्रामाणिक ग्रन्थों की एक सूची दी और कहा कि ये सभी ग्रन्थ अलवर के राजकीय पुस्तकालय में हैं। उन्होंने यह भी कहा था कि संस्कृत ग्रन्थों का जैसा अपूर्व संग्रह अलवर के राजकीय ग्रन्थागार में है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा। स्वामीजी ने गोस्वामीजी के समक्ष यह भी विचार व्यक्त किया था कि रंगजी के मंदिर में विष्णु प्रतिमा के स्थान पर वैदिक पाठशाला की प्रतिष्ठापना होनी चाहिए और यह भी कि मंदिर की प्रचुर आय का उपयोग वैदिक ज्ञान के प्रसार में होना उचित है। स्वामीजी ने किशोर राधाचरण को काशी की वैदिक पाठशाला में जाकर वेदाध्ययन करने की प्रेरणा दी परन्तु स्वयं गोस्वामीजी के ही शब्दों में—'हम बचपन से ही काव्य के रसिक थे और जानते थे कि वैदिक पाठशाला में काव्य के अध्ययन करने की कोई गुंजाइश नहीं है। अतः हमने उनके इस सुझाव को अस्वीकार कर दिया।'

इस प्रकार कृष्ण भक्ति तथा वैष्णव आस्थाओं के दुर्ग वृन्दावन में अपनी विजय वैजयन्ती फहरा कर स्वामीजी चैत्र कृष्णा एकादशी, १४ मार्च १८७४ शनिवार को मथुरा लौटे। इस बार वे गोस्वामी पुरुषोत्तमदास के बलदेवबाग में ठहरे। अपने सहपाठी पं. गंगादत्त के माध्यम से उन्होंने मथुरा के पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा परन्तु प्रगल्भ संन्यासी के समक्ष आने का साहस कोई भी विद्वान् नहीं जुटा सका। एक दिन जब स्वामी महाराज का व्याख्यान चल रहा था, तो कुछ धूर्त लोगों ने एक कसाई तथा एक मदिरा विक्रेता को बहका कर व्याख्यान स्थल पर भेजा। उन्होंने शोरगुल मचाते हुए कहा कि व्याख्यान बाद में होगा, पहले हमारा हिसाब तो चुकता कर दो। स्वामीजी इनकी शरारत को समझ गये। वे तुरन्त बोले—व्याख्यान के पश्चात् तुम्हारा हिसाब भी कर देंगे। और इसके पश्चात् व्याख्यान को समाप्त कर प्रचण्ड शक्तिसम्पन्न संन्यासी ने एक हाथ से एक की, और दूसरे से दूसरे की चुटिया पकड़ कर कहा, बोलो तुम्हारे कितने दाम बाकी हैं? जब कलार और कसाई ने देखा कि अब तो यह बाबा हमारे सिर परस्पर टकरा कर ही मानेगा, तो उन्होंने क्षमायाचना पूर्वक कहा कि अमुक व्यक्ति ने उन्हें बहका कर ऐसा कहने के लिये भेजा था। दयानन्द की दयालुता और क्षमाशीलता इस प्रसंग में भी चरितार्थ हुई जब उन्होंने इन दोनों को छोड़ दिया।

स्वामीजी की दृढ़ सिद्धान्त निष्ठा, कथनी और करनी में समानता तथा प्रोज्ज्वल व्यक्तित्व का ही यह परिणाम था कि लोग उनके उपदेशों की सत्यता को स्वीकार कर तदनुकूल आचरण करने में संकोच नहीं करते थे। मूर्तिपूजा के खण्डन में उनका युक्ति प्रवाह, तर्क सरणि और अजस्र भाव से बहता वाक् निर्झर इतना प्रभाव पूर्ण होता था कि वर्षों से इस कर्म का अनुष्ठान करने वाले व्यक्ति भी उससे विरत हो जाते। ८० वर्षीय मदनदत्त पाण्डे ने स्वामीजी के विचारों से प्रभावित होकर मूर्तिपूजा तथा सम्प्रदायवाद के विरुद्ध अपने विचार सबके समक्ष प्रकट किये। इसी प्रकार एक अन्य ब्रह्मचारी ने अपनी शालिग्राम शिला के सिंहासन को यमुना में प्रवाहित कर दिया। ये घटनाएं इस बात का प्रमाण हैं कि

स्वामी दयानन्द का पाखण्ड खण्डन अत्यधिक तीव्र तथा हृदयवेधी होता था, तथा उसमें लोगों को प्रभावित करने की अपूर्व क्षमता थी।

जिस दिन स्वामीजी को मथुरा से प्रस्थान करना था, उसी दिन वहां के डिप्टी कलेक्टर पं. देवीप्रसाद ने उन्हें सूचित किया कि वे एक दिन के लिये रुक जायें, क्योंकि मथुरावासी पण्डितों ने उनसे शास्त्रार्थ करने का मानस बना रक्खा है। स्वामीजी उनके इस सुझाव को स्वीकार कर रुक गये, परन्तु देखते क्या हैं कि चौबों का एक समुदाय हाथों में लाठियां लिये हुए, अपशब्दों की वर्षा करता हुआ, उनके निवास स्थान की ओर आ रहा है। यदि ठाकुर भूपालसिंह तथा कर्णवास के अन्य उपस्थित ठाकुर लोग उस समय उपद्रवियों को नहीं रोकते, तो कोई बड़ा अनर्थ हो जाता। वस्तुतः मथुरा के भोजन भट्ट चौबों का शास्त्रार्थ से क्या लेना देना था ? वे तो मूर्तिपूजा विरोधी संन्यासी को एक सबक सिखाना चाहते थे।

मुरसान के राजा टीकमसिंह स्वामीजी के अनन्य भक्त थे। उनके विशेष अनुरोध पर स्वामीजी चैत्र शुक्ला द्वितीया १९३१ वि. (३० मार्च) के दिन मुरसान पहुंचे। ठाकुर गुरुप्रसाद नामक एक जमींदार ने पं. अंगदराम शास्त्री की सहायता से यजुर्वेद के महीधर भाष्य का हिन्दी अनुवाद किया था, तथा इसकी चर्चा भी उन्होंने स्वामीजी से अलीगढ़ में की थी। इस समय जब कि स्वामीजी मुरसान आये, तो राजा टीकमसिंह ने उक्त ठाकुर को कहलवाया कि उनके यजुर्वेद भाषानुवाद के सम्बन्ध में विचार करने का यह उत्तम अवसर है, वे आयें और स्वामीजी से शास्त्र विचार करें। ठाकुर गुरुप्रसाद अपने साथ सैंकड़ों व्यक्तियों की भीड़ लेकर आये, किन्तु स्वामीजी से भेंट करने की अपेक्षा उनके निवास के बाहर खड़े होकर अत्यन्त आवेश और उत्तेजना के साथ आत्मश्लाघापूर्ण बातें ही करते रहे। अन्त तक उनका साहस नहीं हुआ कि स्वामीजी के सम्मुख आकर वे स्वरचित ग्रन्थ पर चर्चा करते। राजा टीकमसिंह ने आदरपूर्वक अपनी फिटन में सवार करा कर स्वामीजी को हाथरस जंकशन पहुंचाया, जहाँ से वे रेल मार्ग से प्रयाग होते हुए मई १८७४ में काशी आये।

काशी में उनका यह पांचवीं बार का आगमन था। इस बार वे रामप्रसाद उदासीन के उद्यान में वे ठहरे। पं. जवाहरदास उदासीन जब महाराज से मिलने आये तो उन्होंने अनुभव किया कि स्वामीजी के व्यक्तित्व तथा कार्य प्रणाली में भी पर्याप्त परिवर्तन आया है। इससे पहले वे शरीर पर मात्र कौपीन ही धारण करते थे, जब कि इस बार उन्हें उत्तरीय तथा शिरोवस्त्र (पगड़ी) धारण किये हुए देखा। अब तक वे संस्कृत माध्यम से ही अपने विचार प्रकट करते थे, किन्तु अब तो हिन्दी बोलने का उन्होंने अभ्यास करना आरम्भ कर दिया था। स्वामीजी के प्रचार तंत्र में भी परिवर्तन आ गया था। अब वे व्याख्यानों तथा ग्रंथ लेखन के द्वारा अपने विचारों को प्रसारित करना चाहते थे। उदासीनजी यह सब देख कर चकराये। बोले, महाराज आपकी तो प्रथम अवस्था ही अच्छी थी। इस पर स्वामीजी ने समाधान कारक शब्दों में कहा कि समाज के विभिन्न वर्गों को उन्हें सम्बोधित करना होता है। केवल पण्डित वर्ग से ही उनका सम्बन्ध नहीं है। अतः सर्व साधारण के समझ में आने वाली भाषा का प्रयोग आवश्यक है। काशी में ही उनका हिन्दी में प्रथम

व्याख्यान हुआ। इस भाषा पर अब तक वे पूर्ण अधिकार नहीं कर सके थे, तथा उन्हें हिन्दी बोलने का उतना अभ्यास भी नहीं था। इसलिए व्याख्यान के प्रसंग में वाक्य के वाक्य संस्कृत के निकल जाते। जन साधारण तो बड़ी संख्या में उनका यह व्याख्यान सुनने आये किन्तु पण्डित वर्ग ने उपेक्षा ही दिखलाई।

काशी की वैदिक पाठशाला स्वामी दयानन्द की प्रेरणा से साधु जवाहरदास ने स्थापित कर दी थी। इस बार उसमें वैदिक विषयों का अध्यापन आरम्भ किया गया। पं. गणेश श्रोत्रिय की वेद के अध्यापक पद पर नियुक्ति हुई। केदार घाट पर स्थापित इस पाठशाला को उठा कर अब दशाश्वमेध घाट पर लाया गया। पाठशाला विषयक सूचनाएं तत्कालीन पत्रों में भी प्रकाशित हुई थीं।[८] परन्तु ऐसा विदित होता है कि अन्य पाठशालाओं की ही भांति यह पाठशाला भी दीर्घजीवी नहीं हुई और फरवरी १८७५ में उसे बंद कर देना पड़ा।

इस बार के काशी निवास काल में राजा जयकृष्णदास की प्रेरणा से स्वामीजी ने अपने विचारों को पुस्तक रूप देने का निश्चय किया। यह राजा साहब का ही आग्रह और अनुरोध था कि स्वामीजी यदि अपने मन्तव्यों और सिद्धान्तों को ग्रन्थ रूप में लिपि बद्ध कर दें तो उससे अधिकाधिक लोग लाभान्वित हो सकेंगे। इसी तथ्य को अनुभव कर स्वामीजी ने राजा साहब द्वारा नियुक्त महाराष्ट्रीय पं. चन्द्रशेखर को अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश लिखाना आरम्भ किया। यह कार्य १२ जून १८७४ को आरम्भ हुआ। ऐसा अनुमान होता है कि ग्रन्थ को पूरा होने में अढ़ाई मास का समय लगा। अन्ततः राजा जयकृष्णदास के द्रव्य से ही सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण १८७५ ई. में मुन्शी हरवंशलाल के स्टार प्रेस में मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ।[९]

सत्यार्थप्रकाश का यह प्रथम संस्करण अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसमें लेखक के कुछ ऐसे प्रगतिशील विचार भी निबद्ध हुए हैं, जो उसकी दूरदर्शिता तथा व्यापक दृष्टि के परिचायक हैं। उदाहरणार्थ, नमक पर अंग्रेजी सरकार द्वारा कर लगाये जाने तथा बनों से प्राप्त होने वाले ईंधन पर शुल्क लगाने को स्वामीजी ने देश की दरिद्र जनता पर बोझ बताया।[१०] साथ ही उन्होंने न्यायालयों के बढ़ते खर्च को देख कर यह भी अनुभव किया कि दरिद्र लोगों को न्याय मिलने में भी कठिनाई हो गई है, क्योंकि कोर्ट फीस आदि के रूप में उन्हें बहुत अधिक धन देना पड़ता है। वस्तुतः देश की ज्वलन्त आर्थिक समास्याओं की ओर लेखक का ध्यान जाना उसकी क्रान्तदर्शिता का ही परिचायक है।

बहुत कुछ सावधानी रखने पर भी सत्यार्थप्रकाश का यह प्रथम संस्करण लेखक को पूर्ण सन्तोष नहीं दे सका। इसके कई कारण थे। प्रथम तो स्वामी दयानन्द का हिन्दी भाषा पर पूर्ण अधिकार अभी तक नहीं हो सका था। फलतः वाक्य रचना तथा परिष्कार के लिये उन्हें लिपि कर्ता पं. चन्द्रशेखर पर ही निर्भर रहना पड़ा। परिणाम स्वरूप इस संस्करण की भाषा उबाने वाली, पंडिताऊपन से युक्त तथा बोझिल सी है। यदि हम भाषा और शैली की बात को छोड़ भी दें, तो एक अन्य बिन्दु की ओर हमारा ध्यान जाता है। जैसा कि हम देख चुके हैं, स्वामीजी ने यह ग्रन्थ स्वहस्त से न लिख कर लेखक को बोल बोल कर लिखवाया

था। इसका मुद्रण और प्रकाशन भी स्वामीजी की देख रेख में नहीं हुआ। अतः लिपिकर्ता के प्रमाद से तो अनेक भूलें रही हीं, स्वामीजी के अभीष्ट के प्रतिकूल अनेक अवैदिक तथा मिथ्या सिद्धान्त भी लेखक की धूर्तता अथवा अन्य किसी कारण से इसमें प्रविष्ट करा दिये गये। उदाहरणार्थ मृतक श्राद्ध, जिसका कि स्वामीजी प्रारम्भ से ही खण्डन करते आ रहे थे, इस ग्रन्थ में आवश्यक कर्त्तव्य के रूप में निर्दिष्ट किया गया है। इसी प्रकार यज्ञों में पशुहिंसा तथा मांस भक्षण के प्रकरण को तो एकाधिक स्थानों पर प्रक्षिप्त किया गया है। अन्य भी अनेक सिद्धान्त विरुद्ध बातें यत्र तत्र आ गई हैं।[११]

चाहे कुछ भी हो, जब ग्रन्थकार के रूप में स्वामी दयानन्द का नाम इस पुस्तक पर चला गया, तो आक्षेप कर्ताओं के उत्तर देने का दायित्व भी उन्हीं पर आया। इस ग्रन्थ के किसी पाठक ने जब सत्यार्थप्रकाश वर्णित मृतक श्राद्ध[१२] तथा याज्ञिकी हिंसा के सम्बन्ध में उनसे पूछा, तो उन्हें एक विज्ञापन प्रकाशित कर यह स्पष्ट करना पड़ा कि लेखक प्रमाद से इस ग्रन्थ में अनेक भूलें रह गई हैं।[१३] बात यह है कि इस ग्रन्थ को शीघ्रता में तैयार किया गया था, तथा मुद्रण के समय उसके प्रूफादि देखने का समय भी ग्रन्थकार को नहीं मिला था।[१४] कुछ भी हो, सत्यार्थप्रकाश के इस प्रथम संस्करण का भी महत्त्व कुछ कम नहीं है। बल्कि अनेक विषय, जो प्रथम संस्करण में आये हैं, वे दूसरे संस्करण में समाविष्ट नहीं हो सके।

काशी के इस बार के निवासकाल में स्वामीजी को अन्य मतावलम्बी प्रतिष्ठित पुरुषों से मिलने का भी अवसर मिला। पादरी हूपर[१५] से ईसाई मत पर वार्तालाप हुआ। सैयद अहमद खां तो उनके पूर्व परिचित ही थे। वे इस समय काशी में सब जज के पद पर कार्यरत थे। सैयद साहब के बंगले पर स्वामीजी का 'वेदों के अपौरुषेयत्व' पर एक व्याख्यान भी हुआ। इन्हीं की प्रेरणा से स्वामीजी काशी के तत्कालीन जिलाधीश श्री शेक्सपियर से मिले। शेक्सपियर महोदय ने उन्हें काशीराज से मिलवाया। बात यह थी कि काशी के प्रसिद्ध शास्त्रार्थ के समय राजा ने पण्डितों के प्रति आग्रह प्रदर्शित कर, तथा शास्त्र विचार को बिना परिणाम पर पहुंचाये, असमय में ही समाप्त कर, स्वामीजी के प्रति जो अशिष्टता प्रदर्शित की थी; ऐसा लगता है कि अब उसे अपने इन पूर्व कृत्यों के प्रति पश्चात्ताप हो रहा था। अतः वह कोई भी अवसर निकाल कर अपने विगत आचरण के लिये महाराज से क्षमा याचना करना चाहता था।

इस बार जब स्वामीजी काशी आये तो राजा ने उनके लिये गाड़ी भेजी। सरल एवं क्षमाशील संन्यासी राजा के आमंत्रण को स्वीकार कर राजप्रासाद में चले गये, जहाँ राजा ने उन्हें स्वर्ण निर्मित आसन्दी पर बिठाया तथा १८६९ के शास्त्रार्थ के समय हुए अशिष्ट व्यवहार के लिये क्षमा याचना की। स्वामीजी के मन में तो राजा के प्रति कोई अन्यथा भाव था ही नहीं, अतः उनके लिये तो क्षमा करने का कोई प्रश्न नहीं था। पीछे महाराजा ने कुछ मिष्टान्न तथा अन्य मुरब्बे आदि स्वामी सेवा में भेजे, जिन्हें लोगों में बंटवा दिया गया। इस प्रकार यह प्रकरण समाप्त हुआ।[१६]

काशी में भी, अन्य स्थानों की ही भांति जिज्ञासुजनों का सतत आगमन स्वामीजी

के निवास स्थान पर होता रहता था। एक मुसलमान युवक ने मांसाहार विषयक जिज्ञासा की, तो एक अन्य इस्लाम मतावलम्बी पुनर्जन्म विषयक शंका समाधान हेतु उपस्थित हुआ।

साधु जवाहरदास ने, जो स्वामीजी के निकट सम्पर्क में रह चुके थे, महाराज के अध्ययन तथा शास्त्रालोड़न के सम्बन्ध में देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय को बताया था कि स्वामी जी की (नव्य) न्यायशास्त्र में प्रगाढ़ व्युत्पत्ति नहीं थी। वह (नव्य) नैयायिकों की भाषा को काक भाषा कहते थे। वे व्याकरण में व्युत्पन्न थे तथा अष्टाध्यायी एवं महाभाष्य पर उनका पूर्ण अधिकार था। खण्डन मण्डन की कला में भी उन्हें निपुणता प्राप्त थी। अपनी अद्वितीय मानसिक शक्ति के बल पर वे जिन सिद्धान्तों का खण्डन करते, उनका अन्यथा प्रतिवाद करना लोगों के लिये असम्भव हो जाता था। यह शक्ति उनमें अखण्डित ब्रह्मचर्य के कारण आई थी। ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में तो उनके परम शत्रु भी दोषारोपण करने में असमर्थ थे।

साधु जवाहरदास की इस धारणा का प्रतिवाद करना शक्य है कि महाराज की नव्य न्याय में गति नहीं थी। आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय पं. आर्यमुनि ने १९३३ ई. में दयानन्द विषयक संस्मरण सुनाते हुए, पं. युधिष्ठिर मीमांसक को बताया था कि एक दिन काशी में एक प्रसिद्ध नैयायिक ने स्वामीजी से कहा कि जब आपको संस्कृत बोलनी नहीं आती है, (उसकी दृष्टि में स्वामीजी की सरल और प्रासादिक संस्कृत, संस्कृत ही नहीं थी) तो यहां काशी में आकर बखेड़ा क्यों मचाते हो? इस पर स्वामीजी ने सौम्य भाव से कहा कि मैं तो वही संस्कृत बोलता हूँ जो पतञ्जलि ने महाभाष्य में लिखी है। यदि वह संस्कृत नहीं है, तो मैं मान लेता हूँ कि मुझे संस्कृत नहीं आती। पर आप बतायें, आपकी संस्कृत कौन सी है?

इस पर उस नैयायिक पण्डित ने कहा, आज मैं आपसे नव्य न्याय में शास्त्रार्थ करूंगा। यदि नव्य न्याय की भाषा में शास्त्रार्थ नहीं कर सकते, तो अपनी पराजय स्वीकार करो। इस पर स्वामीजी ने 'तथास्तु' कह कर शास्त्रार्थ करना स्वीकार किया। आर्यमुनि कहते हैं कि मैं उस अवसर पर वहीं था। मुझे भी विश्वास था कि स्वामी दयानन्द नव्य न्याय की भाषा में शास्त्रार्थ नहीं कर सकेंगे। पर मुझे (आर्यमुनि को) यह देख कर आश्चर्य हुआ कि स्वामीजी ने थोड़े ही समय में नव्य न्याय की भाषा में ही उक्त नैयायिक के छक्के छुड़ा दिये। अन्त में स्वामीजी ने उपस्थित श्रोताओं से पूछा कि क्या आप लोग हमारा वार्तालाप समझे? उपस्थित लोगों के इन्कार करने पर उन्होंने बताया कि जैसे दो कौवे लड़ते हों तो उनकी भाषा कोई नहीं समझता, ऐसी ही यह नव्य न्याय की भाषा है। इसीलिये मैं इसे 'काकभाषा' कहता हूँ। मैं तो लोगों को समझाने के लिये सरल संस्कृत का ही प्रयोग करता हूँ।

इसी प्रसंग में आर्यमुनिजी ने यह भी बताया कि जब स्वामीजी काशी में थे, उस समय तक वे (आर्यमुनि) अद्वैत वेदान्त के रंग में रंग चुके थे। उन्हें अपने पाण्डित्य का भी अहंकार था। इसी अहंकार वश व स्वामीजी से शास्त्रार्थ कर बैठे, परन्तु उनकी प्रबल युक्तियों के आगे अद्वैत निष्ठा वाले आर्यमुनि का टिकना कठिन हो गया था। स्वामीजी ने युवक आर्यमुनि को विद्वान् बनने का आशीर्वाद भी दिया था।[१७]

इस प्रकार लगभग एक मास तक काशी में रह कर स्वामी दयानन्द आषाढ़ कृष्णा द्वितीया १९३१ वि. (१ जुलाई १८७४) को प्रयाग आये और नगर के बाहर अलोपी बाग में ठहरे। यथानियम शास्त्रार्थ एवं शंका समाधान का विज्ञापन वितीर्ण कराया गया। प्रयाग में उनकी भेंट हेतु म्योर कालेज के संस्कृत प्राध्यापक पं. काशीनाथ शास्त्री से हुई, जो कुछ विद्यार्थियों के साथ उनसे मिलने आये थे। उनके साथ प्रसिद्ध ईसाई पण्डित नीलकण्ठ शास्त्री गोरे थे।[१८] वेदार्थ को लेकर नीलकण्ठ शास्त्री से स्वामीजी की बातचीत हुई। नीलकण्ठ ने वेद विषयक उन्हीं धारणाओं को दोहराया, जो प्रो. मैक्समूलर ने ऋग्वेद के अंग्रेजी अनुवाद में व्यक्त की थीं।[१९] मैक्समूलर के अनुसार वेदों में न तो एकेश्वर वाद ही है, और न प्रचलित अर्थ में बहुदेववाद। वे एक नवीन सिद्धान्त Heno Theism के प्रतिपादक थे, जिसके अनुसार वैदिक सूक्तों में जिन देवताओं की स्तुति की गई है, वहां तत् तत् देवता को ही सर्वोत्कृष्ट तथा सर्वप्रधान माना गया है। स्वामीजी ने मैक्समूलर के वेद विषयक मत का तीव्र प्रतिवाद करते हुए स्पष्ट किया कि इन महाशय का वेद विषयक कार्य पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं है। प्रो. मैक्समूलर ईसाई मत की उत्कृष्टता विषयक पूर्व निश्चित धारणा को लेकर ही वेदालोचन में प्रवृत्त हुए हैं, अतः उनसे यह आशा कैसे की जा सकती है कि वे संसार के इस सर्वाधिक प्राचीन एवं उदात्त भावापन्न वाङ्मय के साथ न्याय कर सकेंगे।[२०] मैक्समूलर के वेद विषयक दृष्टिकोण की यह आलोचना सिद्ध करती है कि स्वामीजी ने पश्चिमी देशों में किये जाने वाले वेदाध्ययन का सम्यक्तया ऊहापोह किया था, तथा अवसर आने पर वे उसकी कमियों तथा त्रुटियों का भी निर्देश करते रहते थे।

ईसाई पण्डित द्वारा वेद की मुखर आलोचना को लक्षित कर स्वामीजी ने तौरेत में उल्लिखित उस कहानी की आलोचना की, जिसमें बाबल नगर के लोगों द्वारा आकाश तक चढ़ने के लिये एक ऊंची मीनार बनाने का उल्लेख मिलता है। स्वामीजी ने कहा कि जिन धर्म पुस्तकों में ऐसी विज्ञान विरुद्ध बातें मिलती हैं, उन पर विश्वास लाकर मनुष्य अपने बौद्धिक धरातल को कैसे ऊंचा उठा सकता है ? इस पर पं. नीलकण्ठ तो मौन कह गये, किन्तु पं. काशीनाथ शास्त्री स्वल्प उत्तेजना एवं असभ्यता के साथ बोले—'आपने किस प्रयोजन की सिद्धि के लिये सारे देश में कोलाहल मचा रक्खा है ?' यह प्रश्न पूछ कर मानो शास्त्रीजी ने प्रकारान्तर से यह तो स्वीकार कर ही लिया कि स्वामीजी द्वारा प्रवर्तित यह धर्मान्दोलन अब देश में सर्वत्र फैल रहा है। स्वामी दयानन्द किंचित् मात्र उत्तेजित हुए बिना बोले—'मुझसे पहले के पण्डितों ने बड़ा पाखण्ड फैला रक्खा है। पत्थरों को पूजते पूजते उनकी बुद्धि भी जड़ हो गई है। अतः सत्य सिद्धान्तों के प्रचार को भी वे कोलाहल मचाना समझते हैं।'

सायंकाल हो जाने से स्वामीजी तथा नीलकण्ठ शास्त्री के बीच का विचार किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंचा। शास्त्रीजी ने ऐतरेय ब्राह्मण के 'अग्निर्वै देवानामऽवमो विष्णुःपरमः'[२१] आदि स्थलों को प्रस्तुत कर यह बताना चाहा कि यहां अग्नि को अन्य देवताओं की अपेक्षा तुच्छ कहा है। जब स्वामीजी इस प्रकरण का समाधान करने के लिये तैयार हुए, तो राजा जयकृष्णदास के पुत्र कुंवर ज्वालाप्रसाद ने कहा कि अब अतिकाल हो गया है, संध्योपासना के लिये उठना चाहिए। उस दिन तो यह विचार अधूरा ही रहा, किन्तु दूसरे दिन स्वामीजी ने

आलोच्य प्रकरण का समाधान लिख कर नीलकण्ठ शास्त्री को भेज दिया और स्पष्ट कर दिया कि वैदिक देवता भिन्न भिन्न ईश्वरीय शक्तियों के वाचक हैं, उनमें कोई छोटा बड़ा नहीं है। स्वामी दयानन्द और पं. नीलकण्ठ के इस वाद विवाद में पं. काशीनाथ शास्त्री की सहानुभूति भी ईसाई मत के प्रवक्ता की ओर ही थी। यह आश्चर्य और खेद की बात थी कि पं. काशीनाथ शास्त्री तथा उनके अनेक साथी इस आशा और प्रतीक्षा में थे कि स्वामीजी ईसाई पण्डित की बातों का उत्तर नहीं दे सकेंगे। हिन्दू जाति की अस्मिता तथा स्वाभिमान के पतन का इससे बड़ा उदाहरण और क्या हो सकता था कि उन्हें परकीय धर्मप्रचारक की विजय तो अभीष्ट थी, किन्तु स्वधर्म और स्वजाति के गौरव की अभिवृद्धि के इच्छुक दयानन्द की जय उन्हें सह्य नहीं थी। म्योर कालेज के छात्रों से स्वामीजी की जीवों के आवागमन तथा पुनर्जन्म जैसे विषयों पर भी चर्चा हुई। उन्होंने विद्यार्थियों की इस धारणा का खण्डन किया कि ऋग्वेद में पुनर्जन्म का उल्लेख नहीं है।[२२]

स्वामी दयानन्द जहां प्रबल तार्किक और प्रतिपक्षियों की युक्तियों का दक्षतापूर्ण खण्डन करने की क्षमता रखते थे, वहां वे स्वयं सहज, सरल, तथा निश्छल थे एवं मनुष्य मात्र की साधुता में भी विश्वास रखते थे। मौलवी निजामुद्दीन बी. ए. जब उनसे धर्म चर्चा करने के लिये आये, तब स्वामीजी ने सहज भाव से पूछा कि इस्लाम में ईश्वर का स्वरूप कैसा माना गया है? इसके उत्तर में मौलवी ने कुरान वर्णित ईश्वर की चर्चा न कर सर डब्लू. हेमिल्टन रचित मेटाफिज़िक्स भाग १ में वर्णित ईश्वर के चार गुणों का वर्णन कर दिया तथा कहा कि मुसलमान लोगों की ईश्वर विषयक मान्यताएं इसी प्रकार की हैं। अब तक स्वामीजी ने कुरान का विस्तृत अर्थ नहीं किया था, अतः उन्होंने मौलवीजी की बातों पर सहजभाव से विश्वास कर लिया, परन्तु वे यह कहने से भी नहीं चूके कि मुसलमानों ने जहां मूर्तिभंजक बन कर अन्य मतावलम्बियों की मूर्तियों को तोड़ा है, वहां वे काबा की मसजिद में स्थापित 'संग असबद' नामक प्रस्तर के प्रति भी मूर्तिपूजकों का सा ही पूज्य भाव रखते हैं। यह भी प्रकारान्तर से बुतपरस्ती ही है।

अपने व्याख्यानों में वे विविध सामाजिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों की चर्चा करते, तथा भारत की परम्परागत विशिष्टताओं का विशेषरूप से उल्लेख किया करते। मनुस्मृति में प्रतिपादित दशलक्षणात्मक धर्म को वे मनुष्य मात्र के लिये आचरणीय 'सार्वजनिक धर्म' के नाम से कहते थे। स्त्रियों में प्रचलित पर्दा प्रथा को हानिकर बताते। प्रसंगानुकूल प्राचीन उपाख्यानों की चर्चा कर देश के विगतकाल की वैज्ञानिक एवं भौतिक उन्नति की चर्चा करते। एक प्रसंग में उन्होंने नलदमयन्ती के कथानक में वर्णित अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण द्वार प्रयुक्त रथ का उल्लेख किया, जो नाना यंत्रों से युक्त होने के कारण अत्यधिक तीव्र गामी था।[२३] देश में नवीन प्रकार के कल कारखाने स्थापित करने तथा कृषि एवं उद्योगों को बढ़ाना, वे आर्थिक समृद्धि के लिये आवश्यक मानते थे। समकालीन धार्मिक नेताओं की तुलना में उनके विचार अधिक उदार, प्रगतिशील तथा युगानुकूल थे। वे अपने आपको निर्भ्रान्त, दैवी शक्ति सम्पन्न गुरु या सर्वज्ञ के रूप में प्रख्यात करने के इच्छुक नहीं थे। उनका कथन यही था कि उनके विचारों में यदि कोई सार प्रतीत हो, तो उसे निस्संकोच रूप में लोग स्वीकार कर लें। उनका

सारा जोर मनुष्य मात्र को प्रबुद्ध बनाने, उसकी विवेक शक्ति को जागृत करने तथा सारासार का विचार कर हितकारी बातों को ग्रहण कराने पर ही था। भाग्यवाद से उत्पन्न होने वाले निरुद्यम, आलस्य तथा अकर्मण्यता को वे मनुष्य की प्रगति में बाधक समझते थे। भविष्य-कथन करने वाले ज्योतिष के प्रति उनकी कोई श्रद्धा नहीं थी। वे विनोद भाव से जन्मपत्र को शोकपत्र ही कहते थे।[२१]

अनार्ष तथा मध्यकाल में रचित युक्ति, तर्क तथा बौद्धिक चिन्तन के प्रतिकूल धारणाओं को व्यक्त करने वाले तथाकथित धर्मग्रन्थों के प्रति उनके मन में तीव्र विरक्ति तथा आक्रोश का भाव था। वे यह मानते थे कि इन्हीं ग्रन्थों में प्रतिपादित विचारधारा ने देश-वासियों को अंधविश्वासी, अकर्मण्य, भाग्यवादी तथा रिवाजों का गुलाम बनाया है। वे अनुभव करते थे कि पुरातन प्रामाणिक उपनिषदों की परिपाटी पर कालान्तर में पौराणिक विश्वासों के निरूपक रामतापिनी, गोपालतापिनी आदि, जो तथाकथित उपनिषद् लिखे गये हैं, वे साम्प्रदायिक भावापन्न होने के कारण अनार्ष तथा त्याज्य हैं। उन्होंने इन उपनिषदों की ही शैली में एक मनोरंजन प्रधान 'गर्दभ तापिनी उपनिषद्' की भी रचना की थी, तथा यदा कदा उसके वचनों को श्रोताओं के समक्ष रख कर, वे उनका मनोविनोद करते थे। खेद है कि इस पुस्तक की कोई प्रतिलिपि उपलब्ध नहीं है। खानपान तथा आचार विचार आदि के मामले में किसी प्रकार की कट्टरता अथवा रूढ़िवाद के वे समर्थन नहीं थे। ठाकुरप्रसाद नामक एक व्यक्ति जब स्वामीजी के लिये भोजन लेकर आया, तो उसने पांवों में जूते भी नहीं पहन रक्खे थे। स्वामीजी ने जब नंगे पैर आने का कारण पूछा, तो उसने बताया कि वह महाराज के लिये कच्चा भोजन (दाल, भात, रोटी आदि) लेकर आया है, और ऐसा भोजन जूते पहने नहीं लाया जाता। इस पर स्वामीजी ने उसकी इस मूर्खता के लिये भर्त्सना की और कहा कि वे इस बेकार की छुआछूत को नहीं मानते।

वस्तुतः दयानन्द जैसे आध्यात्मिक साधना के सर्वोच्च सोपान पर प्रतिष्ठित योगी, ज्ञान, कर्म एवं उपासना के गूढ़तम रहस्यों के ज्ञाता महापुरुष का लोक कल्याण हेतु अपने जीवन को समर्पित कर धर्म, समाज, राष्ट्र तथा विश्व मानवता की सेवा हेतु अपने को विसर्जित कर देना, इस देश के इतिहास की एक अश्रुतपूर्व घटना थी। तभी तो गंगा तटवर्ती प्रान्त के निवासी एक महात्मा ने जब उनसे कहा कि यदि आप लोकोपकार के जंजाल में न पड़ कर मोक्ष साधना में तत्पर होते, तो इसी जन्म में आपको मुक्ति लाभ हो जाता। इसके उत्तर में स्वामीजी ने जो कुछ कहा वह उनके जैसे उदात्त व्यक्तित्व वाले, लोक मंगल विधायक युगपुरुष के सर्वथा अनुकूल ही था। उन्होंने कहा—**मुझे अपनी मुक्ति की चिन्ता नहीं है। दयानन्द के नेत्र उस दिन को देखना चाहते हैं, जब देश के लाखों करोड़ों निवासी अज्ञान, अविद्या तथा अंधविश्वासों की कारा से मुक्त होंगे तथा दैन्य, दारिद्र्य, शोषण, अभाव तथा पराधीनता के पाशों को छिन्न भिन्न कर सच्चे स्वराज्य की प्राप्ति कर लेंगे।** लोक कल्याण के लिये ब्रह्मानन्द को ठुकराने वाले ऐसे लोकोत्तर पुरुष मानव जाति के प्रणम्य हैं।

अक्टूबर १८७४ में श्री कृष्णराव एक्स्ट्रा एसिस्टेंट कमिश्नर की प्रार्थना पर स्वामीजी जबलपुर पधारे और राजा गोकुलदास[२५] के उद्यान में ठहरे। उनका इस नगर में एक

व्याख्यान हुआ तथा स्वजीवन विषयक कुछ वृत्तान्त भी उन्होंने सुनाया। शंकर शास्त्री नामक एक विद्वान् से शास्त्रार्थ चर्चा चली, किन्तु कतिपय कारणों से बात आगे नहीं बढ़ी। श्री कृष्णराव के घर पर स्वामीजी का एक चित्र (फोटो) खींचा गया जो अत्यन्त सुन्दर तथा भव्य था।[२६]

जबलपुर से चल कर वे नासिक आये तथा बायजाबाई होल्कर नामक मराठा राजघराने से सम्बन्धित एक महिला की हवेली में ठहरे। चार दिन के स्वल्प निवासकाल में उनके दो व्याख्यान हुए—प्रथम राम मंदिर में तथा दूसरा गोदावरी नदी के किनारे पर।[२७] राम मंदिर नगर के उस भाग में है, जिसे पञ्चवटी कहा जाता है, तथा जहां बनवास काल में राम ने आकर निवास किया था। व्याख्यान के प्रसंग में महाराज ने कहा कि श्रीराम के निवास करने के कारण इस स्थान का ऐतिहासिक महत्त्व तो है, किन्तु यहां आकर गोदावरी में स्नान करने मात्र से पापों से निष्कृति हो जाती है, यह धारणा गलत है। रायबहादुर विष्णु मोरेश्वर भिड़े के निवास पर नासिक के पण्डित वर्ग से उनके शास्त्रार्थ का प्रबंध किया गया था। पण्डित वर्ग ने शास्त्रार्थ में रुचि नहीं दिखलाई।

निश्चय ही पण्डित वर्ग को स्वामीजी की प्रगतिशील एवं सुधारोन्मुख विचारधारा पसन्द नहीं आई, किन्तु बम्बई से प्रकाशित होने वाले इन्दुप्रकाश नामक समाचारपत्र ने उनके विचारों का यथार्थ मूल्यांकन करते हुए एक उत्तम लेख प्रकाशित किया। इस लेख का सार यह था कि स्वामी दयानन्द का शास्त्रज्ञान, उनका सुधारवादी दृष्टिकोण तथा उनकी प्रोज्ज्वल देशभक्ति सर्वथा श्लाघनीय है। उनके मन्तव्यों की विवेचना करते हुए लेखक ने लिखा कि वर्ण व्यवस्था को गुण कर्म पर आधारित मानना, मूर्तिपूजा को नाना धार्मिक एवं सामाजिक विकृतियों के लिये उत्तरदायी समझना, विदेश यात्रा तथा समुद्रपारीय देशों में जाने को प्रशस्त मानना, दान प्रथा के दोषों का उद्घाटन, साधु समुदाय में आई बुराइयों की आलोचना आदि से सम्बन्धित उनके सभी विचार नितान्त समयोपयोगी तथा युगसापेक्ष हैं। लेखक ने स्वामीजी के कुछ रोचक कथनों को उद्धृत भी किया यथा—इस देशवासियों ने बिना विवाह के स्त्रियाँ रखने की प्रथा तो मुसलमानों से सीख ली, किन्तु जो बात सीखनी चाहिए, वह नहीं सीखी अर्थात् एक परमेश्वर की उपासना। स्वामीजी की कतिपय विनोदपूर्ण किन्तु गूढ़ अभिप्राय व्यञ्जक उक्तियों को भी लेखक ने उल्लिखित किया। उदाहरणार्थ अच्छा हो यदि सारे वैरागी, गोसाईं, बाबाजी और भिक्षुक सीधे सादे शान्तिप्रिय कृषक अथवा श्रमजीवी बन जावें। तथा च, भारत में प्रकृत अर्थ में अंग्रज ही ब्राह्मण हैं। उसने स्वामीजी की वैष्णव तिलक विषयक इस बहुधा उद्धृत उक्ति को भी प्रस्तुत किया था—यदि वैष्णव समझते हैं कि एक काली रेखा ललाट पर लगाने से उन्हें स्वर्ग मिलेगा, तो वह अपना सारा मुंह काला कर लें, शायद उनकी स्वर्गयात्रा और अधिक सुगम हो जायगी।

□□

पाद टिप्पणियां

१. आयंगौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ यजुर्वेद के इस मंत्र को पृथ्वी के भ्रमण की पुष्टि में स्वामी दयानन्द ने स्वरचित ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में प्रस्तुत किया है।

२. पं. प्रयागनारायण तिवारी का उल्लेख कानपुर के प्रकरण में आ चुका है। इन्होंने पर्याप्त धन व्यय कर वैकुण्ठ नामक एक मंदिर बनवाया था।

३. महाकाल, पशुपतिनाथ, ओंकारेश्वर, सोमनाथ आदि शिव के द्वादश ज्योतिर्लिंगों का उल्लेख शैव ग्रन्थों में आता है।

४. ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ११२ मंत्र ९।

५. पं. गंगादत्त स्वामी विरजानन्द के प्रसिद्ध शिष्य तथा व्याकरण के प्रौढ़ पण्डित थे। कृष्ण शास्त्री के शिष्यों से 'अजाद्यदन्तम्' में 'षष्ठी तत्पुरुष है या सप्तमी तत्पुरुष' इस विषय पर प्रारम्भिक विवाद पं. गंगादत्त का ही हुआ था।

६. रंगाचार्य (जन्म १८०९ मृत्यु १८७४) का जन्म तमिलनाडु प्रान्त में हुआ था। वे सेठ राधाकृष्ण द्वारा निर्मित प्रसिद्ध रंगजी के मंदिर के अधिष्ठाता तथा रामानुजीय श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य थे।

७. गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी पं. राधाचरण गोस्वामी स्वामी दयानन्द के परम भक्त तथा प्रशंसक थे। इन्होंने वार्तालाप के एक प्रसंग में कहा था कि स्वामी दयानन्द के वाक्य मुझे वेद वाक्यवत् मान्य हैं और उनकी प्रत्येक बात मेरे लिये उदाहरणरूप है। कालान्तर में जब लाहौर से प्रकाशित होने वाले पत्र 'मित्र विलास' में स्वामी दयानन्द के विरुद्ध अनेक पत्र छपे, तो गोस्वामीजी ने उनका मुंह तोड़ उत्तर दिया था। स्वामी दयानन्द के जीवनकाल में ही उन्होंने 'भारतेन्दु' नामक मासिक पत्र (प्रकाशन काल १८८२) प्रकाशित करना आरम्भ कर दिया था जिसमें वे यदा कदा स्वामीजी के विषय में प्रशस्तिपूर्ण उद्‌गार प्रकट करते रहते थे।

८. काशी से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सम्पादन में प्रकाशित होने वाली कविवचनसुधा (२० जून १८७४) तथा बिहारबंधु (पटना) आषाढ़ शुक्ला १४ सं. १९३१ वि.) में यह विज्ञापन प्रकाशित हुआ था।

९. सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण के सम्बन्ध में विशेष पठनीय सामग्री—
   (i) आदिम सत्यार्थप्रकाश और आर्यसमाज के सिद्धान्त—मुन्शीराम जिज्ञासु लिखित।
   (ii) ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास—पं. युधिष्ठिर मीमांसक कृत।
   (iii) विश्वधर्म कोश : सत्यार्थप्रकाश—भवानीलाल भारतीय रचित।

१०. सत्यार्थप्रकाश (प्रथम संस्करण) पृ. ३८४-३८५. प्रथम संस्करण की गणना दुर्लभ ग्रन्थों में होती है—इसकी एक प्रति इन पंक्तियों के लेखक के पास, दूसरी परोपकारिणी सभा के अजमेर स्थित दयानन्द पुस्तकालय में तथा एक अन्य प्रति विश्वेश्वरानन्द विश्वबन्धु संस्कृत तथा प्राच्य विद्या संस्थान, होश्यारपुर के पुस्तकालय में है।

११. सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण की सैद्धान्तिक आलोचना के लिये द्रष्टव्य—डा. जे. टी.

एफ. जार्डन्स लिखित पुस्तक—दयानन्द सरस्वती : लाइफ एण्ड आइडियाज का पञ्चम अध्याय The First Satyartha Prakash. तथा इन पंक्तियों की रचनाधीन पुस्तक—स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों का ऐतिहासिक तथा आलोचनात्मक इतिहास (दयानन्द शोध संस्थान, पंजाब विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में लिखित)।

१२. सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण पृ. ४५, ४७

१३. यह विज्ञापन स्वामी कृत ऋग्वेद भाष्य तथा यजुर्वेद भाष्य के प्रथम व द्वितीय अंक के मुखपृष्ठ पर (श्रावण व भाद्रपद १९३५ वि.) छपा था।

१४. इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण देते हुए स्वयं राजा जयकृष्णदास ने देवेन्द्र बाबू को लिखा था कि—"स्वामीजी को उस समय प्रूफ देखने का अवकाश ही नहीं था। पहले पहले सभी लोगों को अच्छा समझ कर उनका विश्वास कर लेते थे। हो सकता है कि लेखक वा मुद्रक द्वारा यह सब मत सत्यार्थप्रकाश में छप गया हो।" महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित भाग. १ पृ. ३०९ पं. घासीराम कृत।

१५. पादरी हूपर (जन्म १७ सितम्बर १८३७ ई.) पूरा नाम विलियम हूपर। १८५९ ई. में इन्होंने एम. ए. की उपाधि प्राप्त की तथा १८७१ में भारत आये। स्वामीजी से उनकी प्रथम भेंट काशी में तथा दुबारा १८७७ में लाहौर में हुई थी। इनके द्वारा रचित पुस्तकों के नाम हैं—१. हिन्दू धर्म का वर्णन २. ख्रीष्टीय, हिन्दू और मुहम्मदी धर्म के अनुसार उद्धार का सिद्धान्त। द्रष्टव्य पं. महेशप्रसाद मौलवी, आलिम फाजिल का लेख—श्री स्वामीजी के ईसाई सत्संगी। सार्वदेशिक मासिक अप्रैल १९४७ ई. में प्रकाशित।

१६. पं. घासीराम के अनुसार क्षमा याचना का यह प्रसंग महाराज के १९७४ ई. के काशी प्रवास के समय आया था, जब कि वे इससे पूर्व काशी शास्त्रार्थ का प्रकरण लिखते समय यह उल्लेख करते हैं कि कई वर्ष पीछे बम्बई से लौटते हुए (१८७६ ई.) में जब स्वामीजी बिहारीलाल के बाग में ठहरे थे, उस समय महाराजा ने क्षमा याचना हेतु उन्हें स्वकीय प्रासाद में आमंत्रित किया। एक ही लेखक के कथनों में यह वदतोव्याघात क्यों आया, यह स्पष्ट नहीं होता।

१७. महामहोपाध्याय पं. आर्यमुनिजी से ज्ञात घटनाएँ—पं. युधिष्ठिर मीमांसक का सर्वहितकारी रोहतक (२१ नवम्बर १९७७) में लेख।

१८. महाराष्ट्र ईसाई पं. नीलकण्ठ शास्त्री ने स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में जो प्रलापतुल्य उद्गार व्यक्त किये, वे इस प्रकार हैं—"आर्यसमाज का चलाने हारा दयानन्द सरस्वती था। दयानन्द बड़ा चालाक था और वेद के सूत्रों (सूक्तों) का उलटा अर्थ कर करके उसने एक नई मता (मत) चलाई। उसको नेव (नींव) सत्य पर नहीं है। ब्रह्मो धर्म (ब्रह्मसमाज) ऐसा नहीं है। यह बात तो ठीक है कि वे ख्रीष्टियन धर्म को अंगीकार नहीं करते, पर अपनी बुद्धि पर भरोसा रख के चलते हैं। आर्यसमाजियों की नेव सत्य पर नहीं है और वे बातें बनाया करते हैं। दयानन्द ने बहुत लोगों को पाया जो पुराणों की झूठी कहानियों को नहीं मानते थे और मूर्तिपूजा और अवतारों पर ध्यान नहीं देते थे। यह देख के दयानन्द ने कहा कि पुराणों की कहानियां झूठी हैं और थोड़े दिन से चली

हैं। वेद में एक ईश्वर की उपासना करने को कहा है, सो तुम दूसरे धर्म में क्यों जाओगे आर्यसमाज से मिल जाओ और ख्रीष्टियन धर्म से विरोध करो।"

१९. अपने इंग्लैण्ड प्रवास काल में नीलकण्ठ शास्त्री ने प्रो. मैक्समूलर से आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में जाकर उनके अध्ययन कक्ष में भेंट की थी। द्रष्टव्य—Scholar Extra Ordinary—प्रो. मैक्समूलर की नीरद चौधरी लिखित जीवनी।

२०. द्रष्टव्य—पं. भगवद्दत्त रचित : Western Indologists : A Study in Motives—Delhi २०११ वि.

२१. ऐतरेय ब्राह्मण १।१

२२. ऋग्वेद का १।२४।१ 'कस्य नूनं कतमस्यामृतानाम्' मंत्र पुनर्जन्म की सिद्धि में स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में उद्धृत किया है।

२३. द्रष्टव्य—महाभारत के अन्तर्गत नलोपाख्यान।

२४. तुलनीय सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय समुल्लास में फलित ज्योतिष समीक्षा।

२५. राजा गोकुलदास प्रसिद्ध स्वतंत्रता सेनानी तथा हिन्दी के लेखक स्व. सेठ गोविन्ददास के पितामह थे।

२६. इसी चित्र की प्रतिकृति भारतीय संसद भवन की वीथि में लगाई गई है।

२७. पं. घासीराम कृत जीवन चरित में भूल वश ताप्ती नदी का उल्लेख कर दिया गया है। द्रष्टव्य—जीवन चरित भाग १ पृ. ३१८

□□

जिस क्षण देह में दुर्बलता प्रतीत हो, उसी क्षण एक महान् विशालकाय संन्यासी का स्मरण करो। जिस क्षण तुम्हारे मन में शिथिलता या कायरता का प्रवेश हो, उसी क्षण जीवन और उत्साह से ओतप्रोत उस देशभक्त का स्मरण करो। जिस क्षण तुम्हारे हृदय में मोह और विलास का साम्राज्य प्रवर्तित हो, उसी क्षण धन को ठोकर मारने वाले उस नैष्ठिक ब्रह्मचारी की ओर दृष्टिपात करो। अपमान से आहत होकर जिस क्षण तुम नजर ऊंची न उठा सको, उसी क्षण हिमालय के समान अडिग और उन्नत व्यक्ति के ओजस्वी मुख को अपनी कल्पना में उपस्थित करो। मृत्यु वरण करते हुए डर लगे तो इस निर्भयता की मूर्ति का ध्यान करो। द्वेष भाव से उत्तप्त होकर जब तुम्हें अपने विरोधी को क्षमा करने में हिचकिचाहट हो, तो रागद्वेषविमुक्त संन्यासी को याद करो। यह गौरवशाली पुरुष भारतीय महापुरुषों में अग्रस्थान पर विराजमान स्वामी दयानन्द है।

—रमणलाल वसन्तलाल देसाई

मुम्बई प्रदेश का भ्रमण

तत्कालीन बम्बई प्रदेश[1] में स्वामी दयानन्द को आमंत्रित करने का श्रेय मुम्बई नगर निवासी दो भद्रपुरुषों को है। इनमें से प्रथम थे जयकृष्ण जीवनराम व्यास[2] जो शाङ्कर वेदान्त के अनुयायी थे तथा द्वितीय सज्जन थे धर्मसी खीमजी[3] नामक एक वल्लभसम्प्रदायानुवर्ती महानुभाव। स्वामीजी को इस महानगर में निमंत्रित करने में उनके पृथक् पृथक् प्रयोजन थे। जयकृष्ण व्यास अद्वैतवादी होने के कारण स्वामीजी को वल्लभ सम्प्रदाय के खण्डन में नियोजित करना चाहते थे, जब कि धर्मसी खीमजी स्वयं वल्लभमतानुयायी होने पर भी अपने सम्प्रदाय के आचार्यों की दुराचार पूर्ण प्रवृत्तियों से असंतुष्ट थे तथा चाहते थे कि स्वामी दयानन्द जैसा विद्या एवं तर्कबल में निपुण व्यक्ति वैष्णव आचार्यों के पाखण्डों तथा दुराचारों का यहां आकर तीव्र भण्डाफोड़ करे। ये दोनों व्यक्ति काशी शास्त्रार्थ के समय उपस्थित थे और इन्होंने स्वामीजी के तर्ककौशल तथा युक्तिनैपुण्य को भली भांति देखा था।

यह स्मरणीय है कि करसनदास मूलजी[4] नामक एक वल्लभसम्प्रदायानुयायी सुधारक ने अपने ही सम्प्रदाय के आचार्यों की दुराचार लीलाओं तथा विषयासक्ति से खिन्न होकर 'सत्यप्रकाश' नामक पत्र में उनके विरुद्ध एक अभियान चलाया था।[5] बम्बई प्रान्त में उस समय वल्लभमतानुयायी भाटिया वैष्णवों का प्राधान्य था। इस वर्ग के अधिकांश वैश्य इसी मत को मानते थे। परन्तु इस सम्प्रदाय के धर्मगुरुओं में, जो 'महाराज' कहलाते थे, व्यभिचार तथा दुराचार पूर्ण प्रवृत्तियां अपनी पराकाष्ठा तक पहुंच गई थीं। 'तन मन धन श्री गुसांई जी के अर्पण'[6] की उक्ति को शब्दशः क्रियान्वित किया जाने लगा था, फलतः ये महाराज लोग अपने शिष्यों के धन को तो अपहृत करते ही थे, नवपरिणीता वधुओं को भी पहले गुंसाई जी की पर्यंकशायिनी बन कर अपना तन अर्पण करना पड़ता था। इसे 'ब्रह्मसम्बन्ध' कहा जाता था। इस प्रकार की दूषित विकृतियों के कारण वल्लभ सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा का दिन प्रतिदिन ह्रास हो रहा था। शुद्धाद्वैत मत के प्रवर्त्तक आचार्य वल्लभ की दार्शनिक तथा आध्यात्मिक शिक्षाएं पाखण्डपूर्ण आचरणों, महन्तों और पुजारियों के दुराचारपूर्ण कृत्यों के कारण सर्वथा निःसत्व तथा प्रभावशून्य हो गई थीं।

वल्लभ स्वयं गृहस्थी थे तथा उनके मंदिरों एवं मठों की गद्दियों पर गृहस्थी आचार्यों के महन्त पदारूढ़ होने की परम्परा, साम्प्रदायिक पूजापद्धति के घोर आडम्बरों तथा इस सम्प्रदाय में कृष्ण की शृंगारोन्मुख उपासना प्रचलित होने के कारण पुष्टि मार्ग अत्यन्त कुत्सित कामाचार तथा दुराचार का अड्डा बन चुका था। जब करसनदास मूलजी ने अपने पत्र में महाराजों की इन पाखण्डपूर्ण कार्यवाहियों का भण्डाफोड़ किया[7] तो १८६१ में जादोंनाथ नामक एक वैष्णव आचार्य ने उक्त पत्र के सम्पादक व मुद्रक तथा करसनदास मूलजी पर मानहानि का अभियोग दायर कर दिया।[8] अनेक वर्षों तक इस अभियोग की बम्बई के वैष्णव समाज में चर्चा रही। इस नगर के प्रमुख धनी वैष्णवों को साक्षी रूप में अदालत में

उपस्थित होना पड़ा था।[९] अन्ततः मुकद्मे का फैसला करसनदास मूलजी के पक्ष में हुआ।[१०] इससे वल्लभमताचार्यों की बहुत बदनामी हुई थी। करसनदास मूलजी की ही भांति अनेक लोग चाहते थे कि वल्लभ सम्प्रदाय द्वारा फैलाई गई सामाजिक बुराइयों का उन्मूलन किया जाय। इन्हीं लोगों ने स्वामीजी को बम्बई में आमंत्रित किया था। वे सोचते थे कि साम्प्रदायिक पाखण्डों पर अपनी आलोचना रूपी उपलवृष्टि करने वाला यह संन्यासी यदि बम्बई आकर वल्लभाचार्य प्रवर्तित मत के खण्डन में प्रवृत्त होगा, तो उससे निश्चय ही साम्प्रदायिक विकृतियों के उन्मूलन में सहायता मिलेगी।

इधर सेवकलाल कृष्णदास नामक एक वैष्णव मतानुयायी ने स्वामीजी के बम्बई आगमन से ठीक एक मास पहले उनके 'काशी शास्त्रार्थ' का संक्षिप्त विवरण गुजराती में अनूदित कर 'आर्यमित्र' नामक पत्र में प्रकाशित कराया था।[११] यह एक संयोग ही था कि काशी शास्त्रार्थ के इस विवरण के प्रकाशित होने के स्वल्प काल पश्चात् ही स्वामीजी का इस नगर में आगमन हो गया। स्वामीजी ने अपने बम्बई आने की अग्रिम सूचना पं. जयकृष्ण जीवनराम व्यास आदि पूर्व परिचितों को दे दी थी। अतः ये सभी लोग उनके स्वागतार्थ स्टेशन पर पहुंचे[१२] तथा वहां से उन्हें ससम्मान बालकेश्वर स्थित गोशाला के स्थान में ठहराया, जो मुख्य नगर से दो कोस की दूरी पर था। यह स्थान परनामी मत के बाबा रेवागर कुंवरगर के मठ के नाम से जाना जाता था।[१३]

शीघ्र ही स्वामीजी ने बम्बई में वल्लभ सम्प्रदाय की साम्प्रदायिक एवं जुगुप्साजनक विकृतियों का पर्दाफाश करने का संकल्प व्यक्त किया। सर्वप्रथम फ्रामजी कावसजी इन्स्टीट्यूट के हाल में उनके व्याख्यानों की व्यवस्था की गई।[१४] इस व्याख्यानमाला ने बम्बई के वैष्णव समाज में हड़कम्प सा मचा दिया। वल्लभ मत के आचार्य उनके प्रबल शत्रु बन गये और स्वामीजी के प्राण हरण की चेष्टाएं होने लगीं। गोस्वामीजी जीवनजी तो स्वामीजी के व्याख्यानों से इतने रुष्ट हुए कि उन्होंने महाराज के पाचक बलदेव को बुला कर प्रलोभन दिया कि यदि वह विष देकर स्वामी दयानन्द को मार डाले, तो वे उसे पुरस्कृत करेंगे। तुच्छ धन के प्रलोभन में पड़ कर पाचक भी पथभ्रष्ट हो गया। परन्तु किसी व्यक्ति द्वारा इस षड्यंत्र की सम्पूर्ण जानकारी स्वामीजी को अग्रिम रूप से मिल गई और उन्होंने वैष्णवों के मंदिर से लौटने पर बलदेव से पूछ लिया कि क्या वह गोकुलिया गुसांइयों के निकट गया था? बलदेव ने अपने अपराध को स्वीकार कर लिया और कहा कि स्वल्पकाल के लिये वह प्रलोभन में अवश्य आ गया था, किन्तु उनके जैसे लोकोत्तर महापुरुष के प्राणहरण कर वह महापाप का भागी कभी नहीं बनेगा। स्वामीजी ने भी उसे स्पष्ट कह दिया कि यद्यपि वे इससे पूर्व भी अनेक बार षड्यंत्रों के शिकार हुए हैं, परन्तु ईश्वरीय विधान से वे सदा ही ऐसी घातक कार्यवाहियों से बचते रहे हैं। स्वामीजी के प्राणहरण की चेष्टा यहीं आकर समाप्त नहीं हुई। जब स्वामी दयानन्द भ्रमण के लिये समुद्रतट पर जाते, तो गुण्डे उनका पीछा करते। किन्तु निर्भीक संन्यासी को इन हत्यारों से किञ्चित् मात्र भी भय नहीं था। वे अविचलित भाव से अपनी दिनचर्या का यथावत् पालन करते रहे। पूर्ववत् समुद्रतट पर उनका भ्रमण निर्विघ्न चलता रहा।

जब वल्लभ सम्प्रदाय के आचार्यगण महाराज के जीवन को समाप्त करने में कृतसंकल्प नहीं हुए तो उन्होंने शास्त्रार्थ में उन्हें पराजित करने का विचार किया। सर्वप्रथम स्वामीजी के मन्तव्यामन्तव्यों को जानने के लिये एक प्रश्नावली कार्तिक शुक्ला चतुर्थी १९३१ वि. को उनकी सेवा में भेजी गई। स्वामीजी ने इसका उत्तर स्वामी पूर्णानन्द नामक एक संन्यासी भक्त के द्वारा दिलवाया, जिसमें यह स्पष्ट कर दिया गया था कि वे प्रत्यक्षादि प्रमाणों, वेद तथा तदनुकूल आर्ष ग्रन्थों, वेदाङ्ग, षड्दर्शन, मनुस्मृति आदि को प्रमाण स्वीकार करते हैं, किन्तु तन्त्र, पुराण, उपपुराण तथा नवीन स्मृतिग्रन्थों को प्रमाणकोटि में नहीं मानते।[१५]

बम्बई निवासकाल में स्वामीजी का सम्पर्क महाराष्ट्र के उस प्रबुद्ध वर्ग से भी हुआ जो प्रार्थनासमाज के माध्यम से सुधारवादी कार्य में संलग्न थे।[१६] पुनर्जागरण का जो आन्दोलन बंगाल में ब्रह्मसमाज के माध्यम से सक्रिय था, वही महाराष्ट्र में प्रार्थनासमाज के नाम से नवीन विचारों के प्रसार में संलग्न हुआ। पं. विष्णु परशुराम शास्त्री तथा डा. रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर इसके प्रमुख सूत्रधार थे। यद्यपि प्रार्थनासमाज के समाजसुधार विषयक कार्यक्रम तथा धर्म संशोधन की अनेक बातों में स्वामीजी की पूर्ण सहमति थी, किन्तु दोनों के बीच वैचारिक अन्तर भी पर्याप्त था। एक दिन प्रार्थनासमाज के उपर्युक्त दोनों कर्णधार स्वामीजी से भेंट करने आये। वार्तालाप अनेक विषयों पर हुआ, जिनमें 'वेद में एकेश्वरवाद का प्रतिपादन है, अथवा बहुदेववाद का' मुख्य विचारणीय था। डा. भण्डारकर की यह धारणा थी कि वेदों में एकाधिक देवताओं के स्तुतिपरक मंत्र उपलब्ध होते हैं, जब कि स्वामी जी की सम्मति थी कि वेदों में विशुद्ध एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया गया है। अपने मत के समर्थन में डा. भण्डारकर ने ऐतरेय ब्राह्मण के शुनःशेप प्रकरण की चर्चा की, जिसके अनुसार ऋषि कुमार शुनःशेप ने अपने आपको यूप बंधन से छुड़ाने के लिये क्रमशः अनेक देवताओं से प्रार्थना की थी।[१७] स्वामीजी ने जब इस शंका का समाधान किया तो डा. भण्डारकर को संतुष्टि नहीं हुई। प्रार्थनासमाज के ये दोनों सभासद स्वामीजी से वैचारिक तालमेल स्थापित नहीं कर सके और उनके अकारण विरोधी बन गये। विष्णु परशुराम शास्त्री का विरोध भाव तो इतना बढ़ा कि कहां तो वे स्वामीजी से भेंट के पूर्व मूर्तिपूजा को अवैदिक मानते थे, किन्तु अब वे उसे वेदानुकूल स्वीकारने लगे। उन्होंने गुजराती पत्र 'इन्दु-प्रकाश' में स्वामीजी के विरोध में लेखादि भी लिखे तथा उनके विचारों को 'दूरस्थाः पर्वता रम्याः' की संज्ञा प्रदान की।

बम्बई में स्वामीजी के व्याख्यान इस प्रकार हुए—प्रथम व्याख्यान फ्रामजी कावस जी हॉल में २५ नवम्बर १८७४ को मूर्तिपूजा तथा वल्लभ सम्प्रदाय की आलोचना विषयक हुआ। वल्लभ मतानुयायियों ने पं. बेचर शास्त्री को शास्त्रार्थ के लिये प्रस्तुत किया, परन्तु नियम पूर्वक शास्त्रार्थ आरम्भ होने से पूर्व ही विरोधी लोगों ने हल्ला गुल्ला मचा कर सभा भंग कर दी। इस पर स्वामीजी अपनी गाड़ी में बालकेश्वर लौट गये।

द्वितीय व्याख्यान भी इसी सभागार में २८ नवम्बर को हुआ। इसका विषय था 'आर्यों का विगत इतिहास'। व्याख्यान को गुजराती पत्र इन्दुप्रकाश ने भूरिशः उद्धृत

किया।[१८] 'गुजरात मित्र' ने इन व्याख्यानों पर अपनी सम्पादकीय टिप्पणी लिखी। 'सुबोध पत्रिका' ने भी उनके बम्बई आगमन का विवरण प्रकाशित किया।[१९]

बड़ौदा के दीवान सर टी. माधवराव भी स्वामीजी से भेंट हेतु उपस्थित हुए और विभिन्न धार्मिक विषयों पर चर्चा करते रहे। स्वामीजी अब यह अनुभव करने लगे थे कि मौखिक प्रचार के साथ साथ ग्रन्थ लेखन तथा साहित्य प्रणयन के द्वारा भी वैदिक विचारधारा को प्रचारित, प्रसारित किया जा सकता है। अतः उन्होंने अपने बम्बई निवास काल में विभिन्न ग्रन्थों की रचना कर उन्हें प्रकाशित कराया। इस अवधि में उन्होंने जिन ग्रन्थों को लिखा उनमें तीन खण्डनमण्डनात्मक ग्रन्थ थे।[२०] इनके अतिरिक्त संस्कारविधि, पञ्चमहायज्ञविधि एवं आर्याभिविनय भी बम्बई प्रदेश की यात्रा में ही लिखे गये। इनका उल्लेख यथास्थान किया जायगा। स्वामीजी के एक प्रशंसक और भक्त पं. कृष्णराम इच्छाराम वेदान्त मत के अनुयायी थे। उनकी यह धारणा थी कि शंकराचार्य तथा योग वासिष्ठकार के समक्ष दयानन्द द्वारा अद्वैतमत का खण्डन करना हास्यास्पद है। यह एक संयोग ही था कि इन्हीं पं. कृष्णराम इच्छाराम को अपना सहकारी बनाकर स्वामी दयानन्द ने 'वेदान्तिध्वान्तनिवारण' ग्रन्थ लिखवाया। इस लघु ग्रन्थ की रचना दो दिनों में ही समाप्त हो गई थी तथा इसका प्रथम संस्करण ओरियंटल प्रेस बम्बई में मुद्रित हुआ।[२१]

इसी समय स्वामीजी का ध्यान आर्यों के नित्यकर्म विषयक ग्रन्थ के लिखने की ओर भी गया। फलतः उन्होंने 'पञ्चमहायज्ञ विधिः' प्रकाशित की।[२२] इसमें गृहस्थों के नित्य किये जाने योग्य ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, बलिवैश्वदेव यज्ञ तथा अतिथियज्ञ का विधान किया गया है। स्वामीजी वेदों का सुविस्तृत भाष्य लिखने का विचार कर रहे थे। यद्यपि अभी तक उनकी इस सम्बन्ध में कोई सुनिश्चित योजना नहीं थी, किन्तु वे अपनी वेदार्थ शैली को पाठकों तथा विद्वत् समुदाय के समक्ष प्रस्तुत करने के लिये उत्सुक अवश्य थे। इसी दृष्टि से उन्होंने कार्तिक १९३१ वि. में ही ऋग्वेद के प्रथम मंत्र का भौतिक और पारमार्थिक अर्थ करते हुए उसे गुजराती और मराठी अनुवाद सहित प्रकाशित किया तथा विद्वानों की सेवा में विचारार्थ भेजा।[२३] जिन लोगों को वेदार्थ का यह नमूना भेजा गया, उनमें काशी के पं. बालशास्त्री तथा स्वामी विशुद्धानन्द के अतिरिक्त बुलन्दशहर के कलेक्टर श्री एफ. एस. ग्राउस तथा राजकीय संस्कृत कालेज बनारस के प्रिंसिपल श्री ग्रिफिथ के नाम उल्लेखनीय हैं। वेदार्थ के इस प्रथम प्रयास पर उपर्युक्त विद्वानों की प्रतिक्रिया अनुकूल नहीं रही।

धीरे धीरे स्वामीजी की लोक विश्रुत कीर्ति समुद्रपारीय देशों तक फैलने लगी। बम्बई के अनेक सुशिक्षित लोग भी उनके सम्पर्क में आये तथा उनसे विधिवत् अनेक शास्त्रों का अध्ययन करने लगे। ऐसे लोगों में सेवकलाल कृष्णदास[२४] तथा रामदास छबीलदास[२५] का नाम उल्लेखनीय है। अब स्वामीजी का विचारक्षेत्र जहां अधिकाधिक व्यापक हो रहा था, तो उनका कार्यक्षेत्र भी निरन्तर विस्तृत होता जा रहा था। अब वे धार्मिक समस्याओं पर चिन्तन करने के साथ साथ आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक प्रश्नों पर भी सुव्यवस्थित रूप से सोचने लगे थे। बम्बई जैसे उद्योग एवं व्यवसाय प्रधान नगर में रहकर वे देशवासियों की आर्थिक कठिनाइयों को प्रत्यक्ष रूप से देख रहे थे। भारतवासियों की दीन, हीन और विपन्न

दशा को देख कर उन्होंने अनुभव किया था कि देश का धन विदेशों में जा रहा है तथा पश्चिमी देशों की औद्योगिक उन्नति की तुलना में हमारे देश का व्यवसाय और वाणिज्य बहुत पिछड़ा हुआ है। उनके प्रगतिशील सामाजिक एवं राजनैतिक विचारों को सुनने के लिये अनेक अंग्रेज राजकर्मचारी भी बड़ी संख्या में आते थे। स्वामीजी की धारणा थी कि भारतवासियों की सर्वतोमुखी प्रगति तभी सम्भव है जब यहां का ब्राह्मण वर्ग त्याग, तपस्या एवं बलिदान का आदर्श उपस्थित करे तथा क्षत्रिय वर्ग अपने बल, वीर्य, शौर्य और पराक्रम आदि गुणों को धारण कर राष्ट्ररक्षण के लिये बद्धपरिकर हो। वे उन ब्राह्मणों की भूरि भूरि प्रशंसा करते, जिन्होंने परम्परागत ढंग से वेदों का अध्ययन कर उन्हें पूर्णतया सुरक्षित रक्खा।

जैसा कि हम देख चुके हैं, बम्बई में स्वामीजी का प्रबल विरोध वल्लभ सम्प्रदायानुयायियों की ओर से ही हुआ। इधर स्वामीजी ने भी पाखण्ड और दुराचार के तुल्य तत्कालीन वल्लभ सम्प्रदाय के दुर्ग पर आक्रमण करने का निश्चय किया। एतदर्थ उन्होंने 'वेदविरुद्ध मत खण्डन'[२६] नामक ग्रन्थ लिखकर प्रकाशित किया। इस पर वल्लभ मतानुयायी पुनः शास्त्रार्थ समर में स्वामीजी को पराजित करने की योजना बनाने लगे। जब वे अपने ही किसी अनुयायी को शास्त्रार्थ के लिये सन्नद्ध नहीं कर सके, तो उन्होंने पं. गट्टूलाल[२७] नामक एक विद्वान् को स्वामीजी से शास्त्रार्थ समर में उतरने के लिये तैयार किया। उनकी धारणा थी कि यदि पं. गट्टूलाल वल्लभ सम्प्रदाय के प्रवक्ता बन कर शास्त्रार्थ करें, तो निश्चय ही स्वामीजी को पराजित कर सकते हैं। परिणामस्वरूप शास्त्रार्थ चर्चा चलाई गई। पं. गट्टूलाल का आग्रह था कि शास्त्रार्थ के समय एक विद्वान् को आशुलेखक के रूप में रखना चाहिए, जो दोनों पक्षों के वक्तव्य को बराबर लिखता रहे। उधर स्वामीजी ने शर्त रखी कि यदि मूर्तिपूजा की वैदिकता पं. गट्टूलाल सिद्ध कर देंगे तो वे स्वयं संन्यास आश्रम को तिलाञ्जलि देकर कण्ठी तिलकादि वैष्णव चिह्नों को धारण कर लेंगे, किन्तु यदि पण्डितजी मूर्तिपूजा की वैदिकता सिद्ध नहीं कर सके, तो देवमूर्तियों को मंदिरों से उठाकर पृथक् करना होगा तथा इन देवालयों में वैदिक पाठशालाओं की स्थापना करनी होगी।

स्वामीजी की इस अद्भुत प्रतिज्ञा को सुनकर पं. गट्टूलाल ने शास्त्रार्थ से बचने के लिए एक विचित्र बात कही। उसका कथन था कि यदि मैं दयानन्द से पराजित हो गया, तो कोई बात नहीं, किन्तु मेरी पराजय के कारण यदि देवमूर्तियों का मंदिरों से निष्कासन हुआ, तो इस पाप का भागी कौन होगा ? जब स्वामीजी को पं. गट्टूलाल की इस बात से अवगत कराया गया, तो उन्होंने उदारभाव से अपनी प्रतिज्ञा का उत्तरवर्ती अंश छोड़ दिया, जिसमें कहा गया था कि पं. गट्टूलाल के पराजित होने पर मंदिरों से मूर्तियों को हटाना होगा। अब उनका यही आग्रह था कि पण्डितजी को उनके समक्ष आकर मूर्तिपूजा की सिद्धि करनी चाहिए।

अब वैष्णव मतावलम्बियों के लिये शास्त्रार्थ कराना प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया। अतः इस सम्प्रदाय के कतिपय प्रतिष्ठित पुरुषों के हस्ताक्षरों से एक पत्र स्वामीजी को भेजा गया, जिसमें कहा गया था कि ५ दिसम्बर १८७४ को सायंकाल चार बजे से आठ बजे तक लाल बाग में शास्त्रार्थ सभा आयोजित की जा रही है। दोनों पक्षों की ओर से पचास पचास सद्

गृहस्थ उपस्थित रहेंगे। सभा में शान्ति बनाये रखने के लिये पुलिस की व्यवस्था होगी, आदि। ५ दिसम्बर को शास्त्रार्थ सभा के आयोजन के पीछे एक रहस्य था। स्वामीजी को सूचना भेजने वालों को यह ज्ञात था कि उसी दिन उनका एक व्याख्यान फ्रामजी कावस जी हॉल में रक्खा गया है। अतः उनकी यह धारणा थी कि व्याख्यान का निश्चित कार्यक्रम छोड़ कर स्वामीजी लाल बाग में शास्त्रार्थ हेतु उपस्थित नहीं होंगे और उन्हें यह कहने का अवसर मिल जायगा कि अपने पक्ष की दुर्बलता को जान कर ही दयानन्द शास्त्रार्थ के लिये नहीं आये।

जब स्वामीजी ने इस पत्र से अपने सहयोगियों को अवगत कराया, तो निश्चय हुआ कि सेठ मथुरादास लवजी तथा श्री पानाचंद आनन्द जी पारेख दि. ४ दिसम्बर को पं. गट्टूलाल से मिलें तथा उन्हें स्वामीजी की शास्त्रार्थ विषयक निम्न शर्तों से अवगत करादें—

१. शास्त्रार्थ का विषय वल्लभ प्रवर्तित मत का वेदशास्त्रों के अनुकूल होना या न होना होगा। स्वामीजी यह सिद्ध करेंगे कि यह सम्प्रदाय वेदविरुद्ध है, जब कि पं. गट्टूलाल इसे वेदानुमोदित सिद्ध करेंगे।

२. शास्त्रार्थ लेखबद्ध होगा। प्रत्येक लेख पर दोनों विद्वानों के हस्ताक्षर होंगे।

३. षट् शास्त्रार्थवेत्ता पण्डित सभा में उपस्थित रहेंगे, तथा दोनों ओर के पचास भद्र पुरुष भी रहेंगे।

४. जब शास्त्रार्थ समाप्त हो जायगा, तो सम्पूर्ण विवरण प्रकाशित कर जन साधारण में वितीर्ण कर दिया जायगा, जिससे कि लोग स्वयं सत्यासत्य का निर्णय कर लें।

इस प्रकार की सुस्पष्ट शर्तों को भी स्वीकार करने में जब पं. गट्टूलाल आनाकानी करने लगे, तो अन्ततः शास्त्रार्थ की बात वहीं की वहीं रह गई। इधर ५ दिसम्बर को लाल बाग में एक सभा आयोजित की गई। एक भाटिया सेठ इन्द्रजी नारायणजी ठाकुर को सभा का अध्यक्ष बनाया गया। इस सभा में हीरालाल मोहनलाल नामक एक व्यक्ति ने खड़े होकर घोषणा की कि यह सभा स्वामी दयानन्द से शास्त्रार्थ हेतु आयोजित की गई है। यदि स्वामीजी यहां आकर अपने पक्ष का प्रतिपादन नहीं करते हैं, तो उन्हें पराजित घोषित किया जायगा। इसके पश्चात् पं. गट्टूलाल ने अपना भाषण आरम्भ किया। उन्होंने षड्विंश ब्राह्मण के उसी स्थल को उद्धृत किया जिसमें प्रतिमाओं के हंसने, रोने, आदि का उल्लेख मिलता है।[२५] साथ ही यजुर्वेद के पन्द्रहवें अध्याय के एक मंत्र को उद्धृत किया जिसमें 'प्रतिमा' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[२६] इस पर जब पं. जनार्दन गोपाल सालिसिटर ने पूछा कि मंत्र में प्रयुक्त 'प्रतिमा' शब्द से मंदिरों में पूजित पाषाण प्रतिमाओं का अर्थ लेना कहाँ तक संगत है, तो पं. गट्टूलाल कोई उत्तर नहीं दे सके।

गट्टूलाल के ही एक अन्य शिष्य पं. कालिदास ने तो यहां तक पूछ लिया कि लालजी (मक्खन निर्मित बालकृष्ण की प्रतिमा) की मूर्ति का विधान वेदों में कहाँ है? पुष्टि मार्ग तथा उसके मूर्तिपूजा विषयक मन्तव्यों की जब वेदों से सिद्धि होना सभा के आयोजकों को असम्भव जान पड़ा, तो उन्होंने सभा को ही विसर्जित कर दिया। इस प्रकार जन साधारण पर यह स्पष्ट हो गया कि वल्लभ सम्प्रदाय तथा उसकी मान्यताओं के लिये वेदों में कोई आधार नहीं है।

पं. गट्टूलाल से शास्त्रार्थ का यह प्रकरण समाप्त होने पर स्वामीजी ने गुजरात की ओर जाने का निश्चय किया। इस पर पौराणिक समुदाय ने यह प्रसिद्ध करना चाहा कि शास्त्रार्थ के भय से ही स्वामीजी बम्बई छोड़ कर जा रहे हैं। इस प्रवाद का समाधान करने के लिये स्वामीजी के शिष्य गिरधरलाल दयालदास कोठारी ने एक विज्ञापन निकाल कर इस भ्रम का निवारण कर दिया और स्पष्ट घोषित किया कि यदि वैष्णव लोग सचमुच ही शास्त्रार्थ के लिये इच्छुक हैं, तो वे लोग मध्यस्थ निश्चित करें। हम स्वामीजी को शास्त्रार्थ के लिये पुनः बम्बई ले आयेंगे।

जन्मभूमि गुजरात में—

वर्षों पश्चात् दयानन्द एक बार फिर अपनी जन्मभूमि गुर्जर देश में आये हैं। किसे पता था कि टंकारा ग्राम का वह ब्राह्मण युवक जो संवत् १९०३ की किसी अज्ञात संध्या को घर परिवार के मोह को छोड़ कर वैराग्य पथ का पथिक बन गया था, एक बार पुनः अपनी मातृभूमि के दर्शन करने आयगा। अब वह सर्वथा नवीन रूप में आ रहा है। गृहत्याग के समय तो वह सर्वथा अपरिचित एवं अख्यात था, किन्तु इस समय देशवासी उसे अप्रतिम समाजसुधारक, युगप्रवर्त्तक तथा राष्ट्र पुरुष के रूप में जानते हैं। १ दिसम्बर १८७४ ई. (मार्गशीर्ष कृष्णा अष्टमी १९३१ वि.) मंगलवार को स्वामीजी सूरत पहुंचे। इस समय के प्रवास में उनके साथ पं. कृष्णराम इच्छाराम[३०] सहायक के रूप में रहे। उनके निवास की प्रथम बार व्यवस्था राव बहादुर जगजीवनदास डिप्टी कलेक्टर के उद्यान में की गई। यह स्थान ताप्ती नदी के किनारे पर्याप्त जनसंकुल था तथा समीप में नदी का घाट होने के कारण स्त्रियों का स्नानार्थ आवागमन बना रहता था। फलतः स्वामीजी को असुविधा हुई और उन्हें सेठ नगीनदास के बंगले में ले आया गया। निवास की व्यवस्था तो हो गई, किन्तु किसी ने उनके भोजन का प्रबंध नहीं किया। सूरत निवासियों की धारणा थी कि स्वामीजी के शिष्य बम्बई के अनेक धनाढ्य साहूकार हैं, अतः उन्हें रुपये पैसे की क्या कमी है? परन्तु वस्तुस्थिति सर्वथा भिन्न थी। स्वामीजी के पास स्वल्प मात्रा में जो द्रव्य था, वह दो चार दिन में ही व्यय हो गया और उन्हें कुछ दिनों तक मात्र खिचड़ी पर ही निर्वाह करना पड़ा। अन्ततः पं. कृष्णराम इच्छाराम ने पं. नर्मदा शंकर[३१] से कह कर स्वामीजी के भोजन की समुचित व्यवस्था करा दी।

पं. दुर्गाराम मेहता[३२] गवर्नमेंट गुजराती स्कूल के मुख्याध्यापक थे। वे अपनी सुधारवादी प्रवृत्तियों के कारण 'सूरत के लूथर' कहे जाते थे। मेहताजी ने पं. नर्मदाशंकर दवे से परामर्श कर निश्चय किया कि स्वामीजी के पांच व्याख्यान इस नगर में कराये जायें। तदनुसार प्रथम व्याख्यान एण्ड्रूज पब्लिक लाइब्रेरी में २ दिसम्बर को हुआ। सभापति पद पर डिप्टी कलेक्टर जगजीवनदास आसीन हुए। इस व्याख्यान में स्वामीजी ने भारतवर्ष के कतिपय सम्प्रदायाचार्यों तथा सुधारकों के सम्बन्ध में अपने अभिमत को प्रकट किया। सर्व प्रथम उन्होंने ब्रह्मसमाज के संस्थापक राजा राममोहनराय के सम्बन्ध में प्रशंसापूर्ण उद्‌गार व्यक्त किये तथा समकालीन ब्रह्मसमाज की धारणाओं से राममोहनराय के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का विरोध एवं पार्थक्य प्रकट किया। तत्पश्चात् उन्होंने गुजरात प्रदेश में प्रचलित वल्लभाचार्य के वैष्णव मत तथा सहजानन्द प्रवर्तित स्वामीनारायण मत के सिद्धान्तों की आलोचना की। इस

व्याख्यान से श्रोताओं पर यह स्पष्ट हो गया कि स्वामीजी को इस देश में प्रचलित विभिन्न मत-सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का गम्भीर ज्ञान है तथा वे निष्पक्ष रीति से इनकी समालोचना कर सकते हैं। अभी उनकी वक्तृता समाप्त भी नहीं हुई थी कि 'गुजरातमित्र' के सम्पादक के भाई घेला भाई ने उठ कर स्वामीजी की स्वामीनारायण मत विषयक कतिपय उपपत्तियों का प्रतिवाद किया। सभापति ने उन्हें शान्त होकर पूरा व्याख्यान सुनने के पश्चात् ही अपनी सम्मति प्रकाशित करने के लिये कहा। परन्तु व्याख्यान के समाप्त हो जाने पर घेलाभाई कुछ भी कहने में असमर्थ रहे, जब कि स्वामीजी ने घोषित कर दिया था कि वे सहजानन्द के मत विषयक शास्त्रार्थ चर्चा के लिये तैयार हैं। इस पर निर्भयराम मनसुखराम कन्ट्रेक्टर नामक एक व्यक्ति ने, जो स्वयं इस सम्प्रदाय में दस वर्ष तक रह चुका था, खड़े होकर स्वामीजी के कथन का समर्थन किया।

इस नगर में स्वामी दयानन्द का दूसरा व्याख्यान चार दिसम्बर को गवर्नमेंट हाई स्कूल के प्राङ्गण में हुआ। इसमें स्वामीजी ने बौद्ध, जैन, तंत्र तथा पुराणसम्मत मतों का विवेचन करते हुए इन मतों में विद्यमान आर्यधर्म के कतिपय तत्त्वों का निरूपण किया। उनकी तीसरी वक्तृता रायचंद दीपचंद कन्याशाला में हुई। चतुर्थ व्याख्यान सात दिसम्बर को रघुनाथपुरे में ठाकुरभाई चुन्नीलाल चकावाला के शिवमंदिर के निकट के एक मकान में होना था। यहां एक कठिनाई यह आई कि जिस समय महाराज वक्तृता के लिये निश्चित स्थान पर उपस्थित हुए, तो देखा गया कि मकान भीतर से बंद है। उपस्थित भक्तसमुदाय ने उसे खुलवाने का यत्न किया, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। तब स्वामीजी मकान के बाहर ही एक कुर्सी पर बैठ गये। उनका भाषण तुरन्त आरम्भ हो गया, जिसे लोगों ने मुग्ध भाव से सुना।

पांचवां व्याख्यान पं. नर्मदाशंकर के गृह के निकट मैदान में आयोजित किया गया। इसका सभापति पद पं दुर्गाराम मेहता ने ग्रहण किया था। व्याख्यान का विषय था अद्वैतवाद। इससे पूर्व कि स्वामीजी व्याख्यान आरम्भ करते, पं. इच्छाशंकर शास्त्री ने कुछ शंकायें रखना आरम्भ कर दिया। इस पर सभापति ने उन्हें व्याख्यान सभा में व्याघात पहुंचाने के लिये रोका। तत्पश्चात् स्वामीजी ने प्रभावोत्पादक शैली में शाङ्कर अद्वैतवाद की समीक्षा की। व्याख्यान की समाप्ति पर पं. इच्छाशंकर द्वारा प्रस्तुत शंकाओं का भी समाधान कर दिया गया। इस समय तक संध्या हो गई थी। अभी स्वामीजी सभास्थल से उठे भी नहीं थे कि उपद्रवी लोगों ने ईंटें फेंकना आरम्भ कर दिया। उपद्रव की आशंका जान कर स्वामीजी को सकुशल उनके निवास पर पहुंचा दिया गया।

बम्बई महानगर में वल्लभ सम्प्रदाय का जैसा प्रचार प्रसार था, कुछ उसी प्रकार का, गुजरात प्रान्त में स्वामीनारायण मत का भी रहा है। यहां आकर उन्होंने इस सम्प्रदाय के विषय में गहराई से जानकारी प्राप्त की तथा उसके साधिकार खण्डन में प्रवृत्त हुए। सूरत के निकट कतार ग्राम में स्वामीनारायण मत के कुछ साधु तो स्वामीजी के खण्डन से इतने भयभीत हो गये कि उन्होंने उस मार्ग से आना जाना ही छोड़ दिया, जिस पर स्वामीजी सूरत निवास काल में ठहरे थे। इसी ग्राम के निवासियों ने जब स्वामीजी को अपने यहां

आमंत्रित किया तो संन्यासी ने प्रसन्नमना वहां जाकर उन्हें अपने उपदेशों से कृतार्थ किया। स्वल्प काल तक वे आम्रवाटिका में विराजे तथा उन्हीं के साथ नवान्न को भून कर खाया। स्वामी दयानन्द देशवासियों के सभी वर्गों से पूर्ण आत्मीय भाव रखते थे।

स्वामीनारायण मत की तीव्र आलोचना से रुष्ट होकर 'गुजरातमित्र' के सम्पादक स्वामीजी के कट्टर विरोधी बन गये। अब वे दोषदर्शन की प्रवृत्ति से अपने पत्र में उनकी तीखी आलोचना करने लगे। १२ दिसम्बर १८७४ के अंक में तो उनकी आलोचना इतनी मुखर तथा आक्रामक हो गई थी कि उसका औचित्य स्वीकार करना ही कठिन था। इसमें स्वामीजी के व्याख्यानों को विद्वेषपूर्ण तथा साम्प्रदायिक सद्भाव को भंग करने वाला बताया। ऐसा लिखकर मानो प्रकारान्तर से उसने शासन को संकेत दिया कि स्वामीजी के व्याख्यानों से शान्ति भंग होने की आशंका है। परन्तु पूर्वग्रह ग्रस्त सम्पादक की आलोचना का कोई प्रभाव जनसाधारण पर नहीं पड़ा। पं. घासीराम के अनुसार स्वामीनारायण मत के खण्डन में 'शिक्षापत्री ध्वान्तनिवारण' ग्रन्थ की रचना स्वामीजी ने सूरत में ही की थी।[33]

यद्यपि साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के लोगों ने स्वामीजी के हार्दिक भावों को समझने में सदा ही भूल की, किन्तु निश्छल प्रकृति के सदाशयी लोग उनके व्यक्तित्व एवं विचारों के प्रति आकृष्ट होते ही थे। साधुमना व्यक्ति ही साधु स्वभाव के प्रशंसक होते हैं। सूरत में एक ऐसे ही साधु पुरुष मोहनबाबा ब्रह्मचारी रहते थे। वे यद्यपि वेदान्तवादी थे, किन्तु मूर्तिपूजा आदि साम्प्रदायिक पाखण्डों के प्रति उनके हृदय में घोर घृणा तथा वितृष्णा थी। सूरत में महाराज का आगमन सुन कर वे दर्शनार्थ श्रीसेवा में उपस्थित हुए तथा अपने आश्रम पर पधार कर आतिथ्य स्वीकार करने का उन्होंने स्वामीजी से अनुरोध भी किया। सच्चे भक्त के आग्रह को अस्वीकार करना स्वामीजी के लिये भी असम्भव था। अतः एक दिन वे पं. नर्मदाशंकर, पं. दुर्गाराम तथा पं. कृष्णराम आदि के साथ मोहनबाबा के आश्रम में पधारे।

मोहनबाबा ने चंदन, पुष्प माला आदि से संन्यासी का सत्कार किया। पुनः उन्हीं के विशेष आग्रह पर गुर्जर देश की रीति के अनुसार, अन्य वस्त्रों को उतार केवल रेशमी उत्तरीय धारण कर स्वामीजी ने उपस्थित जनों के साथ भोजन भी किया। मोहन बाबा की शिष्याओं ने स्वामीजी के दर्शन की प्रबल इच्छा व्यक्त की। प्रथम तो चतुर्थ आश्रम की मर्यादा रक्षा की दृष्टि से स्वामीजी ने महिला वर्ग के समक्ष जाने में संकोच किया, किन्तु अत्यधिक आग्रह करने पर वे उस कक्ष में गये, जहां महिलाएं उपस्थित थीं। इस अवसर पर वे निरन्तर भूमि की ओर दृष्टि लगाये बैठे रहे। उन्होंने महिलाओं को चरण छूने की भी आज्ञा नहीं दी। भक्त नारियों ने दूर से पुष्पाञ्जलि अर्पित कर परमहंस के प्रति अपनी श्रद्धा समर्पित की।

दिसम्बर १८७४ में ही स्वामीजी भड़ौंच पहुंचे तथा नर्मदा तट पर एक धर्मशाला में ठहरे। इसी स्थान पर उनके व्याख्यान भी होने लगे। प्रथम दिन के व्याख्यान की समाप्ति पर पं. माधवराव त्र्यम्बकराव नामक एक दाक्षिणात्य विद्वान् शास्त्रार्थ हेतु स्वामीजी के समक्ष आये। सर्व प्रथम स्वामीजी ने अपने प्रतिपक्षी से उनके अध्ययन के सम्बन्ध में पूछा। उत्तर में पं. माधवराव ने कहा कि उन्होंने व्याकरण में सिद्धान्तकौमुदी तथा कुछ काव्यशास्त्र का

भी अध्ययन किया है। इस पर स्वामीजी ने स्पष्ट किया कि व्याकरण तथा काव्य के ज्ञान के बल पर तो शास्त्रीय विषयों से सम्बन्धित चर्चा नहीं हो सकती। जब उन्होंने वेदादि शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया, तो स्वप्रतिज्ञानुसार वे मूर्तिपूजादि विधानों को इन ग्रन्थों से कैसे सिद्ध करेंगे ? इस पर पं. माधवराव ने स्वीकार किया कि उन्होंने ऋग्वेद का कुछ अंश भी पढ़ा है। तब स्वामीजी ने उनसे अनुरोध किया कि वे ऋग्वेद के ही किसी मंत्र से प्रतिमापूजन को सिद्ध कर दें। उनके संकेत पर पं कृष्णराम ने चारों वेदों की पुस्तकें भी उपस्थित कर दीं। अब माधवराव विकट स्थिति में पड़े। येन केन प्रकारेण उन्होंने ऋग्वेद का एक मंत्र प्रस्तुत किया तथा उसका अर्थ करने लगे। स्वामीजी ने पदे पदे उनके द्वारा किये गये मंत्रार्थ की अशुद्धियों का निदर्शन किया, तो पण्डित जी मौन धारण कर बैठ गये।

इस प्रकार यह शास्त्रार्थ प्रकरण समाप्त हुआ। पं. माधवराव के एक शिष्य ने अपने गुरु की पराजय से खिन्न होकर कुछ अशिष्ट व्यवहार किया तो स्वामीजी के सेवक बलदेवसिंह ने तुरन्त उसे डपट दिया। पं. माधवराव ने अपनी पराजय से क्षुब्ध होकर एक अन्य सभा आयोजित की तथा उसमें व्याख्यान देकर स्वामीजी के प्रति अपने दूषित उद्‌गारों को व्यक्त किया। जब स्वामीजी को इस सभा का विवरण ज्ञात हुआ, तो उन्होंने अपने ही स्थान पर एक अन्य व्याख्यान देकर पं. माधवराव के व्याख्यान में प्रस्तुत किये गये मूर्तिपूजा विषयक संदर्भों का सप्रमाण खण्डन किया। इस व्याख्यान में उत्तर भारत के हिन्दी भाषी सिपाही भी बड़ी संख्या में उपस्थित थे। जब भाषण के दौरान माधवराव के एक शिष्य ने उद्दण्डता प्रदर्शित करते हुए स्वामीजी के लिये कुछ अपमानजनक बातें कहीं, तो इन सिपाहियों ने उसे पीटना चाहा। स्वामीजी ने बीच बचाव किया, अन्यथा उसकी पिटाई निश्चित थी। स्वामीजी के मूर्तिपूजाखण्डन परक व्याख्यान को सुन कर एक रोमन कैथोलिक ईसाई ने व्याख्यानस्थल पर ही घोषणा कर दी कि दूसरे दिन वह इसी स्थान पर मूर्तिपूजा के समर्थन में व्याख्यान देगा। उसने स्वामीजी को भी व्याख्यान सुनने के लिये आमंत्रित किया। दूसरे दिन ईसाई महाशय ने मूर्तिपूजा के समर्थन में अपनी युक्तियां प्रस्तुत कीं। स्वामीजी भी उसके भाषण को सुनने के लिये उपस्थित होकर एक सामान्य श्रोता की ही भांति सभा में बैठे थे। कुछ दिन पश्चात् उन्होंने एक अन्य व्याख्यान देकर ईसाई व्याख्यान-दाता की युक्तियों का प्रबल खण्डन कर दिया।

सामान्यतया स्वामीजी स्त्रियों के सम्मुख उपदेश नहीं करते थे। परन्तु भड़ौंच में एक अवसर ऐसा आया, जब कि उन्हें स्त्री समूह को सम्बोधित करना पड़ा। इस प्रसंग में उन्होंने नारी जाति को पति सेवा का उपदेश करते हुए स्पष्ट कह दिया कि स्त्रियों को स्वपतियों से ही स्वकर्त्तव्यों की शिक्षा लेनी चाहिए। यत्र तत्र ढोंगी गुरुओं और पाखण्डी साधुओं के दर्शनार्थ भटकने को उन्होंने अत्यन्त अनुचित बताया। भारतीय नारी के विलुप्त गौरव को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिये स्वामीजी सदा सचेष्ट रहते थे।

प्रचलित गुरुपरम्परा में व्याप्त दोषों को दूर करने हेतु वे यत्नशील थे। भड़ौंच प्रवास काल में जब ठाकुर उमरावसिंह ने उनसे शिष्य बना लेने तथा गुरु मंत्र देने का अनुरोध किया तो स्वामीजी ने स्पष्ट कर दिया कि कान में फूंक मार कर मंत्र देना और

शिष्य बनाना उनके सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। उन्होंने यह भी कहा कि वेद तो मंत्रों के भण्डार ही हैं, पुनः गुरु से मंत्र लेने का क्या अभिप्राय है? अपने शिष्य वर्ग तथा कर्मचारियों को शिष्टजनोचित व्यवहारों की शिक्षा देने में भी वे तत्पर रहते थे। जब एक विद्यार्थी उनकी ओर पैर करके सो गया, तो स्वामीजी ने उसे समझाया कि गुरुजनों की ओर पैर करके बैठना, सोना अथवा उनके वार्तालाप के बीच में अप्रासंगिक रूप में बोल पड़ना अशिष्टता है। एक अन्य छात्र ने जब कुएं से जल ले आने के आदेश की अवहेलना यह कर कह की कि वह तो ब्राह्मण है, भला वह कहार की भांति जल कैसे ला सकता है, तो स्वामीजी ने उसे समझाते हुए कहा कि जाति का मिथ्या अभिमान त्याज्य है। उन्होंने यह भी कहा कि सेवा से बढ़कर कोई अन्य धर्म नहीं है। इसी प्रसंग में उन्होंने अपनी छात्रावस्था के संस्मरण सुनाते हुए बताया कि एक बार तो दण्डीजी के हाथों की मुझे भी मार खानी पड़ी थी। बात यों हुई कि उनका एक सहपाठी स्वामीजी के प्रति आचार्यप्रवर का विशेष अनुराग देख कर उनके प्रति द्वेषभाव रखने लगा। एक दिन उसने दण्डीजी से दयानन्द की शिकायत करते हुए कह दिया कि प्रत्यक्षतः तो दयानन्द उनके प्रति विनीत भाव दिखाता है, किन्तु परोक्ष में उनकी नकल उतारता है, तथा आंखें बंद कर लाठी टेकते हुए चल कर प्रज्ञाचक्षुजी का उपहास करता है। स्वामीजी ने आगे बताया, सहपाठी से यह सुन कर गुरुजी रुष्ट हुए और उन पर यष्टिप्रहार कर बैठे। अपनी बात को प्रमाणित करने के लिये स्वामीजी ने अपने शरीर पर लगी उस चोट के निशान को भी दिखाया।[३४] अपने से छोटों के प्रति उनका व्यवहार अत्यन्त स्नेहपूर्ण तथा सौहार्दयुक्त होता था। एक दिन जब पं. कृष्णराम को ज्वर हो गया, तो महाराज स्वयं उनका सिर दबाने लगे। भक्त के आपत्ति करने पर उन्होंने कहा कि यदि बड़े छोटों के प्रति स्नेह तथा सेवा का प्रदर्शन नहीं करेंगे तो छोटों में ये भाव कहां से आयेंगे?

इस प्रकार कुछ दिन भड़ौंच में ठहरने के पश्चात् स्वामीजी मार्गशीर्ष तृतीया शुक्ला १९३१ वि. (११ दिसम्बर १८७४) शनिवार को रात्रि के समय अहमदाबाद पहुंचे। रेलवे स्टेशन पर उनके स्वागत के लिये महीपतराम रूपराम[३५] तथा गोपालराव हरिदेशमुख[३६] आदि गण्यमान्य व्यक्ति उपस्थित थे। उन्हें माणिकेश्वर के मंदिर में ठहराया गया। प्रारम्भ में उनके तीन व्याख्यान १२, १३ तथा १४ दिसम्बर को हुए। प्रथम दिन का व्याख्यान मूर्तिपूजा विषय पर हेमाभाई इन्स्टीट्यूट में तथा अवशिष्ट दो व्याख्यान 'वर्ण व्यवस्था' पर माणिकेश्वर मंदिर में ही हुए। इन दिनों प्रार्थनासमाज का वार्षिकोत्सव मनाया जा रहा था। इस संस्था के अधिकारियों के आग्रह पर स्वामीजी ने इस अवसर पर भी एक व्याख्यान दिया।[३७] इस अवसर पर उपस्थित नगर के गण्यमान्य व्यक्तियों[३८] ने नगर के पण्डितों से स्वामीजी के शास्त्रार्थ की एक योजना बनाई। तदनुसार उन्होंने स्वहस्ताक्षरों से युक्त एक विज्ञप्ति विद्वन्मण्डली के पास भेज कर उनसे शास्त्रार्थ के लिये आने का अनुरोध किया।[३९] पण्डित गण यह कह कर शास्त्रार्थ से इन्कार कर गये कि रमते संन्यासी की बातों की क्या प्रतीति?[४०]

शास्त्रार्थ के लिये विधिवत् आमंत्रित पण्डित तो स्वामीजी के समक्ष नहीं आये, किन्तु एक दो अन्य ब्राह्मणों ने उनके निकट जाकर विभिन्न प्रकार के प्रश्न पूछे। संन्यासी

ने उनका भली भांति समाधान किया। इसके पश्चात् उन्होंने 'पुनर्जन्म' विषय पर अपना व्याख्यान भी दिया। टाइम्स आफ इण्डिया ने अपने ४ जनवरी १८७४ के अंक में स्वामी दयानन्द के अहमदाबाद निवास का संक्षिप्त विवरण देते हुए लिखा कि उन्हें न केवल वेदों का विस्तृत ज्ञान है, वरञ्च हिन्दुओं के धर्म ग्रन्थों से भी बहुत बड़ा परिचय है और जैनियों, ईसाइयों और मुसलमानों के धर्म ग्रन्थों का भी ज्ञान है। इसी पत्र ने नगर के शास्त्री वर्ग की स्वामीजी के प्रति धारण को व्यक्त करते हुए लिखा था—"शास्त्री लोग कहते हैं कि दयानन्द की विजय का कारण यह है कि सुधारक दल के पुरुष दयानन्द का पक्ष करते हैं और उनसे सहानुभूति रखते हैं।" इस कथन से पण्डित वर्ग की खीझ और झुंझलाहट ही प्रकट होती है क्योंकि यदि स्वामीजी के उदार एवं प्रगतिशील दृष्टिकोण का समर्थन तत्कालीन सुधारकों ने किया, तो यह उनकी गुणग्राहकता ही थी और इसमें कुछ अस्वाभाविकता भी नहीं थी।

पौष कृष्णा पंचमी १९३१ वि. २८ दिसम्बर १८७४ को स्वामीजी ने अहमदाबाद से राजकोट के लिये प्रस्थान किया। एक दिन के लिये उनके नड़ियाद जाने का भी उल्लेख मिलता है। पौष कृष्णा ८, ३१ दिसम्बर को वे राजकोट पहुंचे तथा कैम्प की धर्मशाला में ठहरे। यहां उनका आगमन हरगोविन्ददास द्वारकादास के निमंत्रण पर हुआ था, अतः इन्हीं सज्जन ने उनके मार्गव्यय एवं भोजन आदि की व्यवस्था के लिये चंदा एकत्रित किया। अपने निवास स्थान पर ही उनके आठ व्याख्यान भिन्न भिन्न विषयों पर हुए। एक दिन वे व्याख्यान देते और दूसरे दिन उसी विषय पर श्रोताओं की शंकाओं का उत्तर देते। जिन विषयों पर उनके व्याख्यान हुए वे निम्न थे—१. ईश्वर विषय २. धर्म ३. वेदों का अनादित्व एवं अपौरुषेयत्व ४. पुनर्जन्म का सिद्धान्त ५. विद्या और अविद्या ६. मुक्ति और बंध ७. आर्यों का पुरातन इतिहास ८. मानवी कर्त्तव्य। व्याख्यानों के विषयों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जहां स्वामीजी ईश्वर, धर्म, पुनर्जन्म जैसे आध्यात्मिक विषयों को अपनी चर्चा का विषय बनाते थे, वहां वे मनुष्य के कर्त्तव्यों तथा भारतवर्षीय आर्य जाति के गौरवपूर्ण इतिहास का आख्यान कर देशवासियों में नवजागरण के भावों को भी भरते थे। उनकी इन वक्तृताओं का शिक्षित समुदाय पर वाञ्छित प्रभाव पड़ा। अब तक किसी व्यक्ति ने स्वधर्म, स्वसंस्कृति तथा स्वदेश के गौरव को इतने उत्कृष्ट ढंग से प्रस्तुत नहीं किया था। यहां यह स्मरणीय है कि इन व्याख्यानों का विषय भी स्वामीजी ने स्वयं निर्धारित नहीं किया था, अपितु उन्होंने लोगों की इच्छा के अनुकूल ही विभिन्न विषयों पर अपने विचार प्रस्तुत किये थे।

स्वामी दयानन्द जिस नगर में भी जाते, वहां के पण्डितों से शास्त्रार्थ की चर्चा चलना तो सामान्य सी बात हो गई थी। यहां भी पं. महीधर तथा पं. जीवनराम शास्त्री से उनका मूर्तिपूजा और अद्वैतवाद पर स्वल्प वार्तालाप हुआ। स्वामीजी का अद्वैतवाद पर सीधा आक्षेप था कि यदि जीव को ब्रह्म ही समझा जाय तो उसमें परमात्मा के तुल्य सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता तथा सर्वव्यापकता आदि लक्षण कैसे घटित होंगे? उनका यह भी प्रश्न था कि क्या अल्प शक्ति वाला जीव ब्रह्म की भांति सृष्टि की रचना का सामर्थ्य रखता है? क्या वह स्वशरीर

के एक रोम को उखाड़ कर पुनः उसे यथास्थान उसी प्रकार स्थापित कर सकता है ? यदि इस प्रकार की दिव्य शक्तियां जीव में नहीं हैं, तो उसे ब्रह्म से अभिन्न कहना सत्य का अपलाप करना ही है। पण्डितों के पास स्वामीजी के प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं था।

सौराष्ट्र की देशी रियासतों के राजकुमारों की शिक्षा के लिये राजकोट में राजकुमार कालेज की स्थापना हो चुकी थी। इस कालेज के छात्रों के समक्ष स्वामीजी का एक व्याख्यान प्रिंसिपल मैकनाटन के आग्रह पर हुआ। इस समय चूंकि वे क्षत्रिय राजकुमारों के समक्ष बोल रहे थे, इसलिये उन्होंने प्रसंगानुकूल अहिंसा धर्म को अपने व्याख्यान का विषय बनाया तथा प्रसंगोपात्त मांस भक्षण के दोष वर्णित किये। इस व्याख्यान में उन्होंने हिंसामूलक होने के कारण मांसाहार को नैतिक दृष्टि से दोषास्पद बताया क्योंकि प्राणियों की हिंसा के बिना मांस सुलभ नहीं होता।[४१] व्याख्यान की समाप्ति पर प्रिंसिपल मैकनाटन ने उनका आभार प्रदर्शित करते हुए स्वीकार किया कि निश्चय ही मांसाहार के निषेध में स्वामीजी की युक्तियां अत्यन्त प्रबल तथा अनुपेक्षणीय हैं। कालेज से विदा देते समय स्वामीजी को प्रिंसिपल मैकनाटन ने प्रो. मैक्समूलर सम्पादित ऋग्वेद का संस्करण भेंट किया।

आर्यसमाज की स्थापना का सम्बन्ध भी राजकोट से ही है। बंगाल में जिस प्रकार ब्रह्मसमाज के माध्यम से धार्मिक और सामाजिक संशोधन का कार्य हो रहा था, उसी प्रकार महाराष्ट्र और गुजरात में प्रार्थना समाज भी इसी कार्य में संलग्न था। स्वामीजी के आगमन से दो वर्ष पूर्व ही इस नगर में प्रार्थनासमाज की स्थापना हो चुकी थी तथा अनेक गण्यमान्य व्यक्तियों ने उसकी सदस्यता स्वीकार की थी। इस समाज के सभी सभासद स्वामीजी के मन्तव्यों एवं विचारों से सहमति रखते थे अतः जब आर्यसमाज की स्थापना का विचार अंकुरित हुआ, तो उससे सहानुभूति रखने वाले प्रार्थनासमाज के अनुयायियों ने यही उचित समझा कि इस संस्था को ही आर्यसमाज का नाम दे दिया जाय। ऐसा ही किया गया। स्वामीजी के वेद विषयक विचारों को प्रार्थनासमाजियों ने भी यथावत् स्वीकार कर लिया। उन्हें इस पर कोई आपत्ति भी नहीं थी। यहां यह स्मरणीय है कि स्वामीजी महाराज का सम्पूर्ण धर्मान्दोलन एवं शास्त्रविचार वेदों के स्वतः प्रमाणत्व तथा अन्य शास्त्रों के परतः प्रमाणत्व को आधार रूप में लेकर चला था। वेदों की सर्वोपरि प्रामाणिकता का यह सिद्धान्त भारतीय चिन्तन के सर्वथा अनुरूप ही था तथा स्वामीजी ने इसे नाना युक्तियों तथा सुव्यवस्थित तार्किक विश्लेषण से पुष्ट किया था। अतः किसी भी विचारशील व्यक्ति के लिये उससे असहमत होना कठिन ही था। स्वामीजी का प्रेरणादायी व्यक्तित्व, उनकी प्रभविष्णु वाणी तथा लोकहित के लिये उत्सर्गीकृत जीवन भी लोगों के लिये नवीन उत्साह एवं स्फूर्ति का उत्स बन गया। फलतः उनके विचारों को मूर्तिमान् रूप देने के लिये आर्यसमाज की स्थापना में कोई कठिनाई नहीं हुई।

जब विधिवत् समाज स्थापित हो गया तो श्री मणिशंकर जटाशंकर उसके प्रधान बनाये गये। निश्चय हुआ कि उनकी अनुपस्थिति में उत्तमराम निर्भयराम इस कार्य भार का वहन करेंगे। इसी प्रकार हरगोविन्ददास द्वारकादास मंत्री बने।[४२] यदि वे अनुपस्थित हों तो यह कार्य नगीनदास ब्रजभूषणदास करेंगे, यह भी निश्चय हुआ। इस संगठन के नियम भी बने

तथा उन्हें मुद्रित कराया गया। इस नियमों को उत्तर भारत के विभिन्न नगरों में भेजा गया ताकि लोग इस उदीयमान संस्था के सम्बन्ध में अपनी स्पष्ट धारणा बना सकें। स्वयं स्वामी दयानन्द ने नियमों की तीन सौ प्रतियां अहमदाबाद तथा बम्बई में वितरण करने के लिये अपने पास रक्खीं। यह भी निश्चय किया गया कि प्रति रविवार को आर्यसमाज का अधिवेशन हुआ करेगा। राजकोट आर्यसमाज के प्रारम्भिक सदस्यों की संख्या तीस थी।

यहां इस बात का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि किन कारणों से विश्व का यह प्रथम आर्यसमाज अपने जातकर्म संस्कार के कुछ समय पश्चात् ही मृत्यु को प्राप्त हुआ। बड़ौदा के महाराजा मल्हारराव गायकवाड़ को वहां के रेजिडेन्ट कर्नल फेयर (Phayer) को विष देकर मार डालने के कथित अपराध में अंग्रेज सरकार ने अधिकारच्युत कर दिया था।[४३] इस घटना के कारण बड़ौदा राज्य तथा निकटवर्ती गुजरात प्रान्त में असंतोष, क्षोभ तथा अशान्ति की एक तीव्र लहर फैल गई। सभी लोग राजा की सिंहासन च्युति से दुखी, त्रस्त तथा आक्रोशयुक्त थे। इन्हीं परिस्थितियों के बीच आर्यसमाज राजकोट के अधिकारियों ने आशुकवि तथा शतावधानी पं. गट्टूलाल को, जो उन दिनों राजकोट आये हुए थे, आमंत्रित किया तथा उनकी आशुकवित्व शक्ति का चमत्कार देखने के लिये उन्हें काव्य रचना के लिये उपयुक्त विषय दिये। तत्काल दिये गये विषयों पर ललित, मधुर तथा रस पूर्ण कविता करना ही पं. गट्टूलाल की विशेषता थी। आर्यसमाज में जो विषय उन्हें काव्य रचना के लिये दिये गये, उनमें एक विषय मल्हारराव गायकवाड़ के सिंहासन से हटाये जाने का भी था। काव्य प्रतिभा सम्पन्न कवि गट्टूलाल ने तो तुरन्त इस घटना का चित्रण करते हुए कविता प्रस्तुत कर दी, परन्तु राजनैतिक विषय पर रची गई यह कविता ही नवजात आर्यसमाज के अस्तित्व के लिये घातक सिद्ध हुई। कहते हैं कि आर्यसमाज राजकोट के स्थानापन्न मंत्री नगीनदास ने हरगोविन्ददास की सम्मति से इस सभा के वृत्तान्त को टाइम्स ऑफ इण्डिया तथा बम्बई गजट आदि पत्रों में प्रकाशनार्थ भेज दिया। जब बम्बई गजट ने इस इतिवृत्त को प्रकाशित कर दिया, तो आर्यसमाज के अधिकारियों ने अनुभव किया कि राजनैतिक घटना की पर्यालोचना करने वाली सभा का यह वृत्तान्त स्वयं उनके लिये ही हानिकारक हो सकता है। अतः तार देकर उन्होंने अन्य पत्रों में उसे प्रकाशित होने से रुकवा दिया। राजकोट आर्यसमाज के अधिकांश सभासद राजकर्मचारी तथा वकील वर्ग के थे। राजद्रोह को प्रश्रय देने वाली कविता के संदर्भ को प्रकाशित करना उनके लिये ही विघातक सिद्ध हुआ। काठियावाड़ (सौराष्ट्र) के पोलिटिकल एजेंट श्री जेम्स पील ने जब इस लेख को पढ़ा, तो उन्होंने नगीनदास की वकालत की सनद छीन ली तथा आर्यसमाज के मंत्री हरगोविंददास को बुला कर कहा कि कवि गट्टूलाल की सभा का विवरण प्रकाशित कर उन्होंने राजद्रोह से कम अपराध नहीं किया है। फलतः यह महानुभाव भी आर्यसमाज से पृथक् हो गये। इस प्रकार भय, आशका एवं त्रास का वातावरण बन गया और लोग आर्यसमाज का नाम लेने से भी घबराने लगे। इस प्रकार आर्यसमाज राजकोट का, स्थापना के कुछ काल पश्चात् ही विघटन हो गया। स्वामी दयानन्द तो घटनाचक्र के इस प्रकार परिवर्तित होने के पूर्व ही राजकोट से प्रस्थान कर चुके थे।

जिन दिनों स्वामीजी राजकोट में विराजमान थे, काठियावाड़ के राजाओं का एक

सम्मेलन वहां आयोजित किया गया था। यह स्मरणीय है कि स्वामीजी राजकोट आकर अपने जन्मस्थान टंकारा के अत्यन्त समीप पहुंच गये थे। इस बात के प्रमाण भी उपलब्ध है कि राजाओं के इस सम्मेलन को स्वामी दयानन्द ने भी सम्बोधित किया था। इसी अवसर पर उनकी भेंट मौरवी के नरेश सर वाघजी से हुई थी। वार्तालाप के प्रसंग में स्वामीजी ने नरेश को बताया कि वे उनकी ही प्रजा है।[४४] राजकोट में स्वामीजी का फोटो लिया गया, जिसकी प्रतियां आर्यसमाज के सदस्यों ने लीं।

इससे पूर्व कि राजकोट प्रवास के बाद की घटनाओं को अंकित जाय, यह आवश्यक है कि इस नगर में दिये गये उनके कुछ व्याख्यानों का विवरण हम उपस्थित करें। स्वामी दयानन्द अपने व्याख्यानों में आर्यावर्त के विगत इतिहास के गौरवपूर्ण अध्यायों तथा प्राचीन आर्य जाति की गरिमा को अत्यन्त सशक्त भाषा में प्रस्तुत करते थे। स्वदेश के विलुप्त उपलब्धिपूर्ण अतीत का सजीव चित्रण करते हुए वे आर्य जाति के पूर्वजों के प्रोज्ज्वल चरित्र को जिस भावप्रवण शैली में उपस्थित करते थे, उसे सुन कर श्रोता रोमाञ्चित हो जाते तथा उन्हें अपनी जड़ता, हीनता तथा अपात्रता को दूर करने की प्रेरणा मिलती। वे यह अनुभव करते कि यदि इस संन्यासी महापुरुष की शिक्षाओं का अनुसरण कर प्राचीन आर्योचित आदर्शों और मर्यादाओं की पुनः स्थापना होती है, तो उससे समाज के उन्नतिगामी होने में निश्चित सहायता मिलेगी।

उदाहरणार्थ उन्होंने एक व्याख्यान में कहा कि जिस प्रकार के भाप के एंजिन आज चलने लगे हैं, वैसे धूम्र यानों का प्रयोग पुराकाल में भी इस देश में होता था। आज हम समुद्रपारीय देशों की यात्राओं को धर्म से विरुद्ध कृत्य समझ बैठे हैं,[४५] किन्तु हमारे ही एक पूर्वज पाण्डव अर्जुन ने अमेरिका देश (पाताल) जाकर वहां की राजकन्या उलोपी से विवाह किया था।[४६] भला, उस समय कलिवर्ज्य का पाखण्ड कहां था? वे यह भी कहते थे कि यूरोपीय देशों को अमेरिका का पता चाहे सोलहवीं शताब्दी में ही लगा, परन्तु आर्यावर्त वासियों को तो उस महाद्वीप का ज्ञान बहुत पूर्व ही था। इस प्रकार के नवीन प्रसंगों से गर्भित व्याख्यान देकर स्वामीजी ने भारतीय इतिहास को एक नवीन आयाम दिया था।

पौष शुक्ला द्वादशी १९३१ वि. १८ जनवरी १८७५ को राजकोट से चल कर पौष पूर्णिमा, २१ जनवरी को वे अहमदाबाद आये।[४७] यहां उनका जो प्रथम व्याख्यान हुआ, वह अतीव ज्ञानवर्धक, ओजस्वी तथा प्रेरणास्पद था। देश के अतीत काल की गौरवपूर्ण झांकी प्रस्तुत करते हुए उन्होंने वर्तमान परिस्थितियों में देशवासियों में पारस्परिक एकता एवं सौहार्द भाव स्थापित करने पर बल दिया। दूसरा व्याख्यान बाल विवाह की बुराइयों पर हुआ जो अत्यन्त हृदयद्रावक था। अहमदाबाद में भी आर्यसमाज स्थापना का उपक्रम हुआ। निश्चित किया गया कि २७ जनवरी को आर्यसमाज की विधिवत् स्थापना की जायगी तथा एतद् विषयक शंकाओं का समाधान भी किया जायगा। इस सभा में स्वामीजी के प्रशंसक एवं भक्त गण बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित थे जिनमें वेचरदास अम्बाईदास, गोपालराव हरि देशमुख, भोलानाथ सराभाई, अम्बालाल साकरलाल देसाई आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। पं. सेवकराम रामनाथ शास्त्री, लल्लूभाई बापूजी शास्त्री तथा पं. भोलानाथ भगवान्

आदि गण्यमान्य पण्डितगण भी इस सभा में मौजूद थे। कई पादरी भी इस अवसर पर उपस्थित थे। जिस समय मूर्तिपूजा विषयक चर्चा चली, तो उपस्थित पण्डितों ने कहा कि प्रतिमापूजन की परम्परा शास्त्रों के अनुकूल है, अतः इसे अस्वीकार करना उचित नहीं है। इस पर बेचरदास अम्बाईदास ने कहा कि यदि आपको मूर्तिपूजा के अवैदिक कृत्य होने में कोई शंका है, तो आप लोग स्वामीजी से शास्त्रार्थ कर लें। पण्डितों ने शास्त्रार्थ करने में अपनी आपत्ति प्रस्तुत करते हुए कहा कि स्वामीजी ने अपने व्याख्यान में 'आकृष्णेन रजसा' इस यजुर्मन्त्र का जो अर्थ किया है, वह अशुद्ध है। इस पर पुनः उनसे कहा गया कि आलोच्य मंत्र का जो अर्थ पण्डितों को अभिप्रेत है, वह लिख कर दे दिया जाय। इसी प्रकार स्वामीजी भी अपने द्वारा मान्य अर्थ को लिखित रूप में प्रस्तुत कर दें। ऐसा ही हुआ। तत् पश्चात् पं. गोपालराव हरि, भोलानाथ साराभाई तथा अम्बालाल देसाई ने दोनों मंत्रार्थों पर विस्तार पूर्वक विचार करने के अनन्तर स्वामी कृत अर्थ को ही उचित घोषित किया। इसी अवसर पर स्वामीजी तथा उपस्थित पण्डितों के मध्य मूर्तिपूजा तथा वर्णाश्रम विधान पर शास्त्र चर्चा भी हुई। भोलानाथ साराभाई तथा अम्बालाल देसाई मध्यस्थ रूप में स्वीकार किये गये। वार्तालाप के अन्त में मध्यस्थों ने घोषित किया कि स्वामीजी का कथन ही औचित्य पूर्ण है। आर्यसमाज की स्थापना विषयक इस सभा की समाप्ति के पूर्व स्वामीजी ने एक वक्तृता देते हुए सबको वेद मार्ग का अनुसरण करने की प्रेरणा दी।

वस्तुतः स्वामी दयानन्द इन दिनों में वेद की शिक्षाओं के अनुरूप आर्यसमाज की स्थापना के लिये जनमत बनाने के लिये प्रयत्नशील थे। उनकी वेद विषयक धारणाओं को स्वीकार करने में देशवासियों को कठिनाई नहीं थी, क्योंकि स्वामीजी का विश्वास था कि वैदिक परम्पराओं के पुनः स्वीकार करने से ही सम्पूर्ण देशवासियों में भावात्मक एवं वैचारिक एक्य की स्थापना हो सकेगी। इसका कारण भी वे जानते थे। भारत के सभी आचार्यगण, यहां के सभी सम्प्रदाय एवं मत, पन्थ अपने भीतर विभिन्न विरोधी तत्त्वों को रखते हुए तथा परस्पर में अनेक विभिन्नतायें धारण करते हुए भी वेदों को सर्वोपरि प्रमाण मानते हैं तथा उनके गुरुत्व को स्वीकार कर उनके सम्मुख नत होते हैं। ऐसी स्थिति में धार्मिक एवं सामाजिक पुनर्निर्माण का महत् उद्योग वैदिक आदर्शों पर ही सम्भव है। इसी के साथ उन्होंने प्रबल युक्तियों, तर्क पूर्ण उपपत्तियों तथा पुष्ट शास्त्रीय प्रमाणों से वैदिक ज्ञान की अपूर्वता, सार्वजनीनता तथा वैज्ञानिकता का जिस प्रकार प्रतिपादन किया, उसे सहज ही उपेक्षित नहीं किया जा सकता था। गोपालराव हरि देशमुख, जो प्रारम्भ में वैदिक विचाराधारा का विरोध करते थे, कालान्तर में स्वामीजी की वेद विषयक धारणाओं से इतने अधिक प्रभावित और आश्वस्त हुए कि उन्होंने वेद के निर्भ्रान्त ईश्वरीयज्ञान होने के प्राचीन सिद्धान्त को निस्संकोच स्वीकार कर लिया।

स्वामीजी शास्त्रों की विवेकपूर्ण व्याख्या के प्रबल समर्थक थे। एक ब्राह्मण ने जब उनसे कहा कि हम आपके कहने से अपने परम्परागत धर्म को क्यों छोड़ें, जब कि गीताकार ने स्पष्ट कहा है—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मोभयावहः'—[४६] अपना धर्म गुणहीन हो तो भी श्रेयस्कर है, जब कि परधर्म को अंगीकार करना अनुचित है। स्वामीजी ने गीता के इस

उद्धरण का वास्तविक अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहा कि गीताकार का तात्पर्य यहां वर्णाश्रम धर्म से है, इसलिये यह ठीक ही है कि प्रत्येक को स्व स्व वर्ण प्रतिपादित धर्मों (कर्त्तव्यों) का ही आचरण करना चाहिए। यही उसके लिये फलप्रद है। यहाँ धर्म से मूर्तिपूजादि साम्प्रदायिक विश्वासों का अर्थ ग्रहण करना उचित नहीं है।

मुम्बई प्रदेश के भ्रमण का प्रथम चरण यहां आकर पूरा होता है। माघ कृष्णा अष्टमी १९३१ वि. (२९ जनवरी १९७५) शुक्रवार को अहमदाबाद से स्वामीजी ने बम्बई के लिये प्रस्थान किया और उसी दिन वे वहां पहुंचे।[५०] बालकेश्वर को गोशाला में उसी स्थान पर जाकर ठहरे, जहां तीन मास पूर्व उनके निवास की व्यवस्था की गई थी।

□□

पाद टिप्पणियां

१. तत्कालीन बम्बई प्रदेश से अभिप्राय वर्तमान महाराष्ट्र और गुजरात राज्यों से है।

२. विश्वनाथ प्रभुराम वैद्य के अनुसार जयकृष्ण व्यास से स्वामी दयानन्द की भेंट दो तीन स्थानों पर हो चुकी थी, अतः उन्होंने उपयुक्त समय जानकर उन्हें बम्बई के लिये आमंत्रित किया। द्रष्टव्य—मुम्बई आर्यसमाज नो इतिहास (दामोदरदास सुन्दरदास लिखित) की प्रस्तावना।

३. यह सज्जन प्रसिद्ध भाटिया सुधारक लक्ष्मीदास खीमजी के भाई थे।

४. करसनदास मूलजी स्वयं वल्लभ मतानुयायी थे, किन्तु इस सम्प्रदाय के महन्तों और आचार्यों की दुराचार पूर्ण प्रवृत्तियों से खिन्न होकर उन्होंने उनका भण्डाफोड़ किया। द्रष्टव्य—B. N. Motiwala : Karsondas Mulji—a Biographical study. Bombay 1935.

५. यह गुजराती पत्र १८५५ ई. में आरम्भ हुआ। इसमें करसनदास मूलजी के जो लेख वल्लभसम्प्रदाय के सम्बन्ध में प्रकाशित हुए, उनमें यह निष्कर्ष निकाला गया था कि यह सम्प्रदाय बहुत अर्वाचीन है, तथा इसकी अधिकांश शिक्षायें वास्तविक वेदोक्त धर्म के प्रतिकूल हैं।

६. "तस्मादादौ० स्वोपभोगात्वपूर्वमेव सर्ववस्तुपदेन भार्यापुत्रादीनामपि समर्पणं कर्त्तव्यं, विवाहानन्तरं स्वोपभोगे सर्वकार्ये सर्वकार्यनिमित्तं तत्कार्योपयोगि वस्तु समर्पणं कार्यं, समर्पणं कृत्वा पश्चात्तानि तानि कार्याणि कर्त्तव्यानीति।"
वल्लभाचार्य कृतं सिद्धान्त रहस्य की कारिका—
तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तु समर्पणम्।
दत्तापहारवचनन्तथा च सकलं हरेः॥
की व्याख्या में गोस्वामी गोकुलनाथ का वचन।

७. २१ अक्टूबर १८६० के सत्यप्रकाश के अंक में यह लेख प्रकाशित हुआ।

८. यह अभियोग १४ मई १८६१ को बम्बई के उच्च न्यायालय में दायर किया गया था। वादी जादोंनाथ महाराज का कहना था कि इन लेखों से उसकी मानहानि हुई है।

९. जिन लोगों ने इस मुकद्दमे में गवाही दी थी, उनमें भाटिया सेठ मथुरादास लव जी, लक्ष्मी दास खीमजी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने स्वामी दयानन्द के बम्बई आगमन पर हर्ष व्यक्त करते हुए आशा प्रकट की थी कि उनके द्वारा वल्लभ सम्प्रदाय में व्याप्त पाखण्डों और अनाचारों का भण्डाफोड़ होगा।

१०. मुकद्दमे की कार्यवाही के लिये द्रष्टव्य—१ पाप मोचनी कथा अथवा महाराज के मानहानि के मुकद्दमे का संक्षिप्त वृत्तान्त।

२. Report of the Maharaj Libel Case and of the Bhatia Conspiracy case connected with it. Bombay Gazette Press 1862.

३. History of the Sect of Maharajas or Vallabhacharyas in Western India. London 1865 (Published anonymously by Karsondas Mulji.)
तथा स्वामी ब्लाकटानन्द रचित वल्लभकुल चरित्रदर्पण, वल्लभकुलछलकपटदर्पण आदि ग्रन्थ।
ध्यातव्य है कि डा. जॉन विल्सन नामक एक पादरी ने भी इस अभियोग में अपनी गवाही दी थी।

११. पं. लेखराम लिखित जीवन चरित पृ. २५६

१२. स्टेशन पर स्वामीजी का स्वागत करने वालों में सेठ लक्ष्मीदास खीमजी, मथुरादास लवजी, छबीलदास लल्लूभाई, जीवनदयाल, सेवकलाल करसनदास तथा लीलाधर हरि के नाम उल्लेखीय हैं।

१३. बालकेश्वर के पीछे की यह गोशाला एक जनशून्य स्थान था। वहां के जीर्ण आवास में स्वामीजी का डेरा हुआ। मुम्बई आर्यसमाज नो इतिहास : प्रस्तावना।

१४. यह स्थान बम्बई के धोबी तालाब मुहल्ले में है।

१५. चौबीस प्रश्नों की यह तालिका प. ग. न. के गुप्त नाम से ज्ञानदीपक यंत्रालय में मुद्रित होकर प्रकाशित की गई थी। विस्तार के लिये द्रष्टव्य—पं. लेखराम कृत जीवनचरित पृ २६०। इसका उत्तर कार्तिक शुक्ला सप्तमी (१६ नवम्बर १८७४) को प्रकाशित किया गया था।

१६. प्रार्थनासमाज की स्थापना केशवचन्द्र सेन के प्रभाव से १८६७ ई. में हुई थी। इसके अनुयायी विधवा विवाह, नारी शिक्षा, बाल विवाह निषेध आदि सामाजिक सुधारों के पक्षपाती थे।

१७. ऐतरेय ब्राह्मण सप्तम पञ्चिका, अध्याय ३.

१८. द्रष्टव्य—इन्दुप्रकाश का ३० नवम्बर १८७४ का अंक।

१९. द्रष्टव्य—सुबोध पत्रिका २१ दिसम्बर १८७४ का अंक।

२०. वेदान्तिध्वान्तनिवारण, वेदविरुद्धमतखण्डन तथा शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारण।

२१. पुस्तक के आदि या अन्त में कहीं लेखक का नाम नहीं था। प्रथम संस्करण के प्रकाशक 'नन्दिमुखा ब्राह्मण श्याम जी विश्राम' थे।

२२. पञ्चमहायज्ञविधि का यह संस्करण १७९६ शकाब्द (१९३१ वि.) में आर्यप्रकाश यंत्रालय बम्बई से मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ।

२३. वेदभाष्य का यह नमूना अनुपलब्ध है।

२४. स्वामीजी के परम भक्त सेवकलाल करसनदास आर्यसमाज बम्बई के प्रारम्भिक सभासदों में थे। वे भणशाली जाति के वैश्य थे। कालान्तर में आर्यसमाज बम्बई के मंत्री पद पर रहे।

२५. रामदास छबीलदास स्वामीजी के संस्कृतज्ञ शिष्य पं. श्यामजी कृष्ण वर्मा के साले थे। कालान्तर में इन्होंने इंग्लैण्ड से बैरिस्ट्री पास की। स्वामीजी के निधन पर इन्होंने संस्कृत भाषा के २० पद्य शोकोद्गार के रूप में लिखे। उस समय ये केम्ब्रिज में अध्ययन कर रहे थे।

२६. इस ग्रन्थ का मुद्रण निर्णयसागर प्रेस बम्बई में हुआ था। प्रथम संस्करण के साथ श्यामजी कृष्ण वर्मा कृत गुजराती अनुवाद भी प्रकाशित हुआ। ग्रन्थ का रचनाकाल कार्तिक अमावस्या १९३१ वि. है।

२७. पं. गट्टूलाल नेत्रज्योतिहीन, किन्तु अद्भुतप्रतिमा सम्पन्न व्यक्ति थे। उनकी स्मरण-शक्ति आश्चर्यजनक थी। वे शतावधानी तथा आशुकवि थे।

२८. षड्विंश ब्राह्मण ५।९ देवतायतनानि कम्पन्ते दैवतप्रतिमा हसन्ति। आदि

२९. सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि।
सहस्रस्योन्मासि साहस्रोऽसि सहस्रायत्वा ॥ १५।६५

३०. पं. कृष्णराम इच्छाराम सूरत जिले के खरसाड ग्राम के निवासी थे। स्वामीजी के प्रशंसक तथा भक्त थे। इन्होंने कुछ ग्रन्थ भी लिखे हैं।

३१. नर्मदाशंकर लालशंकर दवे (१८३३-१८८६ ई.) गुजराती साहित्य में महाकवि नर्मद के नाम से विख्यात। ये महानुभाव स्त्रीशिक्षा तथा विधवाविवाह के प्रबल समर्थक थे। वैज्ञानिक शिक्षा के लिये विदेश यात्रा के पक्ष पोषक थे।

३२. पं. दुर्गाराम मंछाराम मेहता (१८०९-१८७६) गुजरात के प्रसिद्ध सुधारक। १८२८ से सूरत में अध्यापक पद पर रहे। यद्यपि इन्हें अंग्रेजी का स्वल्प ज्ञान भी नहीं था, किन्तु सामाजिक विषयों में अत्यन्त उदार थे। नारी जागरण तथा विधवाओं की स्थिति को सुधारने में सदा प्रयत्नशील रहे।

३३. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवनचरित भाग १, पृ. ३४५। परन्तु इसी पुस्तक के पृष्ठ ३५२ पर पुनः यह उल्लेख मिलता है कि अहमदाबाद में स्वामीजी ने स्वामीनारायण मत का खण्डन किया और स्वामीनारायणमतखण्डन नामक पुस्तक रची। स्पष्ट है कि दोनों उल्लेख वदतोव्याघातदोष उत्पन्न करते हैं। इस ग्रन्थ की पुष्पिका में जो श्लोक लिखा गया है, उससे तो इसका रचनाकाल पौष कृष्णा एकादशी १९३१ वि. (३ जनवरी १८७५) सिद्ध होता है। उस समय स्वामीजी राजकोट में थे। द्रष्टव्य: ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास—पं. युधिष्ठिर मीमांसक पृ. ६६।

३४. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय इस बात से सहमत नहीं थे कि दण्डी विरजानन्द अपने शिष्यों की शारीरिक ताड़ना करते थे, तथा उन्होंने दयानन्द सरस्वती पर भी कभी लाठी का

प्रहार किया था। परन्तु सहज क्रोधी दण्डीजी के स्वभाव में एक विशेष प्रकार की कर्कशता तथा उग्रता भी थी। अतः यह असम्भव नहीं है कि कभी क्रोधवश उन्होंने प्रौढ़ वय प्राप्त संन्यासी दयानन्द पर भी प्रहार कर दिया हो।

३५. प्रथम गुजराती, जिसने विदेश यात्रा की थी।

३६. गोपालराव हरि देशमुख (जन्म १८२३ निधन १८९३ ई.) लोक हितवादी के नाम से प्रसिद्ध थे। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा पूना में हुई। स्वामीजी के अहमदाबाद आगमन के समय ये वहां न्यायाधीश के पद पर थे। स्वामी दयानन्द के अत्यन्त विश्वसनीय अनुयायी तथा परोपकारिणी सभा के सभासद थे।

३७. यह व्याख्यान ट्रेनिंग कालेज में हुआ था।

३८. इस सभा में राव बहादुर बेचरदास अम्बाईदास, राव बहादुर गोपालराव हरि देशमुख, राव बहादुर भोलानाथ साराभाई आदि नगर के प्रमुख पुरुष उपस्थित थे।

३९. जिन पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिये आहूत किया गया था, उनमें से कुछ के नाम थे— पं. सेवकराम, पं. लल्लूभाई, पं. भास्कर, पं. भाई शंकर, पं. दामोदर भट्ट आदि।

४०. द्रष्टव्य—टाइम्स ऑफ इण्डिया ४ जनवरी १८७५ ई.

४१. नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥ मनुस्मृति ५।४८

४२. हरगोविन्ददास द्वारकादास कांटावाला ट्रेनिंग कालेज राजकोट के प्रिंसिपल थे।

४३. इस घटना को आधार बना कर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'विषस्य विषमौषधम्' शीर्षक एक भाण लिखा था।

४४. इस तथ्य को प्रकट करते हुए मौरवीनरेश के दीवान भानजी कानजी ने १३ जून १९१२ को देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के नाम अपने पत्र में लिखा था—"His Highness had the pleasure to attend a lecture delivered by late Swami Dayanand Saraswati in 1875 in Rajkot and that after the lecture the Swamiji met H. H. and in the course of conversation told H. H. that he was born in his state and was his subject." दयानन्द जन्मस्थान निर्णय में उद्धृत।

४५. बृहन्नारदीयपुराण के 'कलिवर्ज्य प्रकरण' को निर्णयसिंधु में इस प्रकार उद्धृत किया गया है—
समुद्रयातुः स्वीकारः कमण्डलु विधारणम्।.....
इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः॥

४६. तुलनीय—'अर्जुन का विवाह 'पाताल' में जिसको 'अमेरिका' कहते हैं, वहां के राजा की लड़की उलोपी के साथ हुआ था।' सत्यार्थप्रकाश दशम समुल्लास।

४७. राजकोट से अहमदाबाद जाते समय १८ जनवरी की रात्रि को मार्ग में वे चोटीला ग्राम की धर्मशाला में उतरे। इस अल्पकालीन प्रवास विषयक एक संस्मरण सुनाते हुए बांकानेर राज्य के राजकवि नाथूराम सुन्दरजी ने देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय को बताया था कि उस रात्रि उन्होंने स्वामीजी से बातचीत की थी। प्रातः जब स्वामीजी अगले पड़ाव के लिये प्रस्थान करने लगे तो उनके सेवकों से गाड़ीवाले मेमन मुसलमान का किराये को लेकर कुछ वाद विवाद हो गया। बात बढ़ जाने पर गाड़ीवाला स्वामीजी

के नौकरों को मारने पर उतारू हो गया, तो मामला स्वामीजी तक पहुंचा। वे तुरन्त धर्मशाला के बाहर आये और गाड़ीवाले मेमन को लक्ष्य कर कहा—"यह मत समझना कि हम केवल साधु या फ़कीर हैं। तुम निर्धारित भाड़े से अधिक नहीं ले सकोगे। यदि अधिक उद्दण्डता दिखाओगे, तो हम एक ही थप्पड़ में तुम्हारे बत्तीसों दाँत तोड़ देंगे।" स्वामीजी का यह उग्र रूप देख कर गाड़ीवाला सीधा हो गया और स्वामीजी तथा उनके साथियों को निर्धारित किराये में ले जाने के लिये तैयार हो गया।

पौष शुक्ला त्रयोदशी (१९ जनवरी १८७५) को स्वामीजी चोटीला से बढ़वाण (लखतर राज्य के अन्तर्गत) पहुंचे। बढ़वाण स्टेशन पर उनकी भेंट श्री विठ्ठलराय (कालान्तर में राजकोट एजेंसी के कार्यालय अधीक्षक) से हुई, जिन्होंने अपने पितामह के साथ स्वामी श्री के साथ पर्याप्त समय तक वार्तालाप किया। द्रष्टव्य—विट्ठलराय का देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के नाम ८ दिसम्बर १९१४ का पत्र। दयानन्द जन्मस्थान में उद्धृत। ध्यातव्य है कि 'बढ़वाण' को पं. घासीराम ने 'बड़ोयान' लिखा है, जो अशुद्ध है।

४८. यजुर्वेद अध्याय ३३।४३

४९. श्रीमद्भगवद्गीता—३।३५

५०. पं. घासीराम लिखित जीवन चरित में स्वामीजी के अहमदाबाद से चल कर सूरत, बलसाढ़ तथा बसीन रोड़ होकर बम्बई पहुंचने का उल्लेख है, परन्तु यह विवरण अस्थान पर जुड़ा प्रतीत होता है, कारण कि २९ जनवरी को अहमदाबाद से प्रस्थान का उसी दिन बम्बई पहुंचना तभी सम्भव था, जब कि वे सीधे ही वहाँ के लिये चल पड़ते। निश्चय ही उपर्युक्त स्थानों की यात्रा उन्होंने बम्बई से पुनः प्रस्थित होकर की थी।

□□

आर्यसमाज संस्थापना

स्वामी दयानन्द का यह द्वितीय बार का बम्बई आगमन था। चार फरवरी १८७५ को उन्होंने इस नगर में एक व्याख्यान दिया। अब तक उनके व्याख्यान किसी भवन या सभागार में होते रहे थे, जहां अधिक संख्या में श्रोताओं का बैठ सकना अशक्य हो जाता था। अतः यह अनुभव किया गया कि महाराज के व्याख्यान खुले मैदान में, विशेष पण्डाल बना कर कराये जायें। एक ऐसा ही विशेष मण्डप बनाया गया। 'वेदमण्डप' के नाम से प्रचारित इस सुसज्जित स्थान पर स्वामीजी का एक अन्य व्याख्यान २६ फरवरी को हुआ।

बम्बई की पण्डित मण्डली ने अकारण ही यह धारणा बना ली थी कि स्वामीजी की संस्कृत व्याकरण में विशेष गति नहीं है। ऐसा अनुमान उन्होंने किस आधार पर किया, यह जानने में हम असमर्थ हैं। शायद उन्हें पता नहीं था कि दयानन्द ने तो व्याकरणधौरेय दण्डी विरजानन्द के अन्तेवासी के रूप में शब्दशास्त्र की जिन गहराइयों का स्पर्श किया है, वैसा उस युग में कोई अन्य नहीं कर सका था। पण्डितों ने यह मनसूबा बांधा था कि यदि दयानन्द को व्याकरण विषय में ही पराजित कर दिया जाय तो उनका प्रभाव समाप्त हो जायगा और उनके अन्यान्य धार्मिक विचारों के प्रति लोगों का झुकाव भी कम हो जायगा। यही विचार कर उन्होंने स्वामीजी को शास्त्रार्थ के लिये आहूत किया। १० मार्च १८७५ का दिन शास्त्रार्थ के लिये निश्चित किया गया।

नियत दिन सभा मण्डप में अपूर्व जनसमागम हुआ। बम्बई जैसी महानगरी में निवास करने वाले सभी वर्गों के लोग शास्त्रार्थ देखने के लिये उपस्थित हुए। पं. आत्माराम बापू दल्वी सभा के प्रधान बनाये गये और पं. खेमजी बालजी जोशी ने पण्डित समुदाय के प्रवक्ता के रूप में अपनी वक्तृता प्रारम्भ की। यद्यपि जोशीजी अत्यन्त वाक्पटु तथा सभाचतुर थे, किन्तु शास्त्रार्थ के लिये निश्चित विषय की चर्चा न कर वे इतस्ततः अप्रासंगिक बातें करते रहे। जब श्रोता लोग उनकी अनावश्यक और प्रसंगभिन्न बातों से ऊब गये, तो उन्हें विवश होकर बैठ जाना पड़ा। अब पं. इच्छाशंकर शुक्ल ने कुछ व्याकरण से सम्बन्धित प्रश्न पूछे जिनका उत्तर स्वामीजी ने पूर्ण समाधान के साथ दे दिया। अब प्रश्न करने की बारी स्वामीजी की थी। जब पण्डित वर्ग उनसे द्वारा पूछे गये प्रश्नों का सन्तोषप्रद उत्तर नहीं दे सका, तो झुंझलाहट के मारे वे व्याकरण को छोड़कर 'नियोग' पर प्रश्न करने लगे। स्वामीजी ने नियोग रूपी आपद्धर्म के सम्बन्ध में जो विवेचना प्रस्तुत की, वह अत्यन्त तर्कसंगत, प्रमाणपुरस्सर तथा समाधानकारक थी।[1] अब पण्डितों के लिये मौन धारण करने के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं रहा। स्वामीजी को पराजित करने की उनकी आशा धूलिसात् हो गई।

१६ मार्च १८७५ से व्याख्यानों का क्रम पुनः आरम्भ हुआ। पहले की ही भांति एक दिन व्याख्यान और दूसरे दिन शंका समाधान होता था। इस प्रकार महानगर के प्रबुद्ध नागरिकों को स्वामीजी के तर्कपूर्ण विचारों का समग्र विश्लेषण करने तथा तद्विषयक अपनी

समस्त शंकाओं को दूर करने का अवसर मिल जाता था। बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की चर्चा तो महाराज के इस नगर में प्रथम बार आगमन के समय भी चली थी, तथा संस्था के सिद्धान्तों का निर्धारण स्वयं स्वामीजी ने ही किया था, किन्तु विधान एवं संगठन सम्बन्धी नियम बनाने के लिये दादोबा पाण्डुरंग तरखड़कर, पानाचन्द आनन्दजी पारेख तथा सेवकलाल कृष्णदास की एक उपसमिति बना दी गई थी। इन नियमों को बम्बई उच्चन्यायालय के प्रसिद्ध वकील गिरधरलाल दयालदास कोठारी को दिखा कर व्यवस्थित भी कर लिया गया था, परन्तु कतिपय कारणों से समाज स्थापना का कार्य उस समय नहीं हो सका।

इस बीच स्वामीजी भी गुजरात के नगरों के भ्रमण हेतु चले गये। अब उनके पुनः बम्बई लौटने पर आर्यसमाज की स्थापना की चर्चा ने जोर पकड़ा। अनेक सज्जनों ने इस कार्य में विशेष अभिरुचि प्रदर्शित की जिनमें लक्ष्मीदास खीमजी तथा वेदान्ती विचारक राजकृष्ण महाराज के नाम उल्लेखनीय हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं, स्वामीजी को बम्बई बुलाने में भाटिया जाति के उन सेठों का भी हाथ था, जो अपने सम्प्रदाय के महाराजों की दुराचारपूर्ण प्रवृत्तियों से खिन्न और रुष्ट होकर चाहते थे कि स्वामी दयानन्द के तुल्य तेजस्वी और दुर्धर्ष धर्मप्रवक्ता इस नगर में आकर गुंसाइयों की चरित्रहीनता तथा व्यभिचारमूलक कार्यवाहियों का भण्डाफोड़ करे। इसी परिप्रेक्ष्य में जयकृष्ण जीवनराम व्यास तथा राजकृष्ण महाराज जैसे अद्वैतवाद के अनुयायी यह धारण बना बैठे थे कि शुद्धाद्वैत पर आधारित वल्लभाचार्य के पुष्टि सम्प्रदाय से खिन्न होकर अधिकांश वणिक् समुदाय शाङ्कर अद्वैतवाद की शरण में आने के लिये उत्सुक हो जायगा। परन्तु दयानन्द तो उन्हें वेद मत की ओर आकृष्ट करना चाहते थे। इस बिन्दु पर स्वामीजी का अद्वैत वेदान्त के अनुयायी राजकृष्ण महाराज तथा जयकृष्ण व्यास[२] आदि से मतभेद हुआ।

राजकृष्ण महाराज ने स्वामी दयानन्द की सैद्धान्तिक दृढ़ता को ठीक ठीक नहीं आंका था। वे सोचते थे कि उनके अनुरोध को स्वीकार कर स्वामी दयानन्द शंकर प्रतिपादित जीव ब्रह्मैक्यवाद को अपने दार्शनिक मत के रूप में स्वीकार कर लेंगे और अद्वैतवाद को ही आर्य-समाज के तत्त्वचिन्तन का मूलाधार मान लिया जायगा। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर राजकृष्ण महाराज ने आर्यसमाज के नियमों को बनाने के लिये अपनी सेवायें प्रस्तुत कीं। जब स्वामीजी ने उन्हें यह स्पष्ट कह दिया कि आर्यसमाज के सिद्धान्तों को वे स्वयं स्थिर करेंगे, तो राजकृष्ण ने नीतिनिपुण व्यक्ति की भांति उनसे आग्रह किया कि अधिकाधिक लोगों को आकृष्ट करने के लिये जीव ब्रह्म की एकता का सिद्धान्त हमें स्वीकार कर लेना चाहिए, चाहे आगे चल कर उसे हम छोड़ ही क्यों न दें। इस पर स्वामीजी ने स्पष्ट कह दिया कि **मैं आर्य-समाज की नींव को असत्य पर स्थापित करना कदापि पसन्द नहीं करूंगा।** यदि अभी हम अधिक लोगों को आकृष्ट करने के लिये अद्वैतवाद को नीति के रूप में स्वीकार कर लें,[३] परन्तु आगे चल कर उसे असत्य घोषित कर उसका परित्याग कर दें, तो क्या हमारा यह आचरण छलमिश्रित नहीं कहलायगा ?

स्वामीजी की इस स्पष्टोक्ति से राजकृष्ण महाराज रुष्ट तो हुए ही, उन्होंने समाज संस्थापन में अपने सहयोग से भी किनारा कर लिया। शायद उनकी धारणा थी कि उनके

अतिरिक्त समाज संस्थापना के कार्य में सहयोग देने वाला कोई अन्य व्यक्ति स्वामीजी को मिलेगा ही नहीं। किन्तु उनका यह सोचना भ्रमपूर्ण ही था। अन्य शतशः व्यक्ति स्वामीजी का इस कार्य में सहयोग करने के लिये तैयार थे। फलतः स्वामीजी ने सेठ मथुरादास लवजी, सेवकलाल कृष्णदास, छबीलदास लल्लूभाई तथा गिरधरलाल दयालदास कोठारी आदि सज्जनों से अपना विचार विमर्श जारी रक्खा। यद्यपि पौराणिक समुदाय उपर्युक्त भद्रपुरुषों की नानाविध आलोचना कर उन्हें आर्यसमाज के रूप में एक प्रबल क्रान्तिकारी धर्मान्दोलन का सूत्रपात करने में स्वामीजी से सहयोग न करने के लिये प्रभावित करते रहे, किन्तु उनका यह श्रम व्यर्थ गया।

यह सब कुछ होने पर भी स्वामी दयानन्द किसी नवीन संस्था का सूत्रपात करने के लिये बहुत अधिक तत्परता दिखाने या जल्दबाजी प्रदर्शित करना अनुचित समझते थे। ब्रह्म-समाज के आन्दोलन में उत्पन्न हुई फूट तथा उसके विघटन को वे कलकत्ता में अपनी आंखों से देख चुके थे।[४] वे यह अनुभव करते थे कि किसी प्रकार के सुदृढ़ सैद्धान्तिक आधार के अभाव में इस प्रकार के आन्दोलन एक सामायिक लहर के रूप में उभरते हैं और समय आने पर स्वतः ही समाप्त भी हो जाते हैं। अतः वे फूंक फूंककर कदम उठाने के पक्षपाती थे। फिर वे यह भी चाहते थे कि उनके द्वारा प्रवर्तित यह धर्मान्दोलन किसी व्यक्ति या आचार्य के प्रति एकान्त एवं अनन्य निष्ठा या आस्था को लेकर ही नहीं चले। वे स्वयं को भी वैदिक धर्म के प्रचार के लिये उत्सर्गीकृत तथा समर्पित मानते थे। अतः उन्होंने आर्यसमाज की विधिवत् स्थापना से पूर्व अपने भक्तों और अनुयायियों के समक्ष अपनी स्वयं की स्थिति को स्पष्ट करते करते हुए अत्यन्त मार्मिक एवं भावपूर्ण स्वर में कहा—

"भाई, हमारा कोई स्वतंत्र मत नहीं। मैं तो वेद के अधीन हूं और हमारे भारत में पच्चीस कोटि आर्य हैं। कई कई बात में किसी किसी में कुछ कुछ भेद है, सो विचार करने से आप ही छूट जायेगा। मैं संन्यासी हूँ और मेरा कर्त्तव्य यही है कि जो आप लोगों का अन्न खाता हूँ इसके बदले जो सत्य समझता हूँ उसका निर्भयता से उपदेश करता हूँ। मैं कुछ कीर्ति का रागी नहीं हूँ। चाहे कोई मेरी स्तुति करे वा निन्दा करे, मैं अपना कर्त्तव्य समझ के धर्म बोध कराता हूँ। कोई चाहे माने वा न माने, इसमें मेरी कोई हानि लाभ नहीं है।"[५]

महाराज के इस स्पष्ट कथन को सुनकर जब एक सज्जन ने पूछा कि यदि हम समाज संस्थापित करें तो क्या इससे कोई सार्वजनिक हानि होगी? इसके उत्तर में स्वामीजी ने कहा—

"आप यदि समाज से पुरुषार्थ कर परोपकार कर सकते हो, समाज कर लो। इसमें मेरी कोई मनाई नहीं है। परन्तु इसमें यथोचित व्यवस्था न रक्खोगे तो आगे गड़बड़ाध्याय हो जायगा। मैं तो जैसा अन्य को उपदेश देता हूँ वैसा ही आपको भी करूंगा और इतना लक्ष्य में रखना कि मेरा कोई स्वतंत्र मत नहीं है। और मैं सर्वज्ञ भी नहीं हूँ। इससे यदि कोई मेरी गलती आगे पाई जाय, युक्तिपूर्वक परीक्षा करके इसी को भी सुधार लेना। यदि ऐसा न करोगे तो आगे यह भी एक मत हो जायगा, और इसी प्रकार से 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' करके इस भारत में नाना प्रकार के मत मतान्तर प्रचलित होके, भीतर भीतर दुराग्रह रख के धर्मान्ध

होके लड़के (लड़कर) नाना प्रकार की सद्विद्या का नाश करके यह भारतवर्ष दुर्दशा को प्राप्त हुआ है। इसमें यह भी एक मत बढ़ेगा। मेरा अभिप्राय तो है कि इस भारतवर्ष में नाना प्रकार के मतमतान्तर प्रचलित हैं वो भी, वे सब वेदों को मानते हैं इससे वेदशास्त्र रूपी समुद्र में यह सब नदी नाव पुनः मिला देने से धर्म एक्यता होगी। और धर्म एक्यता से सांसारिक और व्यावहारिक सुधारणा होगी और इससे कला कौशल आदि सब अभीष्ट सुधार होके मनुष्य मात्र का जीवन सफल होके अन्त में अपना धर्म बल से अर्थ, काम और मोक्ष मिल सकता है।"[६]

उपर्युक्त दोनों वक्तव्यों से स्वामीजी के समाज संस्थापना विषयक विचार स्फटिक तुल्य स्पष्ट हो जाते हैं। वे यह स्वीकार करके चलते हैं कि वेद से भिन्न उनका कोई अन्य मत नहीं है। उन्हें यह भी आशा थी कि यदि लोग विचार पूर्वक निश्चय करें तो साम्प्रदायिक मतभेद समाप्त हो सकते हैं। उनके चरित्र की उदात्तता तथा लोकहित के प्रति उनका समर्पण भाव तो इसी बात से झलकता है कि संन्यासी होने पर भी समाज में परोपजीवी के रूप में जीवित रहना उन्हें अभीष्ट नहीं था। न उन्हें यश की लिप्सा थी और न निन्दा अथवा स्तुति के प्रति ही उनका कोई राग विराग था। इसके साथ ही वे यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि यदि वैदिक धर्म और संस्कृति की पुनः स्थापना के लिये किसी समाज की संस्थापना होती है, तो इस योजना से वे असहमत नहीं हैं। वे न तो अपने को सर्वज्ञ मानते हैं और न यह दावा करते हैं कि उनके कथन या चिंतन में कोई त्रुटि या स्खलन हो ही नहीं सकता। साथ ही वे यह आशा रखते हैं कि वेदों के प्रति सभी मत, सम्प्रदायों की समान रूप से निष्ठा होने के कारण वैदिक मान्यताओं के आधार पर धार्मिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकता का वितान ताना जा सकता है। यह व्यापक ऐक्य भाव ही पुरुषार्थ चतुष्टय का साधक है।

इस प्रकार जब आर्यसमाज की स्थापना को लेकर भक्त जनों में व्यापक सहमति देखी गई, तो राजमान् राजश्री पानाचंद आनन्दजी पारेख को आर्यसमाज के नियमों का प्रारूप बनाने के लिये कहा गया। यह प्रारूप स्वामीजी के समक्ष रक्खा गया, जिसमें उन्होंने समुचित संशोधन कर दिये। पश्चात् चैत्र शुक्ला पञ्चमी १९३२ वि. शनिवार, तदनुसार १० अप्रैल १८७५ (शकाब्द १७९७) को गिरगांव मुहल्ले में प्रार्थनासमाज के निकट एक पारसी सज्जन डा. माणेक जी अदेरजी की वाटिका में सायंकाल साढ़े पांच बजे एक सभा आयोजित कर आर्यसमाज की विधिवत् स्थापना की गई।[७] प्रारम्भ में आर्यसमाज के २८ नियम स्वीकार हुए[८] जिनमें धार्मिक सिद्धान्तों के साथ साथ समाज संचालन के व्यावहारिक विधान को भी सम्मिलित कर लिया गया था। स्वयं स्वामी दयानन्द ने इन नियमों की व्याख्या हिन्दी में की थी।[९] प्रारम्भिक नियमों पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि आर्यसमाज के कार्य संचालनार्थ बनाया गया यह संविधान अत्यन्त व्यापक आधार लिये हुए है। मानव जीवन के सर्वविध हित, कल्याण तथा उत्थान के कुछ स्वर्णिम सूत्रों को इन नियमों में ग्रथित किया गया है।

आर्यसमाज की स्थापना के साथ ही बम्बई की इस प्रथम सामाजिक इकाई के अधिकारियों का भी निर्वाचन हुआ। श्री गिरधरलाल दयालदास कोठारी आर्यसमाज के

प्रधान तथा पानाचंद आनन्द जी पारेख मंत्री चुने गये। यह भी निश्चय हुआ कि प्रति शनिवार को आर्यसमाज का अधिवेशन सायंकाल के समय हुआ करेगा। पीछे यह अनुभव हुआ कि अवकाश की दृष्टि से रविवार का दिन साप्ताहिक अधिवेशनों के लिये अधिक उपयुक्त रहेगा। अतः आर्यसमाज के सत्संग रविवार को होने की प्रथा प्रारम्भ हुई। आर्यसमाज के प्रारम्भिक सभासदों की संख्या १०० थी। इन सबके नाम (जाति, व्यवसाय तथा शिक्षा के उल्लेख सहित) कालान्तर में आर्यसमाज बम्बई ने ही प्रकाशित किये।[१०] इस सदस्य सूची में संख्या ३१ पर स्वयं स्वामी दयानन्द सरस्वती स्वामी का नाम अंकित है। उनकी जाति 'ब्राह्मण', व्यवसाय के स्थान पर 'संन्यासी' तथा शिक्षा के आगे 'संस्कृत अने वैदिक संस्कृत' अंकित है। इससे सिद्ध होता है कि अन्य आर्य सभासदों की ही भांति स्वयं दयानन्द भी आर्यसमाज के एक साधारण सदस्य के रूप में ही अपनी पहचान बनाये रखना चाहते थे। वे गुरु, आचार्य अथवा मत प्रवर्त्तक के रूप में ख्याति के सर्वथा विरुद्ध थे। बहुत आग्रह करने पर भी उन्होंने समाज का अधिनायक अथवा सभापति बनना स्वीकार नहीं किया।

आर्यसमाज की स्थापना के प्रसंग में एक अन्य बात भी विचारणीय है। इस संस्था का संविधान प्रजातंत्र के मौलिक सिद्धान्तों पर आधारित है। एक व्यक्ति के प्रभुत्व के कारण धार्मिक संगठनों में जिस प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते हैं, तथा गुरुडम पनपने लगता है, उससे स्वामीजी भली भांति अवगत थे। सम्प्रदायाचार्यों, मठाधीशों तथा महन्तों की स्वेच्छाचारिता तथा निरंकुशता ने भारत के मत मतान्तरों को किस प्रकार पतन के गहरे गर्त में गिराया है, यह उनसे अविदित नहीं था। अतः उन्होंने यही आवश्यक समझा कि इस नवजात धर्मान्दोलन को जनतांत्रिक पद्धति पर विकसित होने का अवसर दिया जाय। यह तो सत्य है कि उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप के कतिपय देशों में प्रजासत्ताक व्यवस्था आरम्भ हो चुकी थी तथा रूसो और वाल्तेयर जैसे फ्रेंच मनीषियों ने मनुष्यमात्र की स्वतंत्रता, भ्रातृत्व तथा समता का जयघोष भी किया था।[११] परन्तु भारत जैसे देश में, जो शताब्दियों से विदेशी सत्ता के द्वारा शासित रहने के कारण अपनी राष्ट्रीय अस्मिता खो चुका था, प्रजातंत्र पद्धति पर आधारित किसी संगठन की कल्पना स्वप्न तुल्य ही थी। ऐसे समय में धार्मिक और सामाजिक उन्नति की सिद्धि हेतु बनाया गया आर्यसमाज का लोकतांत्रिक विधान एक अपूर्व वस्तु थी।

आर्यसमाज की विधिवत् स्थापना हो गई। उसके साप्ताहिक अधिवेशन भी होने लगे। १७ अप्रैल तथा २४ अप्रैल के अधिवेशनों को स्वयं उन्होंने सम्बोधित किया था। सागर तट पर भ्रमण के लिये जाते समय यदा कदा स्वामीजी की भेंट प्रसिद्ध भारततत्त्वविद् डा. एच. एच. विल्सन[१२] से हो जाती थी। दोनों में विभिन्न विषयों पर वार्तालाप होता था। एक विगत परिच्छेद[१३] में हम यह उल्लेख कर चुके हैं कि प्रिंस ऑफ वेल्स के भारत आगमन पर जब तत्कालीन वायसराय लार्ड नार्थब्रुक उनके स्वागतार्थ बम्बई आये थे, उस समय केशवचन्द्र सेन ने यह इच्छा व्यक्त की थी कि वायसराय से स्वामीजी की भेंट आयोजित कराई जाय। परन्तु स्वामीजी ने इस सम्बन्ध में कोई उत्सुकता प्रदर्शित नहीं की। अतः देश के सर्वोच्च शासनाध्यक्ष से संन्यासी की भेंट नहीं हो सकी।

स्वामीजी के एक भक्त हरिश्चन्द्र चिन्तामणि ने आग्रहपूर्वक स्वामीजी का फोटो तैयार कराया, परन्तु स्वामीजी ने विशेष रूप से अपने भक्त जनों को आदेश दिया कि उनका चित्र या प्रतिकृति आर्य मंदिरों में स्थापित न की जावे। उन्हें सम्भवतः यह आशंका थी कि मूर्तिपूजा के प्रति अंध आस्था रखने वाले तथा गुरु को परमात्मा के तुल्य पूजने वाले भारत-वासी कहीं उनके चित्र की ही पूजा न करने लगें।

स्वामीजी के व्यंग्य विनोद के कुछ प्रसंग बम्बई प्रवास के विवरण में भी उपलब्ध होते हैं। ग्वालियर निवासी पं. ब्रह्मशंकर देवशंकर कुछ दिनों तक उस समय स्वामीजी के साथ रहे थे, जब वे गुजरात के दौरे पर थे। पण्डितजी नित्य दुर्गासप्तशती[१४] का उच्च स्वर से पाठ करते थे। स्वामीजी उनके इस कृत्य से अप्रसन्न तो कभी नहीं हुए, किन्तु कभी कभी विनोद भाव से मुस्करा कर कह देते—क्यों व्यर्थ में कोलाहल कर रहे हो? इसी प्रकार एक दिन जब कुछ स्त्रियां उनके दर्शनार्थ आईं तथा अपने निस्संतान होने का दुख व्यक्त करने लगीं, तो स्वामीजी ने विनोदपूर्वक कहा—वैरागियों के अतिरिक्त और कोई सन्तान नहीं दे सकता। उनके तीव्र और कठोर खण्डनमण्डन से रुष्ट होकर जब लोग उनको दुर्वचन कहते, अथवा गालियां देते, तो स्वामीजी उपेक्षा भाव से यही कह कर रह जाते कि जैसे ससुराल में जामाता गालियां सुन कर प्रसन्नता अनुभव करता है, उसी प्रकार मैं भी यदि परमात्मदेव के वास्तविक स्वरूप तथा उनकी यथार्थ उपासना प्रणाली का प्रचार करते हुए इन अपशब्दों का पात्र बनता हूँ, तो यह मेरी प्रसन्नता का ही विषय होगा।

अद्वैत वेदान्त के अनुयायी राजकृष्ण महाराज की चर्चा आर्यसमाज स्थापना के प्रसंग में आ चुकी है। प्रारम्भ में स्वामीजी से प्रभावित होकर उन्होंने अपने मासिक पत्र 'हृदय चक्षु' का नाम परिवर्तित कर 'आर्यधर्मप्रकाश' रख दिया था।[१५] वे यदा कदा स्वामीजी तथा उनकी विचारधारा की प्रशंसा व समर्थन में लेखादि भी लिखते रहते थे, परन्तु जब से स्वामीजी ने आर्यसमाज के सिद्धान्तों में अद्वैतवाद की मान्यता को रखना अस्वीकार किया, तब से वे उनके कट्टर विरोधी बन गये। अब उन्होंने अपने मासिक पत्र की नीति ही बदल दी तथा स्वामीजी के विरोध में निस्संकोच रूप से लिखने लगे।

राजकृष्ण महाराज का यह विरोधभाव अन्य रूपों में भी लक्षित होने लगा। अब वे अपने पत्र में मूर्तिपूजा के समर्थन में लिखने लगे। फाल्गुन कृष्णा द्वादशी १९३१ वि. के अंक में एक ऐसा ही लेख प्रकाशित हुआ, जिसमें मूर्तिपूजा को पुराण प्रतिपादित कह कर अशिक्षित तथा अल्प मेधा वाले लोगों के लिये उपयोगी ठहराया गया था। इसी पत्र में एक अन्य लेख 'गट्टूलाल और स्वामी दयानन्द के वाद प्रतिवाद सम्बन्धी अभिमत' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। इसमें पूर्व वर्णित पं. गट्टूलाल और स्वामीजी के शास्त्रार्थ विषयक प्रकरण को हास्यरस की शैली में मुकद्दमे के रूपक के माध्यम से प्रस्तुत किया गया था। इस लेख से पाठकों में भ्रान्ति उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। लेख की आपत्तिजनक शैली, भाषा और भंगिमा को देखते हुए आर्यसमाज के मंत्री श्री पानाचंद आनन्दजी पारेख ने उक्त पत्र की संचालिका सभा के प्रधान भाईशंकर नाना भाई को २१ जून १८७५ को एक नोटिस दिया, जिसमें यह कहा गया था कि इस लेख में वर्णित बातें वेदशास्त्रों के आशय से पूर्णतया प्रतिकूल

हैं, अतः उचित होगा कि इस पर विचार करने के लिये आप स्वामी दयानन्द से सम्पर्क करें तथा शास्त्रार्थ द्वारा सत्यासत्य का निर्णय कर लें। राजकृष्ण महाराज तथा उनकी वेद धर्म-सभा के अनुयायी शास्त्रार्थ करने के लिये तैयार नहीं हुए। भाईशंकर नाना भाई ने २३ जून १८७५ को लिखे अपने उत्तर में इतना अवश्य लिखा कि आर्यसमाज अथवा स्वामी दयानन्द अपने पक्ष को लेख रूप में भेज दें, तो उसे हम अपने पत्र में प्रकाशित कर देंगे। परन्तु आर्य-समाज के अधिकारियों ने पत्र के माध्यम से इस विवाद को बढ़ाना उचित नहीं समझा, किन्तु स्वामीजी से अद्वैतवाद तथा प्रार्थनासमाज के सिद्धान्तों पर एक समीक्षात्मक व्याख्यान अवश्य करवाया।

यह हम देख चुके हैं कि स्वामीजी के बम्बई आगमन पर वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायियों ने यह अनुभव किया था कि यदि दयानन्द मूर्तिपूजा के विरोध में अपना अभियान इसी प्रकार तीव्र गति से चलाते रहे, तो शीघ्र ही उनके स्वार्थों को हानि पहुंचेगी। किस प्रकार उन्होंने पं. गट्टूलाल को स्वामी जी से शास्त्रार्थ के लिये तैयार कर उनके प्रभाव को उन्मूलित करने का प्रयत्न किया था, यह भी वर्णित हो चुका है। अब इन लोगों ने पं. कमलनयनाचार्य को स्वामीजी से शास्त्रार्थ के लिये प्रेरित किया। पं. कमलनयन अच्छे विद्वान् तथा वैष्णव मतावलम्बियों के नेता समझे जाते थे। वे श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के प्रति आस्था रखते थे। अनेक मारवाड़ी तथा भाटिया सेठ उनके अनुयायी तथा भक्त थे। अतः स्वामीजी से शास्त्रार्थ के लिये उन्हें विशेष रूप से बम्बई बुलाया गया। उनका एक व्याख्यान ३१ मई १८७५ को कांदावाड़ी मुहल्ले के नारायणवाड़ी स्थान पर हुआ, जिसमें उन्होंने 'रामतापिनी' तथा 'गोपालतापिनी' आदि परवर्ती उपनिषदों के प्रमाण देकर मूर्तिपूजा की वैदिकता को सिद्ध करने का प्रयत्न किया। परन्तु जिन लोगों ने स्वामी दयानन्द के मूर्तिपूजा के विरोध में नाना युक्तियों एवं शास्त्रीय प्रमाणों से युक्त व्याख्यानों को सुन लिया था, भला उन पर पं. कमलनयन की इस वक्तृता का क्या असर होता? अब लोगों का पं. कमलनयन पर दबाव बढ़ा कि उन्हें स्वामीजी से इसी विषय पर शास्त्रार्थ करना चाहिए।

पं. कमलनयन और स्वामीजी के शास्त्रार्थ की सम्भावना एक अन्य कारण से भी बढ़ गई। पण्डित जी के एक शिष्य शिवनारायण वेनीचंद नामक एक धनी मारवाड़ी तथा आर्यसमाज बम्बई के सभासद जीवनदयाल ठक्कर[१६] के बीच मूर्तिपूजा को लेकर बातचीत ने तत्काल एक शर्त का रूप ले लिया जिसके अनुसार दोनों ने लिखित रूप में यह निश्चित किया कि १२ जून को फ्रामजी कावसजी हाल में इसी विषय पर स्वामी दयानन्द तथा पण्डित जी का शास्त्रार्थ कराना चाहिए। दोनों के जिम्मे शास्त्रार्थ का सम्पूर्ण व्यय रहेगा। मुख्य शर्त यह रही कि यदि स्वामीजी इस शास्त्रार्थ में विजयी होंगे तो मारवाड़ी सेठ शिवनारायण रामानुज मत का परित्याग कर देगा तथा आर्यसमाज की सदस्यता स्वीकार कर लेगा। इसके विपरीत यदि मूर्तिपूजा वैदिक सिद्ध हो जाती है, तो जीवनदयाल ठक्कर को रामानुज मत स्वीकार करना होगा।[१७]

यद्यपि इन दोनों ने परस्पर प्रतिज्ञापत्र लिख कर शास्त्रार्थ की सूचना को प्रचारित भी कर दिया, किन्तु स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने वाले पं. कमलनयन को इसकी कोई सूचना

तक नहीं दी गई। जब पण्डित जी को प्रतिज्ञापत्र के लिखे जाने तथा प्रचारित होने की सूचना मिली तो वे बड़े रुष्ट हुए तथा उन्होंने स्वशिष्य शिवनारायण की इस बात के लिये भर्त्सना भी की। बिना उनकी स्वीकृति लिये शास्त्रार्थ की बात क्यों प्रचारित की गई, यही उनकी नाराजगी का कारण था। तथापि जब उनके वैष्णव अनुयायियों ने अत्यधिक आग्रह किया और इस बात पर विशेष बल दिया कि एक बार प्रचारित होने पर उनका शास्त्रार्थ के लिये आगे न आना, सम्पूर्ण वैष्णव मत की पराजय समझा जायगा, तो वे शास्त्रार्थ के लिये तैयार हो गये। परन्तु मात्र स्वीकृति देने से ही क्या होता। पं. कमलनयन तो मन ही मन सोच रहे थे कि उनमें न तो स्वामीजी के तुल्य वेदादि शास्त्रों का ज्ञान है और न शास्त्रार्थ कौशल ही है, अतः वे शास्त्रार्थ करने की स्वीकृति देकर भी विचलित होने लगे।

जब आर्यसमाज बम्बई के सभासद तथा स्वामीजी के परम भक्त श्री मथुरादास लवजी को यह ज्ञात हुआ कि पं. कमलनयन शास्त्रार्थ करने में संकोच कर रहे हैं, तो वे स्वयं उनके समीप गये। उन्होंने पण्डितजी को स्पष्ट कहा कि स्वामीजी का मूर्तिपूजा विषयक मत तो अत्यन्त सुविचारित तथा शास्त्रों के प्रमाणों पर आधारित है। वे यह भी मानते हैं कि देव मूर्तियों की प्राणप्रतिष्ठा, मूर्ति में तत् तत् देवता का आवाहन, उनका षोडशोपचार पूजन तथा उसके पश्चात् विसर्जन आदि की सिद्धि में कोई वेदोक्त मंत्र प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया जाना शक्य नहीं है। परन्तु वैष्णव मत का तो मूलाधार ही प्रतिमापूजन की इतिकर्त्तव्यता है। अतः आपको तो स्वपक्ष स्थापना के लिये कृतसंकल्प होना ही चाहिए। अब पं. कमलनयन के लिये शास्त्रार्थ करना अनिवार्य हो गया। परन्तु स्वपक्ष की दुर्बलता को देख कर वे कतिपय ऐसी शर्तें रखने लगे, जिनका कि पूरा होना भी सम्भव नहीं था। उन्होंने प्रथम शर्त के रूप में कहा कि इस शास्त्रार्थ के मध्यस्थ रूप में चारों दिशाओं के चार वेद वेदाङ्गवित् विद्वानों को स्थापित करना होगा। शायद वे सोचते थे कि ऐसे सर्व शास्त्र निष्णात पण्डितों का मिलना ही कठिन होगा, और वे सहज ही शास्त्रार्थ के श्रम से बच जायेंगे।

अन्ततः शास्त्रार्थ का निश्चित दिन आ गया। सभास्थल पर मध्याह्नोत्तर तीन बजे से ही विराट् जनसमुदाय एकत्रित हो गया। मंच पर दोनों ओर वक्ताओं के लिये कुर्सियां रक्खी गईं तथा शास्त्रार्थ में प्रमाण रूप में प्रस्तुत किये जाने वाले वेद, वेदाङ्ग आदि विभिन्न शास्त्रग्रन्थों को लाकर रक्खा गया जिनकी संख्या लगभग १५० थी। आर्यसमाज एवं प्रार्थना-समाज आदि संस्थाओं के सभासद तो पर्याप्त संख्या में उपस्थित हुए ही, उनके अतिरिक्त अन्य जिज्ञासु लोग भी बड़ी संख्या में आये। स्वामीजी भी नियत समय पर आकर अपने आसन पर विराजमान हो गये, किन्तु कमलनयनाचार्य नहीं आये। सम्भवतः वे शास्त्रार्थ के लिये अधिक इच्छुक भी नहीं थे, किन्तु जब एक व्यक्ति ने उनसे यह जाकर कहा कि शास्त्रार्थ के लिये वे पूर्व ही प्रतिश्रुत हो चुके हैं, अतः उन्हें कानूनन शास्त्रार्थ के लिये उपस्थित होना पड़ेगा, तो लगभग साढ़े तीन बजे वे अपने कुछ साथियों और समर्थकों के साथ आये। उन्हें भी यथास्थान बिठाया गया।

अब सभा की कार्यवाही आरम्भ हुई। रावबहादुर बेचरदास अम्बाईदास ने अध्यक्षता ग्रहण करने के पश्चात् सभा को आमंत्रित करने के प्रयोजनों की चर्चा करते हुए

कहा कि यदि स्वामी दयानन्द मूर्तिपूजा का खण्डन करते हैं, तो इससे हमें रुष्ट नहीं होना चाहिए, अपितु धैर्यपूर्वक उनकी युक्तियों को सुन कर ही सत्यासत्य का निर्णय करना उचित है। इसके पश्चात् भाईशंकर नाना भाई ने जीवनदयाल ठक्कर तथा शिवनारायण बेनीचंद के बीच हुए करार को पढ़ कर सुनाया, जिसके आधार पर ही यह शास्त्रार्थ आयोजित किया गया था। इसके पश्चात् पं. कमलनयन ने प्रश्न उठाया कि उपस्थित श्रोताओं में तो शास्त्रार्थ को समझकर उसके आधार पर निर्णय करने की योग्यता नहीं है, साथ ही यह भी कहा कि दोनों पक्षों की ओर से ऐसे पण्डित उपस्थित रहने चाहिएं, जो शास्त्रार्थ में प्रस्तुत किये गये विचारों को श्रोताओं को समझाने की योग्यता रखते हों। इसके साथ उन्होंने स्वामीजी से यह भी पूछ लिया कि उनके पक्ष का कौन सा विद्वान् वहां उपस्थित है? इस पर वहां उपस्थित पं. विष्णु परशुराम शास्त्री ने कहा कि यदि स्वामीजी चाहें, तो वे उनकी ओर से मध्यस्थ बन सकते हैं। यद्यपि पं. विष्णु परशुराम का अनेक सैद्धान्तिक बातों में स्वामी दयानन्द से मतभेद था, तथा वे स्वामीजी की वेदार्थ शैली के कटु आलोचक भी थे, परन्तु स्वामी दयानन्द ने सरल भाव से उन्हें अपनी ओर से मध्यस्थ रूप में स्वीकार कर लिया। शास्त्रीजी अब स्वामीजी के निकट जाकर बैठ गये।

वस्तुतः कमलनयनाचार्य तो काल यापन कर रहे थे। वे तो शास्त्रार्थ से कन्नी काटना चाहते थे। अतः उन्होंने उपस्थित पण्डितों से पूछा कि वे किस सम्प्रदाय के हैं? यह प्रश्न ही निरर्थक था, क्योंकि उपस्थित पण्डित तो किसी न किसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध थे ही। कमलनयन का कहना था कि इन पण्डितों को किसी भी सम्प्रदाय का अनुयायी नहीं होना चाहिए। यह शर्त तो अत्यन्त विचित्र तथा अव्यावहारिक ही थी। इसके पश्चात् उक्त पण्डित जी ने एक वैष्णवमतावलम्बी पण्डित को अपने पास मञ्च पर बिठा लिया तथा अन्य पण्डितों से कहा कि शालिग्राम शिला तथा गीता की पुस्तक पर हाथ रख कर शपथ लें कि वे सत्य अभिप्राय को ही प्रकाशित करेंगे। पण्डितों की ओर से कालिदास गोविन्द जी शास्त्री ने उन्हें आश्वस्त किया कि पण्डितगण सत्य से प्रतिबद्ध हैं, अतः सत्य ही कहेंगे।

जब पं. विष्णु परशुराम शास्त्री ने देखा कि कमलनयन तो व्यर्थ की बातें कर समय नष्ट कर रहे हैं, तो उन्होंने उनसे स्पष्ट कहा—"मैंने छहों शास्त्र पढ़े हैं। इससे पूर्व कि आप स्वामीजी से शास्त्रार्थ करें, मुझसे ही वार्तालाप कर लें। आप अपने को बड़ा भारी नैयायिक मानते हैं, चलिए, न्यायशास्त्र पर ही आप यथेच्छ पूछिये, मैं आपको उत्तर दूंगा।" इस पर कमलनयन कुछ भी नहीं बोले। अब स्वामीजी ने देखा कि कमलनयन तो व्यर्थ की बातें उठाकर शास्त्रार्थ से पीछा .छुड़ाना चाहते हैं, तो उन्होंने पण्डित जी को ही सम्बोधित कर कहा, "ऐसा दिवस तो बड़े भाग्य से ही आता है, जब कि धर्म विषयक चर्चा हेतु दो विद्वान् एकत्रित होकर महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर अपने विचारों का आदान प्रदान करते हैं।" उन्होंने यह भी कहा कि "मैं समस्त भारत में मूर्तिपूजा की अवैदिकता की तार स्वर से घोषणा करता हुआ विगत अनेक वर्षों से घूम रहा हूँ। मेरा यह सुनिश्चित विश्वास है कि चारों वेदों में कहीं भी पाषाणादि पदार्थों से निर्मित मूर्तियों के आवाहन, पूजन, विसर्जन आदि का उल्लेख नहीं है। यदि आप कोई ऐसा प्रमाण प्रस्तुत करें तो उस पर विचार किया जा सकता है।"

स्वामीजी के इस विनम्रता पूर्ण कथन पर भी पं. कमलनयन का मौन भंग नहीं हुआ। इस पर मथुरादास लवजी उठ खड़े हुए और उन्होंने ६ जून को कमलनयन से हुई अपनी वार्ता का विस्तार से विवरण देते हुए स्पष्ट किया कि उन्हें स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने में संकोच नहीं करना चाहिए। जब सेठ मथुरादास के कथन का भी पं. कमलनयन पर कोई असर नहीं हुआ, तो स्वामीजी को घोषणा करनी पड़ी कि वे मूर्तिपूजा की वैदिकता सिद्ध नहीं कर सके हैं। अतः विवश होकर उन्हें इस प्रथा की अवैदिकता को सिद्ध करना पड़ रहा है।

अब कमलनयन विचित्र धर्म संकट में पड़े। शास्त्रार्थ करना तो उन्हें अभीष्ट था ही नहीं, किन्तु क्या उन्हें अपने सहस्रों अनुयायियों की उपस्थित में इस संन्यासी की मूर्तिपूजा खण्डन विषयक वक्तृता को भी मौन भाव से सुनना पड़ेगा ? इससे पहले कि संन्यासी वेदों के प्रमाण प्रस्तुत कर जड़ोपासना का खण्डन करे, किसी बहाने उन्हें उठ कर चला जाना चाहिए। इसके लिये उन्हें एक बहाना भी मिल गया। वे चटपट यह कह कर उठ खड़े हुए कि जिस सभा में शूद्रों के समक्ष वेद मंत्रों का उच्चारण किया जायगा, वहां बैठना भी पाप है। लोगों ने उन्हें रोकने की भरसक चेष्टा की, किन्तु वे सभा से उठ कर चले ही गये। पं. कमलनयन के सभा त्याग करने पर स्वामी दयानन्द ने मूर्तिपूजा के निषेध में प्रमाणपुष्ट व्याख्यान दिया। उन्होंने इस प्रसंग में उन मंत्रों का वास्तविक अर्थ भी बताया जो पौराणिक वर्ग द्वारा मूर्तियों की प्राण प्रतिष्ठा में विनियुक्त हुए हैं। उन्होंने स्पष्ट किया कि इन मंत्रों में मूर्तिपूजा का नाम मात्र भी उल्लेख नहीं है। सारी सभा महाराज के इस व्याख्यान को सुन कर आप्यायित हो गई। सभापति ने पुष्पमाला पहना कर महाराज का सत्कार किया। इस प्रकार बम्बई के वैष्णव समुदाय का यह प्रयत्न भी निष्फल हुआ, जिसके द्वारा वे शास्त्रार्थ के माध्यम से स्वामीजी को परास्त करने के मनसूबे बांध रहे थे।

बम्बई में स्वामीजी की दिनचर्या पर्याप्त व्यस्त रहती थी। वे प्रातःकालीन दैनन्दिन कार्यों से निवृत्त होकर लेखन कार्य में व्यस्त हो जाते। सायंकाल चार बजे से दस बजे तक आगन्तुकों से वार्तालाप, शास्त्रचर्चा, व्याख्यान, शंकासमाधान आदि का कार्यक्रम चलता। रात्रि को दस बजे वे सो जाते। निद्रा वृत्ति इतनी वशवर्तिनी थी कि शय्या पर जाते ही सो जाते। जिस दिन कोई महत्त्वपूर्ण शास्त्रार्थ करना होता, उस दिन तीन बजे ही उठ पड़ते और शौच, स्नान से निवृत्त होकर दीर्घकाल तक ध्यानावस्थित हो, परमात्मा का चिन्तन करते। सामान्य दिनों की अपेक्षा इस दिन ध्यान की अवधि बढ़ जाती, मानो ईश्वराज्ञा का उल्लंघन करने वाले जड़पूजकों से जूझने के लिये वे अधिकाधिक आत्मिक बल का संचय कर रहे हैं तथा परमात्मा से ही, लोगों में वास्तविक आस्तिक भाव का संचार करने हेतु प्रार्थना कर रहे हैं।

इस प्रकार लगभग पौने पाँच मास तक बम्बई में रहकर स्वामीजी ने दक्षिण की काशी, संस्कृत विद्या के केन्द्र पूना के लिये प्रस्थान किया। न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडे तथा महादेव मोरेश्वर कुण्टे आदि समाज सुधारकों के निमंत्रण पर वे पूना पहुंचे थे। इस नगर में उनका आगमन आषाढ़ कृष्णा चतुर्दशी १९३२ वि. तदनुसार २० जून १८७५ मंगलवार को हुआ था।[१८] इस नगर में उन्हें विट्ठलपेठ में शंकर सेठ के गृह पर ठहराया गया। पूना

में पहुंचते ही एक विज्ञापन प्रकाशित कर स्वामीजी ने अपने द्वारा मान्य ग्रन्थों की सूची प्रकाशित कराई, साथ ही उन ग्रन्थों का भी नामोल्लेख कर दिया, जो उनकी दृष्टि में अप्रामाणिक हैं। ऐसा इसलिये आवश्यक था कि यदि कोई पण्डित शास्त्रार्थ करने के लिये आगे आता है, तो मान्य तथा प्रमाण कोटि में परिगणित ग्रन्थों को लेकर व्यर्थ के वाद विवाद में समय नष्ट न हो।

पूना में महामति रानडे के विशेष आग्रह पर स्वामीजी के बुधवार पेठ स्थित भिड़े के बाड़े में[१९] पन्द्रह व्याख्यान हुए। कुछ अन्य व्याख्यान केम्प की ईस्ट स्ट्रीट स्थित मराठी स्कूल में हुए। कुल पचास व्याख्यान हुए थे।[२०] जिस भिड़े के बाड़े के दीवानखाने में ये व्याख्यान हुए वह तांबड़ी जोगेश्वरी मंदिर के निकट है। देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के अनुसार ये सब भाषण लिपिबद्ध कर लिये गये थे तथा इनका प्रकाशन भी हुआ था।[२१] मराठी में अनूदित व्याख्यानों का सम्पादन सम्भवतः स्वयं रानडे ने किया होगा।[२२] कालान्तर में यही व्याख्यान 'उपदेश मंजरी' के नाम से प्रकाशित हुए।[२३] स्वामीजी के व्याख्यानों की भाषा सरल हिन्दी हुआ करती थी। इसे सुनकर कुछ पाण्डित्याभिमानी लोग कहने लगे कि संन्यासी को संस्कृत का उत्कृष्ट ज्ञान नहीं है, इसलिये वह हिन्दी में ही व्याख्यान देता है। जब महाराज के कानों तक यह बात आई तो उन्होंने १७ जुलाई को अपना 'पुनर्जन्म' विषयक व्याख्यान संस्कृत में ही दिया। स्वामीजी का यह संस्कृत भाषण वक्तृत्व कौशल, भाषा सौष्ठव तथा अभिव्यक्ति सौन्दर्य की दृष्टि से अपूर्व था, जिसे सुन कर मराठी श्रोतासमूह विस्मयविमुग्ध हो गया। परन्तु अधिकांश श्रोताओं के संस्कृत न जानने के कारण स्वामीजी ने अपने व्याख्यान का शेषांश हिन्दी में ही प्रस्तुत किया।

'लोकहितवादी' के नाम से प्रसिद्ध गोपालराव हरि देशमुख ने इन व्याख्यानों के सम्बन्ध में लिखा था—"सन् १८७५ के जून और जुलाई के महीने में यहां (पुणे) के प्रतिष्ठित और संभ्रान्त बड़े विद्वान् गृहस्थों के निमंत्रण पर स्वामीजी पूना आकर गये हैं। उस समय यहां हिन्दू क्लब में उनके १५-१६ व्याख्यान सुनने को मिले। कितने श्रोताओं की भीड़ थी और कितना अपूर्व उस वक्ता का उपदेश और व्याख्यान; उसके स्वरूप का क्या वर्णन करें।"[२४] महामति रानडे की पत्नी श्रीमती रमाबाई रानडे ने अपनी मराठी आत्मकथा में पूना प्रवचनों के सम्बन्ध में लिखा—"स्वामीजी जब पूना आये तब से उनके प्रवचन प्रतिदिन भिड़े साहब के दीवानखाने में होते थे। संध्याकाल के दो ढाई घण्टे इन प्रवचनों को सुनने व वहां की व्यवस्था में व्यतीत होते थे। स्वामी दयानन्दजी उत्तम रसमय वाणी के वक्ता थे। उनकी वाणी गम्भीर थी, उसी प्रकार उनकी भाषण पद्धति अत्यन्त मार्मिक व कभी कभी आलंकारिक हो जाती थी। इसी कारण उनका भाषण सुनने हेतु एकत्रित श्रोतागण तल्लीन हो जाते थे।"[२५]

यहां भी व्याख्यानों का वही क्रम रहता था जो अन्यत्र रहा। अर्थात् एक दिन वे व्याख्यान देते और दूसरे व्याख्यान में पूर्व व्याख्यान से सम्बन्धित शंकाओं का समाधान करते। इस नगर में सहस्रों श्रोताओं ने इन व्याख्यानों से स्वामीजी की वाग्मिता, वैदुष्य तथा शास्त्र-नैपुण्य का परिचय प्राप्त किया।

पूना में दिये व्याख्यानों के विषय तथा तिथियाँ इस प्रकार हैं—

प्रथम व्याख्यान	ईश्वर सिद्धि	आषाढ़ शुक्ला प्रतिपदा २०३२ वि. रविवार ४ जुलाई १८७५ ई.
द्वितीय व्याख्यान	ईश्वर विषयक प्रश्नोत्तर	आषाढ़ शुक्ला चतुर्थी मंगलवार ६ जुलाई
तृतीय व्याख्यान	धर्माधर्म	आषाढ़ शुक्ला षष्ठी गुरुवार ८ जुलाई
चतुर्थ व्याख्यान	धर्माधर्म विषयक प्रश्नोत्तर	आषाढ़ शुक्ला अष्टमी शनिवार १० जुलाई
पञ्चम व्याख्यान	वेद विषय	आषाढ़ शुक्ला दशमी मंगलवार १३ जुलाई
षष्ठ व्याख्यान	जन्म विषयक	आषाढ शुक्ला चतुर्दशी शनिवार १७ जुलाई
सप्तम व्याख्यान	यज्ञ और संस्कार विषयक	श्रावण कृष्णा द्वितीया मंगलवार २० जुलाई
अष्टम व्याख्यान	इतिहास विषयक	श्रावण कृष्णा षष्ठी शनिवार २४ जुलाई
नवम व्याख्यान	इतिहास विषयक	श्रावण कृष्णा सप्तमी रविवार २५ जुलाई
दशम व्याख्यान	इतिहास विषयक	श्रावण कृष्णा नवमी-दशमी मंगलवार २७ जुलाई
एकादश व्याख्यान	इतिहास विषयक	श्रावण कृष्णा द्वादशी गुरुवार २९ जुलाई
द्वादश व्याख्यान	इतिहास विषयक	श्रावण कृष्णा चतुर्दशी शनिवार ३१ जुलाई
त्रयोदश व्याख्यान	आह्निक अथवा नित्यकर्म और मुक्ति	श्रावण शुक्ला प्रतिपदा सोमवार २ अगस्त
चतुर्दश व्याख्यान	इतिहास विषयक	श्रावण शुक्ला द्वितीया मंगलवार ३ अगस्त
पञ्चदश व्याख्यान	आत्मकथन	श्रावण शुक्ला तृतीया बुधवार ४ अगस्त

पूना में प्रदत्त व्याख्यानों के शीर्षकों पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि स्वामी दयानन्द अपनी वक्तृताओं में धर्म, दर्शन, कर्मकाण्ड, वेदादिशास्त्र, यज्ञ, संस्कार, तथा पुनर्जन्म जैसे विविध विषयों को अपनी विवेचना का विषय बनाते थे। स्वामीजी ने अपने उपदेशक काल में सहस्रों व्याख्यान प्रवचन किये, परन्तु उनमें से केवल इन्हीं पन्द्रह व्याख्यानों को लेख बद्ध कर सुरक्षित किया जा सका था। यदि हम इन व्याख्यानों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करें तो इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि इनमें वक्ता का विस्तृत शास्त्रज्ञान, उसकी

अद्भुत विवेचना शक्ति, तथा सर्वोपरि, समाज, स्वदेश एवं मानवता के प्रति उनकी सजग दृष्टि के दर्शन होते हैं। इतिहास विषयक व्याख्यानों की संख्या सर्वाधिक है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी दयानन्द भारतीय इतिहास के तटस्थ विश्लेषण की क्षमता रखते थे। इसी व्याख्यान माला की अन्तिम कड़ी के रूप में स्वामीजी ने अपने जीवन सम्बन्धी कुछ तथ्यों को प्रस्तुत किया। इस व्याख्यान के अन्त में उन्होंने अपने धर्म प्रचार कार्य की समीक्षा करते हुए कहा था—

"आर्य धर्म की उन्नति के लिये मुझ जैसे बहुत से उपदेशक आपके देश में होने चाहिए। ऐसा काम अकेला आदमी भली प्रकार नहीं कर सकता। फिर भी यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि अपनी बुद्धि और शक्ति के अनुसार जो कुछ दीक्षा ली है, उसे चलाऊंगा।" और इसके पश्चात् उन्होंने अपने व्याख्यान रूपक के आशीर्वादात्मक भरतवाक्य का इस प्रकार उच्चारण किया—**"अन्त में ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि सर्वत्र आर्यसमाज कायम होकर मूर्तिपूजादि दुराचार दूर हो जावें, वेद शास्त्रों का सच्चा अर्थ सबकी समझ में आवे और उन्हीं के अनुसार लोगों का आचरण होकर देश की उन्नति हो जावे।"** इस कल्याणी, लोकमंगल-विधायिका वाणी के साथ परिव्राजक दयानन्द ने अपनी वक्तृता समाप्त की थी। उनके व्याख्यानों का प्रभाव पुण्यपत्तन के लोगों पर दृष्टिगोचर होने लगा।[२६] महाराष्ट्री ब्राह्मण अपनी गणेश प्रतिमाओं का स्वतः ही विसर्जन करने लगे।

ज्यों ज्यों जनसाधारण स्वामीजी की विचारधारा से प्रभावित होता गया, पण्डित-मण्डली में क्षोभ की धाराएं भी उमड़ने लगीं। १५ अगस्त १८७५ को विष्णु मन्दिर में स्वामीजी के मन्तव्यों का खण्डन करने के लिये एक सभा आयोजित की गई। पं रामदीक्षित आप्टे तथा नारायण शास्त्री गोडबोले ने एक विज्ञापन प्रकाशित कर स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने की इच्छा व्यक्त की, परन्तु तत्कालीन पत्रों की टिप्पणियों से विदित होता है[२७] कि शास्त्रार्थ करने हेतु उनकी प्रदर्शित तत्परता दिखावा मात्र ही थी। इन लोगों ने शास्त्रार्थ के जो नियम निर्धारित कर स्वामीजी की सेवा में भेजे, वे इतने हास्यास्पद थे कि उनका स्वीकार किया जाना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं था। स्वामीजी ने भी स्पष्ट कर दिया कि महादेव गोविन्द रानडे तथा महादेव मोरेश्वर कुण्टे जो नियम निर्धारित करेंगे, वे ही उन्हें स्वीकार्य होंगे।

पौराणिक दल प्रतिहिंसा और विद्वेष की अग्नि में जलने लगा। दाक्षिणात्य ब्राह्मणों की एकच्छत्र राजधानी पुण्यपत्तन में आकर कोई संन्यासी वर्ण-व्यवस्था, प्रतिमा पूजन तथा वेदों के अध्ययनाधिकार आदि शास्त्रीय विषयों पर कुछ ऐसे विचार व्यक्त करे, जो उनकी दृष्टि में परम्परा के सर्वथा विरुद्ध हों, तथा जिनके कारण गतानुगतिकता तथा रूढिवादिता पर भयंकर प्रहार होता हो, यह उनके लिये असह्य था। फलतः येन केन प्रकारेण स्वामीजी का विरोध करने के अनेक उपाय सोचे गये, किन्तु उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली। पौराणिक दल के नेता नारायण भीकाजी जोगलेकर एक अवकाश प्राप्त सरकारी अधिकारी था।[२८] उसने राम शास्त्री आप्टे तथा वसुदेवाचार्य के व्याख्यान आयोजित कर महाराज के सिद्धान्तों का खण्डन कराने का प्रयास किया। २२ अगस्त की रात्रि को किसी ने एक मन्दिर से गणपति

तथा अहिल्या की मूर्तियां उठा कर नाली में फेंक दीं। आरोप लगाया गया कि यह दुष्कृत्य दयानन्द के उत्तेजना पूर्ण व्याख्यानों के परिणाम स्वरूप हुआ है। यह प्रवाद भी प्रचलित किया गया कि स्वामीजी ने अपने एक व्याख्यान में भगवान् राम के प्रति अशोभनीय शब्दों का प्रयोग किया है। समाचार पत्रों के माध्यम से भी जनमत को स्वामीजी के विपरीत बनाने का प्रयत्न किया गया। यह लिखा गया कि उनके व्याख्यानों में कट्टर हिन्दू धर्म पर जैसे आक्रमण होते हैं, उनसे एक बार फिर १८५७ के विद्रोह जैसे उपद्रवों के भड़कने की आशंका है। जब इस प्रकार के नाना मिथ्या आरोप लगा कर भी वे श्री महाराज की अमल धवल कीर्ति-कौमुदी को कलुषित नहीं कर सके, तो उनके कुण्ठाग्रस्त मानस में स्वामी श्री को अपमानित करने के एक घृणित षड़यंत्र ने जन्म लिया। इसे क्रियान्वित करने का अवसर भी उन्हें तुरन्त मिल गया।

पूना प्रवास को समाप्त कर जब स्वामीजी सातारा की ओर प्रस्थान करने के लिये उद्यत हुए तो इस नगर के भक्त जनों ने उनके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करने हेतु एक अभिनन्दनात्मक समारोह का आयोजन किया। इसके लिये भाद्रपद शुक्ला ५ रविवार, ५ सितम्बर १८७५ की तिथि रक्खी गई। निश्चय हुआ कि स्वामीजी की एक शोभायात्रा निकाली जाय, जो छावनी से चल कर नगर में समाप्त होगी। इस हेतु सभी तैयारियां कर ली गईं। देशी और अंग्रेजी बैण्ड की व्यवस्था भी हुई। सवारी के लिये सुशोभन अम्बारी युक्त हाथी मंगाया गया। अभिनन्दन सभा में नगर के गण्यमान्य व्यक्ति उपस्थित थे, जिनमें हिन्दुओं के अतिरिक्त मुसलमान, पारसी और यहूदी भी थे। इस अवसर पर स्वामीजी ने एक व्याख्यान दिया, जिसमें उन्होंने 'यथेमां वाचं कल्याणी' इस यजुर्मन्त्र के आधार पर वेद ज्ञान की सार्वजनीनता का प्रतिपादन किया। तदनन्तर गंगाराम भाऊ म्हस्के ने महाराज के सद्गुणों का वर्णन करते हुए पूना निवासियों की ओर से उनका अभिनन्दन किया। नगरवासियों की कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए उपहार रूप कुछ वस्त्र स्वामीजी को भेंट किये गये। उत्तर में स्वामीजी ने कहा कि अकिंचन संन्यासी के लिये ऐसे महार्घ उपहारों का स्वीकार करना अनौचित्य पूर्ण ही है, तथापि इन्हें अस्वीकार करने से नागर वर्ग को दुख होगा, यह जान कर ही वे इन्हें स्वीकार कर रहे हैं। इसके पश्चात् सभा की कार्यवाही समाप्त हुई। उपस्थित जन समूह ने स्वामीजी पर पुष्प वृष्टि की, तथा परस्पर पान सुपारी वितीर्ण की गई। तत्पश्चात् शोभा यात्रा प्रारम्भ हुई। बहुत आग्रह करने पर भी स्वामीजी ने हाथी पर सवार होना स्वीकार नहीं किया।[२९] वे अन्यों के साथ पैदल ही चले।

शोभा यात्रा में आगे सुसज्जित हाथी, पीछे घोड़े, फिर पुलिस के सिपाही, बैण्ड बाजे तथा अन्त में स्वामी के साथ नगर का प्रतिष्ठित जन समुदाय था। नगर के निकट पहुंचते पहुंचते लोगों की संख्या तीन चार हजार हो गई। महाराज का यह अभिनन्दन भला विरोधी लोगों को कैसे रुचता। उन्हें तो स्वामीजी का यह सम्मान आंखों में गड़े कांटे के तुल्य पीड़ा दे रहा था। अतः शोभा यात्रा को भंग करने के लिये उन्होंने एक घृणित आयोजन किया। एक गधे को गेरुए रंग से सजा कर उस पर काषाय वस्त्र की एक झूल डाल दी। इस पर 'गर्दभानन्द सरस्वती' लिख दिया गया तथा 'गर्दभानन्द की जय' के नारे लगाता यह गुण्डा-मण्डल पूना के बाजारों में घूमने लगा।[३०] आश्चर्य है कि इस उद्दण्डमण्डली का नेता वही

नारायण भीकाजी जोगलेकर था। उस समय सायंकाल हो गया था, जब कि छावनी से पांच बजे चलने वाली शोभा यात्रा भवानी पेठ, गणेश पेठ, आदित्यवार पेठ तथा बुधवार पेठ आदि बाजारों से होती हुई भिड़े के बाड़े की ओर अग्रसर हुई। मशालें जलाकर प्रकाश की व्यवस्था कर ली गई। उसी समय गर्दभ दल भी आ पहुंचा। जब दुष्ट मण्डली की उद्दण्डता सीमातीत हो गई और ये लोग अश्लील तथा भद्दे नारे लगाने लगे तो स्वामीजी के भक्त वर्ग ने गधे को पकड़ कर पुलिस के हवाले कर दिया।

परन्तु बात यहीं समाप्त नहीं हुई। वर्षा हो जाने के कारण सारे रास्ते कीचड़ से भरे थे। लोगों के लिये सड़कों पर चलना भी कठिन हो रहा था। इसी बीच गुण्डों ने मशालें बुझा दीं, तथा अंधकार का लाभ उठा कर नियोजित ढंग से आसपास के घरों की खिड़कियों और छतों से ईंट पत्थर फेंके जाने लगे, जिससे अनेक लोगों के चोटें आईं।[३१] आश्चर्य यह है कि पुलिस की उपस्थिति में भी उपद्रव होते रहे और कुछ भी कार्यवाही नहीं की गई। अन्ततः पुलिस अधीक्षक श्री पोर्टमेन तथा इन्सपैक्टर ट्रेने को जब इस घटना की सूचना मिली, तो वे लगभग एक सौ सिपाहियों को लेकर उपद्रव स्थल पर पहुंचे। जैसे तैसे उपद्रव शान्त किया गया, परन्तु दंगाइयों ने पुलिस के लोगों पर भी पत्थर फेंके जिससे इन्सपैक्टर ट्रेने तथा अन्य पुलिस कर्मी घायल हो गये।

उपद्रव प्रारम्भ होते ही स्वामीजी को तो व्याख्यान स्थल पर भेज दिया गया था। जब दस बजे रात्रि तक उपद्रवी तथा असामाजिक तत्त्व वहां से पूर्णतया हट गये, तो स्वामीजी की वक्तृता प्रारम्भ हुई। संन्यासी के प्रशान्त मुखमण्डल पर अपूर्व गौरव तथा दीप्ति विराज रही थी। थोड़ी देर पहले ही जो अकाण्ड ताण्डव हो चुका था, जो अशोभनीय घटना घट चुकी थी, उसका लेश मात्र प्रभाव भी उनके मुख पर नहीं था। व्यक्तिगत मानापमान के प्रति सर्वथा तटस्थ भाव रखने वाला यह वीतराग, स्थितप्रज्ञ संन्यासी मानो अपनी पार्श्ववर्ती घटनाओं के प्रति सर्वथा उदासीनता का भाव रखता हुआ गीतोक्त 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' के आदर्श को चरितार्थ कर रहा था। व्याख्यान की समाप्ति पर महादेव मोरेश्वर कुण्टे तथा महादेव गोविन्द रानडे ने स्वामीजी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रदर्शित करते हुए उन्हें भविष्य में किये जाने वाले वेद भाष्य के प्रकाशन में सहायता रूप २५० रु. की राशि भेंट करने का प्रस्ताव किया। सभी लोगों ने इसका अनुमोदन किया। तत्पश्चात् स्वामीजी को पुष्पाञ्जलि अर्पित की गई और सभा समाप्त हुई।

कार्यक्रम समाप्त होते होते आधी रात व्यतीत हो गई। पुलिस निरीक्षक ट्रेने पूरे समय तक सभा में उपस्थित रहा। अब उसने स्वामीजी से प्रार्थना की कि वे शेष रात्रि तक वहीं (भिड़े के बाड़े) विश्राम करें क्योंकि उपद्रवी लोग उन पर मार्ग में आक्रमण कर सकते हैं।[३२] परन्तु निर्भीकचित्त दयानन्द ने स्पष्ट उत्तर दिया—"निर्दोष नागरिकों की रक्षा करना आपका कर्त्तव्य है, हम तो अपने स्थान पर जायेंगे।" फलतः, पुलिस को विवश होकर महाराज के साथ उनके निवास तक जाना पड़ा। असामाजिक तत्त्व अभी हटे नहीं थे। उन्होंने स्वामीजी तथा पुलिस दल पर भी पत्थर फेंके।

उपद्रव के आयोजक उच्च श्रेणी के धर्मान्ध ब्राह्मण वर्ग के थे, परन्तु अपराध के आरोप में जिन दो तीन व्यक्तियों को पकड़ा गया, वे बेचारे निम्न वर्ग के चपरासी और

दफ्तरी किस्म के लोग थे। भारतीय दण्ड संहिता की धारा १५३ तथा १४७ के अन्तर्गत उन पर अभियोग चलाया गया तथा अपराधियों को ६ मास का सपरिश्रम कारावास एवं ५०० रु. का अर्थ दण्ड दिया गया। आश्चर्य यह है कि इस सम्पूर्ण उद्दण्डतापूर्ण कार्यवाही के कर्णधार लोग तो बच गये और केवल छुटभइयों को ही दण्ड मिला। मजिस्ट्रेट ने अपने निर्णय में पुलिस के कर्त्तव्य शैथिल्य का स्पष्ट उल्लेख किया तथा आरोप लगाया कि पुलिस के कर्मचारी भी मतान्ध ब्राह्मणों के प्रभाव में आकर कर्त्तव्य से पराङ्मुख रहे। नगर दण्डनायक के इस निर्णय के विरुद्ध सत्र न्यायाधीश और अन्त में बम्बई हाईकोर्ट में अपील की गई किन्तु अपराधियों का दण्ड बरकरार रहा। लोगों को आश्चर्य तो तब हुआ जब देखा गया कि दण्डित व्यक्तियों के कारावास से मुक्त होकर आने पर पौराणिक वर्ग द्वारा उनका विजयी नायक की भांति भव्य स्वागत किया गया। प्रत्येक को एक सौ रुपये पुरस्कार रूप में दिये गये तथा उन्हें पुनः सेवा में ले लिया गया।

उपद्रव का मूल कारण वही जोगलेकर था, जिसने गुण्डों की सहायता से यह अशोभनीय काण्ड आयोजित किया था। उसने देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय को इस घटना का स्पष्टीकरण देते हुए बताया कि स्वामी दयानन्द पूना के सुधारक दल के आमंत्रण पर ही वहां आये थे और उन्हीं के संकेत से उन्होंने हिन्दुओं के मान्य देवी देवताओं की आलोचना की थी। यदि वे स्वतंत्र रूप से आते और धर्म की प्रचलित परम्पराओं और मान्यताओं पर प्रहार नहीं करते, केवल अपनी वैदिक मान्यताओं का ही प्रचार करते, तो सम्भवतः यह घटना नहीं घटती। परन्तु जोगलेकर की सफाई नितान्त अविश्वसनीय लगती है। पूना में चाहे वे रानडे[३३] तथा कुण्टे आदि सुधारक महानुभावों के आमंत्रण पर ही आये थे, किन्तु मूर्तिपूजा तथा अन्य पौराणिक अंधविश्वासों पर प्रहार करने के लिये उन्हें किसी अन्य व्यक्ति की प्रेरणा की आवश्यकता नहीं थी। यह कार्य तो वे अन्तःकरण की प्रेरणा के वशवर्ती होकर ही करते थे। अतः जोगलेकर के कथन में सत्य का स्वल्प अंश भी नहीं था।

इस प्रकार पूना में धर्म पिपासुओं को तृप्त कर स्वामी दयानन्द भाद्रपद शुक्लपक्ष सितम्बर १८७५ की किसी तिथि को सातारा चले गये। यहां उनका कोई व्याख्यान तो नहीं हुआ, किन्तु आगन्तुक व्यक्तियों से शास्त्रीय विषयों पर चर्चा अवश्य होती रही। स्थानीय पण्डितों से शास्त्रार्थ की चर्चा भी चली, किन्तु मध्यस्थता कौन करे, इस सम्बन्ध में कोई निर्णय न हो सकने के कारण शास्त्रार्थ की नौबत ही नहीं आई।[३४] वार्तालाप के एक प्रसंग में उन्होंने फलित ज्योतिष की समीक्षा की तथा इसे अंधविश्वास, भाग्यवाद तथा अकर्मण्यता का जनक बताया। उन्होंने मनुस्मृति के उन श्लोकों को भी प्रक्षिप्त घोषित किया जो जन्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था को स्वीकृति देते हैं। स्मार्त साहित्य में स्वामी दयानन्द मात्र मनुस्मृति को ही प्रामाणिक स्वीकार करते थे, परन्तु उनकी यह सुनिश्चित धारणा थी कि इस सर्वाधिक प्राचीन तथा वेदार्थ को पुष्ट करने वाले ग्रन्थ में भी कालान्तर में अनेक श्लोक स्वार्थी तत्त्वों द्वारा क्षेपक रूप में प्रविष्ट कर दिये गये हैं।

सातारा से पूना होते हुए[३५] वे पुनः बम्बई आये। इस बार उनका बम्बई आगमन आर्यसमाज के संस्थापक तथा प्रमुख धर्मप्रचारक के रूप में हुआ था। स्टेशन पर उनके स्वागत

हेतु पर्याप्त संख्या में प्रशंसक एवं भक्त जन उपस्थित थे। ३० अक्टूबर १८७५ को 'आर्यों का नये वर्ष का प्रथम दिन' विषय पर उनका व्याख्यान हुआ। इसी समय उनकी भेंट ब्रह्मसमाज की पंजाब शाखा के कार्यकर्ता नवीनचन्द्र राय तथा केशवचन्द्र सेन के अनुयायी प्रतापचन्द्र मजूमदार से हुई। वार्तालाप के प्रसंग में स्वामी दयानन्द ने इन लोगों को स्पष्ट बताया कि वेदों में अग्नि, इन्द्र आदि जिन शब्दों का प्रयोग मिलता है, उनके ईश्वर परक अर्थ करने में कुछ भी अनुचित नहीं है, क्योंकि ईशावास्योपनिषद् (जो स्वल्प परिवर्तन के साथ यजुर्वेद का ४० वां अध्याय ही है) के १८ वें मंत्र में प्रयुक्त 'अग्नि' शब्द का ईश्वरपरक अर्थ जिस प्रकार शंकराचार्य, आनन्द गिरि, उव्वट, सायण आदि प्राचीन भाष्यकारों ने किया है, उसी भांति दाराशिकोह, राममोहन राय, मैक्समूलर, शॉपनहार तथा डेविड पियर्सन आदि अर्वाचीन काल के टीकाकारों ने भी किया। परन्तु नवीनचन्द्र राय स्वामीजी के इस मत से सहमत नहीं थे, जैसा कि उन्होंने स्वसम्पादित ज्ञान प्रदायिनी पत्रिका (संख्या ३१-३२ खण्ड ४ पृष्ठ २४) में स्वामीजी से हुई उपर्युक्त भेंट का उल्लेख करते हुए लिख दिया था। पं. लेखराम ने बम्बई प्रवास के समय प्रो. मैक्समूलर से स्वामी दयानन्द के पत्र व्यवहार का भी उल्लेख किया है। परन्तु यह बात अभी तक सिद्ध नहीं हो सकी है, कि प्रसिद्ध वेदज्ञ मॅक्समूलर का कभी स्वामीजी से कोई पत्र व्यवहार हुआ था।

कुछ काल तक बम्बई में निवास कर वे पौष १९३२ वि. में बड़ौदा पधारे। इस रियासत के दीवान सर टी. माधवराव के प्रबंध से रेलवे स्टेशन के निकट गोविन्दराव रोडिया की धर्मशाला में उनके निवास की व्यवस्था हुई। यहां उनके लिये सभी प्रकार की सुविधायें थीं। राव बहादुर गोपालराव हरि देशमुख के पुत्र रामचन्द्र राव गोपाल देशमुख उस समय इस नगर के न्यायाधीश थे। उनके पिता तो पहले ही आर्यसमाज में दीक्षित हो चुके थे। अतः रामचन्द्र राव स्वामीजी की आतिथ्य व्यवस्था में स्वयं रुचि लेते थे।

व्याख्यानों की व्यवस्था भी धर्मशाला में ही की गई। प्रथम व्याख्यान 'देशोन्नति' पर तथा दूसरा व्याख्यान 'वेदाधिकार' पर हुआ। नगर के गण्यमान्य पण्डित और विद्वान् भी बड़ी संख्या में उपस्थित थे। मनुष्य मात्र के लिये वेदाध्ययन के अधिकार का प्रतिपादन करना दयानन्द की एक महती देन है। यहां यह स्मरणीय है कि मध्यकालीन धार्मिक अनुशास्ताओं ने द्विजेतर शूद्रों, यहां तक कि नारी जाति के लिये भी वेदाध्ययन के द्वार बंद कर दिये थे।[३६] स्वामीजी की धारणा थी कि यदि परम्परागत मत को स्वीकार कर वेदों को ईश्वरीय ज्ञान माना जाता है, तो उसका अध्ययन मानव जाति के किसी वर्ग विशेष के लिये ही सीमित नहीं होना चाहिए। परमात्मा की यह कल्याणी वाणी तो बिना जाति, लिङ्ग, मत, सम्प्रदाय का विचार किये, मनुष्य मात्र के लिये प्रवर्तित हुई है। यजुर्वेद के मंत्र 'यथेमां वाचं कल्याणी'[३७] को प्रायः वे अपने मत के समर्थन में उद्धृत किया करते थे। जब इस व्याख्यान के प्रसंग में भी उन्होंने यजुर्वेद के उपर्युक्त मंत्र को मधुर स्वर से उच्चरित कर यह घोषणा की कि परमपिता ने अपनी नित्य वाणी का उपदेश, स्त्री पुरुष का भेद किये बिना ही मानव मात्र के हितार्थ किया है,[३८] तो उपस्थित ब्राह्मणों में अशान्ति तथा हलचल व्याप्त हो गई। वे कानों पर अंगुलियां रख कर एक स्वर से 'अब्रह्मण्यम्' और 'शान्तं पापं' जैसे वाक्य बोलने

लगे। उनके विचार से सभा में उपस्थित निम्न वर्ग के लोगों तथा आर्येतर मतावलम्बियों की उपस्थिति में वेद मंत्रों का उच्चारण कर स्वामीजी ने घोर अनर्थ किया है। जब उनका शोर शराबा बढ़ता ही गया, तथा उससे व्याख्यान में व्यवधान पड़ने लगा, तो सभा में उपस्थित प्रतिष्ठित पुरुषों के आग्रह पर स्वामीजी ने अपना व्याख्यान बंद कर दिया और पण्डित वर्ग को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा।

प्रथम यज्ञेश्वर शास्त्री से व्याकरण पर, पुनः अप्पय शास्त्री से न्याय विषय पर शास्त्रार्थ की शैली से वाद हुआ, किन्तु दोनों ही पण्डित थोड़े काल पश्चात् निरुत्तर हो गये। इन वैयाकरण तथा नैयायिक विद्वानों के शास्त्रार्थ समर में पराजित हो जाने पर अन्य पण्डितों को उनके समक्ष आने का साहस ही नहीं हुआ। वस्तुतः बड़ौदा में पण्डितों द्वारा स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने का एक अन्य प्रयोजन भी था, जो उनकी आजीविका से सीधा सम्बन्धित था। बड़ौदा राज्य की ओर से सूरत, पूना, नासिक आदि के संस्कृतज्ञ पण्डितों को प्रतिवर्ष वर्षाशन के रूप में कुछ द्रव्य दिया जाता था। राजकीय वृत्ति को प्रदान किये जाने की घोषणा से पूर्व बड़ौदा के प्रमुख पण्डितों द्वारा इन इतर प्रदेश वासी पण्डितों की परीक्षा ली जाती थी, तथा उनकी संस्तुति पर ही वर्षाशन प्रारम्भ होता था। जब स्वामीजी बड़ौदा पहुंचे, तो निकटवर्ती नगरों के पण्डित समुदाय को यह भय हुआ कि यदि स्वामी दयानन्द पौराणिक पाखण्ड खण्डन के कार्य में सफलता पा लेते हैं, तो सम्भवतः राज्य से मिलने वाली उनकी वृत्ति बंद हो जायगी; क्योंकि यह पण्डित वर्ग तो अधिकांश में मंदिरों की सेवापूजा, पौराणिक ढंग की पौरोहित्य वृत्ति आदि से ही अपना जीविकोपार्जन करता था। उन्होंने यह भी धारणा बना ली थी कि स्वामी दयानन्द का संस्कृत ज्ञान अधिक नहीं है, अतः उन्हें शास्त्रार्थ में पराजित करना भी कठिन नहीं होगा। परन्तु जब उनके प्रतिनिधि रूप यज्ञेश्वर शास्त्री और अप्पय शास्त्री ही महाराज के समक्ष मौन भाव धारण कर बैठे, तो अवशिष्ट पण्डितों का दयानन्द को पराजित देखने का मधुर स्वप्न भंग हो गया।

स्वामीजी ने 'राजधर्म' विषय पर एक अत्यन्त प्रभावशाली व्याख्यान केदारेश्वर के मंदिर में दिया। व्याख्यान को सफल बनाने में रामचन्द्र राव देशमुख ने रात दिन एक कर दिया। बड़ौदा राज्य के उच्च पदाधिकारी वकील एवं गण्यमान्य व्यक्ति इस व्याख्यान में आमंत्रित थे। बड़ौदा के दीवान तथा प्रसिद्ध राजनीतिविद् सर टी. माधवराव भी उपस्थित हुए। व्याख्यान में दयानन्द ने वेद, स्मृति तथा अन्यान्य प्राचीन शास्त्रों के आधार पर राजधर्म का इतना सुन्दर विश्लेषण किया, जिसे सुन कर श्रोता विस्मय विभोर हो गये। इस व्याख्यान में उन्होंने राजा (शासक) के गुणों एवं कर्त्तव्यों का विवेचन करते हुए अमात्य एवं राज-कर्मचारियों की अपेक्षित योग्यताओं तथा अर्हताओं की गम्भीर मीमांसा की। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि समाज सुधारों को प्रवर्तित करना शासकों का पुनीत कर्त्तव्य है। इस दृष्टि से कानूनन बाल विवाह जैसी दूषित प्रथा को तत्काल समाप्त किया जाना चाहिए।[३६] अन्त में उन्होंने अपने विवेचन को निष्कर्ष रूप में प्रस्ततु करते हुए स्पष्ट किया कि जिस दिन भारतवासी सामाजिक दृष्टि से सशक्त हो जायेंगे, राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त करने में उन्हें एक क्षण भी नहीं लगेगा। निश्चय ही स्वामीजी की यह मीमांसा तथ्याश्रित तथा वस्तुनिष्ठ

थी, क्योंकि सामाजिक ऐक्य के अभाव में किसी भी देश का स्वाधीन हो कर रहना सम्भव नहीं होता। राजनय के कुशल व्याख्याता स्वामी दयानन्द द्वारा मनु, शुक्र, विदुर तथा विष्णुगुप्त कौटल्य की ही सरणि का अनुसरण करते हुए दिये गये इस व्याख्यान को सुन कर राज्य के प्रधानमंत्री सर टी. माधवराव की प्रसन्नता की कोई सीमा नहीं रही। उन्होंने भक्ति पुरस्सर भाव से संन्यासी के चरणों में प्रणिपात किया और कहा कि मैं तो आपको एक परिव्राजक के रूप में ही जानता था। नृप नीति में तो हम जैसे राजनीतिकर्मियों से भी आप कई गुने अधिक निपुण हैं।

स्वामी दयानन्द के लिये अपने वाक् कौशल तथा युक्ति नैपुण्य से प्रतिपक्षी को निरुत्तर कर देना कठिन नहीं था। इसके अनेक उदाहरण हम इससे पूर्व भी देख चुके हैं। जब एक दिन वे क्षौर करा रहे थे, तो एक ब्राह्मण ने आकर व्यंग्यभाव से कहा 'संन्यासियों का धर्म तो त्याग है। आप शरीर संस्कार में क्यों लगे हैं?' स्वामीजी ने सहज भाव से उत्तर दिया, "यदि बाल बढ़ाना ही त्याग का चिह्न है, तब तो रीछ को ही सबसे बड़ा त्यागी मानना पड़ेगा।" उत्तर तो हो गया। परन्तु इसके पश्चात् उन्होंने प्रश्न कर्त्ता को प्रबोध देते हुए कहा कि शरीर ही धर्म का प्रमुख साधन है।[४०] अतः लोकोपकार के लिये शरीर की आवश्यक सुरक्षा नितान्त करणीय है। इसी प्रकार जब एक अन्य व्यक्ति ने वेदों पर भाष्य तथा अन्य ग्रन्थों की रचना हेतु स्वामीजी द्वारा धनसंग्रह किये जाने पर आपत्ति करते हुए कहा कि संन्यासियों के लिये तो द्रव्य संग्रह वर्जित है, उत्तर में स्वामीजी ने स्पष्ट किया कि लोकहित के महत् अनुष्ठानों की सिद्धि के लिये यदि धन संग्रह किया जाता है, तो इसे अनुचित नहीं कहा जा सकता। केवल परिग्रह वृत्ति से धनसंग्रह को अनुचित माना गया है। स्वयं उन्होंने अपने जीवन के पूर्वार्द्ध को ही दृष्टान्त रूप में उपस्थित कर कहा कि जब वे अवधूत अवस्था में गंगा तटवर्ती प्रान्तों में भ्रमण कर देशवासियों को धर्मोपदेश करते थे, उस समय तो, धन की बात ही दूर रही, भोजन तक के लिये वे किसी से याचना नहीं करते थे। किन्तु अब, जब कि विभिन्न स्थानों पर वैदिक पाठशालाओं के प्रवर्त्तन, वेदों के भाष्य लेखन एवं प्रकाशन तथा सर्वोपरि, आर्यसमाज की स्थापना के माध्यम से जब वे देश तथा मानव जाति के सर्वतोमुखी उत्थान हेतु प्रयत्नशील हुए हैं, तो इन योजनाओं के लिये धन भी एक प्रयोजनीय वस्तु है।

इस स्थिति में धन की आवश्यकता को अनुभव करते हुए भी स्वामीजी जो कुछ धन सहायता रूप में स्वीकार करते थे, वह न्याय तथा औचित्य की सीमा में ही होता था। इसके विपरीत, व्यक्तिगत भेंट पूजा के रूप में तो एक पैसा भी वे स्वीकार नहीं करते थे। इसीलिये जब राज्य के दीवान सर माधवराव ने विदाई के समय स्वगृह पर आमंत्रित कर उन्हें एक सहस्र रुपये भेंट करने चाहे, तो महाराज ने उसे अस्वीकार करते हुए कहा कि हम वल्लभाचार्य मत के गुसाइयों की भांति धर्म की बिक्री नहीं करते। इसी प्रकार एक राजनीतिक मामले में एक व्यक्ति ने पं. कृष्णराम के माध्यम से उन्हें कहलाया कि यदि वे सर टी. को कह कर उसका काम करवा दें, तो महाराज के वेदभाष्य कोष में वह बीस हजार की राशि भेंट करेगा। जब स्वामीजी को इस बात की भनक पड़ी तो उन्होंने पं. कृष्णराम को सख्त ताकीद कर दी कि इस प्रकार द्रव्य का प्रलोभन देकर अपना काम करवाने की बात करना ही घोर

अपराध है। हां, यदि उनके द्वारा की गई किसी निर्दोष सिफारिश से किसी स्वदेशवासी का हित होता है तो वे अवश्य करेंगे। परन्तु इसके बीच पैसे को लाना तो उत्कोच के तुल्य है। यह उल्लेखनीय है कि इसके पश्चात् स्वामीजी के कहने से सर माधवराव ने उचित हस्तक्षेप कर इस मामले का यथोचित समाधान कर दिया था।[४१] इस घटना से स्वामीजी का जहां असामान्य निस्पृहत्व प्रकट होता है, वहां उनकी न्यायप्रियता एवं लोकहितैषी वृति के भी दर्शन होते हैं।

बड़ौदा से चलकर वे फाल्गुन १९३२ वि. में अहमदाबाद आते हैं। यहां रावबहादुर गोपालराव हरि देशमुख से मिलकर वे भड़ौच होते हुए सूरत चले गये। इस बार हाई स्कूल में उनका एक व्याख्यान हुआ। इसी नगर में उनकी भेंट प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ तथा प्राच्च विद्या-विशारद वॉन बूलर (Von Buhler)[४२] से हुई। ये उस समय शिक्षा विभाग के निरीक्षक थे। दोनों का वार्तालाप संस्कृत माध्यम से ही हुआ। स्वामीजी ने उनके संस्कृत ज्ञान की प्रशंसा की। सूरत से विदा लेते समय स्वामीजी को दुर्गाराम मेहता आदि प्रमुख नागरिकों की, उनके प्रति श्रद्धा एवं कृतज्ञता के भावों के प्रतीक के रूप में प्रदत्त एक मूल्यवान दुकूल को अत्याग्रह वश स्वीकार करना ही पड़ा।

सूरत से चलकर वे फाल्गुन मास में ही बलसाढ़ आये और प्रथम सिद्धनाथ महादेव के मंदिर की धर्मशाला में ठहरे। बाद में रतनसी पारसी के बाग में चले गये। इस स्थान पर उनके चार व्याख्यान हुए। यहां पं. भवानीशंकर नामक गुजरात के प्रसिद्ध पण्डित ने वार्तालाप के प्रसंग में यह स्वीकार किया कि दयानन्द प्रतिपादित सिद्धान्त सत्य तथा पुरातन शास्त्रों से अविरुद्ध हैं। किन्तु जब उनसे स्वामीजी ने स्वयं कहा कि यदि ऐसा है, तो वे खुलकर मूर्तिपूजा आदि नवीन प्रचलित पाखण्डों के खण्डन में तत्पर क्यों नहीं होते, उत्तर में पण्डितजी ने स्पष्ट कहा कि गृहस्थी होने के कारण वे पौरोहित्य वृत्ति से निर्वाह करने वाले समानधर्मा लोगों की जीविका से जुड़ी पाषाणपूजा का खण्डन करने में असमर्थ हैं। बलसाढ़ से स्वामीजी बसई रोड आये। चार दिनों के निवास में उनके दो व्याख्यान हुए। यहां से चल कर वे फाल्गुन १९३२ वि. मास में ही पुनः बम्बई आ गये।

५ मार्च १८७६ को आर्यसमाज बम्बई के तत्त्वावधान में 'वेदों की श्रेष्ठता तथा पवित्रता' विषय पर उनका एक व्याख्यान पैलन रोड पर गोविन्द विष्णु द्वारा संचालित अंग्रेजी स्कूल के सभागार में हुआ। इस व्याख्यान में संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो. मोनियर विलियम्स[४३] तथा बम्बई के जिलाधीश श्री शेफर्ड को विशेष रूप में आमंत्रित किया गया था। व्याख्यान यद्यपि हिन्दी में ही था, किन्तु इसमें संस्कृतशब्द-बहुला भाषा का प्रयोग होने के कारण प्रो. विलियम्स को समझने में कठिनाई नहीं हुई। व्याख्यान की समाप्ति पर गोपाल-राव हरि देशमुख तथा नगीनदास तुलसीदास मारफतिया ने आर्यसमाज के उद्देश्यों एवं कार्यक्रमों को स्पष्ट करते हुए संक्षिप्त वक्तृतायें प्रस्तुत कीं तथा उपस्थित लोगों को देशोत्थान के महत् लक्ष्य की पूर्ति हेतु आर्यसमाज की सहायता करने की प्रेरणा दी। व्याख्यान के पश्चात् प्रो. मोनियर विलियम्स से स्वामीजी का देर तक संस्कृत सम्भाषण होता रहा। प्रोफेसर महोदय ने

स्वामीजी के उद्देश्यों की प्रशंसा की। उन्हें आर्यसमाज के नियम तथा सद्यः प्रकाशित अन्य साहित्य भी भेंट किया गया।

१६, १७ मार्च को उनके दो अन्य व्याख्यान हरिश्चन्द्र चिन्तामणि के हॉल में हुए। इनमें से प्रथम में उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व तथा गुणों की व्याख्या प्रस्तुत की। द्वितीय व्याख्यान यज्ञ विषय पर था। नगर के अनेक प्रतिष्ठित पुरुष इसमें उपस्थित थे। २१ मार्च को एक अन्य व्याख्यान टाउनहाल में राव बहादुर नाना मोरोजी की अध्यक्षता में हुआ, जो उस समय बम्बई के दण्डनायक पद पर आसीन थे। आर्यों के इतिहास से सम्बन्धित इस महत्त्वपूर्ण व्याख्यान का बम्बई के प्रबुद्ध श्रोताओं पर व्यापक प्रभाव पड़ा था।

यह हम देख चुके हैं कि बम्बई में जब स्वामीजी का आगमन हुआ, पौराणिक समुदाय ने उन्हें शास्त्रार्थ समर में पराजित करने की असफल चेष्टायें कीं, किन्तु अब तक उन्हें अपने प्रयोजन में स्वल्प मात्र भी सफलता नहीं मिली थी। इस बार उन्होंने रानी का रायपुर (जिला अम्बाला) निवासी एक ज्योतिषी पं. रामलाल को शास्त्रार्थ के लिये तैयार किया। २७ मार्च १८७६ ई. की तिथि शास्त्रार्थ के लिये निश्चित की गई। जीवनजी के हॉल में यह कार्यक्रम सम्पन्न होना था। स्वामीजी तो यथासमय बिना किसी आडम्बर के शास्त्रार्थ-स्थल पर पहुंच गये, परन्तु प्रतिपक्षी पण्डित रामलाल बृहत् शिष्य समुदाय सहित बड़े आडम्बरपूर्वक आये। पं. गट्टूलाल ने भी इस समय शास्त्रार्थ हेतु आने की स्वीकृति दी थी, परन्तु अस्वस्थ हो जाने के कारण वे नहीं आये। शास्त्रार्थ की अध्यक्षता पं. झुजाऊ शास्त्री ने ने की थी।

शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ तो स्वामीजी ने अपने प्रतिद्वन्द्वी विद्वान् से यह स्वीकार करा लिया कि धर्म विषयक सिद्धान्तों के निर्णय में वेद ही अन्तिम प्रमाण हैं। इसके पश्चात् उन्होंने पण्डित रामलाल से मूर्तिपूजा की सिद्धि में वेद प्रमाण प्रस्तुत करने के लिये कहा। अब पण्डितजी बड़े धर्म संकट में पड़े। जब उन्हें श्रुति प्रमाण दिया जाना अशक्य प्रतीत हुआ, तो वे मनुस्मृति के उन श्लोकों को प्रमाण रूप में उद्धृत कर बैठे जिनमें 'देवायतन' तथा 'प्रतिमा' आदि शब्द प्रयुक्त हुए। स्वामी दयानन्द ने इन शब्दों के मनुस्मृति में प्रयुक्त अर्थों को स्पष्ट करते हुए कहा कि इस प्रकार के उल्लेखों से मूर्तिपूजा का स्मार्त कर्म होना सिद्ध नहीं होता। साथ ही उन्होंने यह भी कह दिया कि अन्य ग्रन्थों की ही भांति मनुस्मृति में भी समय समय पर नवीन भावों को व्यक्त करने वाले नवीन श्लोक प्रक्षिप्त कर दिये गये हैं। अन्ततः पं. रामलाल को यह स्वीकार करना पड़ा कि वेद संहिताओं के आधार पर तो मूर्तिपूजा सिद्ध नहीं होती, हाँ, अवान्तर स्मृतियों और पुराणों से उसकी पुष्टि अवश्य होती है। परन्तु उनका यह कथन तो प्रतिज्ञा हानि दोष से ही दूषित था, क्योंकि शास्त्रार्थ के प्रारम्भ में वे यह प्रतिज्ञा कर बैठे थे कि मंत्र संहिताओं से ही वे इस कृत्य की पुष्टि करेंगे। इस प्रकार बम्बई महानगर में पं. गट्टूलाल और पं. कमलनयन की ही भांति पं. रामलाल भी मूर्तिपूजा की सिद्धि में असमर्थ रहे।

४ अप्रैल १८७६ को आर्यसमाज के एक सभासद जीवनदयाल ने एक विज्ञापन[४५] प्रकाशित कर बम्बई के नागरिकों पर यह स्पष्ट कर दिया कि विगत १८ मास से स्वामी

दयानन्द मूर्तिपूजा के विरोध में अविरत प्रचार कर रहे हैं। अब तक उनका प्रतिवाद करने का सामर्थ्य कोई भी विद्वान् पण्डित नहीं जुटा पाया। अतः वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि मूर्तिपूजा शास्त्र विरुद्ध कृत्य है। इसी आधार पर वे आर्यसमाज के सभासद बने हैं। इसी विज्ञापन में उन्होंने उस व्यक्ति को १२५ रु. पुरस्कार रूप में भेंट करने की घोषणा की, जो वेद मन्त्रों से मूर्तिपूजा की सिद्धि करने का सामर्थ्य रखता हो।

स्वामी दयानन्द का मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में दृष्टिकोण अविचलित तथा किसी भी प्रकार के समझौते के विरुद्ध रहता था। बम्बई के प्रसिद्ध वल्लभ मतानुयायी सेठ गोकुलदास तेजपाल[४६] ने उनसे यहां तक कहा कि यदि वे प्रतिमापूजन का विरोध करना छोड़ दें, तो ऐश्वर्य सम्पन्न भाटिया वर्ग के सारे लोगों को उनके अनुयायी बनाने का जिम्मा वे लेने के लिये तैयार हैं। स्वामी दयानन्द जैसे सिद्धान्तनिष्ठ तथा दृढ़प्रतिज्ञ महापुरुष के लिये ऐसे किसी प्रस्ताव से सहमत होना ही अचिन्तनीय था।

वैशाख १९३३ वि. (अप्रैल १८७६) मास में स्वामीजी बम्बई से चल कर इन्दौर आये और लाल बाग में ठहरे। यहां उनके कई व्याख्यान हुए। एक व्याख्यान में इन्दौर नरेश महाराजा तुकोजीराव होल्कर भी उपस्थित थे। यहां से विदा होते समय महाराजा ने स्वामीजी का यथेष्ट सम्मान किया तथा उन्हें एक शाल भेंट रूप में अर्पित किया। शाल को स्वीकार करने में महाराज ने अत्यन्त संकोच व्यक्त किया और कहा कि यदि इसी प्रकार देश के राजा महाराजा उन्हें शाल भेंट करते रहे तो शालों का ही एक बड़ा बोझ हो जायगा। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि ऐसे वस्त्र तो उन लोगों को दिये जाने चाहिए, जो शीतातुर हों। परन्तु उन्होंने महाराजा के इस कथन पर प्रसन्नता व्यक्त की कि वेद भाष्य प्रकाशित होने पर वे उसकी पचास प्रतियां क्रय करेंगे। इन्दौर राज्य के दीवान दीवानबहादुर रघुनाथ राव से भी उनकी भेंट हुई थी।[४७] पश्चिमी भारत की दीर्घकालीन यात्रा को समाप्त कर स्वामी दयानन्द पुनः पश्चिमोत्तर प्रदेश की ओर आये। उनका विचार काशी आने का था। अतः वे ज्येष्ठ कृष्णा प्रतिपदा मंगलवार (९ मई १८७६) को फर्रूखाबाद पहुंचे।

बम्बई प्रान्त में स्वामी दयानन्द का यह प्रवास कई कारणों से महत्त्वपूर्ण रहा। कलकत्ता में समकालीन धर्माचार्यों, समाज संशोधकों तथा देश के सर्वविध अभ्युत्थान में संलग्न महापुरुषों से प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त करने तथा उनसे नानाविध विचार विमर्श के पश्चात् स्वामीजी ने अपने कार्यक्रम की जो रूपरेखा निश्चित की, वह आर्यसमाज की स्थापना के रूप में चरितार्थ हुई। इस समय तक उनके सिद्धान्तों, विचारों तथा कार्यों की सर्वत्र चर्चा एवं आलोचना होने लगी थी। कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले बंगदर्शन नामक पत्र ने उनकी बम्बई यात्रा को लक्षित करते हुए लिखा था—"बम्बई और पूना प्रभृति स्थानों में कितने ही लोग आर्यसमाज में प्रविष्ट हो गये हैं। बम्बई प्रदेश में भ्रमण करते हुए मैंने देखा कि वहां दयानन्द ने महा आन्दोलन उपस्थित कर रक्खा है। अनेक उत्साही भद्र पुरुष उनके दल में सम्मिलित हो गये हैं। जहां तहां दयानन्द की ही चर्चा होती है। दयानन्द की वक्तृता शक्ति उनका सामाजिक मत, उनकी नवीन प्रकार की वेद व्याख्या पर सर्वत्र आलोचना होती है।"

पत्र ने आगे स्वामीजी के व्यक्तित्व और आकृति एवं प्रकृति का विश्लेषण करते

हुए लिखा—"दयानन्द सबल और दीर्घ काय हैं। उनके साथ वार्तालाप करने और विशेष परिचय प्राप्त करने से यह विश्वास होता है कि वह **यथार्थ ही एक असाधारण पुरुष हैं। उनकी वाग्मिता असाधारण है, उनकी तर्क शक्ति असाधारण है और स्वदेश के मंगल के लिये उनका उत्साह और प्रयत्न भी असाधारण है।**" स्वामीजी उन दिनों में अधिकाधिक लोकप्रियता प्राप्त कर रहे थे। इसका अनुभव उपर्युक्त पत्र के संवाददाता को तब हुआ, जब उसने देखा कि दयानन्द के पूना से बम्बई आगमन के समाचार को सुनकर बम्बई के बाजार का एक सामान्य दूकानदार अपनी दूकान बंद करके उनका स्वागत करने के लिये रेलवे स्टेशन को चल दिया। उसके अनुसार लगभग ५०० लोग स्वामीजी के स्वागत हेतु स्टेशन पर उपस्थित थे।

पत्रकार ने इस बात पर हर्ष प्रकट किया था कि स्वामी दयानन्द अंग्रेजी का बिन्दु विसर्ग तक नहीं जानते। यदि वे अंग्रेजी जानते होते तो लोग उनकी प्रगतिशील विचारधारा तथा सार्वत्रिक जागृति के लिये किये जाने वाले उनके कार्यों को अंग्रेजी शिक्षा का परिणाम घोषित कर देते। इसलिये पाश्चात्य चिंतन से उनकी अनभिज्ञता इस दृष्टि से श्रेयस्कर ही कही जायगी। निष्कर्षतः पत्र ने लिखा कि **दयानन्द जो कुछ भी कहते हैं, वह सब देश भाव का अनुसारी होता है।**[४८]

जैसा कि हम पहले भी संकेत कर आये हैं, स्वामी दयानन्द की दृष्टि में साहित्य लेखन एवं प्रकाशन कार्य अब उत्तरोत्तर महत्त्वपूर्ण बनते जा रहे थे। वे गम्भीरता के साथ पुस्तक लेखन के कार्य को करना चाहते थे। उनके मन में वेदभाष्य लिखने का विचार सुदृढ़ हो चुका था। केवल अवसर की ही प्रतीक्षा थी। इसी बीच उनके दो अन्य ग्रन्थ प्रकाशित हुए। प्रथम था 'आर्याभिविनय'। उसकी रचना का आरम्भ चैत्र शुक्ला दशमी गुरुवार १९३२ वि. को हुआ। यह एक प्रार्थना पुस्तक है जिसमें ऋग्वेद के ५३, यजुर्वेद के ५४ तथा तैत्तिरीय आरण्यक का १ मंत्र-कुल मिलाकर १०८ मंत्र व्याख्यात हैं। स्वामीजी की योजना थी कि इस ग्रन्थ के अगले भागों में अवशिष्ट वेदों तथा ब्राह्मण, उपनिषदादि के मंत्रों और अंशों की व्याख्या की जाये। आर्याभिविनय का प्रथम प्रकाशन वैशाख शुक्ला १४ सं १९३३ वि. में आर्य मण्डल, यंत्रालय, बम्बई में हुआ। आर्याभिविनय में वेद मंत्रों की व्याख्या जिस भाव-प्रवण, गूढ़ाशययुक्त तथा ओजस्विनी भाषा एवं शैली में की गई है, उससे दयानन्द के व्यक्तित्व के एक अन्य पहलू पर प्रकाश पड़ता है। उनके व्यक्तित्व एवं कार्यों के आलोचकों के मन पर दयानन्द की जो छवि उभर कर आई, सम्भवतः वह एक तर्क पटु किन्तु रूक्ष एवं कठोर संन्यासी की ही थी, जो सुकोमल संवेदनाओं तथा हृदय की मृदु अनुभूतियों से सर्वथा अनभिज्ञ था। वस्तुतः बात ऐसी नहीं थी। आर्याभिविनय का मनोनिवेश पूर्ण अध्ययन इस तथ्य को उजागर कर देता है कि इस ग्रन्थ के लेखक के हृदय में प्रभु भक्ति की अनेक मार्मिक अनुभूतियां सागर की उर्मियों की ही भांति आन्दोलित तथा प्रवाहित हो रही हैं। दयानन्द के भक्ति-प्रवण व्यक्तित्व के लिये आर्याभिविनय अनिवार्य पाठ्य पुस्तक है।

केवल उपासना की दृष्टि से ही दयानन्द ने इस ग्रन्थ को लिखा, ऐसी बात नहीं है। यत्र तत्र उन्होंने इस ग्रन्थ में आर्यजाति की स्वाधीनता, आर्यावर्तवासियों के चक्रवर्ती साम्राज्य

तथा इस देश की पराधीनता के पाशों को छिन्न भिन्न करने के लिये जो प्रार्थनाएं परम सत्ता से की हैं,[४९] उन्हें पढ़ कर तो यह निश्चित हो जाता हैं कि दयानन्द का भक्ति सिद्धान्त मध्य-काल के उन सन्तों, भक्तों तथा वैष्णव कवियों के भक्तिवाद से नितान्त भिन्न है, जो यत्र तत्र दैन्य भावापन्न होने के कारण या तो पुरुषार्थहीनता तथा अकर्मण्यता का पर्याय बन चुका था, अथवा माधुर्य भाव की दुहाई देकर अपने अनुयायियों में विलासिता एवं दुराचार का बीजारोपण कर रहा था।

इसी काल में स्वामी दयानन्द का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'संस्कारविधि' भी प्रकाशित हुआ।[५०] मानव जीवन के सर्वांगीण विकास के लिये लिये षोडश संस्कारों का निर्धारण पूर्व काल में ही किया जा चुका था। मनुष्य की शारीरिक, मानसिक, आत्मिक एवं सामाजिक उन्नति में योगदान देने वाले संस्कार भी कालचक्र में पड़ कर रूढ़ि मात्र रहे गये थे। इसी तथ्य को अनुभव कर दयानन्द ने प्राचीन गृह्यसूत्रों तथा कर्मकाण्ड के अन्य ग्रन्थों के आधार पर इस ग्रन्थ की रचना की। संस्कारों के विधिभाग में, कालान्तर में मिश्रित हो जाने वाली अनावश्यक एवं अंधविश्वास की पोषक विभिन्न क्रियाओं को पृथक् कर स्वामी दयानन्द ने इन संस्कारों की एक सरल एवं व्यावहारिक पद्धति का ही निर्माण नहीं किया, संस्कारों की इति-कर्त्तव्यता के पीछे निहित उनकी शरीरशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक उपयोगिता को भी व्याख्यात किया। दयानन्द रचित 'प्रस्थानत्रयी'[५१] में संस्कार विधि को 'स्मृति प्रस्थान' के रूप में अभिहित किया जाना सर्वथा निरापद ही होगा।

□□

पाद टिप्पणियां

१. आपद्धर्म के रूप में 'नियोग' का उल्लेख मन्वादि स्मृतियों में तथा महाभारत आदि इतिहास ग्रन्थों में सर्वत्र मिलता है।

२. पं. लेखराम के अनुसार पं. जयकृष्ण व्यास से तो स्वामीजी का 'जीव ब्रह्म की एकता या भिन्नता' विषय पर लीलाधर सेठ के बाग में शास्त्रार्थ भी हुआ था। द्रष्टव्य उक्त ग्रन्थ पृ. २६५।

३. स्वामी दयानन्द की तो यह धारणा थी कि सम्भवतः शंकराचार्य ने भी अद्वैतवाद के सिद्धान्त को जैनादि नास्तिक (वेदबाह्य) मतों के खण्डन के लिये ही नीति रूप में अपनाया था। द्रष्टव्य—सत्यार्थप्रकाश के ११ वें समुल्लास में शंकराचार्य का प्रसंग।

४. ब्रह्मसमाज में यज्ञोपवीत तथा अन्य प्रश्नों को लेकर १८६६ ई. में ही विघटन के बीज बोये जा चुके थे। फलतः देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने पुरातन आदर्शों को स्वीकार करते हुए जहां अपने अनुयायियों को 'आदि ब्रह्मसमाज' के रूप में संगठित किया, वहां केशवचन्द्र सेन ने अधिकांश ईसाई आदर्शों को स्वीकार कर 'भारतवर्षीय ब्रह्मसमाज' का पृथक् संगठन कर लिया था। द्रष्टव्य—History of the Brahmo-Samaj By Siva Nath Sastri, Calcutta. 1974. II Ed.

५. मुम्बई आर्यसमाज नो इतिहास—दामोदर सुन्दरदास लिखित। १९८९ वि. में प्रकाशित पृ. ८।

६. वहीं पृ. ८-९ उपर्युक्त दोनों उद्धरणों की भाषागत वर्तनी को हमने वर्तमान खड़ी बोली हिन्दी के सर्वथा अनुकूल बनाया है। मूल कथन १८७५ का है। उस समय स्वामीजी का लोकभाषा (हिन्दी) पर बहुत अधिक अधिकार नहीं था।

७. आर्यसमाज की वास्तविक स्थापना तिथि चैत्र शुक्ला पञ्चमी शनिवार, तदनुसार १० अप्रैल १८७५ ही है। आर्यसमाज के इतिहासों, स्वामी दयानन्द के जीवन चरितों तथा सभी प्राचीन दस्तावेजों में यही तिथि स्थापना तिथि के रूप में १९३९ ई. तक अंकित होती रही। तत् पश्चात् स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी ने आर्यसमाज मंदिर बम्बई पर अंकित एक शिलालेख को देख कर, जिसमें स्थापना तिथि चैत्र शुक्ला प्रतिपदा १९३१ (गुजरात में प्रचलित संवत्) तदनुसार ७ अप्रैल १८७५ बुधवार अंकित था, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा में आर्यसमाज की स्थापना तिथि को सुनिश्चित कराने हेतु प्रस्ताव उपस्थित किया। तदनन्तर इस सभा ने अपने दि. २४ अक्टूबर १९४० के निश्चयानुसार स्थापना तिथि विषयक प्रचलित एवं प्रामाणिक मत को बदल कर चैत्र शुक्ला प्रतिपदा बुधवार, ७ अप्रैल १८७५ को आर्यसमाज की स्थापना का दिन घोषित कर दिया। परन्तु पञ्चमी के पक्ष की सुदृढ़ स्थापना हेतु पं. युधिष्ठिर मीमांसक (द्रष्टव्य-ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन द्वितीय भाग, २०३८ वि. के संस्करण का चतुर्थ परिशिष्ट), स्वामी विद्यानन्द सरस्वती (वेदप्रकाश में प्रकाशित लेख) तथा डा. भवानीलाल भारतीय ने (आर्य मर्यादा ६ जून १९७१ में प्रकाशित लेख—आर्यसमाज की स्थापना तिथि : पुनर्विचार की आवश्यकता, तथा २५ जुलाई १९७१ के अंक में प्रकाशित आर्यसमाज की स्थापना तिथि और आचार्य विश्वश्रवा) जो विवेचना, तर्क एवं प्रमाण आदि प्रस्तुत किये हैं, वे अकाट्य हैं। इस विषय पर अधिक लिखना यहां अप्रासंगिक ही होगा।

८. द्रष्टव्य—इसी ग्रन्थ का परिशिष्ट भाग।

९. यह व्याख्या श्री दामोदर सुन्दरदास ने अपने ग्रन्थ 'मुम्बई आर्यसमाज ने इतिहास' के पृ. १० से २१ तक उद्धृत की है।

१०. आर्यसमाज बम्बई के इन प्रारम्भिक सभासदों की सूची आर्यसमाज बम्बई द्वारा प्रकाशित एक छोटी सी पुस्तक 'श्री आर्यसमाज ना नियमो' (The Rules of the Arya-samaj) में पृ. १२ से २७ तक दी गई है। इसी पुस्तक में आर्यसमाज की स्थापना के उद्देश्य, प्रधान समाज का प्रबंध तथा प्रधान समाज की व्यवस्था इन तीन खण्डों के अन्तर्गत आर्यसमाज बम्बई से सम्बन्धित कुछ नियम गुजराती भाषा में लिखे गये हैं, यद्यपि पुस्तक की लिपि नागरी ही है। आर्यसमाज बम्बई की स्थापना के ठीक दस मास पश्चात् माघ अमावस्या १९३२ वि (गुजराती काल गणना के अनुसार, अन्यथा १९३१ वि.) को प्रकाशित इस पुस्तक में आर्यसमाज की स्थापना तिथि का स्पष्ट उल्लेख करते हुए लिखा गया है—

श्री
आर्यसमाज

'स्थापना संवत् १९३१ ना चैत्र शुद ५ ने शनीवार' इतना स्पष्ट उल्लेख होते हुए भी प्रतिपदा के लिये आग्रह करना ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव का सूचक है।

११. Liberty, Fraternity and Equality.

१२. डा. होरेस एच. विल्सन ने ऋग्वेद का अंग्रेजी अनुवाद किया था, जो ६ जिल्दों में १८५० से लेकर बाद के वर्षों में छपा।

१३. द्रष्टव्य—'भारत की तत्कालीन राजधानी में' शीर्षक परिच्छेद की ४० वीं पाद टिप्पणी

१४. मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत देवी माहात्म्य के १३ अध्याय

१५. मुम्बई आर्यसमाज नो इतिहास, पृ. ३ की पाद टिप्पणी।

१६. जीवनदयाल लुहाणा जाति के थे। स्वामी दयानन्द के प्रति उनकी प्रगाढ़ भक्ति थी। सं. १९५७ से १९५९ वि. पर्यन्त ये आर्यसमाज बम्बई के प्रधान पद पर रहे थे। मुम्बई आर्यसमाज नो इतिहास पृ. ८०

१७. यह प्रतिज्ञापत्र ५ जून १८७५ को लिखा गया था। प्रतिज्ञापत्र के मूल पाठ के लिये द्रष्टव्य—पं. लेखराम रचित जीवनचरित पृ. २७३

१८. इस तिथि का उल्लेख लाला लाजपतराय लिखित 'स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनका काम' नामक ग्रन्थ में पृ. १९५ पर हुआ है।

१९. पुणे में 'भिड़े का बाड़े' के नाम से प्रसिद्ध अनेक स्थान हैं, किन्तु स्वामीजी के व्याख्यान जिस 'भिड़े के बाड़े' में हुये, वह तांबड़ी जोगेश्वरी मंदिर के निकट है। प्राध्यापक कुशलदेव शंकरदेव वडवलकर के अनुसंधान के अनुसार 'भिड़े के बाड़े' नामक जिस भवन की पहली मंजिल के दीवानखाने में महाराज के व्याख्यान हुए थे वह ७० × २० फुट का हॉल था। यहीं हिन्दू क्लब की बैठकें भी होती थीं, क्योंकि लोकहितवादी के नाम से प्रसिद्ध गोपालराव हरि देशमुख ने स्वरचित 'पण्डित स्वामी श्रीमद्दयानन्द सरस्वती' नामक (१८८४ ई. में प्रकाशित) अपने बृहत् निबंध में व्याख्यानस्थल को 'हिन्दू क्लब' नाम से अभिहित किया है।

२०. अब तक पुणे में दिये गये व्याख्यानों में से केवल पन्द्रह व्याख्यान ही प्रकाशित हो पाये हैं। अवशिष्ट पैंतीस व्याख्यानों का अनुसंधान नहीं हो सका। महाराष्ट्र साहित्य परिषद् ग्रन्थालय के प्रमुख स्तम्भ म. श्री. दीक्षित के अनुसार आर्यभूषण मुद्रणालय के भस्मसात हो जाने के कारण ज्ञानप्रकाश पत्र की फाइलें भी नष्ट हो गईं, अन्यथा अन्य ३५ व्याख्यानों के प्रकाश में आने की सम्भावना थी। —ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण अभिलेख। संकलयिता युधिष्ठिर मीमांसक पृ. १२८

२१. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के अनुसार ये व्याख्यान पूना हाईस्कूल के तत्कालीन सहायक मुख्याध्यापक रा. रा. गणेश जनार्दन अगाशे बी. ए. ने व्याख्यान स्थल पर ही बैठकर लिपिबद्ध कर लिये थे तथा उन्हें प्रकाशित कर अपने मित्रों में वितीर्ण किये थे। इन्हीं व्याख्यानों को मराठी पत्रों में भी प्रकाशित किया गया था। मूल मराठी व्याख्यानों की एक प्रति अगाशेजी ने देवेन्द्रनाथ को दी थी। उनमें से जन्मवृत्तान्त परक व्याख्यान का

गुजराती भाषा में अनुवाद मुखोपाध्याय महाशय ने अपने मित्र राजकुमार कालेज राजकोट के प्रोफेसर बलवन्तराय कल्याणराय ठाकोर बी. ए. से कराया था। यह व्याख्यान (जिसमें कालान्तर में प्रकाशित थियोसोफिस्ट पत्र में मुद्रित स्वामीजी के आत्मवृत्तान्त की किस्तें भी सम्मिलित हैं) 'दयानन्द स्वामी नुं स्वरचित जीवन वृत्तान्त' शीर्षक से मकनलाल मथुरभाई गुप्त द्वारा आर्यसुधारक प्रिंटिंग प्रेस बडोदरा से १९१४ ई. में प्रकाशित हुआ था। इसकी एक दुर्लभ प्रति स्व. पं. शंकरदेव विद्यालंकार ने इन पंक्तियों के लेखक को भेंट की थी, जो लेखक के पुस्तकालय में सुरक्षित है।

२२. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा एकत्रित सामग्री के आधार पर लिखित (पं. घासीराम द्वारा निबद्ध) जीवनचरित भाग १ पृ. ३८३। जयचन्द्र विद्यालंकार ने अपने ग्रन्थ राष्ट्रीय इतिहास का अनुशीलन (पृ. १४) में भी लिखा है—"पूने वाले व्याख्यान मराठी अखबार में छपे थे। फिर उनका संग्रह और सम्पादन मराठी में महादेव गोविन्द रानडे जैसे विद्वान् ने किया था।"

२३. उपदेश मंजरी अथवा पूना प्रवचन के अब तक अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित दयानन्द प्रवचन संग्रह (१९८२ का द्वितीय संस्करण) तथा पूना प्रवचन (उपदेश मंजरी) (डा. भवानीलाल भारतीय द्वारा सम्पादित-वैदिक यंत्रालय द्वारा प्रकाशित २०३३ वि.) को सम्पादन, पाठशोधन तथा विवेचन की दृष्टि से उत्तम कहा जा सकता है। अब तो इत प्रवचनों का मूल मराठी पाठ भी उपलब्ध हो गया है, जिसे आधार बना कर श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट के नवीन संस्करण के पाठ का सम्पादन किया गया है। वैदिक यंत्रालय से प्रकाशित संस्करण में सम्पादक द्वारा लिखित इन प्रवचनों का आलोचनात्मक विश्लेषण तथा ऐतिहासिक पर्यवेक्षण विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

२४. लोकहितवादी के मराठी निबंध का संक्षिप्त रूप गोपाल शास्त्री शर्मा लिखित 'दयानन्द दिग्विजयार्क' के तृतीय खण्ड में प्रकाशित हुआ था। उसका हिन्दी अनुवाद (डा. चन्द्रमणि सोनवणे कृत) दयानन्द दिग्विजयार्क के सम्पादित संस्करण (सम्पादक-डा. भवानीलाल भारतीय : आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली द्वारा २०३१ वि. में प्रकाशित) में पृ. २८६-२९२ तक उद्धृत किया गया था। अब तो यह सम्पूर्ण निबंध प्रा. कुशलदेव शंकरदेव वडवलकर द्वारा हिन्दी में अनूदित होकर 'ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण अभिलेख' शीर्षक ग्रन्थ में प्रकाशित हो चुका है।

२५. 'आमच्या आयुष्यांतील कांही आठवणी'-सप्तम आवृत्ति १९५३ ई. आर्यभूषण मुद्रणालय पुणे से प्रकाशित पृ. ४८-४९ पर इस ग्रन्थ के 'दयानन्द सरस्वती यांचें पुण्यास आगमन' शीर्षक अध्याय का हिन्दी भाषान्तर कुमारी (अब श्रीमती) वीणा विष्णु गद्रे ने किया था जो परोपकारी (परोपकारिणी सभा अजमेर का मासिक मुखपत्र) के फरवरी १९७३ के अंक में प्रकाशित हुआ।

२६. जहां पूना निवासी स्वामीजी के व्याख्यानों से अतीव प्रसन्नता का अनुभव कर रहे थे, वहां उनके आलोचकों की भी कमी नहीं थी। विष्णु शास्त्री चिपलूणकर ने स्वरचित निबंधमाला के 'वक्तृत्वकला' शीर्षक निबंध में स्वामीजी के पूना में दिये गये व्याख्यानों

का आलोचनात्मक ढंग से समीक्षण किया है। परन्तु उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर भी संकेत दिया है, जिससे सिद्ध होता है कि स्वामीजी के व्याख्यानों को असफल बनाने के लिये उसी स्थान पर रेवरेंड नीलकण्ठ शास्त्री गोरे के व्याख्यान (सम्भवतः ईसाइयों की ओर से) भी आयोजित किये गये। परन्तु स्वामीजी के व्याख्यानों को सुनने के लिये जहां लोगों की अपार भीड़ रहती थी वहां रेवरेंड शास्त्री के व्याख्यान काल में तो यदि प्रत्येक श्रोता को अपने साथ आसन बिस्तर लाकर, प्रभु ईसा मसीह का ध्यान करना भी होता, तो भी वहां पर जगह उपलब्ध थी। (चिपलूणकर लिखित निबंधमाला नवम्बर १८७५ अंक २३) अभिप्राय यह है कि ईसाई प्रचारक के व्याख्यान में श्रोताओं की संख्या नगण्य ही होती थी।

२७. द्रष्टव्य—इन्दुप्रकाश (१६ अगस्त १८७५) का सम्पादकीय लेख तथा हितेच्छु का १८ अगस्त १८७५ का अंक।

२८. यह व्यक्ति सहायक आयुक्त के पद पर रह चुका था।

२९. स्वामीजी गजारूढ़ हुए या नहीं, इस सम्बन्ध में दो मत हैं। श्रीमती रमाबाई रानडे के अनुसार वेदादि ग्रन्थों को पालकी में रख कर स्वामीजी को हाथी पर बिठाया गया था। उनके शब्द इस प्रकार हैं—"रस्त्यामध्यें हत्ती, पालखी वगैरे व्यवस्था में आधींच तयार ठेवली होती, त्या पालखी मध्यें ग्रन्थ ठेवून हत्तीवर दयानन्दजी यांना बसविलें।" आमच्यां आयुष्यांतील कांही आठवणी पृ. ५० 'लोकहितवादी', गोपालराव हरि देशमुख भी स्वामीजी का हाथी पर सवार होना स्वीकार करते हैं (द्रष्टव्य—'पण्डित स्वामी दयानन्द सरस्वती' शीर्षक लोकहितवादी का प्रसिद्ध निबंध) किन्तु पं. घासीराम के मतानुसार स्वामीजी ने हाथी पर बैठना स्वीकार नहीं किया था। द्रष्टव्य—महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित भाग-१ पृ. ३८७ की पादटिप्पणी।

३०. श्रीमती रमाबाई रानडे के अनुसार यह गर्दभ जुलूस पूना के काले हौद नामक स्थान से प्रारम्भ हुआ था। द्रष्टव्य उक्त ग्रन्थ का पृष्ठ ४९।

३१. कीचड़ के गोलों से न्यायमूर्त्ति रानडे भी नहीं बच सके थे। श्रीमती रानडे के शब्दों में "उन्होंने स्वयं घर आने पर, कीचड़ के जगह जगह लग जाने के कारण पहले के वस्त्र निकाल कर दूसरे स्वच्छ कपड़े पहने। कपड़े उतारने पर अधिकांश सभी घर के लोगों ने जब उनसे पूछा कि साथ में पुलिस के होने पर भी आपके शरीर पर कीचड़ कैसे आया? तब उन्होंने हंस कर कहा—"क्यों? सबके साथ जब मैं था, तब मुझे क्यों नहीं लगेगा? पक्षाभिमान के कार्य ऐसे ही होते हैं। इसकी परवाह उन्हें क्यों होगी और ऐसे समय मानापमान का विचार हमारे मन में भी क्यों आये?" दयानन्द सरस्वती का पूना में आगमन—परोपकारी फरवरी १९७३ ई.

३२. उपद्रव शान्त होने पर भी गर्दभ दल के लगभग एक हजार मनुष्य बुधवार पेठ में खड़े रहे।—पं. घासीराम संगृहीत जीवन चरित्र भाग १ पृ. ३८८।

३३. महामति रानडे का वास्तविक नाम 'माधव गोविन्द रानडे' (जन्म १८ जनवरी १८४२ मृत्यु १६ जनवरी १९०१) था, किन्तु वे लोक में महादेव गोविंद रानडे के नाम से ही जाने गये।

३४. जिन शास्त्रियों को शास्त्रार्थ हेतु आमंत्रित किया गया था, उनमें वेदमूर्ति अनन्ताचार्य, रामशास्त्री गोडबोले, भाऊजी दीक्षित चिपलूणकर तथा अनन्त शास्त्री चिपलूणकर के नाम उल्लेखनीय हैं।

३५. पूना के इस द्वितीय बार के प्रवास के समय इस नगर में आर्यसमाज की स्थापना हुई। प्रधान का पद महादेव गोविन्द रानडे ने संभाला तथा मंत्री केशवराव गोडबोले को बनाया गया। प्रार्थनासमाज के सभी सभासद आर्यसमाज के सदस्य बन गये।
द्रष्टव्य—ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन पृ. ६०–६१

३६. द्रष्टव्य–वेदान्त दर्शन का शाङ्कर भाष्य—प्रथमाध्याय के तृतीय पादान्तर्गत ३८ वें सूत्र के व्याख्यान में आचार्य शंकर गोतम धर्म सूत्र को उद्धृत कर वेदों में शूद्र को अनधिकारी घोषित करते हैं। रामानुज, मध्व, निम्बार्क और वल्लभ ने भी इसी से मिलते जुलते विचार अपने वेदान्त भाष्यों में व्यक्त किये हैं। वेद भाष्यकार सायणाचार्य ने ऋग्वेद भाष्य की भूमिका में स्पष्ट लिखा है—"स्त्री शूद्रयोस्तु सत्यामपि ज्ञानापेक्षायाम् उपनयनाभावेन अध्ययनराहित्याद् वेदे अधिकारः प्रतिषिद्धः।" अपने मन्तव्य के प्रमाण में उन्होंने भागवत के 'स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा' स्कन्ध १ अ. ४ श्लो. २५) आदि श्लोक उद्धृत किये हैं।

३७. अध्याय २६/२।

३८. फ्रेंच मनीषी रौमां रौलां ने उस दिन को भारत के लिये नवीन युग का प्रवर्तक बताया है जब कि एक ब्राह्मण (स्वामी दयानन्द) ने न केवल यह स्वीकार किया कि मनुष्यमात्र को वेद के अध्ययन का अधिकार है, (ब्राह्मणों द्वारा यह अधिकार पूर्वकाल में समाप्त कर दिया गया था) अपितु यह भी कहा कि वेदों का अध्ययन तथा प्रचार प्रत्येक आर्य का कर्त्तव्य है। "It was in truh an epochmaking date for India when a Brahman, not only acknowledged that all humanbeings have the right to know the Vedas, whose study had been previously prohibited by orthodox Brahmans, but insisted that their study and propaganda was the duty of every Arya." Life of Ramakrishna ; Chapter–Builders of Unity.

३९. यहां यह ध्यातव्य है कि स्वामीजी के समाज सुधार विषयक इन प्रेरणादायी व्याख्यानों के परिणाम स्वरूप ही बड़ौदा राज्य में अनिवार्य शिक्षा, हिन्दी प्रचार तथा दलित वर्ग के उत्थान विषयक कार्यक्रम स्व. महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ द्वारा लागू किये गये थे।

४०. शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्—कालिदास

४१. इस घटना के विस्तार के लिये द्रष्टव्य–पं. घासीराम संगृहीत जीवनचरित भाग १ पृ. ३९७–३९८।

४२. वॉन बूलर ने मनुस्मृति का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया था, जो मैक्समूलर सम्पादित Sacred Books of the East Series के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ।

४३. प्रसिद्ध अंग्रेजी-संस्कृत कोश के रचयिता। इनकी Indian Wisdom आदि पुस्तकें प्राच्य विद्या की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। प्रो. विलियम्स आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्रोफेसर पद पर रहे थे।

४४. पं. रामलाल मूलतः अम्बाला जिले के 'रानी का रायपुर' ग्राम के निवासी थे। उनका अध्ययन बंगाल के नदिया (नवद्वीप—जो न्यायशास्त्र के अध्ययन केन्द्र के रूप में प्रसिद्ध है) जिले के शान्तिपुर नामक ग्राम में हुआ था। अनेक जीवन चरित लेखकों ने उन्हें भूल से शान्तिपुर निवासी लिख दिया है। चैत्र १९४० वि. में इनकी भेंट वैदिक यंत्रालय के तत्कालीन प्रबन्धक मुन्शी समर्थदान से प्रयाग में हुई थी। इस भेंट के दौरान पण्डितजी ने स्वीकार किया था कि स्वामीजी का मत यद्यपि वेदादि शास्त्रों के सर्वथा अनुकूल, सत्य ही है, किन्तु उनके सत्य सिद्धान्तों का समर्थन करना अस्मदादि गृहस्थी लोगों के लिये शक्य नहीं है। पं. रामलाल ने 'मूर्तिप्रकाश' नामक एक पुस्तक मूर्तिपूजा के समर्थन में भी लिखी थी। पं. रामलाल से मुन्शी समर्थदान का साक्षात्कार देशहितैषी (आर्यसमाज अजमेर का मासिक मुखपत्र) के फाल्गुन-चैत्र १९४० वि. के अंकों में प्रकाशित हुआ था।

४५. विज्ञापन का मूलपाठ पं. लेखराम रचित जीवन चरित्र के पृ. २८९–२९० पर उद्धृत किया गया है।

४६. सेठ गोकुलदास तेजपाल बम्बई के विख्यात धनाढ्य पुरुष थे इनके द्वारा स्थापित गोकुलदास तेजपाल संस्कृत कालेज के हाल में १८८५ ई. के दिसम्बर मास में अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन सम्पन्न हुआ था।

४७. स्वामी दयानन्द से अपनी भेंट का उल्लेख करते हुए दीवानबहादुर रघुनाथराव ने बताया था कि "अपनी धार्मिक तथा सामाजिक सुधार की योजनाओं को क्रियान्वित करने से पूर्व स्वामी दयानन्द ने देश के उन लोगों से सम्पर्क स्थापित किया था, जो सुधार कार्य में पहले से ही संलग्न थे। इसी प्रसंग में उनका इन्दौर में आगमन हुआ था। मैंने स्वामीजी को वेद भाष्य के प्रकाशन में कुछ आर्थिक सहायता भी दी थी। इसी प्रसंग में मेरा उनसे सुधार कार्यों पर विस्तृत विचार विमर्श भी हुआ था। विचार प्रसंग में पहला प्रश्न यह उठा कि वेद क्या हैं? दयानन्द का विचार था कि संहिता भाग ही वास्तविक वेद हैं, और ब्राह्मण ग्रन्थ उनके व्याख्यान मात्र हैं। मुझे उनका यह विचार पूर्ण सत्य प्रतीत हुआ और मैंने उनसे सहमति व्यक्त की। इसके पश्चात् हमने एक अन्य, किन्तु उतने ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार किया। सायण तथा अन्य वेदभाष्यकार वेदों का वर्ण्यविषय मात्र कर्मकाण्ड को ही बताते हैं, जब कि दयानन्द का कथन था, और यह उचित ही था, कि वेद सम्पूर्ण ज्ञान के विश्व कोष हैं। उनके अनुसार वेदों में सम्पूर्ण ज्ञान बीज रूप में विद्यमान है, साथ ही वेद प्रकृति के रहस्यों का भी उद्घाटन करते हैं तथा ये ग्रन्थ 'कर्म' के दर्शन का प्रचार करते हैं। स्वामी दयानन्द ने जो कुछ कहा, वह पूर्ण सत्य ही है।" इस भेंट के लिये द्रष्टव्य—Swami Dayanand Saraswati and the Arya Samaj. An Interview with

D. B. Raghunath Rao C. S. I. by B. K. Rao. Published in the Vedic Magazine Vol III No. 4. Kuar 1966 V.

४८. पं. घासीराम संगृहीत जीवन चरित भाग १ पृ. ४०२–४१३।

४९. द्रष्टव्य—प्रथम प्रकाश, में मंत्र संख्या १८ (ऋग्वेद १।६।१७।१) की व्याख्या, जिसमें लेखक ने परमात्मा को 'महाराजाधिराज' विशेषण से सम्बोधित कर उनसे याचना की है कि वे हमें 'साम्राज्याधिकारी' बनायें तथा हमारे 'स्वराज्य' को अत्यन्त बढ़ायें। इसी प्रकार की अन्य व्याख्यायें भी अवलोकनीय हैं।

५०. संस्कारविधि का लेखन कार्तिक अमावस्या १९३२ वि. को प्रारम्भ हुआ तथा पौष शुक्ला सप्तमी १९३२ वि. को यह ग्रन्थ पूरा हो गया था। इसका प्रथम संस्करण १९३३ वि. में एशियाटिक प्रेस बम्बई में छपा।

५१. दयानन्द कृत प्रस्थानत्रयी में सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का परिगणन होता है।

□□

जिन तृन सम तजि भोग जन्म भरि जोगहि धार्‌यो।
मेटि अवैदिक रीति धर्म वैदिक विस्तार्‌यो।
ब्रह्मचर्य व्रत पालि प्रबल पाखण्ड पछार्‌यो।
सुद्ध सत्य जुग थापि देश में ग्यान पसार्‌यो॥
अखिलेस अछूत समाज के, सुचि श्रीखण्ड ललाम हैं।
उन दयानन्द मुनिराज को, सादर सहस प्रनाम हैं।

—अखिलेश शर्मा

पश्चिमोत्तर प्रदेश का अवशिष्ट भ्रमण

फर्रूखाबाद पहुंच कर स्वामी दयानन्द ने लाला जगन्नाथप्रसाद के विश्रान्त घाट पर डेरा डाला। वे पहले भी इस स्थान पर ठहर चुके थे। लाला जगन्नाथप्रसाद के गृह पर उनके चार व्याख्यान हुए जिनके विषय थे (१) धर्म का वास्तविक स्वरूप (२) ईसाई मत खण्डन (३) मूर्तिपूजा और अवतारवाद तथा (३) तीर्थ यात्रा। स्वामीजी ने जो पाठशाला इस नगर में स्थापित की थी, उसकी व्यवस्था बहुत संतोषप्रद नहीं थी। स्वामीजी ने अपने ही गुरु भाई पं. उदयप्रकाश[1] को पाठशाला का मुख्याध्यापक नियत किया था। ये महानुभाव पौराणिक विचारों के थे और स्वामीजी के सिद्धान्तों के प्रतिकूल उपदेश विद्यार्थियों के समक्ष करते रहते थे। इस सम्बन्ध में एक रोचक विवरण बम्बई निवासी पं. रामेश्वरानन्द वैद्य ने 'आर्यमित्र' के गुरुकुलाङ्क में प्रकाशित कराया था।[2] उनके अनुसार "पं. उदयप्रकाश को मथुरा से बुलाकर स्वामीजी ने २० रु. मासिक वेतन तथा भोजन खर्च पर (अध्यापक) नियत किया। पं. उदयप्रकाश विद्यार्थियों से मखौल किया करते थे और कहते थे कि इस मुड़िया बाबा (संन्यासी) के सिद्धान्त पर चलोगे तो ब्राह्मणवृत्ति की आजीविका बिलकुल नष्ट हो जायगी। इसका (स्वामी दयानन्द) क्या बिगड़ेगा? यह तो सोटा, लंगोटा, तूंबे वाला है। उर्दू, अंग्रेजी आदि म्लेच्छ भाषाएं पढ़े हुए इसके सिद्धान्त को मानकर धर्म से च्युत हो रहे हैं। तुमको यह सिद्धान्त शोभा नहीं देता। तुम ब्राह्मणवृत्ति (वक्ता का अभिप्राय मूर्तिपूजा, पुरोहित वृत्ति, श्राद्ध में भोजन आदि से है) और धर्म की रक्षा करो।"

पं. भीमसेन तथा ज्वालादत्त आदि पाठशाला के छात्रों ने स्वामीजी को पं. उदय प्रकाश के उपर्युक्त विचारों से अवगत कराया। इस पर निंदा स्तुति के प्रति पूर्ण तटस्थ रहने वाले संन्यासी की अनोखी प्रतिक्रिया दीख पड़ी। स्वामीजी ने सहज हास्य भाव के मुस्करा कर कहा—**"सोटा लंगोटा वाला बोलता है, सो तो मेरा सहपाठी है, पहले भी बोला करता था। लेकिन वेदोक्त धर्म के विरुद्ध बोलता है और पाखण्ड मत (स्वामीजी ने 'पोप' शब्द का प्रयोग किया था) का प्रचार करता है, सो ठीक नहीं।"** ध्यान देने की बात है कि स्वामीजी को इस इस का किंचित् मात्र भी दुख नहीं था कि उनका सहपाठी ही उन्हें सोटा, लंगोटा वाला मुड़िया बाबा कहकर तिरस्कार करता है। उन्हें वेदना तो तब हुई जब उन्होंने देखा कि पं. उदयप्रकाश पाठशाला के छात्रों में पुराणपन्थी विचार का सन्निवेश कर रहे हैं। कहते हैं कि पं. उदयप्रकाश का स्वभाव विलक्षण ही था। वे पाठशाला में रहकर स्वामीजी के विचारों के प्रतिकूल शैवमत का मण्डन करने लगे थे। जब उनसे स्वामीजी ने ऐसा करने का निषेध किया, तो बोले कि हमारा स्वभाव ही है, कि यदि कोई किसी बात का खण्डन करता है, तो हम उसका मण्डन करने लगते हैं और कोई किसी बात का मण्डन करता है तो हम उसके खण्डन में प्रवृत्त हो जाते हैं। ऐसे सिद्धान्तहीन व्यक्ति से स्वामीजी का निभाव होना कठिन ही था। अतः उन्होंने पाठशाला को उपयोगी न पाकर उसे बंद किया और इस निमित्त एकत्रित द्रव्यराशि को निकट भविष्य में किये जाने वाले वेदभाष्य लेखन व प्रकाशन के अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य में लगा दिया।

२३ मई १८७६ को उनकी भेंट पादरी जे. जे. लूकस से हुई जो दो अन्य दो देशी ईसाइयों के साथ उनसे भेंट करने आये थे। जब वार्तालाप समाप्त हो गया तो पादरी साहब यह कह कर जाने लगे कि निकट भविष्य में स्वामी दयानन्द ईसाई धर्म को स्वीकार कर लेंगे। स्वामीजी ने पादरी के कथन का प्रतिवाद तो किया ही, साथ ही यह भी कह दिया कि आने वाले काल में तो अधिकांश ईसाई ही वैदिक मत की श्रेष्ठताओं को देखकर उसे अंगीकार करेंगे। इससे अगले दिन पुनः पादरी लूकस से स्वामी दयानन्द की विभिन्न विषयों पर चर्चा हुई। स्वामीजी ने इस बात का खण्डन किया कि ईसा पर विश्वास लाने मात्र से मनुष्य का मोक्ष हो सकता है। कालान्तर में जब देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने पादरी साहब से स्वामी दयानन्द विषयक संस्मरण भेजने का अनुरोध किया, तो उक्त महानुभाव ने अपने पत्र में स्वामीजी की आकृति, उनके व्यक्तित्व, व्याख्यानशैली आदि का उल्लेख करने के पश्चात् मूर्तिपूजा के प्रति उनकी तीव्र विरक्ति की चर्चा करते हुए लिखा—"मुझे उनका यह कथन स्मरण है कि जब मैंने उनसे कहा कि यदि आपको तोप के मुंह पर रख कर कहा जाय कि यदि मूर्ति को मस्तक नहीं नवाओगे तो तोप से उड़ा दिया जायगा, ऐसी स्थिति में आप क्या करेंगेजी ? स्वामीजी ने उत्तर दिया था कि मैं कहूँगा कि उड़ा दो।"[3]

फर्रूखाबाद से चलकर स्वामीजी ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्थी १९३३ वि. (२७ मई शनिवार) को काशी पहुंचे। उत्तमगिरि गोसांई के बाग में[४] उनका निवास हुआ। वेदभाष्य लेखन का जो विचार उनके मन में बम्बई प्रवास के समय उत्पन्न हुआ था, उसे क्रियान्वित करने के लिये अब वे पूर्णयता कटिबद्ध थे। उनका यह सुनिश्चित मत था कि जिस वैदिक धर्म के पुनरुत्थान तथा वैदिक आदर्शों की पुनः स्थापना के लिये वे प्रयत्नशील हैं, वह तभी सम्भव हो सकता है, जब कि वेदों की लोकमंगल विधायिनी शिक्षाओं को जन समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया जाय। सायण तथा उव्वट, महीधर आदि की वेदार्थ प्रणाली से वे संतुष्ट नहीं थे। इन मध्य-कालीन भाष्यकारों ने वेदों को याज्ञिक कर्मकाण्ड तक सीमित कर उनके व्यावहारिक तथा लोकोपयोगी अर्थों की सर्वथा उपेक्षा की है, यह वे भली भांति जानते थे। वेदों तथा उनकी पारम्परिक अर्थप्रक्रियाओं का विशद अध्ययन करने के उपरान्त वे इस निश्चय पर पहुंच चुके थे कि प्राचीन ब्राह्मणग्रन्थों तथा निरुक्त में वेदार्थ की जो शैली निर्धारित की गई है, वही समीचीन है तथा इसी नैरुक्त प्रक्रिया को अपना कर वेदों के अर्थों को व्यापक दृष्टि से प्रस्तुत किया जा सकता है।

वेदभाष्य लेखन से पूर्व वे भाष्यभूमिका नामक ग्रन्थ लिखकर वेद विषयक अपनी सम्पूर्ण धारणाओं को सतर्क दृष्टि से प्रस्तुत करने का विचार बना चुके थे। अतः भाष्य लेखन में सहायक रूप संदर्भ ग्रन्थों का संग्रह किया गया तथा लेखन कार्य में सहयोग देने के लिये पं. भीमसेन शर्मा फर्रूखाबाद से बुलाये गये। इसी बीच वेद भाष्य के मुद्रण के लिये बनारस के लाजरस प्रेस के प्रबंधकों से बातचीत कर सभी तैयारियां कर ली गईं। यह चातुर्मास्य स्वामीजी ने काशी में ही व्यतीत किया।

जौनपुर होते हुए वे भाद्रपद कृष्णा चतुर्दशी १९३३ वि. को (१८ अगस्त १८७६) को अयोध्या पहुंचे और सरयूबाग स्थित चौधरी गुरुचरणलाल के मंदिर में ठहरे। दो दिन

पश्चात् भाद्रपद शुक्ला प्रतिपदा (२० अगस्त १८७६) को ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का लेखन आरम्भ किया।[५] इधर तो भूमिका लेखन का कार्य द्रुतगति से चल रहा था, उधर लोगों को धर्मचर्चा तथा शास्त्र विचार में भाग लेने के लिये विज्ञापन प्रकाशित कर नगर में प्रचारित कर दिया गया। अयोध्यावासी पण्डितों को मूर्तिपूजा आदि पौराणिक कृत्यों की शास्त्रीयता प्रतिपादित करने के लिये शास्त्रार्थ हेतु उपस्थित होने का आह्वान भी किया गया। स्वामीजी के इन विज्ञापनों ने अयोध्या के धार्मिक वातावरण में एक अपूर्व हलचल उत्पन्न कर दी। अन्ततः नगरवासी वैरागी तथा पण्डित मिलकर अयोध्या के रईस राजा त्रिलोकीलाल के पास गये तथा उनसे स्वामी दयानन्द का इतिवृत्त निवेदन किया। राजा ने अपनी सम्मति व्यक्त करते हुए कहा कि स्वामीजी से शास्त्रार्थ किया जाना चाहिए। स्वामीजी को संदेश भेज कर कहलाया कि वे अयोध्या नगर में आकर पण्डितों से शास्त्रार्थ करें। इस प्रस्ताव में उनका अभिप्राय था कि यदि स्वामीजी यहां आकर शास्त्रार्थ करेंगे, तो शास्त्र चर्चा में चाहे उन्हें परास्त किया जा सके या नहीं, धींगामुश्ती और हुल्लड़बाजी से उन्हें पराजित करना सुकर होगा। स्वामीजी भी अयोध्या के उद्दण्ड वैरागी समुदाय तथा महन्त मण्डल के अभिप्राय को समझ गये, अतः उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि यदि शास्त्रार्थ के लिये पण्डित लोग उत्सुक हैं, तो उनके निवास-स्थान सरयूबाग में ही आ जावें। वहीं शास्त्रार्थ हो सकेगा, अन्यत्र नहीं। इस पर पण्डितों का शास्त्रार्थविषयक उत्साह समाप्त हो गया।

एक मास से अधिक समय तक अयोध्या में निवास कर महाराज ने लखनऊ के लिये प्रस्थान किया और आश्विन शुक्ला नवमी १९३३ वि. (२७ सितम्बर १८७६) को नवाबी वैभव के ध्वंसावशेष तुल्य इस नगर में पहुंचे। हुसैनाबाद स्थित सरदार विक्रमसिंह अहलूवालिया को कोठी[६] में उनका निवास हुआ। इस समय महाराज का अधिकांश समय वेदभाष्यभूमिका के लेखन में ही व्यतीत होता था। यहां उन्होंने बनमाली बाबू नामक एक बंगाली सज्जन को अंग्रेजी भाषा का अभ्यास कराने के लिये अपने निकट रक्खा। परन्तु वेदभाष्य के लेखन, धर्मप्रचार तथा अन्य सार्वजनिक कार्यों में सतत संलग्न रहने के कारण वे इस ओर अधिक ध्यान नहीं दे सके। अंग्रेजी सीखने का प्रयोजन स्पष्ट था। यदि निकट भविष्य में कभी विदेश जाने का अवसर आयगा, तो इस भाषा से प्रवास में सहायता मिलेगी।

३० अक्टूबर को स्वामीजी का एक भाषण छोटेलाल रोटी वाले के बाग में हुआ। इस व्याख्यान के प्रसंग में स्वामीजी ने ब्रह्मसमाज के द्वारा प्रतिपादित एकेश्वरवाद के सिद्धान्त की प्रशंसा की तथा ब्रह्मनेताओं का इस बात के लिये अभिनन्दन किया कि उनके प्रयत्नों से एक, अद्वितीय ब्रह्म की पूजा एवं उपासना का प्रचलन हो सका है।[७] लखनऊ के लाला ब्रजवासीलाल रईस से स्वामीजी का विभिन्न विषयों पर महत्त्वपूर्ण वार्तालाप हुआ।[८] पं. लेखराम ने इस वार्तालाप को स्वरचित जीवन चरित में विस्तार से उद्धृत किया है।[९] बातचीत के इस प्रसंग में स्वामीजी ने वर्णव्यवस्था के गुण एवं कर्मों पर आश्रित होने, संध्योपासना तथा यज्ञोपवीत धारण की उपयोगिता, मूर्तिपूजा तथा रामलीला जैसे कृत्यों का अनौचित्य, परमात्मा का स्वरूप, वैदिकज्ञान का ऋषियों के माध्यम से मनुष्यों को प्राप्त होने तथा संस्कृत भाषा की वैज्ञानिकता जैसे विविध विषयों का सतर्क विवेचन किया था।

इस प्रकार एक मास से कुछ अधिक समय तक तक लखनऊ में रहकर स्वामीजी ने शाहजहांपुर के लिये प्रस्थान किया। इस नगर में उनका आगमन कार्तिक पूर्णिमा १९३३ वि. (१ नवम्बर १८७६) बुधवार को हुआ। व्याख्यान की कोई व्यवस्था नहीं हो सकी, अतः स्वामीजी ने अपना अधिकांश समय वेदभाष्यभूमिका के लेखन में लगाया। पांच दिन ठहर कर वे मार्गशीर्ष कृष्णा पञ्चमी (६ नवम्बर) को बरेली चले गये। लाला लक्ष्मीनारायण खजान्ची की बेगम बाग स्थित कोठी में उन्हें ठहराया गया। इसी स्थान पर स्वामीजी के व्याख्यान भी होने लगे। महाराज के व्याख्यानों ने नगर में तीव्र हलचल उत्पन्न कर दी। मूर्तिपूजा तथा अन्य पुराण प्रतिपादित मिथ्यासंस्कारों के खण्डन ने बरेली नगर के पौराणिक मण्डल को उद्विग्न एवं उद्वेलित कर दिया। जब वे स्वामीजी को इन व्याख्यानों से पराङ्मुख नहीं कर सके, तो उनके आतिथेय खजांची जी को इस बात के लिये विवश किया कि वे अपने स्थान पर होने वाले इन व्याख्यानों को रोक दें। पहले तो खजांची महाशय ने स्वामीजी के व्याख्यानों पर आपत्ति करने वालों को टके का सा जवाब दे दिया, किन्तु जब उन पर परिजनों के माध्यम से दबाव डलवाया गया, तो दुर्बलमना लक्ष्मीनारायण खजांची ने महाराज से व्याख्यान बंद कर देने की प्रार्थना की। उदारमना स्वामीजी भी लक्ष्मीनारायण खजांची की विवशता को समझ गये और उन्होंने व्याख्यानों का क्रम बंद कर दिया। अब वे पूर्णतः भूमिका लेखन के कार्य में लग गये।

यहां के पौराणिक वर्ग ने स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिये पीलीभीत निवासी पं. अंगदराम शास्त्री को बुलाया। शास्त्रार्थ के निश्चित समय पर पण्डितजी एक बड़ी उद्दण्ड मण्डली को साथ लेकर स्वामीजी के निवास की ओर चले। पण्डितजी के हृद्गत भाव को जान कर लाला लक्ष्मीनारायण ने इस भीड़ को अपनी कोठी में प्रविष्ट होने की आज्ञा नहीं दी। फलतः पं. अंगदराम रुष्ट होकर चले गये। इस प्रकार शास्त्रार्थ नहीं हो सका। खजांची महाशय ने स्वामीजी को वेदभाष्य प्रकाशन के लिये २०० रुपये भेंट किये। कार्य व्यस्तता के कारण स्वामीजी के अंग्रेजी पठन में व्यवधान होने लगा था। अब वे बनमाली बाबू से मैक्समूलर कृत ऋग्वेद के अंग्रेजी अनुवाद का भावार्थ कराते थे। स्वामीजी ने स्वकृत वेदभाष्य में जहां सायण आदि मध्यकालीन भाष्यकारों की त्रुटियों और न्यूनताओं का सकेत किया है, वहां वे विल्सन, मैक्समूलर, ग्रिफिथ आदि पाश्चात्य वेदज्ञों द्वारा किये गये वेदव्याख्यानों की कमियों का उल्लेख करना भी नहीं भूले।[१०]

बरेली से चलकर महाराज मुरादाबाद आये और राजा जयकृष्णदास की कोठी में ठहरे। इसी स्थान पर उनके पांच, छह व्याख्यान भी हुए। मुरादाबाद निवास की सर्वप्रमुख घटना स्वामीजी का ई. डब्लू. पार्कर नामक विदेशी पादरी से शास्त्रार्थ का प्रसंग है। इस शास्त्रार्थ में ईसा के मुक्तिदाता होने तथा ईसाई मत के अनुसार सृष्टि उत्पत्ति आदि विषयों पर विचार हुआ। पादरी साहब ने ईसाई धर्म ग्रन्थों के आधार पर सृष्टि की आयु लगभग ६ हजार वर्ष बताई, जब कि स्वामीजी ने वैदिक धर्म में स्वीकृत काल गणना के अनुसार सृष्टि की आयु एक अरब से अधिक वर्ष बताई थी। शास्त्रार्थ यद्यपि लिपिबद्ध किया गया था, परन्तु उसकी प्रति उपलब्ध नहीं हुई।

पं. लेखराम ने इस शास्त्रार्थ के साथ जुड़ी एक अन्य घटना का उल्लेख किया है। मुरादाबाद की जिस कोठी में यह चर्चा हुई थी, उसी में ब्रिटिश इण्डियन एसोशियेसन की बैठकें भी होती थीं। स्वामीजी उक्त संस्था के कार्यालय के कमरे में रक्खे हुए एक बिल्लौरी (स्फटिक) पत्थर को उठा कर लाये और अंग्रेजी शिक्षित उपस्थित समुदाय से पूछने लगे कि आप लोग तो पदार्थ विद्या[११] (विज्ञान) के जानकार हैं, बताइये कि इस पत्थर को इस रूप में आने में कितना समय लगा होगा? उपस्थित पठित व्यक्तियों का कहना था कि लाखों वर्ष सामान्य पत्थर को स्फटिक का रूप लेने में लगते हैं। इस पर स्वामीजी ने कहा कि जब पत्थरों के ऐसे परिवर्तन में ही लाखों वर्ष लग जाते हैं, तो सृष्टि को मात्र ६ हजार वर्ष पुराना मानना कैसे उचित कहा जा सकता है?

मुरादाबाद निवासी मुन्शी इन्द्रमणि से स्वामीजी की प्रथम भेंट अलीगढ़ में हो चुकी थी। ये सज्जन वैश्य परिवार में जन्मे थे तथा अरबी, फारसी एवं संस्कृत में उनकी अच्छी गति थी। साम्प्रदायिक कट्टरता तथा मात्सर्य भाव ग्रस्त कुछ उग्र इस्लामी लेखकों ने समय समय पर हिन्दू धर्म तथा उसके नेताओं एवं आचार्यों पर जिस प्रकार के घृणित तथा अश्लील आक्रमण विभिन्न पुस्तकों के माध्यम से किये गये थे, उनका सटीक तथा कभी कभी उसी प्रकार की मुंह तोड़ शैली में उत्तर देकर मुन्शी इन्द्रमणि के पर्याप्त ख्याति अर्जित की थी।[१२] उन्होंने देखा कि स्वामी दयानन्द के व्याख्यानों और प्रवचनों से भारतवासी आर्यजनों में शताब्दियों से लुप्त स्वाभिमान एवं अस्मिता के भाव पुनः जागृत होने लगे हैं। अब तक ईसाई एवं मुसलमान प्रचारकों के आक्रमणों के समक्ष हिन्दू लोग आंखें नीची कर हीन भावना प्रदर्शित करते हुए, स्वयं में अपराध बोध का ही अनुभव करते रहे थे। स्वामी दयानन्द के उपदेशों ने म्रियमाण, भयाक्रान्त हिन्दू जाति में नवीन आत्मविश्वास तथा गौरव बोध को जागृत किया था। अब वे परकीय मत प्रचारकों के आक्रमणों का मुकाबिला अधिक दृढ़ता के साथ कर सकते थे। अतः मुन्शी इन्द्रमणि जैसे लेखक और विचारक का, जिसने मुस्लिम धर्म प्रचारक वर्ग का दृढ़ता से सामना कर उनके प्रवञ्चनापूर्ण ग्रन्थों का तुर्की बतुर्की उत्तर दिया था, स्वामीजी के व्यक्तित्व की ओर आकृष्ट हो जाना स्वाभाविक ही था।

स्वामी दयानन्द द्वारा हिन्दू धर्म में व्याप्त विभिन्न पाखण्डों एवं रूढ़ि युक्त विधानों की जो आलोचना की जाती थी, उसे पचा जाना असहिष्णु लोगों के लिये कठिन था। ऐसे अवसरों पर वे लोग यह कहने से भी नहीं चूकते थे कि स्वामीजी हिन्दू धर्म के निंदक हैं, अथवा वे ईसाइयों द्वारा भेजे गये प्रच्छन्न वेश में पादरी हैं, जो परम्परागत धर्म का उन्मूलन करने के लिये देश में घूम रहे हैं। मुरादाबाद में व्याख्यान के प्रसंग में एक ब्राह्मण ने स्वामीजी की आलोचनाओं से चिढ़ कर कहा कि यह दुष्ट व्यक्ति हमारे देवी देवताओं की निंदा करता है, इसलिये उसका मुख देखना भी पाप है। स्वामीजी ऐसी कटूक्तियों पर कभी कर्णपात नहीं करते थे।

आर्यसमाज के तपस्वी संन्यासी और नेता महात्मा नारायण स्वामीजी ने भी अपनी आत्मकथा में एक ऐसा ही उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है कि "एक दिन जब मैं अंग्रेजी स्कूल में पढ़ा करता था, स्कूल में चर्चा हुई कि आज एक बड़े सुधारक, जिनका नाम स्वामी

दयानन्द सरस्वती है, आने वाले हैं। उत्सुकता से बहुत से विद्यार्थी और अध्यापक देखने के लिये स्कूल से बाहर उस रास्ते में आकर, जहां से वे गुजरने वाले थे, खड़े हो गये। थोड़ी ही देर में देखा कि एक जोड़ी (बग्घी) में स्वामीजी सवार होकर हम सबके सामने से जा रहे थे। उनके दिव्य और चमकते हुए चेहरे के देखने मात्र से ही हममें से कोई ऐसा न था, जो प्रभावित न हुआ हो। उनके सायंकाल के समय व्याख्यान होने की घोषणा भी हुई और हममें से अनेक विद्यार्थी, जिसमें एक मैं भी था, उनके व्याख्यान सुनने को उत्सुक हुए, परन्तु स्कूल में एक संस्कृताध्यापक ने हम सबको बतलाया कि स्वामीजी अधर्म की बात सुनाया करते हैं, उनके सुनने से पाप लगेगा, इसलिये उनके व्याख्यान में किसी को नहीं जाना चाहिए। इस पाप के भय से अनेक विद्यार्थी रुक गये। उनमें एक मैं भी था।"[13]

समाज के धनी वर्ग में प्रचलित मदिरापान, वेश्यागमन आदि अनैतिक दुर्व्यसनों से लोगों को बचाने के लिये स्वामीजी सदा उद्यत रहते थे। वे समय समय पर इन दोषों का मर्म-भेदी वर्णन करते, तथा लोगों को इनसे पृथक् रहने की प्रेरणा देते। मुरादाबाद के साहू श्याम-सुन्दर की, उन्होंने वेश्यागामी होने के कारण तीव्र भर्त्सना की। एक अन्य रईस रामदयाल सिंह को मदिरापान के दोषों का वर्णन कर इससे मुक्त होने की प्रेरणा दी।

मुरादाबाद से बरेली होते हुए पौष कृष्णा प्रतिपदा (२ दिसम्बर) को राजघाट आये तथा उसी दिन कर्णवास पहुंचे। कर्णवास में उनका यह आगमन अन्तिम बार का था। गंगा-तटवर्ती इस स्थान पर स्वामीजी एकाधिक बार आ चुके थे। यहां पर उनका प्रथम बार का आगमन तो १९२४ वि. में हुआ था, जब वे परमहंस पदारूढ़ होकर अवधूतावस्था में गंगातटवर्ती प्रान्त का भ्रमण कर रहे थे। किन्तु आज उनका आगमन भिन्न प्रकार का है। अब वे आर्यसमाज के संस्थापक, सुविख्यात धर्म नेता तथा समाज संस्कारक के रूप में देश विदेश में कीर्ति अर्जित कर चुके हैं। कर्णवास के भक्तजनों को उनके आगमन की सूचना पहले ही मिल चुकी है। यहां के ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि महाराज के दर्शनार्थ राजघाट पहुंचे। उन्होंने स्वामीजी को लगभग १० वर्ष पूर्व परमहंस के जिस रूप में देखा था, आज के दयानन्द उनसे भिन्न हैं। कविकुमार शेरसिंह के शब्दों में, "आज स्वामीजी का दर्शन ऋषि रूप जैसा (जिस प्रकार का प्राचीन इतिहासों द्वारा कथा कहने वाले कथक्कड़ों से) सुना करते थे वैसा ही पाया। एक रेशमी मुकुटा शीश पर धारण किये हुए, एक देशी कपड़े का भगवा, पैरों तक नीचे डाला अलखा पहने हुए, एक रेशम का टीका उपरना भगवा रंगा हुआ गले में डाले हुए, एक ऊनी गलीचा जो फर्श पर बिछा हुआ था, उस पर विराजमान। वेदादि ग्रन्थ अगाड़ी धरे हुए, आठ दस पण्डितों की मण्डली से सेवित, हंसमुख, शास्त्रोक्त गम्भीर मधुर स्वर से उपदेश कर रहे हैं। ज्यों ही हम लोगों ने अभिवादन किया, बड़े आह्लाद से उत्तर में 'नमस्ते' शब्द कहकर सबकी कुशल क्षेम पूछते हुए कहने लगे—"अब अभिवादन के स्थान पर 'नमस्ते' शब्द का प्रयोग किया करो।"[14] पुनः इन लोगों को आर्यसमाज स्थापित करने की प्रेरणा की और वेदभाष्य का ग्राहक बनने के लिये भी कहा। चार व्यक्ति मुद्रयमाण भाष्य के ग्राहक बन गये जिनमें शेरसिंह के अतिरिक्त ठाकुर गोपालसिंह रईस, मुन्शी गोपालसिंह अध्यापक, तथा वैद्य रामप्रसाद थे। स्वामीजी ने इन लोगों को जनवरी १८७७ के प्रथम सप्ताह में दिल्ली आने के

लिये कहा, जहां तत्कालीन वायसराय लार्ड लिटन की ओर से बहुत बड़े दरबार का आयोजन किया जा रहा था। शेरसिंह वर्मा तथा कर्णवास के अन्य भक्तों ने उन्हें विदा दी।

कर्णवास से चलकर वे रेल मार्ग से अतरौली (जिला अलीगढ़) आये। यहां छलेसर ठाकुर मुकुन्दसिंह उनका स्वागत करने के लिये उपस्थित थे। पौष कृ. तृतीया, ४ दिसम्बर १८७६ को वे उक्त ठाकुर साहब के साथ छलेसर आये। इस ग्राम में उन्होंने ठाकुर मुकुन्दसिंह की आर्थिक सहायता से वैदिक पाठशाला स्थापित की थी, जिसमें पं. कुमारसेन (कुंवरसेन) तथा पं. दिनेशराम ने अध्यापन कार्य किया था। इस पाठशाला के प्रबंध तथा पाठ्य प्रणाली को देख कर उन्होंने अनुभव किया कि जिस लक्ष्य की पूर्ति हेतु उन्होंने इसे स्थापित किया था, वह पूरा नहीं हो रहा है। स्वामी दयानन्द अनुपयोगी कार्य को चलाते रहने के विरुद्ध थे। जब उन्होंने देखा कि पाठशालाओं से अभीष्ट सिद्धि नहीं हो रही है, उन्होंने उन्हें तुरन्त बंद कर दिया। स्वामीजी द्वारा स्थापित संस्कृत पाठशालाओं के असफल हो जाने के अनेक दुर्निवार कारण थे। प्रथम तो स्वामी दयानन्द जिस पाठ विधि के अनुसार संस्कृत भाषा एवं शास्त्र ग्रन्थों के अध्ययन के समर्थक थे, उस प्रणाली से पढ़ाने वाले अध्यापकों का मिलना ही दुष्कर हो रहा था। पुनः आर्ष ग्रन्थों की पठन पाठन प्रणाली में आस्था रखकर शास्त्रानुशीलन करने वाले छात्रों की संख्या भी अपर्याप्त होती थी। संस्कृत अध्ययन के प्रति उन्मुख होने वाले छात्र प्रायः ब्राह्मण कुलोत्पन्न ही होते थे और उनसे यह भी अप्रकट नहीं था कि स्वामी दयानन्द जिस तीव्रता के साथ मूर्तिपूजा, मंदिर-स्थापना, अवतारवाद, तीर्थयात्रा, मृतक श्राद्ध आदि पौराणिक सिद्धान्तों का खण्डन करते हैं, उन्हें अल्पांश में स्वीकार कर लेने पर उनका प्रचलित ब्राह्मण बिरादरी में रह सकना तथा पौरोहित्य व्यवसाय के द्वारा जीविका निर्वाह कर पाना सुकर नहीं है। एक अन्य बात भी थी। संस्कृत की अन्यान्य परम्परागत पाठशालाओं में तो छात्रों को पुराणाश्रित कर्मकाण्ड, (पूजा अर्चा तथा अन्य पौराहित्य कर्म) फलित ज्योतिष आदि का साधारण ज्ञान करा दिया जाता था, जिनसे इन ब्राह्मण बालकों को पुरोहित, ज्योतिषी, देवालय के पुजारी आदि की सामान्य वृत्तियों के द्वारा जीविकोपार्जन करने में कोई कठिनाई नहीं होती थी। परन्तु दयानन्द द्वारा स्थापित पाठशालाओं में तो वैदिक संहिताएं, ब्राह्मण ग्रन्थ, पाणिनीय व्याकरण तथा अन्य आर्ष ग्रन्थों के पठन की ही व्यवस्था थी। बहुत कम छात्र ऐसे मिल पाते थे, जो वैदिक वाङ्मय का तलस्पर्शी अध्ययन कर वैदिक धर्म के प्रचार की ओर उन्मुख होते।

छलेसर में लगभग एक सप्ताह निवास कर स्वामीजी पौष शुक्ला द्वितीया, रविवार (१७ दिसम्बर) को दिल्ली पहुंचे। १८७७ ई. की पहली जनवरी को भारत के गवर्नर जनरल तथा वायसराय लार्ड लिटन ने एक बहुत बड़े दरबार का आयोजन किया था,[१५] जिसके माध्यम से भारत में ब्रिटिश हुकूमत के ऐश्वर्य, वैभव तथा शक्तिमत्ता को प्रदर्शित किया जाना था। देश के सभी प्रमुख राजा, महाराजा, नवाब, जमींदार, तालुकेदार, सेठ साहूकार तथा सामन्त वर्ग के लोग इसमें आमंत्रित थे। दरबार में जाने का स्वामीजी का मुख्य उद्देश्य तो यही था कि वहां विशाल जनसमूह उपस्थित होगा तथा उनके समक्ष वे देश हित, धर्म संशोधन तथा समाज सुधार की बातों को विस्तार पूर्वक कह सकेंगे। वे स्वदेशी राजाओं के समक्ष भी अपने कार्यक्रम को प्रस्तुत करना चाहते थे। वे जानते थे कि विदेशी शासकों की भारत के

समग्र उत्थान में कोई अभिरुचि नहीं है और न हो ही सकती है। किन्तु जो थोड़े से स्वदेशी राजा हैं, वे स्वधर्म, स्वसंस्कृति तथा स्वभाषा के प्रति अवश्य अनुराग रखते हैं। अतः उनका विचार था कि इसी राजन्यवर्ग का उद्‌बोधित कर देशोद्धार के कार्यक्रम में नियोजित करना समुचित होगा।

इसी लक्ष्य को लेकर स्वामीजी दिल्ली आये थे। अजमेरी गेट के बाहर कुतुब की सड़क पर शेरमल के अनारबाग में उनके निवास की व्यवस्था की गई थी। डेरे, तम्बू आदि की व्यवस्था छलेसर के ठाकुर मुकुन्दसिंह ने पहले ही कर दी थी। स्वामीजी के इस डेरे के बाहर एक सूचनापट्ट लगा कर उस पर **'निवास स्थान स्वामी दयानन्द सरस्वती'** शब्द अंकित कर दिये गये। स्वामीजी के अनेक भक्त एवं प्रशंसक लोग भी इस अवसर पर दिल्ली आ गये थे। इनमें राजा रायकृष्णदास अलीगढ़, ठाकुर मुकुन्दसिंह, ठाकुर गोपालसिंह रईस कर्णवास, मुन्शी इन्द्रमणि मुरादाबाद, हरिश्चन्द्र चिन्तामणि बम्बई तथा लक्ष्मीनारायण खजांची बरेली आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

दिल्ली दरबार के अवसर पर उपस्थित राजाओं से सम्पर्क स्थापित कर स्वामीजी उनके समक्ष देशोद्धार के महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम को प्रस्तुत करना चाहते थे। फलतः उन्होंने प्रयत्न किया कि उपस्थित राजा उनके समीप आकर उनका व्याख्यान सुनें। महाराजा तुकोजीराव होल्कर ने राजाओं को एकत्रित कर स्वामीजी से उनकी भेंट कराने का यत्न भी किया, परन्तु इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। सम्भवतः ऐश्वर्य और विलास का जीवन व्यतीत करने वाले और अंग्रेजी शासकों की कठपुतली बनकर अपनी प्रजा पर निरंकुश शासन करने वाले उन राजाओं में न तो स्वदेशाभिमान ही अवशिष्ट रह गया था, और न उनमें लोकहित की भावना ही बच पाई थी। ऐसी स्थिति में यदि वे स्वामीजी से सम्पर्क बनाने के लिये अनुत्सुक थे, तो आश्चर्य ही क्या ? राजाओं की स्वामीजी से भेंट न हो सके, यह प्रयत्न उनके राजपण्डितों तथा राजाश्रय में रहने वाले चटुकारिता निपुण व्यक्तियों का भी होता था, क्योंकि उन्हें आशंका थी कि यदि राजा लोग स्वामीजी द्वारा उपदिष्ट जन हित की नीतियों पर चलने लगेंगे और उनके प्रगतिशील कार्यक्रमों को स्वीकार कर लेंगे, तो चापलूस वर्ग के लोगों का वर्चस्व व प्रभुत्व ही समाप्त हो जायगा।

काश्मीर के महाराजा रणवीरसिंह भी स्वामीजी से मिलने के लिये उत्सुक थे। एतदर्थ उन्होंने अपने मंत्री बाबू नीलाम्बर तथा दीवान अनन्तराय को स्वामीजी के निकट भेजा। किन्तु पण्डितों के बहकावे में आकर स्वामीजी से महाराजा की भेंट नहीं हो सकी। सम्भावना यह भी है कि स्वामीजी के देशोद्धार के व्यापक कार्यक्रम तथा देश में सार्वत्रिक धार्मिक एवं सामाजिक क्रान्ति की योजना की थोड़ी सी भी भनक अंग्रेज शासकों के कानों में पड़ी हो और उन्होंने यही सोचा हो कि यदि यह संन्यासी सफल मनोरथ हो गया तो उनके निरंकुश शासन की जड़ें ही हिल जायेंगी। फलतः उन्होंने राजाओं पर परोक्ष प्रभाव डालकर 'स्वामीजी से उनकी भेंट की सम्भावना को ही समाप्त कर दिया हो।

तथापि छुटपुट रूप से लोगों का आना जाना जारी रहा। इस अवसर पर एक विज्ञापन प्रकाशित कराया गया, जिसमें दरबार में उपस्थित लोगों को स्वामीजी के निकट

पहुंच कर धर्मालोचना करने के लिये आमंत्रण था। इस सूचनापत्र को नगर में तथा दरबार के स्थान पर यत्र तत्र चिपकवाया गया। राजा महाराजाओं से भी अनुरोध किया गया कि कम से कम वे अपने पण्डितों को तो सत्यासत्य निर्णय की दृष्टि से स्वामीजी के निकट अवश्य भेजें। इस विज्ञापन के कारण अनेक धर्मजिज्ञासु जन स्वामीजी से धर्मालाप हेतु उपस्थित होने लगे। एक दिन मथुरा के चतुर्वेदी उपाधि वाले चौबेजी 'जयराधाकृष्ण' का घोष करते हुए स्वामी सेवा में उपस्थित हुए। वे अपने साथ ब्रज की मिट्टी भी लाये थे। उन्होंने उस मृत्तिका का स्वल्पांश स्वामीजी को भेंट स्वरूप देना चाहा। स्वामीजी ने जिज्ञासा करते हुए पूछा कि यह कैसी मिट्टी है? इस पर चौबेजी गर्वपूर्वक बोले कि इसी मिट्टी को कृष्ण जी ने बचपन में खाया था। स्वामीजी ने विदग्धतापूर्वक उत्तर देते हुए कहा—'खाई होगी, बच्चे तो मिट्टी खाया ही करते हैं। इसका यह अर्थ तो नहीं कि हम खायें।' स्वामीजी के इस कथन से चौबेजी हतप्रभ हो गये। इसके पश्चात् स्वामीजी ने कृष्ण के साथ राधा आदि काल्पनिक परकोया नायिकाओं का नाम जोड़ने का प्रबल खण्डन किया। चौबेजी के पास अब कहने के लिये कुछ नहीं था।

राजाओं से तो स्वामीजी की सामूहिक भेंट नहीं हो सकी, किन्तु तत्कालीन सुधारक वर्ग के अनेक प्रमुख लोगों से विचार विमर्श करने का उन्हें एक स्वर्णिम अवसर मिल ही गया। विभिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायों के नेताओं तथा समाजसुधार के महान् कार्य में संलग्न कतिपय पुरुषों को स्वामीजी ने अपने निवास पर आमंत्रित किया। स्वामीजी के निमंत्रण को स्वीकार कर जो लोग अपनी किस्म के उस प्रथम धर्म सम्मेलन में उपस्थित हुए, उनमें सर्वश्री केशवचन्द्र सेन, नवीनचन्द्र राय, कन्हैयालाल अलखधारी, मुन्शी इन्द्रमणि, हरिश्चन्द्र चिन्तामणि तथा भारत में मुस्लिम जागरण के अग्रदूत सैयद अहमद खां के नाम उल्लेखनीय हैं। एक अन्य दृष्टि से भी यह सम्मेलन महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि इसमें पंजाब, बंगाल, महाराष्ट्र तथा तत्कालीन पश्चिोत्तर प्रदेश (वर्तमान उत्तरप्रदेश) के प्रतिनिधि सुधारक तथा सार्वजनिक कार्यकर्ता उपस्थित हुए थे।

यह खेद की बात है कि अपने ढंग के इस महत्वपूर्ण धर्म सम्मेलन का विस्तृत एवं प्रामाणिक विवरण अद्यापि उपलब्ध नहीं हो सका है। स्वामी दयानन्द ही इस सम्मेलन के संयोजक तथा प्रमुख वक्ता थे। उन्होंने अपने प्रास्ताविक भाषण में अत्यन्त मार्मिक शब्दों में भारत देश तथा उसके निवासियों के धर्म की वर्तमान दुर्दशा का वर्णन किया। तत्पश्चात् उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि यद्यपि उपस्थित सुधारक गण अपनी अपनी दृष्टि एवं नीतिरीति से स्वदेशोत्थान के कार्य में संलग्न हैं, किन्तु पारस्परिक एकता के अभाव तथा सिद्धान्तों एवं विचारों में भिन्नता होने के कारण अभीष्ट सिद्धि प्राप्त होने में विलम्ब हो रहा है। आगे चलकर उन्होंने कहा कि यदि विभिन्न मतों और सम्प्रदायों के प्रतिनिधिगण वेद को ईश्वरीय ज्ञान स्वीकार कर लें, तथा आर्य संस्कृति के मौलिक तत्त्वों को आधार बनाकर देश एवं समाज के पुनर्निर्माण के कार्य में जुट जायें, तो सफलता सुनिश्चित है।

स्वामीजी के सुझाव चाहे कितने ही उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण क्यों न रहे हों, उनके स्वीकृत किये जाने की सम्भावना कम ही थी। ब्रह्मसमाज में राममोहनराय के पश्चात् वेद-

प्रमाणवाद के सिद्धान्तों को ठुकरा दिया गया था।[१६] केशवचन्द्र सेन भारत की पुरातन धार्मिक एवं दार्शनिक परम्परा में सर्वमान्य वैदिक प्रामाण्य के मन्तव्य को अस्वीकार कर अन्तरात्मा के आदेश (Intuition) को ही सर्वोपरि मान्यता प्रदान कर चुके थे।[१७] अतः ब्राह्म नेताओं द्वारा स्वामी दयानन्द प्रतिपादित वेदप्रमाण वाद को स्वीकार करना तो असम्भव ही था।[१८] सैयद अहमद स्वामीजी की उदार विचारधारा, उनके समाजसुधार विषयक प्रयत्नों तथा उनके द्वारा देश के सर्वविध उत्थान हेतु किये जाने वाले उपायों के प्रशंसक अवश्य थे, किन्तु इस्लाम की विचारधारा से प्रतिबद्ध होने के कारण वे कुरान को छोड़कर वेदों को ईश्वरीय ज्ञान स्वीकार कर लेते, यह सर्वथा अचिन्तनीय ही था। अब रहे हरिश्चन्द्र चिन्तामणि, मुन्शी इन्द्रमणि तथा अलखधारी। इनमें से प्रथम दो तो स्वामीजी की विचारधारा के पूर्ण अनुयायी ही थे। मुन्शी कन्हैयालाल अलखधारी मूलतः वेदान्ती थे और बुद्धि के आधार पर ही धर्माधर्म का विवेचन करने के समर्थक थे। अस्तु। पर्याप्त अंशों में एक दूसरे के प्रति सदाशयता तथा सहानुभूति रखते हुए भी इन सुधारकों में व्यापक सहमति नहीं हो पाई।[१९]

अब स्वामीजी की योजनाओं में वेदभाष्य के लेखन तथा प्रकाशन को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाने लगी थी। निकट भविष्य में किये जाने वाले वेदभाष्य का एक विज्ञापन तैयार कराया गया जिसे देश की विभिन्न पत्र पत्रिकाओं ने प्रकाशित भी किया।[२०] इस विज्ञापन में जहां वेदभाष्य को धारावाही मासिक पत्र के रूप में मुद्रित करने तथा उसके वार्षिक मूल्य आदि का संकेत था, वहां स्वामीजी के वेदभाष्य विषयक निर्देशक सिद्धान्तों का भी सुस्पष्ट निरूपण किया गया था। विज्ञापन में कहा गया था कि इस भाष्य के प्रकाशित होने पर यह तथ्य प्रमाणित हो जायगा कि वेदों में एक, अद्वितीय, निराकार ईश्वर को ही उपास्य बतलाया गया है। मूर्तिपूजा तथा अवतार आदि कालान्तर में प्रचलित विश्वासों की पुष्टि वेदों से नहीं होती। स्वामीजी चाहते थे कि इस विज्ञापन तथा वेदभाष्य के प्रथम अंक की एक हजार प्रतियां दिल्ली दरबार के समय तक तैयार हो जावें, ताकि वहां उपस्थित लोगों में उसे बांटा जा सके। एतदर्थ उन्होंने बनमाली बाबू को बरेली से ही सीधा काशी भेज दिया था। किन्तु समय पर न तो विज्ञापन पत्र ही तैयार हुआ और न वेदभाष्य का प्रथम अंक।

दिल्ली दरबार के ही अवसर पर स्वामीजी की भेंट पंजाब के प्रसिद्ध सुधारक मुन्शी कन्हैयालाल अलखधारी,[२१] सरदार विक्रमसिंह अहलूवालिया, पं. मनफूल तथा लाहौर से प्रकाशित होने वाले उर्दू पत्र कोहेनूर के स्वामी मुन्शी हरसुखराय से हुई थी। पंजाब से सार्वजनिक जीवन में कार्य करने वाले लोगों से यह उनकी प्रथम भेंट थी। उपर्युक्त लोगों ने स्वामीजी के व्यक्तित्व में निहित अनेक विशिष्ट गुणों को पहचाना तथा अनुभव किया कि यदि स्वामी महाराज जैसा उदार, प्रगतिशील तथा सुधारोन्मुख प्रवृत्ति वाला महापुरुष पंजाब प्रान्त का भ्रमण करे, तो निश्चय ही इस्लामी संसर्ग के कारण वैदिक संस्कृति के पुरातन तत्वों से विमुख, आर्य संस्कारों से वर्जित तथा सैमैटिक मतों के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रभाव से युक्त, संकर-जीवन पद्धति को धारण करने वाले, किन्तु साथ ही शारीरिक दृष्टि से बलवान, मानसिक दृष्टि से सतर्क, सजग तथा सहज वैचारिक उदारता आदि गुणों को धारण करने वाले पंजाब

वासी इनके विचारों से लाभ उठा सकेंगे । फलतः उन्होंने स्वामीजी को पञ्चनद प्रदेश में पधारने का आमंत्रण दिया, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया ।

दिल्ली से चलकर माघशुक्ला द्वितीया १९३३ वि. (१६ जनवरी १८७७) को वे मेरठ आये । सूर्यकुण्ड पर डिप्टी महताबसिंह की कोठी (अपर नाम बब्बू वाली कोठी) में उनके निवास की व्यवस्था हुई । लगभग १० दिन तक यहां ठहर कर वे लेखराज के बाग में चले गये ।[२२] इस समय उनके साथ एक रसोइया और एक काला कुत्ता था । मेरठ के इस निवास काल में उनका कोई भाषण नहीं हुआ । पं. भीमसेन को लेखन कार्य में सहायक बनाकर वे ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रणयन में संलग्न रहे । मुहल्ला खारी कुंआ के रहने वाले निद्धी पण्डित को अपने पाण्डित्य का बड़ा अभिमान था । एक दिन वे अपने ग्रन्थों की पोटली बांध कर डींग मारते हुए स्वामीजी के निवासस्थान पर आये, और कहा कि वे शास्त्रार्थ में इस नास्तिक संन्यासी को निश्चय ही पराजित कर देंगे । जिस समय उक्त पण्डित स्वामीजी के निकट पहुंचा उस समय नगर के अनेक प्रतिष्ठित पुरुष वहां उपस्थित थे ।[२३] स्वामीजी मानव मनोविज्ञान के अद्भुत ज्ञाता थे । उन्होंने आगन्तुक पण्डित की भावभंगिमा से ही अनुमान कर लिया था कि उनका आगमन किस अभिप्राय से हुआ है तथा उनका शास्त्र-ज्ञान कितना है ? अतः किञ्चित विनोदपूर्ण मुद्रा बना कर उन्होंने पण्डितजी से पूछ लिया कहिये, पण्डितजी कैसे आना हुआ ? पण्डितजी ने इसका क्या उत्तर दिया, यह किसी की समझ में ही नहीं आया क्योंकि वे तो महाराज के प्रश्न पूछ लेने मात्र से ही इतने अप्रतिभ हो गये कि उनकी घिग्घी सी बंध गई और वे लज्जित होकर चले गये । प्रतिद्वन्द्वी पण्डित को यदा कदा बिना शास्त्रार्थ किये ही पराजित कर देना, विराट् व्यक्तित्व तथा अपार वैदुष्य के धनी संन्यासी के लिये बांये हाथ का खेल था ।

पूरा एक मास मेरठ में व्यतीत कर स्वामीजी फाल्गुन शुक्ला द्वितीया (१५ फरवरी गुरुवार) को सहारनपुर आये और पनचक्की के निकट लाला कन्हैयालाल के शिवालय में ठहरे । इस नगर में उनका प्रथम व्याख्यान 'आर्य कौन हैं ?' विषय पर चित्रगुप्त के मंदिर में हुआ । 'सत्य' और 'सृष्टि उत्पत्ति' पर उनके दो अन्य व्याख्यान भी इसी स्थान पर हुए । व्याख्यानों में पर्याप्त जनसमूह एकत्रित होता था । मंदिर के समीपवर्ती मकानों की छतों पर चढ़ कर भी लोग व्याख्यान सुनते थे । ये व्याख्यान तीन चार घण्टे तक चलते, अतः चित्रगुप्त मंदिर की सांयकालीन आरती में व्यवधान उपस्थित होने लगा । बेचारा पुजारी परेशान होता और चाहता कि व्याख्यान जल्दी समाप्त हो, ताकि वह आरती कर छुट्टी पाये । इस कठिनाई को देख कर स्वमीजी ने अपने निवास स्थान (शिवालय) पर ही व्याख्यान देना आरम्भ कर दिया । परन्तु यहां भी वही कठिनाई थी । जब शिवालय के स्वामी कन्हैयालाल ने ही कह दिया कि आप यहां से अन्यत्र चले जावें, क्योंकि आप तो मूर्तिपूजा का खण्डन करते हैं, और यह है मंदिर । अब स्वामीजी राम बाग में चले गये । व्याख्यानों का क्रम तो पूर्ववत् चलता ही रहा । इस नगर के प्रसिद्ध भागवती पण्डित बलदेव व्यास से शास्त्रार्थ का उपक्रम हुआ, किन्तु पण्डित महाशय शीघ्र ही निरुत्तर होकर चले गये ।[२४]

चैत्र कृष्णा चतुर्दशी (१३ फरवरी) को स्वामी दयानन्द का शाहजहांपुर में आगमन हुआ । इस जिले के चांदापुर ग्रामवासी मुन्शी प्यारेलाल तथा मुन्शी मुक्ताप्रसाद नामक दो

कायस्थ जमींदार भाइयों के विचार कबीर मत की ओर उन्मुख होने लगे थे। मुन्शी द्वय सच्चे धर्म के जिज्ञासु भी थे और चाहते थे कि अपने गांव में एक धार्मिक मेले का आयोजन कर सत्यासत्य विचार के लिये विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधियों को एक समान मञ्च प्रदान करें। इसी योजना के अन्तर्गत उन्होंने धर्म मेले को आयोजित कर इस्लाम, ईसाइयत तथा आर्य धर्म के प्रतिनिधियों को विचारार्थ आमंत्रित किया। देवबंद के मौलाना मुहम्मद कासिम[२५] तथा बरेली के पादरी टी. जे. स्काट[२६] इस शास्त्रार्थ में क्रमशः इस्लाम एवं ईसाई मत के प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित थे। वैदिक धर्म के प्रमुख प्रवक्ता के रूप में स्वामी दयानन्द को आमंत्रित किया गया था। स्वामीजी ने मेले के आयोजकों से कहा कि महत्त्वपूर्ण धार्मिक तथा दार्शनिक विषयों पर वाद विवाद करने तथा निर्णय लेने के लिये पर्याप्त समय अपेक्षित होता है। उनकी इच्छा थी कि न्यूनातिन्यून दो सप्ताह तक तो यह विचार चलना ही चाहिए। मेले के आयोजकों की अपनी कठिनाइयां थीं। अतः उन्होंने विनम्रता पूर्वक स्वामीजी को संदेश भेजते हुए कहलाया कि एक सप्ताह के आयोजन में भारतीय हिन्दू धर्म के प्रमुख प्रस्तोता के रूप में वे अवश्य उपस्थित हों। स्वामीजी ने उनका निमंत्रण स्वीकार किया तथा जमींदार बंधुओं से अनुरोध किया कि वे मुरादाबाद से मुन्शी इन्द्रमणि को भी निमंत्रित करें।[२७]

निश्चित कार्यक्रमानुसार स्वामीजी चैत्र अमावस्या १९३३ वि. (१५ मार्च १८७७) को चांदापुर पहुंचे। मेला भूमि पर विशाल तम्बू एवं शामियाने लगा कर आगन्तुकों के निवास की सुचारु व्यवस्था की गई। विभिन्न धर्मों के प्रवक्ताओं के भोजन आदि की व्यवस्था भी उत्तम रीति से की गई। मेले के आयोजन के लिये शाहजहांपुर के कलेक्टर से विधिवत् आज्ञा प्राप्त कर ली गई। १८ मार्च की रात्रि को स्वामीजी से भेंट करने मुन्शी प्यारेलाल तथा बाबू लेखराज (अध्यापक सहारनपुर) उपस्थित हुए। वार्तालाप के प्रसंग में आगन्तुक महानुभावों ने कबीर प्रवर्तित मत का वर्णन किया तथा 'कबीर' शब्द को ही ईश्वरवाचक सिद्ध करने का प्रयत्न किया। पर्याप्त समय तक वार्तालाप चलता रहा। इस समय मुन्शी इन्द्रमणि भी उपस्थित थे।

'ब्रह्म विचार' शीर्षक यह आध्यात्मिक मेला चैत्र शुक्ला ५, १९ मार्च १८७७ ई० को प्रारम्भ हुआ। इस दिन प्रातःकाल ही कुछ लोगों ने स्वामीजी के निकट आकर यह प्रस्ताव किया कि हिन्दू और मुसलमान धर्माचार्यों को मिल कर ईसाई पादरियों को पराजित करना चाहिए। स्वामीजी ने इसका विरोध किया और कहा कि हमारे यहाँ आने का प्रयोजन सत्यान्वेषण है, न कि किसी धर्म या मत को पराजित करने का भाव। उन्होंने बल देकर कहा कि हमें स्वमत के आग्रह को छोड़ कर सत्यजिज्ञासा के भाव से ही विचार में प्रवृत्त होना चाहिए। अन्ततः एक विषय निर्धारिणी समिति का गठन हुआ, जिसने यह निश्चय किया कि निम्न पांच विषयों पर धर्म चर्चा चलेगी—

१. परमेश्वर ने जगत् को किस वस्तु से, किस समय और किस उद्देश्य से बनाया ?
२. ईश्वर सर्वव्यापक है या नहीं ?
३. ईश्वर न्यायकारी और दयालु दोनों कैसे हो सकते हैं ?
४. वेद, बाइबिल और कुरान के ईश्वरीय होने में क्या प्रमाण है ?
५. मुक्ति क्या है और किस प्रकार प्राप्त हो सकती है ?

धर्म चर्चा को सुचारु रूप से संचालित करने के लिये कुछ गौण नियम भी बनाये गये। पहले तो मेले की अवधि सात दिन निश्चित की गई थी, परन्तु अब उन्हें बताया गया कि दो दिन से अधिक इस कार्यक्रम को चलाना सम्भव नहीं है। स्वामीजी को स्वभावतः निराशा ही हुई। उन्होंने पुनः आग्रह किया कि विचारणीय पांच प्रश्नों के महत्त्व, जटिलता तथा उपयोगिता को देखते हुए पांच दिन तक तो इस धर्म मेले को चलाना ही चाहिए, परन्तु पादरी लोगों ने कहा कि उनके लिये दो दिन से अधिक यहां ठहरना सम्भव नहीं है।

१९ मार्च को प्रातः ९ बजे धर्मचर्चा का प्रारम्भ मुन्शी प्यारेलाल द्वारा ईश्वर स्तुति तथा शाहेवक्त[२८] का आभार प्रदर्शित करने से हुआ। उन्होंने जिलाधीश को भी धन्यवाद दिया जिन्होंने मेले के आयोजन हेतु राजाज्ञा प्रदान की। अपने वक्तव्य में उन्होंने यह भी आशा प्रकट की कि वक्ता लोग संयम एवं सौहार्द भाव से धर्म चर्चा में भाग लेंगे। इसके पश्चात् पृथक् पृथक् धर्मों के प्रवक्ताओं के नामों का निश्चय किया गया। विचार सभा का प्रथम अधिवेशन तो प्रारम्भिक चर्चाओं में ही व्यतीत हो गया।

चैत्र शुक्ला ६, १९३४ वि., २० मार्च को प्रातः साढ़े सात बजे पुनः सभा जुड़ी। 'जगत् का उपादान कारण तथा सृष्टि रचना का प्रयोजन' विषय पर चर्चा चली। स्वामीजी ने आलोच्य विषय पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुए बताया कि प्रकृति ही संसार का उपादान कारण है। परमात्मा को सृष्टि का निमित्त कारण मानना युक्तिसंगत है। सृष्टि रचना का काल निर्धारण करते हुए उन्होंने वैदिकों में प्रचलित संकल्पोच्चारण की परम्परा का उल्लेख किया और संकल्पवाक्य[२९] को प्रस्तुत कर सृष्टि की उत्पत्ति का काल निर्धारित किया। स्वामीजी के वक्तव्य की समाप्ति पर मौलवी तथा पादरी लोगों ने अपने अपने मतों के अनुसार विचारणीय समस्या पर अपना वक्तव्य प्रस्तुत किया।

समय की कमी के कारण अवशिष्ट चार प्रश्नों में से अन्तिम 'मुक्ति क्या है तथा उसके साधन क्या हैं ?' ही विचारार्थ लिया जा सका। स्वामीजी ने मुक्ति के वेदोक्त स्वरूप तथा आर्य ग्रन्थों में निरूपित उसकी प्राप्ति के साधनों की विशद व्याख्या की।[३०] मध्याह्नोत्तर चार बजे तक विचार चलता रहा। इस बीच अन्य वक्ताओं ने भी मुक्ति विषयक अपने विचार प्रस्तुत किये। पादरी तथा मौलवी लोग आने वाले तीन दिनों तक रुक कर अवशिष्ट प्रश्नों पर विचार करने के लिये अनिच्छुक थे। २० मार्च की रात्रि को ही पादरी स्काट से स्वामीजी की 'आवागमन तथा पुनर्जन्म' विषय पर चर्चा हुई। इस प्रकार ब्रह्मविचार शीर्षक यह मेला निर्धारित विषयों पर साङ्गोपाङ्ग विचार किये बिना ही समाप्त हो गया।[३१] परन्तु उपस्थित जन समुदाय को वैदिक धर्म के उन दार्शनिक सिद्धान्तों से परिचित होने का एक सुयोग भी मिल गया जो स्वामी दयानन्द द्वारा प्रस्तुत प्रौढ़ तथा सतर्क विश्लेषण द्वारा प्रस्तुत किये गये थे। चांदापुर से शाहजहांपुर व सहारनपुर होते हुए वे लुधियाना चले गये। पञ्चनद प्रदेश उनकी उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहा था।

एक वर्ष से कुछ कम समय का पश्चिमोत्तर प्रदेश का यह भ्रमण स्वामी दयानन्द के जीवन की एक विशिष्ट कालावधि है। इसी काल में उन्होंने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का लेखन किया तथा वेदभाष्य लिखने की योजना को क्रियान्वित किया। उनकी साहित्य साधना

में भूमिका तथा वेदभाष्यों का सर्वोपरि स्थान है। यह भी ध्यातव्य है कि अब तक स्वामी दयानन्द के शास्त्रार्थ मुख्य रूप से उन पण्डितों और शास्त्रियों से ही होते रहे थे, जो वेद की प्रामाणिकता को स्वीकार करते थे, तथापि अवान्तरकालीन पुराण प्रतिपादित मतों, सिद्धान्तों तथा मान्यताओं के प्रति भी प्रगाढ़ आस्था रखते थे। परन्तु चांदापुर के मेले में उनका ईसाई पादरियों तथा मुसलमान मौलवियों से भी धर्म विचार हुआ। इस त्रिपक्षीय संवाद में उन्होंने वैदिक धर्म की दार्शनिक एवं धार्मिक मान्यताओं का सुस्पष्ट निरूपण करते हुए सैमेटिक मजहबों के असंगत, युक्तिविरुद्ध तथा अवैज्ञानिक सिद्धान्तों से श्रोताओं को अवगत किया। सामी मजहबों के प्रवक्ताओं से शास्त्रार्थ करने के अनेक अवसर उन्हें बाद में मिलते रहे।

एक अन्य बात भी हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। स्वामी दयानन्द १८७५ ई. में ही आर्यसमाज की स्थापना कर चुके थे। उसके नियम और उद्देश्यों की विधिवत् घोषणा की जा चुकी थी तथा संस्था की कार्यप्रणाली एवं प्रचार पद्धति की भी रूपरेखा लोगों के समक्ष आ गई थी। तथापि ग्यारह मास के इस पश्चिमोत्तर प्रदेश के पर्यटन काल में हम स्वामीजी को इस प्रान्त के विभिन्न नगरों में समाज संस्थापन के लिये प्रेरणा करते हुए नहीं देखते। शायद उनकी धारणा थी कि समाज संस्थापना का विचार उन लोगों की ओर से ही आना चाहिए जो उनके विचारों से सहमति रखते हैं तथा सामूहिक रूप से इस वैचारिक आन्दोलन को तीव्रता से प्रसारित करने की आकांक्षा रखते हैं। जब उन्होंने इन नगरों के लोगों में ऐसी कोई उत्सुकता नहीं देखी, तो स्वयं आगे होकर आर्यसमाज स्थापना के लिये पहल करना भी उन्हें उचित नहीं लगा।

□

पाद टिप्पणियां

१. पं. उदयप्रकाश दण्डी विरजानन्द के उन शिष्यों में से थे, जो उनके शिष्य बनने से पूर्व कौमुदी शैली के अध्यापकों में सर्वश्रेष्ठ गिने जाते थे। १९२० वि. या १९२१ वि. में उनका दण्डीजी से व्याकरण विषय पर ही शास्त्रार्थ हुआ। परिणामस्वरूप वे दण्डीजी के शिष्य बन गये। अब उन्होंने अष्टाध्यायी और महाभाष्य पढ़ा तथा जीवन पर्यन्त इसी शैली से पढ़ाते रहे। उन्होंने यजुर्वेद पर एक भाष्य भी लिखा था जो स्वामी दयानन्द के निधन के दो वर्ष पश्चात् १९४२ वि. में प्रकाशित हुआ। इसकी एक दुर्लभ प्रति जोशी अमरलाल के पौत्र पं. रावेश्याम द्विवेदी के संग्रह (जोशी बाबा की हवेली, मथुरा) में सुरक्षित है।

२. पं. रामेश्वरानन्द वैद्य ने गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता पं बृहस्पति को १९ नवम्बर १९३४ को एक पत्र लिखा था, उसी का एक अंश इस विशेषांक में प्रकाशित किया गया था।

३. पं. घासीराम संगृहीत जीवन चरित भाग २ पृ. ३

४. देवेन्द्रनाथ के अनुसार यह बाग शिवदत्त गिरि का था।

५. काल रामाङ्क चन्द्रेब्दे भाद्रमासेसिते दले ।
प्रदिपद्यादित्यवारे च भाष्यारम्भः कृतो मया ।।

६. सरदार विक्रमसिंह कपूरथला निवासी थे। इनकी यह कोठी हुसैनाबाद के तालाब के किनारे थे।

७. स्वामीजी के कुछ अन्य व्याख्यान अहियागंज में कन्हैयालाल (लेखाकार—रेलवे) तथा सदाअतगंज में लाला राधाकृष्ण कन्हैयालाल के मंदिर में भी हुए थे—आर्यसमाज गणेशगंज, लखनऊ का इतिहास—पृ. १

८. ब्रजवासीलाल कायस्थ जयपुर राज्य के हिन्डौन कस्बे के निवासी थे। वार्तालाप के समय स्वामीजी के भक्त केशवराम विष्णुलाल पण्ड्या तथा गंगासहाय ड्राफ्ट्समैन (हापुड़) भी उपस्थित थे।

९. द्रष्टव्य – पं. लेखराम रचित जीवन चरित पृ. २९३-२९६

१०. "यदिह्यार्यदेशनिवासिनां सायण महीधर प्रभृतीनांव्याख्यास्वेतादृशी मिथ्या गतिरस्ति, तर्हि यूरोपखण्डनिवासिनामेतदनुसारेण स्वदेशभाषायां कृतानां वेदार्थव्याख्यानानमनर्थ-गतेस्तु का कथा ?" ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकाः भाष्यकरणशंकासमाधानादि विषयः।

११. स्वामी दयानन्द भौतिक अथवा प्राकृतिक विज्ञान (Physical or Natural Science) के लिये सदा 'पदार्थ विद्या' शब्द का प्रयोग करते थे।

१२. पारस्परिक खण्डन मण्डन की इन पुस्तकों का इतिहास इस प्रकार है—इस्माइल नामक एक मौलवी ने उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में 'रद्दे हनूद' नामक पुस्तक बम्बई से प्रकाशित कराई। इसके उत्तर के चौबे बद्रीदास ने 'रद्दे मुसलमान' लिखी। औबेदुल्ला नामक एक व्यक्ति ने १२७४ हिजरी में 'तुहफतुल हिन्द' लिखी, जिसका उत्तर मुन्शी इन्द्रमणि ने इसी वर्ष 'तुहफतुल इस्लाम' लिखकर दिया। मौलवी सैयद महमूद हुसैन ने मुन्शी इन्द्रमणि की उपर्युक्त पुस्तक के खण्डन में 'खिलअत अलहनूद' फारसी भाषा में लिखी जो १२८१ हिजरी (१९२२ वि) में प्रकाशित हुई। इसके प्रत्युत्तर में मुन्शी इन्द्रमणि की पुस्तक 'पादाशे इस्लाम' १९२५ वि. में प्रकाशित हुई। बरेली के एक अज्ञातलेखक की पुस्तक 'मसनवी असूले दीन हिन्दू' का उत्तर मुन्शी इन्द्रमणि द्वारा 'असूले दीने अहमद' के रूप में लिखा गया जो १८६९ ई. को प्रकाशित हुआ। १८७३ ई. में एक अन्य आपत्तिजनक पुस्तक 'तेगे फकीर बर गर्दने शरीर' प्रकाशित हुई। मुरादाबाद के दो लेखकों—मौलवी अहमददीन तथा मौलवी कुतुब आलम ने क्रमशः 'एजाजे मुहम्मदी' तथा 'हदिया उल अस्नाम' लिखी, जिनके उत्तर में मुन्शी इन्द्रमणि ने 'हमल अे हिन्द', 'समसामे हिन्द' तथा 'सौलते हिंद' नामक ग्रन्थ लिखे।

१३. आत्मकथा पृ. ६—आर्यसाहित्य सदन दिल्ली से प्रकाशित प्रथम संस्करण।

१४. कर्णवास में महर्षि दयानन्द के ऐतिहासिक संस्मरण पृ. २३

१५. यह दरबार इंग्लैण्ड की महारानी विक्टोरिया द्वारा 'भारत की साम्राज्ञी' का पद ग्रहण करने के उपलक्ष्य में आयोजित किया गया था।

१६. The History of the Brahmo Samaj By Siva Nath Sastri—The Question of Vedic Infalibility and its rejection. p. 63. (2nd Edition 1974)

१७. The worst point of all was his doctrive of adesh (आदेश). He declared that from time to time a direct command from God was laid upon him by special revelation.

१८. इस सम्बन्ध में श्री नवीनचन्द्र राय ने अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा था—"स्वामी दयानन्द सरस्वती से हमारी मुलाकात देहली के दरबार (१८७७ ई.) में हुई थी। वहां उन्होंने हमें, तथा बाबू केशवचन्द्र सेन और दक्षिणवासी रा. ब. गोपालराव हरिदेशमुख (दिल्ली के सम्मेलन में ये उपस्थित नहीं थे—लेखक) और श्रीयुत हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को निमंत्रित किया और हम लोगों से यह प्रस्ताव किया कि हम लोग पृथक् पृथक् रीति से धर्मोपदेश न करके एकता के साथ करें तो अधिक फल होगा। इस विषय में बहुत बातचीत हुई, परन्तु मूल विश्वास में उनके साथ हम लोगों का भेद था, इसलिये जैसी वे चाहते थे, एकता नहीं हो सकी।" ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका खण्ड ४, संख्या ३१-३२, जनवरी १८८५, पृ. २४

१९. दिल्ली में आयोजित इस धर्म सम्मेलन का विवरण कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले 'इण्डियन मिरर' (खण्ड १६, संख्या ११—१४ जनवरी १८७७ का रविवासरीय संस्करण) तथा लाहौर से प्रकाशित होने वाले 'बिरादरे हिन्द' (जनवरी १८७७, खण्ड २ संख्या १ पृ. ३२) में भी छपा था।
यहां यह स्मरणीय है कि स्वामीजी के गुरु दण्डी विरजानन्द ने भी १८५७ के विद्रोह के पश्चात् १८५९ ई. में लार्ड कैनिंग द्वारा आगरा में आयोजित दरबार के अवसर पर जयपुर के महाराजा रामसिंह को 'सार्वभौम सभा' आयोजित कर शास्त्रों के प्रामाण्याप्रामाण्य का निश्चय करने के लिये निवेदन किया था।

२०. लाहौर के बिरादरे हिन्द (हिन्दू बान्धव) ने फरवरी १८७७ ई. तथा कलकत्ता के इण्डियन मिरर ने १८ फरवरी १८७७ ई. के अंकों में इन विज्ञापनों पर प्रशंसापूर्ण उद्गार व्यक्त किये।

२१. मुन्शी कन्हैयालाल अलखधारी (१८०९-१८८२) मूलतः उत्तरप्रदेश के निवासी थे। कालान्तर में ये लुधियाना चले गये और वहां से नीतिप्रकाश नामक उर्दू पत्र का प्रकाशन करने लगे। इन्होंने नीतिप्रकाश सभा की भी स्थापना की थी। ये स्वामीजी के विचारों से अत्यधिक प्रभावित थे, यद्यपि विधिवत् आर्यसमाज के सभासद कभी नहीं बने।

२२. यह कोठी मेरठ के एक कलेक्टर प्लौडर साहब के स्मारक रूप में यूरोपियन लोगों के ठहरने के लिये ही बनाई गई थी।

२३. इस अवसर पर उपस्थित मेरठ के प्रमुख व्यक्तियों में स्वामीजी के जीवनचरित लेखक पं. घासीराम के पिता लाला द्वारिकादास तथा 'फाउन्टेन हैड ऑफ रिलीजन' शीर्षक विख्यात ग्रन्थ के लेखक स्व. गंगाप्रसाद के पितामह श्री लाला फकीरचन्द के नाम उल्लेखनीय हैं।

२४. सहारनपुर निवासकाल में अम्बहटा (जिला सहारनपुर) निवासी मुन्शी चण्डीप्रसाद ने

स्वामीजी से विभिन्न विषयों पर अनेक प्रश्न पूछे, जिनका संतोषप्रद उत्तर उन्हें मिला। इन प्रश्नोत्तरों के लिये द्रष्टव्य पं. लेखराम रचित जीवन चरित पृ. ३०३-३१७

२५. देवबंद (जिला सहारनपुर) स्थित दारूल उलूम (इस्लाम का प्रसिद्ध धार्मिक शिक्षण संस्थान) के संस्थापक मौलाना मुहम्मद कासिम नौनतवी के अतिरिक्त दिल्ली के मौलवी अब्दुल मंसूर भी इस्लाम के प्रवक्ता के रूप में इस मेले में उपस्थित थे।

२६. पादरी टी. जे. स्काट (पूरा नाम टामस जेफरसन स्काट) का जन्म १८३५ ई. में संयुक्त राज्य अमेरिका में हुआ। १८६३ ई. में ये भारत आये तथा अमेरिका के Methodist Episcopal Church के प्रतिनिधि रूप में बरेली में रहे। कालान्तर में ये बरेली के थियोलोजिकल सेमिनरी के प्रिंसिपल पद पर रहे। उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। स्वामीजी से इनका अत्यन्त प्रीतिभाव था और वे इन्हें भक्त स्काट कहा करते थे। पादरी स्काट की सहायता के लिये पादरी नोबिल, पादरी इ. डब्लू. पार्कर तथा पादरी जॉनसन भी चांदापुर में उपस्थित थे।

२७. आर्य धर्म के प्रवक्ता के रूप में स्वामी दयानन्द के सहायक के रूप में मुन्शी इन्द्रमणि को भी रक्खा गयाथा। मौलवी लोगों ने प्रस्ताव उपस्थित किया कि काशी निवासी पं. लक्ष्मीदत्त शास्त्री (अध्यापक शाहजहांपुर) को भी आर्य धर्म के प्रवक्तामण्डल में सम्मिलित किया जावे। इस पर स्वामीजी ने आपत्ति करते हुए कहा कि अन्य मतावलम्बियों को यह तय करने का अधिकार नहीं है कि वैदिक धर्म का पक्ष कौन कौन पेश करेंगे। पं. लक्ष्मीदत्त शास्त्री पुराण मतावलम्बी थे, इस लिये मौलवी लोग उन्हें स्वामीजी के साथ हिन्दू धर्म के प्रवक्ता के रूप में बैठा कर विशुद्ध आर्य मत के प्रतिनिधि स्वामी दयानन्द एवं पौराणिक मत के समर्थक पं. लक्ष्मीदत्त शास्त्री के पारस्परिक विरोध का आनन्द लेना चाहते थे। इस पर स्वामीजी ने स्पष्ट कर दिया कि आर्य (हिन्दू) लोगों में कुछ हमारे पक्ष में सम्मति रखते होंगे और कुछ हमसे विरुद्ध, परन्तु आपको किसी अवस्था में भी हमारे धर्म में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। इस पर मौलवी लोग चुप हो गये।

२८. तत्कालीन ब्रिटिश सरकार।

२९. यह संकल्प वाक्य निम्न है—ओं तत्सत् श्री ब्रह्मणो द्वितीये प्रहरार्द्धे वैवस्वत मन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे आर्यावर्तान्तरैकदेशऽमुक नगरेऽमुक संवत्सरायनर्तुमास पक्ष दिन नक्षत्र लग्न मुहूर्त्तेऽत्रेवं कार्यं कृतं क्रियते वा।

३०. स्वामी दयानन्द प्रतिपादित मुक्ति तथा उसके साधनों के सम्बन्ध में द्रष्टव्य—सत्यार्थ-प्रकाश का नवम समुल्लास।

३१. चांदापुर के इस शास्त्रार्थ का विवरण 'सत्यधर्म विचार' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। द्रष्टव्य—दयानन्द शास्त्रार्थसंग्रह। (सम्पादक डा. भवानीलाल भारतीय) में मेला चांदापुर का प्रकरण पृ. ७१-१०४ सं. २०२९ का द्वितीय संस्करण। □□

पांच नदियों के देश में

दयानन्द सरस्वती का पंजाब में आगमन इस प्रदेश के लिये एक युगान्तरकारी घटना थी। पांच नदियों का यह देश आर्यावर्त का शीर्ष स्थानीय है। इसी पुण्य भूमि में किसी समय वैदिक चिन्तन के प्रचार एवं प्रचार के लिये ऋषि मुनियों ने आरण्यक संस्कृति का प्रवर्त्तन किया था। नूतन विचारों तथा प्रगतिशील जीवन दर्शन को स्वीकार करने में इस प्रान्त के लोग सदा से उत्सुक रहे हैं। भारत की पश्चिमोत्तर सीमा से आने वाले विदेशी आक्रमणकारियों का सामना सर्व प्रथम पंजाब के निवासियों को ही करना पड़ा था। देश विभाजन से पूर्व यहां आबादी की दृष्टि से मुसलमानों का बाहुल्य रहा। सिक्ख मत को जन्म देने का श्रेय भी इस प्रान्त को है। गुरुनानक के प्रशान्त, प्रभविष्णु और उदार उपदेशों के साथ साथ गुरु गोविन्दसिंह की ओज और तेज युक्त वाणी ने भी पंजाब वासियों को प्रभावित किया था।

स्वामी दयानन्द के आने से पूर्व पंजाब का सार्वजनिक जीवन विभिन्न संस्कृतियों तया विचारधाराओं के घात प्रतिघात के दौर से गुजर चुका था। ब्रह्मसमाज के अनुयायी पंजाब के पठित एवं प्रबुद्ध वर्ग के लोगों को अपनी विचारधारा से प्रभावित कर रहे थे।[1] नवीनचन्द्र राय के नेतृत्व में पंजाब के ब्राह्म लोग यहां के हिन्दू समाज को धार्मिक अंधविश्वासों तथा सामाजिक कुरीतियों से मुक्त कराने के लिये प्रयत्नशील थे। ब्रिटिश सत्ता के पंजाब में सुदृढ़ हो जाने के पश्चात् ईसाई प्रचारकों की गतिविधियां भी बढ़ रही थीं। पंजाब के मिशन स्कूलों में शिक्षकों के रूप में उन बंगाली ईसाइयों को प्राथमिकता दी जाने लगी, जो थोड़े समय पूर्व ही धर्म परिवर्तन कर ईसाई बने थे।[2] इस प्रान्त के शिक्षा क्षेत्र में ईसाइयों का वर्चस्व निरन्तर बढ़ रहा था। अंग्रेजी हकूमत की स्थापना के साथ मुसलमानों का राजनैतिक प्रभुत्व तो समाप्त हो गया था, परन्तु बहुमत में होने तथा शताब्दियों से इस प्रदेश में हिन्दुओं के साथ रहने के कारण उनका हिन्दू समाज को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करना स्वाभाविक ही था। खान पान, वेशभूषा, आकृति प्रकृति से पंजाब के हिन्दुओं और मुसलमानों में अन्तर करना कठिन था।

एक ओर ईसाइयों का प्रचारक वर्ग पंजाब के हिन्दुओं को उनकी पुरातन सांस्कृतिक मान्यताओं से हटा कर अपनी ओर झुकाने के लिये प्रयत्नशील था, तो इसी प्रान्त के ब्रह्म-समाजी उन्हें एकेश्वरवादी बनाकर निराकार ईश्वरोपासना की ओर प्रेरित कर रहे थे। इसी समय लुधियाना को केन्द्र बना कर धार्मिक और सामाजिक सुधारों का शंखनाद करने वाले मुन्शी कन्हैयालाल अलखधारी ने पंजाब में नवीन जागृति उत्पन्न कर दी। १८६० तथा १८७० के बीच के दशक में अलखधारी ने पंजाब का व्यापक भ्रमण किया। नुकीली लेखनी और तेज जबान के धनी अलखधारी ने एकाकी सुधारक के रूप में पंजाब में तहलका मचा दिया।[3] पंजाब के लोगों को दयानन्द सरस्वती के प्रखर व्यक्तित्व से परिचित कराने का श्रेय अलखधारी को ही है।[4]

निश्चय ही पंजाब की भूमि रूढ़िवाद तथा गतानुगतिकता से मुक्त रही है। विभिन्न विचारधाराओं को उन्मुक्त भाव से आत्मसात करने की क्षमता यहां के लोगों में सदा से ही थी। फलतः दयानन्द ने भी अपने वैदिक चिन्तन के बीज को इसी उर्वराभूमि में बोया, जो समय पाकर आर्यसमाज के विशाल वटवृक्ष के रूप में लहलहाने लगा और इस प्रान्त के निवासियों के लिये सुखद छाया का कारण बना। इतिहास इस बात का साक्षी है कि पंजाब ने दयानन्द की शिक्षाओं, धारणाओं तथा आस्थाओं को जिस निष्ठा एवं विश्वास के साथ स्वीकार कर उन पर आचरण करना आरम्भ किया उसकी मिसाल अन्यत्र दुर्लभ है। ऐसा होना स्वाभाविक ही था। उनके गुरु दण्डी विरजानन्द भी तो उसी भूमि की सन्तान थे, जिन्होंने आर्ष ज्ञान की ज्योति जला कर मानवता का पथ आलोकित किया था तथा भारतीय धर्म, अध्यात्म, दर्शन तथा चिन्तन को एक नवीन दिशा दी थी।

गत अध्याय में हम देख चुके हैं कि दिल्ली दरबार के समय मुन्शी कन्हैयालाल अलखधारी तथा पंजाब के अन्य कतिपय प्रतिष्ठित पुरुषों ने स्वामीजी से पंजाब में पधारने की प्रार्थना की थी। इसी आग्रह को ध्यान में रखते हुए स्वामी दयानन्द वैशाख कृष्णा द्वितीया १९३४ वि. ३१ मार्च १८७७ शनिवार को लुधियाना पहुंचे। नगर से बाहर लाला बंशीधर वैश्य के बाग में उनके निवास की व्यवस्था की गई तथा मुन्शी जटमल खजांची के मकान पर उनके व्याख्यान होने लगे। एक सप्ताह तक उनके व्याख्यान हुए और आठवें दिन शंका समाधान करने का निश्चय हुआ किन्तु कोई व्यक्ति प्रश्नोत्तर के लिए नहीं आया। लुधियाना ईसाई गतिविधियों का केन्द्र रहा है। इस नगर में उनकी विभिन्न प्रवृत्तियां बहुत समय से चल रही थीं। फलतः यहां अनेक ईसाई पादरी निवास करते थे। इनमें से एक पादरी बेरी साहब से स्वामीजी की आत्मीयता थी। वे अनेक बार स्वामीजी के उपदेशों में भी उपस्थित हुए तथा उन्होंने महाराज को बाइबिल की एक प्रति भेंट स्वरूप प्रदान की। लुधियाना के सहायक न्यायिक आयुक्त (Asstt. Judicial Commissioner) श्री कारस्टीफेन से स्वामीजी का पुराण वर्णित उन गाथाओं के सम्बन्ध में विचार विमर्श हुआ जिनके आधार पर कृष्ण के चरित्र पर विभिन्न प्रकार के लांछन लगाने का अवसर पादरी वर्ग को मिलता रहा है। इस सम्बन्ध में स्वामीजी ने वस्तुस्थिति को स्पष्ट करते हुए बताया कि वास्तव में कृष्ण का वही चरित्र प्रामाणिक और मान्य है, जो महाभारत में, उनके ही समकालीन, कृष्ण द्वैपायन व्यास की लेखनी से उद्भूत हुआ है।[५] पुराण वर्णित कृष्ण तो उस युग के हैं जब कि अवतारवाद का सिद्धान्त भारतीय धर्म में प्रविष्ट हो चुका था तथा कृष्ण के ऐतिहासिक और आर्य मर्यादाओं के अनुकूल जीवन यापन करने वाले आदर्श जीवन के स्थान पर, लोकोत्तर चमत्कारयुक्त नाना मिथ्या गाथाओं एवं प्रवादों को उनके साथ जोड़ दिया गया था। निश्चय ही राम, कृष्ण आदि आर्य संस्कृति के ज्योतिर्धर महापुरुषों के लोकरंजनकारी एवं अनुकरणीय चरित्र के साथ पौराणिक गाथाओं के कारण जो विभिन्न कलुषित एवं गर्हित प्रसंग जुड़ गये थे, उन्हें हटा कर आर्य मर्यादाओं के अनुपालक इन महाजनों के प्रोज्ज्वल रूप को पुनः प्रतिष्ठित करने का श्रेय साधु शिरोमणि दयानन्द को ही है।

स्वामी दयानन्द की विवेचना शैली की एक अन्य विशेषता भी थी। वे यह जानते थे कि ईसाई प्रचारक हिन्दू धर्म की उन मान्यताओं और धारणाओं के प्रति आक्रमणात्मक रवैया

अपनाते हैं जो वस्तुतः दुर्बल तथा युक्ति एवं तर्क का प्रहार सहन करने में असमर्थ होती हैं। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर वे भारतीय धर्म में कालान्तर में उत्पन्न हुई दुर्बलताओं को स्पष्ट रूप से, साथ ही बड़ी दृढ़ता से अस्वीकार करते हुए यह घोषित कर देते थे कि उन्हें धर्म का वही पुरातन रूप मान्य है, जो सर्वथा निष्कलुष, प्रोज्ज्वल तथा दिव्य रहा है। मध्यकाल में उसके साथ जुड़ जाने वाली भ्रान्तिपूर्ण, अवैज्ञानिक तथा अंधविश्वासपूर्ण धारणाओं को वे किसी भी रूप में स्वीकार नहीं करते थे। साथ ही वे यह भी जानते थे कि हिन्दू धर्म के इन जड़ विश्वासों और मूढ़तापूर्ण आचार अनुष्ठानों रूपी दुखती रग पर पादरी लोग हाथ धरकर जब इस धर्म के अनुयायियों को लज्जित और पीड़ित करते हैं, तो उससे उबरने का एक उपाय यह भी है कि हिन्दू धर्म के प्रवक्ताओं को भी यदा कदा उसी प्रकार आक्रामक रुख अख्तियार करना चाहिए और बदले में ईसाइयत के द्वारा प्रतिपादित और पोषित नाना अधंविश्वासों और अवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर प्रबल धावा बोलना चहिए। इसका फल यह होगा कि आक्रमणकारी स्वयं अपनी कमजोरी को ही अनुभव करेगा और वह अप्रतिभ हो जायगा। इसी नीति का अनुसरण कर स्वामीजी ने कारस्टीफेन महोदय से कहा "जो लोग कृष्ण के पुराण वर्णित चरित्र पर आक्षेप करते हैं, उनका स्वयं का धर्म भी बहुत युक्तिसंगत तथा बुद्धि के अनुकूल बातें नहीं कहता। जो लोग यह मानते हैं कि ईश्वर का आत्मा कबूतर के रूप में उतरता है, उन्हें कृष्ण के लोकोत्तर चरित्र पर आक्षेप करने का क्या अधिकार है?'

स्वामी दयानन्द जब पौराणिक अन्धविश्वासों का दृढ़ भाव से खण्डन करते थे, तो सर्वत्र उनके विरुद्ध वातावरण बन जाता। पुराण पन्थी लोग यह प्रचारित करने लगते कि इस देव द्वेषी नास्तिक का मुख देखना भी पाप है। स्वामीजी तो मानापमान की स्थिति से ऊपर उठ चुके थे। जब लुधियाना नगर में उनके व्याख्यान को सुनने आये एक ब्राह्मण ने स्वामीजी की तीव्र आलोचना से क्षुब्ध होकर अपने साथी से यही बात कही, तो महाराज ने भी इसका कुछ भी बुरा न मान कर सहज भाव से कहा, "भाई, मेरे मुख में तो ऐसी कोई विशेषता नहीं है, जो तुम्हें पीड़ा पहुंचाती हो। यदि मुख न देखना चाहते तो मत देखो, कम से कम मेरे पीछे ही खड़े होकर मेरी बातों को तो सुनो, जो तुम्हारे हित के लिये ही कही जा रही हैं।"

इसी नगर की कुछ अन्य घटनायें भी उल्लेखनीय हैं। स्वामी दयानन्द अब अपने व्याख्यानों और वार्तालापों में लोक भाषा हिन्दी का ही प्रयोग करते थे। इससे अनेक पण्डितों ने यह धारणा बना ली थी कि सम्भवतः स्वामीजी को संस्कृत सम्भाषण में व्युत्पन्नता प्राप्त नहीं है। एक ऐसा ही शंकाशील ब्राह्मण उनके निकट आया और संस्कृत में वार्तालाप करने लगा। महाराज भी प्रौढ़ संस्कृत शैली में उसे उत्तर देते रहे। तब जाकर उसे विश्वास हुआ कि स्वामीजी संस्कृत सम्भाषण में अत्यन्त पटु हैं। स्वामीजी ने वार्तालाप का उपसंहार करते हुए कहा, "महाशय अब तो आपको विश्वास हो गया होगा कि संस्कृत में बोलने की क्षमता मुझ में है। मैं जो इसका अत्यल्प प्रयोग करता हूँ, इसका कारण यही है कि जन जन तक अपनी बात को पहुँचाने के लिये लोक भाषा ही एक सशक्त माध्यम होता है।" देश में प्रचलित भूतप्रेतादि के विभिन्न मिथ्या विश्वासों का खण्डन कर लोगों में बौद्धिक चिन्तन तथा तर्कमूलक अवधारणाओं को जागृत करने हेतु वे प्रयत्नशील रहते थे। इसी दृष्टि से अन्होंने एक दिन दर्शकों को एक विचित्र प्रयोग दिखा कर भूतप्रेतादि की मिथ्या धारणाओं का खण्डन किया।

एक कमरे के दोनों ओर के दो ताकों में दीपक जलवा कर रख दिये गये। स्वामीजी ने पहले एक ताक का दीपक बुझा दिया, फिर दूसरे का भी बुझा दिया। जब दूसरे ताक पर रक्खा दीपक बुझ गया तो पहले ताक का दीपक स्वयमेव जल उठा और जब प्रथम को बुझाया गया तो दूसरे ताक का दीपक जलने लगा। यह आश्चर्ययुक्त प्रयोग दिखा कर स्वामीजी ने बताया कि पदार्थ विद्या के नाना रहस्यों को न समझ कर हम भूत प्रेतों की मिथ्या कल्पना कर बैठते हैं। इसी प्रसंग में उन्होंने अनेक मानसिक तथा काम सम्बन्धित जटिलताओं से उत्पन्न उन्मादादि रोगों को प्रेत बाधा समझ लेने का भी खण्डन किया।

ईसाई पादरियों के चंगुल में फंस कर अपने धर्म का परित्याग कर देने वालों को निष्ठापूर्वक स्वधर्म में ही रखने की गौरवपूर्ण परम्परा का प्रारम्भ स्वामी महाराज ने ही किया था। इसका उदाहरण इस नगर में उस समय उपस्थित हुआ, जब कि ईसाइयों के चक्कर में पड़ कर स्वधर्म को तिलाञ्जलि देने वाला रामशरण नामक एक गौड़ ब्राह्मण स्वामीजी के उपदेशों को सुन कर बपतिस्मा लेने से विरत हो गया। पादरी लोगों को इससे निराशा तो हुई, किन्तु वे समझ गये कि स्वामी दयानन्द के रहते भोले भाले हिन्दुओं को मुक्तिदाता मसीह की शरण में ले आना अब अधिक सुगम नहीं है।[६]

दो सप्ताह से कुछ अधिक समय इस नगर में व्यतीत कर महाराज वैशाख शुक्ला ६ वि. सं. १९३४ तदनुसार १९ अप्रैल १८७७ गुरुवार को तत्कालीन अविभाजित पंजाब की राजधानी लाहौर पहुँचे। रेलवे स्टेशन पर ब्रह्मसमाज के सभासदों के अतिरिक्त पं. मनफूल,[७] कोहेनूर समाचार पत्र के स्वामी मुन्शी हरसुखराय भटनागर आदि इस प्रान्त के गण्यमान्य पुरुष उनकी अगवानी के लिये उपस्थित थे। लाहौर में जिन लोगों ने स्वामीजी को आमंत्रित किया था, उनमें ब्रह्मसमाज के अनुयायी भी सम्मिलित थे। ऐसा करने में उनका एक विशिष्ट प्रयोजन था। वे यह जानते थे कि स्वामी दयानन्द धर्म एवं समाज संशोधन की लगभग वही बातें उपदिष्ट करते हैं, जो ब्राह्मत के भी अनुकूल हैं। उनकी धारणा थी कि यदि दयानन्द जैसा तेजस्वी, चरित्रवान् तथा प्रभावी व्यक्तित्व का धनी महापुरुष उनके सिद्धान्तों के अनुमोदन में अपनी वक्तृतायें प्रस्तुत करेगा, तो ब्राह्मत के अनुयायियों की संख्या शीघ्र ही बढ़ जायगी।

दीवान रतनचन्द दाढ़ीवाले के बाग में उनके निवास की व्यवस्था की गई। उनका प्रथम व्याख्यान बावली साहब में वैशाख शुक्ला त्रयोदशी बुधवार, २५ अप्रैल १८७७ को सायं-काल ६ बजे से ८ बजे तक हुआ। इस व्याख्यान में उन्होंने वैदिक सिद्धान्तों की व्यापक व्याख्या करने के पश्चात् वेद वर्णित कतिपय रहस्यमूलक आख्यायिकाओं के न समझने से उत्पन्न भ्रान्तियों का दिग्दर्शन कर बताया कि गौतम-अहल्या तथा ब्रह्मा के स्वपुत्री गमन आदि की कथाओं का वास्तविक अभिप्राय क्या है?[८] दूसरा व्याख्यान भी २७ अप्रैल को उसी स्थान पर हुआ। इसमें उपस्थित लोगों की संख्या पहले से भी अधिक थी। वर्ण व्यवस्था का वास्तविक स्वरूप बताने के पश्चात् वक्ता ने अस्पृश्यता तथा बालविवाह जैसी सामाजिक बुराइयों की आलोचना की। लाहौर से प्रकाशित होने वाले पत्रों ने व्याख्यानों का बहुलांश उद्धृत किया।[९] परन्तु आश्चर्य यह है कि ब्रह्मसमाज के जिन अनुयायियों का स्वामीजी को

लाहौर में आमंत्रित करने में हाथ था, अब वे ही उनके आतिथ्य सत्कार से हाथ खींचने लगे। वस्तुस्थिति को जानने के लिये कुछ आवश्यक तथ्य लिखे जाने आवश्यक हैं।

बावली साहब में दिये गये व्याख्यानों के पश्चात् महाराज ने अनारकली बाजार स्थित ब्राह्ममन्दिर में दो व्याख्यान दिये। ब्राह्म लोगों की धारणा थी कि स्वामीजी के व्याख्यान सर्वांश में उनके सिद्धान्तों के अनुकूल ही रहेंगे, परन्तु स्वतन्त्रचेता संन्यासी से यह अपेक्षा करना कि वह स्वस्वीकृत वैदिक मन्तव्यों की उपेक्षा कर ब्राह्ममत के अनुकूल बातें ही कहेगा, अनुचित था। इस बार स्वामीजी ने अपने व्याख्यानों में वेदो को सर्वोपरि प्रमाण मानने तथा उसके ईश्वरोक्त ज्ञान होने की पुष्टि की तथा साथ ही पुनर्जन्म एवं आवागमन के सिद्धान्त को युक्ति सिद्ध घोषित किया। ब्राह्म लोगों को वेद का ईश्वर कर्त्तृत्व तथा स्वतः प्रमाणत्व एवं आवागमन के सिद्धान्त अभीष्ट नहीं थे। वे तो राममोहन राय के सिद्धान्तों से बहुत दूर हट कर वेदों की प्रामाणिकता के मत को तिलाञ्जलि दे चुके थे, साथ ही ईसाई और मुसलमानी मत के अनुकरण पर उन्होंने पुनर्जन्न के वैदिक सिद्धान्त को भी ठुकरा दिया था। फलतः स्वामीजी द्वारा, उन्हीं की व्याख्यान वेदी से वेद के स्वतः प्रमाणत्व तथा पुनर्जन्म का प्रतिपादन उन्हें बहुत अखरा।

ब्राह्म लोगों ने इस प्रकार स्वामी दयानन्द के द्वारा व्यक्त किये गये विचारों से न केवल अपनी असहमति ही प्रकट की, अपितु लाहौर में स्वयं द्वारा उन्हें आमंत्रित किये जाने के तथ्य की उपेक्षा करते हुए उन्होंने स्वामीजी के आतिथ्य सत्कार का दायित्व भी त्याग दिया। यहाँ तक ही होता, तो भी ग़नीमत थी। एक कदम आगे बढ़ कर उन्होंने स्वामीजी से यह भी कह दिया कि अब तक उनके सेवा सत्कारादि में जो धन उनकी संस्था की ओर से व्यय हुआ है, उसे लौटा दिया जाय।

स्वामी दयानन्द के स्पष्ट कथन से केवल ब्राह्म लोग ही रुष्ट हुए हों, सो बात नहीं थी। उनके विचारोत्तेजक किन्तु पौराणिक सिद्धान्तों के खण्डनपरक व्याख्यानों से उस समाज में भी खलबली मच गई, जो गतानुगतिकता का प्रबल पोषक तथा नवीन भावों एवं विचारों का कट्टर विरोधी था।[१०] जब इस वर्ग के लोग स्वामीजी का अनिष्ट साधने में असफल रहे, तो उनके पास एक मात्र ओछा हथियार यही रह गया कि वे उन्हें उस स्थान से निकलवाने की चेष्टा करते, जहाँ वे अब तक ठहरे हुए थे। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिये वे दीवान रतनचंद दाढ़ीवाले के पुत्र दीवान भगवानदास के पास गये और उन्हें प्रेरित किया जिससे कि वे हिन्दू धर्म के शत्रु दयानन्द को अपने बाग में रहने का आदेश निरस्त कर दें। ऐसा ही हुआ और स्वामीजी को इस स्थान का भी त्याग करना पड़ा।

दयानन्द को अपनी सत्यप्रियता, न्याय के प्रति दृढ़ आस्था तथा धर्म के लिये प्रगाढ़ निष्ठा का क्या प्रतिदान मिल रहा है? आज लाहौर जैसे नगर में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो उस निरीह किन्तु अनन्य सत्यनिष्ठा वाले संन्यासी के भोजन एवं निवास की व्यवस्था कर उसके विचारों को जनसाधारण तक पहुँचाने में सहायक बने। लाहौर के वे ब्रह्मसमाजी, जो अपने आपको प्रगतिशील एवं उदार धार्मिक एवं सामाजिक नीतियों का पक्षपोषक समझते हैं, आज उनसे रुष्ट हैं तथा उनके आतिथ्य भार को वहन करने के पूर्व प्रदत्त वचन से भी हट रहे हैं।

इधर पौराणिक समुदाय का रोष तो स्पष्ट ही है। जो व्यक्ति मूर्तिपूजा, अवतारवाद, मृतक श्राद्ध, प्रचलित तीर्थ प्रणाली आदि का मुखर विरोध कर वर्ण व्यवस्था को गुणकर्माश्रित घोषित करता है, तथा मनुष्य मात्र को वेदाध्ययन का अधिकारी बताता है, उससे तालमेल कैसे स्थापित किया जा सकता है ?

तथापि क्या यह सुखद आश्चर्य नहीं है कि इस बार जिस व्यक्ति ने स्वामीजी को अपनी कोठी पर रहने के लिए आमंत्रित किया वह और कोई नहीं, धर्म विषयक मामलों में अत्यन्त सहिष्णु तथा उदारभावापन्न पुरुष खानबहादुर डा. रहीम खां थे। आर्यसमाज प्रवर्तक के उदात्त एवं मानवतावादी दृष्टिकोण को हृदयंगम करने में अक्षम लोग इस बात का अनुमान भी नहीं कर सकते कि दयानन्द की प्रगाढ़ सत्यनिष्ठा ने उन्हें आर्य धर्मेतर लोगों में भी पर्याप्त लोकप्रिय तथा श्रद्धास्पद बना दिया था। यही कारण है कि सैयद अहमद खां तथा डा. रहीम खां जैसे उदार मुसलमान तथा डा. टी. जे. स्कॉट जैसे धर्म प्रचारक पादरी भी उनका पूर्ण सम्मान करते थे तथा उनसे सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखना अपने लिये गौरव की बात समझते थे।

दयानन्द के चरित्र की सर्वाधिक विशिष्टता उनकी सत्य निष्ठा ही थी। सिद्धान्तों के मामले में वे किसी भी प्रकार की ढील देने तथा समझौता करने के विरुद्ध थे। एक दिन पं. मनफूल ने उनसे कहा कि यदि आप मूर्तिपूजा का खण्डन छोड़ दें तो जनसाधारण भी आपसे प्रसन्न रहेंगे तथा महाराजा काश्मीर आपका शिष्यत्व ग्रहण कर लेंगे। सम्भवतः स्वामीजी की चारित्रिक दृढ़ता से पं. मनफूल सर्वथा अपरिचित ही थे, तभी तो उन्हें ऐसा कहने का साहस हुआ था। स्वामीजी ने सहज भाव से उत्तर दिया, **"भला मैं, काश्मीर के राजा की प्रसन्नता की चिन्ता करूं या ब्रह्माण्ड के अधिपति उस परमात्मा की, जिसकी आज्ञाओं पर चलना तथा अन्यों को चलने की प्रेरणा देना ही मैंने स्वजीवन का लक्ष्य बनाया है।"**

लाहौर में ही उनकी भेंट पादरी डा. डब्लू. हूपर से हुई। पादरी साहब संस्कृत के अच्छे जानकार तथा लाहौर स्थित ईसाई मत की डिविनिटी कालेज के प्रिंसिपल थे। वार्तालाप में स्वामीजी ने पादरी साहब को स्पष्ट किया कि वैदिक साहित्य में अश्वमेध, गोमेध आदि जिन यज्ञों का उल्लेख हुआ है, वे मूलतः पशुहिंसा विधायक नहीं हैं।[११] परवर्ती काल में अवश्य यज्ञों के नाम पर पशुहिंसा प्रचलित हो गई थी। उन्होंने वर्णव्यवस्था सम्बधी अपनी धारणा को स्पष्ट करते हुए बताया कि यह व्यवस्था पूर्णतः सामाजिक आवश्यकताओं को आधार बना कर प्रवर्तित की गई थी, अतः इसे जन्माश्रित मानना उचित नहीं है।

जैसा कि हम देख चुके हैं, स्वामीजी ने वेद भाष्य के लेखन तथा प्रकाशन का कार्य द्रुत गति से आरम्भ कर रक्खा था। अब उनकी यह धारणा बनी कि यदि पंजाब सरकार से वेद भाष्य के कार्य में समुचित आर्थिक सहायता प्राप्त हो सके, तो इस महत्त्वपूर्ण साहित्यिक अनुष्ठान को बिना अधिक विलम्ब किये निर्विघ्न पूरा किया जा सकेगा। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर उन्होंने पंजाब के लेफ्टिनेंट गवर्नर से भेंट करने का विचार किया। भेंट की तिथि व समय पूर्व ही निश्चित किया जा चुका था। १४ मई १८७७ को स्वामीजी की भेंट पंजाब के सर्वोच्च शासक गवर्नर से हुई।[१२] उन्होंने अपने वेद भाष्य के लिए राज्यकोष से समुचित

आर्थिक सहायता दिये जाने की अपील करते हुए गवर्नर से यह भी अनुरोध किया कि पंजाब के विद्यालयों में संस्कृत के पठन पाठन में जो दोष हैं, उन्हें दूर किया जाय तथा एक निर्दोष पाठ विधि का प्रचलन हो। गवर्नर के अनुरोध पर उन्होंने संस्कृत की एक नवीन पठन पाठन प्रणाली तैयार कर सरकार को विचारार्थ भेजी, किन्तु उसका क्रियान्वयन नहीं हो सका।[१३]

जहां तक वेद भाष्य की सहायता का सम्बन्ध था, राज्य सरकार ने इस विषय में निर्णय करने का दायित्व पंजाब के शिक्षा विभाग को सौंप दिया। अब उनके वेदभाष्य के सम्बन्ध में संस्कृत विद्वानों से सम्मतियां मंगाई गईं। सम्मति भेजने वालों में गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज बनारस के प्रिंसिपल श्री आर. टी. एच. ग्रिफिथ, प्रेसीडेंसी कालेज कलकत्ता के प्रिंसिपल श्री सी. एच. टॉनी, पं. गुरुप्रसाद मुख्य पण्डित, ओरियंटल कालेज लाहौर के द्वितीय प्राध्यापक पं. हृषीकेश भट्टाचार्य तथा संस्कृत कॉलेज लाहौर के सहायक प्राध्यापक पं भगवानदास के नाम उल्लेखनीय हैं। स्वामीजी का वेदभाष्य प्राचीन काल के ब्राह्मण ग्रन्थों की वेदार्थ पद्धति तथा निरुक्त प्रतिपादित व्युत्पत्तिप्रधान शैली पर लिखा जा रहा था। अतः ग्रिफिथ तथा टॉनी जैसे संस्कृतज्ञ, जो स्वयं मैक्समूलर एवं विल्सन आदि पाश्चात्य वेद-विपश्चितों की अर्थप्रणाली को ही मान्यता देते थे, भला स्वामीजी के वेदभाष्य से कैसे सहमत होते? इसी प्रकार याज्ञिक पद्धति को ही सर्वोपरि प्रमाण मान कर वेदभाष्य लिखने वाले सायणादि मध्यकालीन भाष्यकारों की पद्धति को प्रश्रय देने वाले पं. गुरुप्रसाद एवं पं. हृषीकेश भट्टाचार्य जैसे विद्वानों के लिये भी यह सम्भव नहीं था कि वे महाराज की वेद-व्याख्या से अपनी सहमति व्यक्त करते। फलतः उपर्युक्त विद्वानों ने स्वामी भाष्य के प्रति अपनी विपरीत सम्मति व्यक्त करते हुए यह आरोप लगाया कि यह भाष्य न तो वेद के अन्य प्राचीन (वस्तुतः मध्यकालीन, याज्ञिक प्रणाली को स्वीकार करने वाले) भाष्यों का ही अनुसरण करता है और न इसमें मंत्रों के वस्तुपरक अर्थ ही किये गये हैं। इन समीक्षकों का यह भी कहना था कि स्वामीजी ने अनेकत्र मंत्रों के स्वाभिप्राय सिद्ध करने वाले, कपोल-कल्पित अर्थ किये हैं। एतद्देशीय पण्डितों ने तो भाष्य में प्रयुक्त कतिपय व्याकरणिक स्खलनों की भी चर्चा की। जब स्वामीजी को इन आपत्तियों का ज्ञान हुआ तो उन्होंने इनकी विस्तृत समीक्षा करते हुए स्वरचित वेदभाष्य के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन किया।[१४] परन्तु सरकार का निश्चय अडिग रहा, फलतः दयानन्द भाष्य को किसी प्रकार का आर्थिक अनुदान नहीं मिल सका।[१५]

परन्तु स्वामीजी का यह वेदभाष्य सरकारी सहायता का मुखापेक्षी नहीं रहा। प्रकाशन की अवधि में ही सहस्राधिक लोग अग्रिम शुल्क भेज कर भाष्य के मासिक ग्राहक बन गये और इस प्रकार यह बृहत् सारस्वत यज्ञ समाप्ति की ओर अग्रसर होने लगा। वेद भाष्य के ग्राहकों में जहां भारत के उच्चकोटि के विद्वान्, मनीषी तथा विचारक थे, वहां पश्चिम के वेद जिज्ञासुओं ने भी, वेदार्थ में नवीन क्षितिज का उद्घाटन करने वाले इस भाष्य को रुचिपूर्वक अपनाया।[१६] समकालीन वैदिक अध्ययन को दयानन्द की वेदार्थ प्रणाली ने कितना और किस प्रकार प्रभावित किया है, यह तो पृथक् अध्ययन का विषय है।[१७]

लाहौर में पौराणिक वर्ग के नेता पं. श्रद्धाराम फिल्लौरी थे। फिल्लौरी जी की

ख्याति कालान्तर में हिन्दी के सुलेखक तथा वक्ता के रूप में हुई,[१८] किन्तु वैचारिक दृष्टि से वे नितान्त अनुदार तथा संकीर्ण थे। इससे पूर्व वे लुधियाना के समाज सुधारक मुन्शी कन्हैयालाल अलखधारी के सुधारवादी कार्यों का विरोध कर चुके थे।[१९] अब लाहौर में उन्होंने स्वामी दयानन्द के बढ़ते हुए प्रचार का संगठित विरोध करने की दृष्टि से सनातन धर्मरक्षिणी सभा की स्थापना की। इसमें उन्हें पं. भानुदत्त नामक एक अन्य व्यक्ति का सहयोग मिला जो मूलतः सुधारवादी तथा मूर्तिपूजा का विरोधी भी था। यह आश्चर्य ही है कि पं. भानुदत्त लोकप्रवाद से भयभीत होकर स्वामी दयानन्द का विरोध करने में फिल्लौरी का साथ देने लगे।[२०]

लगभग दो मास के सतत प्रचार कार्य के पश्चात् लाहौर का वातावरण आर्यसमाज की स्थापना के लिये नितान्त अनुकूल बन गया। लोग प्रतिमा पूजन के प्रति इतने विरक्त हो गये कि अनेकों ने तो देव विग्रहों को रावी में विसर्जित करना आरम्भ कर दिया।[२१] यद्यपि अनेक पण्डित यदा कदा मनुस्मृति एवं योग वासिष्ठ आदि के उद्धरणों को मूर्तिपूजा के समर्थन में प्रस्तुत भी करते, किन्तु स्वामीजी के लिये उनका समाधान करना कठिन नहीं होता। इसी प्रकार मृतक श्राद्ध की पुष्टि में प्रस्तुत किये गये वेद के 'आयन्तु नः पितरः सोम्यासः'[२२] मन्त्र के वास्तविक अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए स्वामीजी ने सिद्ध कर दिया कि परलोक गत पितरों के लिये कुछ भी इतिकर्त्तव्य शेष नहीं रहता। एक ओर वे मूर्तिपूजा आदि पुराण वर्णित आचारों का खण्डन करते, साथ ही अद्वैतवाद के 'अहंब्रह्मास्मि' आदि तथाकथित महावाक्यों के प्रकरणगत अर्थों को स्पष्ट कर यह भी बताना नहीं भूलते कि उपनिषद् पठित इन वाक्यों का अभिप्राय वह नहीं है, जो शंकर आदि को अभीष्ट रहा था।[२३]

इस प्रकार व्याख्यानों और प्रवचनों के द्वारा जो अनुकूल वातावरण बना उससे लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना का कार्य अधिक सुगम हो गया। अन्ततः ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी १९३४ वि. २४ जून १८७७ रविवार को डा. रहीम खाँ की कोठी में ही आर्यसमाज लाहौर की स्थापना हुई।[२४] इस उपलक्ष्य में स्वयं स्वामी दयानन्द ने सर्व प्रथम ईश्वरोपासना की, पश्चात् हवन हुआ और पुनः आर्यसमाज के स्थापित होने की विधिवत् घोषणा की गई। हम यह देख आये हैं कि बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना के समय २८ नियमों को स्वीकार किया गया था। इनमें जहां सिद्धान्त विषयक नियमों का समावेश था, वहां व्यवस्था सम्बन्धी धाराओं को भी समाविष्ट किया गया था। अब यह अनुभव किया गया कि आर्यसमाज के उन सिद्धान्तों और मन्तव्यों को स्पष्ट रूप में सूत्रित किया जाना चाहिए जो त्रिकालाबाधित हैं, सार्वजनीन तथा सार्वभौम हैं। किन्तु समाज के संचालन तथा उसकी व्यवस्था एवं कार्यपद्धति को पृथकतया निबद्ध किया जाना भी आवश्यक है। अतः आर्यसमाज के दस नियमों अथवा उद्देश्यों को स्पष्टतया परिभाषित किया गया तथा उपनियमों के अन्तर्गत संस्था के संचालन विषयक निर्देशों को संगृहीत किया गया।[२५] आर्यसमाज के ये दस नियम इतने व्यापक एवं सर्व सामान्य हैं कि यदि उन्हें विश्वमानवता का आदर्श घोषणा पत्र कहा जाय, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

आर्यसमाज की नींव आस्तिकता के दिव्य भाव पर आधारित है। स्वामी दयानन्द

के समस्त क्रियाकलापों एवं पुरुषार्थ के पीछे परमसत्ता के प्रति उनकी दृढ़ आस्था का सम्बल ही था, जिसके फलस्वरूप वे अपने विचारों को सफलतापूर्वक प्रचारित कर सके। अतः उनके द्वारा प्रवर्तित आर्यसमाज के लिये यह आवश्यक ही था कि वह विश्वप्रपञ्च के अप्रतिम सूत्रधार परमात्मा के प्रति अपने सुदृढ़ विश्वास की घोषणा करे, तथा एकमेव उनकी उपासना को ही मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य स्वीकार करे। इसी अभिप्राय से आर्यसमाज के प्रथम नियम में विश्व नियन्ता परमेश्वर को समस्त सत्य विद्याओं का मूल उत्स स्वीकार किया गया है। परमसत्ता का स्वीकार किया जाना ही पर्याप्त नहीं था, आवश्यकता इस बात की भी थी कि उस अनिर्वचनीय, दुर्ज्ञेय तथा मन, वाणी से अगोचर ब्रह्म के कतिपय विशेषणों का उल्लेख कर उसे यत्किञ्चित् निर्दिष्ट किया जाता। यही प्रयत्न आर्यसमाज के द्वितीय नियम में किया गया है। यहां ईश्वर के सच्चिदानन्दादि बीस विशेषणों को उल्लिखित कर अखिल मानव समाज के लिये उसे ही एक मात्र आराध्य एवं उपास्य स्वीकार किया गया है। इस प्रकार प्रथम दो नियमों में ब्रह्माण्ड के नियामक परम तत्त्व का सुस्पष्ट निरूपण किये जाने के पश्चात् स्वामी दयानन्द ने यह भी आवश्यक समझा था कि भूमण्डल को सभ्यता का प्रथम पाठ पढ़ाने वाली आर्यजाति के समस्त ज्ञान विज्ञान के आदि स्रोत वेदों के प्रति अपने कर्त्तव्य को सुनिश्चित किया जाय। फलतः आर्यसमाज के तृतीय नियम में वेदों को समस्त सत्य विद्याओं का आदिमूल घोषित करते हुए उसके पठन पाठन, अध्ययन अध्यापन एवं श्रवण श्रावण को आर्य मात्र परम धर्म स्वीकार किया गया।

अवशिष्ट नियमों का सम्बन्ध तो किसी भी प्रकार के मतवाद अथवा विश्वास के साथ नहीं है। चतुर्थ और पञ्चम नियम से स्पष्ट है कि आर्यसमाज के लिये सत्याचरण एवं धर्माचरण को ही चरम महत्त्व दिया गया है। दयानन्द की दृष्टि में धर्म का अभिप्राय भी सत्य के आचरण एवं असत्य के त्याग से ही है।[२६] यहां सत्य एवं धर्म पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। सम्भवतः धर्म की यह एक ऐसी अपूर्व किन्तु महत्त्वपूर्ण व्याख्या है, जिसके अनुसार धर्म एवं सत्य को अन्योन्याश्रित तथा एक दूसरे के अविरुद्ध बताया गया है।

आर्यसमाज का छठा नियम तो इस संगठन के मूल उद्देश्य एवं कार्यक्रम की घोषणा करता है, जिसके अनुसार संसार के सर्वतोमुखी उपकार को ही इस संस्था का प्रथम एवं अन्तिम लक्ष्य माना गया है। इसी नियम से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि आर्यसमाज का कार्यक्षेत्र किसी देश विशेष अथवा जाति, वर्ण एवं सम्प्रदाय की सीमा में आबद्ध न रह कर समस्त जगतीतल तक परिव्याप्त है। इसी प्रकार प्राणिमात्र की शारीरिक, आत्मिक एवं सामाजिक उन्नति को अपना लक्ष्य घोषित कर आर्यसमाज ने अपनी प्रवृत्तियों तथा प्रणालियों को बहुमुखी तथा बहुआयामी बनाया है।

सातवें नियम में एक बार पुनः धर्म की चर्चा हुई है परन्तु यहां अन्यों के प्रति अपने वर्तन को लेकर ही यह पद प्रयुक्त हुआ है। स्वामी दयानन्द के अनुसार अन्यों के प्रति हमारा व्यवहार जहां प्रीति युक्त एवं धर्मानुसार हो, उसका औचित्य पर आधारित होना भी आवश्यक है। अन्य प्राणियों से मनुष्य की भिन्नता का मूल कारण उसकी विचारशीलता, धर्माधर्म का विवेक, प्रबुद्धता तथा नवीन ज्ञान विज्ञान को आत्मसात् करने की उसकी तीव्र ललक ही

है। इस दृष्टि से ज्ञानोपार्जन एवं विद्या प्राप्ति ही उसका प्रमुख ध्येय बन जाता है। आर्यसमाज के आठवें नियम में विद्या की वृद्धि एवं अविद्या के नाश को आर्य मात्र का आवश्यक कर्त्तव्य बताया गया है। मनुष्य के क्रियाकलाप केवल स्वमनोरथों की पूर्त्ति तक ही सीमित रहें, वह केवल उदरंभरी होकर ही जीवनयापन न करे, इसी दृष्टि से नवें नियम में उसे अन्यों की उन्नति को स्वोन्नति के तुल्य समझने के लिये कहा गया है। मनुष्य आत्मकल्याण के लिये चाहे कितना ही पुरुषार्थ कर अपने आपको मानव के परिपूर्ण आदर्श की ओर उन्मुख करता चला जाय, परन्तु अन्ततः वह सामाजिक प्राणी है। स्वहित को अपना इष्ट बना कर भी वह परहितकारी नियमों की उपेक्षा नहीं कर सकता। स्वहित के कार्यों को करने में पूर्ण स्वतन्त्र होते हुए भी उसे सामाजिक हित का तो ध्यान रखना ही होगा और बहु जन हित के लिये यदि उसे अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता के स्वल्पांश की बलि भी देनी पड़े, तो इसके लिये उसे सदा तत्पर रहना होगा; यही आर्यसमाज के दसवें और अन्तिम नियम का प्रतिपाद्य है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आर्यसमाज के नियमों का निर्धारण अत्यन्त सूझ बूझ के साथ किया गया था और ऐसा करते समय इस बात का ध्यान रक्खा गया था कि इस संगठन को समग्र मानव जाति के व्यापक हित और कल्याण के अनुष्ठान का सार्वजनीन मञ्च बनाया जाय। जिस समय आर्यसमाज के नियमों में वेद की मान्यता के सिद्धान्त को प्रविष्ट कराया जा रहा था, उस समय ब्रह्मसमाज के कुछ अनुयायियों ने महाराज से आग्रह किया कि यदि वे अपनी संस्था के नियमों में वेद विषयक मतवाद को स्थान न दें, तो अधिक संख्या में लोग आर्यसमाज में प्रविष्ट होंगे। विशेषतः ब्राह्म मतानुयायियों के लिये आर्यसमाज का सभासद बनना अधिक सुगम हो जायगा। किन्तु दयानन्द के लिये वेद विषयक मन्तव्य को छोड़ना असम्भव था।[२७] वे जानते थे कि वेद के प्रति एतद्देशीय जनसमाज में जैसा श्रद्धा-भाव है तथा सभी मतों एवं सम्प्रदायों के आचार्यगण वेद के सम्मुख नत मस्तक होकर उसके आदेश को जिस प्रकार स्वीकार करते हैं, उसे देखते हुए वेद प्रामाण्य को आर्यसमाज का आधार बिन्दु बनाना सर्वथा उचित ही था। इतना ही नहीं, वे यह भी मानते थे कि वेद-प्रतिपादित धर्म की वैज्ञानिकता, तर्कमूलकता तथा सृष्टिक्रम से अविरुद्धता को देखते हुए इसी के आधार पर न केवल भारतीय समाज को ही, अपितु विश्व मानव को भी एकता के सूत्र में बांधा जा सकता है।

लाहौर आर्यसमाज का प्रथम अधिवेशन तो डा० रहीम खां की कोठी में ही सम्पन्न हुआ।[२८] इसमें स्वामीजी के अतिरिक्त बाबू शारदाप्रसाद भट्टाचार्य ने भी प्रवचन किया था। द्वितीय अधिवेशन १ जुलाई १८७७ रविवार, आषाढ़ कृष्णा पञ्चमी को सत्सभा के स्थान पर हुआ। इस अवसर पर अपना भाषण देते हुए स्वामी दयानन्द ने पुराणों को अप्रामाणिक घोषित किया तथा इन ग्रन्थों में प्रतिपादित साम्प्रदायिक विश्वासों का भी खण्डन किया। यद्यपि सत्सभा के लोग सुधारक मनोवृत्ति के थे, किन्तु पुराणों का खण्डन तो उनके लिए भी असह्य था। फलतः उन्होंने आर्यसमाज ने सदस्यों को लिखित रूप में सूचित कर दिया कि भविष्य में वे अपने अधिवेशनों के लिए किसी अन्य स्थान की व्यवस्था करें। सत्सभा का स्थान आर्यसमाज को उपलब्ध नहीं कराया जायगा। इस स्थिति को देखते हुए ८ जुलाई

१८७७ को अनारकली मुहल्ले में एक मकान २० रुपये मासिक पर किराये लिया गया और वहां नियमित रूप से आर्यसमाज के अधिवेशन होने लगे। जुलाई के अन्त तक इस आर्यसमाज के सदस्यों की संख्या ३०० हो गई थी।

यह तो हम पूर्व ही देख चुके हैं कि आर्यसमाज की स्थापना और उसका संगठन जनतांत्रिक प्रणाली के आधार पर किया गया था। स्वामी दयानन्द की सुचिन्तित धारणा थी कि भारत के मत और सम्प्रदाय गुरुडम की दूषित प्रथा से ग्रस्त हैं। मठाधीशों, महन्तों और मण्डलेश्वरों का धर्म संस्थानों पर एकाधिकार ही अनेक बुराइयों को जन्म देता है। अतः आर्यसमाज के उपनियमों में यह प्रावधान रक्खा गया था कि संस्था के पदाधिकारियों का निर्वाचन प्रजातांत्रिक आधार पर ही होना चाहिए। यह सुखद आश्चर्य की बात है कि जिस समय इस देश के राजनैतिक तथा सामाजिक चिन्तन में जनसत्ताक विचारों की कल्पना करना भी दुष्कर था, उस समय स्वामी दयानन्द ने लोकतांत्रिक आधार पर ही अपने समाज को स्थापित किया।

आर्यसमाज के संगठन में स्वामी दयानन्द अपनी स्थिति को किसी भी अन्य सभासद की तुलना में वरिष्ठ अथवा उच्चतर देखना नहीं चाहते थे। आर्यसमाज लाहौर के एक अधिवेशन में जब शारदाप्रसाद भट्टाचार्य ने यह प्रस्ताव रखा कि स्वामीजी को आर्यसमाज के 'संरक्षक' अथआ 'अधिनायक' के पद पर प्रतिष्ठित किया जाय, तो उन्होंने इसे अमान्य करते हुए स्पष्ट कह दिया कि आर्यों के इस सामाजिक के संगठन में वे कोई विशिष्ट पद स्वीकार नहीं करेंगे। जब प्रस्ताव किया गया कि उन्हें आर्यसमाज के 'परम सहायक' के रूप में सम्बोधित किया जायगा, तो महाराज ने इसका भी प्रतिवाद करते हुए स्पष्ट किया कि यदि उन्हें ही परम 'सहायक' माना जायगा तो विश्वनियन्ता परमात्मा को क्या कह कर पुकारना होगा ? वस्तुतः हमारा परम सहायक तो परमेश्वर ही है। स्वामीजी की यह हार्दिक आकांक्षा थी कि आर्यसमाज के सभासदों में आस्तिकता की उत्कृष्ट भावना सर्वोपरि रूप में प्रतिष्ठित होनी चाहिए। एक बार लाहौर आर्यसमाज के अधिवेशन में जब स्वामीजी का आगमन हुआ, तो उपस्थित जनसमुदाय ईश्वरोपासना को बीच में ही छोड़कर अपने आचार्यप्रवर के प्रति सम्मान प्रदर्शनार्थ उठ खड़ा हुआ। स्वामीजी ने आर्य सभासदों के इस कार्य की तीव्र निंदा करते हुए स्पष्ट कहा कि परमात्मा की उपासना के समय चाहे बड़े से बड़ा व्यक्ति ही क्यों न आ जाय, उपासक समुदाय को स्वकार्य से विमुख नहीं होना चाहिए। ऐसा करना परमात्मा की अवगणना करने के तुल्य है।

पूरे तीन मास लाहौर में व्यतीत कर स्वामी दयानन्द ५ जुलाई १८७७ को निकटवर्ती अमृतसर नगर में आये।[२६] उनके निवास की व्यवस्था सरदार दयालसिंह मजीठिया नामक एक धनाड्य पुरुष ने मियां मोहम्मद जान की कोठी में की, जिसे इसी उद्देश्य हेतु चालीस रुपये मासिक पर किराये ले लिया गया था। कोठी में ही स्वामीजी के व्याख्यान होने लगे। अन्य स्थानों की भांति अमृतसर नगर भी स्वामीजी के व्याख्यानों से आन्दोलित हो उठा। व्याख्यान की समाप्ति पर वे शंका समाधान का समय भी रखते थे। एक दिन अमृतसर में जब एक पण्डित महोदय स्वामीजी के निकट शंका समाधान के लिये उपस्थित हुए किन्तु

उन्होंने स्वामीजी के समक्ष रक्खी कुर्सी पर यह कह कर बैठने से इन्कार कर दिया कि स्वामीजी का आसन तो उस कुर्सी से ऊंचा है, जो उन्हें बैठने के लिए दी गई है। इस पर स्वामी दयानन्द ने विनम्र भाव से उत्तर दिया कि व्याख्यान देने के कारण ही वे ऊंचे मञ्च पर बैठते हैं, यदि व्याख्यान वेदी के सामने रक्खी कुर्सी पर बैठने में वे अपनी अप्रतिष्ठा समझते हैं तो उन्हें इस कुर्सी को पास रक्खी मेज पर रख कर बैठ जाना चाहिए। इससे वे और भी ऊंचे हो जायेंगे। स्वामीजी के कथन में विनोद का पुट तो था ही, किन्तु वे आगन्तुक व्यक्ति को बताना चाहते थे कि विद्वान् आदमी आसन की ऊंचाई या निचाई को महत्त्व नहीं देता। वार्तालाप के प्रसंग में उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि वेद ज्ञान से हीन ब्राह्मण को दान ग्रहण करने का अधिकार शास्त्र नहीं देता। यह विडम्बना ही है कि आज इस देश में निरक्षर ब्राह्मण भी अपने को गर्वपूर्वक द्विज कहता है तथा द्विजोचित सम्मान की अपेक्षा रखता है।

अमृतसर में रहते हुए वे एक दिन के लिए पुनः लाहौर गये[३०] और वहां आर्यसमाज में 'धर्म की आवश्यकता तथा आर्यसमाज के लाभ' विषय पर व्याख्यान दिया। वे पुनः अमृतसर सम्भवतः उसी दिन लौट आये। अमृतसर के घण्टाघर पर भी उनका व्याख्यान हुआ। अन्ततः इस नगर में भी १२ अगस्त १८७७, रविवार को आर्यसमाज स्थापित हो गया। समाज स्थापना का औपचारिक कार्य स्वामीजी के निवास स्थान (मियां मोहम्मद जान की कोठी) पर ही सम्पन्न हुआ। स्वामीजी ने ईश्वरोपासना की तथा यज्ञ कार्य सम्पादित कराया। इसके पश्चात् आर्यसमाज के सभासदों के रूप में पचास व्यक्तियों की नामावली घोषित की गई। पुनः अधिकारियों का निर्वाचन हुआ। श्री शारदाप्रसाद भट्टाचार्य भी इस समारोह में उपस्थित होने लाहौर से आये थे। उन्होंने भी एक सामयिक वक्तृता प्रस्तुत की। थोड़े समय पश्चात् मालवी बंगले नामक मुहल्ले में एक पृथक् मकान आर्यसमाज के लिये किराये पर लिया गया, जहां स्वामीजी द्वारा कराये गये यज्ञ के पश्चात् व्यवस्थित रीति से समाज के साप्ताहिक सत्संग लगने लगे।

अन्य स्थानों की भांति यहां भी स्वामीजी द्वारा किये गये मूर्तिपूजा के प्रबल खण्डन से नगर का पौराणिक वर्ग व्याकुल एवं त्रस्त हो गया। वे लोग शास्त्रार्थ की तैयारी करने लगे। पं. रामदत्त नामक विद्वान् को उन्होंने स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने की सम्मति दी परन्तु पण्डित महोदय ने पौराणिक पक्ष की निर्बलता को पहले ही समझ लिया था, अतः उसने स्पष्ट स्वीकार किया कि वेदों का उन्हें किञ्चित मात्र भी ज्ञान नहीं है। ऐसी स्थिति में वे वेदशास्त्र-निष्णात संन्यासी का साम्मुख्य करने में असमर्थ हैं। परन्तु जब पौराणिक समुदाय उन्हें बरबस शास्त्रार्थ करने के लिये कहने लगा, तो पं. रामदत्त चुपके से हरिद्वार की ओर खिसक गये।

अमृतसर के कमिश्नर श्री एच. परकिंस ने लाला गुरुमुखसहाय के माध्यम से स्वामी जी से भेंट की। वार्तालाप के प्रसंग में विदेशी शासक ने धर्म सुधारक संन्यासी से कहा—आप जिस हिन्दू धर्म की दुर्बलताओं से उसे मुक्त कराना चाहते हैं, वह तो सूत से भी कच्चा है। स्वामीजी आक्षेपकर्ता के अभिप्राय को समझ गये। यद्यपि स्वामी दयानन्द 'हिन्दू धर्म' के नाम से प्रचलित नाना विश्वासों, परस्पर विरोधी आचार विचारों तथा आस्थाओं के पुञ्ज

को 'धर्म' जैसे व्यापक अर्थवत्ता वाले शब्द से अभिहित करना भी अनुचित समझते थे, किन्तु परकीय मतावलम्बी तथा विदेशी सत्ता के प्रतिनिधि द्वारा किये गये व्यंग्य को हृदयंगम कर उन्होंने वैसी ही कटाक्षपूर्ण शैली में उत्तर दिया। उनके कथन का सार यह था कि जिस हिन्दू धर्म को वे कच्चे सूत का धागा समझे बैठे हैं, दरअसल वह लौहदण्ड से भी अधिक पक्का तथा मजबूत है। इस प्रसंग में उन्होंने इस धर्म को उस महासागर से उपमित किया जिसमें नाना भावों और विचारों का वीचि विलास होता रहता है। विभिन्न प्रकार की पूजा उपासनाओं तथा विश्वासों से संकुल इस हिन्दू धर्म का लचकीलापन तथा विरोध को सहन करने की प्रवृत्ति ही इसकी शक्ति है। यहां आस्तिक और नास्तिक, जड़ोपासक तथा आत्मवादी, अहिंसावादी तथा हिंसावादी, रूढ़ियों के गुलाम तथा गतानुगति के विरोधी सभी प्रकार के लोग सहअस्तित्व के भागी हैं। ऐसी स्थिति में भारत के परम्परागत धर्म को दुर्बल बताना उचित नहीं। परकिंस का दूसरा प्रश्न था—आप जिस धर्म का प्रचार करना चाहते हैं, उसका स्वरूप क्या है ? इस पर महाराज ने उत्तर दिया—**"वेद प्रतिपादित एक, अद्वितीय, निराकार परमात्मा की उपासना का प्रचार हो, यही मेरा अभीष्ट है। मैं इसी वेद प्रतिपादित धर्म के प्रचार हेतु यत्नशील हूं।"**

१३ अगस्त १८७७ की बात है। एक मौलवी साहब से 'चमत्कार' विषय पर स्वामी जी के शास्त्रार्थ का निश्चय हुआ। यह आवश्यक समझा गया कि अरबी भाषा का कोई विद्वान् मध्यस्थ के रूप में उपस्थित होना चाहिए। आर्यसमाज अमृतसर के मंत्री बाबा नारायणसिंह वकील ने आर्यसमाज लाहौर के मंत्री लाला जीवनदास को पत्र लिख कर मौलवी पादरी इमामुद्दीन को भेजने के लिए लिखा। परन्तु पादरी साहब के अमृतसर न पहुंचने के कारण शास्त्रार्थ टल गया।

भारत में प्रचलित पाखण्डों और अंधविश्वासों पर निर्ममतापूर्वक आक्रमण करने वाले दयानन्द का हृदय वस्तुतः नवनीत से भी अधिक कोमल था। उनके हृदय में अपने प्रति अनिष्ट करने वालों के प्रति असीम करुणा तथा उदारता के भाव सदा ही रहते थे। अमृतसर का ही एक प्रसंग है। श्रीमहाराज के तीव्र खण्डन से उत्तेजित होकर एक पाठशाला के अध्यापक ने अपने छात्रों को स्वामीजी पर ईंटों के टुकड़ों तथा कंकरों से प्रहार करने के लिए कहा था। उसने इसके बदले में लड़कों को लड्डू खिलाने का आश्वासन भी दिया था। अबोध बालक अपने अध्यापक के कहने में आ गये। एक रात्रि को जब स्वामीजी का व्याख्यान चल ही रहा था, अध्यापक का संकेत पाकर स्कूली लड़कों ने उपल वृष्टि आरम्भ कर दी। सभा में खलबली मच गई। स्वामीजी ने सबको शान्त किया। जब सारी बातों का पता लगा और पुलिस दल ने भी उपद्रवी बच्चों को पकड़ कर स्वामीजी की सेवा में उपस्थित किया, तो महाराज ने ढ़ाढ़स बंधाते हुए छात्रों से पत्थर फेंकने का कारण पूछा। भोले भाले बालकों ने वस्तुस्थिति का वर्णत करते हुए कह दिया कि मिठाई खिलाने का प्रलोभन देकर उनके अध्यापक ने ही उनसे यह निंदित कर्म कराया है। इस पर दयालु संन्यासी ने न केवल पुलिस को कह कर उन बच्चों को मुक्त ही कराया, अपितु बाजार से मिठाई मंगवा कर उनमें बंटवादी। साथ ही यह भी कहा कि तुम्हारा अध्यापक तो पता नहीं, तुम्हें मिठाई देगा या नहीं, मैं ही दिये देता हूं।

दयानन्द को योगजन्य सिद्धियाँ तो बहुत पहले ही प्राप्त हो चुकी थीं। योगी जन अपने प्रातिभ ज्ञान के बल पर निकट भविष्य में घटने वाली घटनाओं का पूर्वानुमान कर लिया करते हैं। स्वामी दयानन्द के जीवन में भी ऐसे अनेक प्रसंग आते हैं, जिनसे विदित होता है कि आसन्न घटित होने वाली घटनाओं की पूर्व जानकारी प्राप्त कर लेना उनके लिये कठिन नहीं था। स्वामी सत्यानन्द ने अमृतसर में घटी ऐसी ही दो घटनाओं का उल्लेख किया है। एक दिन स्वामी दयानन्द अपने कमरे में बैठे हुए पण्डितों को वेद भाष्य लिखा रहे थे। अचानक ही अपने कार्य को बंद कर वे बाहर आ गये और कर्मचारियों को भी सामान सहित कमरे से हटा लिया। थोड़ी देर पश्चात् ही कमरे की छत धड़ाम से गिर गई। एक दिन स्वामीजी के उपदेश-स्थल से थोड़ी ही दूर प्रचण्ड झंझावात उठा। तीव्र गति से आंधी भी आई। लोग विचलित हो गये, किन्तु महाराज ने अत्यन्त विश्वास के साथ मेज पर हाथ मारते हुए कहा—'घबराइये नहीं, आंधी यहाँ नहीं आयगी।" और ऐसा ही हुआ। आंधी का वेग दूर दूर तक ही रहा। सभा की कार्यवाही निर्विघ्न चलती रही।[३१]

अमृतसर भी ईसाई गतिविधियों का केन्द्र बन चुका था। ईसाई प्रचारक अपने विद्यालयों के माध्यम से छात्र वर्ग में स्वमत का प्रचार करते। इस नगर के चालीस हिन्दू—विद्यार्थी ईसाई मत ग्रहण करने के लिये लगभग तैयार ही थे कि स्वामीजी का अमृतसर में आगमन हुआ। जब स्वामीजी ने उन्हें स्वमत पर आरूढ़ रहने की प्रेरणा की, तो युवा छात्रों के मन में भी स्वधर्म के प्रति गौरव का भाव जागृत हुआ तथा उन्होंने ईसाई बनने का विचार त्याग दिया। पादरी क्लार्क से[२३] स्वामी की भेंट इसी नगर में हुई। पादरी साहब ने यह सुन रक्खा था कि स्वामी दयानन्द हिन्दुओं में व्याप्त अस्पृश्यता के भावों को दूर करने के लिये प्रयत्नशील हैं तथा उनकी यह भी धारणा है कि खान पान विषयक अनावश्यक रूढ़ियों को हटाये बिना सामाजिक ऐक्य सम्भव नहीं है। इसी आधार पर जब वे एक दिन स्वामीजी से मिलने आये, तो चट यह प्रस्ताव कर बैठे—आइये, आप और मैं, मिल कर एक ही मेज पर भोजन करें। इससे परस्पर में प्रीति बढ़ेगी। स्वामीजी यह तो मानते थे कि खान पान विषयक अनावश्यक बन्धनों से समाज में वैषम्य के भावों की ही वृद्धि होती है, किन्तु वे यह स्वीकार नहीं करते थे कि केवल साथ बैठ कर खाने मात्र से ही समाज में एकता के भाव आ सकते हैं। अतः उन्होंने पादरी महाशय को कहा—"केवल पास बैठ कर खाना ही सामाजिक एकता का विधायक नहीं है। यदि ऐसा ही होता तो एक ही पात्र में खा लेने वाले शिया और सुन्नी मुसलमानों में इतना सिर फुटव्वल नहीं होता।" पादरी साहब को स्वीकार करना पड़ा कि यद्यपि भोजन पान विषयक अनावश्यक भेद भाव समाप्त होने चाहिएं, किन्तु भोजन से सम्बन्धित स्वास्थ्य विषयक नियमों का पालन भी आवश्यक है और सम्मिलित भोजन करने मात्र से ही समाज सुसंगठित नहीं होता।[३३]

अमृतसर निवास के समय स्वामीजी ने 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' नामक एक लघु ग्रन्थ लिख कर प्रकाशित किया।[३४] इसमें वैदिक मन्तव्यों की सरल परिभाषाएँ दी गई हैं। आकार में छोटी होने पर भी 'रत्नमाला' के द्वारा वैदिक सिद्धान्तों को हृदयंगम करने में अभीष्ट सहायता मिलती है।

श्रावण शुक्ला नवमी (१७ अगस्त, शुक्रवार)[३५] को अमृतसर से चल कर स्वामीजी गुरदासपुर पहुँचे। उनके आगमन का समाचार पहले ही नगरवासियों को मिल चुका था। स्वामीजी के निवास की व्यवस्था डा. बिहारीलाल के घर पर की गई। यहाँ भी उनके व्याख्यान आरम्भ हुए। मूर्तिपूजा, अवतारवाद, ईश्वर, आवागमन, मृतक श्राद्ध, गोरक्षा, आर्यावर्त की प्राचीन दशा तथा आर्यों के कर्त्तव्य जैसे विषयों पर उनकी व्याख्यानमाला चलती रही। सहस्रों धर्मजिज्ञासुओं ने उनके व्याख्यानों से लाभ उठाया।

नगर के दो प्रतिष्ठित रईस मियाँ हरिसिंह और मियाँ शेरसिंह स्वयं को दृढ़ मूर्ति-पूजक मानते थे। उन्होंने एक विरक्त साधु स्वामी गणेशगिरि को स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने की प्रेरणा दी, किन्तु साधुजी इसके लिये तैयार नहीं हुए। इस पर मियाँ लोगों ने दीनानगर से पं. लक्ष्मीधर और पं. दौलतराम को बुलाया। जिस समय उक्त पण्डितद्वय गुरदासपुर आये और स्वामीजी की व्याख्यान सभा में सम्मिलित हुए, उस समय स्वामीजी शिवपुराण की मिथ्या कथाओं का खण्डन कर रहे थे। दोनों पण्डितों तथा मियांओं ने स्वामीजी के व्याख्यान में बाधा उपस्थित करने का प्रयत्न किया। इस पर डा. बिहारीलाल ने उन्हें समझाया कि वे पहले व्याख्यान को समाप्त होने दें, इसके पश्चात् स्वामीजी से यथेच्छ शंका समाधान करें। परन्तु इन लोगों में धैर्य कहाँ था? फलतः तुरन्त शास्त्रार्थ आरम्भ हो गया। जब मूर्तिपूजा पर चर्चा चली, तो दीनानगर से आये पण्डित यजुर्वेद के 'गणानां त्वा'[३६] आदि मन्त्र प्रस्तुत कर कहने लगे कि इन मन्त्रों से गणेश की पूजा सिद्ध होती है। स्वामीजी ने उन्हें पूछा कि वे किस भाष्य के आधार पर 'गणानां त्वा' आदि मन्त्रों से गणेश की प्रतिमा का पूजन सिद्ध करते हैं? जब पण्डितों ने महीधर के यजुर्वेद भाष्य को प्रस्तुत किया, तो स्वामीजी ने इस प्रकरण के महीधर कृत अश्लील अर्थों का उल्लेख करते हुए स्पष्ट कर दिया कि यहाँ तो मूर्तिपूजा की गंध मात्र भी नहीं है। उन्होंने यजुर्वेद के प्रासंगिक मन्त्रों का वास्तविक अभिप्राय भी स्पष्ट किया।[३७] मूर्तिपूजा का विषय तो अनिर्णीत ही रहा, किन्तु मियाँ लोग अनावश्यक रूप से उत्तेजित होकर अनर्गल प्रलाप करने लगे। इस पर डा. बिहारीलाल ने उन्हें फटकारा। इस बीच सभा समाप्त हो गई।

स्वामी दयानन्द में गज़ब की निर्भीकता थी। वे शासक जाति की आलोचना करने में भी कोई संकोच नहीं करते थे। यों वे अंग्रेजों के अनेक जातिगत गुणों के प्रशंसक भी थे, किन्तु अपने एक व्याख्यान में उन्होंने स्पष्ट कहा कि इन लोगों को इस देश में आये पर्याप्त समय व्यतीत हो चुका है, तथापि उन्होंने स्थानीय भाषाओं का सही उच्चारण तक नहीं सीखा है। उदाहरणार्थ, 'तकार' के स्थान पर 'टकार' का प्रयोग करते हैं। 'तुम' को 'टुम' कहते हैं। जब स्वामीजी ने यूरोपवासियों के सम्बन्ध में यह बात कही, तो मिस्टर काक नामक एक इंजीनियर, जो सभा में उपस्थित थे, क्रुद्ध होकर चले गये। स्वामीजी कभी कभी विनोद-वार्ताओं के द्वारा ही अन्धविश्वासों की कटु आलोचना कर देते और उसका यथेष्ट प्रभाव भी पड़ता था। उदाहरणार्थ, मृतक श्राद्ध की समीक्षा के प्रसंग में उन्होंने कहा—"कैसी विचित्र बात है कि ब्राह्मण लोग पितरों के लिये तो जौ और तिल का दान करवाते हैं और स्वयं यजमान के यहाँ खीर और लड्डू खाते हैं।" उनके उपदेशों के परिणाम स्वरूप २४ अगस्त १८७७ को गुरदासपुर में आर्यसमाज की स्थापना हो गई।

एक मास से कुछ अधिक समय तक गुरदासपुर में रह कर स्वामीजी बटाला होते हुए भाद्रपद कृष्णा २, रविवार २८ अगस्त को पुनः अमृतसर आये। वेद भाष्य का लेखन द्रुतगति से चल रहा था तथा जिन विद्वानों ने इस सम्बन्ध में अपने आलोचनात्मक विचार व्यक्त किये थे, उनका सप्रमाण उत्तर भी पत्रों में प्रकाशनार्थ भेज दिया गया था। स्वामीजी की दृष्टि में धर्माचरण का अर्थ किन्हीं रूढ़ मर्यादाओं का पालन अथवा सम्प्रदायगत आस्थाओं को मान्य करना नहीं था। वे सत्याचरण को ही धर्म का पर्याय समझते थे। एक दिन जब लाला मुरलीधर नामक एक सज्जन ने उनसे गुरुमंत्र देने की प्रार्थना की, तो किसी शास्त्रोक्त मन्त्र की दीक्षा देने की अपेक्षा उन्होंने सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग को ही गुरुमन्त्र बताया।

स्वामीजी के विरोधी लोग यदाकदा यह कह कर भ्रम फैलाते रहते थे कि यह संन्यासी ईसाइयों का वेतन भोगी प्रचारक है और पादरियों के माध्यम से उस कार्य के लिये उसे पैसा भी मिलता है। अमृतसर में इस प्रकार का प्रवाद जिस कारण से प्रचरित हुआ, उसके पीछे एक घटना थी। एक दिन पादरी सी. डब्लू. फोरमेन[३८] स्वामीजी से मिलने आये। संयोग वश उसी समय नगर के एक प्रतिष्ठित वकील महाशय कन्हैयालाल भी आ गये। स्वामीजी को वेद भाष्य के मुद्रण व प्रकाशन में पर्याप्त धन राशि व्यय करनी पड़ रही है, तथा उनकी आय के स्रोत सीमित हैं, यह जानकर वकील साहब ने उनकी सेवा में दो सौ रुपये भेंट किये। यह द्रव्य राशि वे महाराज के सम्मुख रख कर चले गये। ठीक उसी समय नगर निवासी एक अन्य व्यक्ति भी महाराज के दर्शनार्थ उपस्थित हुआ। अब जो दृश्य उसने देखा वह यही था कि स्वामीजी के समक्ष दो सौ रुपये के नोट पड़े हैं और पास में ही पादरी साहब भी बैठे हैं। इस व्यक्ति ने बिना सोचे समझे नगर में यह अफवाह फैला दी कि उसने स्वामी दयानन्द को पादरी से २०० रु. लेते देखा है। अवश्य ही यह धन ईसाई मत की शिक्षाओं का गुप्त रूप से प्रचार करने के लिये ही स्वामीजी को दिया गया है। जब स्वामीजी का ध्यान इस गलत सूचना की ओर दिलाया गया, तो उन्होंने स्पष्ट कहा कि मिथ्या बातों की ओर ध्यान देकर हमें अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं करना चाहिए।

जब १३ सितम्बर १८७७ को स्वामीजी अमृतसर से प्रस्थान करने लगे तो उनकी विदा के उपलक्ष्य में मियां मोहम्मदजान की कोठी पर एक विशेष सभा का आयोजन किया गया। इस सभा में वक्तृता प्रस्तुत करते हुए स्वामीजी ने अपने भक्त समुदाय से अनुरोध किया कि वे आर्यसमाज को चिरस्थायी बनाने के लिये उद्योग करें क्योंकि इसी आन्दोलन के माध्यम से वैदिक धर्म की विश्वव्याप्ति होगी तथा अशेष मानवता का हित होगा। तत्पश्चात् सैकड़ों श्रद्धालुओं की उपस्थिति में अमृतसर से रेल मार्ग द्वारा उन्होंने जालंधर के लिये प्रातः साढ़े नौ बजे प्रस्थान किया।

भाद्रपद शुक्ला ६, गुरुवार, १३ सितम्बर १८७७ को महाराज जालंधर पहुंचे। सरदार सुचेतसिंह[३९] की कोठी में उनके निवास की व्यवस्था की गई। दिल्ली दरबार के समय उन्हें पंजाब आने का निमंत्रण देने वालों में सरदार सुचेतसिंह तथा सरदार विक्रम-सिंह[४०] भी थे। इस नगर में स्वामीजी के ३५ व्याख्यान हुए जिनका विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं होता। स्वामी दयानन्द की यह विशेषता थी कि किसी भी व्यक्ति अथवा समाज के

गुणावगुणों को स्पष्ट रूप में कहने में उन्हें किसी प्रकार का संकोच नहीं होता था। उनकी धारणा थी कि यदि व्यक्ति के दोषों को छिपाया जाता है, तो वह उनका कभी परित्याग नहीं करेगा, किन्तु यदि स्पष्ट रूप से उसके दुर्गुणों अथवा दुर्व्यसनों की भर्त्सना की जाती है, तो निश्चय ही लज्जा का अनुभव कर वह अपने सुधार के लिये प्रवृत्त होगा। इसी दृष्टि से उन्होंने सरदार विक्रमसिंह के दुराचरण के सम्बन्ध में टीका की, तो सरदार साहब कहने लगे, महाराज, आज तो आप हम पर भी बरस पड़े। उत्तर में स्वामीजी ने इतना ही कहा कि निष्पक्ष भाव से कहना ही ठीक है; स्पष्ट कहने में संकोच नहीं होना चाहिए।

स्वामी महाराज ने अपनी अतुलित ब्रह्मचर्य साधना के द्वारा जो अपरिमित शारीरिक-शक्ति उपार्जित की थी, उससे सम्बन्धित विभिन्न घटनाओं का उल्लेख जीवनी लेखकों ने किया है। जालंधर की निम्न घटना इस दृष्टि से महत्त्व पूर्ण है। सरदार विक्रमसिंह ने वार्तालाप के प्रसंग में कहा कि ब्रह्मचारी के अद्वितीय बल की चर्चा प्रायः सुनी जाती है, तथा शास्त्रों में भी ऐसे उल्लेख मिलते हैं। क्या उन्हें सत्य मानना चाहिए? स्वामीजी ने उत्तर देते हुए कहा कि ब्रह्मचर्य के विषय में शास्त्रों के प्रमाणों को मान्य करना ही चाहिए। सरदार विक्रमसिंह इस पर बोल उठे, "आप भी तो ब्रह्मचारी हैं, किन्तु हमें तो आप में कोई विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती।" स्वामीजी उस समय तो चुप रहे, किन्तु जब थोड़े समय बाद सरदार साहब अपनी दो घोड़ों की बग्घी में सवार होकर प्रस्थान करने लगे तो स्वामीजी ने चुपके से पीछे जाकर गाड़ी का पिछला पहिया पकड़ लिया। कोचवान चाबुक मार कर घोड़ों को आगे बढ़ाता, किन्तु घोड़े टस से मस नहीं हो रहे थे। जब कोचवान और स्वयं सरदार साहब ने ने पीछे मुड़ कर देखा तो ज्ञात हुआ कि स्वामीजी ने पहिए को पकड़ रक्खा है। ब्रह्मचारी के बल का सहज निश्चय कराने के लिये ही स्वामीजी ने ऐसा किया था।[४१]

स्वामीजी की विनोदप्रियता के अनेक उदाहरण उनकी जीवन कथा में यत्र तत्र बिखरे पड़े हैं। हमने उन्हें प्रसंगोपात्त उल्लिखित भी किया है। पं. लेखराम ने स्वरचित उर्दू जीवन चरित में जालंधर में दिये गये व्याख्यानों में वर्णित कतिपय हास्य रस परिपूर्ण प्रसंगों को उद्धृत किया है। इस नगर में जब स्वामीजी ने अपने व्याख्यान में मृतक श्राद्ध को अवैदिक बताकर उसरा खण्डन किया, तो पं. रामदत्त ने उसका प्रतिवाद करते हुए अगले दिन उसी स्थान पर एक व्याख्यान देकर इस प्रथा को शास्त्रानुमोदित कहा। इस पर स्वामीजी ने पुनः विभिन्न वैदिक एवं स्मार्त्त प्रमाण देकर 'जीवितों का ही श्राद्ध एवं तर्पण होता है' ऐसा सिद्ध किया। इस प्रसंग में उन्होंने कहा, पिण्डों की वेदी बनाते समय पुरोहित लोग 'ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना'[४२] आदि मन्त्र इस अभिप्राय से पढ़ते हैं कि इनसे भूत प्रेतादि भाग जाते हैं। परन्तु केवल मन्त्र पढ़ने मात्र के कुछ नहीं होता। एक मक्खी भी मन्त्र बोल कर नहीं उड़ाई जा सकती, पुनः भूत प्रेतादि की बात करना ही निरर्थक है। इसी प्रकार वैष्णवों के कण्ठी तिलक धारण करने के मिथ्या माहात्म्य की आलोचना करते हुए स्पष्ट कहा, लोग कहते हैं कि इन वैष्णव चिन्हों के धारण करने से यमराज भी भयभीत हो जाता है, अरे पुलिस के सिपाही भी तो कण्ठी तिलक से नहीं डरते, यमराज के दूत भला क्या डरेंगे? इस व्याख्यान में पंजाब के सनातन धर्मी नेता पं. श्रद्धाराम फिल्लौरी भी उपस्थित थे। वे स्वयं कण्ठी,

तिलक धारण करते थे। अतः उन्हें स्वामीजी की यह आलोचना बहुत अखरी। दूसरे दिन एक मन्दिर में भाषण देते हुए फिल्लौरी ने स्वामीजी की आलोचना में कहा कि जिस प्रकार एक ठग बच्चों को लड्डू दिखा कर उनके मूल्यवान आभूषण छीन लेता है, उसी भांति स्वामी दयानन्द भी अपनी प्रवञ्चनापूर्ण बातों से धर्म भीरुओं की श्रद्धा को छीन रहा है। फिल्लौरी की आलोचना में तथ्य की अपेक्षा आरोप ही अधिक था। जालंधर में दिये गये इन व्याख्यानों में स्वामीजी ने काशी माहात्म्य, गंगा स्नान, तीर्थ माहात्म्य आदि पौराणिक विश्वासों का प्रगल्भता के साथ खण्डन किया। आश्विन कृष्णा २, सोमवार २४ सितम्बर १८७७ को मौलवी अहमद हसन से उनका आवागमन (पुनर्जन्म) की सत्यता तथा करामातों (पैगम्बरों तथा देव दूतों द्वारा प्रदर्शित चमत्कारपूर्ण कृत्य) की वास्तविकता पर लिखित शास्त्रार्थ हुआ। कालान्तर में इसे प्रकाशित कर दिया गया।[४३] यद्यपि लिखित शास्त्रार्थ में किसी एक पक्ष की जय अथवा पराजय के सम्बन्ध में कुछ भी इदंइत्थम लिखा जाना सम्भव नहीं होता क्योंकि उसमें दोनों पक्षों के कथोपकथनों को ही पाठकों के विचारार्थ प्रस्तुत कर दिया जाता है। किन्तु मौलवी साहब ने इस शास्त्रार्थ में अपनी तथाकथित विजय को भूरिशः प्रचारित किया और उनके प्रशंसकों ने भी उन्हें घोड़े पर चढ़ा कर उनकी सवारी निकाली। यह दूसरी बात है कि नगर के विचारशील मुसलमानों ने मौलवी साहब की इस स्वयं घोषित विजय के उत्सव को पसन्द नहीं किया।

लगभग १ मास तक जालन्धर में ठहरने के पश्चात् स्वामीजी ने आश्विन शुक्ला अष्टमी, १५ अक्टूबर, सोमवार को यहां से अमृतसर के लिये प्रस्थान किया। वहां से वे आश्विन शुक्ला ११, १७ अक्टूबर बुधवार को लाहौर आये और नवाब रजाअली के उद्यान में ठहरे। इस बार के लौहार प्रवासकाल में महाराज की भेंट एक अंग्रेज पादरी और एक ईसाई धर्म-प्रचारिका महिला से हुई। वार्तालाप के प्रसंग में स्वामीजी ने कहा कि जिस जाति का ऐश्वर्य और वैभव जितना अधिक वृद्धिगत होगा, वह जाति उतनी ही अधिक विलासमग्न होकर पतनोन्मुख होती जायगी। उन्होंने शासक जाति का उदाहरण देकर कहा कि अंग्रेजों ने अब अपनी दिनचर्या बिगाड़ ली है। पहले जब वे सूर्योदय से पूर्व भ्रमणार्थ जाया करते थे, तो रास्ते में उन्हें अनेक अंग्रेज स्त्री पुरुष घूमते मिल जाते थे, किन्तु अब वे ऐसा नहीं देखते। ऐसा लगता है कि अंग्रेज लोग अधिकाधिक आलसी होते जा रहे हैं।

वेद विषयक विभिन्न प्रवादों तथा मिथ्या धारणाओं का समाधान करने के लिये स्वामीजी सदा तत्पर रहते थे। जब एक पण्डित ने वेदों में प्रयुक्त होने वाले भारद्वाज आदि नामों की ओर महाराज का ध्यान आकृष्ट किया, जो ऋषियों के वाचक हैं तथा इसी आधार पर यह सिद्ध करना चाहा कि वेदों को इन्हीं ऋषियों की कृति माना जाना चाहिए, तो स्वामीजी ने स्पष्ट किया कि मंत्रों में प्रयुक्त ये नाम किसी ऋषि विशेष के लिए न होकर सामान्य अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। अतः इसी आधार पर वेदों को ऋषियों का बनाया मानना उचित नहीं है। तथ्य यह है कि वेदों में प्रयुक्त इन्हीं नामों के आधार पर कालान्तर में लोक में व्यक्तियों तथा पदार्थों का नामकरण किया गया है।[४४] लाहौर के एक बिशप से स्वामीजी की भेंट के प्रसंग में वेद के हिरण्यगर्भ सूक्त'[४५] पर चर्चा चली। बिशप के अनुसार वेद के प्रस्तुत सूक्त से सिद्ध होता है कि इस ग्रन्थ में उपास्य देव के प्रति संशयात्मक विचार व्यक्त किये गये

हैं। सूक्त के प्रत्येक मंत्र में जो 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' पद प्रयुक्त हुए हैं उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मंत्र का कर्त्ता उस देवता के बारे में पूछना चाहता है, जिसकी उपासना उसे करनी चाहिये। स्वामीजी ने ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित आलोच्य मंत्र की व्याख्या के आधार पर स्पष्ट किया कि इस मंत्र से उपास्य देव की अनिश्चितता सूचित नहीं होती। यहां 'क' प्रजापति एवं सुख स्वरूप परमात्मा का वाचक है[४६] अतः 'कस्मैदेवाय' परमेश्वर का ही वाचक है तथा उसे ही सर्वोपरि पूज्य, उपास्य तथा उपासक की श्रद्धा एवं भक्ति का केन्द्र बताया गया है। जब विशप महोदय ने पश्चिमी जातियों के अभ्युदय तथा प्रगति का कारण बाइबिल की शिक्षाओं को बताया, तो महाराज ने समाधान करते हुए कहा कि साम्प्रतिक-काल में यदि यूरोपीय राष्ट्रों की सार्वत्रिक उन्नति हुई है तो इसके मूल में उनका मान्य ईसाई मत अथवा धर्म पुस्तक बाइबिल की शिक्षाएं नहीं हैं। वस्तुतः पश्चिमी देशों के निवासियों का विद्या एवं विज्ञान के प्रति अनुराग, उनके समाज में प्रचलित एक पत्नी व्रत की मर्यादा, ब्रह्मचर्य पालन, स्वदेश प्रीति तथा उद्योग एवं व्यवसाय को उन्नत करने के लिए दूर देशों की यात्रा आदि ही उनकी उन्नति के मूल कारण हैं। स्वामीजी की यह विवेचना कितनी तथ्य-पूर्ण एवं यथार्थ आश्रित थी, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि वैज्ञानिक एवं भौतिक उन्नति के लिए किसी धर्म या मत का स्वीकार करना ही पर्याप्त नहीं होता, बल्कि देशवासियों की चरित्रगत विशेषताएं, उनका अध्यवसाय, लगन, परिश्रम तथा अन्य नैतिक गुण ही किसी जाति को उन्नत बनाते हैं।

२१ अक्टूबर १८७७ को ब्रह्मसमाज लाहौर के चौदहवें वार्षिकोत्सव में स्वामी दयानन्द अपने भक्तों एवं अनुयायियों के बड़े समूह के साथ पधारे। उस समय उक्त समाज के आचार्य श्री अघोरनाथ गुप्त ब्राह्म पद्धति से ईश्वरोपासना कर रहे थे। उपासना समाप्त होने पर स्वामीजी ब्राह्म उपदेशक से अत्यन्त प्रीतिपूर्वक मिले। उनके आगमन ने ब्राह्म उत्सव को विशिष्ट शोभा प्रदान की थी।[४७] अब तक आर्यसमाजों में प्रवचन, उपदेश तथा व्याख्यानों के सम्बन्ध में कोई समान नीति नहीं बन पाई थी। जब उन्हें बताया गया कि श्री शारदाप्रसाद भट्टाचार्य ने लाहौर आर्यसमाज के किसी साप्ताहिक सत्सग में वेद, कुरान और बाइबिल आदि को समान रूप से ईश्वरीय आदेश के रूप में प्रस्तुत किया था, तो स्वामीजी ने उससे असहमति व्यक्त करते हुए कहा कि किसी भी व्याख्याता को आर्यसमाज के मान्य नियमों एवं सिद्धान्तों के प्रतिकूल कथन नहीं करना चाहिए। बाइबिल और कुरान विभिन्न देशों, कालों एवं परिस्थितियों के संदर्भ में लिखे गये हैं, जब कि वैदिक मन्तव्य देशकालातीत, सार्वभौम एवं सार्वजनीन हैं।

लाहौर के इस बार के अल्पकालीन प्रवास के पश्चात् स्वामी दयानन्द ने फीरोजपुर के लिए प्रस्थान किया। यहां उनका आगमन कार्तिक कृष्णा चतुर्थी, २६ अक्टूबर शुक्रवार को हुआ। इस नगर की हिन्दू सभा नामक एक नवस्थापित संस्था के निमंत्रण पर ही वे आये थे। नगर के बाहर बनवारीलाल की कोठी में उनके निवास की व्यवस्था की गई। फीरोजपुर में उनके आठ व्याख्यान हुए। प्रथम व्याख्यान में ही पं. गोपाल शास्त्री ने व्याघात उत्पन्न करना चाहा, किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। शास्त्रीजी अपने कतिपय साथियों सहित सभास्थल

को त्याग कर चले गये, परन्तु अवशिष्ट लोग ध्यानपूर्वक व्याख्यान सुनते रहे। प्रथम व्याख्यान का विषय 'सृष्टिउत्पत्ति' और अन्तिम 'मुक्ति' से सम्बन्धित था जिसमें प्रसंगानुसार उपासना के आठ अंगों (अष्टाङ्ग योग) की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई थी।

नगर की मैगजीन के लिपिक पं. कृपाराम से ईश्वर की सर्वव्यापकता पर स्वामीजी की चर्चा हुई। महाराज ने स्पष्ट किया कि सूक्ष्म होने के कारण परमात्मा की सर्वत्र स्थिति है। उसी में यह विश्व ब्रह्माण्ड समाया हुआ है। स्वामीजी की विनोदशील प्रकृति का एक उदाहरण उस समय देखने में आया, जब उन्होंने मंदिर के एक पुजारी रघुनाथ से 'पुजारी' शब्द का अर्थ पूछा। जब अशिक्षित धर्मयाजक इस शब्द का अर्थ नहीं बता सका, तो महाराज ने विनोदपूर्वक 'पुजारी' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा कि जो पूजा का अरि (शत्रु) है, वही 'पूजारि' कहलाता है।[४८] फीरोजपुर में उनके उपदेशों का प्रभाव शीघ्र ही दृष्टिगोचर हुआ। जो संस्था हिन्दू सभा के नाम से यहां कार्यरत थी, उसे ही 'आर्यसमाज' का नाम देकर व्यवस्थित रूप से धर्मप्रचार आरम्भ किया गया।

कर्तिक कृष्णा चतुर्दशी, ४ नवम्बर बुधवार को श्री महाराज ने लाहौर के लिये प्रस्थान किया और दूसरे दिन वहां पहुंच गये। इसी सायंकाल उनका एक व्याख्यान हुआ। ६ नवम्बर को आर्यसमाज की अन्तंरगसभा का अधिवेशन हुआ। इसी अधिवेशन में आर्यसमाज के उपनियमों को अन्तिम रूप से स्वीकार किया गया था। महाराज भी प्रेक्षक के रूप में सभा में उपस्थित थे। जब उनसे उपनियमों के निर्धारण में सम्मति देने के लिये कहा गया तो स्वामीजी ने स्पष्ट किया कि वे उनकी अन्तरंग सभा के सभासद नहीं हैं, अतः वे अपने को सम्मति देने का अधिकारी नहीं मानते। परन्तु सभासदों का अत्यन्त आग्रह था कि आर्यसमाज के संगठन एवं संचालन विषयक संविधान के निर्धारण में स्वामी दयानन्द की सम्मति अवश्य ली जानी चाहिए। अतः उन्हें तुरन्त आर्यसमाज लाहौर की अन्तरंग सभा का प्रतिष्ठित सदस्य मनोनीत किया गया। उसके पश्चात् ही उन्होंने अपनी सम्मति से सभासदों को अवगत कराया। इस प्रसंग से सिद्ध हो जाता है कि स्वामी दयानन्द जनतांत्रिक मूल्यों को अत्यधिक महत्व देते थे। यहां तक कि धार्मिक संस्थाओं में भी वे लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं के समर्थक थे। मध्यकालीन धर्म संस्थाओं के पतन का एक मात्र कारण गुरुडम, तथा मठाधीशों व धर्मगुरुओं की एकाधिकार की ही प्रवृत्ति रही है, यह उनका दृढ़ विश्वास था।

केवल दो दिन लाहौर में रहकर स्वामीजी रावलपिंडी के लिये चल पड़े। कार्तिक शुक्ला तृतीया, ८ नवम्बर १८७७, गुरुवार को इस नगर में उनका आगमन हुआ तथा नदी के तट पर स्थित पारसी सेठ जामास्पजी[४९] की कोठी में उन्हें ठहराया गया। यहीं उनके व्याख्यान होने लगे। उनके व्याख्यानों में जहाँ हिन्दू धर्म में प्रचलित मूर्तिपूजा आदि कुसंस्कारों का खण्डन होता था, वहाँ वे हिन्दू धर्म और समाज के दुर्बल छिद्रों को देख कर उन पर तीव्र आक्रमण करने वाले ईसाई प्रचारकों तथा इस्लाम के प्रवक्ताओं के आक्षेपों का उत्तर भी सटीक ढंग से दिया करते थे। एक ऐसे ही प्रसंग में उन्होंने कहा कि ब्रह्मा के स्वदुहिता गमन की आलंकारिक कथा पर आक्षेप करने वाले बाइबिल की इस कथा की ओर ध्यान क्यों नहीं देते, जिसमें पैगम्बर लूत द्वारा स्वपुत्रियों से व्यभिचार करने की घटना वर्णित है।[५०] स्वामी दयानन्द द्वारा किये गये

इस प्रकार के आक्षेपात्मक व्याख्यानों के औचित्यानौचित्य की मीमांसा करने वालों से यह कहा जा सकता है कि स्वामीजी ने स्वयं आगे होकर सामी मजहबों की दुर्बलताओं की बखिया नहीं उधेड़ी थी। परन्तु वे यह अनुभव करते थे कि स्वयं शीशे के मकान में बैठने वालों को अन्यों पर उपल वृष्टि करने का भी अधिकार नहीं है। जिनके मान्य ग्रन्थों में बुद्धि विरुद्ध तथा विज्ञान के प्रतिकूल सैकड़ों कथा कहानियाँ हैं, वे हिन्दू पुराणों के विभिन्न उपाख्यानों की आलोचना करने का अधिकार भी नहीं रखते।

पारसी सेठ की कोठी से हट कर वे सरदार सुजानसिंह के स्थान पर आ गये। रावलपिंडी निवास के अन्त तक वे यहीं रहे। एक दिन नगर निवासियों की बड़ी भीड़ पं ब्रजलाल के नेतृत्व में स्वामीजी से मूर्तिपूजा पर विचार करने के लिये उनके निवास पर आई। स्वामीजी ने उपस्थित लोगों को सम्बोधित कर कहा कि यह शास्त्रीय विषय है, इसलिए इस पर चर्चा करने का अधिकार शास्त्रज्ञ को ही है। अन्ततः पं. ब्रजलाल से स्वल्प काल तक चर्चा चली, किन्तु उनके मौन धारण करने के पश्चात् यह विचार स्वतः ही समाप्त हो गया।

कनखल की एक गद्दी के महन्त स्वामी सम्पद्गिरि उन दिनों रावलपिंडी आये हुए थे। वे सुपठित थे और अपने अपको स्वामी दयानन्द के सहपाठी के रूप में भी प्रचारित करते थे।[1] इन्हीं स्वामी सम्पद्गिरि ने एक दिन पं. लक्ष्मीराम के द्वारा स्वामीजी की सेवा में ऋग्वेद की 'इमं मे गंगे यमुने'[५२] ऋचा लिख कर भेजी, और कहलाया कि जब वेदों में स्पष्ट ही गंगा, यमुना आदि पवित्र नदियों का वर्णन मिलता है, तो वे इनके माहात्म्य का क्यों खण्डन करते हैं? इसके उत्तर में स्वामीजी ने स्पष्ट किया कि वेदों में जिन गंगा, यमुना आदि का उल्लेख हुआ है वे भारत में बहने वाली नदियां नहीं, अपितु शरीरस्थ नाड़ियां हैं और उन्हीं का वर्णन वहां मिलता है।[५३]सम्पद्गिरि से स्वामीजी की भेंट एक बार सायंकालीन भ्रमण के समय हुई। उस समय उन्होंने उक्त साधुजी से कुशल प्रश्न पूछते हुए जिज्ञासा की थी कि वह जनता के समक्ष सदुपदेश भी करते हैं या नहीं? परन्तु गद्दीधारी, ऐश्वर्य भोगी महन्त के लिए अपनी सुख सुविधाओं को त्याग कर लोकहित में प्रवृत्त होना सरल कार्य नहीं था।

सरदार सुजानसिंह की कोठी में रहते हुए उनके दस व्याख्यान हुए। उन्होंने विशिष्ट व्यक्तियों की उपस्थिति में स्वजीवन वृत्तान्त भी बताया था परन्तु इसका कोई विवरण सुरक्षित नहीं रह सका। रावलपिंडी में रहते समय ही काश्मीर के महाराजा का निमंत्रण स्वामीजी को मिला, जिसमें उन्हें धर्म प्रचारार्थ जम्मू व काश्मीर राज्य में आने का अनुरोध किया गया था। स्वामीजी इस प्रस्ताव को स्वीकार करने के अनिच्छुक थे। वे जानते थे कि महाराजा कट्टर मूर्ति-पूजक है और उसने अपने राज्य में सैंकड़ों नवीन मंदिरों का भी निर्माण किया है। यदि वे उस देश में जाते हैं तो मूर्ति और मंदिरों के विरोध में कहे बिना रहना उनके लिए शक्य नहीं होगा। परिणाम होगा उपद्रव और अशान्ति। अतः उन्होंने इस आमंत्रण को स्वीकार न करना ही उचित समझा। स्वामीजी की उपस्थिति में ही रावलपिंडी में आर्यसमाज की स्थापना हो गई थी।

रावलपिंडी से चल कर स्वामीजी पौष कृष्णा अष्टमी, २७ दिसम्बर १८७७ गुरुवार को जेहलम पहुँचे। यह यात्रा उन्होंने शिकरम[५४] से की थी। मास्टर लक्ष्मणप्रसाद ने उनके निवास की व्यवस्था नदी के तटवर्ती एक बंगले में की। उनका प्रथम व्याख्यान सराय मंगलसेन के निकट के मैदान में हुआ। दूसरे दिन उन्होंने अपने निवासस्थान पर ही वक्तृता दी। अवशिष्ट व्याख्यान गवर्नमेंट हाई स्कूल के हॉल में हुए। उनके व्याख्यानों के विषय में एक प्रत्यक्षदर्शी ने बताया था कि स्वामीजी अकसर सायं समय ही व्याख्यान देते थे। व्याख्यान के आरम्भ में वे उच्च स्वर से वेद मन्त्रों का गायन करते। उनका यह वेदोच्चारण अत्यन्त हृदय-ग्राही होता था। पुनः वे कुर्सी पर बैठ जाते और स्वलिखित 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' के एक एक विषय को लेकर उसकी विस्तृत व्याख्या करते। उनकी वक्तृत्व शैली स्पष्ट, सरल तथा हास्य-गर्भित होती थी। व्याख्यान के समय वे पीताम्बर को तहमद की भांति बांधते और उस पर एक ढीला; लम्बा ऊनी चोगा पहन लेते। सिर पर भी पीताम्बर पगड़ी की भांति बांधे रखते थे।

जेहलम की हाई स्कूल के मुख्याध्यापक एक बंगाली ईसाई शिवचरण घोष थे, जो अपने कतिपय ईसाई पादरी मित्रों के साथ स्वामीजी के समीप शास्त्र चर्चा हेतु आया करते। उन्होंने शास्त्रार्थ करने का भी विचार किया परन्तु स्वपक्ष की निर्बलता को जानकर विरत हो गये। व्याख्यान देने के अतिरिक्त स्वामीजी का अवशिष्ट समय वेद भाष्य लेखन में व्यतीत होता था। यहाँ भी उनके निवासकाल में ही आर्यसमाज की स्थापना हो गई थी।

महापुरुषों के सम्पर्क में आकर किस प्रकार दुराचारी तथा असत् पथगामी पुरुष भी सदाचार की प्रतिमूर्ति बन जाते हैं, इसका उदाहरण स्वामीजी के जेहलम प्रवास के समय देखने में आया। जेहलम जिले के पिण्डदादन खां तहसील के एक छोटे से ग्राम हरणपुर के निवासी अमीचन्द मेहता[५५] जो तहसील के दफ्तर में लिपिक के रूप में नियुक्त हुए और उन्नति करते-करते चुंगी के दारोगा के पद पर पहुँचे,[५६] गायन विद्या के प्रेमी होने के कारण मिरासियों और वेश्याओं की संगति में पड़ कर पथ भ्रष्ट हो गये थे। उन्होंने अपनी सती साध्वी पत्नी को त्याग दिया, मद्य व मांस से उन्हें कोई परहेज नहीं था। मालगुजारी के महकमे में कार्य करने के कारण रिश्वतखोर भी थे और 'मुफ्त का माल दिल बेरहम' की कहावत को चरितार्थ करते हुए यह बेईमानी का पैसा शराब, कबाब और वेश्यावृत्ति में ही लुटाते थे।

आश्चर्य है कि विभिन्न व्यसनों तथा दुर्गुणों से ग्रस्त यह व्यक्ति उच्च कोटि का संगीतज्ञ तथा गान विद्या का रसिक भी था। जिस समय स्वामी दयानन्द के व्याख्यान जेहलम में हो रहे थे, उस समय स्थानीय सरकारी डाक्टर के आग्रहवश अमीचन्द मेहता भी महाराज के व्याख्यानों में जाने लगे।[५७] लोगों के आग्रह करने पर अमीचन्द ने स्वामीजी का व्याख्यान प्रारम्भ होने से पूर्व एक अत्यन्त रसीला भजन सुनाया, जिसे सुन कर सभी श्रोता मन्त्र मुग्ध हो गये। स्वामीजी को जब गायक का पूरा परिचय मिला तो उन्होंने यही कहा, 'ठीक हो जायगा, देखो, सुधर जायगा।' दूसरे दिन पुनः जब मेहताजी अपना भजन गाकर निवृत्त हुए और उसके पश्चात् महाराज का भी व्याख्यान समाप्त हुआ तो उन्होंने कुपथगामी संगीतज्ञ अमीचन्द की पीठ पर हाथ धर कर कहा—"मेहताजी तुम हो तो हीरे, किन्तु कीचड़ में पड़े हो।" युगपुरुष दयानन्द के मुख से अपने प्रति इस प्रकार का प्रशंसा वाक्य सुनते ही पापपंक में

आपाद मस्तक लिप्त रहने वाले मेहताजी के नेत्र आंसुओं से भर आये। पश्चाताप के स्वर में आचार्य प्रवर के चरणों का स्पर्श कर कहा, "महाराज, यदि आपका आशीर्वाद प्राप्त होता रहा, तो आपने जैसा मुझे (हीरा) कहा है, वैसा ही बन कर दिखाऊंगा।"

दूसरे ही दिन जब मेहता अमीचन्द स्वामीजी की व्याख्यान सभा में उपस्थित हुए तो वे सर्वथा परिवर्तित व्यक्तित्व लेकर आये थे। दुराचारों तथा व्यसनों से उन्होंने मुँह मोड़ लिया था। अब उन्होंने जो स्वरचित गीत इस सभा में प्रस्तुत किया, वह द्वयर्थक था। इसमें एक ओर जहाँ परमपिता की असीम करुणा तथा अनुकम्पा के प्रति अपना विनम्र कृतज्ञता भाव प्रदर्शित किया गया था, वहाँ उन्होंने इस लोक में अपने महान् पथदर्शक संन्यासी के प्रति भी आभार व्यक्त किया था,[५८] जिसकी प्रेरणा से ही उसके जीवन में यह सुखद परिवर्तन आ सका। आगे चल कर अमीचन्द मेहता ने अपने काव्य तथा संगीत के माध्यम से आर्यसमाज के प्रचार में जैसा योगदान किया, वह तो इतिहास का एक स्मरणीय पृष्ठ बन चुका है।[५९]

दो सप्ताह जेहलम रहने के पश्चात् स्वामी दयानन्द पौष शुक्ला नवमी, १३ जनवरी १८७८ रविवार को गुजरात पहुँचे। इस नगर में उन्हें आमंत्रित करने का श्रेय डा. बिशनदास को है, जो उस समय ग्रामीण अस्पतालों के निरीक्षक थे। उनका निवास जलालपुर जट्टां ग्राम की सड़क पर स्थित फतहसर नामक एक उद्यान में रहा। उन दिनों गुजरात में ईसाइयों का प्रचार चरम सीमा पर पहुँच चुका था। नगर के मुख्य बाजारों में खड़े होकर पादरी लोग अपने व्याख्यान देते, जिनमें राम, कृष्ण आदि भारत के मान्य महापुरुषों की खुली निंदा होती थी। स्वामीजी के व्याख्यान तहसील के निकट एक सरकारी मकान में होने लगे, जहाँ बाद में सरकारी स्कूल का छात्रावास खुल गया था। अपने प्रथम व्याख्यान में उन्होंने देश की अवस्था पर विस्तृत प्रकाश डाला तथा बाल विवाह जैसी सामाजिक बुराइयों को राष्ट्र के सार्वत्रिक पतन का कारण घोषित किया। उनका दूसरा व्याख्यान मूर्तिपूजा पर हुआ, जिसमें महमूद गजनवी द्वारा सोमनाथ पर किये गये आक्रमण का विस्तृत किन्तु लोमहर्षक विवरण प्रस्तुत किया गया था।[६०] मन्दिरों में व्याप्त दुराचार एवं व्यभिचार की चर्चा करते हुए उन्होंने मूर्तिपूजा को ही उसके लिये उत्तरदायी ठहराया।

गुजरात निवासकाल में स्वामी दयानन्द का अनेक पण्डितों से शास्त्रीय प्रश्नों पर संवाद हुआ था। पं. होशनाकराय से उनकी न्याय शास्त्र पर चर्चा हुई। स्वामीजी ने महाभाष्य के आधार पर व्याप्ति के लक्षण किये,[६१] जब कि पण्डितजी का कथन जागदीशी जैसे नव्य न्याय के ग्रन्थ पर आधारित था। स्वामीजी की दृष्टि में नव्यन्याय अवान्तरकालीन चिन्तनधारा थी। वे तो प्राचीन दर्शन ग्रन्थों के आधार पर ही शास्त्र चर्चा करने के पक्षपाती थे। एक अन्य पण्डित गोस्वामी शिवदास से स्त्रियों और शूद्रों के वेदाधिकार पर चर्चा चली।[६२] गुजरात के गवर्नमेंट हाई स्कूल के मुख्य संस्कृत अध्यापक पं. नन्दलाल से भी उनका अनेक शास्त्रीय विषयों पर विचार विमर्श हुआ।

राजकीय हाई स्कूल के मुख्याध्यापक श्री बुचानन को अपने संस्कृतज्ञ होने का बड़ा गर्व था। उनसे स्वामीजी की चर्चा वेद के उस मंत्र के सम्बन्ध में हुई। जिससे आपाततः यह

ध्वनि निकलती थी कि वेदों में शव को जमीन में गाड़ने का विधान पाया जाता है। इस मंत्र को भी उन्होंने मोनियर विलियम्स लिखित 'इण्डियन विजडम' का सारे दिन पारायण करने के पश्चात् ढूंढ़ निकाला था। स्वामीजी ने मंत्र का वास्तविक अर्थ बता कर यह स्पष्ट कर दिया कि यहां भूमि में गड्ढा खोद कर पुनः शव को जलाने का उल्लेख है, न कि शव को गाड़ने का। जब बुचानन के लिए और कुछ कहना शेष नहीं रहा, तो उन्होंने किञ्चित् धृष्टता एवं अवमानना के स्वर में महाराज से पूछा—"अरे बाबा, तू इस ब्राह्मणों की मूर्तिपूजा रूपी जीविका को तो छीन रहा है, यह तो बता इसके बदले में इन्हें देता क्या है?" स्वामीजी ने अत्यन्त गम्भीरता से उत्तर देते हुए कहा, **मैं मूर्तिपूजा के जड़ संस्कारों से मुक्त कर इन्हें वेदाध्ययन करने तथा योगाभ्यास में प्रवृत्त होने की प्रेरणा करता हूं, क्या यह कम है?**

गुजरात में यों तो महाराज के अनेक व्याख्यान हुए, किन्तु उनमें तीन विशिष्ट महत्त्व के थे। इनमें से प्रथम वेदों के महत्त्व का प्रतिपादक था। व्याख्यान में उन्होंने तुलनात्मक दृष्टि से वेदोक्त धर्म की उत्कृष्टता पर प्रकाश डाला। द्वितीय व्याख्यान ब्रह्मचर्य से सम्बन्धित था। अन्तिम व्याख्यान संध्योपासना पर था। इसमें प्रासंगिक रूप से ओम् तथा गायत्री मंत्र की व्याख्या की गई थी। गायत्री के उत्कृष्ट अर्थों को सुन कर राजकीय हाई स्कूल के फारसी के अध्यापक मौलवी मुहम्मददीन तो अत्यन्त भाव विभोर हो गये और उन्होंने सभा में खड़े होकर घोषित किया कि यदि गायत्री मंत्र के भाव इतने उत्कृष्ट एवं उदात्त हैं, तो वे भविष्य में नमाज के स्थान पर गायत्री जप युक्त संध्योपासना ही किया करेंगे। निश्चय ही दयानन्द के व्याख्यान कौशल तथा उनकी विवेचन क्षमता ने आर्येतर मतावलम्बियों को भी प्रभावित किया था।

जिस युग में दयानन्द को अपना कार्य करना पड़ा, वह आज के युग से नितान्त भिन्न ही था। अंधविश्वास एवं जड़ता से परिपूर्ण उस युग में द्विजेतर जातियों की उपस्थिति में प्रणव के उच्चारण तथा गायत्री के जप को घोर पाप माना जाता था। जब दयानन्द ने संध्या की व्याख्या के प्रसंग में गायत्री मंत्र का सस्वर उच्चारण किया, तो सभा में खलबली मच गई। पुरोहित वर्ग शतमुख होकर महाराज पर अभिशाप वृष्टि करने लगा और उन्हें ईसाइयों का एजेंट तथा प्रच्छन्न ईसाई कह कर नाना प्रकार की कुत्सा में प्रवृत्त हुआ। जब वे स्वामीजी को धर्म प्रचार से विमुख करने में असमर्थ रहे तो उन्होंने जम्मू निवासी एक विद्वान् को स्वामीजी से शास्त्रार्थ के लिए सन्नद्ध किया। अन्ततः शास्त्रार्थ का समय निश्चित हुआ। चर्चा का प्रारम्भ करते हुए महाराज ने जम्मू वासी पण्डित से पूछा कि क्या वे अपने प्रमाणभूत ग्रन्थों की लाये हैं? इसके उत्तर में पण्डितजी ने अपनी बगल में दबाई एक पुस्तक की ओर संकेत किया और कहा कि यही उनका प्रामाणिक ग्रन्थ है। वस्तुतः यह एक ऐसी पुस्तक थी, जिसके प्रथम पृष्ठ पर ही थोड़े से मंत्र अंकित थे। इसके अवशिष्ट पृष्ठ तो कोरे ही थे। पण्डितजी की इस धोखाधड़ी से खिन्न होकर स्वामीजी ने अत्यन्त शोकपूर्ण स्वर में कहा, "**अहा, देश का कितना दुर्भाग्य है कि आज इतने बड़े नगर में वेद की एक भी पुस्तक उपलब्ध नहीं है।**" पुनः उन्होंने ईसाइयों की ओर संकेत कर बताया कि इन लोगों ने अपने धर्मग्रन्थ का संसार की विभिन्न भाषाओं में अनुवाद कर उसे विश्वव्यापी बना दिया है। अन्त में उन्होंने उपस्थित ब्राह्मण समुदाय को

सम्बोधित करते हुए कहा—"आप मुझे अपना शत्रु न समझें। मेरी इच्छा तो यही है कि आप सुपठित बनें तथा अपने धर्म ग्रन्थों से परिचित हों।" इसके पश्चात् शास्त्रार्थ का तो प्रसंग ही टल गया।

पौराणिक लोग जब स्वामीजी से शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करने के अपने मनसूबों को छिन्न भिन्न हुआ देखते थे, तो वे उनके प्राणहरण की चेष्टा करने लगते। गुजरात में भी ऐसा ही हुआ। एक गुण्डे को यहां तक उकसाया गया कि वह खुले आम स्वामीजी को मार डालने की घोषणा करता फिरने लगा। परन्तु निर्भीकमना दयानन्द भला ऐसी गीदड़ भभकियों में कैसे आते? उन्होंने अपने शुभचिन्तकों से स्पष्ट कह दिया कि यदि मैं इस प्रकार भयभीत होकर वेदोपदेश तथा धर्मप्रचार के कार्य को बन्द कर दूं, तो जिस ध्येय को पूर्ति को मैंने अपना लक्ष्य बनाया है, वह तो अधूरा ही रह जायगा। महाराज की उदारता तथा क्षमाशीलता भी पराकाष्ठा की थी। जब उन पर ईंटों का प्रहार करने वाले एक व्यक्ति को पुलिस कर्मचारी पकड़ कर उनके समक्ष लाये, तो उन्होंने सहज उदार भाव से उसे क्षमा कर दिया तथा छोड़ देने के लिये कहा।

स्वामी दयानन्द में प्रत्युत्पन्नमतित्व भी असाधारण कोटि का था। अपने इसी गुण के कारण वे शास्त्रार्थ एवं धर्म चर्चा में अपने प्रतिद्वन्द्वी को सहज ही निग्रह स्थान पर ले आते थे। एक बार कुछ लोगों ने पारस्परिक मंत्रणा कर उनसे एक विचित्र प्रश्न पूछा—"आप ज्ञानी हैं, या अज्ञानी?" प्रश्नकर्त्ताओं का आशय था कि यदि स्वामीजी अपने आपको ज्ञानी बतायेंगे तो हम उन्हें अहंकारी करार देंगे और यदि वे अपने को अज्ञानी स्वीकार करेंगे को हम तुरन्त कह देंगे कि इस स्थिति में आपको दूसरों को उपदेश देने का अधिकार ही क्या है? परन्तु स्वामीजी भी उनके अभिप्राय को भांप गये। अब उन्होंने सहजभाव से उत्तर दिया, "मैं कुछ बातों में ज्ञानी हूँ। जहाँ तक संस्कृत भाषा और वेदादि शास्त्रों का सम्बन्ध है, मैं अपने को ज्ञानी मानता हूँ, परन्तु फारसी भाषा तथा वाणिज्य व्यवसाय में तो अज्ञानी ही हूँ।" स्वामीजी के इस सटीक उत्तर के पश्चात् प्रश्नकर्त्ताओं का अप्रतिभ हो जाना स्वाभाविक ही था।

प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति के लिये उनके पास निश्चित संदेश एवं उपदेश था। वे छात्रों को ब्रह्मचर्य पालन तथा संस्कृत अध्ययन के लिये कहते। नारी वर्ग को पतिसेवा, गृहस्थसंचालन तथा विद्या ग्रहण करने का उपदेश देते। इन दिनों वेदभाष्य लेखन का कार्य भी द्रुतगति से चल रहा था। वेद भाष्य का लेखन करने वाले पण्डितों को वे तीव्र गति से लिखाते चलते। लिखने वाला चाहे पीछे रह जाता, किन्तु महाराज का वाक् निर्झर अविरामगति से प्रवाहित होता ही रहता। स्वामी दयानन्द का जीवन दर्शन था—सत्य का सर्वतोभावेन प्रचार। सत्य और धर्म के लिये ही वे उत्सर्गीकृत थे। जब एक दिन गुजरात के उच्च राजकर्मचारियों ने उनसे कहा कि वे खण्डन का तीव्र कुठार चला कर व्यर्थ में ही लोगों को क्यों अपना शत्रु बना रहे हैं, तो उत्तर में स्वामीजी ने स्पष्ट कर दिया कि अपना पेट तो पशु भी भर लेते हैं। जो अन्यों के हित साधन में प्रवृत्त होता है, वही मनुष्य कहलाने का अधिकारी है।

दो सप्ताह से कुछ अधिक समय तक गुजरात में रहकर महाराज रेल मार्ग से बजीराबाद आये। इस नगर में उनका पदार्पण माघ अमावस्या, दो फरवरी, शनिवार को हुआ। स्टेशन पर आर्यसमाज बजीराबाद के सभासदों तथा अन्य व्यक्तियों ने उनका स्वागत किया और राजा फजीरूल्ला के उद्यान गृह में डेरा कराया। अगले दिन से उनके व्याख्यान आरम्भ हो गये। इस नगर के पौराणिक किसी पं. वासुदेव को १०० रु. दक्षिणा का प्रलोभन देकर स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिये ले आये। आगन्तुक पण्डित की प्रतिज्ञा थी कि वे वेद मंत्रों से तुलसी और शालिग्राम की पूजा सिद्ध कर देंगे। जब स्वामीजी ने उनसे ऐसा मंत्र प्रस्तुत करने के लिये कहा, तो पण्डितजी किसी अवान्तर ग्रन्थ का वाक्य कहकर मौन हो गये। इस पर स्वामीजी ने दृढ़ स्वर में कहा कि उन्हें तो मूर्तिपूजा के समर्थन में वेद मंत्र ही प्रस्तुत करना है। इसी बीच उपद्रवकारी लोगों ने एक लड़के द्वारा बीच में शोरगुल करा दिया। जब बात बढ़ने लगी तो उपद्रवकारियों ने स्वामीजी के लिपिक बिहारी बाबू को पीट दिया। बात बढ़ जाने की आशंका से स्वामीजी स्वयं अपना सोटा लेकर आगे आये और प्रचण्ड गर्जन के साथ उन्होंने दुष्टों को ललकारा। इस पर गुण्डा मण्डली भाग खड़ी हुई।

इस घटना के पश्चात् भी स्वामीजी कुछ दिनों तक बजीराबाद में रहे और उनके व्याख्यान भी होते रहे। माघ शुक्ला पञ्चमी, सात फरवरी, गुरुवार को वे गुजरांवाला आये और सरदार महासिंह की समाधि के भवन में उन्हें ठहराया गया। तीसरे दिन से व्याख्यान आरम्भ हुए। 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' को आधार बना कर वैदिक सिद्धान्तों पर उन्होंने अनेक व्याख्यान दिये। गुजरांवाला में ईसाइयों का प्राबल्य था। उन्होंने कुछ पौराणिक पण्डितों को स्वामीजी से शास्त्रार्थ के लिये उकसाया, किन्तु उनकी एक न चली। पं. विद्याधर ने तो यहाँ तक कह दिया कि स्वामीजी और हमारे बीच के मतभेद एक घरेलू मामला है, इसमें आप लोग क्यों दखल देते हैं। स्वयं पं. विद्याधर स्वामीजी से मिलने गये और पर्याप्त समय तक सद्भावना पूर्ण वार्तालाप होता रहा।

जब ईसाइयों की यह चाल सफल नहीं हुई, तो उन्होंने स्वयं ही शास्त्रार्थ करने का निश्चय किया। १९ फरवरी १८७९ को सायं चार बजे गिरजाघर में शास्त्रार्थ होना निश्चित हुआ। अनेक विदेशी[६३] तथा देशी पादरियों के अतिरिक्त उच्चपदासीन अंग्रेजी अधिकारी भी दर्शक रूप में शास्त्रार्थ में उपस्थित थे। डिप्टी गोपालदास एक्स्ट्रा एसिस्टेंट कमिश्नर को मध्यस्थ बनाया गया। विचार का विषय था 'क्या जीव और ईश्वर दोनों अनादि हैं?' स्वामीजी का कथन था कि जीव एवं ईश्वर में सेव्यसेवक भाव होता है अतः दोनों के चेतन एवं अनादि होने पर भी दोनों का अन्तर स्पष्ट है। शास्त्रार्थ लिखित रूप में हुआ था, परन्तु पं. लेखराम के अनुसार यह विवरण गुम हो गया। शास्त्रार्थ की समाप्ति पर मध्यस्थ ने स्वामीजी को विजयी घोषित किया। इस पर पादरी लोग बड़े भन्नाये और दूसरे दिन उन्होंने मध्याह्न के बारह बजे, जिस समय स्वामीजी वेदभाष्य प्रणयन में व्यस्त रहते थे, उन्हें कहलाया कि वे गिरजाघर में शास्त्रार्थ के लिये आये। स्वामीजी ने कहा कि यह समय तो उनके लेखन कार्य का है और मध्याह्न में शास्त्रार्थ करने की कोई पूर्व सूचना भी नहीं है, अतः वे आने में असमर्थ हैं। पादरी तो यही चाहते थे। उन्होंने गिरजाघर में उपस्थित कुछ ईसाइयों और स्कूली छात्रों के समक्ष स्वामीजी की पराजय घोषित कर दी।

जब यह समाचार स्वामीजी को मिला, तो उनके रोष की सीमा न रही। इसके प्रतिकार रूप में उन्होंने अपने निवास के निकट एक विस्तृत स्थान पर लोगों के बैठने की व्यवस्था की और पादरी समुदाय को वहां आकर पुनः शास्त्रार्थ करने के लिये कहलाया। अपनी पराजय से खिन्न पादरी वर्ग को तो अब क्या आना था ? अतः स्वामीजी ने ही उपस्थित जनसमुदाय के समक्ष ईसाई मत की समालोचना में एक प्रभावशाली व्याख्यान दिया।

वस्तुतः गुजरांवाला के हिन्दू इस बात से अत्यन्त प्रसन्नता अनुभव कर रहे थे कि अब तक उनके मत पर नाना प्रकार के आरोप एवं लांछन लगाने वाले पादरियों को भी सटीक उत्तर देकर स्वामी दयानन्द ने उनके स्वाभिमान तथा गौरव की रक्षा की है। जिस दक्षिणा-लोलुप पं. वासुदेव ने बज़ीराबाद में स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने का आडम्बर किया था और वहां उपस्थित उद्दण्ड मण्डली के कारण स्वामीजी के सेवकों को जैसा कष्ट उठाना पड़ा था, यह हम विगत पृष्ठों में देख चुके हैं। वही पण्डित वासुदेव, अब गुजरांवाला में आकर पश्चात्ताप भाव से स्वामीजी से मिला और जो कुछ वहां घटित हुआ, उसके लिये क्षमायाचना की। स्वामी दयानन्द तो मानापमान से ऊपर उठे हुए थे। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि हम तो संन्यासी हैं। हमने तुम्हारे आचरण का पहले भी बुरा नहीं माना, तो अब शेष रह ही क्या गया ?

एक दिन पादरी मैकी साहब जब दैनन्दिन भ्रमण के समय स्वामीजी से मिले, तो कहने लगे कि आप तो हमारा बड़ा कड़ा खण्डन करते हैं। महाराज ने विदग्धतापूर्ण उत्तर दिया, "खण्डन कहां करता हूँ। मैं तो आपके मान्य ग्रन्थों का पाठ मात्र ही कर देता हूँ। यदि इसे ही आप खण्डन कहते हैं, तो इसमें मेरा क्या अपराध है ?" पुनः उन्होंने स्पष्ट किया कि उनकी समालोचना द्वेषबुद्धि से प्रेरित नहीं है। सत्य तो यह है कि सैमेटिक मजहबों की युक्ति, तर्क एवं विज्ञान विरुद्ध बातों से भरी पुस्तकों को जब जिज्ञासुजनों के समक्ष यथा तथ्य प्रस्तुत कर दिया जाता था, तो स्वभावतः लोगों का उनसे विश्वास हट जाता। इसे ही पादरी साहब कठोर खण्डन समझ रहे थे।

स्वामी दयानन्द के उपदेशों की सफलता का परिणाम तो तुरन्त सामने आ जाता था। इसी नगर के मुन्शी नारायणकृष्ण, जो प्रारम्भ में अपने आपको स्वामीजी का कट्टर विरोधी मानते थे, उनके उपदेशों से प्रभावित होकर न केवल उनके अनुयायी ही बने, अपितु उन्होंने आर्यसमाज गुजरांवाला के प्रथम प्रधान पद को भी सुशोभित किया। इसी नगर के मंदिर का एक पुजारी भगवद्दत्त स्वामीजी के उपदेशों से आकृष्ट होकर अपने देवता की आरती समय से पूर्व ही समाप्त कर लेता और चरणामृत बांटने का काम अपने साथी के सुपुर्द कर स्वयं स्वामीजी के व्याख्यान सुनने चला जाता। ऐसे ही दृष्टान्त इस तथ्य को सिद्ध करते हैं कि दयानन्द की वाणी तथा उससे व्यक्त होने वाले विचारों में सत्यता का कुछ ऐसा ओज और तेज रहता था, जिसका अवश्यंभावी प्रभाव होता ही था।

स्वामी दयानन्द यदा कदा ब्रह्मचर्य की महत्ता का प्रतिपादन अवश्य करते। पंजाब प्रान्त में आकर उन्होंने वीर हरिसिंह नलुआ की वीरता की चर्चा की और उसके प्रचण्ड पराक्रम का कारण पच्चीस वर्ष तक उसके ब्रह्मचर्य पालन को बताया। उन्होंने इसी प्रसंग में निज का

दृष्टान्त उपस्थित करते हुए कहा कि यद्यपि इस समय उनकी आयु तिरेपन वर्ष की है, किन्तु अपने अखण्ड ब्रह्मचर्य के बल पर वे घोषणा करते हैं कि उनके शारीरिक बल की आजमाइश जिसे भी करनी हो वह आगे आये। मैं उसका हाथ पकड़ता हूँ, वह उसे छुड़ा कर दिखाये, या मेरा ही हाथ झुका दे। यद्यपि उस समय बड़ी संख्या में लोग उपस्थित थे और कई काश्मीरी पहलवान भी आये हुए थे, परन्तु स्वामीजी की चुनौती स्वीकार करने का साहस किसी में नहीं था। स्वामीजी के प्रस्थान से एक दिन पूर्व ही फाल्गुन कृष्णा त्रयोदशी (३ मार्च १८७८) को गुजरांवाला में आर्यसमाज की स्थापना हो गई।

फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी, शनिवार ३ मार्च को स्वामीजी पुनः लाहौर पहुंचे। नवाब रज़ाअली खां के बाग में ठहरे और यहाँ पर उनके प्रवचन होने लगे। ११ मार्च को इस्लाम की समालोचना में उनका एक प्रखर व्याख्यान इसी स्थान पर हुआ। नवाब नवाजिश अली भी समीप ही टहलते हुए महाराज का समालोचनात्मक व्याख्यान सुन रहे थे। व्याख्यान की समाप्ति पर किसी शुभचिंतक ने उनसे कहा "महाराज, आपको ठहरने के लिये न तो हिन्दू और न ब्रह्मसमाजी ही कोई स्थान देते हैं। यह तो नवाब साहब की कृपा है कि उन्होंने अपने उद्यान में आपको ठहराया है। कहीं ऐसा न हो कि स्वमत की आलोचना से खिन्न होकर नवाब साहब भी आपको यहां से विदा कर दें।" निर्भीक संन्यासी ने उत्तर में कहा, **"मेरा प्रयोजन किसी मत या समुदाय की अनावश्यक निंदा या स्तुति करना नहीं है। और न मैं किसी से भयभीत होकर ही अपने कर्त्तव्य से विरत होता हूँ। वैदिक धर्म ही मेरा प्रतिपाद्य है और मेरी यह दृढ़ धारणा है कि यही सच्चा मानव धर्म है जिसके परिपालन में अशेष जगती का हित निहित है। इसी वेदोक्त धर्म का प्रचार मुझे अभीष्ट है। मैं तो स्वयं भी जानता था कि नवाब साहब मेरा भाषण सुन रहे हैं। अतः मैंने सकारण ही वैदिक धर्म की इन विशेषताओं को उन्हें कर्ण गोचर कराया है। परमात्मा के अतिरिक्त मुझे किसी का भय नहीं है।"** संन्यासी की इस सत्योक्ति पर कुछ भी टिप्पणी करना अनावश्यक है। सम्भवतः सत्य के प्रति इतना निर्मम आग्रह व्यक्त करने वाला तथा अन्याय, असत्य एवं अधर्म का प्राणपण से विरोध करने वाला ऐसा महापुरुष संसार के रंगमंच पर प्रथम बार ही अवतरित हुआ था।

इस अल्पकालीन लाहौर प्रवास के पश्चात् स्वामीजी ने मुलतान के लिये प्रस्थान किया। फाल्गुन शुक्ला अष्टमी १९३४ वि., १२ मार्च १८७८, मंगलवार को वे इस नगर में पहुंचे। अन्य नगरों की ही भांति मुलतान में भी महाराज की कीर्तिकौमुदी उनके आगमन के पूर्व ही प्रसरित हो चुकी थी। इस नगर के कतिपय ब्रह्मसमाजी तथा अन्य सुधारप्रिय सज्जनों ने स्वामीजी को यहां आमंत्रित करने का निश्चय किया तथा लाहौर से उन्हें लिवा लाने के लिये ब्रह्मानन्द को भेजा। महाराज के भोजनादि की व्यवस्था के लिये १३८ रु. का चंदा भी किया गया था।

जब स्वामीजी मुलतान आये, तो स्टेशन पर उनकी अगवानी के लिये अनेक प्रतिष्ठित पुरुष उपस्थित थे। प्रथम उन्हें ब्रह्मसमाज के मंदिर में ले गये। तदनन्तर उन्हें बेगी बाग में ठहरा दिया गया। इसी स्थान पर उनके व्याख्यान आरम्भ हुए। प्रथम व्याख्यान सृष्टि

विषयक था। इस व्याख्यान में उन्होंने बताया कि मनुष्य की आदि सृष्टि त्रिविष्टप (तिब्बत) पर हुई थी। आर्य लोग वहां से चल कर भूमण्डल के विभिन्न स्थानों पर गये तथा वहां उन्होंने अपने उपनिवेश बसाये।[६४] इन व्याख्यानों में पर्याप्त संख्या में लोग उपस्थित होते थे।

बम्बई की ही भांति मुलतान भी वल्लभ सम्प्रदाय का केन्द्र स्थान रहा है। जब स्वामीजी के व्याख्यानों में इस सम्प्रदाय के अनाचारपूर्ण क्रिया कलापों की तीव्र समीक्षा की जाने लगी, तो गोकुलियां गोसाइयों ने सभास्थल पर बाधा उपस्थित की। गोस्वामी गोपालदास स्वामीजी के व्याख्यानों में व्याघात पहुंचाने की दृष्टि से दो बार सभा स्थान में आया और उसने घण्टा घड़ियाल बजाकर शोर शराबा किया।[६५] यद्यपि पुलिस ने हस्तक्षेप कर उपद्रव करने वालों को चुप करा दिया, किन्तु महाराज के प्रशंसकों ने यही उचित समझा कि अब से व्याख्यानों का प्रबंध अन्यत्र किया जाना चाहिए।

पर्याप्त विचार विमर्श के पश्चात् छावनी क्षेत्र में व्याख्यान कराने का निश्चय किया गया। इस आयोजन में मुलतान के कतिपय पारसी सज्जनों[६६] की प्रेरणा कार्य कर रही थी। मुलतान छावनी में महाराज के तीन व्याख्यान क्रमशः यज्ञोपवीत, योरप महाद्वीप में सभ्यता का विकास तथा प्राचीन काल में विवाह की प्रथा पर हुए। इन व्याख्यानों के विषयों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि स्वामीजी जहां आर्यों के आचार, विचार, धर्म तथा संस्कृति जैसे विषयों पर अधिकारपूर्वक बोलते थे, वहां विश्व-इतिहास के सम्बन्ध में भी उनकी प्रामाणिक जानकारी थी। योरप की सभ्यता पर व्याख्यान देना उनके विशद इतिहास-ज्ञान का परिचायक है।[६७] इन व्याख्यानों के आयोजन में पारसी बंधुओं का हाथ था, अतः वर्तमान आर्यों और पारसियों में पारस्परिक सम्बन्धों की चर्चा भी चली। महाराज ने बताया कि इन दोनों जातियों के पूर्वज अपने को आर्य ही कहते थे। इस पर हरमुसजी नामक सज्जन ने पूछा कि यदि हमारे और आपके पूर्वज एक ही थे, तो अब हिन्दुओं और पारसियों में परस्पर खान पान का सम्बन्ध क्यों नहीं होता? उत्तर में महाराज ने स्पष्ट किया कि इसका एक कारण तो यही है कि सम्प्रति पारसी लोगों का मुसलमानों से भोजनपान आदि का निकटवर्ती सम्बन्ध है, जिसे अधिकांश हिन्दू पसन्द नहीं करते। परन्तु सर्वोपरि बात तो यह है कि एक दूसरे के निकट बैठ कर भोजन करना या एक ही थाली में खाना सम्बन्धों की निकटता का सूचक नहीं होता। उन्होंने दृष्टान्त देकर बताया कि एक दूसरे का जूठा खाने वाले मुसलमान भी आपस में लड़ते हैं। पुनः स्वास्थ्य-विज्ञान के आधार पर उन्होंने भोजन विषयक मर्यादाओं की व्याख्या की। इसी संदर्भ में उन्होंने शिखा धारण[६८] आदि लोकाचारों की देश काल के आधार पर विवेचना भी प्रस्तुत की।

मुलतान में उनके ३६ व्याख्यान हुए[६९], इनमें से निम्न २३ व्याख्यानों के शीर्षक पं. लेखराम ने स्वरचित जीवन चरित में में उद्धृत किये हैं—

१. ब्राह्मणों की विद्या २. वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं ३. ईश्वर का निराकारत्व ४. गोकुलिया गुसाइयों की लीला ५. तिलक, छाप का खण्डन ६. मूर्तिपूजा और अवतारवाद की समीक्षा ७. यज्ञोपवीत और हवन ८. स्वजीवन चरित ९. इस्लाम की मान्यताएं १०. ईसाई मत ११. सृष्टि विद्या १२. ब्रह्मसमाज की समीक्षा तथा आर्यधर्म की व्याख्या १३. योरप की

बसावट १४. आवागमन व पुनर्जन्म १५. नवीन वेदान्त १६. खानपान, पथ्यापथ्य व स्वास्थ्य रक्षा १७. तीर्थ यात्रा और धार्मिक मेले १८. विधवाओं की दुरवस्था १९. ब्रह्मचर्य का महत्त्व २०. पठनपाठन विधि २१. 'आर्य' और 'हिन्दू' शब्द २२. योग २३. छ शास्त्रों की एक-वाक्यता।

व्याख्यानों की उपर्युक्त सूची पर विचार करने से इस निष्कर्ष पर पहुंचना सहज है कि स्वामी दयानन्द अपने भाषणों में मानव जीवन से सम्बन्धित विभिन्न उपयोगी विषयों की विवेचना तो करते ही थे, वे धर्म, अध्यात्म, दर्शन, उपासना, धर्मों के तुलनात्मक विवेचन जैसे विषयों पर भी अधिकारपूर्वक अपने विचार प्रस्तुत करते थे। ब्रह्मसमाज की चर्चा के प्रसंग में उन्होंने कलकत्ता में केशवचन्द्र सेन से हुई अपनी भेंट का विवरण देते हुए बताया कि केशव बाबू से उनका वार्तालाप वेदों के ईश्वरोक्त होने तथा वैदिक दर्शनों की प्रमाण मीमांसा के सम्बन्ध में हुआ था। स्वामीजी के इस व्याख्यान को सुनकर मुलतान के ब्रह्मसमाजियों ने यह निश्चय कर लिया था कि वे आर्यसमाज के सभासद बन जावेंगे। किन्तु उन्हीं में से एक ने जब यह कहा कि क्या दयानन्द की युक्ति एवं तर्क के प्रवाह में बह कर ही उन्हें ब्राह्मधर्म को तिलाञ्जलि दे देनी चाहिए, तो ब्रह्मसमाजियों के उपर्युक्त निश्चय में शिथिलता आ गई। तथापि वे आर्यसमाज को सब प्रकार से सहायता देते रहे।

नवीन वेदान्त की समालोचना के प्रसंग में उन्होंने उपनिषदों के कतिपय वाक्यों को महावाक्य कहने पर आपत्ति करते हुए बताया कि नवीन वेदान्ती इन वाक्यों को प्रसंग से पृथक् कर उनका मनमाना अर्थ करते हैं। पठनपाठन के विषय की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि छ वैदिक दर्शन तथा १० उपनिषदें ही प्रमाण कोटि में हैं। नवीन वेदान्त के प्रतिपादक उपनिषद् अर्वान्तरकालीन होने से प्रामाणिक नहीं हैं। 'आर्य' और 'हिन्दू' की विवेचना के प्रसंग में उन्होंने 'आर्य' शब्द को गुणवाचक तथा श्रेष्ठ पुरुषों के लिये प्रयुक्त होने वाला बताया, जब कि हिन्दू का अर्थ गुलाम, काफिर, काला आदमी बताया।[७०] मुक्ति से पुनरावृत्ति की युक्ति युक्तता उन्होंने सप्रमाण सिद्ध की थीं।[७१] वेदों की व्याख्या के प्रसंग में उन्होंने गोतम अहल्या की कथा से सम्बन्धित पौराणिक उपाख्यान के मिथ्यात्व को सिद्ध करते हुए इसे वैदिक अलंकार बताया। इसी प्रकार अश्वमेध और गोमेध के वास्तविक अर्थों को स्पष्ट करते हुए यज्ञों में पशुवध को अनुचित सिद्ध किया।

पं. कृष्णनारायण से मांसाहार पर वार्तालाप के प्रसंग में स्वामीजी ने स्पष्ट किया कि मांस भोजन आत्मिकोन्नति में बाधक है। उन्होंने स्वयं का उदाहरण देकर कहा कि मैं विशुद्ध शाकाहारी हूँ किन्तु बलिष्ठ से बलिष्ठ मांसाहारी भी शारीरिक बल में मेरा मुकाबला नहीं कर सकता। स्वामीजी की प्रेरणा से उक्त पण्डितजी ने स्वयं शाकाहार को अपनाया और उन्हें असीम लाभ हुआ। मैक्समूलर के वैदिक ज्ञान की चर्चा चलने पर स्वामीजी ने बताया कि यह जर्मन विद्वान् इस क्षेत्र में तो अभी बालक ही है।[७२] जब तक वेदों का कोई पारगामी विद्वान् उसका गुरु बन कर बोध नहीं करायेगा, तब तक वेदार्थ में वह सायण, महीधर आदि मध्यकालीन याज्ञिक भाष्यकारों का ही अंधानुकरण करता रहेगा।

४ अप्रैल १८७८ को जब मुलतान में आर्यसमाज की स्थापना हुई, तो प्रारम्भ में

उसके सभासदों की संख्या सात ही थी। ब्रह्मानन्द ब्रह्मचारी ने हंसी हंसी में कहा महाराज आर्य-समाज के सदस्यों की संख्या तो सात ही है। इस पर स्वामीजी का उत्तर था, "चिन्ता क्या है ? जिस समय इस्लाम के पैगम्बर ने अपने मत का प्रवर्त्तन किया था, उस समय तो अकेली उनकी पत्नी ने ही इस्लाम की दीक्षा ली थी। हम तो सात हैं। चिंता की कोई बात नहीं।"

एक मास से कुछ अधिक समय तक मुलतान में रह कर श्री महाराज ने पुनः लाहौर की ओर प्रस्थान किया तथा चैत्र पूर्णिमा १९३५ वि., १७ अप्रैल १८७८ बुधवार को पञ्चनद प्रदेश की राजधानी में आ गये। इस बार उनका निवास १५ मई तक रहा। ८ मई को आर्यसमाज की अन्तरंग सभा का अधिवेशन था। एक सदस्य का प्रस्ताव था कि स्वामीजी प्रधान पद स्वीकार कर सभा का मार्गदर्शन करें, परन्तु निर्वाचित प्रधान की उपस्थिति में स्वामीजी ने सभा की अध्यक्षता करना अस्वीकार कर दिया। सभा सोसाइटियों के नियमों का विधिपूर्वक पालन वे आवश्यक समझते थे। जब लाहौर से विदाई की वेला निकट आई तो भक्त जनों ने आग्रह किया कि वे और कुछ काल तक पंजाब में विराजें, परन्तु महाराज का कहना था कि अन्य प्रान्तवासी भी उनके धर्मोपदेश सुनने के इच्छुक हैं, अतः एक ही प्रदेश में अधिक दिनों तक रुकना समीचीन नहीं है।

स्वामी दयानन्द अपने युग के प्रभावशाली व्याख्याता और उपदेशक ही नहीं, अपितु श्रोतावर्ग के मनोविज्ञान के अद्भुत ज्ञाता भी थे। एक व्यक्ति ने उनसे पूछा कि नाचरंग के कार्यक्रम को तो लोग सारीरात जाग कर देखते रहते हैं, जब कि गम्भीर एवं हितकारी धर्मोपदेश को सुनते ही उन्हें नींद आने लगती है। उत्तर में स्वामीजी ने बताया कि विषय-वासना के दूषित भावों से परिपूरित नृत्यगीतादि तो उत्तेजक होते हैं, अतः उनके देखने वालों को भला नींद कैसे आ सकती है ? इसके विपरीत धर्मोपदेश अत्यन्त शान्ति प्रद, आह्लाद-दायक तथा विश्रान्ति पूर्ण होता है। यही कारण है कि धर्म उपदेश के सुनने वालों की शारीरिक एवं मानसिक उत्तेजनाएं एवं व्याकुलता समाप्त हो जाती है और वह सुखद नींद लेने लगते हैं।

वैशाख शुक्ला चतुर्दशी, १५ मई १८७८ बुधवार को स्वामी दयानन्द अमृतसर आये और सरदार भगवानसिंह का तबेला नामक स्थान में स्थित उद्यान में ठहरे। इस बार भी उनके व्याख्यान उसी स्थान पर हुए जहां पूर्व निवास काल में हुए थे। एक दिन व्याख्यान के बीच कुरुक्षेत्र निवासी एक ब्राह्मण ने उच्च स्वर में संस्कृत बोल कर बाधा उपस्थित की। स्वामीजी ने उससे कहा कि वह पहले व्याख्यान तो होने दे, तत्पश्चात् निश्चिन्त होकर वे उससे वार्तालाप करेंगे। जब उनका व्याख्यान समाप्त हुआ और वे ब्राह्मण की ओर उन्मुख हुए तो स्वल्प आलाप के पश्चात् ही आगन्तुक ने मौन धारण कर लिया। कारण यह था कि यह ब्राह्मण कुछ अधिक पढ़ा लिखा नहीं था, इससे मौन हो जाने के अतिरिक्त उसके लिये और कोई चारा भी नहीं था।

दीवान अलखधारी ने इस घटना का उल्लेख इस प्रकार किया है।"इस व्याख्यान सभा की अध्यक्षता किशनकोट के राजा साहबदयाल कर रहे थे। जब उन्होंने देखा कि एक बूढ़ा ब्राह्मण स्वामीजी के उपदेश के समय बहुत रुष्ट तथा उत्तेजित हो रहा है, तो उन्होंने

व्याख्यान समाप्त होने के पश्चात् उसे अपनी बात कहने के लिये कहा। ब्राह्मण बोला, "मुझे स्वामीजी से केवल यही शिकायत है कि वे लोगों को ब्राह्मणों को दान न देने का उपदेश देते हैं। हमने न तो वेद पढ़े हैं और न शास्त्रों का ही अध्ययन किया है। हम पूजा पाठ करके अपने परिवार का पालन करते हैं। अब स्वामीजी हमारे गुजारे का यह साधन भी छीन रहे हैं।" ब्राह्मण की इस दुखद फरियाद को सुन कर स्वामीजी ने उसे संस्कृत के शास्त्र ग्रन्थों के अध्ययन करने का परामर्श दिया और कहा कि शास्त्र अधीत व्यक्ति दूसरों को शिक्षा व उपदेश देकर भी अपनी जीविका चला सकता है।[७३]

लगभग एक मास तक अमृतसर में स्वामीजी रहे, किन्तु पुराण मतावलम्बियों को उनसे शास्त्रार्थ करना नहीं सूझा। जब उनके प्रस्थान की वेला निकट आई, तो उन्होंने शास्त्रार्थ की चर्चा उठाई और स्वामीजी से अनुमति लिये बिना ही विज्ञापन प्रकाशित कर दिया कि १४, १५ जून १८७८ को घण्टाघर के निकट तेजासिंह के शिवालय में वसन्तगिरि साधु की मध्यस्थता में दयानन्द का स्थानीय पण्डितों से शास्त्रार्थ होगा। इसी आशय की सूचना आर्य-समाज के अधिकारियों को भी दे दी गई। आर्यसमाज के मंत्री ने उत्तर में लिखा कि हमें शास्त्रार्थ करना तो स्वीकार है, किन्तु प्रस्तावित स्थान पर यदि उपद्रव हुआ तो उसका दायित्व पौराणिकों का ही होगा। परन्तु जब शास्त्रार्थ विषयक किसी प्रकार की पारस्परिक सहमति होती दिखाई नहीं पड़ी, तो आर्यसमाज ने १८ जून को सायं ६॥ बजे भगवानसिंह के तबेले में शास्त्रार्थ करने का प्रस्ताव कर पौराणिक वर्ग को सूचित किया कि वे निश्चित समय में निश्चित स्थान पर आ जायें।

शास्त्रार्थ की सारी तैयारी कर ली गई और अब प्रतिपक्षी पण्डितों की प्रतीक्षा की जाने लगी। दर्शकों की संख्या ५-६ हजार के लगभग थी। जब बहुत देर तक इन्तजार के पश्चात् भी पण्डितगण नहीं आये, तो स्वामीजी ने श्रोताओं के समक्ष अपना व्याख्यान प्रारम्भ कर दिया। अभी महाराज का व्याख्यान आरम्भ हुआ ही था कि श्री मोहनलाल वकील पण्डित समुदाय के प्रवक्ता के रूप में उपस्थित हुए और कहने लगे कि पण्डितगण शास्त्रार्थ के लिये तैयार हैं, उन्हें बुला लिया जाय। थोड़ी देर पश्चात् वे आये और नियत स्थान पर बैठ गये। तत्पश्चात् शास्त्रार्थ की चर्चा चली, तो पण्डितों ने कहा कि आर्यसमाज द्वारा प्रस्तुत नियम उन्हें स्वीकार नहीं है। इसी बीच उपद्रवी लोगों ने ईंट पत्थर फेंकने आरम्भ कर दिये। एक पत्थर स्वामीजी को लक्ष्य करके फेंका गया, किन्तु उनके चारों ओर अन्य लोग खड़े थे, अतः वे साफ बच गये। अन्य लोगों को चोटें भी आईं। इस हड़बड़ी में सभा समाप्त हो गई। दूसरे दिन जब आर्यसमाज की ओर से मोहनलाल वकील को लिखा गया कि आप तो पौराणिक दल के प्रवक्ता हैं, अतः अपने पक्ष के पण्डितों द्वारा निश्चित शास्त्रार्थ के नियम भेजिये, तो इन महानुभाव ने वकीलाना अंदाज में उत्तर दिया कि अब उन पर शास्त्रार्थ का कोई दायित्व नहीं है। वह तो कल की घटना के साथ ही समाप्त हो गया था। फलतः २० जून को आर्यसमाज की ओर से सारी परिस्थितियों का स्पष्टीकरण करते हुए एक विज्ञापन प्रकाशित कर दिया गया। इस प्रकार शास्त्रार्थ का यह अध्याय समाप्त हुआ।

स्वामी दयानन्द मात्र धर्मोपदेष्टा ही नहीं, देश की आर्थिक, सामाजिक तथा राज-नैतिक स्थिति के जागरूक अध्येता तथा विचारक भी थे। अवसर आने पर वे इन विषयों पर

अपना सुचिन्तित मत व्यक्त करने में भी नहीं चूकते थे। व्याख्यान के एक प्रसंग में उन्होंने कहा, "आज हम देख रहे हैं कि हमारे शासक अंग्रेज लोग अधिकाधिक वैभव सम्पन्न होते जा रहे हैं, जब कि भारतवसियों की दरिद्रता भी दिन प्रतिदिन बढ़ रही है। परन्तु समस्या का एक दूसरा पहलू भी है। अंग्रेज जितने अधिक दरिद्र होंगे, वे उतने ही अधिक विलासी, इन्द्रियासक्त तथा आलसी होते जायेंगे। फलत : उनका पतन भी निकट आता जायगा। परन्तु इस देश के वासी अपनी दरिद्रता एवं निर्धनता से चिन्तित होकर यदि परिश्रमी बनेंगे, तो उनकी दशा उत्तरोत्तर उन्नत होती चली जायगी।" व्याख्यान में निहित इस राजनैतिक ध्वनि को सुनकर पं. बिहारीलाल अतिरिक्त सहायक आयुक्त ने महाराज को कहलाया कि जन-साधारण के बीच राजनीतिगर्भित व्याख्यान देना उचित नहीं है। परन्तु सत्य के अनन्य उपासक दयानन्द को इसकी कोई चिन्ता नहीं थी। उन्होंने उत्तर में स्पष्ट किया कि सत्य को प्रकट करने में मुझे कुछ भी भय नहीं है।

अमृतसर में एक व्याख्यान देते समय स्वामीजी ने सिक्खों के पवित्र सरोवर अमृतसर की कुछ आलोचना की, तो सिक्ख सम्प्रदाय का निहंग दल बड़ा रुष्ट हुआ। उन्होंने महाराज को मार डालने की भी धमकी दी, किन्तु परमात्मा के अटल विश्वासी दयानन्द ने निर्भीक भाव से कहा कि जिस जगदीश्वर की प्रेरणा से वे संसार के उपकार के कार्य में संलग्न हैं, उसी पर भरोसा रखकर स्वकार्य में लगे ही रहेंगे। वे साधारण मनुष्यों की धमकियों में आने वाले नहीं हैं।

दयानन्द के द्वारा जिस वैचारिक क्रान्ति का सूत्रपात इस देश में हुआ, उसका सही मूल्यांकन तो अभी शेष ही है। यह तो भावी इतिहासकारों का काम होगा कि वे इस क्रान्तिकारी धर्मोपदेशक, सामाजिक चेतना के सूत्रधार तथा राष्ट्रीय जागरण के अग्रदूत महापुरुष की उपलब्धियों का यथार्थ मूल्यांकन करें। अब तक जिन ब्राह्मणों ने शूद्रों के समक्ष वेदमंत्रों का उच्चारण करना पाप समझा था, अब वे ही शास्त्रार्थ सभाओं में स्वामीजी के समक्ष अपनी शास्त्रीय योग्यता प्रदर्शित करने के लिये धल्लड़े से वेद मंत्रों को बोलने लगे थे। इन सभाओं में तो शूद्र और यवन भी उपस्थित रहते थे।

ईसाइयों द्वारा हिन्दुओं के प्रतिष्ठित पुरुषों का धर्मान्तरण किया जाना उन्नीसवीं शताब्दी का एक दुखद प्रसंग था। पादरी वेरिंग (Waring) की प्रेरणा से पं. खड्गसिंह ईसाई बन चुके थे। अब इन पादरी साहब की इच्छा पं. खड्गसिंह से स्वामीजी का शास्त्रार्थ कराने की हुई। इस नव ईसाई को उसके गांव से बुलाया गया। पादरी वेरिंग तो यह स्वप्न संजोये बैठे थे कि उनके शिष्य खड्गसिंह शीघ्र ही स्वामीजी को पराजित कर ईसाई जगत् में नाम कमायेंगे, किन्तु विधाता का विधान कुछ अन्य ही था। अमृतसर आकर पं. खड्गसिंह एक अन्य परिचित व्यक्ति ज्ञानसिंह के साथ स्वामीजी से भेंट करने तथा यह जानने के लिये कि जिस व्यक्ति से उन्हें शास्त्रार्थ करना है, वह कितनी योग्यता का है, महाराज के निवास स्थान पर गये। जिस समय ये लोग स्वामीजी के डेरे पर पहुंचे, उस समय महाराज का किसी ब्राह्मण से शास्त्रविषयक संवाद चल रहा था। अब एक आश्चर्यजनक घटना यह घटी कि कहां तो आगन्तुक ब्राह्मण की शंकाओं का समाधान स्वामीजी को करना था, और इसी बीच आये

खड्गसिंह ही महाराज के प्रवक्ता के रूप में प्रश्नकर्ता की शंकाओं का उत्तर देने लगे। जब ब्राह्मण ने कहा कि आप मेरे प्रश्नों का उत्तर देने वाले कौन होते हैं, तो पं० खड्गसिंह ने सरलतापूर्वक कहा कि यदि उनके उत्तर संतोषप्रद न लगें तो अवश्य ही स्वामीजी से पूछें।

इस अप्रत्याशित घटना के पश्चात् खड्गसिंह का ईसाइयत में विश्वास समाप्त हो गया और वे स्वामीजी के सुदृढ़ अनुयायी बन गये। उनका अवशिष्ट जीवन वैदिक धर्म का उपदेश करने में ही व्यतीत हुआ। पादरी वेरिंग को जब यह समाचार विदित हुआ तो वे भौचक्के से रह गये। उन्होंने कलकत्ता के प्रसिद्ध पादरी के. एम. बनर्जी को तार भेज कर अनुरोध किया कि वे शीघ्र अमृतसर आयें और स्वामीजी से शास्त्रार्थ करें। साथ ही स्वामीजी से भी प्रार्थना की कि जब तक पादरी बनर्जी कलकत्ता से न आ जावें, वे अमृतसर में ही रुके रहें। स्वामीजी ने तो अपने अमृतसर प्रवास की अवधि बढ़ा दी, किन्तु बंगाली पादरी कारण-वश नहीं आ सके। इस विचित्र घटनाचक्र से ईसाई मत की दुर्बलता जन साधारण पर प्रकट हो गई और अनेक लोग धर्मान्तरण के दूषित षड़यन्त्र से अपने को बचा सके। आर्यसमाज के वर्चस्व एवं प्रभाव में भी वृद्धि हुई।

लाहौर के प्रसिद्ध रईस सरदार दयालसिंह मजीठिया[७४] विचारों से ब्रह्मसमाजी थे, अतः वेदों के प्रति उन्हें विशेष श्रद्धा नहीं थी और न वे वेदों को अपौरुषेय अथवा ईश्वरीय ज्ञान ही मानते थे। स्वामीजी से उनका एतद् विषयक वार्तालाप हुआ, किन्तु जब बार बार सरदार मजीठिया प्रसंगान्तर करने लगे, तो स्वामीजी को कहना पड़ा कि वे अपने गुरु केशव-चन्द्र सेन महाशय को कलकत्ता से यहां बुला लें, अथवा उन्हें ही कलकत्ता ले जायें। वे सेन महाशय के समक्ष वेद विषयक आर्यों की पुरातन धारणाओं की सत्यता निश्चय ही स्थापित कर देंगे।

स्वामी जी दृढ़ आशावादी थे। निराशा को वे अपने पास फटकने नहीं देते थे। एक दिन पं. पोलहोराम नामक एक भक्त ने अत्यन्त नैराश्यभाव से आर्यसमाजियों की नगण्य संख्या का उल्लेख किया, तो महाराज ने उन्हें धैर्य बंधाते हुए कहा कि यदि हम दृढ़ मनस्क होकर कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हो जावें, तो सहस्रों व्यक्तियों को वेद मत का अनुयायी बना सकते हैं। उन्होंने स्वयं का ही दृष्टान्त देते हुए कहा कि जब वे कार्यक्षेत्र में अवतरित हुए थे, तब तो अकेले ही थे। आज ईश्वरीय अनुकम्पा से सैंकड़ों हजारों सहयोगी उनके साथ हैं। यह भी कहा कि स्वामी विशुद्धानन्द एवं बालशास्त्री जैसे संस्कृतज्ञ तथा शास्त्रवेत्ता उनका साथ दें, तो तीनों मिल कर समस्त भूमण्डल पर वैदिक विचारधारा का प्रचार कर सकते हैं। पुनः शोक व्यक्त करते हुए कहा कि बिना मेरे हार्दिक भावों को जाने ये विद्वान् मेरा विरोध करने में ही लगे हुए हैं। महाराज के इस कथन में जितनी वेदना थी, उतनी ही सचाई भी। न केवल समकालीन विद्वानों ने ही उनके हार्द को नहीं समझा, अपितु पश्चात्वर्ती इतिहासकार तथा समीक्षक भी दयानन्द के लक्ष्यों, उद्देश्यों तथा जीवन दर्शन को कहां समझ सके हैं? इन्ही पं. पोलहोराम को स्वामीजी ने गायत्री एवं प्रणव जप का क्रियात्मक उपदेश भी दिया तथा प्राणायाम विधि सिखाई।

इस प्रकार लगभग सवा वर्ष पांच नदियों के देश में व्यतीत कर दयानन्द सरस्वती अमृतसर से लुधियाना और अम्बाला होते हुए श्रावण कृष्ण पक्ष १९३५ वि. (जुलाई १८७८) की किसी तिथि को पश्चिमोत्तर प्रदेश के रुड़की नगर में पहुंचे।

□□

पाद टिप्पणियां

१. लाहौर में ब्रह्मसमाज की स्थापना १८६३ ई. में हुई थी। पंजाब में ब्रह्मसमाज की आरम्भिक गतिविधियों के लिये द्रष्टव्य—केनेथ डब्लू. जॉन्स लिखित आर्यधर्म का प्रथम अध्याय—The Beginning of Change. मनोहर बुक सर्विस दिल्ली से १९७६ ई. में प्रकाशित।

२. द्रष्टव्य—केनेथ डब्लू. जॉन्स लिखित आर्यधर्म पृ. १५

३. "During the 1860s and 1870s Kanhyalal travelled widely through out the Punjab, a lone refomer with a bitter tongue and sharp pen." Arya-Dharma: Kenneth W. Jones. p. 23.

४. कन्हैयालाल अलखधारी (१८०९-१८८२) का जन्म आगरा में हुआ था, किन्तु उनका कार्यक्षेत्र पंजाब रहा। लुधियाना में उन्होंने नीतिप्रकाश सभा तथा नीतिप्रकाश पत्र को जन्म दिया। पौराणिक नेता पं. श्रद्धाराम फिल्लौरी से धार्मिक मामलों में इनका संघर्ष होता रहता था।

५. तुलनीय—"देखो श्रीकृष्णजी का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है। उनका गुण, कर्म, स्वभाव और चरित्र आप्त पुरुषों के सदृश है।" सत्यार्थप्रकाश—एकादश समुल्लास।

६. स्वामीजी के लुधियाना प्रवास के समाचारों को 'नूर अफशां' नामक एक ईसाई पत्रिका ने अपने ५, १२ तथा १९ अप्रैल १८७७ के अंकों में प्रकाशित किया था।

७. भूतपूर्व मीरमुंशी पंजाब सरकार।

८. इन कथाओं का स्पष्टीकरण स्वामी दयानन्द ने स्वनिर्मित ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'ग्रन्थ प्रामाण्याप्रामाण्य विषय' के अन्तर्गत किया है।

९. द्रष्टव्य—कोहेनूर २८ अप्रैल १८७७ तथा अखबारेआम २ मई १८७७ के अंक, पं. लेखराम रचित जीवन चरित में उद्धृत।

१०. पौराणिक वर्ग में स्वामीजी के विरोध करने का बीड़ा पं. श्रद्धाराम फिल्लौरी ने उठाया। उसने सत सभा के पं. भानुदत्त तथा पं. हरप्रसाद के सहयोग से सनातन धर्म-रक्षिणी सभा की स्थापना की। मूर्तिपूजा के समर्थन में फिल्लौरी तथा पं. हरप्रसाद ने बावली साहब में व्याख्यान दिये।

११. शतपथ ब्राह्मण के आधार पर स्वामीजी ने इन यज्ञों की विस्तृत व्याख्या सत्यार्थप्रकाश

(११ वां समुल्लास) में की है जहां 'राष्ट्रं वा अश्वमेधः' तथा 'अन्नं हि गौः' जैसे प्रमाणों के आधार पर इन यज्ञों का अहिंसा प्रधान होना सिद्ध किया है।

१२. गवर्नर से भेंट करने से पूर्व स्वामीजी उसके सचिव जे. ग्रिफिथ से मिले थे।

१३. संस्कृत पाठ विधि का स्वामी दयानन्द द्वारा निर्मित यह प्रारूप उपलब्ध नहीं है।

१४. द्रष्टव्य—A free translation in English of Swami Dayanand Saraswati's answer to the objections made by certain reviewers of his Veda-Bhasya. Albert Press Lahore; यह एक दुर्लभ दस्तावेज है, जो प्रस्तुत ग्रन्थ लेखक के पुस्तकालय में सुरक्षित है।

पं. गोपाल शास्त्री शर्मा ने स्वरचित दयानन्द दिग्विजयार्क खण्ड-२ (पृ. ८२-८८) में उपर्युक्त का ही भाषानुवाद किया है। इसी सामग्री को ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन (पं. भगवद्दत्त सम्पादित) में भी उद्धृत किया गया है।

१५. ज्ञातव्य है कि पंजाब सरकार ने स्वामी दयानन्द कृत वेदभाष्य को आर्थिक सहायता देने विषयक प्रार्थनापत्र को तत्कालीन पंजाब यूनीवर्सिटी कालेज (उस समय तक पंजाब विश्वविद्यालय की विधिवत् स्थापना नहीं हुई थी) के रजिस्ट्रार डा० जी. डब्लू. लाइटनर को भेज दिया था। उन्होंने ही वेदभाष्य पर ग्रिफिथ, टॉनी आदि की सम्मतियां मंगाई थीं। जब इन प्रतिकूल सम्मतियों के आधार पर सरकार ने वेदभाष्य की किसी भी प्रकार से सहायता न करने का निश्चय किया, तो आर्यसमाज लाहौर के मंत्री श्री जीवनदास की ओर से डा० लाइटनर को एक प्रार्थनापत्र २५ अगस्त १८७७ को प्रेषित किया गया जिसमें सरकार से पुनः प्रार्थना की गई थी कि दयानन्द कृत वेदभाष्य पर लिखी गई आलोचनाओं के अनौचित्य को देखते हुए आर्थिक सहायता देने पर पुनर्विचार किया जाय। इस पत्र की एक दुर्लभ प्रति इस ग्रन्थ लेखक के पुस्तकालय में सुरक्षित है। यही पत्र ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन में भी उद्धृत किया गया है।

१६. वेदभाष्य के इन ग्राहकों की एक सूची दयानन्द दिग्विजयार्क (द्वितीय खण्ड—पृ. ६१—६२) में प्रकाशित हुई थी। इसमें भारतीय ग्राहकों के अतिरिक्त प्रोफेसर मैक्समूलर तथा प्रोफेसर मोनियर विलियम्स जैसे विदेशी ग्राहकों के नाम भी अंकित हैं।

१७. द्रष्टव्य ग्रन्थ—दयानन्द सरस्वती की वेद भाष्य प्रणाली को देन—डा. सुधीरकुमार गुप्त का शोध प्रबन्ध।

१८. फिल्लौरी लिखित 'भाग्यवती' उपन्यास को हिन्दी गद्य के प्रारम्भिक ग्रन्थों में गिना जाता है।

१९. श्रद्धाराम फिल्लौरी (१८३७—१८८२) जालंधर जिले के फिल्लौर कस्बे में उत्पन्न हुए थे। कन्हैयालाल अलखधारी द्वारा लुधियाना में नीतिप्रकाश सभा के उद्घाटन के अवसर पर फिल्लौरी ने अपने शिष्य द्वय—मुन्शी यमुनाप्रसाद तथा मुन्शी चेतराम नागर के साथ वहां उपस्थित होकर अलखधारी के सुधारवादी कार्यों का विरोध

किया। फिल्लौरी का यह विरोध कितना हास्यास्पद था, यह इसी बात से जाना जाता है कि उसने अलखधारी पर निम्न आरोप लगाये थे—१. मुन्शी कन्हैयालाल अलखधारी मस्तक पर तिलक धारण नहीं करते। २. इनकी रसोई में गोबर से चौका नहीं लगता। ३. मेज पर भोजन करते हैं। ४. भोजन को 'खाना' कहते हैं, जो मुसलमानी शब्द है। ५. जातिप्रथा को व्यर्थ मानते हैं। ६. गंगादि तीर्थों की यात्रा को यह मूर्खतापूर्ण कृत्य समझता है। ७. श्राद्धादि कृत्यों को ब्राह्मणों के जीविका निर्वाह का साधनमात्र समझता है। (द्रष्टव्य—तुलसीदेव लिखित फिल्लौरी का 'श्रद्धाप्रकाश' शीर्षक जीवनचरित, पंजाब इकॉनामिकल प्रेस, लाहौर से १८९६ ई. में मुद्रित)

२०. ब्रह्मसमाज लाहौर के पत्र बिरादरे हिन्द (भाग ३, अंक ६, पृ. १८२—१८६) के अनुसार पं. भानुदत्त मूर्तिपूजा के समर्थक नहीं थे। स्वामी दयानन्द ने उनसे यह अपेक्षा की थी कि वे प्रचारक के रूप में उनके साथ रह कर वेद धर्म के प्रचार में उनका सहयोग करेंगे। किन्तु अपनी दुर्बल मनोवृत्ति के कारण वे ऐसा नहीं कर सके।

२१. कोहेनूर ने अपने १६ जून १८७७ के अंक में बालकराम खत्री का उल्लेख किया है जिसने देवप्रतिमाओं के सिंहासन को लाहौर के बाजार में बीच सड़क पर फेंक दिया था।

२२. यजुर्वेद—१९—२८।

२३. पं. मथुरादास वेदान्ती से वार्तालाप के प्रसंग में वेदान्त के इन तथाकथित महावाक्यों की चर्चा चली थी। सत्यार्थप्रकाश के सप्तम समुल्लास में स्वामीजी ने इन उपनिषद्-वाक्यों का वास्तविक अर्थ प्रस्तुत किया है।

२४. लाहौर आर्यसमाज के प्रथम प्रधान लाला मूलराज तथा लाला सांईदास, लाला जीवनदास एवं पं. शारदाप्रसाद भट्टाचार्य तीन मंत्री निर्वाचित हुए थे। अन्य सभासदों की सूची के लिए द्रष्टव्य—पं. लेखराम रचित जीवन चरित पृ. ३५२।

२५. आर्यसमाज लाहौर द्वारा स्वीकृत ये नियम और उपनियम १९३४ वि. (१८७८ ई.) में न्यू मेडिकल हाल प्रेस बनारस में मुद्रित हुए थे। एक विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इन मुद्रित नियमों में नियम संख्या ३ इस प्रकार है—"वेद सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना, और सुनना सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।" आज जिस रूप में यह नियम मिलता है उसमें 'सत्य विद्याओं' के पूर्व 'सब' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यह और भी विचित्र बात है कि अनेक प्राचीन पुस्तकों में भी 'सब' का प्रयोग 'सत्य विद्याओं' से पूर्व नहीं मिलता। अब यह अन्वेषणीय है कि 'सब' विशेषण का प्रयोग कब और कैसे प्रचलित हुआ? राय बहादुर मूलराज ने कालान्तर में यह दावा किया था कि आर्यसमाज के नियमों एवं उपनियमों के निर्धारण में उन्होंने उस समय महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। परन्तु महात्मा मुंशीराम ने इस सम्बन्ध में संदेह व्यक्त करते हुए लिखा था—"He gives himself out as the author of the ten principles of the Arya Samaj, although

people are sceptic as to his power of even understanding some of them." The Gurukula Magazine. Vol. II, No. 7. Pausha. 1965 V.

२६. जो पक्षपात रहित, न्यायाचरण, सत्यभाषणादि युक्त ईश्वराज्ञा वेदों से अविरुद्ध है, उसको धर्म मानता हूँ। —स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश।

२७. महात्मा मुन्शीराम ने यह स्वीकार किया है कि आर्यसमाज के वेद विषयक तृतीय नियम के निर्धारण में स्वामीजी तथा राय मूलराज के बीच व्यापक परामर्श हुआ था— गुरुकुल मैगजीन अक्टूबर १९०८.

२८. यह कोठी छज्जू भगत की समाधि तथा किंग एडवर्ड मेडिकल कालेज के अन्त्य-परीक्षण हाल के बीच में थी। डा. रहीम खां स्वयं आर्यसमाज लाहौर के सदस्य बने थे।

२९. पं. युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार स्वामीजी १२ जुलाई को अमृतसर पहुँचे थे। —ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापनों के परिशिष्ट पृ. ४५ की पाद टिप्पणी।

३०. पं. घासीराम ने लाहौर जाने की तिथि १२ जुलाई रविवार बताई है, जब कि पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने इस पर लिखा है कि १२ जुलाई को रविवार नहीं, अपितु गुरुवार था। उनके विचार से स्वामीजी २२ जुलाई रविवार को लाहौर गये होंगे। द्रष्टव्य—ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापनों के परिशिष्ट पृ. ४५ की पादटिप्पणी।

३१. श्रीमद्दयानन्दप्रकाश : संगठनकाण्ड, पञ्चम सर्ग।

३२. पूरा नाम राबर्ट क्लार्क —१८२५ ई. में इंगलैण्ड में जन्म लेने वाले पादरी क्लार्क १८५१ ई. में अमृतसर आये। काश्मीर एवं पंजाब इनके प्रचार का क्षेत्र था। गॉस्पेल ऑफ सेंट जॉन का पश्तो में अनुवाद किया। पंजाब की चर्च मिश्नरी सोसाइटी के प्रमुख व्यक्ति थे।

३३. पं. लेखराम ने उपर्युक्त दोनों घटनाएं महाराज के द्वितीय बार के अमृतसर आगमन के समय की बताई हैं।

३४. आर्योद्देश्यरत्नमाला का रचनाकाल श्रावण शुक्ला सप्तमी, १९३४ वि. बुधवार है। इसका प्रथम संस्करण अमृतसर के चश्मएनूर छापेखाने में लीथो से छपा था।

३५. पं. लेखराम तथा पं. घासीराम के अनुसार वे १८ अगस्त को गुरदासपुर पहुंचे थे। हमारी तिथि का आधार पं. युधिष्ठिर मीमांसक की गणना है।

३६. यजुर्वेद २३/१९। वस्तुतः यजुर्वेद के इस मंत्र का पौराणिक देवता गणेश से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। महीधर ने इसका देवता 'ब्रह्मणस्पति' माना है तथा अश्वमेध प्रकरण में इसका अत्यन्त अश्लील विनियोग किया है। द्रष्टव्य—पं. सम्पूर्णानन्द रचित 'गणेश'।

३७. विस्तार के लिये द्रष्टव्य—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का 'भाष्यकरण शंकासमाधानादि-विषयः।'

३८. इनके नाम पर कालान्तर में लाहौर में फोरमेन क्रिश्चियन कॉलेज की स्थापना हुई थी। ये अमेरिकन प्रेसिबेटेरियन सोसाइटी से सम्बद्ध थे। ये १८४९ ई. में भारत आये थे। पंजाब के प्रारम्भिक ईसाई प्रचारकों में इनका प्रमुख स्थान था।

३९. सरदार सुचेतसिंह कपूरथला राजवंश के थे। वे राजा रणधीरसिंह के सौतेले भाई थे।

४०. सरदार विक्रमसिंह सरदार सुचेतसिंह के सगे छोटे भाई थे।

४१ पं. सत्यदेव विद्यालंकार (भूतपूर्व आचार्य महर्षि दयानन्द उपदेशक विद्यालय, टंकारा) ने अपने लेख में लिखा था कि बग्घी रोकने वाली घटना बम्बई में घटित हुई (आर्य जगत् १३ अप्रैल १९८० : ऋषि दयानन्द सम्बन्धी तथ्यों पर नया प्रकाश), परन्तु हमारे विचार से यह घटना जालंधर की ही है।

४२. यजुर्वेद २/३०

४३. दयानन्दशास्त्रार्थसंग्रह (सम्पादक : भवानीलाल भारतीय) में शास्त्रार्थ जालंधर पृ. १०८–११७ तक संग्रहीत है। द्रष्टव्य—द्वितीय संस्करण २०३९ वि., श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित।

४४. सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥ मनुस्मृति १/२१

४५. हिरण्यगर्भसूक्त—ऋग्वेद १०/१२१

४६. शतपथ ब्राह्मण—काण्ड ७ अध्याय ४ ब्रा. १ कण्डिका १९

४७. द्रष्टव्य—इण्डियन मिरर कलकत्ता (खण्ड १६, संख्या १५५) तथा बिरादरे हिन्द नवम्बर १८७७ ई.

४८. तुलनीय—पूजा नाम सत्कारस्सज्जनानां, तस्या अरिर्नाम शत्रुरयम्पूजारिशब्दार्थो वेद्यः। —वेद विरुद्धमतखण्डन।

४९. स्वामी सत्यानन्द ने इनका नाम 'जामसनजी' बताया है।

५०. उत्पत्ति की पुस्तक अध्याय १९ आयत ३०–३८.

५१. स्वामीजी और सम्पद्गिरि के सहपाठी होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

५२. ऋग्वेद १०/७५/५

५३. द्रष्टव्य—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्य विषय' में आलोच्य मंत्र की व्याख्या।

५४. बग्घी की किस्म का यान।

५५. अमीचन्द मेहता (निधन २९ जुलाई १८९३ ई.) मुहियाल ब्राह्मणों की 'बाली' उपजाति के थे। जन्म तिथि अज्ञात है।

५६. मेहताजी तहसील में वासिल बाकी नवीस के पद पर नियुक्त हुए थे। इन्हें स्थानापन्न नायब तहसीलदार का पद भी मिलने वाला था, किन्तु भ्रष्टाचार के एक मामले के कारण इन्हें अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ा। तत्पश्चात् ये एक सेठ की नौकरी स्वीकार कर कलकत्ता चले गये और वहां से तीन वर्ष पश्चात् जेहलम लौट कर आये। —अमीरससार में 'कवि का संक्षिप्त जीवन वृत्तान्त' (पं. चमूपति सम्पादित व राजपाल, लाहौर से १९२५ ई. में प्रकाशित)

५७. पं. चमूपति प्रदत्त विवरण के अनुसार मेहताजी की स्वामीजी से भेंट गुजरात (पश्चिमी पंजाब) में हुई थी। द्रष्टव्य—अमीरससार पृ. ३

५८. इस गीत की प्रासंगिक पंक्तियां हैं—

तुम्हारी कृपा से जो आनन्द पाया।
वाणी से जाये वह कैसे बताया॥

× ×

तुम्हारी कृपा से अजी मेरे भगवान्।
मेरी जिन्दगी ने अजब पलटा खाया॥ अमीर सुधा पृ. २

पं. दौलतराम शास्त्री द्वारा सम्पादित तथा रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित।

५९. अमीचंद मेहता का विस्तृत जीवन परिचय आज उपलब्ध नहीं होता। अमीरसुधा (सम्पादक : दौलतराम शास्त्री) तथा अमीरससार (सम्पादक : चमूपति) में इनके जीवन की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की गई है।

६०. स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश (१८७५ का प्रथम संस्करण) के ११ वें समुल्लास में भी गजनवी के आक्रमण का तथ्यात्मक विवरण दिया है।

६१. अविनाभावो व्याप्तिः महाभाष्य।

६२. इस प्रसंग में स्वामीजी ने कहा था कि स्वार्थी लोगों ने 'स्त्रीशूद्रौनाधीयातामिति श्रुतेः' जैसे कल्पित वाक्य रच कर वेदों के नाम पर प्रसिद्ध कर दिये हैं तथा इन्हीं के आधार पर स्त्रियों और शूद्रों के वेदाधिकार का निषेध कर दिया है। तुलनीय—सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में वेदाध्ययनाधिकार का प्रकरण।

६३. इस अवसर पर स्यालकोट के पादरी बार साहब, अमेरिकन मिशन के मैकी साहब तथा सोलफीट साहब उपस्थित थे। शास्त्रार्थ पादरी सोलफीट ने किया था।

६४. तुलनीय—सत्यार्थप्रकाश के अष्टम समुल्लास में 'मनुष्यों की प्रथम सृष्टि' का प्रकरण।

६५. In Multan his condemnation of the Gokulia Gossains, the local temple Brahmins, resulted in the most dramatic orthodox response of his entire tour. A mob, armed with knives and clubs shouting "Jai Gopal ! Jai Gopal"—Victory to Krishna—scattered one of his public gatherings." Arya Dharma (P. 40) By Kenneth W. Jones.

६६. मुलतान छावनी के जो पारसी व्यापारी इस कार्य में अग्रणी बने, उनमें दीनशा तथा बहरामजी का नाम उल्लेखनीय है।

६७. इतिहास विषय पर इससे पूर्व वे पूना में भी ६ व्याख्यान दे चुके थे।

६८. स्वामी दयानन्द के अनुसार शिखाधारण आदि सभी कृत्य लोकाचार के अन्तर्गत आते हैं।

६९. पं. घासीराम के अनुसार स्वामीजी इस नगर में ३६ दिन रहे और ३५ व्याख्यान दिये। एक दिन रुग्णतावश व्याख्यान नहीं दे पाये। पं. लेखराम के अनुसार उन्होंने ३६ व्याख्यान दिये थे।

७०. फारसी के एक शब्द कोष गयासुल्लुगात में ऐसा ही अर्थ किया गया है।

७१. तुलनीय—सत्यार्थप्रकाश के नवें समुल्लास में मुक्ति से पुनरावृत्ति का प्रसंग।

७२. तुलनीय—सत्यार्थप्रकाश के ११ वें समुल्लास में प्रासंगिक प्रकरण।

७३. 'जब ऋषि दयानन्द दूसरी बार अमृतसर पधारे थे !'
आर्य ज्योति (३१ जुलाई १९६० ई.) में दीवान अलखधारी का लेख।

७४. कालान्तर में इन्होंने लाहौर से ट्रिब्यून (प्रारम्भ ५ फरवरी १८८१) नामक पत्र निकालना आरम्भ किया। यह पत्र अब चण्डीगढ़ से अंग्रेजी, हिन्दी तथा पंजाबी में प्रकाशित होता है।

अतिरिक्त टिप्पणियां

१. शिवनारायण अग्निहोत्री—(जन्म २० दिसम्बर १८५०, मृत्यु ३ अप्रैल १९२९) कानपुर जिले के अकबरपुर ग्राम में जन्म लेने वाले शिवनारायण अग्निहोत्री कान्य-कुब्ज ब्राह्मण थे। इन्होंने रुड़की के इंजीनियरिंग कालेज में शिक्षा प्राप्त की। १८७३ में लाहौर के गवर्नमैन्ट हाई स्कूल में ड्राइंग के अध्यापक बने। यहां ये ब्रह्म-समाज के नेता नवीनचन्द्रसेन के सम्पर्क में आये और ब्रह्मसमाजी बन गये। १८६५ में इन्होंने 'बिरादराने हिन्द' नामक मासिक पत्र निकाला जो ब्राह्मसिद्धान्तों का समर्थक था। स्वामी दयानन्द से इनकी भेंट लाहौर में हुई। स्वामीजी के लाहौर आगमन (१९ अप्रेल १८७७) के दूसरे ही दिन २० अप्रैल को अग्निहोत्री ने उनसे भेंट की तथा उनके विचारों से प्रभावित हुए। परन्तु कालान्तर में कुछ ऐसा संयोग बना कि ये आर्यसमाज और उसके प्रवर्त्तक से विमुख हो गये। न केवल इनको स्वामीजी तथा उनके विचारों से विरक्ति ही हो गई, ये उनके कट्टर विरोधी बन गये और शत्रुवत् आचरण करने लगे। १८७८ में इन्होंने दयानन्द सरस्वती के वेद भाष्य पर रिव्यू (विक्टोरिया प्रेस—१८७८) लिख कर स्वामीजी की वेद भाष्य शैली का खण्डन किया। जब आर्यसमाज से इनकी विरक्ति हो गई तो ये पुनः ब्रह्म-समाज की ओर उन्मुख हुये तथा १८७८ में साधारण ब्रह्मसमाज के सक्रिय कार्यकर्ता बन गये। कालान्तर में ये राज्य सेवा से मुक्त हो गये (१५ दिसम्बर १८८२) तथा ब्रह्मसमाज के मतानुसार २० दिसम्बर १८८२ को इन्होंने संन्यास ले लिया। अब ये स्वामी सत्यानन्द अग्निहोत्री के नाम से जाने गये। थोड़े समय बाद इनके विचारों में और भी परिवर्तन हुआ और ये अपने आपको भगवान् देवात्मा कहने लगे। अब इन्होंने देवसमाज की स्थापना की और नास्तिकता का प्रचार किया। संन्यासी बन जाने के पश्चात् प्रौढ़ अवस्था में इन्होंने अपनी एक अल्पवयस्क शिष्या कुमारी देवकी से विवाह किया, जिसके कारण लाहौर में इनकी बड़ी बदनामी हुई। देवसमाज का कार्य अब पंजाब में कुछ शिक्षण संस्थाओं के संचालन तक ही सीमित रह गया है।

२. भाई दित्तसिंह ज्ञानी—भाई दित्तसिंह रविदासी (रामदासिये हरिजन) थे और गुलाबदासी सम्प्रदाय को मानते थे। लाहौर में इनकी भेंट स्वामी दयानन्द से हुई और वेदान्त पर चर्चा होने लगी। इसी चर्चा के बीच में जब शिवनारायण अग्निहोत्री अकारण ही बोल पड़े थे तो स्वामीजी ने उन्हें डपट दिया और कहा

कि आप जब हमारे अभिप्राय को समझे ही नहीं, तो बीच में बोल कर बाधा उपस्थित क्यों करते हैं ? अग्निहोत्री इस प्रकार की प्रताड़ना से रुष्ट हो गये और समयान्तर में स्वामीजी के कट्टर विरोधी बन गये। भाई दित्तसिंह ने शीघ्र ही आर्यसमाज की विचारधारा को स्वीकार कर लिया और वे लाहौर आर्यसमाज में उपदेशक के रूप में वर्षों तक कार्य करते रहे। यही ज्ञानी दित्तसिंह जब आर्यसमाज से पृथक् हुए तो इन्होंने एक पुस्तक 'मेरा अते साधु दयानन्दजी दा संवाद' लिखी जिसमें उन्होंने दावा किया कि स्वामीजी से उनका शास्त्रीय वार्तालाप उनके लाहौर निवास काल में तीन बार हुआ था। ज्ञानीजी ने यह भी लिखा कि तीनों ही बार स्वामीजी निरुत्तर हो गये थे। निश्चय ही उनके इस कथन में कुछ भी तथ्य नहीं था। ज्ञानीजी से स्वामीजी का प्रथम संवाद वेदान्त पर उस समय हुआ था, जब वे रतनचन्द दाढ़ी वाले के स्थान पर उतरे हुए थे। दूसरी बार 'सृष्टिकर्ता कौन है ?' इस विषय पर महाराज से उनका वार्तालाप डा. रहीम खां की कोठी पर हुआ। अन्तिम बार मुक्ति विषय पर स्वामीजी से उनका संवाद राय मेलाराम के तालाब पर हुआ था। सिक्ख धर्म के कट्टर अनुयायी बन जाने पर ज्ञानीजी ने अनेक पुस्तकें लिख कर स्वामीजी से अपनी पूर्ववर्ती भेंटों के विषय में गलत बयानी की थी।

३. भाई जवाहरसिंह—जन्मना सिक्ख भाई जवाहरसिंह कपूर ज्ञानी दित्तसिंह के गुरुभाई और साथी थे। ये भी स्वामीजी के सम्पर्क में आने से पूर्व गुलाबदासी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। ज्ञानी दित्तसिंह का स्वामी दयानन्द से परिचय भाई जवाहरसिंह के माध्यम से ही हुआ था। भाई जवाहरसिंह आर्यसमाज के सदस्य बने तथा कालान्तर में वे आर्यसमाज लाहौर के मंत्री भी बने। इनका स्वामीजी से विस्तृत पत्र व्यवहार होता रहता था। स्वामीजी की संस्तुति से ही इन्हें राजस्थान के शाहपुरा राज्य में उच्च पद प्राप्त हुआ था। यह विडम्बना ही थी कि स्वामीजी की मृत्यु के पश्चात् भाई जवाहरसिंह आर्यसमाज से दूर हटते गये। सम्भवतः वे अमृतसर स्थित सिक्खों के धर्म स्थान हरमंदिर के प्रबन्धक पद को प्राप्त करने के प्रलोभन में ही आर्यसमाज से पृथक् हुए थे। स्वामी दयानन्द को लिखे गये भाई जवाहरसिंह के पत्रों का संकलन मुन्शीराम जिज्ञासु सम्पादित ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार भाग १, (१९१० में प्रकाशित) में उपलब्ध है। □□

पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा राजस्थान में धर्मप्रचार

पंजाब के प्रवास में स्वामी दयानन्द को असाधारण सफलता मिली। उनका वेद भाष्य मासिक पत्र के रूप में प्रकाशित होकर सहस्रों ग्राहकों, पाठकों तक पहुंच रहा था। संस्कृत कालेज कलकत्ता के कार्यवाहक प्रिंसिपल पं महेशचन्द्र न्यायरत्न ने भी स्वामीजी के वेदभाष्य पर कुछ आक्षेप मूलक बातें लिखी थीं।[1] अपने लाहौर प्रवास के समय महाराज ने इन आक्षेपों के उत्तर में 'भ्रान्ति निवारण'[2] शीर्षक पुस्तक लिखी। न्यायरत्न महाशय ने दयानन्द कृत वेदभाष्य के सम्बन्ध में अपनी आपत्तियों को सूत्रित करते हुए यह बताने का प्रयास किया था कि वेदों का यज्ञपरक अर्थ ही समीचीन है, आध्यात्मिक अर्थ करना उचित नहीं। वेदों के विज्ञानपरक अथवा पदार्थविद्या प्रतिपादक अर्थ करना भी ठीक नहीं है। वेदों में बहुदेवतावाद का विचार ही प्रधान है, अतः मन्त्रों से एकेश्वरवाद की सिद्धि स्वामी दयानन्द की कपोलकल्पना ही है। उनका प्रधान आक्षेप यह था कि 'अग्निमीडे पुरोहितम्' आदि मन्त्रों में प्रयुक्त 'अग्नि' शब्द का स्वामीजी द्वारा भौतिकाग्नि से भिन्न परमेश्वरपरक अर्थ करना वेदार्थ की प्रचलित परिपाटी के प्रतिकूल है।

भ्रान्ति निवारण में न्यायरत्न महाशय के उपर्युक्त आक्षेपों का प्रमाणपुरस्सर उत्तर देकर स्वामीजी ने भली भांति स्पष्ट कर दिया कि उनके द्वारा क्रियमाण वेदभाष्य वेदार्थ की उस परिपाटी का अनुसरण कर रहा है जो महाभारतपूर्व युग में प्रचलित थी। इसके साथ ही उन्होंने विविध शास्त्रीय प्रमाण देकर यह भी सिद्ध किया कि वेदों में विशुद्ध एकेश्वरवाद का ही प्रतिपादन उपलब्ध होता है तथा यह भी कि अग्नि के ईश्वरपरक अर्थ करना कथमपि अनौचित्य पूर्ण नहीं है। उनके पूर्ववर्ती अनेक भाष्यकारों तथा टीकाकारों ने भी ऐसे अर्थ किये हैं। वस्तुतः स्वामी दयानन्द ने अपने शास्त्रीय सिद्धान्तों का निर्धारण सहस्राधिक ग्रन्थों के अध्ययन, मनन तथा अनुशीलन के पश्चात् ही किया था। भ्रान्ति निवारण में वे अपने विशाल स्वाध्याय का संकेत देते हुए स्पष्ट करते हैं कि ऋग्वेद से लेकर पूर्व मीमांसा पर्यन्त अनुमान से तीन हजार ग्रन्थों को वे प्रामाण्य कोटि में मानते हैं।[3] यह संख्या तो उन ग्रन्थों की है जिन्हें सम्यक् परीक्षण और निश्चय के पश्चात् स्वामीजी ने प्रामाणिक स्वीकार किया है। इससे यह भी अनुमान हो सकता है कि न जाने संस्कृत वाङ्मय के अन्य कितने प्राचीन एवं नवीन, उभयविध ग्रन्थों का स्वजीवन में उन्होंने अवलोकन एवं परीक्षण किया होगा।

स्वामीजी को पंजाब में जैसी सफलता मिली, उसका अनुमान इस तथ्य से भी लगाया जा सकता है कि जिन प्रमुख नगरों में वे गये, वहां आर्यसमाजों की स्थापना हो गई।[4] आर्यसमाजों के सभासदों की संख्या भी असाधारण रूप में बढ़ रही थी। वस्तुतः पंजाब के हिन्दू दयानन्द की शिक्षाओं को स्वीकार करने के लिये न केवल आतुर एवं उत्सुक ही थे, अपितु ऐसा करना उनके लिये आवश्यक भी था। इस प्रान्त में वे उन मुसलमानों तथा सिक्खों के निकट रह रहे थे जो दृढ़ एकेश्वरवाद में निष्ठा रखते थे, साथ ही जिनमें सामाजिक उदारता थी तथा धार्मिक अन्धविश्वास हिन्दुओं की तुलना में नगण्य ही थे। अतः पंजाब के

हिन्दुओं में एकेश्वरवादी धर्म के प्रति निष्ठा जागृत हो जाना कठिन नहीं था। अन्य प्रान्त वासी हिन्दुओं की अपेक्षा सामाजिक सुधारों को स्वीकार करने में भी उन्हें दुविधा नहीं थी। यों तो स्वामी दयानन्द के पंजाब आगमन से पूर्व ब्रह्मसमाजी लोग भी इस प्रदेश में धार्मिक जागरण तथा समाज सुधार के कार्यों के लगे हुए थे, किन्तु उनके विचारों में स्वधर्म, स्वसंस्कृति तथा स्वदेश के प्रति वैसी प्रगाढ़ आस्था एवं निष्ठा का भाव नहीं था, जो पञ्चनद वासियों को दयानन्द के राष्ट्रीय अस्मिता को उद्‌बुद्ध करने वाले विचारों में मिला। ब्राह्म नेता ब्रिटिश शासन एवं ईसाई प्रचारकों के प्रति उतनी तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करते थे जो दयानन्द के विचारों एवं कार्यों द्वारा प्रतिफलित हुई। निश्चय ही ब्राह्म लोग तो विदेशी सत्ता एवं धर्म के प्रशंसक ही थे, जब कि दयानन्द शत प्रतिशत स्वदेशी भावनाओं के पोषक तथा राष्ट्रीयता के प्रबल हामी सिद्ध हुए। पंजाबियों को मुग्ध करने के लिये स्वामी दयानन्द का यह प्रचण्ड राष्ट्रीय भाव ही प्रमुख कारण बना था।

एक बात और भी थी। दयानन्द ने वर्ण व्यवस्था को गुण कर्माश्रित घोषित कर जन्मना ब्राह्मणों के उस एकाधिकार का विरोध किया था जिसके कारण शताब्दियों से गुणहीन, कर्महीन तथा संस्कारहीन होने पर भी वे हिन्दुओं के मुखिया बने हुए थे। आर्यसमाज ने ब्राह्मणेतर वर्ग के लोगों को भी धार्मिक नेतृत्व की क्षमता प्रदान की तथा उन्हें वेदों के रूप में सर्वमान्य ग्रन्थ तथा वैदिक कर्मकाण्ड के करने और कराने का अधिकार भी प्रदान किया। दयानन्द द्वारा प्रदत्त धर्म व्यापक रूप में प्रचलित हिन्दू धर्म का वह सुधरा एवं निखरा हुआ संस्करण था, जो पौराणिक रुढ़ियों, अन्धविश्वासों तथा बहुदेवतावाद की धारणा से उत्पन्न नाना मिथ्या परिकल्पनाओं से सर्वथा पृथक् एवं परिशुद्ध था, जिस पर ईसाई प्रचारकों का कोई भी आक्षेप सम्भव नहीं था। सर्वोपरि, दयानन्द प्रतिपादित यह वैदिक धर्म इस देश के निवासियों की राष्ट्रीय भावनाओं का प्रबल पोषक भी था।

दयानन्द ने आर्यसमाज के संगठन को प्रजातन्त्र के जिन उदार मूल्यों पर स्थापित किया, वह भी उसकी लोकप्रियता का कारण बना। आर्यसमाज के सम्पर्क में आने वालों ने अनुभव किया कि यहां न तो महन्तवाद है और न किसी प्रकार का गुरुडम्। आर्यसमाज में व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा सामाजिक अनुशासन को समान महत्त्व दिया गया था। यहां तो वेद के उन सार्वभौम एवं सार्वकालिक आदर्शों पर ही बल दिया जाता था जो अतीत में सर्वमान्य रहे थे तथा जिनका परिपालन कर मनुष्य अपने वर्तमान को सुखद एवं भविष्य को अधिक गौरवमय बना सकता था। आर्यसमाज के ये आदर्श एवं सिद्धान्त विश्व मानव के लिये भी उतने ही उपयोगी तथा लाभप्रद थे, जितने कि एक भारतवासी के लिये। इतना होने पर भी स्वामी दयानन्द भारत के बहुमत वाले हिन्दू समाज से आर्यसमाज का निकट सम्बन्ध सदा के लिये देखने के इच्छुक थे, क्योंकि वे जानते थे कि आर्यसमाज की उन्नति, प्रगति एवं मार्ग-दर्शन से ही सुषुप्ति अवस्था में पड़े मुमूर्षु हिन्दू समाज में चेतना एवं जागृति का समावेश होगा, जो अन्ततः विराट् मानव समाज के बहुविध जागरण का कारण बनेगा। वे यह देख चुके थे कि हिन्दू समाज से अपने आपको सर्वतोभावेन पृथक् कर ब्रह्मसमाज किस प्रकार एक संकीर्ण मतवाद का रूप ले चुका है तथा उसकी ईसाई विचारधारा के प्रति अनन्य आसक्ति

उसे राष्ट्रीय शक्तियों से निरन्तर अलग-थलग कर रही है। वे इन बुराइयों से आर्यसमाज को बचाना चाहते थे।

ऊपर की पंक्तियों में हमने स्वामी दयानन्द की पंजाब यात्रा की उपलब्धियों के मूल्यांकन का प्रयत्न किया है। लगभग एक वर्ष चार मास पंजाब में व्यतीत कर स्वामी दयानन्द पुनः गंगा यमुना की भूमि—पश्चिमोत्तर प्रदेश में पधारे। रुड़की में उनका आगमन १९३५ वि. के श्रावण मास के कृष्ण पक्ष (२५ जुलाई १८७८) में हुआ। थाम्पसन इंजीनियरिंग कालेज, रुड़की के अध्यापक पं. उमरावसिंह तथा अन्य कतिपय भद्र पुरुषों के आमन्त्रण को स्वीकार करके ही वे यहां आये थे। लाला शम्भुनाथ दिल्ली वाले के बंगले में उनका निवास रहा। इसी स्थान पर उनका प्रथम व्याख्यान 'ईश्वरीय ज्ञान' विषय पर हुआ जिसकी प्रशंसा सभी श्रोताओं ने की। विषय प्रतिपादन की उनकी योग्यता और शैली के कारण वे सभी के प्रशस्ति भाजन बने।

इस समय तक स्वामीजी के व्यक्तित्व तथा विचारों की चर्चा समुद्रपारीय देशों में भी होने लगी थी। स्वधर्म, स्वदेश तथा स्वसंस्कृति के गौरव को पुनः स्थापित किये जाने वाले उनके प्रयासों को अत्यन्त प्रशंसा तथा उत्सुकता के साथ देखा जा रहा था। यद्यपि नवजागरण के आन्दोलन का प्रारम्भ तो राजा राममोहनराय द्वारा ब्रह्मसमाज की स्थापना के साथ १८२८ ई. में ही, प्रायः अर्द्ध शताब्दी पूर्व किया जा चुका था, तथा देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन आदि ब्राह्म नेताओं तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तथा अन्यान्य समाज सुधारकों द्वारा धार्मिक अन्धविश्वासों एवं सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन के लिये बहुत पहले से ही आवाज उठाई जाती रही थी, किन्तु दयानन्द के कार्य की कुछ अन्य विशिष्टताएं थीं। बंगाल में जन्म लेकर पल्लवित होने वाला ब्रह्मसमाज का नवोदय आन्दोलन जहां पश्चिमी शिक्षा तथा यूरोपीय संसर्ग की देन था, वहां दयानन्द का चिन्तन एवं कर्तृत्व विशुद्ध भारतीय मनीषा का वरदान था। जब थियोसोफिकल सोसाइटी के संस्थापकों का ध्यान स्वामीजी के व्यक्तित्व एवं कार्यों की ओर गया, तो उन्होंने एक पत्र उनकी सेवा में अमेरिका से भेजा।[५] स्वामीजी ने इस पत्र का का उत्तर संस्कृत भाषा में स्वयं तैयार किया।[६] थियोसोफिस्टों को भेजे गये इस पत्र में वैदिक विचारधारा की सतर्क मीमांसा की गई थी। पश्चिमी देशों की आर्यसमाज के प्रति उत्पन्न इस जिज्ञासा का उल्लेख कर स्वामी दयानन्द ने रुड़की में कहा था—"अन्य मत और अन्य देशवालों को हमारे धर्म के अन्वेषण की इतनी उल्लेखनीय रुचि हो, और हम इसी भूमि के रहने वाले, और अपने आपको आर्य पुरुषों की सन्तान समझने वाले कानों में रुई ठूंसे बैठे रहें, यही खेद की बात है।" थियोसोफी के पुरस्कर्ताओं का स्वामीजी के विचारों की ओर आकृष्ट होना इस तथ्य का द्योतक है कि भौतिक विज्ञान तथा लौकिक उन्नति से मदोन्मत्त पश्चिम के लोग भी धर्म एवं अध्यात्म की जन्मभूमि भारत की ओर समुचित आदर तथा संभ्रम की दृष्टि से देख रहे थे।

दयानन्द के जीवन चरित को निबद्ध करने के प्रयास में जो शतशः गौण अथवा मुख्य घटनाएं स्थूल इतिवृत्तात्मक शैली में वर्णित की जा रही हैं, उनका प्रयोजन न तो ग्रन्थ की कलेवर वृद्धि करना ही है और न इसके द्वारा चरितनायक के घटना संकुल जीवन की

दैनन्दिनी को ही समग्रतः प्रस्तुत करना अभीष्ट है। वस्तुतः इन घटनाओं के द्वारा नायक की चरित्रगत विशेषताओं को उजागर करना तथा उसकी विचारधारा को सुस्पष्ट करना ही जीवनीकार का अभिप्रेत है। अस्तु। दयानन्द ने अनुभव किया था कि अस्पृश्यता के कोढ़ ने समाज के कलेवर को किस प्रकार जीर्णशीर्ण तथा मृत प्रायः बना रक्खा है। जातिगत वैषम्य एवं विरोध तथा स्पृश्यास्पृश्य का घिनौना विचार जिस प्रकार घनीभूत होकर हिन्दू के रक्त, मांस और मज्जा तक में प्रविष्ट हो गया है, इसे उन्होंने प्रत्यक्ष देखा था। वे यह भी जानते थे कि मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन तथा सन्त परम्परा ने इसे समाप्त करने का अपने ढंग से प्रयास भी किया, किन्तु इस समस्या के समाधान के लिये सन्त लोग समुचित शास्त्रीय सम्बल नहीं जुटा पाये थे। फलतः समाज के ब्राह्मण एवं क्षत्रिय आदि आभिजात्य वर्ग के लोगों में विद्यमान स्पृश्यास्पृश्य भावना को समाप्त करने के लिये रज़ामन्द करने में वे असफल रहे। जातिवाद तथा अस्पृश्यता के जिस भाव को शास्त्र की अनुज्ञा के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा था, तथा उसके औचित्य की सिद्धि के लिये जिस प्रकार के शास्त्रीय प्रमाण प्रस्तुत किये जा रहे थे, उसी प्रकार का शास्त्रीय आधार लेकर ही उसका यदि प्रबल प्रत्याख्यान किया जाता, तो सम्भवतः शास्त्रों के प्रति आदर का भाव रखने वाला समाज उसे स्वीकार करता। दयानन्द ने ही सर्वप्रथम शास्त्र का आधार लेकर सामाजिक विषमता तथा छुआछूत के विरोध में आवाज उठाई थी।

बात रुड़की की ही है। सफरमैना पल्टन का एक मज़हबी सिक्ख स्वामीजी के व्याख्यान को उत्सुकतापूर्वक सुन रहा था। मज़हबी सिक्खों की गणना दलित वर्ग में होती है तथा उनकी स्थिति हिन्दू समाज के अछूतों से भिन्न नहीं है। उसी समय एक मुसलमान डाकिया मुनीर खां स्वामीजी की डाक लेकर आया। जब उसने मज़हबी सिक्ख को अन्य श्रोताओं के निकट बैठे देखा तो उसका क्रोध भड़क उठा। उसने मज़हबी सिक्ख को झिड़कते हुए कहा—"तेरा यह साहस, जो तू ऐसे महापुरुष के निकट, अपनी जाति का परिचय दिये बिना ही असभ्यतापूर्वक आ बैठा।" शताब्दियों से तिरस्कृत एवं दलित वर्ग का हीन भावापन्न, वह बेचारा मज़हबी लज्जित होकर पृथक् जाकर बैठ गया। इस अकारण उत्पीड़न को दयानन्द का करुणाप्रवण हृदय सहन नहीं कर सका। उन्होंने पोस्टमैन से कहा, "भाई, इस व्यक्ति को भी अन्यों के तुल्य ही मेरी धर्मवार्ता सुनने का अधिकार है। तुम्हें उसके प्रति ऐसा कठोर व्यवहार नहीं करना चाहिए।" महाराज के इन उदार वचनों को सुन, वह मज़हबी अश्रु विगलित नेत्रों से युक्त होकर विपन्न वाणी में बोल उठा "महाराज, मैंने किसी का कुछ नहीं बिगाड़ा है। मैं तो जूतियों के स्थान पर बैठ कर ही आपका व्याख्यान सुन रहा था। इस पर भी मुझे तिरस्कृत एवं अपमानित किया जा रहा है, यह कहां का न्याय है?" स्वामीजी ने उसकी बात का समर्थन करते हुए कहा कि परमात्मा की इस विशाल सृष्टि में सभी समान हैं। हमें किसी के प्रति अकारण कठोरता प्रदर्शित करने का कोई अधिकार नहीं हैं। महाराज की अशेष दयालुता का यह असाधारण उदाहरण है।

स्वामीजी के अन्य व्याख्यानों की व्यवस्था आरमन स्कूल के समीप एक मैदान में की गई।प्रथम व्याख्यान ४ अगस्त १८७८ को सत्य धर्म और वेदों पर हुआ। दूसरा व्याख्यान

मूर्तिपूजा के निषेध तथा पुनर्जन्म की सिद्धि पर था। अनेक युक्तियों तथा प्रमाणों से महाराज ने जीवात्मा के पुनर्जन्म तथा आवागमन को सिद्ध किया। तृतीय व्याख्यान बाइबिल, कुरान तथा वेदों की शिक्षाओं पर तुलनात्मक शैली में दिया गया। मुसलमानों ने इस व्याख्यान में बाधा उपस्थित करने की चेष्टा की, किन्तु वे सफल मनोरथ नहीं हुए। कारण यह था कि स्वामीजी जो कुछ कह रहे थे वह प्रमाण पुरस्सर था। इस्लाम के मन्तव्यों की समालोचना उन्होंने कुरान के उद्धरणों को प्रस्तुत करते हुए ही की।

पं त्रिलोकचन्द्र आरमन स्कूल में संस्कृत के अध्यापक थे। लोगों ने जब उनसे जाकर दयानन्द के मन्तव्यों का खण्डन करने के लिए कहा तथा शास्त्रार्थ हेतु तैयार होने के लिए प्रेरित किया तो पण्डित जी की प्रतिक्रिया इस प्रकार व्यक्त हुई—"स्वामी दयानन्द बड़े वाचाल व्यक्ति हैं, और उनके कथन का कोई उत्तर नहीं दे सकता, अतः मैं शास्त्रार्थ करने में विवश हूँ।" तथापि लोगों के अत्यधिक आग्रह पर वे मुन्शी चिरंजीलाल के मकान के सामने एक सभा को सम्बोधित करने के लिये तैयार हुए। इस सभा में मैक्समूलर द्वारा सम्पादित ऋग्वेद की एक पुस्तक के पन्ने बार बार उलट पुलट कर श्रोताओं को समझाते रहे कि "यह ऋग्वेद विदेश में छपा है, उनके घर का छपा नहीं है। इसी में मूर्तिपूजा का विधान है।" जब लोगों ने इस विषय का स्पष्ट प्रमाण मांगा तो आपने 'सहस्रशीर्षा'[७] मन्त्र पढ़ दिया। इस पर उपस्थित समुदाय ने उनसे कहा कि जब मूर्तिपूजा की वैदिकता को लेकर आप इतने आश्वस्त हैं, तो स्वामीजी से शास्त्रार्थ क्यों नहीं करते? उत्तर में पं त्रिलोकचन्द्र ने यही कहा कि दयानन्द नास्तिक हैं और उसका मुख देखना भी पाप है। परन्तु प्रश्नकर्ताओं ने तब भी उनका पीछा नहीं छोड़ा। अब वे बोले कि जब काशी के बालशास्त्री एवं स्वामी विशुद्धानन्द आदि दिग्गज पण्डितों ने सभा में सम्मुख बैठ कर दयानन्द से शास्त्रार्थ किया था, तो उन्हें क्या आपत्ति है? इस पर पण्डित जी को मौन साधने के अतिरिक्त कुछ न सूझा।

रुड़की में स्वामी जी का चतुर्थ व्याख्यान चार्ल्स डार्विन के विकासवाद के खण्डन पर हुआ। इसी प्रसंग में उन्होंने पुराणों, बाइबिल तथा कुरान में वर्णित सृष्टि क्रम विरुद्ध मिथ्या गाथाओं की आलोचना की। विकासवाद के खण्डन में दिया गया यह व्याख्यान श्रोताओं के लिये आश्चर्य का कारण बन गया, क्योंकि इसमें दी गई युक्तियां एक ऐसे व्यक्ति के मुख से निकल रहीं थी जो स्वयं पश्चिमी शिक्षा तथा पाश्चात्य विज्ञान का सामान्य विद्यार्थी भी नहीं रहा था। फिर तो पदार्थ विद्या (Physical Sciences) से सम्बन्धित अनेक प्रश्न उनसे पूछे गये तथा स्वामीजी ने प्राचीन शास्त्रों के आधार पर ही उनके उत्तर भी दिये। सूर्य एवं पृथ्वी का भ्रमण, अमेरिका देश का अनुसंधान, मेघ, भूकम्प तथा अन्य खगोल एवं भूगोल के विषय, धातु एवं रसायन आदि से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्तों पर पूछे गये प्रश्नों के समाधान कारक उत्तर स्वामीजी संस्कृत शास्त्रों के आधार पर देते रहे। उन्होंने न्यूटन द्वारा आविष्कृत पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त को भी मूलतः वेद के एक मंत्र पर आधारित बताया।[८] उनकी इस विवेचना का सार यह था कि साम्प्रतिक युग के विज्ञान एवं नाना आविष्कारों से आर्य ऋषि सर्वथा अपरिचित नहीं थे।

अभियांत्रिकी के विद्यार्थी कन्हैयालाल ने एक दिन स्वामीजी से पूछा कि नशे की

दशा में ध्यान के जमने का क्या कारण है ? स्वामीजी ने उत्तर में कहा, "यह तो ठीक है कि नशे की अवस्था में जिस वस्तु पर आदमी का ध्यान जाता है, उसी में वह तल्लीन हो जाता है, परन्तु नशा करने वाले को उस वस्तु का तात्त्विक ज्ञान नहीं होता। ज्ञान के अभाव में ऐसे ध्यान अथवा तल्लीनता का भी कोई अर्थ नहीं है।" जो लोग इस बात का प्रचार करते हैं कि भंग, गांजा आदि मादक द्रव्यों के सेवन से ध्यान करने में सहायता मिलती है, उनका तर्क भी उक्त प्रश्नकर्ता की शंका से ही मेल खाता है। परन्तु स्वामीजी ने उत्तर में स्पष्ट कर दिया कि ज्ञान और विवेक से शून्य ध्यान अथवा तल्लीनता किसी काम की नहीं है।

संस्कृत के एक विद्वान् स्वामीजी से भेंट हेतु उपस्थित हुए। उन्होंने स्वरचित एक व्याकरण ग्रन्थ महाराज को दिखाया। स्वामीजी ने उसे देख कर उसकी प्रशंसा भी की, किन्तु साथ ही यह परामर्श दिया कि व्याकरण के किसी नवीन ग्रन्थ की रचना करने की अपेक्षा किसी आर्ष ग्रन्थ की टीका या व्याख्या लिखना अधिक लाभप्रद होगा। उन्होंने स्पष्ट किया कि पाणिनीय अष्टाध्यायी व्याकरण शास्त्र का एक ऐसा अद्वितीय ग्रन्थ है जिससे शब्द शास्त्र विषयक सभी लौकिक एवं वैदिक प्रश्नों का समाधान हो जाता है।

हरिद्वार के सतुआ स्वामी से स्वामी दयानन्द का शास्त्रार्थ कराने का प्रयत्न रुड़की के कुछ सन्मान्य लोगों ने किया, किन्तु वे इसमें सफल नहीं हुए। सतुआ स्वामी ने यह कह कर इन्कार कर दिया कि वे दयानन्द का मुख नहीं देखना चाहते। स्वामीजी ने तो पूर्व की ही भांति कह दिया कि मुंह चाहे न देखें, पर्दे की ओट से ही शास्त्रार्थ करें, परन्तु सतुआ स्वामी को भला यह कब स्वीकार्य होता ?

मेघनाद भट्टाचार्य नामक एक बंगाली विद्वान् से जीव, परलोक, पुनर्जन्म, श्राद्ध, वर्ण-व्यवस्था, यज्ञोपवीत आदि विभिन्न विषयों पर स्वामी जी की चर्चा हुई। केशवचन्द्र सेन के विषय में सम्मति पूछे जाने पर स्वामीजी ने कहा, "मैं अनेक विषयों में उनके विचारों का अनुमोदन करता हूँ। मेरा उनसे मतभेद इस बात को लेकर है कि मैं धर्म के निर्णय में वेदों को अन्तिम प्रमाण मानता हूँ जब कि वे ऐसा नहीं करते। उनकी दृष्टि में तो बाइबिल, कुरान और वेद, सभी समान स्तर के ग्रन्थ हैं।" पुनः केशव के मन्तव्यों के सम्बन्ध में भविष्य-वाणी ही करते हुए कहा—"इस देश में उनके उद्देश्यों के प्रचारित होने की सम्भावना कम है, क्योंकि वे इस समाज में संशोधन न कर उसे आमूलचूल बदलना ही चाहते हैं।" स्वामीजी का यह कथन आगे चल कर सत्य प्रमाणित हो गया, जब देशवासियों ने देखा कि ब्रह्मसमाज का यह तेजस्वी एवं प्रगल्भ नेता किस प्रकार पुरातन आर्य विचारधारा से विमुख होकर ईसाई चिन्तन एवं मत विश्वासों के अधिकाधिक निकट चला गया है और इसी कारण सम्पूर्ण देश की तो बात ही क्या, स्वयं उसकी जन्मभूमि बंगप्रदेश पर भी उसके प्रभाव में गिरावट आ गई है।

स्वामीजी के ईसाई मत के खण्डन विषयक व्याख्यानों को सुन कर कुछ अंग्रेज सैनिक अधिकारी उत्तेजित हो उठे। इनमें कर्नल मानसल कमांडिंग आफिसर तथा क्वार्टर-मास्टर कैप्टन स्टुअर्ट के नाम उल्लेखनीय हैं। इन लोगों ने कुछ समय तक तो स्वामीजी से प्रश्नोत्तर किये, परन्तु बाद में निरुत्तर होकर चले गये। हरिद्वार के रुड़की वासी पण्डों ने

नगर के दण्डाधिकारी से महाराज की शिकायत करते हुए कहा कि यह बाबा तीर्थों के माहात्म्य का खण्डन कहता है जिससे हमारी आजीविका को हानि पहुँचती है। इस पर अधिकारी ने व्याख्यानों के लिये निषेधाज्ञा प्रसारित कर दी। अब महाराज के व्याख्यान उनके निवास पर ही होने लगे।

रुड़की निवास के समय मुसलमानों से भी शास्त्रार्थ की बात चली और देवबंद से मौलवी मोहम्मद कासिम को बुलाया गया। मौलवी जी के आते ही शास्त्रार्थ का विज्ञापन प्रकाशित कर वितीर्ण किया गया। शास्त्रार्थ की शर्तों पर उभयपक्ष में पर्याप्त चर्चा हुई। अन्ततः कर्नल मानसल और कैप्टन स्टुअर्ट की उपस्थिति में शास्त्रार्थ के नियम निर्धारित किये गये। इनमें यह प्रावधान रक्खा गया था कि शास्त्रार्थ उसी कोठी में होगा, जहां स्वामी जी ठहरे हुए हैं। उभय पक्ष के चार सौ व्यक्तियों को शास्त्रार्थ के समय उपस्थित रहने की अनुमति होगी। दोनों ओर के वक्तव्य लिपिबद्ध किये जायेंगे। शास्त्रार्थ की तिथि १८ अगस्त १८७८ तथा समय सायं ६ बजे से ९ बजे तक का रक्खा गया। यों तो मौलवी साहब ने उपर्युक्त नियमों को स्वीकार कर लिया था, किन्तु उन्होंने जब इस पर पुनर्विचार किया तो उन्हें लगा कि इन नियमों को मान लेने से उनके पक्ष के लोगों को शास्त्रार्थ में मनमानी करने तथा धांधली बरतने का अवसर नहीं मिल सकेगा। अतः उन्होंने एक पत्र लिख कर स्वामीजी को सूचित कर दिया कि शास्त्रार्थ का न तो लिखा जाना ही आवश्यक है और न शास्त्रार्थ स्थल पर प्रवेश के लिये लोगों की संख्या को सीमित किया जाना चाहिए। इस पर स्वामीजी ने उन्हें सूचित किया कि जब पूर्व ही सब बातों का निश्चय हो चुका था, तो उन बातों को बदलना कहां तक उचित है? किन्तु मौलवी साहब अपनी बात पर अड़े रहे, जिसके कारण शास्त्रार्थ नहीं हो सका।

स्वामी दयानन्द का संघर्ष चतुर्मुखी था। एक ओर यदि वे पौराणिक समुदाय से धार्मिक पाखण्डों और अंधविश्वासों को लेकर जूझते थे, तो दूसरी ओर ईसाइयों और मुसलमानों की आक्रामक प्रवृत्तियों का भी उन्हें मुकाबिला करना पड़ता था। उनका चौथा मोर्चा शंकराचार्य के अनुयायी नव्यवेदान्तियों से लगता। उन्होंने इस तथ्य को अनुभव किया था कि शंकर प्रतिपादित अद्वैत वेदान्त के कारण इस देश के निवासी लौकिक समस्याओं तथा राष्ट्रीय प्रश्नों के प्रति उदासीनता एवं उपरामता का रुख ही धारण करते रहे हैं। परिणामतः उन्हें दीर्घ काल तक पराधीनता के अभिशापों को भी भोगना पड़ा है। शाङ्करवेदान्त के अनुयायी अपने आपको ब्रह्म से अभिन्न मान लेते हैं तथा जीवन की व्यावहारिक जिम्मेदारियों से पृथक् रहने को ही चरम पुरुषार्थ समझ लेते हैं। एक ऐसा ही वेदान्ती भोटूसिंह स्वामीजी के निकट आया और गर्वपूर्वक कहने लगा कि आपने तो अभी अपरा विद्या ही पढ़ी है, यदि परा विद्या जानते, तो ईश्वर एवं जीव की भिन्नता पर आधारित द्वैतवाद का प्रचार नहीं करते। स्वामीजी समझ गये कि कहने वाला कितने पानी में है। वे ऐसे तथाकथित वेदान्तियों को तो अनेक बार निरुत्तर कर चुके थे। अतः उन्होंने उससे पूछा "क्या आप वास्तव में ही ब्रह्म हैं?" भोटूसिंह का उत्तर था कि इसमें संदेह ही क्या है, निश्चय ही वे अपने को ब्रह्म से अभिन्न मानते हैं। ऐसे व्यक्ति से आगे तर्क करना तो निरर्थक ही था। स्वामीजी को एक

उपाय सूझा। उन्होंने अपने समीप मरी पड़ी एक मक्खी को दिखाकर कहा कि यदि वे सचमुच अपने आपको 'कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं' सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ही मानते हैं, तो क्यों नहीं इस मृत मक्खी को जीवित कर देते। इस पर वेदान्ती बड़ा चकराया और मौन हो गया। २० अगस्त को स्वामीजी की उपस्थिति में ही रुड़की में आर्यसमाज की स्थापना हो गई।

भाद्रपद कृष्णा अष्टमी, १९३५ वि. २१ अगस्त, बुधवार १८७८ को स्वामीजी ने रुड़की से अलीगढ़ के लिये प्रस्थान किया और दूसरे दिन भाद्रपद कृष्ण पक्ष की नवमी, २२ अगस्त को वहाँ पहुँच गये। पं. आफताब राय के बाग में उनका डेरा कराया गया। सर्वश्री श्यामजी कृष्ण वर्मा, हरिश्चन्द्र चिन्तामणि तथा मूलजी ठाकरसी आदि बम्बई निवासी भद्रजन स्वामीजी से भेंट हेतु उस समय अलीगढ़ आये हुए थे। २३ अगस्त को सैयद अहमदखाँ ने स्वामीजी तथा बम्बई से आने वाले आर्य पुरुषों के सम्मान में अपने घर पर दावत की। अस्वस्थ होने के कारण स्वामीजी तो उसमें उपस्थित नहीं हो सके थे, किन्तु अन्य सभी लोगों ने सैयद साहब का आतिथ्य स्वीकार किया। स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण इस बार वे अलीगढ़ में २५ अगस्त को केवल एक ही व्याख्यान दे सके। अलीगढ़ के सब जज मौलवी फरीदुद्दीन ने स्वामीजी के उदार एवं प्रगतिशील विचारों की उन्मुक्त प्रशंसा व्याख्यान समाप्त होने पर की।

अलीगढ़ के इस अल्पकालीन प्रवास के पश्चात् वे भाद्रपद कृष्णा त्रयोदशी, २६ अगस्त १८७८, सोमवार को मेरठ आये। प्रारम्भ में बाबू दामोदरदास की कोठी में उनका निवास रहा। सप्ताह भर तक इसी कोठी के बरामदे में वे सत्संग करते रहे जिसमें सम्मिलित होने वाले लोग उनसे प्रश्नोत्तर तथा शङ्का समाधान करते। एक सप्ताह पश्चात् वे जल्वये तूर प्रेस के स्वामी राय गणेशीलाल को सदर बाजार स्थित कोठी में चले गये। यहाँ उनका प्रथम व्याख्यान १ सितम्बर १८७८ को हुआ। इसका विषय था 'आर्यावर्त का प्राचीन धर्म'। द्वितीय व्याख्यान धर्माधर्म के लक्षणों पर हुआ। अवशिष्ट दो व्याख्यान क्रमशः ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना तथा सृष्टि विषय पर हुए। ५ सितम्बर से लाला रामशरणदास की कोठी पर व्याख्यानों का नवीन क्रम आरम्भ हुआ। इनके विषय थे—आर्यावर्त की पूर्व और वर्तमान अवस्था, पाप और पुण्य के लक्षण तथा स्वर्ग एवं नरक की धारणा, यज्ञ का विधान, वेदादि सत्य शास्त्र तथा मूर्तिपूजा निषेध, भागवत आदि नवीन ग्रन्थों का खण्डन तथा आवागमन का सिद्धान्त। इस प्रकार उपर्युक्त विषयों पर ६ दिनों तक व्याख्यानों का सिलसिला चला। तत्पश्चात् तीन दिन शङ्का समाधान के लिये रक्खे गये।

मेरठ की धर्मरक्षिणी सभा ने स्वामीजी के समक्ष मूर्तिपूजा, गंगादि तीर्थ तथा अवतारवाद से सम्बन्धित तीन प्रश्न उपस्थित किये। स्वामीजी ने इनका उत्तर देते हुए विस्तारपूर्वक स्वसिद्धान्तों को स्पष्ट किया। न तस्य प्रतिमाऽस्ति,[९] हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे[१०] तथा अन्धन्तमः प्रविशन्ति[११] आदि यजुर्वेद के मन्त्रों को उद्धृत कर स्वामीजी ने परमात्मा के निराकार होने का प्रतिपादन किया तथा जड़पूजा की हानियों को भी बताया। गंगादि नदियों में स्नान करने मात्र से निष्कृति हो जाती है, इस धारणा का खण्डन करते हुए उन्होंने स्पष्ट

लिखा कि मैं निश्चयपूर्वक गंगा को सब नदियों से श्रेष्ठ मानता हूँ क्योंकि किसी अन्य नदी का जल ऐसा उत्तम और गुण युक्त नहीं है। परन्तु मैं गंगा को मुक्ति देने और पाप छुड़ाने का साधन नहीं मानता। अवतारवाद की समीक्षा में उन्होंने 'सपर्यगात्'[१२] आदि यजुर्मन्त्रों को उद्धृत कर स्पष्ट किया कि सर्व व्यापक परमात्मा शरीर धारण नहीं करता है।

७ सितम्बर १८७८ को मौलवी मोहम्मद अब्दुल्ला ने एक उर्दू पत्र स्वामीजी की सेवा में भेजकर उनसे शास्त्रार्थ की चर्चा चलाई। स्वामीजी को इससे कब इन्कार था, किन्तु वे चाहते थे कि शास्त्रार्थ लिखित हो, न कि मौखिक। इस शर्त पर कोई सहमति नहीं हो सकी और मौलवी साहब से शास्त्रार्थ नहीं हो सका।

मेरठ की धर्मरक्षिणी सभा से स्वामीजी के शास्त्रार्थ की चर्चा जब चली, तो दोनों पक्षों की ओर से लम्बा चौड़ा पत्र व्यवहार हुआ। इस पत्र व्यवहार में एक विशेष बात यह देखने में आई कि उक्त सभा के संरक्षक लाला किशनसहाय की ओर से जो पत्र स्वामीजी की सेवा में भेजे जाते, वे बिना हस्ताक्षरों के होते थे। जब स्वामीजी की ओर से हस्ताक्षरों के लिये आग्रह किया जाता, तो पुनः इस बात की उपेक्षा कर दी जाती। स्वामीजी ने अपनी ओर से शास्त्रार्थ के लिये बीस नियम बना कर भेजे, किन्तु धर्मरक्षिणी सभा के प्रवक्ता पं. श्रीगोपाल ने उनमें अनुचित रूप से मीन मेख निकालना आरम्भ किया। अन्ततः उक्त सभा ने स्वामीजी को सूचित किया कि जब तक उनके वर्ण और आश्रम का निश्चय नहीं करा दिया जायगा, तब तक शास्त्रार्थ नहीं हो सकेगा। यह तो शास्त्रार्थ से बचने का प्रत्यक्ष बहाना ही था। इस प्रकार अपनी हठधर्मिता तथा मूढ़ता का प्रदर्शन कर धर्मरक्षिणी सभा के सभासद् मौन हो गये।

१४ सितम्बर को महाराज छेदीलाल गुमाश्ते की कोठी पर चले गये। यहां २२ सितम्बर तक उनके व्याख्यान हुए। आश्विन कृष्णा तृतीया, २९ सितम्बर को मेरठ में आर्य-समाज की स्थापना हुई। प्रारम्भ में ही इसके सभासदों की संख्या ८१ तक पहुंच गई जिनमें व्यापारी, राजकर्मचारी तथा अन्य व्यवसायों के व्यक्ति भी थे।

स्वामीजी में निर्भीकता का गुण पराकाष्ठा पर पहुंचा हुआ था। इससे सम्बन्धित कुछ घटनाएं पूर्व ही वर्णित हो चुकी हैं। जब उनके द्वारा किये गये मृतक श्राद्ध के खण्डन से नगर के कुछ ब्राह्मण और महाब्राह्मण रुष्ट हो गये, तो उन्होंने स्वामीजी को पीटने की योजना बनाई। एक दिन जब स्वामीजी व्याख्यान स्थल से लौटने लगे, तो यह आशंका हुई कि मार्ग की एक तंग गली में लाठी लिये गुण्डे उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। स्वामीजी के भक्तजनों ने बन्द गाड़ी में उन्हें निवासस्थान पर भेजने का विचार प्रकट किया, तो महाराज ने विगतभय होकर कहा, "आप लोग व्यर्थ में ही डरते हैं। मेरा कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता," और वे उसी प्रकार पैदल ही गली से होकर स्वस्थान पर चले गये।

स्वामीजी के फलित ज्योतिष में अविश्वास के उदाहरण भी यत्र तत्र मिलते हैं। मेरठ में पं. गौरीशंकर नामक एक ज्योतिषी उनसे मिलने आये। जब स्वामीजी ने उनसे उनके आगमन का कारण जानना चाहा, तो पण्डितजी ने स्पष्ट कह दिया कि वे ज्योतिषी हैं और कुछ

प्राप्ति की आशा से ही उनके समीप आये हैं। अब उत्तर देने की बारी स्वामीजी की थी। उन्होंने तर्कप्रधान शैली का आश्रय लेते हुए कहा, "यदि आपके ज्योतिष ज्ञान ने आपको यह बताया है कि मैं आपको कुछ दूंगा, तो यह मिथ्या है, क्योंकि मैं आपको कुछ भी देने वाला नहीं हूं। और यदि आपका शास्त्र आपको यह बता चुका है कि मुझसे कुछ मिलने वाला नहीं है, तो आपका यहां आना ही व्यर्थ हुआ।" इस पर ज्योतिषी हतप्रभ हो गये।

सांसारिक सुखदुखादि द्वन्द्वों से सर्वथा उपराम रहने वाले परमहंस दयानन्द के हृदय में यदि कोई सन्ताप या पीड़ा थी तो वह भारतवासी जन समुदाय के सार्वत्रिक अधःपतन की पीड़ा ही थी। उनकी चिन्ता का कोई विषय था तो यही कि समाज का नेतृत्व करने का दायित्व वहन करने वाले ब्राह्मण ही स्वकर्त्तव्यों से पराङ्मुख होकर समाज का अहित कर रहे हैं। एक दिन जब एक सज्जन ने उनसे कुशल प्रश्न पूछा तो महाराज ने कह दिया 'हमें कुशल कहां है ?' पूछने वाले ने सोचा कि शायद स्वामीजी को कोई शारीरिक या मानसिक पीड़ा होगी। परन्तु स्वामीजी ने स्पष्ट किया कि ब्राह्मणों की कर्त्तव्यच्युति तथा उनकी पाखण्डों और आडम्बरों में आसक्ति ही उनकी मानसिक चिन्ताओं का कारण है।

इस प्रकार एक मास से कुछ अधिक समय मेरठ में व्यतीत कर स्वामी दयानन्द आश्विन शुक्ला अष्टमी, ३ अक्टूबर, गुरुवार को दिल्ली आये और सब्जीमण्डी में लाला बालमुकुन्द केसरीचन्द के उद्यान में ठहरे। पांच दिन तक उनके व्याख्यान उसी स्थान पर होते रहे, तत्पश्चात् १३ अक्टूबर से शाहजी के छत्ते नामक मुहल्ले में व्याख्यानों की व्यवस्था हुई। इस समय स्वामीजी के समक्ष कई स्थानों के निमंत्रण थे। पूर्वपरिचित और भक्त अचरोल (जयपुर राज्य) के ठाकुर रणजीतसिंह ने उन्हें अपने ग्राम में आने के लिये आमंत्रित किया था। वे स्वामीजी की अध्यक्षता में एक बृहद् यज्ञ भी कराना चाहते थे। दानापुर (बिहार) में भी उनको आमंत्रित किया जा रहा था। वहां आर्यसमाज की स्थापना हो चुकी थी और आर्यसभासद् उनके उपदेशामृत का पान करने के लिये लालायित थे। परन्तु स्वामीजी का निश्चय प्रथम राजस्थान के कुछ स्थानों का भ्रमण करने तथा उसके पश्चात् हरिद्वार के कुम्भ मेले में धर्मप्रचार हेतु जाने का था। अतः उन्होंने दानापुरवासियों को सूचित कर दिया कि तत्काल उनका उधर आना सम्भव नहीं है। दिल्ली निवास के समय वे वेद भाष्य लेखन में बराबर जुटे रहे। ३ नवम्बर १८७८ को दिल्ली में आर्यसमाज की स्थापना हो गई।

अपने पूर्व निश्चित कार्यक्रम के अनुसार स्वामीजी अचरोल के ठाकुर के आमंत्रण को स्वीकार कर ६ नवम्बर को दिल्ली से जयपुर के लिये चल पड़े। जब वे ७ नवम्बर, कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी को जयपुर पहुंचे तो स्टेशन पर ही जोशी रूपराम तथा अचरोल ठिकाने के अन्य सेवकों से उन्हें ज्ञात हुआ कि ठाकुर रणजीतसिंह का निधन ३ नवम्बर को हो गया है। अब अचरोल जाने का कोई उद्देश्य नहीं रहा। अतः स्वामीजी ने तुरन्त अजमेर जाने का निश्चय किया।

विक्रम संवत् १९३५ के कार्तिक मास में अजमेर के निकटवर्ती पुष्कर के मेले में तथा उसके पश्चात् अजमेर आकर धर्मोपदेश करने के लिये स्वामीजी को आमंत्रित किया

गया था। जब इस नगर के कुछ पुराण मतावलम्बियों को इस बात का पता चला कि स्वामी दयानन्द शीघ्र ही अजमेर आकर पाखण्ड मतों का खण्डन करेंगे तो उन्होंने जुगलबिहारी शर्मा के कल्पित नाम से एक पत्र कार्तिक कृष्णा षष्ठी (१७ अक्टूबर) को स्वामीजी की सेवा में भेजा, जिसमें यह लिखा गया था कि पर्याप्त चंदा न हो पाने के कारण अजमेर में उनके निवासादि की समुचित व्यवस्था नहीं हो सकेगी, अतः वे यहां आने का कष्ट न करें। इस सूचना को सत्य मान कर स्वामीजी ने अपने कार्तिक कृष्णा दशमी (२१ अक्टूबर) के पत्र द्वारा मुन्शी समर्थदान[१५] को सूचित कर दिया कि वे अजमेर नहीं आ रहे हैं। मुन्शीजी यह सूचना पाकर आश्चर्यचकित रह गये। जब उन्हें वस्तुस्थिति का ज्ञान हुआ तो उन्होंने महाराज को सूचित किया कि 'जुगलबिहारी शर्मा' के नाम से भेजा गया पत्र जाली है, साथ ही उनसे अविलम्ब अजमेर आने की प्रार्थना की गई। तदनुसार महाराज का इस नगर में कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी, ७ नवम्बर १८७८, गुरुवार को आगमन हुआ। स्टेशन पर मुन्शी समर्थदान तथा नगर के अन्य प्रतिष्ठित पुरुषों ने उनका स्वागत किया। इस नगर में उन्हें आमंत्रित करने वालों में पं. शालिग्राम शास्त्री, हैड पण्डित गवर्नमेंट कालेज अजमेर का नाम उल्लेखनीय है। शास्त्रीजी काशी के सुप्रसिद्ध विद्वान् पं. राजाराम के शिष्य तथा पं. बाल शास्त्री के सहपाठी थे। अजमेर में स्वल्पकाल तक विश्राम कर महाराज ने पुष्कर के लिये प्रस्थान किया और महाराजा जोधपुर के घाट पर नवलनाथजी के दलीचे में डेरा किया।

स्वामीजी ने पुष्कर के कार्तिकी पूर्णिमा के मेले में पहुँचते ही विज्ञापन प्रचारित कर लोगों को धर्मचर्चा हेतु आमंत्रित किया। मसूदा के राव बहादुरसिंह जी[१६] से महाराज की प्रथम भेंट पुष्कर में ही हुई थी। आगे चल कर हम देखेंगे कि रावसाहब किस प्रकार स्वामीजी के निर्भीक व्यक्तित्व तथा उनकी प्रगतिगामी विचारधारा के प्रशंसक बन गये थे। अंधविश्वासों के खण्डन में स्वामीजी ने सदा ही तत्परता प्रदर्शित की। पुष्कर के कुछ वाम-मार्गी साधुओं ने लोगों में यह प्रचारित कर रक्खा था कि वे मंत्र प्रयोग के द्वारा किसी भी मनुष्य का प्राणहरण कर सकते हैं। गवर्नमेंट कालेज अजमेर के कुछ छात्रों ने उन साधुओं से कहा कि यदि सचमुच उनमें कुछ ऐसी सिद्धि है, तो वे उसका प्रयोग स्वामी दयानन्द के समक्ष करें। जब स्वामीजी को इस बात का पता चला, तो उन्होंने साधुओं को कहलाया कि मनुष्य की तो बात दूर की है, वे शीशे की नली में बंद एक मक्खी को ही मंत्र शक्ति के द्वारा मार कर दिखायें, तो उनके चमत्कार को स्वीकार कर लिया जायगा। परन्तु साधुओं को करना कराना तो कुछ था ही नहीं। वे छात्रों को यही कह कर रह गये कि "जाओ, जाओ, यहां कहां मंत्र रक्खे हैं ? क्या मंत्रों का प्रदर्शन ऐसे ही कर दिया जाता है" आदि। जन साधारण के समक्ष उनकी कलई खुल गई तथा लोग समझ गये कि मंत्रों के चमत्कार की बातें मिथ्या ही हैं।

प्रतिद्वन्द्वी द्वारा प्रयुक्त तर्क का ही प्रयोग कर उसे पराजित करने की अद्भुत क्षमता स्वामीजी को प्राप्त थी। वे पुराण प्रतिपादित मिथ्या धारणाओं का खण्डन अत्यन्त विदग्धतापूर्वक करते थे। एक बार बूंदी के एक राजपण्डित ने पद्मपुराण के एक श्लोक को प्रस्तुत कर मूर्तिपूजा को सत्य सिद्ध करने का यत्न किया। उत्तर में स्वामीजी ने प्रत्युत्पन्न-

मति का परिचय देते हुए मूर्तिपूजा के खण्डन में एक स्वरचित श्लोक सुना दिया। जब राज-पण्डित ने स्वामीजी द्वारा उद्धृत श्लोक का स्रोत जानना चाहा, तो उत्तर में स्वामीजी ने पूछ लिया कि उनके द्वारा प्रस्तुत श्लोक ही कहां का है? जब पण्डित ने उसे पद्मपुराणोक्त कहा, तो स्वामीजी किञ्चित स्मित पूर्वक बोल उठे कि उनके द्वारा उद्धृत श्लोक 'दयानन्द पुराण' का है। पुनः अपनी बात को स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया कि ऋषि मुनियों के नाम से नाना मिथ्या श्लोकों की रचना कर उन्हें ही पुराणों के भीतर समाविष्ट कर लिया गया है। वस्तुतः ये सभी ग्रन्थ वेद प्रतिपादित मान्यताओं के विपरीत होने से अप्रामाण्य हैं।

पौराणिक मान्यताओं का खण्डन करने में स्वामीजी कभी कभी हास्यरसपूर्ण प्रसंगों, व्यंग्य विनोद तथा विचित्र ऊहा युक्त तर्कणाओं का भी आश्रय लेते थे। परन्तु ऐसा करने में उनका अभिप्राय यही था कि लोग वैदिक मान्यताओं के प्रति पुनः आस्थावान् बनें तथा पौराणिक सम्प्रदायवाद ने समाज में जो विघटन, अनेकता तथा विरोध के बीज बोये हैं, उनका शमन किया जा सके। स्वामीजी सामाजिक और राष्ट्रीय एकता के लिये धार्मिक एकता तथा उपासनागत एक्य को अत्यन्त आवश्यक समझते थे। उनका सुदृढ़ विचार था कि जब से बृहत्तर हिन्दू समाज में उपास्य देवों तथा उपासना प्रणालियों की अनेकता का सूत्रपात हुआ, उसी दिन से उसका सामाजिक संगठन भी छिन्नभिन्न होने लग गया था। वे धर्म और उपासना के क्षेत्र में भी एकता लाने के पक्षपाती थे। उन्हें इस बात को देख कर अत्यन्त पीड़ा होती थी कि हिन्दुओं का पूज्य और उपास्य न तो एक देवता है और न उपासना का साधन कोई एक मंत्र या पद्धति। उनके समय में वेदोक्त गायत्री मंत्र[१७] को भी चातुर्वर्णिक नहीं माना जाता था, अपितु उसे 'ब्रह्म गायत्री' कह कर ब्राह्मणों तक ही सीमित कर दिया गया था। क्षत्रिय और वैश्यों के लिये प्रसिद्ध गायत्री मंत्र से भिन्न गायत्रियों की कल्पना की गई थी और शिव, विष्णु, भगवती, गणेश, कुबेर आदि पुराणोक्त देवी देवताओं के लिये भिन्न-भिन्न गायत्री मंत्र कल्पित कर लिये गये थे।[१८] पुष्कर में जब एक ब्राह्मण ने उनसे कहा कि गायत्री तो चौबीस प्रकार की है, तो स्वामीजी ने हंस कर कहा, "चौबीस ही क्यों, गायत्री तो २४ हजार प्रकार की है, जैसे,

शीतलावाहानाय विद्महे लम्बकर्णाय धीमहि।
तन्नो गर्दभः प्रचोदयात्॥

यह गर्दभ गायत्री है।" और इसी धुन में उन्होंने जूते और छत्री की भी स्वरचित गायत्री पढ़ीं। इस पर ब्राह्मण बड़े चक्कर में पड़ा। उसने पूछा कि आपकी ये गायत्रियाँ कहां लिखी हैं। उत्तर में स्वामीजी ने भी उससे पूछ लिया कि उसने जिन २४ गायत्रियों का उल्लेख किया है, वे किन शास्त्रों में उल्लिखित हैं? जब पण्डित ने कहा कि ये गायत्रियाँ तो शास्त्रोल्लिखित हैं, तो स्वामीजी ने भी अपनी गायत्रियों को शास्त्रोक्त बता दिया। अब ब्राह्मण देवता के लिये मौन रह जाने के सिवाय और चारा ही क्या था?

एक अन्य पण्डित से भागवत पर बातचीत चली। स्वामीजी ने बताया कि पुराणों में पृथ्वी का आधार वासुकि नाग या शेष नाग को माना गया है, किन्त वास्तव में यह 'शेष'

तो परमात्मा ही है, कोई सर्प विशेष नहीं। कारण कि प्रलयावस्था में भी अवशिष्ट रहने वाले परमात्मा को ही 'शेष' नाम से अभिहित किया गया है और उसी के आधार पर पृथ्वी आदि ग्रह रहते हैं। स्वामी दयानन्द की अंग्रेजी जीवनी के लेखक दी. व. हरविलास सारड़ा ने पुष्कर प्रवास के समय उनके दर्शन किये थे। उनके अनुसार उस समय स्वामीजी मात्र कौपीन धारण किये एक ऊनी आसन पर विराजमान थे।[१६]

मार्गशीर्ष कृष्णा चतुर्थी, १४ नवम्बर १८७८ गुरुवार को स्वामी दयानन्द अजमेर आ गये और सेठ रामप्रसाद के बाग में ठहरे। इसी दिन से उनके व्याख्यान आरम्भ हो गये।[२०] इस नगर में दिये गये उनके सात व्याख्यानों के विषय निम्न प्रकार थे[२१]—१. ईश्वर का एकत्व और उसका अस्तित्व २. वेदों का ईश्वरीय ज्ञान होना ३. वेदों में विज्ञान ४. बाइबिल एवं कुरान की समालोचना ५. सती प्रथा तथा अन्य सामाजिक बुराइयाँ ६. जन्म एवं मृत्यु ७. आर्यों का उत्थान एवं पतन। स्काटिश प्रेसेबिटेरियन चर्च के प्रमुख पादरी ग्रे तथा डा. हसबैण्ड भी इन व्याख्यानों में उपस्थित थे। पादरी साहब ने स्वामीजी से कहा कि यदि वे बाइबिल विषयक आपत्तियों को उनके पास लिख कर भेज देंगे, तो वे उनका समाधान अवश्य करेंगे। स्वामीजी ने इसे स्वीकार किया और तौरेत एवं इंजील के ६४ वाक्य पं. भागराम सहायक आयुक्त के माध्यम से पादरी साहब को भेजे।

मार्गशीर्ष शुक्ला चतुर्थी गुरुवार (२८ नवम्बर) को पादरी ग्रे तथा डा. हसबैण्ड से स्वामीजी का शास्त्रार्थ हुआ। नियत समय पर शास्त्रार्थ देखने के लिये सहस्रों लोग उमड़ पड़े, जिनमें विभिन्न वर्गों के प्रतिष्ठित पुरुष भी थे।[२३] शास्त्रार्थ का विषय इंजील में वर्णित सृष्टि की उत्पत्ति से सम्बन्धित था जो उत्पत्ति की पुस्तक में वर्णित हुआ है। शास्त्रार्थ लेख-बद्ध हुआ था तथा दोनों ओर के कथनों को लिखने के लिये तीन लेखक नियुक्त थे।[२४] प्रथम दिन का शास्त्रार्थ समाप्त होने पर स्वामीजी ने पादरी ग्रे से लिखित पन्नों पर हस्ताक्षर करने के लिये कहा, किन्तु पादरी साहब बिना हस्ताक्षर किये ही चले गये। २९ नवम्बर को वे इस शर्त पर शास्त्रार्थ के लिये उपस्थित हुए कि यह विचार लेख बद्ध नहीं किया जाना चाहिए। स्वामीजी ने इसे स्वीकार नहीं किया और शास्त्रार्थ समाप्त हो गया।[२५]

स्वामीजी के प्रेमी सत्संगियों में विचारशील मुसलमान भी होते थे। राजपूताना-गजट के सम्पादक मुहम्मद मुरादअली एक ऐसे ही महानुभाव थे, जिन्होंने स्वामीजी से अजमेर में आत्मा, मोक्ष, पुनर्जन्म आदि विषयों पर प्रश्न किये और संतोषप्रद उत्तर प्राप्त किया। मौलवी मुरादअली गोरक्षा के प्रबल समर्थक[२६] तथा स्वामीजी की स्वदेशभक्ति के प्रशंसक थे।

राय बहादुर श्यामसुन्दरलाल लोईवाल[२७] तथा उनके कुछ साथियों ने अजमेर में प्रार्थनासमाज के नाम से एक सभा स्थापित कर रक्खी थी। स्वामीजी ने इस संस्था के नाम पर ही आपत्ति की तथा यह भी कहा कि गीत, वाद्य आदि के द्वारा ईश्वर का ध्यान एवं उपासना आर्य परम्परा के अनुकूल नहीं है।[२८] यह ईसाई परम्परा है। उन्होंने यह भी कहा कि वेदानुकूल उपासना प्रणाली ही हमारा कर्त्तव्य है और योग प्रतिपादित धारणा, ध्यान एवं समाधि आदि साधन तो एकान्त में ही करणीय हैं। वेद में विज्ञान के तत्त्व बीज रूप में निहित हैं, इस विषय की चर्चा चलने पर राय बहादुर ने स्वामीजी से कहा कि आपने यूरोप में आविष्कृत वर्तमान वैज्ञानिक आविष्कारों का मूल वेद में बताया तो है, किन्तु यदि कालान्तर

में इन सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन हो जाता है, तो क्या आप यह मानेंगे कि वेदों में भी इन परिवर्तनों का इसी प्रकार उल्लेख है, और क्या ऐसा मानने से वेदों के शाश्वत, निर्भ्रान्त स्वरूप को क्षति नहीं पहुंचेगी ? स्वामीजी ने इस पर इतना ही कहा कि यदि वेद मंत्रों का अर्थ करते समय उन्हें उनमें वैज्ञानिक तथ्यों का उल्लेख दृष्टिगोचर होता है, तो वे इसे दृष्टि से ओझल कैसे कर सकते हैं ? यह आक्षेप तो व्यर्थ ही था कि स्वामीजी ने नवशिक्षित व्यक्तियों से विज्ञान की दो चार बातें सुनकर ही उन्हें वेद मंत्रों से बलात् सिद्ध करने का प्रयत्न किया था। वस्तुतः वेदों में भौतिक विज्ञान की नाना शाखाओं से सम्बन्धित तथ्य विभिन्न रूपों में वर्णित हुए ही हैं।[२९]

राय बहादुर श्यामसुन्दर लाल की यह भी धारणा थी कि यदि स्वामीजी मूर्तिपूजा के प्रति तीव्र आक्रामक रवैया अख्तियार न करें और इस प्रचलित विश्वास का खण्डन मृदु शैली में करें, तो सम्भवतः उन्हें अधिक संख्या में अनुयायी मिल सकेंगे। स्वामी दयानन्द ने इसके उत्तर में स्पष्ट किया कि बुराइयों और कुरीतियों से समझौता करना समस्या का समाधान नहीं है। वे यह अनुभव करते थे कि यदि मूल सिद्धान्तों को लेकर विभिन्न सम्प्रदायों से समझौता कर लिया जाता है तो आर्यसमाज का क्रान्तिकारी स्वरूप ही समाप्त हो जायगा और कालान्तर में वह भी हिन्दू धर्म रूपी उसी विशाल अजगर के उदर में समा जायगा, जैसे अतीत के अनेक प्रगतिशील एवं क्रान्तिकारी आन्दोलन समा गये हैं।

लगभग दो सप्ताह अजमेर में व्यतीत कर महाराज माघ शुक्ला अष्टमी, २ दिसम्बर १८७८ सोमवार को मसूदा आये। राव साहब बहादुरसिंह की प्रार्थना और आग्रह वश ही वे यहां पधारे थे। राम बाग में उनके निवास की व्यवस्था की गई, जहां उनके व्याख्यान भी हुए। मसूदाधिपति के आग्रह पर वे एक दिन दुर्ग में भी गये। पौष कृष्णा प्रतिपदा मंगलवार, १० दिसम्बर को मसूदा से नसीराबाद के लिये प्रस्थान किया और उसी दिन वहां पहुंच गये। विदा के समय राव बहादुरसिंह ने वेद भाष्य प्रकाशन कोष में २०० रु. सहायता रूप प्रदान किये।

नसीराबाद छावनी नार्मल स्कूल के अध्यापक पं. सुखदेवप्रसाद ने स्वामीजी के निवास की व्यवस्था नगर से एक मील दूर भूताखेड़ी के उद्यान में की। शोभाराम के मंदिर में उनके व्याख्यान की व्यवस्था की गई, किन्तु साथी अध्यापकों से सहयोग न मिल पाने के कारण पं. सुखदेवप्रसाद को उनके व्याख्यान बाजार में कराने पड़े। प्रथम दिन तो उपस्थिति साधारण ही रही किन्तु दूसरे और तीसरे दिन अधिक संख्या में लोग आये। यहां उनके कुल तीन व्याख्यान हुए। नसीराबाद में स्वामीजी को आमंत्रित करने वाले पं. सुखदेवप्रसाद ने अजमेर में उनके व्याख्यान सुने थे। महाराज के विचारों से प्रभावित होकर वे स्वयं भी धर्म-प्रचारक बने और धर्मोपदेश में ही अवशिष्ट जीवन व्यतीत किया।

पौष कृष्णा ६, रविवार १५ दिसम्बर को स्वामी दयानन्द अजमेर होते हुए जयपुर आये। इस बार उनका निवास सांगानेरी दरवाजे के बाहर सदासुख ढढ्ढा के बाग में हुआ। ठाकुर लक्ष्मणसिंह की हवेली में उनके तीन व्याख्यान हुए। इससे पूर्व १९२३ वि. में जयपुर में महाराज का आगमन नितान्त भिन्न भूमिका में हुआ था। उस समय तो वे तत्कालीन नरेश के अनुरोध पर शैव मत के समर्थन तथा वैष्णवों के निराकरण में

प्रवृत्त हुए थे। परन्तु इस बार उनका कार्यक्रम सर्वांश में वैदिक मन्तव्यों के अनुकूल तथा सभी प्रकार की साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों के विरोध में था। जब पूर्व प्रसंग की चर्चा चली, तो स्वामीजी ने सरल भाव से उत्तर दिया कि उस समय हम अज्ञ थे। यदि कोई मताग्रही व्यक्ति होता तो अपने पूर्व कृत्यों के समर्थन में नाना प्रकार की बातें बनाता और उन्हें युक्तियों से सिद्ध करता, परन्तु अपनी भूल को स्वीकार करने की निस्संकोच प्रवृत्ति ही दयानन्द के चरित्र की विशेषता थी। जयपुर के महाराजा स्वामीजी के पौराणिक मत खण्डन के समाचार को सुन कर रुष्ट हुए परन्तु उनके प्रचार कार्यक्रम के व्याघात पहुंचाना राजा के वश की बात नहीं थी। केवल नौ दिन जयपुर में व्यतीत कर दयानन्द ने रेवाड़ी के लिये प्रस्थान किया।

रेवाड़ी में महाराज का आगमन पौष शुक्ला द्वितीया १९३५ वि. २५ दिसम्बर, बुधवार को हुआ। रेवाड़ी के राव युधिष्ठिरसिंह ने दिल्ली दरबार के अवसर पर महाराज के प्रवचन सुने थे। उन्होंने स्वामीजी से प्रार्थना की, आप यथासुविधा रेवाड़ी पधारें और हमें सदुपदेश दें। स्वामीजी ने उनके आग्रह पर ही वहां आना स्वीकार किया। नगर के बाहर की एक बारहदरी में उनके निवास की व्यवस्था हुई। यहां उनके ग्यारह व्याख्यान[३०] हुए जिनमें मूर्तिपूजा, मृतक श्राद्ध, वैदिक मुक्ति, वेद और गायत्री में सर्व वर्णों के अधिकार का प्रतिपादन, नियोग एवं पुनर्विवाह की आवश्यकता आदि विषय विवेचित हुए थे। ईसाइयत एवं इस्लाम में स्वीकृत स्वर्ग की धारणा का उल्लेख करने के पश्चात् वैदिक मुक्ति की वरिष्ठता का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने कहा था, "जैसे पौराणिक हुण्डी लिखा करते थे, उसी प्रकार पादरी भी लिखा करते हैं।" मृतक श्राद्ध के मिथ्यात्व के विवेचन के प्रसंग में स्वामीजी ने कहा, "यदि वास्तव में मरे हुए को भोजन पहुंचता है और वही वस्तु मिलती है जो श्राद्ध में खिलाई जाती है तो जो लोग मांस भक्षी हैं, उन्हें थाल में मांस ही परोसना चाहिए। यदि वे नहीं खाते तो इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि अपने कर्म से ही स्वर्ग नरक मिलता है, मृतक श्राद्ध व्यर्थ है।"[३१]

स्वामीजी के जीवन में अनेक ऐसे प्रसंग आये हैं, जहां हमने देखा कि नवीन वेदान्त का खण्डन करने में उन्होंने नाना ऊहायें तथा युक्तियां नियोजित कर ली थीं। एक ऐसा ही प्रसंग रेवाड़ी में भी आया, जब कि शाङ्कर वेदान्त का अनुयायी एक साधु महाराज के पास आकर कहने लगा कि मैं ब्रह्म हूँ। इस पर स्वामीजी ने उससे कहा कि ईश्वर ने विविध रूपा सृष्टि की रचना की है, तू एक हाथ भूमि आकाश में अधर रच कर दिखा दे, तो हम तुझे ब्रह्म मान लेंगे। इस पर ब्रह्मवादी वेदान्ती चुप हो गया।[३२]

रेवाड़ी के पण्डितों ने भी स्वामीजी को हनुमान मंदिर में आकर शास्त्रार्थ करने के लिये निमंत्रित किया, किन्तु स्वामीजी ने उत्तर में कहा कि यदि उन्हें शास्त्रार्थ की उत्सुकता है, तो वे उनके निवास पर ही आजावें। पण्डित लोग इसके लिये राजी नहीं हुए। स्वामीजी की प्रेरणा से राव युधिष्ठिर ने रेवाड़ी में गोपालन और गोसंवर्धन की दृष्टि से प्रथम गोशाला की स्थापना की।

माघ कृष्णा प्रतिपदा, ९ जनवरी १८७९ को रेवाड़ी से चलकर महाराज दिल्ली आये और काबुली दरवाजे के निकट सब्जीमण्डी में बालमुकुन्द केसरीचंद के बाग में उतरे। इस बार उनके २-३ व्याख्यान ही हुए। यहां से वे माघ कृष्णा नवमी, १६ जनवरी, बृहस्पतिवार

को मेरठ पहुंचे। यद्यपि मेरठ का इस बार का प्रवास पर्याप्त लम्बा रहा, किन्तु उसका विस्तृत विवरण अनुपलब्ध है। हरिद्वार के कुम्भ में बांटने के लिये उन्होंने एक विज्ञापन मेरठ में ही छपाया था। मेरठ से चलकर वे सहारनपुर आये। यहां उनके दो व्याख्यान हुए। इसके पश्चात् कुछ दिन रुड़की में रहकर वे फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी, २० फरवरी १८७९ गुरुवार को ज्वालापुर आ गये। यहां मूला मिस्त्री के उद्यान गृह में उन्होंने आसन लगाया। हरिद्वारीय कुम्भ में धर्मप्रचार ही उनके इस बार के आगमन का प्रमुख उद्देश्य था।

□□

पाद टिप्पणियां

१. A few Remarks on Pandit Dayanand Saraswati's Veda Bhashya. प्रथम संस्करण १८७६ ई.,द्वितीय १८९० ई. कलकत्ता।

२. रचनाकाल कार्तिक शुक्ला २, १९३४ वि.। इसका प्रथम संस्करण मुन्शी बख्तावरसिंह द्वारा आर्यभूषण प्रेस, शाहजहांपुर से प्रकाशित हुआ था।

३. भ्रान्ति निवारण पृ. ४ वैदिक यन्त्रालय, अजमेर का पञ्चम संस्करण। १९७६ वि. में प्रकाशित।

४. यह विवरण विगत अध्याय में आ चुका है।

५. थियोसोफिकल सोसाइटी के संस्थापकों में से एक कर्नल एच. एस. ऑल्काट ने यह पत्र १८ फरवरी १८७८ को न्यूयार्क से भेजा था। मूल पत्र के लिये द्रष्टव्य—Life of Dayanand Saraswati By Harvilas Sarda P. 525, I Edition 1946.

६. यह उत्तर वैशाख कृष्णा पञ्चमी १९३५ वि. को लिखा गया था। मूल पत्र के लिये द्रष्टव्य—ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन पृ. ९०-९१ (द्वितीय संस्करण २०१२ वि.)।

७. यजुर्वेद ३१।१

८. तुलनीय : ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का आकर्षणानुकर्षण विषय।

९. यजुर्वेद ३२।३

१०. ऋग्वेद अ. ८ अ. ७ व. ३ मं. १

११. यजुर्वेद ४०।९

१२. यजुर्वेद ४०।८

१३. मेरठ में मौलवी मौहम्मद अब्दुल्ला तथा धर्मरक्षिणी सभा से हुए शास्त्रार्थ विषयक विवरण को 'सत्य निरूपण' शीर्षक एक उर्दू पुस्तिका में आर्यसमाज मेरठ के मन्त्री श्री आनन्दीलाल द्वारा १८७८ ई. में ही प्रकाशित कर दिया गया था। पं. जगतकुमार शर्मा ने इसे हिन्दी में अनूदित किया। आर्यन फार्मेसी अजमेर ने इस पुस्तक को १९६९ में पुनः प्रकाशित किया।

१४. समासदों की सूची के लिये द्रष्टव्य—पं. लेखराम रचित जीवन चरित पृ. ४४९

१५. मुन्शी समर्थदान (१९५८-१९१४) स्वामी दयानन्द के अत्यन्त विश्वसनीय व्यक्ति थे। राजस्थान के सीकर जिलान्तर्गत नेठवा ग्राम में जन्मे चारण मंगलदान के पुत्र समर्थदान उर्दू, फारसी, अंग्रेजी, संस्कृत तथा हिन्दी आदि भाषाओं के ज्ञाता थे। स्वामीजी ने इन्हें स्वरचित वेदभाष्य के मुद्रण कार्य की देखरेख के लिये सर्व प्रथम बम्बई में नियुक्त किया था। कालान्तर में ये वैदिक यन्त्रालय के प्रबन्धक पद पर नियुक्त हुए तथा १८८२ से १८८६ तक इस पद पर कार्य करते रहे।

१६. राव बहादुरसिंह अजमेर राज्य के अन्तर्गत मसूदा ठिकाने के २६ गावों के शासक (इस्तमरारदार) थे। ये राजपूतों के राठौड़ कुल में उत्पन्न हुए थे। ब्रिटिश सरकार की ओर से इन्हें राव (१८७७ ई.) तथा सी. आई. ई. (१८९३ ई.) की उपाधियाँ प्राप्त हुईं। राव बहादुरसिंह ने कालान्तर में अजमेर की आर्यसमाज तथा अन्य संस्थाओं के लिये केसरगंज में भूमि के विशाल टुकड़े क्रय किये, जिन पर अनेक भवनों का निर्माण हुआ। इनका निधन १० जुलाई १९०३ को हुआ।

१७. भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥ यजुर्वेद ३६।३

१८. महानारायणोपनिषद् नामक एक अर्वाचीन ग्रन्थ में विभिन्न देवताओं से सम्बन्धित ऐसे कल्पित गायत्री मन्त्र संगृहीत हैं।

१९. Life of Dayanand Saraswati P. 208, I Edition 1946.

२०. ये व्याख्यान कड़ड़क्का चौक स्थित सेठ गजमल की हवेली में हुए।

२१. सातों व्याख्यानों का तिथिक्रम निम्न प्रकार था—१. १४ नवम्बर २. १५ नवम्बर ३. १७ नवम्बर ४. १८ नवम्बर ५. २२ नवम्बर ६. २३ नवम्बर ७. २५ नवम्बर। पांचवें भाषण में स्वामीजी ने विद्या एवं कला कौशल सीखने के लिये देशान्तर गमन का समर्थन किया किन्तु साथ ही कहा—भाई, किसी विद्या के ग्रहण करने के लिये जाओ, परन्तु अपनी अच्छी अच्छी प्रथाओं को मत छोड़ो। —पं. लेखराम रचित जीवन चरित में उद्धृत लाला शिवप्रसाद कायस्थ सुपुत्र लाला गणेशीलाल तहसीलदार अजमेर की डायरी से संकलित।

२२. डा. हसबैण्ड की स्मृति में कालान्तर में हसबैण्ड मेमोरियल हाई स्कूल की स्थापना अजमेर में की गई थी।

२३. उपस्थित व्यक्तियों में सरदार बहादुर अमीनचन्द (न्याय आयुक्त) पं. भागराम (अतिरिक्त सहायक आयुक्त) तथा सरदार भगतसिंह (अधिशाषी अभियंता) के नाम उल्लेखनीय हैं।

२४. लेखकों के नाम हैं—बाबू रामनाथ, मुख्याध्यापक राजपूत स्कूल जयपुर, बाबू चन्दूलाल वकील गुड़गांव तथा हाफिज मोहम्मद हुसैन चुंगी दारोगा, अजमेर।

२५. शास्त्रार्थ के विस्तृत विवरण के लिये द्रष्टव्य—डा. भवानीलाल भारतीय सम्पादित दयानन्द शास्त्रार्थ संग्रह (रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित २०२७ वि. प्रथम संस्करण)।

२६. मौलवीजी के गोरक्षा विषयक विचारों को सुन कर स्वामीजी ने कहा था—"आज से

हम तुमको अपने विचारों का एक स्तम्भ समझते हैं।" मुरादअली ने अपने पत्र राजपूताना गजट में गोरक्षा के समर्थन में अनेक लेख लिखे थे।

२७. अजमेर के प्रथम बी. ए. तथा कालान्तर में किशनगढ़, अलवर तथा इन्दौर राज्यों में मन्त्री।

२८. समयान्तर में स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित आर्यसमाज में भी गीत, वाद्य आदि के माध्यम से ईश्वरोपासना की प्रणाली चल पड़ी।

२९. विस्तार के लिये द्रष्टव्य—१. वेद और विज्ञानवाद (प्रेमचन्द काव्यतीर्थ), २. वेद में दो बड़ी वैज्ञानिक शक्तियां (ब्रह्ममुनि परिव्राजक), ३. वैदिक साहित्य और भौतिक विज्ञान (ब्रह्मानन्द आयुर्वेदशिरोमणि) ४. वैदिक विज्ञान विमर्श (वैद्यनाथ शास्त्री) आदि ग्रन्थ।

३०. ये व्याख्यान नगर और रेलवे स्टेशन के मार्ग में स्थित छत्रियों और तालाब के निकट हुए थे।

३१. भारत की एक विभूतिः महर्षि दयानन्द सरस्वती। वेदानन्द वेदवागीश लिखित जीवन चरित—हरयाणा साहित्य संस्थान से २०३५ वि. में प्रकाशित

३२. इसी प्रसंग की एक अन्य घटना स्वामी वेदानन्द वेदवागीश ने उद्धृत की है—रूड़मल नामक एक नवीन वेदान्ती ब्रह्म और जीव की एकता का प्रतिपादन करते हुए कहने लगे—जीवब्रह्मयोरेकत्वं चेतनत्वात्। अर्थात् चेतन होने से जीव तथा ब्रह्म की एकता है। तर्कप्रवण दयानन्द ने इसके उत्तर में कहा—'धूलीबूरयोरेकत्वं जड़त्वात्'। जड़ होने से मिट्टी और चीनी भी एक ही है। वेदान्ती इस पर चुप्पी साध गये।

३३. सहारनपुर पहुंचने से पूर्व वे कुछ घण्टों के लिये खतौली के मजहर हसन के बाग में ठहरे थे। प्रसिद्ध अन्वेषक श्री मामराजसिंह खतौली निवासी ने इस तथ्य का उद्घाटन किया था।

□□

हरिद्वारीय कुम्भ में

स्वामी दयानन्द की यह तीसरी बार की हरिद्वार यात्रा थी। हरिद्वार में उनका प्रथम बार का आगमन उस समय हुआ, जब संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् उन्होंने उत्तराखण्ड भ्रमण का कार्यक्रम बनाया था। उस समय वे एक सर्वथा अप्रख्यात परिव्राजक के रूप में देशाटन में प्रवृत्त हुए थे। हरिद्वार की उनकी दूसरी यात्रा उस समय हुई, जब वे दण्डी विरजानन्द के स्वप्नों को साकार करने का विचार लेकर कुम्भ के महामेले में उपदेश एवं प्रवचन हेतु वहां आये। पाखण्ड खण्डन पताका [1] का आरोपण एवं सर्वमेध यज्ञ के पश्चात् भावी कार्यक्रम की रूपरेखा बनाने हेतु आत्मचिन्तन उस प्रवास की प्रमुख घटनायें थीं। परन्तु इस बार तो दयानन्द का आगमन देश के एक विख्यात धर्माचार्य, समाजसंस्कारक तथा देशभक्त के रूप में हुआ है। अब तक उनकी कीर्तिकौमुदी, भारत की सीमा रेखा का अतिक्रमण कर देश देशान्तरों तक व्याप्त हो चुकी है। आर्यसमाज के संस्थापक के रूप में देश के सार्वजनिक जीवन में वे अपनी विशिष्ट पहचान बना चुके हैं।

इस वर्ष हरिद्वार में कुम्भ का महान् पर्व था। लाखों की संख्या में श्रद्धालु गंगास्नान के लिये तीर्थभूमि में आ रहे हैं। स्वामीजी ने इस जनसमागम को धर्मप्रचार के लिये उपयुक्त समझा और वे फ़ाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी, १९३५ वि. (२० फरवरी १८७९ गुरुवार) को ज्वालापुर आये और मूला मिस्त्री के बाग के बंगले में ठहरे। कुम्भ के मेले में धर्म जिज्ञासुओं को आमंत्रित करने का विज्ञापन वे पहले से ही तैयार करा कर ले आये थे।[2] ज्वालापुर के एक मुसलमान रईस राव एवज खां से विभिन्न विषयों पर उनका वार्तालाप हुआ। गोरक्षा पर भी बात चली और स्वामीजी की एतद् विषयक युक्तियों से प्रभावित होकर मुसलमान जमींदार ने न केवल मांसाहार का ही परित्याग कर दिया, किन्तु स्वधर्मावलम्बियों को गोरक्षा के लिये प्रेरित करने का भी वचन दिया।

एक सप्ताह पर्यन्त ज्वालापुर में रह कर स्वामीजी ने हरिद्वार के लिये प्रस्थान किया[3] और श्रवणनाथ के उद्यान के निकट, निर्मलों की छावनी के सामने, बूचा नाला के पार मूला मिस्त्री के खेतों में अपना शिविर लगा कर धर्मोपदेश में प्रवृत्त हुए। उनके यहां आने का समाचार मेले में उपस्थित लोगों को विज्ञापन के माध्यम से मिल गया। लोगों के झुण्ड के झुण्ड उनसे भेंट हेतु आने लगे। स्वामीजी के निकट आने वाले विभिन्न प्रयोजनों के वशवर्त्ती होकर आते। कोई मात्र जिज्ञासावश आता, तो कोई उनके प्रति प्रचण्ड अनुराग एवं भक्ति के भाव लेकर। प्रायः लोग इस कुतुहल को शान्त करने के लिये ही आते कि भला उस संन्यासी को तो देखें, जो हिन्दुओं के परम्परागत मूर्तिपूजा, अवतार, श्राद्ध, तीर्थाटन आदि लोक प्रचलित आचारों का कठोर खण्डन कर रहा है। इस क्रान्तिकारी संन्यासी का रूप रंग, आकार प्रकार, वेशभूषा, आचार विचार सभी कुछ उनकी जिज्ञासा के विषय थे।

मेले की अवधि में महाराज का सारा दिन धर्म चर्चा, प्रश्नोत्तर एवं शंका समाधान में ही चला जाता। मध्याह्नोत्तर वे उपस्थित जनसमुदाय के समक्ष व्याख्यान देते तथा रात्रि

में उन आर्य सामाजिक पुरुषों से विभिन्न सैद्धान्तिक विषयों पर चर्चा करते, जो कुम्भ के अवसर पर वहां आये थे।[४] रात्रिकालीन विश्राम के लिये भी उनके पास स्वल्प समय ही बचता, क्योंकि वे ऊषावेला के बहुत पहले ही शय्या त्याग कर योग साधन में प्रवृत्त हो जाते थे। इस प्रकार की कठोर तथा थका देने वाली दिनचर्या का शरीर पर प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी ही था। शीघ्र ही वे रुग्ण हो गये परन्तु रुग्णावस्था में भी उपदेश कार्य से विरत नहीं हुए।

हरिद्वार के प्रसिद्ध विद्वान् सतुआ स्वामी[५] को स्वामी दयानन्द ने जब शास्त्रार्थ के लिये आमंत्रित किया तो उत्तर में उन्होंने कहा—दयानन्द नास्तिक है, और उसका मुख देखना भी पाप है। स्वामीजी का ऐसे दुराग्रही व्यक्तियों से पहले भी कई बार पाला पड़ चुका था। अतः इस बार भी उन्होंने सतुआ स्वामी को यही उत्तर दिया कि यदि वे शास्त्रार्थ करना चाहते हैं, तब तो बीच में पर्दा डाल कर भी कर सकते हैं। परन्तु सतुआ स्वामी किसी भी प्रकार शास्त्रार्थ के लिये उद्यत नहीं हुए। स्वामी दयानन्द यह तो बहुत पहले ही अनुभव कर चुके थे कि हिन्दू धर्म एवं समाज के सार्वत्रिक अधःपतन का कारण उनमें विभाजन पैदा करने वाली विभिन्न प्रवृत्तियां हैं, जिनके कारण धरती का यह पुराणतम धर्म तथा समाज जीर्णशीर्ण होकर मृतप्राय हो चुका है। पारस्परिक विषमता तथा अनैक्य जीवन के प्रत्येक अंग प्रत्यंग में दृष्टि-गोचर हो रहा है। हरिद्वार की ही एक घटना है। कुछ निर्मले साधु अपने झण्डे को चंवर डुलाते और उसी का जय जय कार करते हुए उनके निकट आये। स्वामीजी ने सहज विनोद भाव से कह दिया, "आओ भाई लक्कड़ पूजको आओ, तुम तो लक्कड़पंथी हो।" विनोद के अभिप्राय से कही गई बात भी गूढ़ाशय युक्त थी। जिस धर्म के लोग सच्चिदानन्द, अद्वय ब्रह्म की उपासना को छोड़ कर प्रस्तर, काष्ठ आदि जड़ वस्तुओं को पूजने लगें, तथा इन पदार्थों में ही पूजा बुद्धि करते रहें, भला उस धर्म के शतमुख पतन में भी किसी प्रकार की आशंका हो सकती है? स्वामीजी ने इन झण्डा पूजकों का उपहास ही नहीं किया, उन्हें सदुपदेश देते हुए यह भी कह दिया कि इससे अच्छा तो यह होता कि वे अपनी ही जमात के किसी वृद्ध साधु की जी जान से सेवा करते। नर में नारायण की अविचल सत्ता के दर्शन करने वाले महापुरुष द्वारा यह उपदेश दिया जाना स्वाभाविक ही था।

पारिवारिक, सामाजिक एवं सांसारिक स्नेह बंधनों को निर्ममता पूर्वक तोड़ कर कठोर वैराग्य साधन में प्रवृत्त होने वाले इस संन्यासी के व्यक्तित्व का एक अन्य पहलू भी था। हिन्दू-समाज में विधवा स्त्रियों पर होने वाले क्रूरतापूर्ण अत्याचारों को देखकर उनका मन उदास हो उठता। गाय जैसे लोकोपकारी पशु के निरंकुश वध तथा इसके परिणाम स्वरूप देश के पशु-धन के भयंकर ह्रास को देख कर उनका करुणाप्रवण हृदय विगलित हो जाता। देश की सर्वतोमुखी अवनति का चिन्तन करते करते एक दिन वे सहसा बैठे बैठे ही लेट गये, तो भक्तजनों ने किसी शारीरिक वेदना की आशंका करते हुए उनसे लेट जाने का कारण पूछा। उत्तर में महाराज ने कहा कि विधवाओं पर होने भयंकर अत्याचारों तथा गौ जैसे मूक किन्तु लोको-पयोगी पशु के अविचारपूर्ण वध के कारण ही इस देश को नियतिकृत अभिशापों को झेलना पड़ रहा है। देश की दीनता, हीनता एवं पराधीनता का प्रमुख कारण ये अत्याचार ही हैं और ये ही बातें उन्हें पीड़ित कर रही हैं। संन्यासी का यह चिन्तन कितना सतर्क एवं विचारपूर्ण था!

स्वामीजी के तेजस्वी उपदेशों तथा उनकी क्रान्तदर्शी विचारधारा से सहमत न हो पाने के कारण तत्कालीन विद्वत् समुदाय उनसे विचार विमर्श करने में भी कन्नी काटने लगा था। कनखल के ५० पण्डितों ने परशुराम आचार्य[६] नामक एक अल्पवयस बालक को स्वामीजी से धर्मविषयक जिज्ञासा करने हेतु भेजा। जब स्वामीजी ने उसे प्रश्न करने की आज्ञा दी, तो परशुराम ने धर्म का स्वरूप निरूपण करने का उनसे आग्रह किया। इस पर महाराज ने वेदाज्ञा के पालन तथा वेदविहित कर्मों के आचरण को ही धर्म बताया।[७] प्रश्न पूछने वाला परशुराम स्वयं तो वेद के विषय में कुछ भी नहीं जानता था, अतः उसने सुनी सुनाई उक्तियों को ही अथर्ववेद के नाम पर प्रस्तुत करना चाहा, तो प्रतिवादस्वरूप स्वामीजी ने स्पष्ट कर दिया कि वह 'सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्' आदि जिन वाक्यों को अथर्ववेदोक्त कह रहा है, वे अथर्ववेद में कहीं भी उल्लिखित नहीं हैं। जिस व्यक्ति ने अथर्ववेद के दर्शन भी नहीं किये[८], उससे आगे चर्चा करना निरर्थक ही था।

महाराज की क्षमाशीलता का एक उदाहरण उस समय देखने में आया जब कि निरंजनी अखाड़े के दो नागा साधु उनके निकट आकर असभ्यतापूर्ण वार्तालाप करने लगे। जब पर्याप्त समय तक अविचारपूर्ण एवं अमर्यादित चर्चा करने के पश्चात् भी वे महाराज के सुगम्भीर मानस में किञ्चित् मात्र भी क्षोभ उत्पन्न नहीं कर सके, तो उन्हें स्वयं ही अपने कृत्य पर लज्जा का अनुभव हुआ। वे क्षमा मांग कर चले तो गये किन्तु जाते जाते पीतल के कड़े, माला, कफनी तथा जटा जैसे साम्प्रदायिक चिह्नों को भी गंगा में प्रवाहित करते गये, क्योंकि स्वामीजी की शिक्षाओं को स्वीकार कर लेने के कारण उनके मन में इन सम्प्रदाय गत चिह्नों से विरक्ति हो गई थी।

साधु ईश्वरसिंह निर्मला ने कभी वेद के दर्शन भी नहीं किये थे। उसके आग्रह को स्वीकार कर स्वामीजी ने उसे चतुर्वेद संहिताएं दिखाईं। उन्हें देखकर निर्मला साधु विस्मय-विमुग्ध हो गया। भागवतादि पुराणों, रामचरित मानस आदि भाषा ग्रन्थों तथा योगवासिष्ठ आदि नव्य वेदान्त के ग्रन्थों तक ही अपने अध्ययन को सीमित रखने वाले साधु के लिए वेदों का दर्शन भी एक अभूतपूर्व प्रसंग था। इस साधु को यह पता था कि अपने संन्यास जीवन के प्रारम्भिक काल में स्वामी दयानन्द की शाङ्कर वेदान्त पर दृढ़ आस्था थी। अतः उसने उत्सुकतापूर्वक पूछा कि वेदान्तविषयक उनकी पूर्व धारणाओं में परिवर्तन क्यों और कैसे आया तथा वे अभेदवादी से भेदवादी किस प्रकार बने? स्वामीजी ने सहज भाव से उत्तर दिया कि तब तक उन्होंने वैदिक वाङ्मय का गहन, गम्भीर अनुशीलन नहीं किया था; अतः संन्यासी वर्ग में प्रचलित धारणा के अनुसार उस काल में वे भी वेदान्त के प्रति आस्थावान् बन गये थे। किन्तु कालान्तर में जब उन्होंने वेदप्रतिपादित दार्शनिक मन्तव्यों का सतर्क अनुशीलन किया, तो उन्हें निश्चय हो गया कि जीव और ब्रह्म का एक्य शास्त्रविरुद्ध मत है। इस पर ईश्वरसिंह ने शंका करते हुए कहा—"अभेदवाद में तो शंकराचार्य जैसे प्रख्यात आचार्य की साक्षी है, आप भेदवाद की पुष्टि में किसकी साक्षी प्रस्तुत करेंगे?" महान् आस्तिक दयानन्द ने उत्तर में कहा कि **द्वैतमत की सिद्धि में तो स्वयं वेदपुरुष परमात्मा की ही साक्षी है।** जब निर्मला साधु ने उपनिषदों की उन श्रुतियों की ओर महाराज का ध्यान

आकृष्ट किया, जो अभेदवाद की पोषक हैं, तो स्वामीजी ने समाधान रूप में कहा कि प्रकारान्तर से भेद और अभेद दोनों को पुष्ट करने वाले उपनिषद् वाक्यों में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। दृष्टान्त रूप में उन्होंने स्पष्ट किया कि जिस प्रकार आकाश से हमारी यह कुटिया पृथक् नहीं है, उसी प्रकार जीव और ईश्वर में अभेद भी है, किन्तु यह भी ध्यान रखना होगा कि कुटिया आकाश भी नहीं है, इस प्रकार भेदवाद को भी नकारा नहीं जा सकता। अद्वैतमत के निरसन तथा द्वैतमूलक भेदवाद की पुष्टि में स्वामीजी समय समय पर प्रसंगानुकूल विभिन्न युक्तियाँ, तर्क एवं दृष्टान्त देते रहते थे।

स्वामी दयानन्द साम्प्रदायिक भेदभावों को समाप्त कर विराट् आर्यसमाज[६] में सच्ची एकता देखने के इच्छुक थे। उन्हें इस बात का अत्यन्त खेद था कि नाना मत, पन्थ एवं सम्प्रदायों में विभक्त भारत का यह विशाल जनसमुदाय अनेकता तथा विघटन का शिकार हो रहा है। एक दिन जब वे भक्तसमाज में विराजमान थे, उन्होंने देखा कि साधुओं का एक बृहत् समुदाय एक ओर जा रहा है। पूछने पर पता चला कि कोई प्रसिद्ध उदासी साधु आये हैं और उन्हीं के दर्शनार्थ यह विरक्तमण्डल जा रहा है। भारत के साधु समुदाय में विद्यमान उदासी, निर्मले, वैरागी, खाखी, नागे आदि के विभिन्न वर्गों की ओर संकेत करते हुए महाराज ने इस बात पर दुःख प्रकट किया कि हमारे विरक्त समाज में भी नाना मत एवं भिन्न भिन्न जमातें चल पड़ी हैं। जिस समाज का चतुर्थाश्रमी वर्ग भी पृथक् पृथक् घटकों में विभक्त हो जाय, उस समाज के शतधा, सहस्रधा विभाजित एवं विखण्डित होने में शंका ही क्या हो सकती है? इस पर ईश्वरसिंह निर्मला ने पूछ लिया—क्या सभी लोगों का एक ही विचारधारा में दीक्षित होकर एक ही पथ का अनुगामी बनना सम्भव है? स्वामीजी का स्पष्ट उत्तर था, **"पुरुषार्थ से सब कुछ सम्भव है। यदि हम सामाजिक एकता के लिये बद्धपरिकर हों जावें, तो साम्प्रदायिक भिन्नता को समाप्त करना कुछ भी कठिन नहीं है।"**

हिन्दुओं की ही भांति जिज्ञासु वृत्ति के मुसलमान सत्संगी भी महाराज के निकट आकर धर्म चर्चा करते थे। रुड़की का तहसीलदार नजफअली भी इसी श्रेणी में आता था। इस्लाम में बहुपत्नी की प्रथा के सम्बन्ध में उसकी स्वामीजी से बातचीत हुई। नजफअली ने स्वीकार किया कि एक पत्नी व्रत ही दाम्पत्य जीवन का श्रेष्ठ आदर्श हो सकता है। एक दिन यही तहसीलदार डिप्टी मजिस्ट्रेट विकारअली बेग के साथ आये और दोनों ने स्वामीजी के व्याख्यान को रुचिपूर्वक सुना। व्याख्यान के समाप्त होने पर नजफअली ने मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया कि तत्त्व ज्ञान की गम्भीर विवेचना करने वाले ग्रन्थ संस्कृत भाषा की अपेक्षा अन्य भाषाओं में बहुत ही कम हैं। वे स्वयं को महाराज का अकिंचन सेवक कहलाने में गर्व का अनुभव करते थे। कुम्भ के माहात्म्य का प्रसंग चलने पर डिप्टी साहब ने हर की पौड़ी पर स्नान करने के महत्त्व के सम्बन्ध में पूछा। उत्तर में स्वामीजी ने स्पष्ट किया कि वास्तव में किसी नदी विशेष अथवा उसके घाट विशेष पर स्नान करने से तो किसी प्रकार के पुण्य की प्राप्ति नहीं होती। साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि इस प्रकार की आस्थायें सभी मतों में विद्यमान हैं। मुसलमानों में सम्मानास्पद मानी जाने वाली अजमेर स्थित ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती की दरगाह का उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा कि वहां के मुजाविर

(पण्डे) भी श्रद्धालु मुसलमानों का वैसा ही शोषण करते हैं जैसा हरिद्वार के गंगापुत्र, हिन्दुओं का। वास्तव में धर्म के नाम पर व्यवसाय, दूकानदारी तथा धोखाधड़ी तो सब जगह एक सी ही है।

हरिद्वार के इस प्रवास की कतिपय अन्य घटनायें भी उल्लेखनीय हैं। इसी अवधि में शान्तिपुर(नवद्वीप) निवासी तीन पण्डितों से स्वामीजी का वेदविषयक वार्तालाप अत्यन्त सौहार्द-पूर्ण वातावरण में हुआ। वास्तविक जिज्ञासु होने के कारण उनके प्रश्नों का संतोषप्रद समाधान निकल आने में कुछ भी कठिनाई नहीं हुई। एक अन्य वेदान्तनिष्ठ संन्यासी स्वामी आनन्दवन अपने कुछ शिष्यों सहित महाराज के समीप आये। ये संन्यासी ८० वर्ष के थे तथा उनके चेहरे पर ओज और तेज था। श्री महाराज ने इस वयोवृद्ध संन्यासी का उठ कर सत्कार किया तथा सम्मानपूर्वक उन्हें आसन दिया। पुनः दोनों परिव्राजकों में वेदान्तविषयक वार्तालाप आरम्भ हुआ। भोजन की वेला भी टल गई, परन्तु शास्त्रालाप चलता रहा। अन्ततः स्वामी आनन्दवन ने स्वीकार किया कि स्वामी दयानन्द की वेदान्तविषयक धारणायें सर्वथा युक्तिपूर्ण एवं शास्त्रानुमोदित हैं। उन्होंने अपने शिष्यों को सूचित किया कि अब तक वे शाङ्कर मत के अनुयायी थे, किन्तु दयानन्द द्वारा प्रतिपादित वेदान्त के वास्तविक अभिप्राय को हृदयंगम कर अब वे जीवेश्वर भेद को स्वीकार कर चुके हैं। उनके अनुगत शिष्यों ने भी गुरु की आज्ञा को स्वीकार किया। इस प्रकार एक विचारशील संन्यासी ने बिना किसी पूर्वाग्रह, स्वामीजी के दार्शनिक मन्तव्यों की सत्यता स्वीकार की।

इन्हीं दिनों स्वामीजी को काश्मीर नरेश का एक पत्र मिला जिसमें उनसे अनुरोध किया गया था कि जो लोग किसी कारणवश आर्य धर्म का त्याग कर चुके हैं, उन्हें पुनः स्वधर्म में दीक्षित किये जाने की व्यवस्था को वे शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर अंकित कर उन्हें भेजें।[१०] स्वामीजी का एतद् विषयक चिन्तन नितान्त स्पष्ट था। वे शास्त्रीय आधार पर भी धर्म से पतित लोगों को पुनः शुद्ध कर सनातन वैदिक धर्म में प्रविष्ट किये जाने के विषय में संतुष्ट थे, साथ ही ऐतिहासिक तथ्यों से भी यह प्रमाणित किया जाना कठिन नहीं था कि अतीत काल में समुचित प्रायश्चित्त के पश्चात् धर्म से पतित लोगों को पुनः उसी समाज में प्रविष्ट किया जाता रहा है। स्वामीजी का यही विचार आगे चल कर उस महान् शुद्धि आन्दोलन का आधार बना, जिसके माध्यम से लाखों मुस्लिम एवं ईसाइयों को शुद्ध कर भारत के सनातन-धर्म में प्रविष्ट कराया गया।

यों तो कुम्भ के इस महामेले में सहस्रों साधु, संन्यासी एवं विरक्तजन आये थे, परन्तु स्वामी दयानन्द के मतानुसार इनमें स्वामी जीवनगिरि, स्वामी सुखदेवगिरि तथा स्वामी विशुद्धानन्द ही विद्यासम्पन्न तथा सर्वशास्त्र निष्णात थे। स्वामीजी की हार्दिक धारणा थी कि यदि ये तीनों संन्यासी मिल कर लोकोपकार, देशोत्थान तथा मानव जाति के सर्वविध हित-साधन में उनका हाथ बंटाये, तो यह महत्त्वपूर्ण कार्य शीघ्र ही पूरा किया जा सकता है।[११] देश और जाति का यह दुर्भाग्य ही था कि उपर्युक्त संन्यासीगण विद्वान् होने पर भी लोक-मंगल की भावना से शून्य थे, अतः वे श्री महाराज के उदात्त आशय एवं प्रस्ताव से सहमत

नहीं हुए। जब स्वामीजी ने पत्रों के माध्यम से अपना अभिप्राय इन संन्यासियों से प्रकट किया तो उसकी कोई अनुकूल प्रतिक्रिया दृष्टिगोचर नहीं हुई।

स्वामी दयानन्द मानव जीवन की सर्वतोमुखी उन्नति के लिये आस्तिक भावना युक्त ईश्वरोपासना को अत्यन्त आवश्यक समझते थे। वे नवीन वेदान्त के शंकर प्रतिपादित सिद्धान्त से सहमत नहीं थे कि ज्ञानी के लिये उपासना का महत्त्व शेष नहीं रहता। जब वेदान्ती साधु रामसिंह ने उनसे पूछा कि आप ज्ञानी होकर भी अल्पज्ञ, अज्ञानियों की भाँति ईश्वराराधना में क्यों तत्पर रहते हैं, तो महाराज ने ईश्वर स्तुति, प्रार्थना एवं उपासना के महत्त्व का प्राञ्जल भाषा में निरूपण करते हुए कहा कि ईश्वरोपासना तो आत्मा का भोजन है। इसके बिना मनुष्य अपनी अल्पज्ञता, अल्प सामर्थ्य तथा न्यूनताओं को कैसे दूर कर सकता है? साथ ही उन्होंने प्रार्थना और उपासना के साथ साथ पुरुषार्थ के महत्त्व का भी निरूपण किया।

इस समय तक स्वामीजी के अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके थे और उनके पाठकों की संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ रही थी। इसी प्रसंग में उनके समक्ष यह प्रस्ताव आया कि यदि विभिन्न भाषाओं में उनके ग्रन्थों का अनुवाद करा दिया जाय, तो अधिकाधिक लोग उनसे लाभान्वित हो सकेंगे। आपाततः यह प्रस्ताव निर्दोष ही था, किन्तु स्वामी दयानन्द जैसा दूरदर्शी तथा भविष्यद्रष्टा संन्यासी तो उस दिन को देखना चाहता था जब कि आर्यभाषा हिन्दी ही भारत की सर्वमान्य भाषा होगी और इसी राष्ट्रभाषा के माध्यम से देश के लोग अपने विचारों का आदानप्रदान करेंगे। उस स्थिति में क्या यह सम्भव नहीं होगा कि स्वामी जी के ग्रन्थों को पाठक मौलिक रूप में ही पढ़ें और अनुवाद की आवश्यकता ही न रहे। आसेतु हिमाचल तक फैले इस विशाल देश की एक सामान्य लोकभाषा के स्वप्नद्रष्टा का यह चिन्तन स्वाभाविक ही था।

कुम्भ के मेले में एकत्रित अपार जन सम्मर्द के अनुपात में स्वास्थ्य एवं सफाई की पर्याप्त एवं समुचित सुविधायें अधिकारीगण नहीं जुटा पाये थे। फलतः विशूचिका के फैल जाने की प्रबल सम्भावना हो गई। एक दिन नैनीताल के यूरोपियन डाक्टर से स्वामीजी की इसी विषय पर बातचीत हुई जिसमें उन्होंने स्पष्ट मत व्यक्त करते हुए कहा कि हजारों लोगों के एकत्रित होने और मल विसर्जन आदि से जो गंदगी मेला क्षेत्र में फैल गई है, उससे महामारी का फैल जाना असम्भव नहीं है। और ऐसा ही हुआ। स्वामीजी ने तो अपने एक व्याख्यान में आगन्तुक लोगों को चेतावनी देते हुए कह दिया था कि पर्व के मुख्य दिन के पहले ही वे स्वगृहों को लौट जायें,[१२] अन्यथा उनके महामारी के शिकार हो जाने की पूरी आशंका है। वायु को दूषित होने से बचाने के लिये उन्होंने लोगों को कपूर और घृत जलाने का सुझाव दिया जिससे की विषाक्त कीटाणुओं से वायुमण्डल को मुक्त रक्खा जा सके।

अधिक श्रम तथा पर्याप्त विश्राम के अभाव में स्वामीजी बीमार हो गये। प्रबल अतिसार रोग के कारण उनके शरीर में दुर्बलता आ गई। अधिक कष्ट होने पर व्याख्यान का कार्यक्रम भी स्थगित करना पड़ा। उनकी रुग्णता का समाचार पञ्चपुरी में सर्वत्र फैल गया। इस समय हरिद्वार के एक साधु समुदाय ने सोचा कि आज ही दयानन्द को शास्त्रार्थ के लिये आहूत करना चाहिए। वे तो रुग्ण हैं, अतः शास्त्रार्थ करने से इन्कार कर देंगे और हमें अपनी

विजय की घोषणा कर देने का अवसर मिल जायगा। यही धारणा बना कर साधु मण्डली महाराज के निकट आई। जब स्वामीजी ने उनके आगमन का प्रयोजन पूछा, तो मण्डली के अध्यक्ष ने कहा कि शास्त्रार्थ के लिये ही वे उनके समक्ष उपस्थित हुए हैं। उनके आश्चर्य की सीमा नहीं रही, जब उन्होंने देखा कि स्वामी दयानन्द चटपट अपनी रोग शय्या से उठ खड़े हुए और पूछने लगे कि वे किस विषय पर शास्त्रार्थ करना चाहेंगे। बात यह थी कि स्वामीजी के लिये मनुष्य के विद्वान् अथवा अविद्वान् होने की परीक्षा कर लेना अत्यन्त सहज था। वे मनुष्य की आकृति, प्रकृति तथा उसकी भावभंगिमा को देख कर ही उसकी योग्यता का अनुमान कर लेते थे। अतः उन्हें यह जानने में देर नहीं लगी कि शास्त्रार्थ के लिये सन्नद्ध यह साधु कितनी योग्यता के हैं। स्वामीजी के प्रश्न के उत्तर में उक्त साधुजी ने वेदान्त विषय पर शास्त्रार्थ करने का विचार व्यक्त किया। महाराज ने जब उससे 'वेदान्त' का अभिप्राय पूछा तो उत्तर में साधु ने कहा कि ब्रह्म की एकमात्र सत्यता तथा जगत् का मिथ्यात्व ही वेदान्त का चरम सिद्धान्त है।[13] अब स्वामीजी अपनी तर्कप्रवण शैली का प्रयोग कर प्रतिद्वन्द्वी को उसके कथन से ही निग्रह स्थान की ओर ले जाने लगे। उन्होंने पूछा—"जगत् से आपका क्या अभिप्राय है? क्या जगत् के अन्तर्गत उनका शरीर, उनके गुरु, उपदेश, पुस्तक आदि की गणना हो सकती है या नहीं।" साधु को यह स्वीकार करना पड़ा कि ये सभी जगत् के अन्तर्गत गणनीय हैं। अब महाराज ने कहा कि जब आप स्वयं ही स्वीकार कर चुके हैं कि आप, आपके गुरु, आपका उपदेश और सिद्धान्त भी जगत् के ही भीतर है और यह जगत् मिथ्या ही है, क्या इससे आपके द्वारा प्रतिपादित उक्त सिद्धान्त भी मिथ्या सिद्ध नहीं हो जाता। जब आपका उपदिष्ट सिद्धान्त ही मिथ्या है, तो उसे शास्त्रार्थ का विषय कैसे बनाया जा सकता है? इस युक्ति जाल में फंस कर साधुजी शीघ्र ही निग्रहस्थान में आ गये और मौन धारण कर अपनी मण्डली सहित चले गये।

जिस मूला मिस्त्री[14] के खेतों में शिविर स्थापित कर स्वामीजी अपना धर्म प्रचार कर रहे थे, उसने एक दिन महाराज से जिज्ञासावश पूछा कि मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में उनके मन में इतना विरक्ति भाव कब और कैसे उत्पन्न हुआ तथा इस प्रथा के खण्डन के पीछे कौन-कौन सी प्रेरणाएं कार्य कर रही हैं। उत्तर में स्वामीजी ने स्पष्ट किया कि मैं तो प्रारम्भ से ही मूर्तिपूजा को पूर्ण पाखण्ड तथा ईश्वरोपासना के मार्ग में प्रबल बाधक मानता रहा हूँ किन्तु बाद में मैंने देखा कि मेरे गुरुवर दण्डी विरजानन्द भी इस पाखण्डपूर्ण पद्धति के कट्टर विरोधी हैं और यह आशा रखते हैं कि उनका कोई योग्य शिष्य आगे आकर जड़ पूजा के अनाचार से देशवासियों को मुक्त करेगा, तो मैं उनके इस आदेश का पालन करने हेतु कृत-प्रतिज्ञ हुआ। इस प्रकार मूर्तिपूजा के खण्डन में जहाँ महाराज की प्रबल आत्मप्रेरणा कार्य कर रही थी, वहां गुरु महाराज का आदेश भी उन्हें इस कार्य के लिये निरन्तर सन्नद्ध किये रहा।

जब मेले में महाराज के उपदेश और प्रवचन अपना अभीष्ट फल दिखाने लगे तो सनातनी शिविर में हड़कम्प मच गया। सहारनपुर निवासी लाला भोलानाथ वैश्य ने पंजाब के पं० श्रद्धाराम फिल्लौरी को स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिये आमंत्रित किया। फिल्लौरी

तो मानो इस अवसर की प्रतीक्षा में ही थे। वे तुरन्त हरिद्वार चले आये और जूना अखाड़ा में धर्म सभा के मञ्च से स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों के खण्डन में प्रवृत्त हुए। एक विज्ञापन भी प्रकाशित कर वितीर्ण किया गया। अन्ततः अनेक पण्डितों की सम्मति से स्वामीजी की सेवा में एक पत्र भेजा गया जिसमें उनसे निवेदन किया गया था कि वे जूना अखाड़ा स्थित सभा में आकर परस्पर संवाद में प्रवृत्त हों।[१५] कहने को तो यह कहा गया था कि पण्डितगण स्वामीजी को शास्त्रार्थ के लिये आमंत्रित कर रहे हैं, परन्तु उनके मनसूबे कुछ भिन्न प्रकार के ही थे। उद्दण्ड पण्डित मण्डल तथा भंग, गांजा, चरस सेवी साधुओं ने यह निश्चय कर रक्खा था कि जब दयानन्द शास्त्रार्थ के लिये यहां उपस्थित होंवे, तो उन्हें पत्थरों से मार मार कर समाप्त कर दिया जाय। चाहे दण्ड रूप में किसी को फांसी पर भी चढ़ना पड़े, तो कोई परवाह नहीं, किन्तु मूर्ति, अवतार एवं तीर्थ द्वेषी संन्यासी को तो उसके किये का फल देना ही होगा।

स्वामीजी को जब शास्त्रार्थ के लिये उपस्थित होने का पत्र मिला, तो वे इन लोगों का आशय समझ गये। अतः उन्होंने उत्तर में लिखा कि यद्यपि शास्त्रार्थ करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु वे यह अवश्य चाहते हैं कि शास्त्रार्थ का प्रबन्ध किसी उत्तरदायी राज-पुरुष द्वारा किया जाय, साथ ही अपठित मूर्खों को शास्त्रार्थ स्थल से दूर रक्खा जाना चाहिए, ताकि वे कोई व्यवधान खड़ा न करें। उन्होंने अपने इस पत्र में यह भी स्पष्ट कर दिया कि जूने अखाड़े में यदि वे उपस्थित होते हैं, तो उन पर निश्चय ही आक्रमण किया जायगा। उन्हें अपने शरीरपात का तो किञ्चित् मात्र भी भय नहीं है, किन्तु यदि ऐसा होता है, तो लोकोपकार के लिये जो बृहत् कार्य उनके द्वारा किया जा रहा है, वह अधूरा ही रह जायगा। इसके साथ ही उन्होंने स्वामी विशुद्धानन्द को मध्यस्थ के रूप में नियत करने का भी आग्रह किया।

जब ये सारे समाचार कुम्भ के मेले में उपस्थित स्वामी विशुद्धानन्द को विदित हुए तो उन्होंने पं. श्रद्धाराम तथा पं. चतुर्भुज[१६] आदि की कड़े शब्दों में निंदा करते हुए अपना स्पष्ट अभिमत व्यक्त कर दिया कि यह सारा धूर्तमण्डल है और इनमें से एक की भी इतनी योग्यता नहीं है कि वह शास्त्रों के पारगामी दयानन्द जैसे महापुरुष के समक्ष शास्त्रार्थ संग्राम में स्वल्प समय तक खड़ा रह सके। इसके साथ ही उन्होंने एक पत्र स्वामी दयानन्द को भी भेजा और उनसे स्पष्ट कह दिया—यह मूर्खों और धूर्तों का समुदाय है, जो अकारण ही उनके पावन शरीर को क्षति पहुंचाने के लिये सन्नद्ध है। स्वामी दयानन्द से उन्होंने अनुरोध किया कि इन मूर्खों के कहने में आकर वे शास्त्रार्थ हेतु जूना अखाड़ा में हरगिज न जावें। स्वामी विशुद्धानन्द ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि जिस सभा में श्रद्धाराम फिल्लौरी तथा चतुर्भुज जैसे दुरभिसंधि करने वाले क्षुद्राशय लोग उपस्थित रहें, वहां वे मध्यस्थ के रूप में हरगिज उपस्थित नहीं हो सकते। जब स्वामी विशुद्धानन्द का यह पत्र स्वामीजी को मिला तो फिल्लौरी के षड्यंत्र का भांडा फूट गया। अब स्वामी दयानन्द की आज्ञा से स्वामी विशुद्धानन्द का यह पत्र पं. भीमसेन शर्मा द्वारा उपस्थित लोगों के समक्ष उच्चस्वर से पढ़ कर सुनाया गया। इससे सब लोगों को विदित हो गया कि शास्त्रार्थ के लिये आमंत्रित करने के पीछे विरोधी लोगों का कौन सा षड्यंत्र और कूटनीति कार्य कर रही थी।

अब श्रद्धाराम फिल्लौरी ने स्वामी दयानन्द को बदनाम करने के लिये एक अन्य योजना बनाई। उसने कुछ साधुओं को इस बात के लिये तैयार किया कि वे उसकी सभा में उपस्थित होकर सार्वजनिक रूप से यह घोषणा करें कि दयानन्द के उपदेशों को सुन कर वे पतित हो गये हैं, अतः प्रायश्चित्तपूर्वक वे इस पाप से निवृत्त होना चाहते हैं। ऐसा ही हुआ। फिल्लौरी ने बड़ी धूमधाम से इन लोगों को गंगास्नान कराया, तदनन्तर एक जुलूस निकाला और दक्ष प्रजापति के मंदिर में उन्हें दर्शनार्थ ले जाकर प्रायश्चित्त कराया। यह प्रसिद्ध किया गया कि दयानन्द के उपदेशों को सुन कर पतित हुए इन लोगों को पुनः सनातनधर्म में प्रायश्चित पूर्वक प्रविष्ट कराया गया है।[१७] सचाई यह थी कि इन प्रायश्चित्त कर्ता साधुओं ने तो कभी दयानन्द के उपदेश सुने ही नहीं थे।

लगभग डेढ़ मास हरिद्वार में निवास करने के पश्चात् स्वामीजी ने वैशाख कृष्णा अष्टमी १९३६ वि. १४ अप्रैल १८७९ ई. सोमवार को देहरादून के लिये प्रस्थान किया। देहरादून आने में उनके एकाधिक प्रयोजन थे। प्रथम तो हरिद्वार के मेले में दीर्घकाल तक स्वास्थ्यनाशक वातावरण में रहने के कारण स्वामीजी रुग्ण हो गये थे। लम्बे काल तक उन्हें दस्त होते रहे जिससे शरीर में दुर्बलता आ गई। अब वे देहरादून जैसे शीत प्रधान नगर में रह कर स्वास्थ्य सुधारना चाहते थे। परन्तु देहरादून जाने का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारण भी था। इस नगर के एक धनी परिवार के दो युवक ईसाई स्कूल में पढ़ते थे।[१८] ईसाई अध्यापकों द्वारा हिन्दू धर्म पर किये जाने वाले आक्षेपों से उद्विग्न होकर उन्होंने यह निश्चय कर लिया था कि वे शीघ्र ही अपने परम्परागत धर्म का परित्याग कर ईसाई मत अंगीकार कर लेंगे। इसके साथ ही उन्होंने हिन्दू धर्म के पण्डित एवं पुरोहित वर्ग को छः मास की मोहलत भी दी थी। यदि इस बीच धर्मविषयक उनकी शंकाओं का समाधान नहीं होता है तो ईसाई बनने में वे एक दिन की भी देरी नहीं करेंगे।

पं० कृपाराम स्वामी[१९] नामक वन विभाग में कार्यरत एक कर्मचारी ने १ फरवरी १८७९ को एक पत्र लिख कर स्वामीजी को इस घटनाक्रम से सूचित किया, साथ ही उनसे यह भी अनुरोध किया कि वे यथाशीघ्र देहरादून आकर ईसाई बनने वाले इन युवकों की धर्मविषयक शंकाओं का समाधान करें और उन्हें मतान्तर में जाने से रोकें। स्वामीजी को यह पत्र सहारनपुर में उस समय मिला जब वे हरिद्वारीय कुम्भ में आने की तैयारी कर चुके थे। उत्तर में स्वामीजी ने उन्हें सूचित कर दिया कि वैशाख मास में कुम्भ पर्व के समाप्त होने पर ही उनका देहरादून आना शक्य होगा।[२१] तदनुकूल वे १४ अप्रैल को ही देहरादून पहुंच गये। पं० कृपाराम ने उनके निवास की व्यवस्था राजपुर मार्ग पर स्थित मिस डिक के एक बंगले में कर रक्खी थी।[२१] इस समय स्वामीजी के साथ पं० भीमसेन, पं० नीलाम्बर तथा एक अन्य विद्यार्थी—कुल तीन व्यक्ति ही थे। मिस डिक के बंगले पर ही उनके व्याख्यान होने लगे। पहला व्याख्यान ईश्वर विषय पर हुआ, जबकि दूसरे व्याख्यान में उन्होंने वेद के ईश्वरकृत होने को अनेक युक्तियों तथा प्रमाणों से सिद्ध किया। वेद के ईश्वरोक्त होने की चर्चा के प्रसंग में बाइबिल तथा कुरान की भी चर्चा हुई, जिनके अनुयायी इन ग्रन्थों के ईश्वरोक्त होने का दावा करते हैं। प्रसंगोपात्त जब सामी धर्म ग्रन्थों के ईश्वरोक्त न होने के

सम्बन्ध में वक्ता द्वारा प्रमाण प्रस्तुत किये जाने लगे तो उपस्थित व्यक्तियों में एक पादरी डा० मारिसन आवेश में आ गये और बोल पड़े कि पण्डित दयानन्द ने तो अपने व्याख्यान में अन्य मतों पर केवल धूल उड़ाई है और इसी धूल में उनका अपना वेदमत भी लुप्त हो गया है। बहुत कुछ समझाने बुझाने से भी पादरी मारिसन का क्रोध शान्त नहीं हुआ। इस पर एक अन्य उपस्थित अंग्रेज सज्जन पारमर ने उन्हें शान्त कराना चाहा, परन्तु पादरी साहब क्रोधाविष्ट हो सभा त्याग कर चले गये।

इसके पश्चात् उपर्युक्त पारमर और एक अन्य गार्टलेन नामक गौराङ्ग सज्जनों ने स्वामीजी से बाइबिल पर चर्चा आरम्भ की। अभी वार्तालाप का आरम्भ ही हुआ था कि मिशन हाई स्कूल के हैडमास्टर विपिनमोहन बोस[२२] ने बाइबिल के पक्ष में अनेक युक्तियां देनी आरम्भ कीं। अब बोस महाशय के कथन के प्रतिवाद में स्वयं गार्टलेन ही तैयार हो गये और वहां ऐसा विचित्र दृश्य उपस्थित हो गया जिसमें लोगों ने देखा कि एक भारतीय ईसाई तो बाइबिल के पक्ष में अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत कर रहा है और उसका प्रतिवाद आर्यसंन्यासी स्वामी दयानन्द तथा एक यूरोपीय ईसाई श्री गार्टलेन सम्मिलित रूप से कर रहे हैं। प्रसंगोपात्त स्वामीजी ने इस्लाम एवं ब्राह्मसमाज की समालोचना में भी अनेक बातें कहीं।

स्वामी दयानन्द द्वारा की गई आलोचना को असह्य मान कर देहरादून के मुसलमानों में रोष का भाव व्याप्त हो गया। वे एक बड़ी भीड़ के रूप में स्वामीजी के निवास पर शास्त्रार्थ के लिये पहुंचे। स्वामीजी ने उनसे कहा कि शास्त्रार्थ के लिये तो वे सदा तत्पर रहते हैं, किन्तु इसके लिये नियमों का निर्धारण आवश्यक है। तत्पश्चात् नियमादि बनाकर स्वामीजी के समक्ष प्रस्तुत किये गये और यह भी निश्चय हुआ कि मौलवी अहमद हसन नामक सज्जन इस्लाम के मुख्य प्रवक्ता होंगे। परन्तु उपर्युक्त शास्त्रार्थकर्त्ता मैदान में नहीं आये।

पं० कृपाराम ने देहरादून के जिस रईस के लड़कों के ईसाइयत ग्रहण करने का समाचार स्वामीजी को प्रेषित किया था, अब उन्हीं लड़कों को महाराज के समक्ष उपस्थित किया गया। जब स्वामीजी ने धर्मविषयक उनकी समस्त शंकाओं का समाधान कर दिया, तो उन्होंने परमत ग्रहण करने विषयक अपने संकल्प को त्याग दिया। स्वामीजी ने तो इन दोनों युवकों से यहां तक कहा, जिन्होंने उन्हें ईसाई बनने के लिये उत्तेजित किया है वे उन पादरियों को विचारार्थ उनके समक्ष लायें, परन्तु पादरी लोगों में स्वामीजी से धर्मविचार करने का साहस नहीं था। उन्होंने रईस के लड़कों को यह कह कर अवश्य धमकाया कि यदि वे ईसाई मत अंगीकार नहीं करेंगे तो कलेक्टर साहब उनसे रुष्ट हो जायेंगे। परन्तु अब तो ये लोग आर्य धर्म की महत्ता तथा वैदिक संस्कृति के गौरव एवं वर्चस्व को भली भांति समझ चुके थे, अतः पादरियों की धमकियों का उन पर कोई असर नहीं पड़ा।

देहरादून का यह प्रवास लगभग दो सप्ताह का था। इस बीच स्वामी दयानन्द ने कुल नौ व्याख्यान दिये। इनमें से पांच व्याख्यान तो आर्यावर्त के प्राचीन इतिहास से सम्बन्धित थे, जिनमें व्याख्याता ने पुराकालीन आर्य राजाओं का गौरवपूर्ण इतिवृत्त श्रोताओं के समक्ष उपस्थित किया। अन्य मतावलम्बी व्यक्तियों को स्वधर्म में दीक्षित करने का महत् शुभारम्भ भी देहरादून में ही हुआ जब कि मोहम्मद ऊमर नामक एक जन्मना मुसलमान को उसकी

प्रार्थना पर स्वामीजी ने वैदिक धर्म की दीक्षा दी और 'अलखधारी'[२३] के नाम से अभिहित किया। शुद्धि रूपी महायज्ञ के प्रथम होता दयानन्द ही थे। मोहम्मद ऊमर को हिन्दू धर्म में दीक्षित कर उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि कारण विशेष से स्वधर्म का परित्याग कर अन्य मत का अवलम्बन करने वाला व्यक्ति यदि अपने परम्परागत धर्म में पुनः प्रविष्ट होना चाहता है, तो उसे ऐसा करने की स्वतन्त्रता है। साथ ही यदि कोई भिन्न मत का व्यक्ति वैदिक धर्म के प्रति सच्ची आस्था एवं निष्ठा रखने के कारण उसमें प्रविष्ट होने का इच्छुक हो, तो उसे भी इसकी अनुमति मिलनी ही चाहिए। दयानन्द के इस मन्तव्य तथा उसकी क्रियान्विति से यह भ्रमपूर्ण धारणा समाप्त हो गई कि केवल ईसाई एवं मुसलमान ही प्रसारात्मक (proselytic) धर्म हैं।

३० अप्रैल को देहरादून से प्रस्थित होकर वैशाख शुक्ला १०, १ मई गुरुवार को महाराज सहारनपुर आये। दो दिन यहां ठहरे। थियोसोफिकल सोसाइटी के संस्थापक द्वय कर्नल एच. एस. ऑल्काट तथा मैडम एच. पी. ब्लैवेट्स्की उस समय स्वामीजी से परामर्श हेतु सहारनपुर पहुंच चुके थे, अतः स्वामीजी इन्हें साथ लेकर वैशाख शुक्ला १२, ३ मई शनिवार को मेरठ पहुंचे। रेलवे स्टेशन पर आर्य पुरुषों ने स्वामी दयानन्द तथा विदेशी अतिथियों का भव्य स्वागत किया। स्वामीजी को छावनी स्थित एक कोठी में ठहराया गया, जब कि थियोसोफी के नेताओं की पृथक् व्यवस्था की गई।[२४] ६ मई तक इन गौराङ्ग धर्माचार्यों की स्वामीजी से अनेक धार्मिक, आध्यात्मिक तथा योग से सम्बन्धित विषयों पर चर्चा होती रही। दोनों व्यक्तियों ने वैदिक धर्म तथा आर्य आदर्शों के प्रति अनन्य आस्था का परिचय दिया। आर्यसमाज मेरठ के तत्त्वावधान में ५ मई १८७९ को एक सभा आयोजित की गई। सभा का उद्देश्य कर्नल एवं मैडम का सार्वजनिक अभिनन्दन करना ही था। स्वामी दयानन्द भी इस सभा में उपस्थित थे। अपने सम्मान के उत्तर में भाषण देते हुए कर्नल आल्काट ने वेद प्रतिपादित धर्म की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करने के साथ साथ ईसाई मत का खण्डन किया और पाश्चात्य देशों में उसे अंधविश्वास का जनक घोषित किया। अपने इस भाषण में स्वामी दयानन्दविषयक उद्गारों को प्रकट करते हुए कर्नल ने कहा—"आधुनिक भारत के लूथर की पदवी अनेक सुधारकों को, विशेषतः राजा राममोहनराय को दी गई है, किन्तु मेरी सम्मति में तो स्वामी दयानन्द ही इस उपाधि के सर्वाधिक उपयुक्त पात्र हैं।"[२५] इसके पश्चात् उन्होंने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में राजा राममोहनराय के ईसाई मत के प्रति अदम्य आकर्षण, तदनन्तर लंदन जाकर ईसाइयत के वास्तविक रूप को देखने तथा उससे उत्पन्न हुई ग्लानि एवं निराशा का उल्लेख करते हुए कहा—"यदि हम राममोहनराय की तुलना दयानन्द सरस्वती से करें तो कहेंगे कि राय महाशय ने तो वेदों का प्रत्याख्यान कर उनके स्थान पर एक भावुकतापूर्ण ईसाई मत को प्रतिष्ठापित करने का प्रयास ही किया था, जब कि स्वामीजी का प्रयत्न (लूथर की ही भांति, जिसने बाइबिल को ही सुप्रतिष्ठित करने के लिये यत्न किया) राष्ट्रीय धर्म पुस्तकों के प्रामाण्य की पुनः स्थापना करना है। ऐसा करते समय वे इन धर्म ग्रन्थों में प्रविष्ट किये गये उन घृणित अंशों को पृथक् कर देना चाहते हैं जो स्वार्थी पुरोहित वर्ग द्वारा उनमें अनेकत्र प्रविष्ट करा दिये गये हैं। भाइयो, यहीं वह व्यक्ति (दयानन्द) विराजमान हैं जिसके परिश्रम, विद्वत्ता तथा साहस से उस सुधार आन्दोलन का

प्रवर्तन होगा जो हिन्दू चिन्तन को पुनरुज्जीवित कर उसे पवित्रता प्रदान करेगा।"[२६]

७ मई को कर्नल और मैडम ने मेरठ से बम्बई के लिये प्रस्थान किया। इस समय तक स्वामीजी के हृदय में थियोसोफी के नेताओं के प्रति प्रशंसा के भाव थे।[२७] मेरठ आर्य-समाज की ओर से उन्हें एक अभिनन्दन पत्र भी समर्पित किया गया।

देवबंद निवासी मौलवी मोहम्मद कासिम इस समय मेरठ आये हुए थे। उन्होंने स्वामीजी से शास्त्रार्थ की चर्चा चलाई। एतद् विषयक नियमों का आदानप्रदान हुआ। स्वामीजी चाहते थे कि शास्त्रार्थ लेखबद्ध हो, जब कि मौलवी साहब को भय था कि यदि लेखबद्ध विचार हुआ तो वे अपने कथन से इतस्ततः नहीं हो सकेंगे। स्वामीजी इस बात पर भी जोर देते थे कि शास्त्रार्थ के समय सीमित संख्या में सुपठित, विचारशील एवं प्रबुद्ध लोग ही उपस्थित रहें, क्योंकि यदि मूर्ख, अविचारवान् तथा अशिक्षित लोग बहुसंख्या में दर्शक रूप में उपस्थित रहेंगे, तो वातावरण अशान्त हो जायगा तथा उपद्रव होने की भी आशंका रहेगी। जब बहुत समझाने पर भी मौलवी साहब अपनी बात पर अड़े रहे तो शास्त्रार्थ नहीं हो सका।

लगभग २० दिन मेरठ में रहकर स्वामाजी ज्येष्ठ शुक्ला २, २३ मई, शुक्रवार को अलीगढ़ आये। इस समय वे पुनः रुग्ण हो गये थे अतः कुछ दिन यहां रह कर वे अपने भक्त ठाकुर भोपालसिंह और मुन्नासिंह के साथ जेष्ठ शुक्ला सप्तमी, २८ मई, बुधवार को छलेसर आ गये। समुचित चिकित्सा के पश्चात् वे रोग मुक्त हुए और आषाढ़ पूर्णिमा, ३ जुलाई गुरुवार को मुरादाबाद आये। यहां वे राजा जयकृष्णदास की कोठी पर ठहरे। यद्यपि रुग्णता समाप्त हो गई थी, किन्तु शरीर में निर्बलता अभी शेष थी, अतः इस नगर में इस बार उनके तीन ही व्याख्यान हो सके।

प्रथम व्याख्यान छावनी स्थित पीली कोठी में मुरादाबाद के तत्कालीन ज्वॉइन्ट मजिस्ट्रेट श्री स्पीडिंग के आग्रह एवं अनुरोध पर हुआ। नगर के गण्यमान्य प्रतिष्ठित पुरुष, राजकर्मचारी तथा सरकारी अधिकारी गण इसमें उपस्थित थे। व्याख्यान सुनने के लिये केवल विशिष्ट व्यक्तियों को ही प्रवेश पत्र भेज कर आमंत्रित किया गया था। उपस्थिति लगभग तीन सौ थी। व्याख्यान का विषय था राजनीति। वस्तुतः इस देश के इतिहास में यह प्रथम अवसर था, जब कि किसी काषाय वस्त्र धारी संस्कृतशास्त्रज्ञ संन्यासी ने राजनीति जैसे विषय पर अधिकारपूर्वक अपने उद्‌गार व्यक्त किये थे। व्याख्यान सायंकाल ६ बजे आरम्भ हुआ और कई घण्टे चलता रहा। वक्तृता के प्रारम्भ में महाराज ने 'शन्नोमित्रः शंवरुणः' इस वेद मंत्र से जलदगम्भीर स्वर में ईश्वर प्रार्थना की। पुनः वैदिक और आर्ष ग्रन्थों के आधार पर राजनीति के सूत्रों का विश्लेषण करते हुए राजा एवं प्रजा के धर्मों की सुस्पष्ट व्याख्या की। महाराज की इस राजनैतिक विवेचना को सुन कर श्रोता विस्मयविमुग्ध हो गये। उनके आश्चर्य का कारण यही था कि जो व्यक्ति अंग्रेजी भाषा तथा यूरोपीय चिंतन से स्वल्प मात्र भी परिचय नहीं रखता, वह केवल भारतीय आर्य मनीषा के आधार पर ही राजनीति जैसे जटिल विषय का साङ्गोपाङ्ग एवं प्रमाणपुरस्सर विवेचन कर रहा है। व्याख्यान की समाप्ति पर स्पीडिंग साहब ने महाराज का आभार व्यक्त करते हुए स्वीकार किया कि यदि स्वामीजी

द्वारा निर्दिष्ट राजा एवं प्रजा के कर्त्तव्यों को लोग स्वीकार कर लें, तो परस्पर का अविश्वास समाप्त हो जायगा और प्रशासन में स्थिरता आ सकेगी।

यह सभा अभी समाप्त ही हुई थी कि बाबू कालीप्रसन्न वकील किसी से अंग्रेजी में बातचीत करने लगे। स्वामीजी ने उन्हें टोक कर कहा कि यह अशिष्टता है। हमें किसी सभा या गोष्ठी में उसी भाषा में बोलना चाहिए जिसे सर्व सामान्य समझते हों। एक अन्य प्रसंग में स्वामीजी के हृदय की सरलता तथा स्वल्प भूल को भी स्वीकार कर लेने की उनकी निश्छल प्रकृति का पता चला। संस्कृत के एक पण्डित नारायणदास से वे संस्कृत में ही वार्तालाप कर रहे थे। अकस्मात् सम्भाषण के प्रसंग में स्वामीजी के मुंह से कोई अशुद्ध शब्द निकल गया। जब पं. नारायणदास ने इस भाषागत स्खलन की ओर महाराज का ध्यान आकृष्ट किया, तो उन्होंने इसे सहज भाव से स्वीकार किया, परन्तु जब उक्त पण्डित बारबार यह कह कर गर्व करने लगा कि उसने महाराज की भूल प्रदर्शित की है, तो स्वामीजी ने किञ्चित् क्रोधाविष्ट होकर कहा, "मैंने तो अपनी भूल स्वीकार कर ली, किन्तु तुम बार बार अपने अहंकार का प्रदर्शन करते हुए इसी का उल्लेख कर रहे हो, यह अनुचित है, अधर्म है।" पण्डितजी लज्जित हो गये।

ऐसा प्रतीत होता है कि हरिद्वार निवास के समय जो रोग स्वामीजी के शरीर में प्रविष्ट हो गया था, उसने अब कृच्छ रूप धारण कर लिया और वे संग्रहणी से ग्रस्त हो गये। जब बदायूं के पं. लक्ष्मीदत्त वैद्य की चिकित्सा से कोई लाभ नहीं हुआ तो मुरादाबाद के सिविल सर्जन डा. डीन से चिकित्सा करवाई गई। निश्चय ही इस उपचार से उन्हें लाभ हुआ। जब भक्तजनों ने लगभग २०० रु. डाक्टर को पारिश्रमिक के रूप में देने चाहे, तो उसने यह कह कर लेने इन्कार कर दिया कि स्वामीजी सदृश लोकोपकारी एवं जन हितैषी पुरुष की चिकित्सा करना ही मेरा सौभाग्य है। जब उन्हें मुरादाबाद की बनी कुछ धातु निर्मित कला-पूर्ण वस्तुएं उपहार रूप में दी गईं, तो स्वदेशभक्त डाक्टर डीन ने यह कह कर उन्हें स्वीकार किया कि वे इन वस्तुओं को स्वदेश के संग्रहालय को भेंट स्वरूप दे देंगे।

मुन्शी इन्द्रमणि की चर्चा पहले भी आ चुकी है। वे यद्यपि अपने को स्वामी दयानन्द के विचारों का अनुगामी मानते थे, किन्तु अनेक बातों में अपना पृथक् मत भी रखते थे। स्वामी दयानन्द का समस्त चिन्तन एवं कार्य भारत महादेश के निवासी आर्यों को एकता के सुदृढ़ सूत्र में आबद्ध कर उन्हीं के माध्यम से विश्वमानव की विराट् एकता के स्वप्न को साकार करने का था। इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिये वे सामाजिक एकता के सभी सूत्रों की तलाश में सदा तत्पर रहते थे। उन्होंने अनुभव किया था कि भारत की राष्ट्रीय एकता के छिन्न भिन्न होने का प्रमुख कारण यही है कि इस देश के निवासी न केवल वैचारिक स्तर पर ही विभिन्न शिविरों में बंटे हुए हैं, किन्तु उनके आचार व्यवहार तथा दैनन्दिन जीवन चर्या की छोटी से छोटी बातों में भी पृथक्ता तथा विषमता दृष्टिगोचर होती है। इसी बात को लक्ष्य में रख कर स्वामी दयानन्द ने आर्य जाति में पारस्परिक अभिवादन के रूप में एक सर्वमान्य सूत्र 'नमस्ते' का प्रचलन किया। मुन्शी इन्द्रमणि का इस विषय में स्वामीजी से वैमत्य था। वे मुसलमानों के 'सलाम वालेकुम, वालेकुम सलाम' के अनुकरण पर 'परमात्मा जयति—एवं

जयति परमात्मा' का प्रचलन करना चाहते थे। इस प्रसंग में जब स्वामीजी और मुन्शीजी की पारस्परिक बातचीत हुई, तो स्वामीजी ने अनेक शास्त्रीय प्रमाण देकर सिद्ध किया कि अत्यन्त पुरातन काल से ही आर्य जाति में पारस्परिक अभिवादन के रूप में नमस्ते का प्रयोग होता रहा है।[२८] उन्होंने इतिहास ग्रन्थों से प्रमाण देकर 'नमस्ते' के व्यापक प्रयोग के उदाहरण भी प्रस्तुत किये। मुन्शीजी यद्यपि 'परमात्मा जयति' जैसे नवीन अभिवादन के प्रयोग का औचित्य सिद्ध नहीं कर सके, किन्तु उन्होंने स्वामीजी के 'नमस्ते' विषयक मत को भी स्वीकार नहीं किया।

प्रसिद्ध सनातनधर्मी विद्वान् पं. ज्वालाप्रसाद मिश्र से स्वामीजी की भेंट इसी नगर में हुई।[२९] मिश्रजी ने यजुर्वेद का हिन्दी में भाष्य लिखा था। वार्तालाप के प्रसंग में रुद्राध्याय के नमस्कारान्त मन्त्रों[३०] की चर्चा हुई। स्वामीजी ने स्पष्ट किया कि संदर्भ के अनुसार मन्त्रों का अर्थ किया जाना ही समीचीन होता है। यदि तस्करों,[३१] कुत्तों[३२] आदि के लिये प्रयुक्त 'नमः' शब्द का सम्मानप्रदर्शन सूचक अर्थ किया जायगा तो इससे मन्त्रार्थ अस्पष्ट ही रहेगा। अतः निघण्टु के अनुसार इस शब्द का यहाँ अन्न, दण्ड (वज्र) जैसा अर्थ करना समुचित है।[३३]

२० जुलाई १८७९ को राजा जयकृष्णदास की कोठी पर आर्यसमाज की स्थापना का विधिवत् समारम्भ किया जाना था। निश्चय हुआ कि पर्याप्त मात्रा में घृत और सामग्री से हवन होगा और उसके पश्चात् आर्यसमाज स्थापना की औपचारिक घोषणा की जायगी। आकस्मिक रूप से वर्षा हो जाने के कारण हवन का कार्यक्रम सूक्ष्म रूप में ही सम्पन्न कर दिया गया और स्विष्टकृत् आहुति के पश्चात् इसी प्रयोजनवश तैयार किया मोहनभोग उपस्थित लोगों में वितरित कर दिया गया। कतिपय धूर्त प्रकृति के लोगों ने नगर में एक मिथ्या प्रवाद प्रचलित कर दिया कि जिस मोहनभोग का वितरण राजा साहब की कोठी में आर्यसमाज की स्थापना के अवसर पर किया गया था, उसमें स्वामीजी ने थूक दिया था और यही उच्छिष्ट प्रसाद लोगों ने खाया है। इस मिथ्या बात का इतना प्रचार हुआ कि बिरादरियों ने अपनी पञ्चायतें बिठा कर उन लोगों को जाति बहिष्कृत कर दिया जो आर्यसमाज स्थापना के उपलक्ष्य में आयोजित उक्त समारोह में उपस्थित थे और जिन्होंने यज्ञशेष का भक्षण किया था। जो लोग जाति और समाज के बहिष्कृत होने के भय से आक्रान्त हो गये, वे तो आर्यसमाज से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर बैठे, किन्तु निर्भीकमना लोग आर्यसमाज को यथापूर्व सहयोग देते रहे।

मुरादाबाद के अपने पूर्व प्रवास में स्वामीजी ने साहू श्यामसुन्दर की उनके दुराचार-ग्रस्त होने के कारण भर्त्सना की थी और उन्हें आचार सुधारने का आदेश दिया था।[३४] महापुरुष के आदेश को शिरोधार्य करते हुए साहूजी ने सदाचार का पाठ पढ़ा और व्यसनमुक्त जीवन व्यतीत करने लगे। जब इस बार के प्रवास में महाराज को उनके इस परिवर्तन का पता चला, तो उन्होंने साहूजी के घर पर भोजन करना सहर्ष स्वीकार कर लिया। निश्चय ही महाराज की प्रेरणा और निर्देश का पालन उन्होंने किया था।

मुरादाबाद से चल कर स्वामी दयानन्द श्रावण शुक्ला चतुर्दशी, १ अगस्त, शुक्रवार को बदायूं पहुँचे। साहू गंगाराम के उद्यान में उनके निवास का प्रबन्ध किया गया। इसी दिन

प्रातःकाल के समय आर्यसमाज के बहुत से सभासद् उनकी सेवा में उपस्थित हुए। जब भागवत पुराण की चर्चा चली तो महाराज ने श्रीकृष्ण के महाभारत वर्णित चरित्र को ही वास्तविक बताया और स्पष्ट किया कि महाबुद्धिमान् तथा सदाचारी कृष्ण को भागवतकार ने निन्दा-स्पदरूप में चित्रित किया है।[३५] २ अगस्त को श्रावणी पूर्णिमा थी। जब अनेक वयोवृद्ध लोग रक्षाबन्धन के दिन अपने हाथों में राखियाँ बांध कर स्वामीजी के निकट आये, तो महाराज ने इस पर्व के शास्त्रीय महत्त्व का विवेचन करते हुए रक्षा बन्धन की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट किया। इसी दिन लाला गंगाप्रसाद के दीवानखाने में ईश्वर विषय पर उनका एक व्याख्यान हुआ। ३ अगस्त को चुंगी की कोठी पर धर्म विषय पर महाराज ने एक अन्य व्याख्यान दिया। इस अवसर पर श्रोताओं की आनुमानिक संख्या दो हजार थी।

४ अगस्त १८७९ को पं. रामप्रसाद, पं. वृन्दावन तथा पं. टीकाराम शास्त्रार्थ हेतु स्वामीजी की सेवा में पहुँचे। इस प्रसंग में ईश्वर का निराकारत्व अथवा साकारत्व, वेदाधिकार, अवतारवाद आदि विषयों पर परस्पर चर्चा हुई। पण्डितों ने स्वामीजी के कथन की सत्यता को स्वीकारा।

अन्धविश्वासों के खण्डन में स्वामीजी की तत्परता दर्शनीय थी। एक वैद्य महाशय एक नवयुवक को साथ लेकर आये, जिसमें उनके कथनानुसार भूत का आवेश था। पहले तो स्वामीजी ने किञ्चित् हास्य के साथ कहा कि भूत, भविष्य और वर्तमान तो काल वाचक शब्द हैं। भूत कोई पृथक् योनि नहीं है। जिसे आप लोग प्रेतबाधा कहते हैं, उसे भी वैद्यक ग्रन्थों में अनेक शारीरिक एवं मानसिक व्याधियों का परिणाम बतलाया है। ऐसे रोगों की चिकित्सा विधिपूर्वक की जानी चाहिए। बाद में पता चला कि अधिक मात्रा में भंग का सेवन कर लेने के कारण उस व्यक्ति को मानसिक उन्माद हो गया था।

भाद्रपद कृष्णा द्वादशी, १४ अगस्त, गुरुवार को महाराज बरेली आये और लाला लक्ष्मीनारायण खजांची की बेगम बाग नामक कोठी में उतरे। बरेली के पादरी डा. टी. जे. स्काट से स्वामीजी का बंधुभाव था। चाँदापुर के मेले में स्वामीजी का उनसे शास्त्रीय विचार हो चुका था। इस बार जब स्वामीजी बरेली आये तो उनका पादरी स्काट से लिखित शास्त्रार्थ भाद्रपद शुक्ला ७, ८, ९ तदनुसार २५, २६, २७ अगस्त १८७९ को राजकीय पुस्तकालय बरेली में हुआ। तीन दिनों तक होने वाले शास्त्रार्थ में निम्न विषयों का विचार हुआ था—(१) आवागमन का सिद्धान्त (२) ईश्वर देह धारण करता है या नहीं? (३) ईश्वर अपराध क्षमा करता है या नहीं? लाला लक्ष्मीनारायण खजांची शास्त्रार्थ के सभापति थे और तीनों दिन तक होने वाले वादी प्रतिवादी के कथनों को अक्षरशः लिपिबद्ध कर लिया गया था।[३६]

दयानन्द के पुण्यश्लोक व्यक्तित्व ने अपनी पावन आस्तिकता, निगूढ़ आध्यात्मिक भावना तथा लोकहित की उदार दृष्टि के कारण कितने ही पथभ्रष्ट तथा पतित लोगों को सन्मार्ग की ओर प्रवर्तित किया था। बरेली में एक ऐसा ही प्रसंग उपस्थित हुआ जब कि पुलिस के कोतवाल मुन्शी नानकचन्द के कनिष्ठ पुत्र मुन्शीराम[३७] ने स्वामीजी के व्यक्तित्व एवं विचारों से परिचय प्राप्त कर सूखे पत्ते की भाँति भटकाव भरी अपनी जिन्दगी में एक

परिवर्तन अनुभव किया। पिता के पास बरेली आने से पूर्व मुन्शीराम काशी के क्वीन्स कालेज तथा इलाहाबाद के म्योर सेण्ट्रल कालेज में पढ़ चुका था। परन्तु पश्चिमी विज्ञान, तर्कशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र के विभिन्न ग्रन्थों को पढ़ने से इस युवक का विश्वास एक बार ही ईश्वर, धर्म तथा सदाचार से हिल गया। पौराणिक और ईसाइयत के विद्रूपात्मक स्वरूप को देख कर तो उसे धर्म नाम से ही घृणा हो गई थी।[३९]

मुन्शीराम के पिता मुन्शी नानकचन्द[४०] पुत्र की इस शोचनीय मनःस्थिति से पर्याप्त चिन्तित थे। वे यह अनुभव करते थे कि ईश्वर, धर्म तथा सदाचरण के प्रति युवक पुत्र के मन में यदि इसी प्रकार की विरक्ति तथा विरोध का भाव सदा बना रहेगा, तो पता नहीं उसकी जीवन नौका किस घाट पर लगेगी। और इसी समय स्वामी दयानन्द का बरेली में आगमन हुआ। आगे का प्रसंग स्वयं मुन्शीराम के ही शब्दों में उल्लेखनीय है[४१]—

"१४ श्रावण संवत् १९३६ के दिन स्वामी दयानन्द बांस बरेली पधारे। ३ भाद्रपद को चले गये।[४२] स्वामी महाराज के पहुँचते ही कोतवाल साहब को हुक्म मिला कि पण्डित दयानन्द सरस्वती के व्याख्यानों के अन्दर फिसाद को रोकने का बंदोबस्त कर दें। पिताजी स्वयं सभा में गये और स्वामीजी के व्याख्यानों से ऐसे प्रभावित हुए कि उनके सत्संग से मुझ नास्तिक की संशय निवृत्ति का उन्हें विश्वास हो गया। रात को घर आते ही मुझे कहा—"बेटा मुन्शीराम, एक दण्डी संन्यासी आये हैं, बड़े विद्वान् और योगिराज हैं। उनकी वक्तृता सुन कर तुम्हारे संशय दूर हो जायेंगे। कल मेरे साथ चलना।" उत्तर में कह तो दिया कि चलूँगा, परन्तु मन में वही भाव रहा कि केवल संस्कृत जानने वाला साधु बुद्धि की क्या बात कहेगा? दूसरे दिन बेगम बाग की कोठी में पिताजी के साथ पहुँचा, जहाँ व्याख्यान हो रहा था। उस दिव्य आदित्य मूर्ति को देख कर कुछ श्रद्धा पैदा हुई, परन्तु जब पादरी टी. जे. स्काट और दो तीन अन्य यूरोपियनों को उत्सुकता से बैठे देखा, तो श्रद्धा और भी बढ़ी। अभी दस मिनट वक्तृता नहीं सुनी थी कि मन में विचार किया—**"यह विचित्र व्यक्ति है कि केवल संस्कृतज्ञ होते हुए ऐसी युक्तियुक्त बातें करता है कि विद्वान् दंग हो जायं।"** व्याख्यान परमात्मा के निज नाम 'ओम्' पर था। वह पहले दिन का आह्लाद कभी भूल नहीं सकता। नास्तिक रहते हुए भी आत्मिक आह्लाद में निमग्न कर देना ऋषि आत्मा का ही काम था।

उसी दिन दण्डी स्वामी से निवेदन किया गया कि टाउनहाल मिल गया है, इसलिये कल से व्याख्यान वहाँ शुरू होंगे। स्वामीजी ने उच्च स्वर से कह दिया कि सवारी समय पर पहुंच जाया करेगी, तो वे तैयार मिलेंगे।"

"टाउन हाल में जब तक 'नमस्ते, पोप, पुरानी, जैनी, किरानी, कुरानी' इत्यादिक परिभाषाओं का अर्थ बतलाते रहे तब तक तो पिता श्रद्धा से सुनते रहे, परन्तु जब मूर्तिपूजा और ईश्वरावतार का खण्डन होने लगा, तो जहां एक ओर मेरी श्रद्धा बढ़ने लगी वहां पिताजी ने आना बंद कर दिया और एक अपने मातहत थानेदार की ड्यूटी लगा दी। २४ अगस्त की शाम तक मेरा समय विभाग यह रहा कि दिन का भोजन करके दोपहर को ही बेगम बाग की कोठी पहुंच ड्योढी पर बैठ जाता। २॥ और ४ बजे के बीच में जब ऋषि का दरबार लगता, तो आज्ञा होते ही जो पहला मनुष्य आचार्य को प्रणाम करता वह मैं था। प्रश्नोत्तर होते रहते

और मैं उसका आनन्द लेता रहता। व्याख्यान के लिये २० मिनट से पहले सब दरबारी विदा हो जाते और आचार्य चलने की तैयारी कर लेते। मैं अपनी वेगनट[४३] पर सीधा टाउनहाल पहुंचता। व्याख्यान का आनन्द उठा कर उस समय तक घर न लौटता, जब तक कि आचार्य दयानन्द की बग्घी उनके डेरे की ओर न चल देती।"[४४]

मुन्शीराम आगे लिखते हैं "२५, २६ व २७ अगस्त को ऋषि दयानन्द के पादरी स्काट के साथ तीन शास्त्रार्थ हुए। विषय प्रथम दिन पुनर्जन्म, द्वितीय दिन ईश्वरावतार और तीसरे दिन यह था कि मनुष्य के पाप बिना फल भुगते क्षमा किये जाते हैं वा नहीं? पहले दो दिन लेखकों में मैं भी था। परन्तु दूसरी रात को मुझे सन्निपात ज्वर हो गया और फिर आचार्य दयानन्द के दर्शन मैं न कर सका। ३० श्रावण से ९ भाद्रपद (१५ से २५ अगस्त) तक ऋषि जीवन सम्बन्धी अनेक घटनाएं मैंने देखीं, जिनमें से कुछ एक को यहां लिखूंगा जिनका प्रभाव मुझ पर ऐसा पड़ा कि अब तक वे मेरी आंखों के सामने घूम रही हैं।"

इसके पश्चात् मुन्शीराम ने स्वामीजी की प्रातःकालीन दिनचर्या का वर्णन इस प्रकार किया—"मुझे आचार्य दयानन्द के सेवकों से मालूम हुआ कि वह नित्य प्रातः शौच से निवृत्त होकर केवल कौपीन पहरे लट्ठ हाथ में लिये ३॥ बजे बाहर निकल जाते हैं और ६ बजे लौट कर आते हैं। मैंने निश्चय किया कि उनका पीछा करके देखना चाहिए कि बाहर जाकर वह क्या करते हैं? 'दबदबए कैसरी' अखबार के एडिटर भी मेरे साथ हो लिये। पाव मील धीरे धीरे चल कर वह इस तेजी से चले कि मुझसा शीघ्रगामी जवान भी उन्हें निगाह में न रख सका। आगे तीन मार्ग फटते थे। हमें कुछ पता न लगा कि किधर गये। दूसरे प्रातःकाल हम अढ़ाई बजे से ही घात में उस जगह छिप कर जा बैठे, जहां से तीन मार्ग फटते थे। उस विशाल रुद्रमूर्ति को आते देख कर हम भागने को तैयार हो गये। वह तेज चलते थे और मैं पीछे भाग रहा था। मेरे पीछे बनिये ऐडिटर भी लुढ़कते पुढ़कते आ रहे थे। बीच में एकाध मील की दौड़ भी रुद्र स्वामी ने लगाई। परन्तु वहां मैदान था, मैंने भी उनको आंख से ओझल न होने दिया। अन्त को पाव मील धीरे धीरे चल कर एक पीपल के वृक्ष तले बैठ गये। घड़ी से मिलाया तो पूरे डेढ़ घण्टे आसन जमाये समाधिस्थ रहे। प्राणायाम करते नहीं प्रतीत हुए, आसन जमाते ही समाधि लग गई। उठ कर दो अंगड़ाइयां लीं और टहलते हुए तत्कालीन आश्रम की ओर चल दिये।"[४५]

व्याख्यान हेतु समय पर सभा में उपस्थित होना स्वामीजी का स्वभाव ही बन गया था। इस सम्बन्ध में मुन्शीराम ने अपना संस्मरण प्रस्तुत किया है—"एक सनीचर के व्याख्यान के पीछे श्रोतागण को बतलाया गया कि दूसरे दिन (आदित्यवार) को नियत समय से एक घण्टा पहले व्याख्यान शुरू होगा। आचार्य ने उस समय कह दिया कि यदि सवारी एक घण्टा पहले पहुंचेगी तो मैं उसी समय चलने को तैयार रहूंगा। आदित्यवार को लोग पिछले समय से डेढ़ घण्टे पहले ही जमा होने लगे। हाल (व्याख्यान भवन) खचा खच भर गया परन्तु आचार्य न पहुंचे। पाव घण्टा, आध घण्टा भी बीत गया परन्तु बग्घी की घड़घड़ाहट न सुनाई दी। पौन घण्टा पीछे ऋषि दयानन्द की विशाल मूर्ति उन्हीं वस्त्रों से अलंकृत जो उनके चित्र में दिखाये जाते हैं, ऊपर चढ़ती दिखाई दी। मध्य की डाट के नीचे वाली एक ओर की

दीवार में सोंटा टेक, ईश्वर प्रार्थना के लिये बैठने से पूर्व उन्होंने कहा—"मैं समय पर तैयार था, परन्तु सवारी नहीं आई। बहुत प्रतीक्षा के पीछे पैदल चल दिया। मार्ग में पिछले नियत समय पर ही सवारी मिली। इसलिये देरी हो गई। सभ्य पुरुषो, मेरा कुछ दोष नहीं है। दोष बच्चों के बच्चों का है जो प्रतिज्ञा करके पालन करना नहीं जानते।"[४७]

महाराज का खण्डनकुठार इतना तीक्ष्ण एवं मर्मभेदी होता था, कि सम्प्रदायानुवर्ती लोग उसकी चोट से तिलमिला जाते। मुन्शीराम के ही शब्दों में—"एक व्याख्यान में पौराणिक असम्भव और आचारभ्रष्ट कहानियों का खण्डन कर रहे थे। उस समय पादरी स्काट, मिस्टर एडवर्ड्स कमिश्नर, मिस्टर रीड कलेक्टर, १० वा २० अन्य अंग्रेजों सहित उपस्थित थे। आचार्य ने अन्य कहानियों में पञ्च कुंवारियों की कल्पना[४८] पर कटाक्ष किया और एक से अधिक पति रखने वाली द्रौपदी, तारा, मन्दोदरी आदि के किस्से सुना कर श्रोतागण के धार्मिक भावों को अपील की। स्वामीजी के कथन में हास्य रस अधिक होता था, इसलिये श्रोतागण थकते न थे। साहब लोग हंसते और आनन्द लूटते रहे। फिर आचार्य बोले—"पुरानियों की तो यह लीला है, अब किरानियों की यह लीला सुनो। यह ऐसे भ्रष्ट हैं कि कुमारी के पुत्र उत्पन्न होना बतलाते, फिर दोष सर्वज्ञ, शुद्ध स्वरूप परमात्मा पर लगाते और ऐसा घोर पाप करते हुए तनिक भी लज्जित नहीं होते। इतना सुनते ही कमिश्नर और कलेक्टर के मुंह क्रोध के मारे लाल हो गये परन्तु आचार्य का भाषण उसी बल से चलता रहा और अन्त तक ईसाई मत का ही खण्डन होता रहा।"[४९]

अंग्रेज अधिकारियों ने स्वामीजी द्वारा की गई इस आलोचना का बुरा माना। अतः उन्होंने आर्यसमाज के मन्त्री लाला लक्ष्मीनारायण खजांची को तलब किया और उन्हें इस बात का आदेश दिया कि वे अपने पण्डित (दयानन्द सरस्वती) से आलोचना में सख्ती न बरतने के लिये कह दें। पुनः विदेशी शासक ने अपनी उदारता और सदाशयता की डुग्गी पीटते हुए कहा—"हम ईसाई तो सभ्य हैं, वादविवाद की सख्ती से नहीं घबराते, किन्तु यदि जाहिल हिन्दू मुसलमान भड़क उठे तो तुम्हारे पण्डित स्वामी के व्याख्यान बन्द हो जायेंगे।"[५०]

खजांचीजी के लिये अब यह समस्या उत्पन्न हुई कि वे स्वामीजी तक इस बात को कैसे पहुंचायें? उन्हें इतना साहस ही नहीं हो रहा था कि कमिश्नर के संकेत को स्वामीजी से निवेदन कर दें। अतः उन्होंने अत्यन्त संकोच के साथ महाराज से इतना ही कहा कि यदि खण्डन में अधिक कठोरता न बरती जाय तो क्या हानि है? स्वामीजी भी खजांची जी के कथन का गूढ़ाशय समझ गये और हंसते हुए बोले कि इस सीधी सी बात को कहने में वे इतना संकोच क्यों कर रहे थे?

परन्तु कमिश्नर की चेतावनी का निर्भीक वक्ता पर क्या असर हुआ? यह हम मुन्शीराम के ही शब्दों में सुनें—"उस शाम के व्याख्यान को कौन सुनने वाला भूल सकता है? मैंने बड़े बड़े वाग्विशारदों के व्याख्यान सुने हैं, परन्तु जो तेज आचार्य के उस दिन के सीधे सादे शब्दों से निकल कर सारी सभा को उत्तेजित कर गया उसके साथ किसकी उपमा दूं? उस दिन आत्मा के स्वरूप पर व्याख्यान था। पूर्व दिवस के सब अंग्रेज (पादरी स्काट के अतिरिक्त) उपस्थित थे। व्याख्यान में सत्य के बल का विषय आया। सत्य की व्याख्या

करते हुए आचार्य ने कहा—"**लोग कहते हैं कि सत्य को प्रकट न करो, कलेक्टर क्रोधित होगा, कमिश्नर अप्रसन्न होगा, गवर्नर पीड़ा देगा। अरे, चक्रवर्ती राजा भी क्यों न अप्रसन्न हो, हम तो सत्य ही कहेंगे।**" इसके पीछे एक श्लोक पढ़ कर आत्मा की स्तुति की। न शास्त्र उसे काट सकें, न आग उसे जला सके, न पानी उसे गला सके, और न हवा उसे सुखा सके। वह नित्य, अमर है।[५१] फिर गरजते हुए शब्दों में बोले—यह शरीर तो अनित्य है, इसकी रक्षा में प्रवृत्त होकर अधर्म करना व्यर्थ है। इसे जिस मनुष्य का जी चाहे नाश कर दे। फिर चारों ओर तीक्ष्ण दृष्टि डाल कर सिंहनाद करते हुए कहा—किन्तु वह शूरवीर पुरुष मुझे दिखलाओ, जो मेरे आत्मा का नाश करने का दावः करे। जब तक ऐसा वीर संसार में दिखाई नहीं देता, तब तक मैं यह सोचने के लिये भी तैयार नहीं कि मैं सत्य को दबाऊंगा वा नहीं। सारे हाल में सन्नाटा छा गया। रूमाल का गिरना भी सुनाई देता था।[५२]

तो यह था दयानन्द का दुर्दम्य, निर्भीक, सत्य के प्रति उत्सर्गीकृत व्यक्तित्व। परन्तु समय आने पर वज्र से भी कठोर बन जाने वाला दयानन्द का हृदय नवनीत से भी अधिक कोमल तथा मृदु था। भक्त जनों के प्रति उनके अन्तस में असीम स्नेह तथा ममता का भाव था। व्याख्यान की समाप्ति पर पूछते हैं—"भक्त स्काट आज दिखाई नहीं दिये।" पादरी साहब स्वामीजी के किसी भी व्याख्यान में अनुपस्थित नहीं रहते थे, किन्तु आज रविवार था और समीप के गिरजे में उन्हीं का व्याख्यान हो रहा था। स्वामीजी ने व्याख्यान भवन की सीढ़ियों से उतरते हुए कहा चलो, भक्त स्काट का गिरजा देख आवें। और तीन चार सौ की भीड़ को लेकर महाराज गिरजाघर पहुंचे। पादरी स्काट का व्याख्यान समाप्त हो चुका था। करीब सौ ईसाई श्रोता वहां उपस्थित थे। पादरी स्काट ने जब उन्हें अपने धर्म मन्दिर में आते देखा तो स्वागत के लिये आगे आये और ले जाकर ऊपर व्याख्यान वेदी (Pulpit) पर बिठलाया। पुनः कुछ उपदेश देने का आग्रह किया। आचार्य दयानन्द ने ईसाई व्याख्यान वेदी से मनुष्य पूजा के खण्डन में लगभग बीस मिनट तक एक सारगर्भित प्रवचन किया। दयानन्द की यही तो विशेषता है कि वह जहां जिस व्यक्ति या समाज में, जो भी न्यूनता, त्रुटि या दुर्बलता देखता है, उसकी ओर संकेत करना नहीं भूलता। यदि ईसाई लोग अपने आसमानी बाप से भी ज्यादा महत्त्व मरणधर्मा ईसा को देने लगे हैं, तो यही मनुष्य पूजा उनमें सच्ची आस्तिक भावना उत्पन्न होने में बाधक बनेगी। इसी धारणा को लेकर दयानन्द ने यह आलोचना की थी।

निश्चय ही दयानन्द के दुर्दमनीय व्यक्तित्व, उसके प्रगाढ़ पाण्डित्य तथा उसकी दिव्य, तेजस्वी मूर्ति ने युवक मुन्शीराम को विस्मयविमुग्ध कर लिया था। तथापि वह मन ही मन सोचता—यदि ईश्वर और वेद के ढकोसले को पण्डित दयानन्द स्वामी तिलाञ्जलि दे दें तो फिर कोई भी विद्वान् उनकी अपूर्वयुक्ति और तर्कशक्ति का सामना करने वाला न रहे। उनके ही शब्दों में, "मुझे अपने नास्तिकपन का उन दिनों अभिमान था। एक दिन ईश्वर के अस्तित्व पर आक्षेप कर डाले। पांच मिनट के प्रश्नोत्तर में ऐसा घिर गया कि जिह्वा पर मोहर लग गई।"[५३] भगवदीय सत्ता के खण्डन में सर्वथा नवीन युक्तियों के द्वारा संशयग्रस्त मन वाले तथा नास्तिक दर्शनों के अध्ययन रूपी झंझावात से त्रस्त एवं व्याकुल मुन्शीराम को दयानन्द

प्रतिपादित आस्तिकता के पावन तथा शीतल स्पर्श ने पुलकित एवं आप्यायित कर दिया। तथापि ईश्वर विश्वास का अंकुर पूर्णतया जमा नहीं। उसने कहा—"महाराज, आपकी तर्कना बड़ी तीक्ष्ण है, आपने मुझे चुप तो करा दिया, परन्तु यह विश्वास नहीं दिलाया कि परमेश्वर की कोई हस्ती है।"[५४] महाराज पहले हंसे, पुनः जलद गम्भीर स्वर में बोले, "देखो, तुमने प्रश्न किये, मैंने उत्तर दिये। यह युक्ति की बात थी। मैंने कब प्रतिज्ञा की थी कि मैं तुम्हारा विश्वास परमेश्वर पर करा दूंगा। मैंने यह दावा कब किया था कि आस्तिकता की पुण्य लता को तुम्हारे मानस के आलबाल में लहरा दूंगा। यह तो तभी होगा, जब परम कारुणिक प्रभु ही तुम पर कृपा करेंगे और वे तुम्हें अपना विश्वासी बना, भक्त के रूप में स्वीकार करेंगे।" मुन्शीराम को स्मरण आया, उस समय महाराज ने निम्न उपनिषद् वाक्य पढ़ा था—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥"[५५]

कहना नहीं होगा कि दयानन्द जैसे महान् आस्तिक की भविष्यवाणी सफल हुई और यही युवक आगे चलकर स्वामी श्रद्धानन्द के रूप में ईश्वर विश्वास के चरम सम्बल से ही स्वधर्म, स्वराष्ट्र तथा मानव जाति के कल्याणार्थ सर्वस्व समर्पित कर सका।

बरेली निवासी बाबू विष्णुलाल एम. ए. वकील पश्चिमी दर्शनशास्त्र के सुपण्डित थे। वे पौरस्त्य दर्शन को तुच्छ दृष्टि से देखते थे। एक दिन वे स्वामीजी के निकट गये और उनसे दार्शनिक विवाद में उलझ गये। उनकी धारणा थी कि स्वामीजी तो केवल वैदिक दर्शनों के ही पण्डित हैं, अतः वे पाश्चात्य तर्क प्रणाली से अनभिज्ञ होने के कारण इस वाद में उनके समक्ष टिक नहीं सकेंगे। किन्तु थोड़ी देर बाद ही उन्होंने अनुभव किया कि स्वामीजी का पौरस्त्य और पाश्चात्य दार्शनिक चिन्तन पर समान अधिकार है। यह दूसरी बात थी कि पश्चिमी दर्शन का उन्होंने विधिवत् अध्ययन नहीं किया था।

तत्कालीन प्रथा के अनुसार लाला लक्ष्मीनारायण भी किसी वेश्या के संसर्ग में रह रहे थे। जब महाराज को इसका ज्ञान हुआ तो उन्होंने लालाजी को सतर्क करते हुए दुराचार के मार्ग को त्यागने की प्रेरणा की। खजांची महाशय लज्जित हुए और उन्होंने तुरन्त सदाचार का मार्ग अपना लिया। बरेली से ही स्वामीजी ने स्वलिखित आत्मवृत्तान्त की प्रथम किस्त 'थियोसोफिस्ट' में प्रकाशनार्थ भेजी, जो उक्त पत्र के अक्टूबर १८७९ के अंक में प्रकाशित हुई थी।

बरेली में महाराज का निवास लगभग तीन सप्ताह तक रहा। आश्विन कृष्णा ४, गुरुवार ४ सितम्बर १८७९ को वे शाहजहांपुर आये। उनके आगमन से पूर्व ही इस नगर में आर्यसमाज की स्थापना हो चुकी थी, अतः स्वामीजी के आतिथ्य का भार आर्यसमाज के सभासदों को ही ग्रहण करना पड़ा। आर्यसमाज के मन्त्री ने एक विज्ञापन प्रकाशित किया[५६] जिसमें स्वामीजी के निवास स्थान की सूचना तो थी ही, साथ ही यह भी लिखा गया था कि धर्मचर्चा अथवा शास्त्रार्थ के लिये सभी लोग आमन्त्रित हैं। गवर्नमेंट हाई स्कूल में स्वामीजी के ६ व्याख्यान क्रमशः ६, ७, ९, ११, १३ और १४ सितम्बर को हुए। स्वामीजी को खजांची साहब के बंगले में ठहराया गया था।

आर्यसमाज के मन्त्री द्वारा प्रकाशित विज्ञापन को देखकर पं. लक्ष्मण शास्त्री मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ के लिये आये। स्वामीजी ने उनसे कहा कि यदि आप मूर्तिपूजा के विधान को वेदोक्त मानते हैं, तो कोई वेद का प्रमाण इसके समर्थन में प्रस्तुत करें। इस पर शास्त्रीजी ने एक निराले भोलेपन के अंदाज में कहा—"महाराज, अब धरती पर वेद रहे ही कहाँ ? उन्हें तो बहुत पहले ही शंखासुर नामक राक्षस लेकर पाताल में चला गया।" अपने आपको वैदिक परम्पराओं का अनुयायी मानने वाले भारत के विद्वानों के वेदविषयक इस अज्ञान को देख कर महाराज को अत्यन्त पीड़ा हुई। उन्होंने शास्त्रीजी से कहा—**"आप लोगों का आलस्य एवं प्रमाद ही शंखासुर है, जिसके कारण भारत के शास्त्रीगण वेद विद्या से हीन हो गये हैं। देखिये, मैंने वेद की इन पुस्तकों को आपके अज्ञान रूपी शंखासुर का वध करने के लिये ही यूरोप से मंगाया है।** आप इनसे अपने कथन की सिद्धि में प्रमाण दें।" बेचारे शास्त्रीजी ने वेद को देखा ही प्रथम बार था, वे भला मूर्तिपूजा की सिद्धि में वैदिक प्रमाण कहाँ से देते ? मौन रहने के अतिरिक्त और चारा क्या था ?

जब नगर के पौराणिक समुदाय ने लक्ष्मण शास्त्री को इस प्रकार पराभूत होते हुए देखा, तो उनकी निराशा का पारावार नहीं रहा। अब उनकी दृष्टि पीलीभीत के पं. अंगदराम शास्त्री की ओर गई, जो बरेली में भी स्वामीजी से शास्त्रार्थ हेतु उपस्थित हुए थे, किन्तु केवल हल्ला गुल्ला मचा कर ही चले गये थे। इस बार वे शाहजहांपुर के लोगों के कहने से पुनः स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने चले आये। १० सितम्बर को अंगद शास्त्री ने स्वामीजी की सेवा में एक पत्र भेजा जिसमें उन्होंने नाना अप्रासंगिक गर्वोक्तियों के पश्चात् यह भी लिखा कि प्रज्ञाचक्षु दण्डी विरजानन्द की शिष्य मण्डली में वे (अंगद शास्त्री) उनसे (स्वामी दयानन्द से) कालक्रम की दृष्टि से वरिष्ठ हैं। उन्होंने शास्त्रार्थ के कुछ नियम भी लिखे। इसके उत्तर में स्वामीजी ने अपने आश्विन कृष्णा एकादशी के पत्र में शास्त्रीजी को सूचित किया कि शास्त्रार्थ करने में तो उन्हें कोई विप्रतिपत्ति नहीं है, परन्तु उनका गुरुवर दण्डीजी की दुहाई देना व्यर्थ है। पत्र में महाराज ने स्पष्ट किया कि यदि वे सत्य ही अपने आपको प्रज्ञाचक्षुजी का शिष्य समझते हैं, तो मूर्तिपूजा आदि अवैदिक कृत्यों के प्रति आस्था क्यों बनाए हुए हैं ?

१३ सितम्बर को अंगद शास्त्री ने पुनः एक विस्तृत पत्र स्वामीजी की सेवा में भेजा, जिसमें अन्य बातों के अतिरिक्त दण्डीजी के प्रसंग को पुनः उठाया गया था। अंगद शास्त्री के अनुसार दण्डीजी नियमपूर्वक दुर्गासप्तशती का पाठ करते थे और नीलकण्ठ तथा रंगनाथ महादेव के मन्दिरों में भी दर्शनार्थ जाया करते थे।[५७] उसका अभिप्राय यह था कि यदि स्वामी दयानन्द प्रज्ञाचक्षुजी को गुरु मानते हैं, तो उन्हें मूर्तिपूजा का विरोध नहीं करना चाहिए। इसके उत्तर में स्वामीजी ने आश्विन कृष्णा त्रयोदशी को लिखे अपने संक्षिप्त पत्र में शास्त्रीजी को सूचित किया कि यदि सचमुच वे शास्त्रार्थ करने के लिये उत्सुक हैं, तो कुछ गिने चुने धार्मिक वृत्ति के लोगों के साथ उनके निवास पर आ जावें। परन्तु अंगद शास्त्री को भला यह कैसे स्वीकार होता। फलतः केवल पत्र व्यवहार के साथ ही यह प्रसंग समाप्त हो गया।[५८]

स्वामी दयानन्द जहाँ धार्मिक और आध्यात्मिक ज्ञान के महान् उपदेष्टा और पथ-दर्शक थे, वहाँ वे सामान्य लोकोपयोगी बातों की ओर भी पूरा ध्यान देते थे। जब एक दिन

व्याख्यान स्थल पर ले जाने के लिये किराये की गाड़ी लाई गई, तो महाराज ने स्पष्ट कर दिया कि सार्वजनिक धन का व्यय कर किराये की गाड़ी लाना आवश्यक नहीं था। वे गाड़ी में बैठने के शौकीन नहीं हैं। केवल समय की बचत की दृष्टि से ही वे तीव्रगामी वाहन का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार अपने निजी पण्डित व सचिव पं. भीमसेन को बाजार से रसद खरीदने में सावधानी बरतने का निर्देश दिया। व्यर्थ के अपव्यय को वे अनुचित मानते थे। समय पालन के प्रति उनकी जागरूकता विस्मयकारी थी। अपने एक कर्मचारी को विलम्ब से आया देख कर उन्होंने उसे प्रताड़ित किया और कहा कि यदि भारतवासी समय के पाबन्द हो जायें, तो उनके अभ्युत्थान में विलम्ब नहीं होगा।

शाहजहांपुर से प्रस्थान कर महाराज आश्विन शुक्ला २, गुरुवार, १८ सितम्बर को लखनऊ आये। इस बार उनका यहाँ केवल ६ दिन तक निवास रहा। पुनः आश्विन शुक्ला नवमी, २४ सितम्बर, बुधवार को वे कानपुर चले आये। केवल एक दिन यहाँ रुके और आश्विन शुक्ला दशमी, २५ सितम्बर, गुरुवार को फर्रूखाबाद आ गये। महाराज के आगमन से पूर्व ही श्रावण कृष्णा ९, १९३६ वि. को इस नगर में आर्यसमाज की स्थापना हो चुकी थी। इस बार वे लाला कालीचरण रामचरण[५९] के गंगातटवर्ती पुष्पोद्यान में विराजे। यह स्थान नगर से एक मील दूर सुरम्य वातावरण में स्थित था। इस बार उनके तीन व्याख्यान हुए। प्रथम, दो अक्टूबर को लाला जगन्नाथप्रसाद[६०] की हवेली पर गोरक्षाविषयक हुआ। इसमें स्वामीजी ने गोरक्षा के आर्थिक पहलू पर विस्तार से प्रकाश डाला और गोहत्या की हानियों को आंकड़े देकर बताया।[६१] महाराज के इस व्याख्यान की पुराणमतावलम्बियों में विपरीत प्रतिक्रिया हुई। यहाँ यह ध्यातव्य है कि स्वामीजी गोरक्षा के प्रश्न को विशुद्ध आर्थिक दृष्टि से देखते थे। वे इसके साथ किसी भी प्रकार की पूज्यबुद्धियुक्त भावुकता को जोड़ने के विरुद्ध थे। अतः आपत्तिकर्ताओं ने यही कहा कि स्वामीजी तो गाय को पशु मात्र ही समझते हैं।

द्वितीय व्याख्यान पांच अक्टूबर को आर्यसमाज के कार्यालय में ही हुआ। इसमें उन्होंने 'दान' की विवेचना की तथा देश, काल एवं पात्र की योग्यता के आधार पर ही दान देने को उचित बताया। अन्तिम व्याख्यान आठ अक्टूबर को फतहगढ़ में मुन्शी गौरीलाल वकील के निवास पर धर्म विषय पर हुआ।[६२] इसमें उन्होंने आर्यसमाज के दस नियमों की प्रसंगोपात्त व्याख्या की और उन्हें सार्वभौम मानव धर्म का शाश्वत घोषणापत्र बताया। प्रासंगिक रूप से ब्रह्मसमाज के सिद्धान्तों की समालोचना भी प्रस्तुत की।

स्वामीजी के व्याख्यानों की लोकप्रियता ने पौराणिक वर्ग में तीखी प्रतिक्रिया को जन्म दिया। हाई स्कूल के मुख्याध्यापक पं. बलदेवप्रसाद शर्मा की प्रेरणा से लाला कृष्णलाल रईस के घर पर 'धर्म सभा' की स्थापना हुई और स्वामीजी के पास पच्चीस प्रश्नों की एक तालिका भेजी गई, जिस पर फर्रूखाबाद के चौदह पण्डितों ने हस्ताक्षर किये थे।[६३] प्रश्नावली भेजने में धर्मसभा वालों का प्रयोजन यह था कि स्वामीजी तो अब इस नगर से प्रस्थान करने ही वाले हैं, अतः वे शीघ्रतावश उत्तर नहीं दे सकेंगे और उन्हें यह कहने का अवसर मिल जायगा कि स्वामीजी उनके प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सके। ये प्रश्न विविधता लिये हुए थे। प्रथम प्रश्न में ही परिव्राजकों के धर्म की जिज्ञासा करते हुए स्वामीजी द्वारा सवारी के प्रयोग करने पर आक्षेप

किया गया था। अन्य प्रश्नों में पापों का क्षमा किया जाना, जीवेश्वर सम्बन्ध, सृष्टि रचना, और प्रलय, कर्मफल, मोक्ष, आमिषाहार का औचित्य, विवाह, ज्योतिष, धर्मलक्षण, श्राद्ध, गायत्री जप आदि विषय सम्मिलित थे। इन प्रश्नों का विस्तृत उत्तर स्वामीजी ने लिखवा कर धर्मसभा को भेज दिया। स्वामीजी के उत्तरों का एक चमत्कारी प्रभाव तो यह पड़ा कि पं. बलदेवप्रसाद स्वयं ही आर्यसमाज के सभासद् बन गये।

देश और समाज में प्रचलित कुरीतियों के निवारण में स्वामीजी सदा तत्पर रहते थे। उन्होंने ही सर्वप्रथम अनुभव किया था कि हमारे समाज में तो बालकों के नामकरण की परिपाटी भी विकृत हो चुकी है और हम अपने बच्चों के सुन्दर, सार्थक तथा प्रेरणादायी नाम रखना भूल बैठे हैं। फर्रूखाबाद में कुछ महिलायें महाराज के दर्शनार्थ आईं। उनके साथ एक बच्चा भी था। स्वामीजी ने जब बालक का नाम पूछा, तो बालक की माता ने उसका नाम भीमा बतलाया। महाराज ने कहा, इसे 'भूराज' कहा करो, पृथ्वी को प्रकाशित करने वाला। भारत में नारी जागरण का श्रेय तो दयानन्द को ही जाता है। जिस युग में कन्यावध, बाल-विवाह, अशिक्षा, विधवा उत्पीड़न, पर्दा प्रथा जैसी सामाजिक कुरीतियों ने भारतीय नारी वर्ग पर असीम अभिशापों की वृष्टि कर रखी थी, उस समय महिला जाति के अशेष कल्याण हेतु नानाविध सुधारों का प्रवर्त्तन दयानन्द का महान् श्लाघनीय कार्य था। उन्होंने बाल विवाह को समाप्त करने तथा कन्याओं के शिक्षण का कार्यक्रम उपस्थित कर नारी वर्ग का असीम हितसाधन किया था।

फर्रूखाबाद के जिन अन्य प्रसंगों में महाराज का लोकोत्तर व्यक्तित्व मुखर हो उठा था, उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

एक दिन गोरक्षिणी सभा के प्रधान लाला मोहनलाल श्री सेवा में विराजमान थे। वार्तालाप के प्रसंग में लालाजी ने कहा—"अपने स्वल्प शास्त्रज्ञान के आधार पर मैं यह निस्संकोच कह सकता हूं कि आप जैसे महापुरुष को तो मोक्ष लाभ होना सुनिश्चित ही है।" उत्तर में महाराज ने कहा, "**मैं स्वयं के मोक्ष की तो किञ्चित मात्र भी चिन्ता नही करता। मेरी हार्दिक अभिलाषा यही है कि अखिल मानव समाज अपवर्ग का अधिकारी बने।**" लोकहित साधन के लिये समाधि के आनन्द को तिलाञ्जलि देकर सभी प्रकार के ऐहिक और आमुष्मिक सुखों को त्यागने वाले दयानन्द का समकालीन आचार्यों में शीर्ष स्थान है।

दयानन्द सर्व संग परित्यागी परिव्राजक थे। उन्होंने देह गेह की माया ममता का सर्वथा त्याग कर दिया था। परन्तु सांसारिक सम्बन्धों के प्रति पूर्ण निरासक्त होने पर भी देशवासियों की दरिद्रता, दुरवस्था तथा कष्टों के प्रति वे अत्यन्त संवेदनशील थे। भारतवासियों की आर्थिक कठिनाइयों को प्रत्यक्ष देखने का अवसर भी उन्हें मिलता रहता था। एक ऐसा ही दृश्य उनके समक्ष आया। किसी वृद्धा स्त्री के युवा पुत्र की मृत्यु हो गई। दरिद्रता के घोर अभिशाप से ग्रस्त यह स्त्री मृत पुत्र के लिये कफन भी नहीं जुटा पाई और न शव को जलाने के लिये पर्याप्त ईंधन। फलतः यह अभागिनी विधवा अपने लाल को गंगाजल में प्रवाहित करने के लिये विवश हुई। सहोदरा भगिनी तथा पितृव्य के आकस्मिक वियोगजन्य दुख को जिस निर्मम तपस्वी ने अनायास ही सहन कर लिया था, आज स्वदेशवासिनी दरिद्र विधवा के दुख

को देख कर वह विगलित हो उठा। उसके मुंह से करुणापूर्ण उद्गारों का स्रोत उमड़ पड़ा—"हाय हमारे देश की निर्धनता किस सीमा तक पहुंच गई है। देश के मृतकों को काष्ठ भी उपलब्ध नहीं होता।" लाला मोहनलाल ने इस घटना को प्रत्यक्ष देखा था। उनका कहना था कि मैंने स्वामीजी को सांसारिक विषयों पर कभी शोक करते हुए नहीं देखा, किन्तु इस कारुणिक दृश्य ने उनके नेत्रों को अश्रुपूरित कर दिया था।

स्वामी दयानन्द विदेशी शासन के अभिशापों से पूर्णतया परिचित थे। उन्होंने अनुभव किया था कि विदेशियों द्वारा किया गया आर्थिक शोषण भारत की शस्यश्यामला धरती को ऊसर मरुस्थल में परिणत कर चुका है। किन्तु उनका यह भी विश्वास था कि जिस दिन हमें स्वराज्य प्राप्त होगा और हम लोग अपने भाग्य के स्वयं निर्माता बनेंगे, उसी दिन यह वसुंधरा धरती इस देश को धन्यधान्य से परिपूरित कर देगी।

फर्रुखाबाद के मजिस्ट्रेट श्री स्काट एक पांव से कुछ लंगड़ाते थे। वे स्वामीजी के व्याख्यानों के नियमित श्रोता भी थे। एक दिन जब कर्मफल का प्रसंग चला, तो मानवी प्रवृत्तियों और कार्यों के लिये भी ईश्वर को उत्तरदायी ठहराने वाले स्काट ने कहा कि ईश्वर की इच्छा से ही उनके पांव में यह न्यूनता है। किन्तु स्वामीजी ने इसे पूर्वजन्म कृत कर्मों का फल माना। प्रत्येक बात के लिये परमात्मा को उत्तरदायी ठहराना कर्म सिद्धान्त के विपरीत है। यह निश्चित है कि यदि इस जन्म में कृत कर्मों का फल हमें यहां नहीं मिलता, तो वह किसी भावी जन्म में अवश्य मिलेगा।

स्वामी दयानन्द मूर्तिपूजा के विरोधी थे, किन्तु वे इस्लाम के कट्टर अनुयायियों की भांति मूर्तिभंजक (बुतशिकन) भी नहीं थे। वे मंदिरों अथवा अन्य धर्मस्थलों की सुरक्षा के उतने ही पक्षपाती थे। फर्रुखाबाद के बाजार में नाप (पैमाइश) का कार्य हो रहा था और राजमार्ग को अधिक प्रशस्त बनाया जा रहा था। बाजार के ठीक बीच, सड़क पर एक छोटा सा देवमंदिर था। मूर्तिपूजा के प्रति विरक्ति रखने वाले स्वामी दयानन्द से बाबू मदनमोहन-लाल ने कहा कि यदि वे जिला मजिस्ट्रेट को थोड़ा भी संकेत कर दें, तो यह मूर्तिस्थल अविलम्ब हटा दिया जायगा। परन्तु दयानन्द जड़ मूर्तियों को नष्ट करने के पक्षपाती नहीं थे। उनका लक्ष्य तो सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त परमात्मा के स्थान पर प्रचलित जड़ पूजा को समाप्त करना था। इसलिये उन्होंने स्पष्ट उत्तर दिया—"मेरा कार्य लोगों के मन मंदिरों में सुदृढ़तया स्थापित मूर्तिपूजा के भावों को समाप्त करना है, न कि पत्थर के मंदिरों को नष्ट करना और उनके भीतर स्थापित मूर्तियों को हटाना।"

लगभग दो सप्ताह के फर्रुखाबाद प्रवास के पश्चात् महाराज आश्विन (द्वितीय) कृष्णा अष्टमी, २५ सितम्बर, गुरुवार को पुनः कानपुर आये। यहां वे ८ दिन रहे। इस बीच मुख्य रूप से वेद भाष्य लेखन का कार्य ही चलता रहा। कानपुर से वे आश्विन (द्वितीय) शुक्ला २, अक्टूबर १७, शुक्रवार को प्रयाग आये और लाला दुर्गाप्रसाद के उद्यान में ठहरे। ६ दिन के इस अल्पकालीन प्रवास में उनके तीन व्याख्यान सृष्टिउत्पत्ति, पुनर्जन्म तथा नवीन वेदान्त पर हुए। अवशिष्ट समय में वे वेदभाष्य लेखन में प्रवृत्त रहे। ज्वर और संग्रहणी जैसे रोगों से अभी तक पूर्णतया मुक्त नहीं हुए थे तथापि कर्तव्यपालन में उनकी तत्परता

दर्शनीय थी। व्याख्यान के श्रोताओं को स्वल्प मात्र भी आभास नहीं होने देते कि शरीर अभी स्वस्थ नहीं हो सका है।

प्रयाग से चल कर आश्विन (द्वितीय) शुक्ला नवमी, २३ अक्टूबर, गुरुवार को महाराज मिर्जापुर पहुंचते हैं और पूर्व परिचित सेठ रामरतन लड्ढा के उद्यान में उनका निवास होता है। गोसांई टोले में स्थित उक्त सेठजी के मकान पर उनका प्रथम व्याख्यान हुआ, जिसमें स्वामीजी ने इस बात पर मुख्य रूप से बल दिया कि विद्याप्राप्ति अपने आपमें अन्तिम लक्ष्य नहीं है। सुपठित और सुशिक्षित व्यक्ति भी यदि अपने आचरण को नहीं सुधारता, तो उसके शिक्षित होने का कोई लाभ नहीं।

बिहार के दानापुर में आर्यसमाज की स्थापना हो चुकी थी। वहां के श्री जनकधारी लाल आदि भक्त जन तो १८७८ में ही महाराज को दानापुर आने के लिये निमंत्रित कर चुके थे। उस समय स्वामीजी ने उनसे कह दिया था कि जब पूर्वीय प्रान्तों की ओर जाने का उनका कार्यक्रम बनेगा, तब वे दानापुर अवश्य आयेंगे। अतः जब वे मिर्जापुर पहुंचे, तो दानापुर जाने का निश्चय कर लिया। दानापुर में हरिहर क्षेत्र के मेले के अवसर पर धर्मप्रचार के लिये व्यवस्था की गई। तदनुसार महाराज पं० भीमसेन, पं. देवदत्त तथा एक भृत्य के साथ आश्विन (द्वितीय) पूर्णिमा, ३० अक्टूबर गुरुवार को सायंकाल ६ बजे रेलमार्ग से दानापुर पहुंचे।

□□

पाद टिप्पणियां

१. पुरे में दिये गये आत्मचरितपरक व्याख्यान के अनुसार इस पताका पर 'पाखण्डमर्दन' शब्द अंकित थे।

२. विज्ञापन के मूल पाठ के लिये द्रष्टव्य—ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन पृ. १२७-१३० द्वितीय संस्करण।

३. हरिद्वार में उनका आगमन फाल्गुन शुक्ला ६, १९३५ वि., गुरुवार २७ फरवरी १८७९ ई. को हुआ।

४. उपस्थित आर्य पुरुषों में रुड़की के पं. उमरावसिंह, मुरादाबाद के मुन्शी इन्द्रमणि, मेरठ के लाला रामशरणदास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। पं. लेखराम के अनुसार लगभग १५० आर्य लोग उस समय हरिद्वार में उपस्थित थे।

५. केवल सत्तू खाकर निर्वाह करने के कारण इनका यह नाम पड़ गया था।

६. कनखल निवासी एक महाब्राह्मण—जो मृतक का दान लेता है।

७. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः मीमांसादर्शन १।१।२ तथा वेद प्रणिहितो धर्मः अधर्मस्तद्-विपर्यय।

८. पं. लेखराम के पूछने पर पं. परशुराम ने बताया कि उसने तो कभी अथर्ववेद देखा

तक नहीं था, किन्तु परम्परा से जो सुनता आया था, उसे ही उसने स्वामीजी के समक्ष रक्खा।

९. यहां 'आर्यसमाज' का प्रयोग स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित विशिष्ट संस्था के लिये नहीं किया गया है। यहां इसका अभिप्राय है—भारत का विशाल जन समूह।

१०. कालान्तर में 'रणवीर संहिता' के नाम से इस शुद्धिपद्धति का संकलन किया गया था।

११. स्वामी रत्नगिरि नामक एक साधु के हाथ स्वामीजी ने इन तीनों संन्यासियों की सेवा में इस आशय का पत्र भेजा था कि मैं जो बात कर रहा हूं, उसको आप सब लोग जानते हैं कि वह सर्वथा ठीक है, परन्तु आप लोग विद्वान् होने पर भी प्रसिद्ध होकर प्रकट क्यों नहीं करते ?

१२. द्वेष बुद्धि वाले व्यक्तियों ने स्वामीजी की इस चेतावनी का यह अर्थ लिया कि जिस प्रकार अंग्रेज अधिकारीगण, मेले में आये लोगों को अधिक दिनों तक ठहरने में निरुत्साहित कर रहे हैं उसी प्रकार विधर्मी अंग्रेजों का ही पक्ष लेकर स्वामी दयानन्द भी उन्हें शीघ्र ही चले जाने के लिये कह रहे हैं।

१३. ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।

१४. मूला मिस्त्री गंग नहर के सिंचाई विभाग में सब-ओवरसियर था।

१५. इस पत्र पर पं. गोविन्दलाल देवबन्दी, सतुआ स्वामी, केशवाश्रम, गोविन्दाचारी चित्रकूट, गोपाल शास्त्री जम्मू, तारानाथ भट्टाचार्य, पं० अयोध्यानाथ, शत्रुघ्न शास्त्री, श्रद्धाराम फिल्लौरी आदि ३० पण्डितों के हस्ताक्षर थे। पूर्ण सूची के लिये द्रष्टव्य—पं. लेखराम रचित जीवनचरित्र, पृ. ६६३।

१६. पं. चतुर्भुज अलीगढ़ निवासी थे और अपने आपको 'राजपौराणिक' के नाम से विख्यात करते थे।

१७. लाहौर से प्रकाशित होने वाले कोहेनूर के १९ अप्रैल १८७९ ई. के अंक में स्वयं पं. श्रद्धाराम फिल्लौरी ने एक पत्र लिख कर यह सारा विवरण प्रकाशित किया। इसका समुचित उत्तर 'आर्यसमाज का एक सभासद' के नाम से, शाहजहांपुर से, प्रकाशित होने वाले मासिक पत्र आर्यदर्पण के जून १८७९ के अंक में दिया गया। इस लेख में श्रद्धाराम फिल्लौरी के पूर्व चरित्र का विस्तारपूर्वक उद्घाटन करके यह बताया गया था कि इस व्यक्ति ने पंजाब के सुधारक मुन्शी कन्हैयालाल अलखधारी तथा पंजाब ब्रह्मसमाज के नेता बाबू नवीनचन्द्र राय जैसे उदार एवं प्रगतिशील नेताओं का किस प्रकार विरोध किया था। इस लेख में एक चौंकाने वाली बात यह भी लिखी गई थी कि फिल्लौरी ने ईसाई मत के समर्थन में एक पुस्तक भी लिखी है, जिसका उल्लेख पंजाब सरकार के गजट में पंजीकृत पुस्तक संख्या ४९ पर है। इसी पुस्तक में फिल्लौरी ने निम्न पंक्तियां लिखी थीं—

ईसा मेरा राम रमैया। ईसा मेरा कृष्ण कन्हैया।
मुख से ईसा ईसा बोल। तेरा क्या लगेगा मोल॥

द्रष्टव्य—पं. लेखराम रचित जीवन चरित्र, पृ. ६६६।

१८. इनके नाम बलदेवसिंह तथा मोहरसिंह थे। द्रष्टव्य—देहरादून गजेटियर, पृ. ११९।

१९. आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् और वक्ता पं. बुद्धदेव विद्यालंकार इन्ही पं. कृपाराम स्वामी के दौहित्र थे।

२०. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन (द्वितीय संस्करण) पृ. १३०।

२१. आर्यसमाज देहरादून शताब्दी स्मारिका में 'महर्षि दयानन्द का आगमन' शीर्षक लेख। (१९८० ई. का प्रकाशन)

२२. यह प्रसिद्ध भारतीय ईसाई रामचन्द्र बोस का भाई था।

२३. मोहम्मद ऊमर (अलखधारी) सहारनपुर जिले के निवासी थे। व्यवसाय से ये ठेकेदार थे। इन्होंने अपनी आय का एक बड़ा अंश आर्यसमाज देहरादून को दान में दिया था। इन्होंने वैदिक धर्म विषयक अनेक पुस्तकें उर्दू में लिखीं, जिनका हिन्दी अनुवाद भी हुआ था। अलखधारी की एक पुस्तक 'तहकीकाते धर्म' थी, जो चार भागों में प्रकाशित हुई। इनका निधन अक्टूबर १९१७ ई. में हुआ।

२४. इन लोगों को लाला छेदीलाल गुमाश्ते की कोठी पर ठहराया गया था।

25. "The title of 'The Luther of Modern India' has been given to other reformers, chiefly to the late Raja Ram Mohun Roy. but to whom is it so applicable as to Dayanand Saraswati."

26. "And to compare Ram Mohum Roy with Dayanand Saraswati, The former repudiated the Vedas and aimed to setup a sentimental Christianity in its stead, while the latter aims (as Luther did in the case of his Bible) to reestablish the authority of the national sacred books, by stripping away the rubbish, that selfish priests have adulterated and covered them. My Brethren, there sits the man from whose labours, learning and courage will come the reformatory movement, that is to purify and regenerate Hindoo theology."

कर्नल ऑल्काट के इस अंग्रेजी व्याख्यान का अनुवाद बम्बई निवासी मूलजी ठाकरसी ने किया था, जो कर्नल और मैडम के साथ बम्बई से मेरठ आये थे। कर्नल ऑल्काट का यह भाषण थामसन सिविल इंजीनियरिंग कालेज प्रेस रुड़की से १८७९ ई. में ही प्रकाशित हो गया था। द्रष्टव्य—आर्यमर्यादा के २२ फरवरी, २९ मार्च, तथा ५ अप्रैल १९७० के अंकों में प्रकाशित—**An Address by H. S. Olcott.**

२७. द्रष्टव्य—आर्यसमाज शाहजहांपुर के मंत्री के नाम दयानन्द सरस्वती का ८ मई १८७९ का पत्र। पं. लेखराम रचित जीवन चरित्र में पृ. ८६९-७० पर उद्धृत।

२८. आर्य जाति के सर्व सामान्य अभिवादन के रूप में 'नमस्ते' के प्रचलन का श्रेय आर्यसमाज को ही है। आर्यसमाज के विभिन्न विद्वानों ने इस मन्तव्य की पुष्टि में अनेक ग्रन्थ लिखे हैं।

२९. पं. ज्वालाप्रसाद मिश्र (१८६२-१९१६ ई.) से स्वामीजी की भेंट का उल्लेख पं. घासीराम ने किया है। जिस समय उनकी यह भेंट निर्दिष्ट की गई है, उस समय मिश्र जी की आयु मात्र १७ वर्ष की ही थी। यह सम्भव प्रतीत नहीं होता कि इस अल्पायु में ही

उन्होंने यजुर्वेद का भाषार्थ लिख डाला हो। यह स्मरणीय है कि पं. ज्वालाप्रसाद मिश्र ने ही १९५५ वि. में स्वामी दयानन्द कृत सत्यार्थप्रकाश के खण्डन में 'दयानन्द तिमिर भास्कर' पुस्तक लिखी थी जो क्षेमराज श्रीकृष्णदास के वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित हुई। यह अधिक सम्भव है कि स्वामी दयानन्द कृत यजुर्वेद भाष्य के प्रकाशित होने पर उसके खण्डन में उन्होंने यजुर्वेद का कोई भाषार्थ लिखा हो।

३०. यजुर्वेद के षोडशाध्याय के अन्तर्गत।

३१. तस्कराणां पतये नमो नमः। १६। २१

३२. नमः श्वभ्यः। १६। २८

३३. द्रष्टव्य—इन मंत्रों का दयानन्द कृत यजुर्वेदभाष्य।

३४. द्रष्टव्य—इसी ग्रन्थ का अध्याय—पश्चिमोत्तर प्रदेश का अवशिष्ट भ्रमण

३५. तुलनीय—"देखो, श्रीकृष्णजी का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है। उनका गुण, कर्म, स्वभाव और चरित्र आप्त पुरुषों के सदृश है। जिसमें कोई अधर्म का आचरण श्री कृष्णजी ने जन्म से मरण पर्यन्त बुरा काम कुछ भी किया हो ऐसा नहीं लिखा। और इस भागवत वाले ने अनुचित मनमाने दोष लगाये हैं।" सत्यार्थप्रकाशः एकादश समुल्लास।

३७. 'सत्यासत्य विवेक' के नाम से यह शास्त्रार्थ सर्वप्रथम आर्यभूषण प्रेस शाहजहांपुर से सितम्बर १८७९ ई. (शास्त्रार्थ के एक मास पश्चात्) में प्रकाशित हुआ था। दयानन्द शास्त्रार्थ संग्रह (द्वितीय संस्करणः २०३९ वि. सम्पादक—डा. भवानीलाल भारतीय) में इसे पृ. १३३-१७१ तक उद्धृत किया गया है।

३८. यही व्यक्ति आगे चल कर स्वामी श्रद्धानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

३९. कल्याण मार्ग का पथिक—स्वामी श्रद्धानन्द की आत्मकथा (ज्ञानमण्डल, काशी से १९८१ वि. में प्रकाशित संस्करण)

४०. मुन्शी नानकचन्द तत्कालीन पश्चिमोत्तर प्रदेश (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में पुलिस के प्रथम श्रेणी के इन्सपैक्टर थे। श्रावण १९२८ वि. में इन्हें बनारस स्थानान्तरित किया गया, जहाँ उन्होंने पं. रघुनाथप्रसाद से शहर की कोतवाली का चार्ज लिया। स्मरणीय है कि दो वर्ष पूर्व ही १९२६ वि. में काशी में स्वामी दयानन्द और पौराणिक पण्डित समुदाय के बीच हुए प्रसिद्ध शास्त्रार्थ की व्यवस्था इन्हीं पं. रघुनाथप्रसाद ने की थी।

४१. वि. सं. १९२६ (१८६९ ई.) में जब स्वामी दयानन्द काशी में वहां के विद्वानों से शास्त्रार्थ हेतु गये थे, उस समय भी तेरह वर्षीय मुन्शीराम काशी में ही था। अपनी आत्मकथा में उन्होंने उस प्रसंग का वर्णन करते हुए लिखा है—"काशी में प्रसिद्ध हुआ कि एक वेद शास्त्र का ज्ञाता बड़ा नास्तिक आया है, जिसके दोनों ओर दिन में मशालें जलती हैं। जो भी पण्डित उससे शास्त्रार्थ करने जाता है, उसके तेज से दब जाता है। मुझे भली प्रकार याद है कि माता जी उन दिनों हमें बाहर नहीं जाने देती थीं—इस भय से कि हम दोनों भाई जादूगर के फन्दे में न फंस जायं। पिताजी ने पीछे बतलाया था कि वह प्रसिद्धि अवधूत दयानन्द की थी। माताजी को क्या मालूम था कि उनके देहान्त के पीछे उनका प्यारा बच्चा उसी जादूगर के उपदेश से प्रभावित होकर उसका अनुयायी बन जायगा।" कल्याण मार्ग का पथिक, पृ. १० (प्रथम संस्करण १९८१ वि.)

४२. स्वामीजी के बरेली आगमन और प्रत्यागमन की यह तिथियां सौर पञ्चाङ्ग के अनुसार हैं।

४३. Wagonette—खुली गाड़ी

४४. कल्याण मार्ग का पथिक—ऋषि दयानन्द का सत्संग, पृ-६४।

४५. वही पृ. ६५।

४६. बालविवाह से उत्पन्न तत्कालीन भारत की दुर्बल सन्तान को स्वामी दयानन्द 'बच्चों के बच्चे' कह कर पुकारते थे।

४७. कल्याण मार्ग का पथिक, पृ. ६५।

४८. जिस श्लोक के आधार पर स्वामीजी ने यह आलोचना की थी, वह इस प्रकार है—

अहल्या द्रौपदी तारा कुन्ती मन्दोदरी तथा।
पञ्च कन्याः स्मरेन्नित्यं महापातकनाशनम्॥

स्मर्तव्य है कि आलोच्य श्लोक में जिन्हें 'कन्या' कहा है, वे वस्तुतः कन्या न होकर विवाहिता स्त्रियां थीं। परन्तु इन सभी को पौराणिक गाथाओं में स्वैरिणी के रूप में चित्रित किया गया है। अहल्या का इन्द्र से व्यभिचार, द्रौपदी का पांच पतियों से विवाह, तारा का बालि की मृत्यु के पश्चात् सुग्रीव से विवाह, कुन्ती का कुमार्यावस्था में सूर्य द्वारा कानीन पुत्र के रूप में कर्ण को प्राप्त करना, तथा रावण की मृत्यु के पश्चात मन्दोदरी का विभीषण से विवाह—सभी प्रसंग पुराणों में अश्लीलतापूर्वक चित्रित किये गये हैं।

४९. कल्याण मार्ग का पथिक, पृ. ६६।

५०. वही, पृ. ६६।

५१. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ श्रीमद्भगवद्गीता २।२३

५२. कल्याण मार्ग का पथिक, पृ. ६७।

५३. वही, पृ. ६८

५४. वही, पृ. ६८

५५. कठोपनिषद् १।२।२२

५६. मुन्शी बख्तावरसिंह आर्यसमाज शाहजहांपुर के मन्त्री थे और उन्हीं के हस्ताक्षर से यह विज्ञापन प्रकाशित हुआ।

५७. यह तो सत्य है कि विरजानन्द सरस्वती मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत दुर्गासप्तशती के कतिपय स्तोत्रों का पाठ करते थे, किन्तु उन्हें मन्दिरों में जाते किसी ने नहीं देखा था। यह बात स्वामीजी के हवाले से मुन्शी बख्तावरसिंह ने अंगदशास्त्री के पत्र पर चढ़ाई अपनी पाद टिप्पणी में लिखी है।

५८. सम्पूर्ण पत्र व्यवहार के लिये द्रष्टव्य—पं. लेखराम रचित जीवन चरित्र पृ. ५०४-५१६.

५९. कालीचरण रामचरण सहोदर भाई थे। १९३७ वि. में आर्यसमाज फर्रूखाबाद के सभासद बने। स्वामीजी ने इन्हें परोपकारिणी सभा का सदस्य मनोनीत किया था। रामचरण का निधन १८९४ ई. में तथा कालीचरण का १९०० ई. हुआ।

६०. लाला जगन्नाथप्रसाद (१८४२ ई.—१८९१ ई.) मीतल गोत्र के अग्रवाल वैश्य थे। फर्रूखाबाद के धनाढ्य व्यक्तियों में इनकी गणना होती थी। फर्रूखाबाद में स्वामी दयानन्द का आगमन सात बार हुआ था और पांच बार वे लालाजी के गंगा तटवर्ती विश्रान्त घाट पर ठहरे थे। ये स्वामीजी के परमभक्त तथा सहायक थे। विस्तृत परिचय के लिये द्रष्टव्य—फर्रूखाबाद का इतिहास—ले. पं. गणेशप्रसाद शर्मा, पृ. ४११ सन् १९३१ ई. में आर्यसमाज फर्रूखाबाद द्वारा प्रकाशित।

६१. गोरक्षा के आर्थिक दृष्टि से लाभ तथा गोवध की हानि को इसी प्रकार के आंकड़े देकर स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश के दशम समुल्लास तथा गोकरुणानिधि में भी सिद्ध किया है।

६२. पं. लेखराम के अनुसार यह व्याख्यान ७ अक्टूबर को हुआ था।

६३. हस्ताक्षरकर्ता पण्डितों के नाम इस प्रकार हैं—ललिताप्रसाद शर्मा, ललिताप्रसाद सिद्धान्ती, उमादत्त शर्मा, प्रयागदत्त, माधवाचारी, पातीराम शास्त्री, बाबूप्रसाद शर्मा, बलदेवप्रसाद शर्मा, रामजीमल, शिवचरण पण्डित, परमानन्द, बाजीलाल शर्मा, शंकर प्रसाद शर्मा और बद्रीप्रसाद।

□□

शास्त्रप्रचार के लिये वैदिक यन्त्रालय

पंजाब में मिली असाधारण सफलता तथा पश्चिमोत्तर प्रदेश के व्यापक भ्रमण ने स्वामी दयानन्द के मनोबल में पर्याप्त वृद्धि की है। अब वे जिन जिन स्थानों की यात्रा करते हैं, वह पूर्व निर्धारित तथा सुनियोजित होती है। प्रायः वे उन्हीं कस्बों एवं नगरों में जाते हैं जहां आने का उन्हें निमन्त्रण प्राप्त होता है तथा जहां आर्यसमाज की स्थापना की सम्भावना दृष्टिगोचर होती है। निमंत्रित करने वाले लोग भी स्वामीजी के आगमन की सूचना स्थानीय जनता को तत्परतापूर्वक देते हैं तथा समुचित विज्ञापन करने के पश्चात् ही उनके उपदेशों और व्याख्यानों का आयोजन किया जाता है।

स्वामी दयानन्द की प्रचार प्रणाली में अब ग्रन्थ लेखन को विशिष्ट महत्त्व प्राप्त हो चुका है। उनकी यह धारणा युक्तिसंगत तथा समीचीन ही थी कि जिस वैदिक धर्म तथा आर्य-संस्कृति के पुनरुत्थान को वे मानव की सर्वतोमुखी उन्नति के लिये आवश्यक समझते हैं, वह लक्ष्य तब तक प्राप्त नहीं किया जा सकता जब तक कि लोगों को वेदों की वास्तविक शिक्षाओं का परिज्ञान न हो। वेदों की सही जानकारी कराने के लिये एक ऐसे वेद-भाष्य की आवश्यकता वे अनुभव कर चुके थे, जो रूढ़ परम्पराओं से हट कर इन ग्रन्थों के सार्वजनीन स्वरूप को जन सामान्य के समक्ष प्रस्तुत कर सके। अतः वे अत्यधिक तत्परता के साथ वेद भाष्य के लेखन में प्रवृत्त हुए। भाष्य लेखन का कार्य निर्बाध गति तथा सुचारु रूप से चलता रहे, इसके लिये उन्हें अधिकाधिक सन्दर्भ ग्रन्थों को अपने साथ रखना पड़ता था। इसके साथ ही लेखक, पण्डित, शिष्य और कर्मचारियों का समुदाय भी अब उनकी यात्राओं में साथ रहने लगा था।

स्वामीजी की कार्य प्रवृत्तियां बहुमुखी थीं। वे जहां उपस्थित जनसमूह के समक्ष व्याख्यान एवं प्रवचन करने, जिज्ञासुओं की शंकाओं का समाधान करने तथा आर्य पुरुषों को उद्‌बोधन देने के लिये तत्पर रहते थे, उसी प्रकार प्रतिद्वन्द्वियों से शास्त्रार्थ करने हेतु उनकी सन्नद्धता भी उसी कोटि की थी। परन्तु अब उन्होंने शास्त्रार्थ प्रणाली में एक आवश्यक परिवर्तन कर लिया था। अब वे शास्त्रार्थ करने से पूर्व एतद् विषयक विस्तृत नियमों के निर्धारण पर जोर देते। उनका यथासम्भव प्रयत्न रहता कि शास्त्रार्थ लिखित रूप में हो, ताकि कालान्तर में उसे प्रकाशित किया जा सके। शास्त्रार्थ से पूर्व निष्पक्ष व्यक्ति को सभापति बनाने, विवाद के विषयों को स्पष्टतया परिभाषित करने तथा वादी प्रतिवादी के कथन को सही रूप में अंकित किये जाने पर वे बल देते। निश्चय ही इस प्रकार के आवश्यक किन्तु किञ्चित् कठोर नियमों से सहमत होना, कभी कभी विरोधी पक्ष के लिये कठिन हो जाता और प्रायः शास्त्रार्थ का सूत्र नियम निर्धारण की प्रक्रिया में ही विच्छिन्न हो जाता।[1] किन्तु स्वामीजी को इसकी अधिक चिन्ता नहीं थी क्योंकि वे यह जानते थे कि व्यवस्थित रीति से यदि शास्त्रार्थ सम्पन्न होता है, तो जिज्ञासु दर्शकों एवं श्रोताओं पर उसका इच्छित प्रभाव पड़ेगा और वे सत्यासत्य का निर्धारण भी कर सकेंगे। इसके विपरीत यदि अनियमित ढ़ंग से

शास्त्रार्थ किये जायेंगे, तो बिना किसी निश्चित परिणाम पर पहुंचे, मात्र शोरशराबे में ही उनके समाप्त हो जाने की सम्भावना थी।

इस प्रकार अपनी कार्यप्रणाली और प्रचारपद्धति को सुव्यवस्थित कर स्वामी दयानन्द ने एक बार पुनः वर्द्धित उत्साह तथा भावनाप्रवण हृदय से धर्म प्रचार के पुनीत यज्ञ का समारम्भ किया। निश्चित कार्यक्रम के अनुसार आश्विन (द्वितीय) पूर्णिमा १९३६ वि. तदनुसार ३० अक्टूबर १८७९, गुरुवार को सायं ६ बजे वे दानापुर पहुंचे। उनके साथ पं. भीमसेन, पं. देवदत्त, एक अन्य पण्डित एवं साधु तथा एक सेवक था। आर्यसमाज[२] के सभासदों के अतिरिक्त सैकड़ों लोग उनके दर्शनार्थ एवं स्वागत हेतु स्टेशन पर उपस्थित थे। जिस समय महाराज गाड़ी से उतरे उस समय उन्होंने किनारीदार धोती तथा किनारीदार दुपट्टा धारण कर रक्खा था। शरीर पर रेशमी कोट पहने थे जिसमें चैनदार घड़ी लगी हुई थी। उपदेशक की इस भव्य वेशभूषा में स्वामीजी का व्यक्तित्व अत्यन्त गम्भीर तथा प्रभावशाली लग रहा था। उन्हें बग्घी में सवार करा कर जब नगर में लाया गया, तो बाजार में दर्शकों की एक बड़ी भीड़ ने उनका स्वागत किया तथा देशोत्थान के लिये सर्वविध प्रयत्न करने वाले युगपुरुष दयानन्द के दर्शनों से अपने को कृतार्थ अनुभव किया। उन्हें बाबू माधोलाल[३] के घर पर लाया गया जहां स्वामीजी ने चाय के साथ कुछ अल्पाहार किया और आगन्तुक जिज्ञासुओं से नाना विषयों पर चर्चा की।[४] सायंकाल भोजन से निवृत्त होकर वे जोन्स साहब सौदागर के बंगले (दीघा लॉज) में चले गये, जहां उनके निवास का प्रबन्ध किया गया था।[५]

दानापुर में सेना की छावनी का मुख्यालय था। अतः महाराज के व्याख्यानों के लिये छावनी के कैम्प मैजिस्ट्रेट से आज्ञा लेना आवश्यक था। ३१ अक्टूबर को जब मैजिस्ट्रेट ने लिखित रूप में आज्ञा दे दी, तो विज्ञापन[६] द्वारा नगरवासियों को सूचित कर दिया गया कि स्वामीजी के व्याख्यान नये कटरे में बाबू महावीरप्रसाद की दूकान के सामने हुआ करेंगे जब कि शंका समाधान वे अपने निवासस्थान पर ही करेंगे। २ नवम्बर से १६ नवम्बर तक (१३ नवम्बर को छोड़ कर) स्वामीजी के व्याख्यानों का क्रम चलता रहा। इस अवधि में उन्होंने सृष्टि उत्पत्ति, देशोन्नति, वैदिक धर्म, पर मत समीक्षा, धार्मिक एकता की आवश्यकता, ईश्वरीय वाणी—वेद, शिक्षापद्धति, मूर्तिपूजा निषेध जैसे अनेक विषयों पर भाषण दिये। प्रसंगोपात्त नव्य वेदान्त तथा ब्रह्मसमाज के अवैदिक मन्तव्यों का खण्डन भी किया।

अपने आपको राज पौराणिक के नाम से प्रसिद्ध करने वाला अलीगढ निवासी पं. चतुर्भुज इस समय दानापुर आया।[७] उसने इस नगर में यह प्रसिद्ध करना चाहा कि वह अनेक नगरों में स्वामीजी को शास्त्रार्थों में पराजित कर चुका है, परन्तु जब उससे कहा गया कि वह एक बार फिर स्वामीजी का शास्त्रार्थ में मुकाबिला करे, तो वह आनाकानी करने लगा। पं. चतुर्भुज शास्त्रार्थ के लिये तो तैयार नहीं हुआ, किन्तु कतिपय उपद्रवी लोगों से मिलकर उसने षड्यन्त्रपूर्वक स्वामीजी को शारीरिक हानि पहुंचानी चाही। जब एक दिन स्वामीजी व्याख्यान दे चुके तो उन्हें सन्देश भेजा गया कि वे कुञ्जबिहारी साह (पं. लेखराम तथा पं. घासीराम रचित जीवनचरितों में इनका नाम झारी शाह लिखा गया है। वास्तविक नाम कुञ्जबिहारी साह था) के निवास पर आयें, जहां पं. चतुर्भुज से किये जाने वाले

शास्त्रार्थ के नियमों का निर्धारण किया जायगा। स्वामीजी अपने दो चार भक्तों के साथ जब निश्चित स्थान पर पहुंचे, तो ज्ञात हुआ कि वहां न तो पं चतुर्भुज ही उपस्थित हैं और न शास्त्रार्थ की कोई चर्चा। इसी बीच दीपक बुझा दिया गया[८] और उपस्थित लोग ताली पीट कर हुल्लड़ मचाने लगे। इस पर स्वामीजी के साथ आए सूबेदारसिंह ने कड़क कर दुष्टों को ललकारा तथा स्वामीजी को सुरक्षित स्थान पर पहुंचाया। यद्यपि मकान से बाहर निकलने पर स्वामीजी पर ईंट व पत्थर भी बरसाये गये, किन्तु वे सकुशल अपने निवासस्थान—दीवा लॉज पहुंच गये।

पौराणिक वर्ग को इतने से ही संतोष नहीं हुआ। उन्होंने पुलिस के थानेदार को भी अपनी ओर मिला लिया जिसने कैम्प मैजिस्ट्रेट को सूचित किया कि स्वामीजी के व्याख्यानों से नगर की शन्ति भंग होने की आशंका है। इतना ही नहीं, विघ्नतोषी लोग एक मौलवी को ले आये और स्वामीजी के व्याख्यानस्थल से कुछ ही दूर उसे खड़ा कर दिया। जब मौलवी ने अनर्गल प्रलाप कर व्याख्यान में बाधा देना आरम्भ किया तो, बाबू जनकधारीलाल[९] ने पुलिस इन्सपैक्टर गिलबर्ट को सारी स्थिति समझाई। अब गिलबर्ट साहब स्वयं व्याख्यान स्थल पर उपस्थित हुए और उन्होंने मौलवी को वहां से हटा दिया। पुलिस इन्सपैक्टर स्वयं भी स्वामीजी के व्याख्यानों से अत्यन्त प्रभावित हुआ और वह नियमित श्रोता के रूप में उपस्थित होने लगा।

यों तो स्वामी दयानन्द परकीय राज्य के कठोर आलोचक थे तथा उसे स्वदेशोत्थान में सदा बाधक ही समझते थे, किन्तु ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत धर्म विषयक आलोचना-प्रत्यालोचना करने की स्वतंत्रता को वे प्रशंसा की दृष्टि से देखते थे। व्याख्यान के एक प्रसंग में जब उन्होंने इस्लाम की आलोचना की, तो महाशय गुलाबचंदलाल[१०] ने उन्हें परामर्श दिया कि वे मताग्रही मुसलमानों के मजहब के विषय में कुछ भी न कहें। इस पर स्वामीजी ने अपने उस दिन के सायंकालीन व्याख्यान में अथ से इति पर्यन्त इस्लाम की अवैज्ञानिक तथा तर्कविरुद्ध मान्यताओं का खण्डन किया और उपसंहार में कहा—"लोग कहते हैं कि मैं इस्लाम की आलोचना से विरत हो जाऊं। **परन्तु सत्य को ओझल कर देना, मेरे लिये सम्भव नहीं है।** जब मुसलमानों का शासन था, तो उन्होंने तलवार के बल पर आर्य धर्म एवं संस्कृति को नष्ट किया, किन्तु अब, जब वाणीमात्र से भी उनके मत की आलोचना की जाती है तो उन्हें आपत्ति होती है।" इसी प्रसंग में उन्होंने ब्रिटिश शासकों द्वारा प्रदत्त धार्मिक स्वतंत्रता की प्रशंसा की और कहा कि धार्मिक विषयों पर आलोचना करने की इस स्वतन्त्रता का हमें पूरा पूरा लाभ उठाना चाहिए। प्रासंगिक रूप में उन्होंने पंजाब के एक नगर की अपनी यात्रा का उल्लेख करते हुए कहा कि जब मैं वहां अपने व्याख्यान में ईसाई मत की आलोचना करते हुए बाइबिल के परस्पर विरुद्ध तथा वदतोव्याघात के दोष से दूषित प्रकरणों का उल्लेख कर रहा था, तो भारत के तत्कालीन प्रधान सेनापति जनरल राबर्ट्स का अचानक उस स्थान पर आगमन हो गया। व्याख्यान की समाप्ति पर जनरल महाशय ने मुझसे हाथ मिलाया और कहा कि आपकी आलोचना अत्यन्त निर्भीकतापूर्ण है। जब आप देश के सर्वोच्च सेनाधिकारी के सामने ही उसके धर्म की आलोचना कर सकते हैं, तो अन्यों से तो भयभीत होने का प्रश्न ही कहां है ?

स्वामीजी यह मानते थे कि कभी कभी गम्भीर शैली के उपदेशों की अपेक्षा हल्के फुल्के ढ़ंग से कहा गया विनोदपूर्ण कथन भी अपना प्रभाव छोड़ जाने में समर्थ होता है। व्यंग्य विनोद के ढ़ंग पर कही गई बात भी अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न कर देती है, इसका ज्वलन्त दृष्टान्त उस समय सामने आया जब कि ठाकुरप्रसाद नामक एक स्वर्णकार, जिसने कि प्रथम पत्नी के जीवित रहते ही दूसरा विवाह कर लिया था, स्वामीजी के निकट आकर कहने लगा कि वे उसे योगाभ्यास सिखायें। स्वामीजी आगन्तुक व्यक्ति के इस दुराचरण से परिचित थे। अतः उन्होंने उन्मुक्त हास्य से कहा, "एक विवाह और कर लो, तुम्हारा योग पूरा हो जायगा।" ठाकुरप्रसाद का लज्जित होना स्वाभाविक ही था। दानापुर की ही एक अन्य घटना है। एक भंगेड़ी व्यक्ति, बाबू शिवगुलामप्रसाद महाराज के निकट आकर उनसे चित्त एकाग्र करने की विधि पूछने लगे। स्वामीजी ने ईषत् स्मितपूर्वक उत्तर दिया कि वे दो तोले भंग पी लिया करें तो उनके चित्त की एकाग्रता स्वतः ही बढ़ जायगी। स्वामीजी अनुभव करते थे कि व्यसन ग्रस्त व्यक्ति निर्व्यसनी हुए बिना ही योग साधना के कठिन सोपानों पर चढ़ना चाहते हैं, जब कि व्यसनमुक्त हुए बिना योग की पहली सीढ़ी तक पहुंचना भी कठिन है।

जोन्स साहब सौदागर, जिनके बंगले पर स्वामीजी ठहरे हुए थे, एक दिन अनेक विदेशी पादरियों, अंग्रेज महिलाओं तथा अन्य भद्र पुरुषों सहित महाराज की सेवा में उपस्थित हुए। स्वामीजी ने उठ कर उनसे हाथ मिलाया तथा आसन दिया।[११] जोन्स साहब के आग्रह करने पर कि वे उपस्थित समुदाय के समक्ष कुछ धर्मोपदेश करें, स्वामीजी ने कहा, "जिस प्रकार सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, जल, वायु, मेघ आदि परमात्मा द्वारा मानव के हितार्थ निर्मित किये गये हैं, तथा ये सारी वस्तुएं मनुष्य के समान उपयोग के लिये निमित्त कर प्रस्तुत की गई हैं, उसी प्रकार ईश्वरीय धर्म भी सब मनुष्यों के लिए एक ही होना चाहिए।" आगे जाकर उन्होंने यह स्पष्ट किया कि वर्तमान में जिन्हें हम भिन्न भिन्न धर्म कह कर पुकारते हैं, वास्तव में वे भिन्न देश, काल तथा भिन्न परिस्थितियों में जन्मे मत एवं पन्थ ही हैं। प्रत्यक्षतया एक दूसरे का विरोध करने वाले इन नाना मत, पन्थों एवं सम्प्रदायों में भी, कुछ मौलिक बातों की एकता है। उदाहरणार्थ सत्य, न्याय, दया, क्षमा, तितिक्षा, अहिंसा जैसे मानवी गुणों का धारण सभी मतों की दृष्टि में श्रेयस्कर माना गया है।

एक रोचक दृष्टान्त देकर स्वामीजी ने अपनी बात को स्पष्ट किया "कल्पना कीजिये कि एक धार्मिक मेले में सहस्रों साम्प्रदायिक उपदेशकों के समक्ष एक सच्चा जिज्ञासु उपस्थित होता है और वह प्रत्येक मतवादी आचार्य के समक्ष जाकर जिज्ञासा करता है कि क्या वे सत्य, न्याय, दया, क्षमा, विश्वमैत्री जैसे उदात्त मानवी गुणों को मनुष्यमात्र का इति-कर्त्तव्य स्वीकार नहीं करते ? उत्तर में सभी साम्प्रदायिक आचार्य भी इन सार्वजनीन आदर्शों को मनुष्यमात्र के लिये आचरणीय स्वीकार करेंगे। परन्तु इन्हीं सम्प्रदायों और पन्थों में कतिपय ऐसी रूढ़ियों, मान्यताओं, कर्मकाण्डों तथा बाह्याचारों को भी स्वीकार कर लिया गया है, जिन पर सब का एक साथ सहमत हो जाना अशक्य है। यथा, इस्लाम की यह मान्यता कि हजरत मौहम्मद साहब पर विश्वास लाये बिना मनुष्य की मुक्ति असम्भव है, अथवा

ईसाइयों की यह धारणा कि ईसा मसीह को परमात्मा का पुत्र तस्लीम किये बिना मनुष्य का नरक से त्राण नहीं होगा और न वह स्वर्ग का अधिकारी ही हो सकेगा। इस प्रकार के साम्प्रदायिक मत विश्वास सभी मनुष्यों को समान रूप से स्वीकार्य नहीं हो सकते। जैसे हिन्दुओं में मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा, नाना प्रकार के व्रतादिक अनुष्ठान, तिलक, छाप आदि को धारण करने के बाह्याचार तथा कर्मकाण्ड प्रचलित हैं, उसी प्रकार के बाह्याचारों तथा कर्मकाण्डों का अन्य सम्प्रदायों में भी प्रचलन है। परन्तु ये मनुष्यमात्र को समान रूप से स्वीकार्य नहीं हो सकते। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि मनुष्य का सार्वभौम धर्म तो वही है जो सत्य, अहिंसा, न्याय, दया आदि की समष्टि है, अतः वही आचरणीय तथा स्वीकरणीय है।"[१२]

धर्म विषयक स्वामी दयानन्द की इस मौलिक विवेचना से जोन्स साहब ने सर्वांश में सहमति व्यक्त की। परन्तु अब उन्होंने एक अन्य प्रश्न करते हुए पूछा कि जब वे मनुष्यमात्र का एक ही धर्म मानते हैं, तो क्या यूरोपीय लोगों से साथ भोजन करने में उन्हें कोई आपत्ति होगी ? स्वामीजी ने उत्तर में कहा, "किसी के साथ भोजन करना या न करना धर्म का अंग नहीं है। यह तो देशाचार तथा लोकाचार के अन्तर्गत आता है। खानपान, वेशभूषा दाम्पत्य-सम्बन्ध आदि के नियम भिन्न भिन्न देशवासियों में भिन्न भिन्न होते हैं। ये देश, काल तथा परिस्थितियों से अनुशासित भी होते हैं तथा समयानुसार परिवर्तित भी हो जाते हैं।" एक उदाहरण देकर उन्होंने इस बात को स्पष्ट किया। जिस प्रकार एक यूरोपीय ईसाई अपनी पुत्री का विवाह एक भारतीय ईसाई से नहीं करेगा, यद्यपि दोनों की धार्मिक आस्थाएं और विश्वास समान ही हैं, उसी प्रकार भोजन आदि के नियम भी देश, काल तथा परिस्थितियों से नियंत्रित होते हैं। स्वामीजी की इस युक्तिसंगत मीमांसा से आगन्तुक श्रोताओं को पूर्ण संतोष हुआ।[१३]

स्वामी दयानन्द ने धर्म के जिस स्वरूप की स्थापना की, वह किन्हीं अलौकिक विश्वासों का पुञ्ज अथवा क्रियाकाण्डों का समूह न होकर लोकहित का विधान करने वाले आचरणों का संग्रहमात्र ही है। दानापुर में एक बार पुनः श्री जोन्स एक अन्य पादरी को लेकर स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हुए। इस अवसर पर पाप और पुण्य की मीमांसा के प्रसंग में स्वामीजी ने कहा, "जिस कार्य से अधिकाधिक लोगों का हित होता हो, वही पुण्य है। मानवता का अहित जिससे हो, उसे ही पाप कहना समीचीन है।"[१४] इसी प्रसंग में जब गोरक्षा की चर्चा चली, तब महाराज ने कहा कि गाय जैसे एक उपयोगी पशु की रक्षा से सहस्रों लोगों का हित साधन होता है। अतः गोरक्षा देश और मानव हित की दृष्टि से सर्वथा वांछनीय है। जोन्स साहब तो स्वामीजी की इस विवेचना से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने भविष्य में गोमांस का भक्षण सर्वथा त्याग दिया।

अपने समग्र जीवन को लोक मंगल तथा देशोपकार में समर्पित करने वाले दयानन्द को एक रात्रि उनके सेवक ने अन्यमनस्क भाव से उद्विग्न होकर टहलते हुए देखा। महाराज को इस प्रकार चिंतित एवं व्याकुल देख कर कर्मचारी को संदेह हुआ कि कहीं वे अस्वस्थ तो नहीं है ? जब उसने महाराज की परेशानी का कारण पूछा, तो स्वामीजी ने दीर्घ

निश्वास लेते हुए कहा, **"जब मैं आर्य जाति की सार्वत्रिक अधोगति और अवनति देखता हूं तो मेरी वेदना का पार नहीं रहता।** आज विदेशी ईसाई प्रचारक हिन्दू समाज के दलित वर्ग की दरिद्रता, पराधीनता तथा दुर्दशा का लाभ उठा कर उन्हें धर्मच्युत करने पर तुले हुए हैं। आश्चर्य है कि संसार के इस सर्वाधिक प्राचीन धर्म के एक महत्त्वपूर्ण अंग की इस हीन दशा को देख कर भी धर्माचार्यों, मठाधीशों तथा महन्तों का ध्यान इस ओर नहीं जा रहा है। यदि हमारे धर्माचार्य इसी प्रकार की उपेक्षा धारण किये रहेंगे, तो इस धर्म समाज का सर्वनाश अवश्यम्भावी है।" सांसारिक एषणाओं को सर्वतोभावेन त्याग देने वाले इस संन्यासी का यह लोक हित चिन्तन ही उन्हें समकालीन महापुरुषों में शीर्ष स्थान पर प्रतिष्ठित कर देता है।

दयानन्द का समग्र प्रयत्न भारत में एक बार पुनः वैदिक और आर्ष युग की प्रोज्जवल और पुनीत जीवन प्रणाली को स्थापित करना था। उनका सम्पूर्ण पुरुषार्थ पुराकालीन ऋषियों के चिन्तन तथा कर्त्तृत्व को पुनरुज्जीवित करना था। यही कारण है कि ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त[१५] ऋषि परम्परा की बार बार दुहाई देने वाले दयानन्द की गणना भी वसिष्ठ, विश्वामित्र और व्यास जैसे ऋषियों की कोटि में होने लगी थी। दानापुर में उनके आर्ष चिन्तन तथा कर्त्तृत्व को देख कर एक भक्त ने कहा—महाराज, आप तो ऋषि हैं। स्वयं को ऋषि परम्परा का अकिंचन अनुयायी और आर्ष धारणाओं का विनम्र पक्षपोषक मानने वाले दयानन्द ने विनीतभाव से उत्तर में कहा, **"भाई! पुराकालीन ऋषियों के अभाव में तुम मुझे कुछ भी कह लो, किन्तु यदि सांख्य एवं वैशेषिक दर्शनों के प्रवक्ता महर्षिवर्य कपिल और कणाद के युग में मैं होता, तो मेरी गणना साधारण विद्वान् के रूप में भी कथञ्चित् ही हो पाती।"** दयानन्द की सरलता तथा विनम्रता अनुपमेय थी।

तीन सप्ताह दानापुर में व्यतीत करने के पश्चात् दयानन्द कार्तिक शुक्ला सप्तमी, २० नवम्बर, गुरुवार को काशी पहुंचे। इस बार उनका निवास महाराजा विजयनगर के आनन्दबाग में हुआ।[१६] काशी पहुंचते ही उन्होंने स्वशिष्य भीमसेन शर्मा के हस्ताक्षरों से एक विज्ञापन प्रकाशित कराया[१७] जिसमें उन्होंने स्वमत की स्थापना करते हुए धर्म जिज्ञासुओं को आहूत किया था कि वे सत्यासत्य और धर्माधर्म का निर्णय करने के लिये आगे आयें। काशी के विद्वानों में इस विज्ञापन की तीव्र प्रतिक्रिया हुई।[१८] भिन्न भिन्न वर्ग के लोगों ने विभिन्न प्रकार के प्रवाद फैलाये। १५ दिसम्बर १८७९ को थियोसोफिकल-सोसाइटी के संस्थापकद्वय—कर्नल आल्काट तथा मैडम ब्लैवेट्स्की बम्बई से स्वामीजी से भेंट करने हेतु आये। दामोदर नामक एक दुभाषिये की सहायता से स्वामीजी ने विदेशी अतिथियों से विचारों का आदान प्रदान किया। १६ दिसम्बर को राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद'[१९] कर्नल और मैडम से भेंट करने आनन्दबाग में आये। स्वामीजी ने राजा साहब के आगमन की सूचना विदेशी बन्धुओं को दी। जब तक राजा साहब को थियोसोफी के प्रवर्तकों ने अपने निवास पर बुला नहीं लिया, तब तक वे स्वामीजी से वार्तालाप करते रहे। राजा शिवप्रसाद की स्वामीजी से प्रत्यक्षरूपेण यही प्रथम और अन्तिम भेंट थी।

जब स्वामीजी ने यह अनुभव किया कि विद्या, धर्म और संस्कृति के केन्द्र काशी

में धर्मविचार के लिये आगे आने के उनके आह्वान की कोई अनुकूल प्रतिक्रिया नहीं हो रही है, तो उन्होंने एक अन्य विज्ञापन द्वारा यह घोषित कर दिया कि मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी शनिवार, २० दिसम्बर से वे बंगाली टोला के प्राथमिक विद्यालय में भाषण देंगे। विज्ञापन में यह भी सूचित किया गया था कि इस सभा में कर्नल ऑल्काट का भी भाषण होगा। व्याख्यान की इस सूचना के प्रकाशित होते ही विरोधी शिविर में हलचल मच गई। वे अविलम्ब मैजिस्ट्रेट के पास गये और उन्हें सूचित किया कि यदि स्वामी दयानन्द को व्याख्यान देने की इजाजत दी गई, तो साम्प्रदायिक उपद्रव भड़कने की सम्भावना है। यह एक संयोग ही कहा जायगा कि मुसलमानों का त्यौहार मुहर्रम समीप था। अतः मैजिस्ट्रेट ने बिना सारी बातों पर विचार किये, स्वामीजी के भाषणों के सम्बन्ध में निषेधाज्ञा लागू कर दी। जब स्वामी दयानन्द निश्चित समय पर व्याख्यानस्थल पर पहुंचे तो पुलिस के एक अधिकारी ने उन्हें मैजिस्ट्रेट का यह आज्ञापत्र दिया। स्वामीजी ने शासन के आदेश का पालन करते हुए उस समय व्याख्यान तो नहीं दिया, किन्तु अगले दिन उन्होंने मैजिस्ट्रेट वाल साहब को एक पत्र लिख कर जानना चाहा कि किन कारणों से उनके व्याख्यान पर प्रतिबन्ध लगाया है तथा प्रतिबन्ध की अवधि कब तक रहेगी।[२०] स्थानीय अधिकारियों की ओर से जब महाराज को कोई उत्तर नहीं मिला तो उन्होंने पश्चिमोत्तर प्रदेश के लेफ्टिनेंट गवर्नर तथा बनारस के मुख्यायुक्त को पत्र लिखकर उनके व्याख्यान पर लगाई गई निषेधाज्ञा का कारण जानना चाहा। इसके उत्तर में सरकार के कनिष्ठ सचिव पी. स्पीटन ने अपने पत्र द्वारा स्वामीजी को सूचित किया कि सरकार की राय में मैजिस्ट्रेट द्वारा उनके व्याख्यान को रोकना उचित था। शासन ने चाहे स्वामीजी को अपने विचारों के अभिव्यक्त करने से बलपूर्वक रोक दिया, किन्तु तत्कालीन समाचारपत्रों ने एक स्वर से सरकार के इस आदेश की निंदा करते हुए इसे स्वतंत्र विचाराभिव्यक्ति के लिये बाधक बताया।[२१]

काशी निवासी यद्यपि स्वामी दयानन्द से उनके द्वारा मूर्तिपूजा, मृतकश्राद्ध, अवतारवाद आदि के पौराणिक सिद्धान्तों के खण्डन किये जाने से विशेषतया रुष्ट थे, किन्तु वे कर्नल ऑल्काट तथा मैडम ब्लैवेट्स्की जैसे विदेशियों द्वारा की गई हिन्दू धर्म एवं संस्कृति की प्रभूत प्रशंसा सुन कर गद्गद् हो गये तथा उन्होंने नगर के टाउनहाल में बाबू प्रमदादास मित्र की अध्यक्षता में कर्नल ऑल्काट की एक वक्तृता आयोजित की। मित्र महाशय ने अपनी प्रारम्भिक संस्कृत वक्तृता में थियोसोफी के प्रवर्त्तकों की तो प्रशंसा की, किन्तु मूर्तिपूजा के सहज विरोधी दयानन्द के प्रति अनर्गल बातें कहने से भी नहीं चूके। आश्चर्य है कि ये बातें स्वामी दयानन्द की उपस्थिति में ही कहीं गईं, क्योंकि वे भी इन विदेशी महानुभावों के साथ सभा में आये थे। मित्र महाशय के भाषण के पश्चात् जब कर्नल ऑल्काट बोलने के लिये खड़े हुए, तो उन्होंने अपने भाषण में स्वामी दयानन्द के विचारों और कार्यों की भूरि भूरि प्रशंसा की। इस पर काशी की यह असहिष्णु श्रोतृ-मण्डली अत्यन्त उग्र हो उठी। जब कर्नल ने देखा कि स्थिति नियंत्रण के बाहर हो रही है तो वे स्वामीजी का हाथ पकड़ कर उठ खड़े हुए और गाड़ी में जा बैठे। इससे पूर्व स्वामी जी ने सभा के समक्ष प्रमदादास मित्र द्वारा की गई अप्रासंगिक तथा अदूरदर्शितापूर्ण

आलोचना का उत्तर देना चाहा था, परन्तु उन्हें यह कह कर रोक दिया गया कि यह सभा तो कर्नल साहब के सम्मान में ही आयोजित की गई है, अतः उनको बोलने की आज्ञा नहीं मिल सकती। काशी निवासियों की दुराग्रहपूर्ण मनोवृत्ति तथा अनुदार दृष्टिकोण की यह पुनरावृत्ति थी।

इस बीच स्वामी दयानन्द ने यह अनुभव कर लिया था कि वेदभाष्य प्रकाशन जैसे महत् सारस्वत अनुष्ठान की पूर्ति तभी हो सकेगी, यदि शास्त्रों के सुव्यवस्थित प्रकाशन के लिये निजी प्रेस स्थापित किया जाय। सर्वप्रथम वेद भाष्य का मुद्रण बम्बई के निर्णय-सागर प्रेस में होता था। उस समय मुन्शी समर्थदान वहां रह कर मुद्रण कार्य की देख रेख करते थे। जब बम्बई जैसे दूरवर्ती नगर में रह कर वेद भाष्य के धारावाही प्रकाशन में व्यवधान पड़ने लगा, तो स्वामीजी ने काशी के लाजरस प्रेस में भाष्य का छपाना आरम्भ किया। अन्ततः उनका यही निश्चय रहा कि बिना निज का प्रेस स्थापित किये, मुद्रण एवं प्रकाशन के कार्य में तीव्रता आना सम्भव नहीं है। स्वतंत्र रूप से प्रेस की स्थापना करने का प्रस्ताव आर्यसमाज मुरादाबाद की ओर से आया था। आर्यसमाज मेरठ ने इस विचार का समर्थन किया। स्वामीजी के परम भक्त राजा जयकृष्णदास ने भी इसमें अपना आर्थिक सहयोग दिया। आर्यसमाज फर्रूखाबाद तथा मेरठ की आर्थिक सहायता भी प्राप्त हुई। फलतः माघ शुक्ला २, १९३६ वि. १२ फरवरी १८८० गुरुवार को लक्ष्मीकुण्ड स्थित विजयनगराधिपति के उद्यानगृह की छत पर वैदिक यंत्रालय[२२] की विधिवत् स्थापना की गई। शाहजहांपुर के मुन्शी बख्तावरसिंह को प्रेस का प्रबन्धकर्त्ता नियुक्त किया गया। स्वामीजी ने इस अवसर पर अपने हृदयोद्गारों को व्यक्त करते हुए प्रेस स्थापना की पृष्ठ-भूमि तो बताई ही, किन्तु शीघ्र ही अत्यन्त मार्मिक स्वर में बोल उठे, **आज हम पतित हो गये, आज हम गृहस्थ हो गये।** महाराज के इन पीड़ापूर्ण उद्गारों से कौन सी ध्वनि निकल रही है? लौकिक एषणाओं का सर्वथा त्याग करने वाले इस निवृत्ति मार्गी संन्यासी ने लोकहित को ही अपना सर्वोपरि लक्ष्य बनाया है। इसी महत् उद्देश्य की पूर्ति के लिये वह जगतीतल पर वेदादि शास्त्रों के सत्यार्थ को प्रकाशित करना चाहता है। वेद तथा अन्य शास्त्रों का वास्तविक अर्थ सुगमता से जन साधारण तक पहुंच सके, इसी हेतु आज इस परमहंस परिव्राजक ने प्रेस की स्थापना जैसा एक लौकिक अनुष्ठान किया है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर महाराज ने अपने पतित होने तथा गृहस्थ होने की बात कही थी।

वे सोचते हैं, जब प्रेस के रूप में एक व्यावसायिक संस्थान की स्थापना की है तो इसके अवान्तर पहलुओं की ओर भी मुझे ध्यान देना ही होगा। कालान्तर में प्रेस के कर्मचारियों की वृद्धि होगी। उनके वेतन तथा अन्य व्यवस्थाओं में भी मुझे गाहे बगाहे उलझना ही होगा। न चाहने पर भी लोकहित की दृष्टि से किया गया यह कार्य क्या सर्वसंगमुक्त संन्यासी के बन्धन का कारण नहीं बन रहा है? इसी प्रकार के मानसिक उद्वेलन और चिन्तन के परिणामस्वरूप श्री महाराज के मुख से उपर्युक्त उद्गार निकले थे। प्रत्यक्षतया चाहे प्रेस की संस्थापना को हम दयानन्द का प्रवृत्ति मार्ग की ओर बढ़ता कदम मान लें, किन्तु इस कार्य के पीछे लोककल्याण की जो व्यापक एवं उदार भावना छिपी थी, उसे

देखते हुए दयानन्द को निष्काम कर्मयोगी तथा स्थितप्रज्ञ मुनि कहना ही उचित है। तथापि उपर्युक्त उद्‌गार उनके मनस्ताप की अभिव्यक्ति के सूचक ही थे।

वैदिक यन्त्रालय के भवन की छत पर महाराज के २० व्याख्यान २१ मार्च से १५ अप्रैल तक की अवधि में हुए। बीच में होली का त्योहार आ जाने के कारण कुछ दिन व्याख्यान नहीं हो सके। चैत्र शुक्ला ६, १९३७ वि. तदनुसार १५ अप्रैल १८८० को काशी में आर्यसमाज की स्थापना हुई। इसी दिन स्वामीजी की व्याख्यानमाला भी समाप्त हुई।

स्वामीजी की विनोद वार्ताएँ विगत अध्यायों में बहुशः वर्णित हुई हैं। काशी का एक प्रसंग भी पर्याप्त रोचक है। एक वृद्धा स्त्री स्वामीजी के डेरे पर बर्तन मांजने आया करती थी। जब वह अपने कार्य को समाप्त कर जाने लगती, तो महाराज से कहती, बाबाजी मैं अब जाती हूँ। उसका 'बाबाजी' कहना सुन कर स्वामीजी हंस कर कहते, मुझे बाबाजी मत कहा करो। बाबाजी का अर्थ होता है घोड़ा या खच्चर।[२३] यदा कदा प्रचलित शब्दों की मनोरञ्जन व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत कर स्वामीजी उपस्थित लोगों का मनोरञ्जन करते।[२४]

यद्यपि खान पान विषयक स्पृश्यास्पृश्य के भाव को वे थोड़ा भी महत्त्व नहीं देते थे, किन्तु निर्दोष मर्यादाओं को अनावश्यक रूप से तोड़ कर सामान्य जनों में बुद्धि भेद पैदा करने के भी वे विरुद्ध थे। अतः अनेक बार यूरोपीय लोगों के यह कहने पर कि वे उनके साथ बैठ कर भोजन क्यों नहीं करते, अथवा उनका स्पर्श किया खाना क्यों नहीं खा लेते, स्वामीजी का उत्तर यही होता था कि यद्यपि ऐसा करने में कोई दोष नहीं है, किन्तु धर्मभीरु, रूढ़िग्रस्त लोग व्यर्थ में ही ईसाई कह कर उन्हें बदनाम करेंगे तथा उनके साथ रहने वाले ब्राह्मण पण्डित तथा छात्र भी उन्हें छोड़ कर भाग जायेंगे। इस प्रकार उनके कार्य में अनावश्यक रूप से बाधा आयगी।

काशी में जब महाराज के व्याख्यान होने लगे तो अनेक पण्डित गुप्त रूप से उनके विचार जानने के लिये व्याख्यान स्थल पर आकर बैठते तथा भाषण सुनते। परन्तु अपनी विद्या का अहंकार रखने वाले विशुद्धानन्द, बालशास्त्री और बापूदेव शास्त्री इन व्याख्यानों में कभी उपस्थित नहीं हुए। इन पण्डितों में इतना साहस भी नहीं था कि वे शास्त्रार्थ के लिये सामने आते। स्वामी दयानन्द ने पातञ्जल योग की सर्वोच्च साधना की थी। वे पर्याप्त रात्रि शेष रहने पर ही शय्या त्याग देते तथा योग साधना में तल्लीन हो जाते। उस समय किसी प्रकार का शोरगुल उनके लिये असह्य हो जाता क्योंकि इससे साधना में बाधा पड़ती थी। स्वामीजी का एक भृत्य, जो रात्रि के समय महाराज के कमरे के पास ही सोता था, रात को देर तक खांसता रहता। स्वामीजी ने उसका अपने कमरे के समीप सोना इसीलिये बंद करा दिया, ताकि उनकी योगचर्या में बाधा न पड़े।

थियोसोफिकल सोसाइटी के संस्थापक योग के सम्बन्ध में विशेष रुचि लेते थे। शायद उनकी यह धारणा थी कि योग के द्वारा मनुष्य को असामान्य अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। उनके लिये योग कुछ रहस्यपूर्ण परन्तु अधिकांशतः ऐन्द्रजालिक क्रिया जाल से अधिक नहीं था। जब इन लोगों ने स्वामीजी के समक्ष भी इसी प्रकार की क्रियाओं का योग के नाम पर प्रदर्शन किया, तो महाराज ने उन्हें स्पष्ट कहा कि इन आश्चर्यमयी क्रियाओं को

योगजन्य विभूतियाँ कहना उचित नहीं है। प्रयाग से प्रकाशित होने वाले पायोनियर पत्र के सम्पादक ई. एफ. सिनेट भी थियोसोफिस्ट थे। उन्होंने स्वामीजी को पत्र लिख कर निवेदन किया कि वे हिन्दू शास्त्रों में वर्णित योग की आश्चर्यजनक शक्तियों और सिद्धियों को देखना चाहते हैं। यदि स्वामी दयानन्द जैसे योग निष्णात व्यक्ति इन शक्तियों को दिखा दें, तो वे अपने पत्र के माध्यम से योग के समर्थन में प्रबल प्रचार करेंगे। सिनेट साहब ने स्वयं काशी आकर स्वामीजी से भेंट करने तथा योगजन्य सिद्धियों को देखने की तत्परता इस पत्र में प्रदर्शित की। परन्तु स्वामीजी ने उन्हें उत्तर में लिखा कि उनके काशी आने की आवश्यकता नहीं है, वे स्वयं ही प्रयाग आकर उनसे इस सम्बन्ध में आवश्यक चर्चा करेंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामीजी इस बीच प्रयाग गये तथा सिनेट साहब से योग विषयक चर्चा कर आये। इसका विवरण उन्होंने काशी में जिस प्रकार दिया, उससे अनुमान होता है कि सिनेट साहब को स्वामीजी के योग विषयक विचारों से पूर्ण सन्तोष नहीं हुआ, क्योंकि वे जिस प्रकार की आश्चर्यमयी, अलौकिक सिद्धियों की चर्चा सुन चुके थे, उनके मतानुसार स्वामी दयानन्द के पास ऐसा चमत्कार दिखाने के लिये कुछ नहीं था।

तथ्य यह है कि स्वामीजी का योग विषयक आकलन थियोसोफिस्टों में प्रचलित योग सम्बन्धी धारणाओं से अधिक मेल नहीं खाता था। स्वामीजी तो महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित उस राजयोग को ही प्रामाणिक तथा आदर्श मानते थे जिसमें अष्टाङ्ग योग की साधना के द्वारा समाधि सिद्धिपूर्वक परम सत्ता का साक्षात्कार किया जाता है। योग दर्शन के विभूतिपाद के अन्तर्गत सिद्धियों की चर्चा भी आती है, किन्तु वहाँ यह स्पष्ट चेतावनी दी गई है कि योगाङ्गों की साधना के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली ये सिद्धियाँ योगी का अन्तिम लक्ष्य नहीं है। उसे तो उस निर्विकल्प समाधि की अवस्था तक पहुँचना है, जहाँ जाने से कैवल्य की प्राप्ति होती है। इन धारणाओं के विपरीत थियोसोफी वाले हठयोग से प्राप्त होने वाली उन सिद्धियों की प्राप्ति के लिये इच्छुक थे, जो लोकोत्तर चमत्कारयुक्त होती हैं तथा जनसामान्य में इन के बारे में ऐसी ही धारणा प्रचलित भी है। दयानन्द ने तो राजयोग की ही साधना की थी और अपने योगगुरु शिवानन्द गिरि तथा ज्वालानन्द पुरी के सान्निध्य में रह कर उच्चस्तरीय योगाभ्यास किया था। परन्तु वे योग को चमत्कार का पर्याय नहीं मानते थे और न योगजन्य सिद्धियों के सार्वजनिक प्रदर्शन में ही विश्वास रखते थे।

स्वामीजी के गुजराती शिष्य कृष्णराम इच्छाराम इन दिनों काशी आकर आनन्द-बाग ही ठहरे थे। काशी के इस निवास काल में वे पं. बालशास्त्री, पं. बापूदेव शास्त्री तथा स्वामी विशुद्धानन्द के दर्शनार्थ गये, परन्तु इन विद्वानों पर यह प्रकट नहीं होने दिया कि वे स्वामीजी के शिष्य या अनुयायी हैं। इस प्रकार अपने को प्रच्छन्न रख कर पं. कृष्णराम उपर्युक्त विद्वानों के दयानन्द विषयक आन्तरिक भावों का पता लगाने में सफल हो सके। पं. बालशास्त्री तथा पं. बापूदेव शास्त्री ने तो स्वामीजी की विद्वत्ता में किसी भी प्रकार की आशंका न करते हुए यह स्वीकार किया कि मूर्तिपूजादि रूढ़िबद्ध लोकाचारों का खण्डन दयानन्द जैसे सर्वसंगमुक्त संन्यासी के लिये तो सम्भव है, परन्तु उनके जैसे गृहस्थ का भार वहन करने वालों के लिये सम्भव नहीं है। जब पं. कृष्णराम स्वामी विशुद्धानन्द से मिले और स्वामी दयानन्द का प्रसंग उठाया, तो स्वल्प वार्तालाप से ही विशुद्धानन्द जान गये

कि आगन्तुक आर्यसमाजी है। जब पं. कृष्णराम ने स्वामी दयानन्द कृत वेद भाष्य की चर्चा चलाई तथा ऋग्वेद के प्रथम मंत्र 'अग्निमीड़े पुरोहितम्' के स्वामीरचित भाष्य में 'अग्नि' के विभिन्न अर्थों को शास्त्रीय मतों से पुष्ट किये जाने का प्रसंग छेड़ा तो स्वामी विशुद्धानन्द प्रथम तो न्याय की तर्क प्रक्रिया का अनुसरण करते हुए कुछ देर तक ऊहापोह करते रहे। इस पर पं. कृष्णराम ने उनसे पुनः अनुरोध किया कि नव्यन्याय की फक्किकाओं में वेदार्थ को उलझाने का यत्न न करें, अपितु स्वामी दयानन्द ने जिस प्रकार ब्राह्मण, निरुक्त तथा अष्टाध्यायी की शैली से वैदिक शब्दों के स्वाभिमत अर्थ को पुष्ट किया है, उसी पद्धति का आश्रय लेकर वे दयानन्दकृत अर्थ का खण्डन करें। पं. कृष्णराम के इस कथन पर स्वामी विशुद्धानन्द क्रोध से आग बबूला हो गये तथा चिल्लाकर कहने लगे—"राम राम, भाई कह दिया, हम मूर्ख हैं, हम मूर्ख हैं, अकेला तुम्हारा दयानन्द ही विद्वान् है। तुम यहां से चले जाओ।" और ऐसा कह कर अपने सिपाहियों को आज्ञा दी कि पण्डित जी को नीचे ले जायें।[२५] इस घटना से काशी के तथाकथित पण्डितों की विद्वत्ता के स्तर का तो पता लगता ही है, उनकी खीझभरी मनोवृत्ति तथा दयानन्द के प्रति उनके क्षोभ तथा झुंझलाहट की एक झलक भी मिल जाती है। यदि बालशास्त्री और बापूदेव जैसे विद्वान् गृहस्थजन्य दायित्वों से जुड़ी जीविका की दुहाई देकर मूर्तिपूजा का विरोध करने में अपनी अक्षमता व्यक्त करते हैं, तो स्वयं को परमहंस कहने वाले स्वामी विशुद्धानन्द अपने पाण्डित्यजन्य अहंकार से मत्त होकर दयानन्द के वेदार्थ की सत्यता को स्वीकार न करने में ही कृतकृत्यता अनुभव करते हैं।[२६]

परन्तु स्वामी दयानन्द के लिये तो वेदाधिष्ठित सिद्धान्त और मान्यताएं ही सर्वोपरि हैं। इन सिद्धान्तों की रक्षा के लिये वे सर्वस्व त्याग कर सकते हैं, किन्तु इन्हें तिलाञ्जलि देकर वे कोई सांसारिक या भौतिक उपलब्धि प्राप्त कर लें, यह उनके लिये सर्वथा अकल्पनीय है। तभी तो जब महाराजा वेंकटगिरि ने उनसे कहा कि आप मूर्तिपूजा के विरोध को अपने कार्यक्रम में सर्वथा अन्तिम स्थान पर रक्खें तथा अन्यान्य बातों को प्राथमिकता प्रदान करें, ऐसी अवस्था में उनके वेद भाष्य के लिये समुचित सहायता वे अकेले ही जुटा देंगे और उन्हें यत्र तत्र आर्थिक अनुदान के लिये भटकना नहीं पड़ेगा, उत्तर में दयानन्द ने किञ्चित् आवेशपूर्वक कहा—क्या आपने मुझे दूकानदार समझ रक्खा है जो धन के प्रलोभन में अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाऊं? दयानन्द के चरित्र की यह ओजस्विता, सिद्धान्तनिष्ठा तथा दृढ़ता अपने आप में अपूर्व थी।

स्वामी दयानन्द ने मूर्तिपूजा के प्रति जो दृष्टिकोण बनाया था, वह कोई कपोल-कल्पित अथवा युक्तिप्रमाणहीन उपपत्ति नहीं थी। इसे पुरातन आर्य शास्त्र ग्रन्थों का पूर्ण समर्थन प्राप्त था तथा पुराकालीन इतिहास ग्रन्थों से भी इसकी पुष्टि हो चुकी थी। रामायण, महाभारत आदि आर्ष काव्यों के सतर्क अनुशीलन ने उन पर यह बात स्पष्ट कर दी थी कि इन ऐतिहासिक काव्यों के राम, कृष्ण आदि आदर्श नायक पुरुषों ने भी निर्गुण निराकार ब्रह्म की ही उपासना की है तथा महाकाव्यों के उस युग में मूर्तिपूजा का सर्वथा प्रचलन नहीं था। इसी विषय को लेकर काशी के एक ब्राह्मण से स्वामीजी का शास्त्रार्थ हुआ। लङ्काकाण्ड के श्लोकार्द्ध—

"अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः"[२७] में जिस 'महादेव' शब्द का प्रयोग हुआ है वहां उसको 'विभु' भी कहा गया है। अतः यह शब्द सर्वव्यापक परमात्मा का ही वाचक है, न कि किसी कैलासवासी महादेव का। इससे यह भी सिद्ध नहीं होता कि महादेव से किसी पत्थर की बनी शिव प्रतिमा अभीष्ट है। यद्यपि पूर्वपक्षी ने बहुत जोर लगाया कि किसी भी प्रकार रामायण के इस श्लोक से शिव की प्रस्तरमयी प्रतिमा का पूजन सिद्ध हो जाये, किन्तु उसे सफलता नहीं मिली।

इसी प्रकार वर्णव्यवस्था को जन्माधारित न मानकर गुणकर्माश्रित मानने के पक्ष में उनके पास प्रौढ़ युक्तियों का भण्डार था। काशी में जब एक दिन वर्णव्यवस्था पर बात चली तो स्वामीजी ने स्वमत की पुष्टि में अनेक प्रमाण देते हुए कहा कि यदि एक ब्राह्मण के दो पुत्रों में से पहला ईसाई और दूसरा मुसलमान हो जाय तो क्या केवल ब्राह्मण के पुत्र होने मात्र से ही अब उन्हें ब्राह्मण कहा जायगा अथवा धर्मपतित इतर मतावलम्बी। निश्चय ही जब उन ब्राह्मण पुत्रों ने स्वधर्म त्याग कर ईसाइयत अथवा इस्लाम को ग्रहण कर लिया, तो जन्म से ब्राह्मण सन्तान होने पर भी अब उन्हें ब्राह्मण कौन कहेगा? इसी दृष्टान्त से सिद्ध हो जाता है कि वर्णव्यवस्था गुण एवं कर्मों पर ही निर्भर है, न कि जन्म पर।

ठीक एक वर्ष पूर्व मई १८७९ में उन पर रोग का जिस प्रकार प्रकोप हुआ था, उससे वे अभी तक पूर्णतया मुक्त नहीं हो सके थे। संग्रहणी की जीर्ण व्याधि ने उन्हें पर्याप्त दुर्बल बना दिया था। अनूपशहर निवासी पं. भगवानवल्लभ वैद्य जब कार्यवश काशी आये, तो महाराज ने उन्हें अपनी नाड़ी दिखाई। वैद्यजी ने जो रोग का निदान किया, वह ठीक ही था। वार्तालाप के प्रसंग में स्वामीजी ने कहा कि अपने जीवन में उन्हें अनेक बार विष दिया गया है, यह रोग भी उसी का फल है। देश, जाति तथा समूची मानवता के हित के लिये समर्पित इस संन्यासी ने न जाने कितनी शारीरिक और मानसिक यातनाएं झेली होंगी, इसका लेखा जोखा कौन करेगा? आश्चर्य तो यह है कि जहां विरोधी लोग सदा उनके प्राण हरण के लिये सचेष्ट रहते थे, वहां शिष्य एवं भृत्य वर्ग भी उनका पूर्ण वफादार कभी नहीं रहा।

स्वामीजी के सहज, सरल तथा निष्कपट व्यक्तित्व का अनुचित लाभ उठाने में ऐसे क्षुद्र व स्वार्थी लोग सदा ही तत्पर रहे। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण तो उस समय मिला जब कि स्वामीजी द्वारा स्थापित फर्रुखाबाद की पाठशाला में अधीतविद्य दिनेशराम, जिसे कि महाराज ने कासगंज की पाठशाला में अध्यापक नियुक्त कर जीविकोपार्जन से भी निश्चिन्त कर दिया था, लोगों से यह कहता फिरता कि स्वामीजी के लेखक रूप में कार्य करते हुए मैं उनके ग्रन्थों में स्वयं उनके ही विरुद्ध बातों को इस प्रकार मिला दूंगा कि प्रलयकाल पर्यन्त किसी को इसका पता भी नहीं चलेगा। निश्चय ही स्वामीजी के ग्रन्थों में क्षुद्रमनस्क लेखकों द्वारा सिद्धान्तविरुद्ध बातें प्रक्षिप्त किये जाने के अनेक प्रमाण मिले हैं। परन्तु जब स्वामीजी को दिनेशराम की इस षड्यंत्रपूर्ण मनोवृत्ति का परिचय मिला, तो उन्होंने उसे लेखक के कार्य से पृथक् कर दिया।

वस्तुतः यह एक विडम्बना ही थी कि दयानन्द को योग्य, निष्ठावान् तथा समर्पित भाव वाले शिष्य एवं कर्मचारी नहीं मिले। जो भी मिला वह क्षुद्र मनोवृत्ति वाला, लोभी तथा

धूर्त निकला। इसका एक कारण भी था और स्वामीजी इससे परिचित भी थे। वे यह जानते थे कि साम्प्रतिक काल का ब्राह्मण वर्ग मृतक श्राद्ध से प्राप्त भोजन करता है, पुराणों की मिथ्याकथाओं को सुना कर जीविकार्जन करता है। भला, जिन लोगों ने धर्म को व्यवसाय का रूप दे रक्खा है, क्या उनसे, अथवा उनकी सन्तान से यह आशा की जा सकती है कि वे दयानन्द प्रतिपादित ओज एवं तेजयुक्त, क्रान्तदर्शी वैदिक शिक्षाओं के प्रचार एवं प्रसार में इस आचार्य का साथ दे सकेंगे? अपने अनुचर वर्ग के इस अवहेलनापूर्ण रुख की तीव्र भर्त्सना करते हुए महाराज ने उन पर यह स्पष्ट कर दिया कि सच्चाई के प्रति उनके मन में लगाव न होने का प्रमुख कारण यही कि जिस अन्न से उनके शरीर पालित एवं पोषित हुए हैं, वह मूर्तिपूजा, श्राद्ध तथा तीर्थ आदि के पाखण्डपूर्ण कृत्यों से उपार्जित है। शुद्ध अन्न के बिना मन की शुद्धता कैसे आयेगी?

हिन्दी के सुख्यात साहित्यकार तथा 'भारतेन्दु' के विरुद से विभूषित बाबू हरिश्चन्द्र वल्लभ सम्प्रदायानुयायी थे। यह हमें स्मरण है कि जब १८६९ में स्वामी दयानन्द ने काशी आकर मूर्तिपूजा को वेदोक्त सिद्ध करने के लिये वाराणसेय पण्डित मण्डल को ललकारा था, उस शास्त्रार्थ में बाबू हरिश्चन्द्र भी दर्शक रूप में उपस्थित थे। उसी समय उन्होंने 'दूषण-मालिका' नामक एक निंदात्मक पुस्तक लिख कर स्वामीजी को अनेक कुवाच्यों से सम्बोधित किया था। परन्तु दस वर्ष के इस अन्तराल में दयानन्द का जो प्रखर समाजसुधारक तथा देश के हितचिन्तन में सर्वतोभावेन अनुरक्त, लोकनेता का व्यक्तित्व निखर कर देशवासियों के समक्ष आया, उसे नकारना भारतेन्दु के लिये भी सम्भव नहीं था। यह भी सत्य है कि दयानन्द सरस्वती के वैचारिक प्रभाव को हरिश्चन्द्र ने चाहे प्रत्यक्षतया स्वीकार न किया हो, किन्तु उनके द्वारा रचित साहित्य में जो पदे पदे रूढ़िमूलक धर्म का विरोध, सम्प्रदायवाद की कटुतम आलोचना तथा सुधारवादी आन्दोलन की मुखर प्रशंसा झलकती है,[२८] वह दयानन्द की विचारधारा का ही परिणाम है।

अब भारतेन्दु हरिश्चन्द्र स्वामीजी के समाजसुधार तथा देशभक्ति के भावों के अनन्य प्रशंसक बन गये।[२९] एक दिन वे महाराज के निकट आये तथा उनकी खण्डनात्मक शैली के औचित्य को जानना चाहा। स्वामीजी ने राष्ट्र के संगठन एवं दृढ़ीकरण को ही अपना लक्ष्य बताया तथा स्पष्ट घोषणा करते हुए कहा कि आब्राह्मणचाण्डाल पर्यन्त समग्र 'आर्यसमाज'[३०] में जातीयता एवं स्वदेश भक्ति का दीप प्रज्वलित करना ही उनके जीवन का ध्येय है। वे जो खण्डन की पद्धति चला रहे हैं, उससे जाति को अपनी दुर्बलताओं को दूर करने में सहायता मिलेगी। यह खण्डन रचनात्मक प्रयोजन के लिये है, न कि जाति की एकता को विच्छिन्न एवं खण्डित करने के लिये।

इस बार के काशी निवासकाल में संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् 'शिवराजविजय' के रचयिता पं. अम्बिकादत्त व्यास से स्वामीजी का शास्त्रार्थ हुआ था। व्यासजी ने 'निजवृत्तान्त' नामक अपनी आत्मकथा में इसका एकांगी तथा आग्रहपूर्ण विवरण दिया है,[३१] जो विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता, क्योंकि दयानन्द जैसा अद्भुत तार्किक तथा वैयाकरण व्यासजी से पराजय स्वीकार कर ले, यह मानना सम्भव नहीं है।[३२]

स्वामीजी का यह काशी प्रवास सुदीर्घ था, साथ ही अन्तिम भी। इसके बाद उन्हें विद्या और धर्म के केन्द्र इस नगर में आने का कभी अवसर नहीं मिला। इस बार वे काशी में लगभग साढ़े पांच मास तक ठहरे। जब वैशाख मास की कृष्णा एकादशी (१९३७ वि.) को उन्होंने इस नगर से प्रस्थान का कार्यक्रम बनाया तो एक बार पुनः विज्ञापन प्रकाशित कर काशीवासियों को शंकासमाधान एवं प्रश्नोत्तर के लिये आहूत किया। परन्तु आश्चर्य है कि विद्या का गर्व करने वाले तथा स्वयं को धर्मधुरीण समझने वालों में से कोई भी महाराज के समक्ष आकर स्वमत को पुष्ट करने का साहस नहीं जुटा सका। परन्तु जब स्वामीजी के प्रस्थान का समय निकट आया और वे रेलवे स्टेशन पर जाने के लिये तैयार हुए तो राजा शिवप्रसाद ने एक छपी हुई प्रश्नावली उनकी सेवा में भेज कर उनसे समाधान का अनुरोध किया। स्वयं राजा साहब न तो संस्कृतज्ञ ही थे, और न उनमें शास्त्रीय प्रश्न पूछने विषयक योग्यता अथवा सामर्थ्य ही था, किन्तु उनकी प्रश्नावली पर स्वामी विशुद्धानन्द के हस्ताक्षर थे, इसीलिये स्वामीजी ने उस ओर ध्यान दिया। उन्होंने राजा साहब को कहलाया कि वे थोड़ी देर में ही रेल द्वारा प्रस्थान करेंगे, अतः यदि उन्हें अपने प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करने हैं, तो वे यथासम्भव शीघ्र आयें और अपनी शंकाओं का समाधान कर लें। राजा साहब प्रत्यक्ष रूप से स्वामीजी से भेंट कर शास्त्रीय वार्तालाप करने में कतराते थे, अतः वे नहीं आये।[३३] उस समय तो स्वामीजी काशी से चले गये, किन्तु थोड़े समय पश्चात् उन्होंने 'भ्रमोच्छेदन'[३४] नामक पुस्तक के द्वारा राजाजी की मन्त्रब्राह्मण संज्ञा विषयक शंकाओं का सटीक उत्तर दे दिया। भ्रमोच्छेदन की रचना स्वामीजी ने फर्रूखाबाद में की थी। इस पुस्तक के प्रकाशन के पश्चात् राजा शिवप्रसाद ने 'द्वितीय निवेदन' के रूप में पुनः अपने मत को सार्वजनिक रूप से व्यक्त किया। इस पर 'अनुभ्रमोच्छेदन'[३५] नामक पुस्तक की रचना फाल्गुन कृष्णा ४, १९३७ वि. को हुई तथा इसे द्वितीय निवेदन के उत्तर रूप में प्रकाशित किया गया।

वैशाख कृष्णा एकादशी, १९३७ वि., ५ मई, बुधवार १८८० को स्वामीजी काशी से चल कर लखनऊ आये। उन्हें महाराना शंकरबख्श की वाटिका में, जो कोठी हिंडोले के नाके पर है, ठहराया गया।[३६] साम्प्रदायिक युग में वेदमंत्रों के अर्थ करने की परिपाटी बदल गई थी। वेदमंत्रों से ऐसी ऐसी बातें सिद्ध की जाने लगी थीं, जिनका वहां उल्लेख मात्र तक नहीं था। इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण भी था। मध्यकाल में वेदविरुद्ध नाना मतों और सम्प्रदायों का उद्भव और विकास तो हुआ, किन्तु वेदों की प्रामाणिकता तथा उनकी सम्मानास्पद स्थिति अक्षुण्ण रही। ऐसी स्थिति में प्रत्येक सम्प्रदाय तथा उसके आचार्य का यह प्रयत्न रहता था कि वह न केवल अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का ही, अपितु अपने बाह्याचारों, कर्मकाण्डों तथा विविध अनुष्ठानों की भी वेदों से पुष्टि करे। रामानुज सम्प्रदाय के अन्तर्गत एक चक्रांकित मत[३७] चला जिसके अनुयायियों ने विष्णु के शंख, चक्र, गदा और पद्म के चिह्नों को शरीर पर गर्म लोहे से अंकित करने को ही मोक्ष का मार्ग समझ लिया था। ऐसे लोग भी अपनी इस क्रिया की पुष्टि में वेद का ही मंत्र प्रस्तुत करते थे।

लखनऊ की ही घटना है। पं. यज्ञदत्त शास्त्री नामक एक पण्डित विष्णुदत्त नामक एक चक्रांकित विद्वान् को लेकर स्वामीजी के निकट आया। पारस्परिक विवाद का मुख्य बिन्दु यही था कि चक्रांकित वैष्णव ऋग्वेद के मंत्र 'अतप्त तनूर्नतदामो अश्नुते'[३८] से यह सिद्ध करना चाहता

था कि वैष्णव चिह्नों को शरीर पर धारण करने का वैदिक आदेश इसी मंत्र में निहित है। स्वामीजी ने तुरन्त ऋग्वेद की पुस्तक मंगा कर प्रासंगिक मंत्र के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा 'तप्त तनू' का अर्थ शरीर को तपाने या जलाने से नहीं है, अपितु, जप, तप, नियम, संयम आदि के द्वारा इन्द्रियों को वश में रखने तथा मन को संयमित रखने से है। उन्होंने यह भी कहा कि चक्रांकितों द्वारा किये गये अर्थ का समर्थन तो सायणाचार्य भी नहीं करता।[३९]

स्वामीजी उस समय भोजन से निवृत्त हुए ही थे। अब वे एक पका तरबूज काट कर सब उपस्थित लोगों में वितीर्ण करने लगे। जब चक्रांकित वैणव को तरबूज देने लगे, तो उसने कहा कि बिना तुलसी पत्र का प्रसाद ग्रहण किये वे कोई वस्तु नहीं खाते। इस पर स्वामीजी ने विनोद भाव से कहा कि तुम्हारा बकरी का स्वभाव नहीं जाता। जब वैष्णव ने तुलसी पत्र की आयुर्वेद सिद्ध उपयोगिता का उल्लेख किया, तो स्वामीजी ने इसे स्वीकार करते हुए कहा कि निश्चय ही तुलसी के पत्ते ज्वरादि में लाभदायक होते हैं, परन्तु सब समय उन्हें चबाते रहना निरी पशुता है। साधारण सी बात को भी बुद्धि तथा विचार की कसौटी पर कसना ही दयानन्द की सहज जीवनमीमांसा थी।

वैशाख अमावस्या रविवार, ९ मई १८८० को लखनऊ में आर्यसमाज की स्थापना हो गई। नगर के विभिन्न स्थानों पर महाराज के व्याख्यान हुए। इनमें से कुछ का विवरण इस प्रकार है—अमीनुद्दौला की कोठी (इमामबाड़ा का चबूतरा-पुराना नार्मल स्कूल) में गोरक्षा तथा सद्धर्म पर दो व्याख्यान हुए। एक व्याख्यान सआदतगंज में लाला कन्हैयालाल के ठाकुर-द्वारे में हुआ तथा एक अन्य अहियागंज में लाला रुघनलाल जैन की कोठी में। स्वामीजी ने यह नियम बना रक्खा था कि जिस व्यक्ति के स्थान या निवास पर व्याख्यान देते, उसके मत-सम्प्रदाय के विषय में यदि कुछ आलोचनीय होता, तो वे उसकी चर्चा किये बिना नहीं रहते। यहां भी उन्होंने जैन मत की यथार्थ समीक्षा की।

एक दिन लखनऊ आर्यसमाज के सक्रिय सभासद् पं. रामाधार वाजपेयी[४०] ने महाराज से प्रश्न पूछा कि आप देश तथा जाति के उत्थान हेतु महान् प्रयत्न एवं पुरुषार्थ कर रहे हैं, परन्तु इसका परिणाम तो स्वल्प मात्रा में ही दृष्टिगोचर हो रहा है। स्वामीजी ने उत्तर में स्पष्ट किया कि सुधार कार्य की गति तो सदा से धीमी ही रही है। पुनः उन्होंने ब्रह्मसमाज का उदाहरण देकर स्पष्ट किया कि जिस प्रकार आर्य जाति के मूल प्रवाह से हट कर ब्राह्म लोग अपने को पृथक् कर बैठे हैं, वैसा करना उनका अभीष्ट नहीं है। वे तो बृहत्तर आर्यसमाज के एक घटक बन कर ही सुधार तथा संशोधन के मार्ग को अपनाना चाहते थे।

देशवासियों की दीनता, हीनता तथा पराधीनता ने इस संन्यासी को सदा ही पीड़ित एवं व्याकुल किया था। लखनऊ में जब एक दिन वे अपना व्याख्यान समाप्त कर निवास स्थान की ओर जा रहे थे, तो एक जराजीर्ण वृद्धा ने करुण स्वर में उन्हें कहा—बाबाजी मैं भूखी हूँ। मुझे कुछ अन्न दिला दें। महाराज ने भक्तों को कह कर कुछ पैसे तो दिला दिये, किन्तु दरिद्रता की प्रतिमूर्ति इस बुढ़िया की करुणार्द्र झलक उनके स्मृति पथ से ओझल नहीं हो सकी। सहसा ही उनके मुख से निकल पड़ा—बेचारी वृद्धा को क्या पता कि वह जिससे याचना कर रही है, वह तो स्वयं भी एक अकिञ्चन भिक्षुक ही है।

लगभग दो सप्ताह व्यतीत कर स्वामीजी कानपुर होते हुए वैशाख शुक्ला एकादशी २० मई १८८० गुरुवार को फर्रुखाबाद आये। इस नगर की यह उनकी अन्तिम यात्रा थी। इस बार उनका निवास लाला कालीचरण रामचरण के उद्यान में हुआ। एक मास दस दिन के इस प्रवास में स्वामीजी ने अनेक विषयों पर अतीव रोचक व्याख्यान दिये, जिनका विवरण इस प्रकार है—

२३ मई रविवार—आर्यसमाज मंदिर में धर्म के दस लक्षणों पर।

२४ मई से २८ मई—सेठ माधोलालजी के बाड़े में वर्णाश्रम धर्म, ईश्वर का स्वरूप, वेद ईश्वरोक्त हैं, बालविवाह से हानियां तथा नित्यकर्म विषय पर पांच व्याख्यान हुए।

२९ मई—स्वामीजी निकटवर्ती फतहगढ़ कस्बे में गये, जहां मुंशी गौरीलाल वकील के निवास पर आर्यसमाज विषयक व्याख्यान हुआ। इसी दिन यहां आर्यसमाज भी स्थापित हो गया।

३० मई रविवार—आर्यसमाज फर्रुखाबाद में 'यज्ञ के लाभ' विषय पर स्वामीजी की वक्तृता हुई।

५ जून शनिवार—फतहगढ़ में योग पर व्याख्यान हुआ। श्रोताओं में जिलाधिकारी स्कॉट साहब तथा संयुक्त जिलाधीश डानिस्टन भी मौजूद थे। व्याख्यान के प्रसंग में स्वामीजी ने अणिमादि योग जन्य विभूतियों की रोचक व्याख्या की। जब जॉइन्ट मैजिस्ट्रेट डानिस्टन ने व्याख्यान के अन्त में महाराज से पूछा कि क्या वे भी योगसाधना कर उससे इच्छित लाभ प्राप्त कर सकते हैं, उत्तर में स्वामीजी ने यूरोपीय लोगों के मांसाहार की ओर स्पष्ट संकेत करते हुए कहा कि सात्विक भोजन के बिना योग की सिद्धि नहीं होती। फर्रुखाबाद जिले का मुख्यालय फतहगढ़ ही था, इसलिये यहां का रहने वाला सुशिक्षित वकीलवर्ग, सरकारी अधिकारी आदि बड़ी संख्या में महाराज के व्याख्यानों में उपस्थित होते।

६ जून रविवार—आर्यसमाज फर्रुखाबाद में यजुर्वेद वर्णित देवताओं के प्रकरण[४१] को आधार बना कर व्याख्यान दिया।

१३ जून रविवार—'सृष्टिक्रम ग्राह्य तथा तद्विरुद्ध अग्राह्य है।' इस विषय पर एक रोचक व्याख्यान आर्यसमाज फर्रुखाबाद में दिया। इसमें शिव, पार्वती, गणेश आदि के पौराणिक उपाख्यानों की असंगत बातों की आलोचना करते हुए यह संकेत दिया कि तत् तत् नाम धारी व्यक्तियों का ऐतिहासिक अस्तित्व तो रहा ही होगा। कालान्तर में इन्हीं के साथ अनेक चमत्कारपूर्ण कथानक जोड़कर उन्हें आराध्य और उपास्य देवों की कोटि में परिगणित कर लिया गया। उस समय श्रोतृमण्डली में आर्यसमाज फर्रुखाबाद के सदस्य और कालान्तर में आर्यसमाज फर्रुखाबाद के मुखपत्र भारत सुदशाप्रवर्त्तक[५२] के यशस्वी सम्पादक श्री गणेश-प्रसाद शर्मा[४३] भी उपस्थित थे। उन्हें ही लक्षित कर पौराणिक गणेश की गाथा को कल्पित बताते हुए महाराज ने कहा—देखो, जो पुरुष आप लोगों के सम्मुख खड़ा है उसका नाम गणेश है। परन्तु इसके सूंड नहीं, न यह व्यापक ईश्वर है और न अजन्मा। इस प्रकार के नाम लोक में साधारण मनुष्यों के भी होते हैं।

२० जून रविवार—'मुक्ति' विषय पर महाराज का अपूर्व व्याख्यान हुआ। मुक्ति से पुनरावृत्ति के प्रसंग को उठाकर उन्होंने कहा कि अब तक वे इस विषय पर सतत विचार करते रहे हैं कि क्या आत्यन्तिक मोक्ष भी सम्भव है? 'न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तत-इति'[४४] जैसे उपनिषद् वाक्य यही कहते हैं किन्तु सांख्य दर्शन के **इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः**[४५] सूत्र पर विचार करने से ज्ञात होता है कि अत्यन्त मोक्ष नहीं होता। मुण्डकोपनिषद् की श्रुति[४६] भी इसी तथ्य की पुष्टि करती है तथा युक्ति एवं तर्क से भी मोक्ष से पुनरागमन सिद्ध होता है।

२७ जून रविवार—सायंकाल आर्यसमाज फर्रुखाबाद में स्वामीजी का अन्तिम व्याख्यान वेद विद्या पर हुआ। इसमें वेद विषयक सभी आलोचनीय विषयों की चर्चा करते हुए वेद के सत्यार्थ को प्रकाशित करने हेतु शुद्ध वेदभाष्य के लेखन व प्रकाशन की आवश्यकता पर बल दिया। व्याख्यान की समाप्ति पर मुंशी हरनारायण ने प्रस्ताव किया कि वेदभाष्य लेखन का जो महत् कार्य स्वामीजी कर रहे हैं, उनकी उपयोगिता निर्विवाद है। उन्होंने पं. बाल शास्त्री के एक वचन को उद्धृत करते हुए कहा—शास्त्रीजी ने स्वयं स्वीकार किया है कि जितेन्द्रिय संन्यासी होने के कारण स्वामीजी ही वेदभाष्य करने के उपयुक्त अधिकारी हैं। उन्होंने यह भी कहा कि महाराज की अवस्था ५६ वर्ष की हो गई है। उपयुक्त लेखकों के अभाव में यह कार्य मंथर गति से चल रहा है। कार्य को तीव्र करने के लिये वेदभाष्य प्रकाशन फण्ड में वृद्धि की जानी चाहिए। अपील की अनुकूल प्रतिक्रिया हुई और बाबू दुर्गाप्रसाद रईस ने ५०० रु. की राशि वेदभाष्य हेतु प्रदान की। अन्य लोगों ने मुक्तहस्त से भाष्यनिधि में अपना योगदान दिया तथा कई लोग भाष्य के ग्राहक भी बने।[४७]

फर्रुखाबाद के इस निवासकाल में स्वामी दयानन्द के मोहक व्यक्तित्व को निकट से देखने तथा उनकी विचारोत्तेजक तथा जन भावनाओं को स्फूर्त करने में समर्थ वक्तृताओं को सुनने वाले पं. गणेशप्रसाद शर्मा ने महाराज के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा था, वह यहां दे देना अप्रासंगिक नहीं होगा—"स्वामीजी का रंग गोरा था, शरीर सुडौल और भरा हुआ था, वार्तालाप में नम्रता थी। वे अपने ज्ञान से जो कुछ कहते थे, उसमें सत्य की मात्रा का उल्लंघन न होने का बहुत ध्यान रखते थे। .....स्वामीजी शान्तिप्रिय थे, उनके पास जाकर मनुष्य को शान्ति मिलती थी। मूर्ति सौम्य, कृपामयी झलकती थी। पर शास्त्रार्थ में एक अद्भुत तेज उनके मुखमण्डल पर दमकता था। विपक्षी का हृदय धाराप्रवाह वक्तृत्व से दहलने लगता था। जो कुछ उच्चारण करते मानो अभी रट कर लाये हों, जिस प्रकार परिश्रमी शिष्य अपने गुरु को पाठ सुनाता है।.....हमने कोई नोट उनके व्याख्यान के समय नहीं देखा, एक लंगोटी और तहमल अथवा कभी कभी उपर्ने के सिवा (उसे भी उतार डालते थे) अन्य वस्त्रों की आवश्यकता न थी। आरम्भ में वे 'स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः'[४८] इस मंत्र को पढ़ कर ईश्वर की स्तुति प्रार्थना करते थे। उस समय उनके चन्द्रानन पर शान्ति विराजती थी, समस्त सभाभवन शान्त मूर्ति बन जाता था। उनका मुखारविंद मुनिमनरंजन जैसा परम मनोहर लगता था"[४९] स्वामीजी की व्याख्यान कला के सम्बन्ध में उक्त लेखक ने लिखा—

"स्वामीजी का ईश्वर विषयक व्याख्यान पाण्डित्यपूर्ण, उच्च कोटि का होता था। बहुधा आरम्भ में वे यजुर्वेद के ४० वें अध्याय का 'सपर्यगाच्छुक्रमकायम्' मंत्र सस्वर पढ़ते थे। इसके पाठमात्र से सभास्थ जन एकाग्रचित्त होकर निस्तब्ध भाव धारण करते थे। उस काल श्रोताओं को एक अपूर्व आनन्द प्राप्त होता था। मंत्र के अर्थ कहने पर उनके हृदय सागर में आमोद की तरंगें उठने लगती थीं। ..... स्वामीजी ने धर्म विषयक व्याख्यान देते समय कई वेद मंत्र पढ़े थे। 'संगच्छध्वं' (ऋग्वेद १०) मंत्र की व्याख्या करते हुए कहा था—जो पक्षपातरहित, न्याय, सत्याचरण से युक्त है वही धर्म है। तुम लोग उसी को ग्रहण करो और परस्पर संगठन रक्खो।"[५०]

स्वामी दयानन्द यह तो जानते थे कि देश और जाति में नवजागरण रूपी जिस महावृक्ष का बीजारोपण वे कर रहे हैं, उसके मधुर फलों को खाने का अवसर शायद उन्हें न मिल सके, किन्तु अपने दृढ़ आत्मविश्वास तथा आशावाद के कारण वे भविष्यद्रष्टा की भांति यह कहा करते थे—**"मैं जो कुछ वैदिक धर्मोपदेश कर चुका हूँ अथवा करूंगा उसका प्रायोगिक सुख अपने जीवनकाल में न देख सकूंगा। जो धर्म का बीज बोया गया है उसका अंकुर तो मेरे सम्मुख ही निकल आया है, वही भविष्य में वृक्ष रूप में फल लायगा।"**[५१]

इस बार के फर्रूखाबाद निवासकाल में स्थानीय सनातन धर्म सभा से शास्त्रार्थ कराये जाने के सम्बन्ध में कुछ चर्चा चली, परन्तु नियमों पर सहमति न होने के कारण शास्त्रार्थ नहीं हो सका। एक भारतीय ईसाई पादरी हरप्रसाद ने ७ जून १८८० को एक उर्दू पत्र स्वामीजी की सेवा में भेजा तथा उनसे शास्त्रार्थ करने की इच्छा व्यक्त की। उस समय स्वामीजी की पौराणिक समुदाय से शास्त्रार्थ विषयक चर्चा चल रही थी, अतः यह निश्चय किया गया कि प्रथम सनातनी वर्ग से शास्त्रार्थ हो चुके, तत्पश्चात् पादरी महाशय से भी धर्मचर्चा कर ली जायगी। साथ ही पादरी हरप्रसाद को यह लिख कर भेज दिया गया कि वे अपने से बड़े पादरी साहब को लेकर आयें तथा स्वामीजी से शंका समाधान कर लें; किन्तु पादरी साहब न स्वयं आये और न बड़े पादरी को ही लाये। स्वामीजी के यहां से चले जाने के पश्चात् पादरी ने १८ जुलाई को उन्हीं को सम्बोधित करते हुए एक पत्र लिखा। इसका उत्तर आर्यसमाज फर्रूखाबाद की ओर से दिया गया। इसके बाद दोनों पक्षों की ओर से कुछ और पत्र व्यवहार हुआ।[५२]

साम्प्रदायिक आग्रह से ग्रस्त लोग स्वामीजी से उन्मुक्त भाव से धर्मचर्चा करने में सकुचाते थे, क्योंकि उन्हें अपने पक्ष के पराजय का भय रहता था, किन्तु सब प्रकार के मताग्रहों से मुक्त व्यक्ति को स्वामीजी से धर्मालाप करने में संकोच नहीं होता था। पं. ललिताप्रसाद भट्टाचार्य के शिष्य नारायण शास्त्री एक ऐसे ही जिज्ञासु वृत्ति के पुरुष थे। लाला जगन्नाथप्रसाद के अनुरोध पर उन्होंने दो दिन तक यज्ञ में पशुहिंसा तथा 'मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनाम-धेयम्'[५३] इन दो विषयों पर महाराज से उन्मुक्त चर्चा की। प्रथम दिन यज्ञ में पशुहिंसा का विषय उपस्थापित करते हुए शास्त्रीजी ने 'यथामांसं यथासुरा यथाक्षा अधिदेवने। यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः'[५४] मंत्र को स्वपक्ष की पुष्टि में प्रस्तुत किया। स्वामीजी ने मंत्रार्थ को

स्पष्ट करते हुए कहा कि इससे यज्ञार्थ हिंसा या मांसभक्षण की पुष्टि नहीं होती। इसी प्रसंग में जब पूर्वमीमांसा के 'आग्नेयं पशुमालभते' तथा 'प्राजापत्यान् पशुमालभते' आदि सूत्रों की चर्चा चली, तो स्वामीजी ने 'आलभन' का अर्थ स्पष्ट कर बताया कि इसका हिंसा-परक अर्थ करना भूल है। 'आलभन' से पाना और दान करना अर्थ भी व्यक्त होते हैं।

दूसरे दिन का विचार ब्राह्मण ग्रन्थों की मंत्र संज्ञा से सम्बन्धित था। इस प्रसंग में कात्यायन के उस प्रसिद्ध सूत्र की चर्चा हुई जिसमें मंत्र और ब्राह्मणों की समान 'वेद' संज्ञा की गई है।[५५] इस प्रसंग में महाराज ने अनेक शास्त्रीय प्रमाण प्रस्तुत कर मंत्र संहिताओं से ब्राह्मणों का पार्थक्य सिद्ध किया। दोनों दिनों के इस प्रौढ़ विवेचन तथा स्वामीजी के अपार शास्त्र वैदुष्य से प्रभावित होकर पं. नारायण शास्त्री को कहना पड़ा—"हम तो जानते थे कि स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती को ही मीमांसा शास्त्र में अद्वितीयता प्राप्त है, परन्तु आज जब बालब्रह्मचारी स्वामी दयानन्दजी की मीमांसा में प्रगल्भता ज्ञात हुई, तो अब मेरा विचार इनकी शास्त्रज्ञता पर अटल हो गया।"[५६]

फर्रुखाबाद के इतिहास के लेखक ने कतिपय ऐसे प्रसंग वर्णित किये हैं जिनसे स्वामी दयानन्द की सहज मानवीयता, उनकी उदारवृत्ति तथा आत्मीयजनों के प्रति उनका असीम स्नेहभाव व्यक्त होता है। स्वामीजी के समकालीन होने के कारण उन्होंने इन प्रसंगों को अधिकाधिक यथार्थता तथा स्वाभाविकता के साथ प्रस्तुत किया है। वर्णाश्रम सम्बन्धी सामान्य मर्यादाओं के ऊपर होने पर भी स्वामीजी अतिथिसत्कार आदि सामाजिक आदर्शों का पूरा पूरा ध्यान रखते थे। एक दिन पं. गणेशप्रसाद शर्मा सामाजिक कार्यों में दिन भर व्यस्त रहे तथा रात्रि के नौ बजे तक उन्हें महाराज की सेवा में रहना पड़ा। उस समय श्री महाराज ने दयार्द्र हृदय से पूछा "तुम भोजन करके नहीं आये। काम पूरा करके जाना चाहते हो, इसलिये कुछ फल व मिठाई खाकर काम करो।" शर्माजी ने विनम्रभाव से उत्तर में कहा कि उनके जैसे परोपकारी महात्माओं की सेवा करना वे अपना धर्म समझते हैं तथा संन्यासी का दिया भोजन ग्रहण करना क्या मर्यादा के प्रतिकूल नहीं होगा ? आप जैसे विरक्त पुरुषों की सेवा हम गृहस्थों को करनी चाहिए न कि हम आपसे करायें। इस पर स्वामी महाराज ने स्नेहसिक्त स्वर के कहा—"इस खाद्य सामग्री में मेरा अपना क्या है ? सब तुम गृहस्थ लोगों के घर से आई हुई है। सम्प्रति भोज्यपदार्थ मेरी आवश्यकता से अधिक हैं। इस कारण तुमको कुछ संकोच न करना चाहिए। पर्णकुटियों में बैठे हुए वनस्थ साधुओं का भी रामचन्द्रादिकों ने भी अपने वनवास में स्वागत स्वीकार किया था। उनके दिये हुए कंदमूल फलादि को राज्यश्री प्राप्त राजे तक ग्रहण करते थे।" ऐसा कह कर स्वामीजी ने ब्रह्मचारी रामानन्द को आम, खरबूजा तथा बर्फी लाने के लिये कहा, जो उन्होंने शर्माजी को दिये।[५७]

आषाढ़ कृष्णा नवमी, १९३७ वि., १ जुलाई १८८० गुरुवार को स्वामीजी मैनपुरी पहुँचे और करमल दरवाजे के बाहर थानसिंह लोहिया के उद्यान में ठहरे।[५८] ३ जुलाई से उनके व्याख्यान सराय रिकटगंज (वर्तमान में सराय मोतीगंज) में आरम्भ हुए। प्रथम व्याख्यान ईश्वरसिद्धि पर हुआ। लगभग एक सहस्र व्यक्ति महाराज की वक्तृता सुनने आये

थे। ४ जुलाई को वेदोत्पत्ति पर प्रवचन हुआ और अन्तिम व्याख्यान ५ जुलाई को 'वेद सम्मत धर्म तथा तद्विरुद्ध मत सम्प्रदाय' विषय पर हुआ।[५६] मैनपुरी में उनका निवास केवल पाच दिन ही रहा। इसी नगर की घटना है। एक दिन स्वामीजी जब व्याख्यान हेतु चौकी पर विराजमान थे, तो कुछ व्यक्ति जो समय से पूर्व पहुंच कर उनके दर्शन करने के इच्छुक थे, उनके समीप पहुंचे। उन्होंने देखा कि एक हृष्टपुष्ट, स्वस्थ, विशालकाय संन्यासी चौकी पर बैठे हैं। उनका अनुमान था कि दयानन्द नामक जो संन्यासी यहां आया हुआ है वह दुबला पतला व्यक्ति होगा। आगन्तुकों ने स्वयं स्वामीजी से ही प्रश्न किया—कहिए महाराज, स्वामी जी कहां मिलेंगे? स्वामीजी ने उत्तर में पूछा कि क्या वे दयानन्द से मिलना चाहते हैं? 'हां' में उत्तर मिलने पर स्वामीजी ने किञ्चित् स्मितपूर्वक उन्हें अपना अभिप्राय कहने के लिये कहा। यह जानकर कि जिस महापुरुष के दर्शन करने वे लोग आये हैं, वे ही दयानन्द सरस्वती हैं, दर्शनार्थी नतमस्तक हो गये। इन व्यक्तियों में से एक श्री खूबचंद चतुर्वेदी यावज्जीवन महाराज की भव्य आकृति, विशाल काया तथा असीम ओज को स्मरण कर भाव-विभोर हो जाया करते थे।

मैनपुरी के इन प्रवचनों में अंग्रेज जिलाधीश तथा मुसलमान सिविल जज नियम पूर्वक उपस्थित होते थे। मिर्जा अहमद अली बेग, जो उस समय इस जिले के सिविल जज थे, स्वामीजी के निकट आये। वे १२ प्रश्नों की एक सूची तैयार करके लाये थे, किन्तु उन्होंने प्रथम प्रश्न ही महाराज के समक्ष प्रस्तुत किया। स्वामीजी ने इस प्रश्न का इतना समाधान-कारक उत्तर दिया कि इसी उत्तर में मिर्जासाहब के अवशिष्ट प्रश्नों का उत्तर स्वतः ही आ गया। कहते हैं कि एक व्यक्ति ने 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्' इस विष्णु देवताक मंत्र का अर्थ पूछा तो स्वामीजी ने प्रस्तुत मंत्र से विष्णु नामक परमात्मा की पृथ्वी, तथा अन्तरिक्ष लोक में व्यापकता सिद्ध की। उन्होंने यह भी बताया कि इस मंत्र का विष्णु के वामनावतार से कोई सम्बन्ध नहीं है।

मैनपुरी से घोड़ागाड़ी में सवार होकर स्वामीजी ने मेरठ के लिये प्रस्थान किया। एक दिन भारोल ठहरकर वे आषाढ़ शुक्ला प्रतिपदा, ८ जुलाई १८८०, गुरुवार को मेरठ पहुंचे।

□□

पाद टिप्पणियां

१. शास्त्रार्थ विषयक नियमों को दृढ़ता से लागू कराने के निश्चय का यह परिणाम स्वाभाविक ही था। इसी कारण मेरठ में सनातन धर्म रक्षिणी सभा तथा शाहजहांपुर में पं. अंगदराम शास्त्री से शास्त्रार्थ होने की नौबत ही नहीं आई।

२. दानापुर में आर्यसमाज स्थापना की भी एक रोचक कहानी है। इस नगर के कतिपय विचारशील पुरुषों ने, जिसमें सर्वश्री जनकधारीलाल, माधोलाल, शिवगुलामप्रसाद, ठाकुरप्रसाद शाह आदि के नाम उल्लेखनीय हैं, १८६४ ई. में धर्म विषयक अनुसंधान तथा पारस्परिक विचार विमर्श के लिये एक विचारसभा गठित की थी। लगभग दो वर्ष पश्चात् जब इन लोगों ने मुन्शी कन्हैयालाल अलखधारी के ग्रन्थों को पढ़ा तो उनके विचारों से प्रभावित होकर उन्होंने अपनी गोष्ठी का नाम 'हिन्दू सत्य सभा' रख लिया। कुछ ब्रह्मसमाजियों का सहयोग भी इन्हें प्राप्त था। १८७५ की बात है। उस समय सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण बनारस में मुन्शी हरिवंशलाल के स्टार प्रेस में छप रहा था। इस प्रेस के एक कम्पोजीटर छेदीलाल ने दानापुरवासी जनकधारीलाल को उनके बनारस प्रवास के समय सत्यार्थप्रकाश के कुछ प्रूफ के कागज दिये। इसी व्यक्ति ने उन्हें स्वामी दयानन्द के नाम और कार्य से परिचित कराया। जनकधारीलाल प्रूफ के रद्दी कागजों को दानापुर ले आये और अपने साथियों को सुनाया। इसका प्रभाव हिन्दू सत्य सभा के सभी सदस्यों पर पड़ा। कालान्तर में उन्हें हरिहर क्षेत्र के मेले (कार्तिकी पूर्णिमा को लगने वाला बिहार का प्रसिद्ध मेला) से सत्यार्थप्रकाश की एक प्रति भी मिल गई, जिसे इन लोगों ने आद्योपान्त पढ़ा।

छेदीलाल से ही इन सज्जनों को लाजरस प्रेस काशी में मुद्रित होने वाली ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का ज्ञान हुआ, जिसकी ३ प्रतियां ७ जनवरी १८७८ को इन्होंने बनारस से मंगाई। इसके पश्चात् तो स्वामीजी का पता ज्ञात होने पर (स्वामीजी के भ्रमण तथा उनके निवास आदि की सूचना 'भूमिका' के अंकों के टाइटिल पृष्ठ के अन्त में नियमित रूप से छपती थी) दानापुरवासियों ने महाराज से नियमित पत्र व्यवहार प्रारम्भ कर दिया। अप्रैल १८७८ में ही उन्होंने स्वामीजी के सुझाव और आग्रह पर अपनी सभा का नाम बदल कर आर्यसमाज रख लिया। १ अप्रैल १८७८ को बाबू माधोलाल को लिखे अपने पत्र में महाराज ने यह सुझाव दिया था।

३. बाबू माधोलाल का जन्म एक सामान्य परिवार में हुआ था। इन्होंने काशी में रह कर संस्कृत का अच्छा अध्ययन किया। सुधारवादी विचारों के होने के कारण ये अपनी मित्र मण्डली सहित स्वामीजी की विचारधारा से अत्यधिक प्रभावित हुए। स्वामीजी से इनका विस्तृत पत्र व्यवहार हुआ था। महाराज द्वारा इनको लिखे गये २५ पत्र उपलब्ध हुए हैं। (द्रष्टव्य—ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन) खेद है कि असावधानीवश इन पत्रों की सुरक्षा नहीं हो सकी। [द्रष्टव्य—दानापुर में ऋषि दयानन्द का पदार्पण और प्रभाव—विभुमित्र शास्त्री (लेखक) की भूमिका] इस आर्यसमाज में स्वामी दयानन्द द्वारा प्रयुक्त कुर्सी, आसनी, उनका फोटो

तथा उसका निगेटिव भी मौजूद थे, परन्तु इतिहास संरक्षण की बुद्धि से शून्य अधिकारियों के प्रमादवश ये वस्तुएं नष्ट या लुप्त हो गईं) बाबू माधोलाल आर्यसमाज दानापुर के प्रथम मन्त्री तथा स्वामीजी के अत्यन्त विश्वासपात्र थे। महाराज ने इन्हें परोपकारिणी सभा का सदस्य भी मनोनीत किया था। इनका यज्ञोपवीत संस्कार भी स्वामीजी ने ही कराया था।

४. वार्तालाप के इस प्रसंग में जिलाधीश कार्यालय के मुख्य लिपिक उमाप्रसाद मुखर्जी ने स्वामीजी से कहा बताते हैं कि यद्यपि आपके उपदेश सर्वांश में सत्य ही हैं, किन्तु यदि लोग उन्हें न मानें तो आप क्या करेंगे। उत्तर में महाराज ने कहा कि यदि लोग हमारी बातों को ध्यानपूर्वक सुनेंगे, तो उन पर इन बातों का अवश्यम्भावी प्रभाव पड़ेगा तथा इनकी सत्यता भी वे लोग स्वीकार करेंगे। यह दूसरी बात है कि हठ या प्रलोभनवश वे इन्हें न मानें।

५. १२ अक्टूबर १८७९ को बाबू माधोलाल के नाम कानपुर से लिखे गये अपने पत्र में स्वामीजी ने उनसे ऐसे स्थान पर निवास की व्यवस्था करने को कहा था जो शहर से एक मील दूर हो तथा जहां की आबहवा अच्छी हो। ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन पृ. १६७, द्वितीय संस्करण २०१२ वि.।

६. यह विज्ञापन २ नवम्बर १८७९ को बाबू माधोलाल मन्त्री आर्यसमाज के हस्ताक्षरों से प्रकाशित किया गया था।

७. दानापुर की धर्मसभा ने पं. चतुर्भुज को विशेष रूप से बुलाया था।

८. कुञ्जबिहारी साह के प्रपौत्र श्री ओम्प्रकाश ने पं. विभुमित्र शास्त्री को बताया कि छावनी के लिपिक जानकीप्रसाद ने दीपक बुझाया था। —दानापुर में ऋषि दयानन्द का पदार्पण और प्रभाव, पृ. ४६ की पादटिप्पणी।

९. बाबू जनकधारीलाल दानापुर के प्रतिष्ठित रईस तथा स्वामीजी के श्रद्धालु भक्त थे। हिन्दी, संस्कृत तथा अंग्रेजी का इन्हें अच्छा ज्ञान था। इन्होंने 'सुनीतिसंग्रह' नामक एक सुभाषित संग्रह पुस्तक प्रकाशित कराई थी।

१०. बाबू गुलाबचन्द लाल जमींदार परिवार में जन्मे थे। प्रारम्भ में ये भी हिन्दू सत्यसभा के सदस्य रहे। स्वामीजी को दानापुर आमंत्रित करने वालों में इनका नाम गणनीय है।

११. ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामीजी पाश्चात्य शिष्टाचार से भी अब तक पूर्णतया परिचित हो गये थे।

१२. इसी प्रकार की युक्ति सरणि स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश के ११ वें समुल्लास में आप्त विद्वान् तथा जिज्ञासु के संवाद के रूप में भी प्रस्तुत की है।

१३. वार्तालाप के इसी प्रसंग में हिन्दुओं में प्रचलित मूर्तिपूजा की चर्चा चलने पर स्वामीजी ने जोन्स साहब से यह स्पष्ट कर दिया था कि मूर्तिपूजा का विधान कोई हिन्दुओं का अनिवार्य धर्म नहीं है। परन्तु अज्ञान के कारण यह प्रथा हिन्दुओं में भी उसी प्रकार चल पड़ी है जैसी कि ईसाइयों में भी है, क्योंकि ईसाई लोग भी माता मरियम तथा उसके पुत्र मसीह के चित्र तथा क्रास आदि की पूजा करते ही हैं।

१४. तुलनीय—परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ।

१५. द्रष्टव्य—स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश में प्रारम्भिक वक्तव्य ।

१६. यहां ठहरने की व्यवस्था लाजरस प्रेस के स्वामी लाजरस साहब ने की थी । यह स्थान महमूदगंज के निकट है ।

१७. संस्कृत विज्ञापन के मूल पाठ के लिये द्रष्टव्य—ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृ. १७१-१७२ ।

१८. स्वामीजी के विरोध में भी अनेक विज्ञापन प्रकाशित हुए तथा उन्हें नगर के भिन्न भिन्न स्थानों पर चिपकाया गया । एक विज्ञापन पं. ताराचरण तर्करत्न ने भी प्रकाशित कराया था ।

१९. राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' हिन्दी के जाने माने लेखक तथा गद्यकार माने जाते हैं । ये मूलतः मारवाड़ी ओसवाल जाति के गोखरू गोत्र के थे । इनका जन्म माघ शुक्ला २ १८८० वि. को काशी में हुआ था । १९०२ वि. में इन्होंने 'बनारस अखबार' नामक हिन्दी का एक साप्ताहिक पत्र निकाला । कालान्तर में ये पश्चिमोत्तर प्रदेश (वर्तमान उत्तरप्रदेश) की स्कूलों के निरीक्षक नियुक्त किये गये । इनका हिन्दी गद्य उर्दू-फारसी प्रधान है । राजा साहब ने अनेक पाठ्य पुस्तकें तथा 'इतिहास तिमिर नाशक' नामक इतिहास ग्रन्थ लिखा है । १८७२ ई. में इन्हें अंग्रेजी सरकार ने (सी. एस. आई.) सितारे हिन्द की उपाधि से सत्कृत किया । इनका देहान्त २३ गई १८९५ को काशी में हुआ । यद्यपि राजा साहब का वैदिक शास्त्रों का अध्ययन शून्य मात्र ही था, परन्तु ऐसा लगता है कि स्वामी विशुद्धानन्द के कहने में आकर उन्होंने स्वामीजी से 'मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' जैसे शास्त्रीय विषय पर विवाद छेड़ दिया, जिसके परिणाम-स्वरूप स्वामीजी को 'भ्रमोच्छेदन' पुस्तक लिखनी पड़ी ।

२०. मूल पत्र के लिये देखें—ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृ. १७५ ।

२१. द्रष्टव्य—स्टार बनारस—२७ दिसम्बर १८७९, पायोनियर इलाहाबाद—३० दिसम्बर १८७९, अवध अखबार—६ जनवरी १८८० । इन पत्रों की सम्मतियों को पं. लेखराम रचित जीवन चरित में विस्तारपूर्वक उद्धृत किया गया है ।

२२. प्रारम्भ में इस प्रेस का नाम 'आर्यप्रकाश' यन्त्रालय रक्खा गया था, जिसे बाद में बदल कर 'वैदिक यन्त्रालय' कर दिया गया ।

२३. बाजिशब्देनाश्वो वा गर्दभो मध्यस्थो वेति वावाजिशब्दार्थः—वेदविरुद्धमतखण्डनम् ।

२४. वेदविरुद्धमतखण्डन में स्वामीजी ने आरती, गुंसाई, वैरागी आदि शब्दों की भी इसी प्रकार की मनोरंजक व्युत्पत्तियां लिखी हैं ।

२५. पं. कृष्णराम इच्छाराम ने यह भी कहा था कि इस बार जब स्वामीजी से उनकी बात-चीत हुई तो पता चला कि वे मुक्ति को सान्त, सावधि तथा उससे जीव की संसार में पुनरावृत्ति मानने लगे हैं । इस सम्बन्ध में उन्होंने अधिक विचार करने के पश्चात् ही यह

धारणा बनाई थी। मुक्ति के सावधिक होने तथा उससे पुनरावृत्ति की विवेचना के लिये सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास में विभिन्न युक्तियां तथा प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं।

२६. इस प्रसंग में मिर्जापुर निवासी पं. मोतीराम गौड़ ने, जो स्वामी विशुद्धानन्द के सहपाठी थे, पं. लेखराम को कई मनोरञ्जक बातें बताईं। उनके अनुसार स्वामीजी ने उनसे कहा था कि गुरु भाई होने के नाते उन्हें स्वामी विशुद्धानन्द से यह आग्रह करना चाहिए कि वे सत्य को स्वीकार करें। यदि स्वामी जी के विचारों से उनका कोई मतभेद है, तो उसे शास्त्रार्थ के द्वारा निवारण कर लें। यदि वे (स्वामीजी) यह अनुभव करेंगे कि स्वामी विशुद्धानन्द का पक्ष उचित है तो उसे स्वीकार करने में उन्हें कोई विप्रतिपत्ति नहीं होगी। इसी प्रकार स्वामी विशुद्धानन्द से भी वे अपेक्षा करेंगे कि सत्य सिद्ध होने पर वे उनके (दयानन्द) मत से अपनी सहमति व्यक्त करें।

स्वामी दयानन्द के इस अनुरोध को स्वीकार कर पं. मोतीराम गौड़ स्वामी विशुद्धानन्द के निकट गये। आगे का विवरण उन्हीं के शब्दों में—"स्वामीजी के प्रस्ताव के अनुसार हम विशुद्धानन्द जी के पास गये। कुशल प्रश्न के पश्चात् चर्चा चली कि काशी में इतने विद्वान् हैं परन्तु एक व्यक्ति (दयानन्द) ने आकर सबका मथन कर डाला, कोई उत्तर नहीं देता। इसलिये तुमको उचित है कि उठो और बालशास्त्री के साथ जाकर उनका सामना करो, काशी तुम्हारे साथ है। विशुद्धानन्द हमसे कहने लगे कि उनका (दयानन्द का) संग करने से तुम भी ऐसे ही हो गये हो। हमने कहा कि हमारा संग पहले तो तुम्हारे से है, परन्तु वह (दयानन्द) चूंकि सत्यार्थ कहते हैं इस कारण हमारा विचार बनता है कि वह अवश्य सत्य कहते हैं। तब विशुद्धानन्द ने पूछा तुम कैसे कहते हो कि वह सत्य कहते हैं? हमने कहा कि वे वेदादिक का प्रमाण देते हैं और आप लोग तो आग्रह वश ही अपनी बात पर अड़े हो। फिर किसी आर्ष ग्रन्थ में मूर्तिपूजा का प्रमाण नहीं मिलता। स्वामी विशुद्धानन्द ने कहा—यही तो हमारी कमी है। काशी में इतने विद्वान् हैं, केवल दयानन्द जी से तो वेदार्थ लगता है, परन्तु काशी के विद्वानों से किसी से नहीं लगता—यही कमी है। एक गणेश श्रोत्रिय यहां हैं केवल वही वेदार्थ को जानने वाला है, सो वह भी उनसे मिला हुआ है। (यहां यह ध्यातव्य है कि १८६९ के काशी शास्त्रार्थ में, गणेश श्रोत्रिय स्वामी दयानन्द के प्रतिपक्षी के रूप में उपस्थित थे। विशुद्धानन्द अपने इस बयान में यह स्वीकार करते हैं कि श्रोत्रिय जी के अतिरिक्त काशी में वेदों का और कोई विद्वान् नहीं है, किन्तु उनका यह कथन तो भ्रान्तिपूर्ण ही था कि गणेश श्रोत्रिय भी स्वामी दयानन्द से मिल गये हैं—लेखक) दूसरे वह (स्वामी दयानन्द) शास्त्रार्थ भी वेद विषय पर करते हैं, उसके अर्थ लगाना यहां कोई जानता नहीं। इसलिये उनके साथ शास्त्रार्थ करने को कोई समर्थ नहीं होता।" (स्वामी विशुद्धानन्द यहां स्पष्ट स्वीकार कर लेते हैं कि तत्कालीन काशी में कोई ऐसा विद्वान् नहीं था, जो वेदार्थ का ज्ञाता होने का दावा करता—लेखक)

इस पर पं. मोतीराम ने कहा—"आप भी सरस्वती (दशनामी संन्यासियों की एक उपाधि) हैं और वे (दयानन्द) भी। सो दोनों एक हो जाओ और सत्यधर्म का दृढ़ता

से प्रचार करो।" स्वामी विशुद्धानन्द ने उत्तर में कहा—"सत्य पर आरूढ़ तो हो जावें परन्तु गंगाजी का प्रवाह बह रहा है पूर्व को, ऐसा कोई है नहीं, जो उसको पश्चिम या उत्तर को करदे। जो यह प्रवाह चल गया है सो अब रुक नहीं सकता।" (स्वामी विशुद्धानन्द के कथन से स्पष्ट सिद्ध होता है कि वे यह तो स्वीकार करते हैं कि जो रूढ़ परम्परायें चल पड़ी हैं वे गलत हैं, किन्तु उनकी सम्मति में इस रुढ़िवादिता तथा गातानुगति को समाप्त करना भी कठिन है। दयानन्द के विचार इससे भिन्न थे। उनका कथन था कि गलत परम्पराओं को ज्यों का त्यों स्वीकार करने से कैसे काम चलेगा? परिवर्तन के चक्र को घुमाना तो पुरुषार्थी व्यक्ति का ही काम है—लेखक।) विशुद्धानन्द ने आगे कहा—"और यदि आज हम उसके (परम्परा के) विरुद्ध चलें तो सब मनुष्य हमसे विरोध करने लग जायेंगे।" इस पर पं. मोतीराम ने उनसे पूछा, "जब आप उनके मन्तव्य की सचाई को स्वीकार करते हैं तो व्यर्थ में दयानन्द का विरोध और स्वपक्ष का हठ क्यों करते हैं?" उत्तर में तो स्वामी विशुद्धानन्द ने लोक भय तथा अपनी रोटी के छिन जाने की आशंका को खुले तौर पर प्रकट करते हुए कह ही दिया—"लोग जो भिक्षा देते हैं वह भी साले (विशुद्धानन्द वार्तालाप में प्रायः इस प्रकार के अशिष्ट शब्द कह जाते थे) न देंगे और लोग लांछन अलग लगायेंगे कि स्वामीजी (दयानन्द) के अनुयायी हो गये।"

उपर्युक्त प्रसंग से स्पष्ट हो जाता है कि काशी के महान् पण्डित स्वामी विशुद्धानन्द भी किस प्रकार सांसारिक दुर्बलताओं से ग्रस्त होकर स्वामी दयानन्द का साथ देने में संकोच करते थे। अब पं. मोतीराम ने स्वामी विशुद्धानन्द से हुए सम्पूर्ण वार्तालाप का विवरण स्वामीजी को दिया तो महाराज ने कहा—"वह (विशुद्धानन्द) व्यर्थ भय खाते हैं। संसार विरुद्ध होकर क्या करेगा?" आगे उन्होंने एक सुझाव रक्खा-"यदि उनको ऐसा ही डर है तो हम उनको एक स्थान पर स्थापित करेंगे, वे काशी में बैठ जावें, देश भ्रमण हम करेंगे। वह सत्य पर क्यों नहीं दृढ़ होते?" यह सब तो सुझाव मात्र था। स्वामी दयानन्द भी जानते थे कि लोकमंगल के लिये सर्वस्व त्याग की क्षमता शायद विशुद्धानन्द में है ही नहीं। तब उन्होंने पं. मोतीराम को स्पष्ट कहा कि काशी में यदि कोई साधारण योग्यता का व्यक्ति उनसे प्रश्नोत्तर करेगा, तो वे इसके लिये तत्पर नहीं होंगे क्योंकि वे तो अपना मुख्य प्रतिद्वन्द्वी स्वामी विशुद्धानन्द तथा पं. बालशास्त्री को ही समझते हैं। जब यह बात भी स्वामी विशुद्धानन्द तक पहुंची, तो उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि लोग चाहे कितना ही आग्रह करें या दबाव डालें, वे स्वामी दयानन्द से शास्त्र विचार हरगिज नहीं करेंगे। और इसका कारण बताते हुए उन्होंने कहा—"वह तो अवधूत है, निश्शंक खण्डन करता है हम नहीं कर सकते।" विशुद्धानन्द के इस कथन पर कोई टिप्पणी करना अनावश्यक है।

२७. वाल्मीकीय रामायण लंका काण्ड सर्ग १२३/२२

२८. हरिश्चन्द्र रचित भारतदुर्दशा, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, तथा प्रेमयोगिनी आदि नाटकों में उनका यह पाखण्डविरोधी तथा सुधारमूलक दृष्टिकोण प्रत्यक्षतया

झलकता है। 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' शीर्षक एक निबन्ध में तो उन्होंने स्वामी दयानन्द के प्रगतिशील तथा देशभक्तिपूर्ण विचारों की भरपूर प्रशंसा की है।

२९. काशी नागरीप्रचारिणी सभा के संस्थापकों में से एक पं. रामनारायण मिश्र ने स्व. पं. शंकरदेव विद्यालंकार को बताया था कि इस बार जब स्वामी जी काशी आये तो रेलवे स्टेशन पर उनका स्वागत करने वालों में अन्य लोगों के अतिरिक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बाबू प्रमदादास मित्र तथा प्रसिद्ध दार्शनिक डा. भगवानदास के पिता भी थे—पं. शंकरदेव विद्यालंकार के दि. १५-९-७४ को लिखे गये इन पंक्तियों के लेखक के नाम पत्र के आधार पर।

३०. 'आर्यसमाज' शब्द का यहां प्रयोग भारतवासी बृहत्तर हिन्दू समाज के लिये हुआ है।

३०. निजवृत्तान्त पृ. २७

३२. फाल्गुन शुक्ला एकादशी १९३६ वि. को वैदिक यन्त्रालय काशी से स्वामी दयानन्द की 'संस्कृतवाक्यप्रबोध' शीर्षक संस्कृत शिक्षा विषयक ५२ प्रकरणों की, संवाद शैली में लिखी पुस्तक प्रकाशित हुई थी। पुस्तक के शीघ्रता में तैयार होने, प्रूफ शोधन में असावधानी तथा सर्वोपरि, स्वामीजी के अस्वस्थ चित्त होने के कारण उसको ठीक प्रकार से संशोधित न कर सकने के कारण इस ग्रन्थ में मुद्रण तथा कथ्य विषयक अनेक अशुद्धियां रह गई थीं। काशी की ब्रह्मामृतवर्षिणी सभा के पं. अम्बिकादत्त व्यास ने 'अबोधनिवारण' पुस्तक लिख कर इन अशुद्धियों की आलोचना की। स्वामीजी ने 'एक पण्डित' के नाम से इन आक्षेपों का उत्तर आर्यदर्पण मई १८८० के अंक में दिया। परन्तु वैदिक यन्त्रालय के प्रबन्धक मुन्शी बख्तावरसिंह को लिखे दि. १८ अगस्त १८८० के अपने पत्र में रह जाने वाली वास्तविक अशुद्धियों तथा उसके कारणों का भी संकेत उन्होंने कर दिया।

३३. यह विवरण पं. लेखराम रचित जीवन चरित के आधार पर संकलित किया गया है, परन्तु स्वामीजी के पत्र व्यवहार से यह ज्ञात होता है कि २१ अप्रैल १८८० को अर्थात् काशी से प्रस्थान करने से १४ दिन पूर्व राजा शिवप्रसाद ने एक पत्र भेज कर स्वामीजी से ४ प्रश्न पूछे थे। ये प्रश्न इस प्रकार थे—१. आपका मत क्या है? २. आप वेद किसको मानते हैं? ३. क्या उपनिषदों को वेद नहीं मानते? ४. क्या आप ब्राह्मण पुस्तकों को वेद नहीं मानते? इस पत्र तथा उपर्युक्त चारों प्रश्नों का उत्तर स्वामीजी ने चैत्र शुक्ला १२, सं, १९३७ वि. के पत्र में दिया तथा यह भी लिख दिया कि वे शीघ्र ही पश्चिम की ओर प्रस्थान करने वाले हैं, तथा च पत्र व्यवहार से शास्त्रीय प्रश्नों का वैसा निर्णय नहीं होता जैसा कि पारस्परिक वार्तालाप से हो सकता है। इसके उत्तर में राजा साहब का एक अन्य पत्र स्वामीजी को मिला, जिसका उत्तर महाराज ने वैशाख शुक्ला ७. (१ मई १८८१) को दिया। इसमें उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि चूंकि राजा साहब ने वेदों से लेकर पूर्वमीमांसा पर्यन्त शास्त्रों में से किसी का भी अध्ययन नहीं किया है, अतः वे स्वामी कृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का अभिप्राय ठीक ठीक

कैसे समझ सकते हैं ? साथ ही उन्होंने यह भी लिखा कि यदि वे स्वामी विशुद्धानन्द और पं. बालशास्त्री को मध्यस्थ बना कर बातचीत करें तो निश्चय ही कुछ समझ सकेंगे।

३४. विस्तृत परिचय के लिये द्रष्टव्य—पं. युधिष्ठिर मीमांसक कृत ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास पृ. १२९-१३२

३५. अनुभ्रमोच्छेदन के आगे के संस्करणों पर लेखक के रूप में पं. भीमसेन शर्मा का नाम प्रकाशित होता रहा है। परन्तु ग्रन्थ की रचना शैली के आधार पर पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इसकी रचना स्वामी दयानन्द ने की है। स्वामीजी ने इस रचना पर अपना नाम क्यों नहीं दिया, इसके कारण पर विचार करने के पश्चात् मीमांसकजी लिखते हैं कि यथा स्वामीजी ने यह प्रतिज्ञा की थी कि प्रश्नोत्तर या शास्त्रार्थ विषयक जिस पत्र पर स्वामी विशुद्धानन्द अथवा पं. बालशास्त्री के हस्ताक्षर नहीं होंगे, उसका उत्तर वे नहीं देंगे। यतः राजा शिवप्रसाद द्वारा प्रकाशित द्वितीय निवेदन पर उपर्युक्त में से किसी के हस्ताक्षर नहीं थे, अतः स्वामीजी ने इसके उत्तर में प्रकाशित अनुभ्रमोच्छेदन को खुद के नाम से प्रकाशित नहीं कराया। उत्तर प्रकाशित करना भी आवश्यक था, अन्यथा राजा शिवप्रसाद को भ्रम हो जाता कि उनके आक्षेप निरुत्तर ही रह गये।

३६. पं. घासीराम संगृहीत जीवन चरित (भाग २, पृ. २३६) में स्वामीजी का इस बार के लखनऊ प्रवास में मोती महल में ठहरना लिखा है, जो त्रुटिपूर्ण है। मोतीमहल में तो वे अपने १८७९ ई. के प्रवास में ठहरे थे। द्रष्टव्य—आर्यसमाज गणेशगञ्ज लखनऊ का इतिहास पृ. २, १९०६ ई-में प्रकाशित।

३७. चक्रांकित मत की समीक्षा के लिये द्रष्टव्य—सत्यार्थप्रकाश का एकादश समुल्लास।

३८. पूरा मंत्र इस प्रकार है—

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत ॥ ऋ० ९। ८३। १

३९. सायण ने इस मन्त्र का सोमपरक अर्थ किया है।

४०. वाजपेयी जी आर्यसमाज लखनऊ के प्रारम्भिक सभासदों में से थे। वे इस आर्यसमाज की स्थापना (मई १८८०) से लेकर अप्रैल १८८३ तक उपप्रधान पद पर रहे।

४०. यजुर्वेद अध्याय १४। २०

४२. इस पत्र का प्रकाशन जुलाई १८७९ से आरम्भ हुआ। १९१५ में बन्द हुआ। विशेष जानकारी के लिये द्रष्टव्य—आर्यसमाज के पत्र और पत्रकार—डा. भवानीलाल भारतीय लिखित तथा परोपकारिणी सभा अजमेर से १९८१ ई. में प्रकाशित।

४३. पं. गणेशप्रसाद शर्मा फर्रूखाबाद निवासी औदीच्य ब्राह्मण थे। इनका जन्म १८६० ई. में हुआ था। स्वामीजी के फर्रूखाबाद प्रवास के समय ये उनके सम्पर्क में आये।

इनका हस्तलेख सुन्दर और सुडौल था, इसलिये स्वामीजी इन्हें आशुलिपिक के रूप में अपने पास रखना चाहते थे किन्तु पारिवारिक परिस्थितियों के कारण ये देशाटन में उनके साथ रहने के लिये राजी नहीं हुए। भारतसुदशाप्रवर्तक का सम्पादन करने के अतिरिक्त इन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे। फर्रूखाबाद का इतिहास (१९३१ ई.) लिख कर इन्होंने स्वामीजी के इस नगर में अनेक बार आने के विवरण को विस्तार के साथ निबद्ध किया है जो स्वामी दयानन्द के जीवन चरित के लिये महत्त्वपूर्ण उपादान सामग्री प्रस्तुत करता है। मार्च १९३२ में इनका निधन हुआ।

४४. छान्दोग्य उपनिषद् ८। १५। १

४५. अध्याय १। १६०

४६. ते ब्रह्मलोके ह परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे। मुण्डक ३।२।६

४७. विवरण के लिये द्रष्टव्य—फर्रूखाबाद का इतिहास पृ. १४०

४८. यजुर्वेद २५। १९

४९. फर्रूखाबाद का इतिहास पृ. १४१

५०. वही पृ. १८१-१८२

५०. वही पृ. १८३

५२. वही पृ. १५२-१६८

५३. कात्यायन कृत प्रतिज्ञा परिशिष्ट तथा आपस्तम्बीय यज्ञ परिभाषा सूत्र।

५४. अथर्ववेद काण्ड ६, सूक्त ७० मन्त्र १

५५. सूत्रार्थ के स्पष्टीकरण के लिये देखें—युधिष्ठिर मीमांसक कृत वेदसंज्ञाविचार।

५६. फर्रूखाबाद का इतिहास पृ. १७३

५७. वही, पृ. १७९

५८. कहते हैं कि इस उद्यान के द्वार पर इमली के एक वृक्ष के गिर जाने से मार्ग रुक गया था। स्वामीजी प्रातः शौच एवं वायु सेवनार्थ बाहर जाया करते थे। जब वे निवृत होकर लौटे तो उन्होंने इस टूटे हुए वृक्ष को हटाने के लिये कहा। जब बहुत कुछ कहने पर भी वृक्ष नहीं हटाया गया तो स्वामीजी निकटस्थ कुअे पर पड़े हुए चरस खींचने के रस्से को ले आये और उसे अपनी कमर से बांधा तथा उसका दूसरा सिरा टूटे वृक्ष के तने में बांध दिया। पुनः इस वृक्ष को खींच कर मार्ग से हटा दिया। पं. लेखराम और पं. घासीराम ने स्थान का नाम 'धानसिंह सोहिया का बाग' लिखा है परन्तु मैनपुरी में महर्षि दयानन्द (सार्वदेशिक ९ जनवरी १९७२) शीर्षक मैनपुरी निवासी श्री नरेन्द्र के लेख में इसे लोहिया उद्यान लिखा है। यह घटना भी इसी लेख में उल्लिखित की गई है।

५९. व्याख्यानों के विषयों को लेकर पं. लेखराम ने दो भिन्न भिन्न विवरण दिये हैं। हमारा उल्लेख चौबे हरदयाल के बयान पर आधारित है जो उन्होंने पं. लेखराम को दिया था। परन्तु एक अन्य व्यक्ति पं. तोताराम ने पण्डित जी को बताया कि प्रथम दिन धर्म विषय पर तथा दूसरे दिन ईश्वर विषय पर व्याख्यान हुआ। अन्तिम दिन शंका-समाधान हुआ था।

अतिरिक्त टिप्पणी

स्वामी दयानन्द 'धर्म' शब्द का अत्यन्त व्यापक अर्थों में प्रयोग करते थे। वे न्याय, सत्य तथा मर्यादानुकूल स्वकर्त्तव्याचरण को ही धर्म मानते थे। उनकी दृष्टि से इस प्रकार के धर्माचरण की अपेक्षा प्रत्येक स्तर के व्यक्ति से की जा सकती है। फर्रूखाबाद निवासी बाबू दुर्गाप्रसाद को वे पत्रों में धर्मात्मा रसोइया और कहार भेजने के लिये लिखते हैं। पत्र को पाकर बाबू दुर्गाप्रसाद बड़े हंसे और कहने लगे कि धर्मात्मा रसोइया कहां मिलेगा? परन्तु स्वामीजी के विचारानुसार तो साधारण भृत्य और अनुचर का भी धर्मात्मा होना आवश्यक था। स्वामीजी यदा कदा यह भी कहा करते थे कि मैंने किशोर अवस्था में ही वैराग्य धारण कर लिया, अतः माता पिता की सेवा का तो अवसर ही नहीं मिला। इसी कारण मुझे भी आज्ञाकारी सेवक, अनुचर और भृत्य मिलने में कठिनाई हो रही है।

□□

इस संन्यासी के हृदय में यह प्रबल इच्छा और उत्साह था कि सारे भारतवर्ष में एक शास्त्र प्रतिष्ठित हो, एक देवता पूजित हो, एक जाति संगठित हो और एक भाषा प्रचलित हो। यही नहीं कि उनमें केवल सदिच्छा और उत्साह ही था, वरन् वह इस इच्छा और उत्साह को किसी अंश तक कार्य में परिणत करने में भी कृतकार्य हुए थे। अतएव स्वामी दयानन्द केवल संन्यासी ही नहीं थे, केवल वेद व्याख्याता ही नहीं थे, केवल शास्त्रों के मर्मोद्घाटन करने में ही निपुण नहीं थे, केवल तार्किक ही नहीं थे, केवल दिग्विजयी पण्डित ही नहीं थे, वह भारतीय एकता के स्थापनकर्ता भी थे, भारत की जातीयता (राष्ट्रीयता) के प्रतिष्ठाता भी थे। इसलिये भारत की आचार्य मण्डली में दयानन्द का स्थान विशिष्ट एवं अद्वितीय है।

—देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय

सार्वजनिक जीवन के क्षितिज पर

मेरठ में स्वामीजी का यह आगमन छठी बार का था। उनके निवास की व्यवस्था आर्यसमाज मेरठ के उपमन्त्री लाला रामशरणदास की छावनी स्थित कोठी पर की गई। इसी स्थान पर उनके प्रति सप्ताह दो व्याख्यान होते रहे। जिन विषयों पर ये व्याख्यान हुए उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—विद्या का महत्त्व और उसकी प्राप्ति, धर्म का वास्तविक स्वरूप, ईश्वर और माया का वास्तविक स्वरूप, वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं, मुक्ति के साधन, वेदान्त दर्शन के मूल सिद्धान्त, नास्तिकों की युक्तियों का खण्डन, पापपुण्य की समस्या आदि।

आर्यसमाज मेरठ की स्थापना २ वर्ष पूर्व १८७८ में हो चुकी थी। इस समय यह आर्यसमाज एक कन्या पाठशाला भी चला रही थी। इस पाठशाला के लिये एक सुयोग्य, सुपठित अध्यापिका की आवश्यकता थी। इसी बीच स्वामी दयानन्द को एक दाक्षिणात्य विदुषी ब्राह्मण कन्या पण्डिता रमाबाई[1] का पता चला। वह उस समय कलकत्ता में थी। रमाबाई से विधिवत् पत्र व्यवहार किया गया,[2] फलस्वरूप वह मेरठ आ गई। बाबू छेदीलाल गुमाश्ते के घर पर रमाबाई के निवास की व्यवस्था कर दी गई। रमाबाई के माता पिता दोनों संस्कृतज्ञ थे और उन्होंने अपनी पुत्री को भी संस्कृत की शिक्षा दी थी। मेरठ में रमाबाई के साथ दो नौकर भी आये थे जिनमें एक पुरुष तथा दूसरी महिला थी। कुछ समय पश्चात् कलकत्ता का एक कायस्थ विपिनबिहारी एम. ए., बी. एल. भी मेरठ आया जो रमाबाई का परिचित मित्र था। यह भी उसी के साथ ठहरा।

मेरठ में रमाबाई के चार पांच व्याख्यान हुए। एक तो बाबू छेदीलाल के घर पर ही हुआ, जहां वे ठहरी थीं। अवशिष्ट व्याख्यान आर्यसमाज में हुए। स्वामीजी स्वयं उसके व्याख्यानों में कभी नहीं गये। पं. ज्वालादत्त, जो इन व्याख्यानों में उपस्थित रहते थे, इन व्याख्यानों का सार संक्षेप स्वामीजी को बाद में सुना देते। रमाबाई की संस्कृत में असाधारण गति थी और उसने व्याकरण, काव्य तथा रामायण, महाभारत आदि का अच्छा अभ्यास कर रक्खा था।[3] यद्यपि स्वामी दयानन्द ने किसी नारी को शिष्य बना कर विधिवत् कभी नहीं पढ़ाया था और वे संन्यासाश्रम की प्रचलित मर्यादा के अनुसार ऐसा करना अनुचित भी समझते थे, तथापि रमाबाई में विद्या के प्रति स्वाभाविक रुचि तथा इस आशा के साथ कि शास्त्रज्ञ बन कर यह देवी भारतीय महिला वर्ग की उन्नति में अपना योगदान कर सकती है,[4] उन्होंने रमाबाई को न्याय और वैशेषिक के कुछ सूत्र पढ़ाये। जिस समय महाराज रमाबाई को पढ़ाते, उस समय उनके शिष्य पं. भीमसेन, पं. ज्वालादत्त तथा आर्यसमाज मेरठ के सदस्य पं. पालीराम और बाबू ज्योतिस्वरूप उपस्थित रहते।

स्वामीजी का रमाबाई को प्रोत्साहन करना सहेतुक था। उनका हार्दिक विश्वास था कि रमाबाई यदि भारत के नारी वर्ग में शिक्षा, सुसंस्कार तथा धर्मप्रचार का व्रत ले सके, तो निश्चय ही शताब्दियों से अज्ञान, अविद्या, अंधविश्वास तथा रूढ़ियों की शृंखलाओं

में जकड़ी भारत की नारी उत्थान की दिशा में अग्रसर हो सकेगी। अतः उन्होंने रमाबाई को वैदिक धर्म की उपदेशिका बन कर स्त्रीवर्ग के जागरण का महान् कार्य सौंपना चाहा। परन्तु रमाबाई के चरित्र में वैसी दृढ़ता नहीं थी, जिसको सम्बल बना कर वह महिला-जागरण का शंखनाद करने में सफल होती।[५] जो बंगाली कायस्थ मेरठ में उसके पास आकर रहने लगा था, रमा उसी से विवाह करना चाहती थी। स्वामीजी के निकट आकर रहने में तथा उनका सम्पर्क प्राप्त करने में उसका प्रयोजन तो इतना ही था कि गुणकर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था मानने वाले स्वामी दयानन्द उसके इस कार्य की अनुशंसा कर दें। जब स्वामीजी को रमाबाई के हार्द का पता चला तो उन्होंने उसे स्पष्ट कह दिया कि अपने सामने बिठा कर अब तक वे उसे इसी आशा से पढ़ाते रहे थे कि पूर्ण शास्त्रज्ञ होकर वह देश के नारी वर्ग से भी शिक्षित बनाने का व्रत लेगी। अब जब कि वह विवाहिता नारी के रूप में अपना भावी जीवन बिताना चाहती है, तो उसकी इच्छा। इसी बीच उन्हें रमा तथा विपिनबिहारी के सम्बन्धों का भी पता चला।[६] यह सब जान कर महाराज इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि रमा बाई उनके द्वारा निर्दिष्ट पथ पर चलने के लिये तत्पर नहीं है। ऐसी स्थिति में उन्होंने यही उचित समझा कि उसे ससम्मान विदा कर दिया जाय। आर्यसमाज मेरठ के तत्त्वावधान में एक विदाई समारोह आयोजित किया गया। इसमें बोलते हुए पं. पालीराम ने रमाबाई से स्वामी दयानन्द निर्दिष्ट आदर्शों को अपनाने की प्रेरणा की। अपने सम्मान का उत्तर देते हुए रमा ने स्वामीजी की भूरि भूरि प्रशंसा की, विद्या में उन्हें बृहस्पति तुल्य बताया, किन्तु यह भी स्पष्ट कर दिया कि देश में यत्र तत्र घूम कर धर्म प्रचार करना उसके लिये शक्य नहीं है। आर्यसमाज की ओर से रमाबाई को १२५ रु. तथा कपड़े का एक थान भेंट रूप में दिया गया। स्वामीजी ने स्वलिखित ग्रन्थों का एक सैट भी दिया।

रमाबाई के जीवन की यह विडम्बना ही थी कि संस्कृत शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन कर लेने के पश्चात् भी वह स्वामी दयानन्द द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलने में असमर्थ रही। कालान्तर में उसने उसी विपिनबिहारी से विवाह कर लिया, जो मेरठ में उसके साथ था। परन्तु दुर्भाग्य की मारी रमाबाई विवाह के दो वर्ष पश्चात् ही विधवा हो गई। उस समय उसकी गोद में एक बालिका थी। १८८३ में वह इंग्लैण्ड गई और इसी वर्ष के अन्त में उसने ईसाई मत ग्रहण कर लिया। कालान्तर में उसने पुणे में शारदा सदन नामक एक विधवाश्रम स्थापित किया। इस संस्था के माध्यम से जहाँ उसने सामाजिक अत्याचारों से त्रस्त, पीड़ित और अनाथ महिलाओं को संरक्षण दिया, वहाँ बहुसंख्यक हिन्दू नारियों को ईसाई मत में प्रविष्ट कराने में भी कोई कसर नहीं रक्खी।

यह सत्य है कि पण्डिता रमाबाई, स्वामीजी द्वारा निर्दिष्ट देशोत्थान तथा नारी वर्ग के सुधार के उच्च लक्ष्य को पूरा करने में असमर्थ रही, किन्तु स्वामी दयानन्द के व्यक्तित्व के प्रति उसकी धारणा अत्यन्त सम्मानास्पद ही रही। देवेन्द्र बाबू को लिखे अपने १३ नवम्बर १९०३ के पत्र में रमाबाई ने श्री महाराज के सम्बन्ध में निम्न उद्गार व्यक्त किये—"वह सर्वभावेन दयास्वरूप थे। वह प्रांशु विशाल दर्शन भद्रपुरुष थे। उनका मेरे साथ व्यवहार कृपापूर्ण और पितृतुल्य था। वह शुद्ध भाषा प्रभावोत्पादक स्वर में बोलते थे।

वह कभी हिन्दी और कभी संस्कृत में बातें किया करते थे।.....छहों दर्शनों में से वे वैशेषिक दर्शन को सबसे अधिक पसन्द करते थे। उनकी शिक्षा अद्वैत वेदान्त से भिन्न थी और उस समय मैं केवल एक इसी बात में उनसे सहमत थी।" उसने स्वामीजी की इस बात के लिये भी प्रशंसा की है कि उन्होंने स्त्री और शूद्र वर्ग को भी वेद के अध्ययन का अधिकारी घोषित किया था। उसने यह भी स्वीकार किया कि धार्मिक विषयों में वह स्वयं अव्यवस्थित थी, अतः स्वामीजी के धर्मप्रचार विषयक प्रस्ताव को स्वीकार करना उसके लिये सम्भव नहीं हो सका।

रमाबाई का प्रकरण तो इस प्रकार समाप्त हुआ। मेरठ में ही थियोसोफिकल सोसायटी के संस्थापकों से महाराज की पुनः भेंट हुई। ये लोग शिमला जाते हुए[७] स्वामीजी से भेंट करने हेतु मेरठ में रुक गये थे। वस्तुतः कर्नल ऑल्काट तथा मैडम ब्लैवेट्स्की ने अपनी ख्याति तथा अपनी संस्था की लोकप्रियता बढ़ाने के लिये ही स्वामीजी का पल्ला पकड़ा था। उन्होंने अमेरिका में रहते हुए ही यह ज्ञात कर लिया था कि इस समय भारत में स्वामी दयानन्द सूर्य के तुल्य प्रकाशमान होकर वैदिक धर्म के आलोक से दिग्दिगन्त को आलोकित कर रहे हैं। अतः उन्होंने यही सोचा कि यदि वे भारत में जाकर स्वामी दयानन्द तथा उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाज से अपना निकट का सम्बन्ध बना लेते हैं, तो इस प्राचीन देश के पठित एवं प्रगतिशील वर्ग के लोगों में अपने विचारों को फैलाना उनके लिये सुगम हो जायगा। अब तो यह भी ज्ञात हो गया है कि ईश्वर, वेद तथा धर्म के सम्बन्ध में उनके विचार स्वामीजी के विचारों से नितान्त प्रतिकूल ही थे, तथापि इस निर्भीक संन्यासी के चुम्बकीय व्यक्तित्व से पहले तो वे स्वयं कुछ इस प्रकार मुग्ध हुए कि उनके शिष्य, भक्त और अनुचर कहलाने में गौरव अनुभव करने लगे,[८] परन्तु थोड़े समय पश्चात् ही वे अपने वास्तविक रूप में आ गये।

रमाबाई ने देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय को लिखे अपने पत्र में कर्नल और मैडम के मेरठ प्रवास का वृत्तान्त भी उल्लिखित किया है। ये दोनों भी छेदीलाल गुमाश्ते की कोठी में ही ठहराये गये थे, जहाँ कि रमाबाई पहले से ही ठहरी थीं। वार्तालाप के प्रसंग में थियोसोफिस्टों ने यह स्पष्ट कर दिया कि वे किसी वैयक्तिक ईश्वर (Personal God) की सत्ता में विश्वास नहीं करते, बल्कि वे तो योगाभ्यास तथा उससे प्राप्त होने वाली शक्तियों और सिद्धियों को ही मानते हैं। उन्होंने यह भी कह दिया कि वेदों के अपौरुषेयत्व अथवा ईश्वर कर्तृत्व में भी उन्हें विश्वास नहीं है। जब ये बातें स्वामीजी तक पहुँची, तो उनका चिन्तित होना स्वाभाविक ही था। उन्होंने इन गौराङ्ग धर्माचार्यों से आग्रह किया कि वे उनके समक्ष आकर शास्त्रालाप करें ताकि विवादास्पद विषयों पर कोई अन्तिम निर्णय लिया जा सके। अब कर्नल ने पैंतरा बदला और कहा कि क्या गुरु शिष्य में भी कभी शास्त्रार्थ होता है? परन्तु स्वामीजी ऐसी भावुकतापूर्ण बातों में आने वाले नहीं थे। उन्होंने जब विचार करने पर अत्यधिक जोर दिया तो कर्नल ऑल्काट तैयार हुए। तीन दिन तक संध्या-काल से पर्याप्त रात्रि गये तक यह विचार चलता रहा। नार्मल स्कूल मेरठ के मुख्याध्यापक पं. बलदेवप्रसाद ने दो दिन तक दुभाषिये का काम किया। अन्तिम दिन बाबू ज्वालाप्रसाद

(अनुवादक न्यायाधीश कार्यालय मेरठ) ने दोनों पक्षों के विचारों को एक दूसरे तक पहुँचाने में सहायता की। चौथे दिन बिना किसी निर्णय पर पहुँचे कर्नल साहब ने विचारगोष्ठी में भाग लेना अस्वीकार कर दिया और वे मैडम के साथ मेरठ से चले गये। इसी दिन आर्यसमाज की एक सभा बुलाई गई और स्वामीजी ने थियोसोफिकल सोसायटी से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध न रखने की घोषणा कर दी।

मेरठ प्रवास के समय स्वामीजी की कर्नल तथा मैडम से योगविषयक चर्चा हुई। प्रसंग चल पड़ा शंकराचार्य का योगज शक्ति से अपनी आत्मा को किसी राजा के मृत शरीर में प्रविष्ट करा देने का। स्वामीजी ने इस घटना पर अपनी टिप्पणी करते हुए कहा कि शंकर के जीवन की इस घटना में अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है। उन्होंने स्वयं के बारे में कहा, **"मैं प्रथम कोटि का योगी नहीं हूं, मध्यम कोटि का हूं। किन्तु मैं अपनी चेतना को शरीर के किसी एक भाग में केन्द्रित कर सकता हूं। उस स्थिति में शरीर के उस भाग को छोड़ कर अवशिष्ट अंश मृतवत् हो जायेंगे, चेतना का आधार वह अंग ही रहेगा।"**

निश्चय ही स्वामी दयानन्द धर्म विषयक विचार में किसी भी प्रकार की कूटनीति के प्रयोग के विरुद्ध थे। इसीलिये उन्होंने कर्नल व मैडम के हार्दिक अभिप्राय को ताड़ लिया कि ये लोग उनकी विद्वत्ता, लोकप्रियता तथा शास्त्रज्ञता का लाभ उठा कर स्वयं के सिद्धान्तों का प्रचार चाहते हैं। साथ ही थियोसोफी वालों ने आर्यसमाज के उदीयमान रूप को देख कर उसके सहयोग और साहाय्य से अपनी संस्था के प्रचार एवं प्रसार का भी मनसूबा बांध रखा था। परन्तु स्वामीजी की सावधानी के कारण उन्हें अपनी योजनाओं को क्रियान्वित करने में सफलता नहीं मिली।

मेरठ में ही स्वामीजी ने १६ अगस्त १८८० के दिन अपना स्वीकारपत्र लिख कर उपपंजीयक के कार्यालय में पंजीकृत कराया।[६] इस वसीयतनामे के अनुसार उन्होंने १८ सदस्यों की एक परोपकारिणी सभा बनाई जिसे उनकी मृत्यु के पश्चात् वेद वेदाङ्गादि शास्त्रों के प्रचार, वेदोक्त धर्म का उपदेश करने हेतु व्यवस्था करने तथा आर्यावर्त्तीय दीन अनाथादि के पालन का दायित्व सौंपा गया था। इसी सभा को उनकी अन्त्येष्टि करने तथा उनके निधन के पश्चात् उनके वस्त्र, पुस्तक तथा यन्त्रालय आदि का अधिकार दिया गया था। इस सभा के सभापति लाहौर के लाला मूलराज नियुक्त किये गये।

लगभग सवा दो मास मेरठ में व्यतीत कर स्वामीजी भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी १९३७ वि. गुरुवार, १६ सितम्बर १८८० को मुजफ्फरनगर आये और रायबहादुर लाला निहालचन्द के बंगले में ठहरे। आश्विन मास लगने वाला था। पितृपक्ष का प्रारम्भ हुआ। अतः स्वामीजी ने मृतक श्राद्ध का बलपूर्वक खण्डन किया। इस पर उनकी मुख्य चर्चा तो अपने आतिथेय लाला निहालचन्द से ही हुई। स्वामीजी ने तर्कपूर्ण ढंग से स्पष्ट किया कि श्राद्ध का फल मृत पूर्वजों को नहीं मिल सकता, क्योंकि हमें यह विदित ही नहीं कि वे किस लोक तथा किस योनि में हैं? लाला जीवनलाल कायस्थ से भी दार्शनिक विषयों पर उनकी चर्चा हुई। प्रसंगोपात्त उन्होंने प्रकृति, जीव तथा ईश्वर की अनादि सत्ताओं का युक्ति-युक्त विवेचन किया। जिस समय उनके श्राद्धखण्डन पर व्याख्यान होने लगे तो कतिपय

भिक्षोपजीवी, परान्नभोजी ब्राह्मणों ने उन पर पत्थर फेंकना आरम्भ किया। स्वामीजी अविचलित रह कर अपनी बात कहते रहे। निश्चय ही स्वामी दयानन्द अपने युग में बुद्धिवाद, तार्किक चिन्तन तथा वैज्ञानिक विचारधारा के सबसे प्रधान समर्थक थे। कोई प्रथा या विश्वास कुछ शताब्दियों से प्रचलित है तथा अधिकांश लोगों ने उसे अंगीकार कर लिया है, इतने मात्र से ही वे उसकी इतिकर्त्तव्यता स्वीकार नहीं करते थे।

दो सप्ताह मुजफ्फरनगर में निवास कर स्वामीजी आश्विन कृष्णा १४, २ अक्टूबर शनिवार को पुनः मेरठ आगये। इस समय आर्यसमाज मेरठ का वार्षिकोत्सव हो रहा था। इसी में भाग लेने के लिये उन्हें मेरठ के आर्यसभासदों ने आमंत्रित किया था। उत्सव पर उनके दो व्याख्यान हुए। अपने एक व्याख्यान में उन्होंने थियोसोफी के नेताओं की कुटिल नीति का पर्दाफाश करते हुए आर्य जनों को आदेश दिया कि भविष्य में वे न तो इन लोगों के चक्कर में ही आयें और न इस संस्था के सभासद बनें। मेरठ के इस प्रवासकाल में उन्होंने अपने जीवन की कुछ घटनाएं सुनाईं। एक घटना का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि किसी स्थान पर राष्ट्र के प्रति नागरिकों के कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए जब उन्होंने स्वदेशोत्थान की बात कही, तो सभा में उपस्थित अंग्रेज कलेक्टर ने कहा कि यदि सब लोग आपके कथनानुसार आचरण करने लग जायें, तो हमें भारत छोड़ना पड़ेगा। स्वामीजी ने इसके उत्तर में अपने अभिप्राय को और भी स्पष्ट किया। उन्होंने बताया कि जब तक शासक जाति की भांति शासित जाति भी नीतिनिपुण, गुणवान्, विद्यावान् तथा शक्तिसम्पन्न नहीं होगी, तब तक न तो शासन ही सुचारु रूप से चल सकेगा और न शासक एवं शासित में समन्वय रह सकेगा। प्रकारान्तर से तो वे यही कह रहे थे कि मेरे भाषणों से यदि देशवासियों को समुचित प्रेरणा मिलती है तो वे एक दिन विदेशी सत्ता को इस पुण्यभूमि से उखाड़ फेकेंगे। परिव्राजक काल के देशाटन के सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि एक बार वे गंगोत्री से गंगासागर तथा एक बार गंगोत्री से रामेश्वरम् तक गये हैं। सम्भव है कि उनका यह भ्रमण उस समय हुआ हो, जिस समय वे अवधूत अवस्था में योगिगवेषणा में लगे थे।

मेरठ से सहारनपुर होते हुए महाराज आश्विन शुक्ला चतुर्थी, ७ अक्टूबर, गुरुवार को देहरादून पहुँचे! इस नगर में उनका यह द्वितीय बार का आगमन था। इस प्रवास का वृत्तान्त पं. कृपाराम ने आर्यसमाचार, मेरठ के मार्गशीर्ष १९३७ वि. (नवम्बर १८८०) के अंक में प्रकाशित कराया था। इस विवरण से ज्ञात होता है कि नगर में स्वामीजी के आगमन के साथ ही विज्ञापन प्रकाशित कर जन साधारण को सूचना दे दी गई कि स्वामी दयानन्द केवल वेदोक्त मत को ही स्वीकार करते हैं तथा नवीन मतों और सम्प्रदायों के पाखण्डपूर्ण विश्वासों का दृढ़तापूर्वक खण्डन भी करते हैं। विज्ञापन के माध्यम से जिज्ञासु लोगों को शास्त्रचर्चा तथा धर्म विचार के लिये आमंत्रित किया गया था।

सर्वप्रथम पौराणिक मतावलम्बियों ने उनसे निवेदन किया कि दिन के दो बजे मिशन स्कूल में स्वामी दयानन्द आकर उनसे शास्त्रार्थ करें। इसके उत्तर में स्वामीजी ने उन्हें कहलाया कि वे तो इस नगर के अतिथि हैं, अतः पुराणमतावलम्बी पण्डितों को उनके निवास पर आकर धर्मचर्चा करने में कोई संकोच नहीं करना चाहिए। शास्त्रार्थों में हुए

अनेक कटु अनुभवों से महाराज ने यह धारणा बना ली थी कि जब जब पौराणिकों ने अपने हाथ से शास्त्रार्थ की बाजी को जाते देखा है, तब तब वे गाली गलौच के साथ साथ ईटें और पत्थर फेंकने तक से बाज नहीं आये हैं। ऐसी स्थिति में स्वामीजी ने यह स्पष्ट कर दिया कि जिला मैजिस्ट्रेट से निवेदन कर शास्त्रार्थ के समय शान्ति रखने का प्रबंध भी कराना होगा। उनके इस संदेश का पौराणिक मण्डली ने कोई उत्तर नहीं दिया।

इसके पश्चात् मुसलमानों से शास्त्रार्थ विषयक कुछ प्रारम्भिक बातचीत हुई। इन महानुभावों का यह आग्रह था कि वे वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने के विषय में प्रश्न पूछेंगे तथा जब तक उनको संतोषप्रद उत्तर नहीं मिलेगा तब तक प्रश्नोत्तर का सिलसिला चलता ही रहेगा। इसके उत्तर में स्वामीजी ने निवेदन किया कि वेदविषयक पूछे गये प्रश्नों का तो वे उत्तर दे देंगे, इसके पश्चात् उन्हें भी कुरान पर प्रश्न पूछने का अधिकार होगा। बस, स्वामीजी के इस कथन पर इस्लाम के पैरोकारों ने चर्चा को बंद करना ही लाभप्रद समझा।

ईसाइयों के पादरी गिलबर्ट मैक्मासर भी अपने कतिपय साथियों सहित चर्चा के लिये आये। आते ही उन्होंने मानो प्रश्न रूपी तोप का पहला गोला दागा—वेद के ईश्वरीय वाक्य होने में आपके पास क्या प्रमाण है? स्वामीजी ने इस पर जवाबी हमला किया—इञ्जील के ईश्वरीय वचन होने में आपके पास क्या प्रमाण है? अब पादरी साहब सिटपिटाये। वे तो यह समझे बैठे थे कि भारत के स्थानीय धर्मों और मान्यताओं पर वाजिब-गैरवाजिब, सभी प्रकार के आक्षेप करने का एकाधिकार शायद उन्हें ही मिला हुआ है। आज जब संन्यासी ने उन पर प्रत्याक्रमण कर इञ्जील के ईश्वरीय ज्ञान होने पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाया, तो उनका चौंकना तथा हतप्रभ होना स्वाभाविक ही था। पादरी के लिये जब जान छुड़ाना कठिन हो गया तो वे उठ कर जाने लगे। परन्तु स्वामीभी भला उन्हें सस्ते में क्यों छोड़ने लगे। उन्होंने गम्भीरतापूर्वक कहा, आप तो शास्त्रार्थ करने आये हैं, इतना जल्द भागने की क्या आवश्यकता है। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि वे वेद पर एक क्या दस प्रश्न कर लें, किन्तु उसी भांति उन्हें भी बाइबिल पर प्रश्न करने का अधिकार प्राप्त है। बात यहीं समाप्त हो गई और पादरी साहब चले गये।

स्वामी दयानन्द द्वारा किये जाने वाले इन शास्त्रार्थों तथा धर्मविषयक विचारों को सही संदर्भ और वास्तविक परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए। आज की दृष्टि से यदि हम इन पर विचार करें तो हमें यह सारे विवाद और मजहबी मुबाहिसे निरे शाब्दिक व्यायाम, शब्दों और उनके अर्थों की खींचतान, शास्त्र वाक्यों का मनमाना अर्थ करने की दुराग्रहपूर्ण प्रवृत्ति ही नजर आयेंगे। परन्तु एक भिन्न दृष्टिकोण भी है। उन्नीसवीं शताब्दी में प्रचलित हिन्दू धर्म एक विचित्र हीनभावना के दौर से गुजर रहा था। शताब्दियों तक इस्लाम के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष आक्रमणों को उसने अपनी लचकीली नीतियों के द्वारा येन केन प्रकारेण झेला, किन्तु ईसाई प्रचारकों के बहुविध प्रहारों के समक्ष उस समय का हिन्दू मतावलम्बी सर्वथा हतप्रभ, असहाय तथा हीनताग्रस्त हो चुका था। जब जब पादरी समुदाय भारत के पुरातन धर्म की आस्थाओं, विश्वासों, उसके देवी देवताओं, साम्प्रदायिक कर्मकाण्डों तथा पूजा पद्धतियों पर क्रूर एवं निर्मम हमले करता, तब तब हिन्दू धर्म के प्रवक्ता

पण्डित एवं पुरोहित अत्यन्त निरुपाय से होकर मौन धारण कर लेते। वे स्वयं यह अनुभव करते थे कि गौराङ्ग पादरी उनके मत एवं विश्वास पर जिन आक्षेपों तथा कठोर व्यंग्यवचनों की अजस्र वर्षा कर रहा है, उनसे त्राण पाने का उसके पास कोई उपाय नहीं है। यह दूसरी बात है कि पुरातन आस्थाओं के साथ दृढ़ता के साथ चिपके रहने वाला पुरोहित वर्ग और अधिक कट्टरपंथी बन कर इन अंधधारणाओं को दृढ़ता से चिपटा लेता, जब कि नवीन शिक्षा प्रणाली से शिक्षित हिन्दूसमाज का युवा वर्ग परम्परागत धर्म का परित्याग कर देता और पादरी साहब से बपतिस्मा लेकर खुदावन्द ईसू मसीह को अपना परित्राता स्वीकार कर लेता।

इसी पृष्ठभूमि में स्वामी दयानन्द के इन शास्त्रार्थों और धर्म संवादों की समीक्षा की जानी चाहिए। स्वामी दयानन्द ने अपने गहन शास्त्राध्ययन तथा धर्मालोचन के आधार पर स्थापित किया कि भारतीय धर्म चिन्तन का मूल स्वरूप तो वह है जो पूर्णतया वेदों की उदात्त एवं सार्वजनिक शिक्षाओं पर आधारित है, अतः हिन्दू धर्म की जिन परवर्ती अंध-धारणाओं तथा रूढ़िगत विश्वासों पर ईसाई प्रचारकों के सतत आक्रमण होते हैं, वह कोई ऐसी वस्तु नहीं, जिसकी सुरक्षा किये बिना हिन्दू धर्म की मौलिकता को क्षति पहुंचने का अंदेशा हो। तथापि उन्होंने चातुर्यपूर्ण रणनीति का आश्रय लेते हुए पादरी वर्ग द्वारा प्रतिपादित ख्रीस्ती धर्म की युक्ति एवं तर्कविरुद्ध मान्यताओं, उसके अवैज्ञानिक विश्वासों तथा अन्य पाखण्डपूर्ण कृत्यों पर भी उतनी ही तीव्रता तथा निर्ममता से प्रहार किये, जैसे आक्रमण हिन्दू धर्म पर इस पादरी समुदाय द्वारा किये जाते थे। इन अप्रत्याशित आक्रमणों से पादरी वर्ग का क्षुब्ध, हतप्रभ तथा क्रुद्ध हो जाना स्वाभाविक ही था। शासकों के धर्म से सम्बन्धित होने के कारण वे एतद्देशीय हिन्दू तथा मुसलमानी धर्मों पर आक्षेप करना, आरोप लगाना तथा उनके दुर्बल पक्षों पर निर्ममतापूर्वक प्रहार करना अपना स्वतःसिद्ध अधिकार समझते थे। किन्तु दयानन्द की आलोचना प्रणाली ने तो पासा ही पलट दिया। अब आक्रमणकारी पादरी वर्ग भी अपनी सुरक्षा की तलाश करने लगा। इसी विवेचना के संदर्भ में दयानन्द द्वारा किये गये शास्त्रार्थों और धर्मचर्चाओं को देखने से वस्तुस्थिति का आकलन करने में सहायता मिल सकती है।

यह हम देख चुके हैं कि देहरादून की पहली यात्रा के समय स्वामी दयानन्द ने एक जन्मना मुसलमान मोहम्मद ऊमर को आर्य धर्म में प्रविष्ट कर 'अलखधारी' बना दिया था। 'खिसियानी बिल्ली खम्भा नोचे' की कहावत को चरितार्थ करते हुए कुछ व्यक्ति मुन्शी अलखधारी के निकट गये और उनसे कहा कि वह पवित्र इस्लाम को त्याग कर काफिर बन चुका है इसलिये खुदा की रेहमत पाने का अधिकारी नहीं रहा। अलखधारी का उत्तर भी युक्तिपूर्ण था। उन्होंने कहा, यदि खुदा सचमुच दयालु और न्यायकारी है, तो उसकी दृष्टि में सभी मनुष्य बराबर हैं। इसलिये उन्हें इस बात का भरोसा है कि पूर्व मत का परित्याग करने से ही वे परमात्मा के निकट अपराधी नहीं बने हैं। और आप लोगों के कथनानुसार यदि खुदा केवल एक वर्गविशेष का ही है, तो ऐसे खुदा को मानने से ही क्या लाभ ?

लगभग डेढ़ मास देहरादून में व्यतीत कर अलीगढ़ होते हुए स्वामी दयानन्द पुनः मेरठ आये।[१०] इस बार वे केवल पांच दिन यहां रहे। उनकी मेरठ की यह अन्तिम यात्रा

थी। यह भी ज्ञात नहीं होता कि इस बार वे इस नगर में कहां ठहरे थे ? कोई व्याख्यान भी नहीं हुआ। सम्भवतः वे वेदभाष्य के प्रकाशन तथा वैदिक यन्त्रालय की व्यवस्था के सम्बन्ध में लाला रामशरणदास से विचार विमर्श करने ही आये थे। मार्गशीर्ष कृष्णा नवमी, २६ नवम्बर शुक्रवार को उन्होंने मेरठ से आगरा के लिये प्रस्थान किया। दूसरे दिन मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी, २७ नवम्बर शनिवार को वे आगरा पहुंचे। आगरे के मुन्शी लक्ष्मणप्रसाद पैंशनर, प्रोफेसर बरेली कालेज तथा प्रसिद्ध वकील मुन्शी गिरधरलाल भार्गव आदि प्रतिष्ठित लोगों ने महाराज को इस ऐतिहासिक नगर में आमंत्रित किया था। कुछ संयोग ऐसा बना कि स्वामीजी रात की गाड़ी से जब आगरा पहुंचे तो मुख्य निमंत्रणदाता मुन्शी लक्ष्मणप्रसाद स्टेशन पर उपस्थित नहीं थे। सौभाग्यवश मुन्शी गिरधरलाल भार्गव को स्वामीजी के आगमन की सूचना मिल चुकी थी, अतः वे यथासमय स्टेशन से महाराज को अपने घर ले आये। यह स्थान सब प्रकार से सुविधाजनक था, अतः इस नगर के दीर्घकालीन प्रवास में स्वामीजी यहां पर ही रहे। भोजन की व्यवस्था उनकी अपनी थी। वे किसी गृहस्थ पर भोजनादि का अतिरिक्त भार नहीं डालते थे। पीपल मण्डी स्थित मुफीदे आम स्कूल के भवन में उनके व्याख्यान होने लगे। पं. लेखराम ने व्याख्यानों की तिथि तथा विषयों का निर्देश किया है, जो इस प्रकार है—

२८ नवम्बर—धर्म का स्वरूप, २९ नवम्बर—परमेश्वर का अस्तित्व और उसका वैशिष्ट्य, ३० नवम्बर और १ दिसम्बर—सृष्टि उत्पत्ति और आदि सृष्टि, २ दिसम्बर—जन्म व मृत्यु, ३ दिसम्बर—मैक्समूलरकृत वेदभाष्य की समीक्षा, ४ दिसम्बर से ६ दिसम्बर—षोडश संस्कारों की व्याख्या, ७ दिसम्बर—पञ्चमहायज्ञ विधान, ८ व ९ दिसम्बर—मूर्तिपूजा समीक्षा १० दिसम्बर—वेद ईश्वरकृत तथा नित्य हैं, ११ दिसम्बर—राजधर्म, १२ दिसम्बर—पृथिव्यादि लोगों का भ्रमण तथा गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त, दिस. १३—राज प्रजाधर्म, शासन व्यवस्था तथा जनाधिकार का प्रश्न १४, १५ दिसम्बर—प्रार्थना एवं उपासना : विधि तथा आवश्यकता १६, १७ दिसम्बर—मुक्ति का स्वरूप व साधन, १८ दिसम्बर—अब तक के व्याख्यानों का सार, १९ दिसम्बर—भक्ष्याभक्ष्य विचार, २० दिसम्बर—गोवध से हानि और गोरक्षण से लाभ, २१ व २२ दिसम्बर—आर्यसमाज का विधान और उसके नियम।[११]

उपर्युक्त सूची पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी दयानन्द द्वारा दिये जाने वाले व्याख्यानों के विषय तथा उनका क्षेत्र कितना विविधतापूर्ण एवं व्यापक रहता था। एक ओर यदि वे ईश्वर, धर्म, वेद, परलोक, पुनर्जन्म और मुक्ति जैसे शास्त्रीय और आध्यात्मिक विषयों पर अपने विचार प्रकट करते हैं, तो साथ ही उपासना का स्वरूप और महत्ता, संस्कारों की उपयोगिता, भक्ष्याभक्ष्य जैसे व्यक्ति एव समाज की दृष्टि से उपयोगी विषयों की चर्चा करना भी नहीं भूलते। परन्तु उनकी विवेचना का क्षेत्र तो और भी व्यापक है। वे वेद की व्याख्या के प्रसंग में प्रो. मैक्समूलर के वेदभाष्य की चर्चा कर पाश्चात्य विपश्चितों के वैदिक ज्ञान का खोखलापन प्रकट करते हैं। साथ ही विज्ञान के सिद्धान्तों का आर्य शास्त्रों में प्रतिपादित मन्तव्यों से तालमेल बिठाने का प्रयत्न भी करते हैं। पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण तथा सौर मण्डलस्थ ग्रहों के परस्पर आकर्षण विकर्षण की नवीनतम खगोल-शास्त्रीय स्थितियों को अपने व्याख्यान में स्पष्ट करना यह सूचित करता है कि इस संन्यासी

को प्राकृतिक तथा भौतिक विज्ञान की आवश्यक जानकारी तो थी ही, वे जन सामान्य में भी वैज्ञानिक चिन्तन का सूत्रपात करना चाहते थे। राजप्रजाधर्म, शासन व्यवस्था तथा प्रजा के अधिकारों की विवेचना करते समय वे अपने समकालीन अन्य धर्माचार्यों तथा विचारकों से कहीं आगे बढ़ जाते हैं, क्योंकि किसी काषाय वस्त्रधारी, तुरीयाश्रमी संन्यासी से राजनीति के सूत्रों की व्याख्या और विश्लेषण की अपेक्षा करना उस युग में अनपेक्षित ही था। गोवध की विभीषिका को भारत की आर्थिक स्थिति के संदर्भ में प्रस्तुत करना दयानन्द के रूढ़िमुक्त मौलिक चिंतन का द्योतक है।

इन व्याख्यानों का प्रभाव नगरवासियों पर पड़ा और २६ दिसम्बर १८८० रविवार के दिन आगरा में आर्यसमाज की स्थापना हो गई। २३ जनवरी से २९ जनवरी १८८१ तक व्याख्यानों का दूसरा क्रम चला। आगरा में रोमन कैथोलिक ईसाइयों का सेंट पीटर्स चर्च उत्तर भारत का विख्यात गिरजाघर है। इसके अध्यक्ष लाट पादरी (बिशप) ने स्वामीजी को सादर आमंत्रित किया। अतः १२ दिसम्बर १८८० को वे मुन्शी गिरधर लाल भार्गव तथा अन्य प्रतिष्ठित पुरुषों सहित गिरजे में गये। यहां पर्याप्त समय तक मुख्य पादरी से स्वामीजी की विभिन्न विषयों पर बातचीत होती रही। इसी प्रसंग में स्वामीजी ने एक प्रस्ताव रक्खा जिसका अभिप्राय यही था कि सभी आस्तिक मतों को एक स्वर से नास्तिक मतों का सामना करना चाहिए, परन्तु यह तभी सम्भव है जब कि विभिन्न मत-सम्प्रदायों के आचार्यगण भेदभाव में वृद्धि करने वाली बातों को हटाने का दायित्व अपने ऊपर लेवें।

पादरी साहब ने स्वामीजी के सुझाव को बहुत अधिक व्यावहारिक नहीं माना। उनके मतानुसार मांसाहार को उचित मानने वाले ईसाई, मुसलमान आदि का उन लोगों से तालमेल नहीं हो सकता जो मांसभक्षण को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। उन्होंने एक अन्य बात भी कही। जिस प्रकार ब्रिटिश महारानी विक्टोरिया लंदन में रह कर भी भारत स्थित वायसराय के माध्यम से इस देश का शासन चलाती है, उसी प्रकार परमेश्वर अपने पुत्र और दूत मसीह के द्वारा अपने आदेशों को धरती पर प्रचारित करता है। स्वामीजी ने इस दृष्टान्त को दोषपूर्ण बताते हुए स्पष्ट कर दिया कि महारानी तो एकदेशीय तथा अल्पज्ञ हैं, इसलिये शासन चलाने के लिये उन्हें अपने प्रतिनिधि की आवश्यकता होती है, किन्तु सर्वज्ञ, सर्वव्यापक परमात्मा तो अपनी सर्वशक्तिमत्ता से ही ब्रह्माण्ड का शासन चलाने में समर्थ है।

वार्तालाप की समाप्ति पर स्वामीजी ने गिरजाघर की भव्य इमारत को देखने की इच्छा प्रकट की। बिशप की अनुमति लेकर वे गिरजाघर के भीतरी भागों को देखने के लिये चले। वहां के प्रहरी ने उन्हें पश्चिमी शिष्टाचार के अनुसार पगड़ी उतार कर भीतर प्रविष्ट होने के लिये कहा। परन्तु स्वदेश की सभ्यता और संस्कृति के प्रति दृढ़ आस्था और अनुराग रखने वाले दयानन्द को भला यह कैसे सह्य होता कि वे पगड़ी उतार देते। उन्होंने स्पष्ट कहा—हमारे देश में पगड़ी पहनना सम्मान का सूचक है, यदि आप चाहें तो मैं जूते उतार दूं,[१२] क्योंकि जूते पहन कर किसी पूजागृह में जाना हमारी संस्कृति के प्रतिकूल है।

परन्तु प्रहरी अपनी बात पर अड़ा रहा। इस पर स्वामीजी भी उपासनागृह के भीतरी भाग में प्रविष्ट नहीं हुए और बरामदे में रक्खी माता मरियम और ईसा की प्रतिमाएं देखकर ही चले आये। स्वदेशी संस्कृति और राष्ट्रीय आचार विचार के प्रति दयानन्द के हृदय में दृढ़ आसक्ति थी।

आगरा के इस दीर्घकालीन प्रवास में स्वामीजी की विभिन्न धर्मावलम्बियों से नाना विषयों पर रोचक वार्ताएं हुईं। नगर कोतवाल तुफैल अहमद ने पुनर्जन्म पर चर्चा करते हुए कहा कि यदि पुनर्जन्म की धारणा के अनुसार एक ही जीव अगले जन्मों में विभिन्न योनियों में भी प्रविष्ट होता है तो इससे बड़ी गड़बड़ी उत्पन्न हो जायगी। उदाहरण रूप में उन्होंने कहा कि एक व्यक्ति मर गया, इस जन्म में जो उसकी पुत्री है, वह मरकर अगले जन्म में उसकी पत्नी भी बन सकती है, क्या यह अनाचार नहीं होगा? स्वामीजी ने युक्तिपूर्ण समाधान करते हुए कहा कि पिता और पुत्री का सम्बन्ध शरीर के कारण होता है। शरीर छूट जाने पर न कोई किसी का पिता है और न कोई किसी की पुत्री या पुत्र। ऐसी स्थिति में नवीन जन्म धारण करने वाली आत्मा के साथ पुराने शरीर के सम्बन्धों की कल्पना ही भ्रामक है।

किसी पर्वतीय स्थान पर (सम्भवतः मसूरी या नैनीताल) निवास करने वाले एक पादरी साहब ने स्वामी दयानन्दकृत वेदभाष्य पर चर्चा के प्रसंग में ऋग्वेद के प्रथम मंत्र में प्रयुक्त 'अग्नि' शब्द का ईश्वरपरक अर्थ करने पर आपत्ति की। वस्तुतः वेद के अध्येताओं के लिये दयानन्द द्वारा आध्यात्मिक अर्थों को प्रधानता देते हुए इस प्रकार का वेदार्थ करना विस्मय और आश्चर्य की ही वस्तु थी। इस पर स्वामीजी ने व्याकरणशास्त्र के आधार पर तो 'अग्नि' का परमात्मा परक अर्थ सिद्ध किया ही, साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया कि 'अग्नि' शब्द से व्यक्त होने वाले नाना गुणों का धारक होने से भी यह शब्द परमात्मा अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अब पादरी ने उनसे पूछा कि भारत के पर्वतीय स्थलों पर वे कभी आते हैं या नहीं? उत्तर में स्वामीजी ने स्पष्ट कहा कि वे अंग्रेजों की भांति ग्रीष्मकाल में विश्राम अथवा सैर सपाटे के लिये पार्वत्य स्थलों पर जाने के पक्ष में नहीं हैं। हां, धर्मप्रचारार्थ यदि उन्हें जाना पड़े, तो अवश्य जायेंगे।

मुरादाबाद निवासी मुन्शी इन्द्रमणि अनेक बातों में स्वामीजी से वैमत्य रखते थे। अब जब कि स्वामीजी ने मुक्ति से पुनरावृत्ति के सिद्धान्त को प्रमाण एवं युक्तिपूर्वक सिद्ध कर दिया था, मुन्शीजी की धारणा पूर्ववत् मुक्ति को अनन्त मानने की ही थी। स्वामीजी ने स्पष्ट किया कि जीव के सान्त कर्म उसे अनन्त मुक्ति प्राप्त कराने में समर्थ नहीं हो सकते। पता नहीं मुन्शीजी का समाधान हुआ या नहीं, परन्तु जैसा कि आगे चल कर देखेंगे, वे सिद्धान्त विषयक अनेक बातों में स्वामीजी से दूर होते चले गये और अन्ततः उन्हें आर्यसमाज से पृथक् होना पड़ा। परन्तु इस प्रसंग को लिखने का अवसर अभी नहीं आया है।

सेंट जॉन्स कालेज के संस्कृत प्राध्यापक पं. कालिदास अपने एक मित्र छीतूजी के साथ शास्त्र चर्चा हेतु श्रीसेवा में उपस्थित हुए। त्रिकाल संध्या की बात चल पड़ी।

स्वामीजी ने युक्तिपूर्वक समाधान करते हुए कहा कि आर्ष ग्रन्थों में तो संध्या करना दो समय के लिये ही लिखा है। 'संध्या' शब्द भी दो कालों की संधि का ही सूचक है।[13] पुनः तर्क-यष्टि का प्रहार करते हुए कहा। यदि मध्याह्न काल की संध्या के औचित्य को स्वीकार किया जाता है तो मध्य रात्रि की संध्या को कैसे नकारा जायगा। फिर तो प्रत्येक घड़ी और प्रतिपल संध्या करनी होगी। इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायगा। स्वामीजी की समाधानकारक उक्तियों के पश्चात् कुछ भी शंका शेष नहीं रही।

आगरा राधास्वामी सम्प्रदाय का केन्द्र है।[14] कुछ वर्ष पूर्व ही इस मत की स्थापना शिवदयालसिंह नामक एक व्यक्ति ने की थी। इस मत के कुछ पंजाबी साधु जिनमें स्त्रियां भी सम्मिलित थीं, महाराज से भेंट हेतु आये। राधास्वामी मत में गुरुभक्ति का प्राबल्य है तथा यहां उसकी मान्यता ईश्वर से भी अधिक है। इस प्रसंग में स्वामीजी ने स्पष्ट किया कि गुरु की महत्ता को तो एक सीमा तक ही स्वीकार करना होगा। यदि शिष्य अपने आचरण को न सुधारे और केवल गुरु का माहात्म्य ही गाता रहे, तो इससे उसका उद्धार कैसे होगा? स्वामी दयानन्द की स्पष्टवादिता पराकष्ठा की थी। वे बिना लागलपेट के, जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी कहने में कभी संकोच नहीं करते थे। अब राधास्वामियों ने जब उनसे ईश्वर के दर्शन का साधन पूछा, तो महाराज ने स्पष्ट कह दिया कि आप लोग जिन मूर्खतापूर्ण आचरणों से ईश्वर प्राप्ति सम्भव मानते हो, वैसे ईश्वर प्राप्ति सम्भव नहीं है। अब बात 'भक्ति' विषयक चल पड़ी। स्वामी दयानन्द उस भक्तिवाद के अत्यन्त विरोधी तथा कठोर आलोचक थे जो विगत कई शताब्दियों से इस देश में प्रचलित रहा तथा जिसके अतिवादी रूप ने भारतवासियों को अकर्मण्य, भाग्यवादी, रूढ़ियों का गुलाम तथा पुरुषार्थहीन बना दिया था। इन साधुओं ने भक्ति विषयक प्रचलित धारणाओं को व्यक्त करते हुए कहा कि क्या भगवान् भक्त के वश में नहीं है? महाराज ने आस्तिकता के मन्तव्य को सार्थक युक्तियों से पुष्ट करते हुए कहा—ईश्वर किसी के अधीन नहीं है। वह तो पूर्ण स्वतन्त्र, पूर्ण काम तथा आत्मतुष्ट है। उसकी भक्ति तो मनुष्य का परम कर्त्तव्य है, परन्तु भक्ति के वास्तविक अभिप्राय को समझना भी आवश्यक है। इस प्रसंग में उन्होंने साम्प्रदायिक भक्ति का प्रबल खण्डन किया और उसे पुरुषार्थ की विरोधिनी, लौकिक मर्यादा तथा पारलौकिक इष्ट प्राप्ति में बाधक बताया। दयानन्द की दृष्टि में जो भक्ति पुरुषार्थ विरोधिनी है, वह मनुष्य के लिये कभी काम्य नहीं हो सकती।[15]

पुनः मूर्तिपूजा और अवतार का प्रसंग चला। राधास्वामी साधुओं ने कहा कि उनके सम्प्रदाय में न तो मूर्तिपूजा को ही स्थान है और न वे अवतारवाद की प्रतिष्ठा करते हैं, अतः सर्वसाधारण हिन्दुओं से उनकी वरिष्ठता स्वतः सिद्ध है। महाराज को उनकी उपर्युक्त स्थापनायें भी सर्वांश में निर्दोष प्रतीत नहीं हुईं। जो लोग मूर्तिपूजा तथा अवतार को तो न मानें किन्तु गुरु को परमात्मा से बढ़कर मानें तथा शरीरधारी गुरु की अमर्यादित सेवा को ही जीवन का परम लक्ष्य स्वीकार करें, वे भला मूर्तिपूजकों तथा अवतार मानने वालों से श्रेष्ठ कैसे हो सकते हैं? अन्त में साधुओं ने कहा कि वेदों के पढ़ने में बहुत समय लगता है तथा उससे प्रभुभक्ति की प्राप्ति नहीं होती, अतः वे तो वेदाध्ययन में कोई लाभ नहीं देखते।

वेदों के प्रति अत्यन्त आस्थावान् तथा वैदिक आदर्शों पर ही समाज के पुनर्निर्माण को शक्य मानने वाले दयानन्द भला वेदाध्ययन पर उठाई गई आपत्ति का उत्तर कैसे न देते ? उन्होंने स्पष्ट किया कि वेदार्थ ज्ञान के लिये पुरुषार्थ अपेक्षित है। आज का साधु समुदाय जो भिक्षोपजीवी बना हुआ है, वह भला वेदाध्ययन कैसे कर सकता है ? यह भी एक दम्भ ही है कि बिना वेद पढ़े भक्ति प्राप्त की जा सकती है। अपने आराध्यदेव का स्वरूप जाने बिना भक्ति कैसे होगी और भगवान् के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान शास्त्राध्ययन के बिना नहीं हो सकता। प्रत्येक स्थिति में, वेदाध्ययन की अनिवार्यता बनी ही रहेगी।

दयानन्द के बहुमुखी व्यक्तित्व तथा उनके चिन्तन के विभिन्न आयामों की चर्चा इस जीवनकथा में बहुत बार आई है। अब देश के सार्वजनिक जीवन क्षितिज पर प्रोज्ज्वल नक्षत्र की भांति उदय होने पर उन्होंने राष्ट्र के समक्ष उपस्थित सभी समस्याओं का सम्यक् निदान किया। गोधन के ह्रास को देख कर उन्होंने अनेक बार अपनी चिन्ता व्यक्त की थी। गोरक्षा को वे एक विशुद्ध आर्थिक प्रश्न के रूप में देखते थे। उनकी यह भी धारणा थी कि गाय की उपयोगिता को समझा कर ही उसकी हत्या पर प्रतिबन्ध लगवाया जा सकता है। इसी दृष्टि-कोण को स्पष्ट करने के लिये उन्होंने गोकरुणानिधि नामक एक लघु ग्रन्थ की रचना की।[१६] इसमें जहां गाय की महत्ता और उपयोगिता को अनेकविध प्रमाणों से सिद्ध किया है, वहां यह भी स्पष्ट कर दिया है कि गाय की भांति भैंस, बकरी तथा अन्य पालतू जानवरों की रक्षा मानव के अपने हित की दृष्टि से भी आवश्यक है।

स्वामी दयानन्द आदर्शवादी तो थे, किन्तु उनकी व्यावहारिकता तथा जीवन की समस्याओं के प्रति यथार्थ दृष्टि भी पदे पदे व्यक्त होती थी। मूर्तिपूजा का दृढ़ विरोध करने वाला यह संन्यासी मठों और मंदिरों के विनाश का समर्थक नहीं था। वह चाहता था कि शताब्दियों से इन धर्मस्थानों में जो करोड़ों की सम्पत्ति संगृहीत हो गई है, उसका विद्या प्रचार, अनाथ, अबला संरक्षण जैसे जनहित के कार्यों में उपयोग होना चाहिए। इसका उदाहरण तब मिला जब उन्होंने वकील गिरधरलाल भार्गव को एक मंदिर का ट्रस्टी बन जाने की प्रेरणा दी क्योंकि इस प्रकार वे मंदिर की सम्पत्ति का सदुपयोग कर सकेंगे, यह उनका पक्का विश्वास था।

आगरा में महाराज का निवास पर्याप्त काल तक रहा। इसी बीच अपने को राज-पौराणिक कहने वाला पं. चतुर्भुज भी इस नगर में आ धमका। वह तो स्वामी दयानन्द का चिर वैरी था तथा उनके प्रगतिशील विचारों का अकारण विरोध करने की मानो उसने सौगंध खा रक्खी थी। नगर में उसने तीन व्याख्यान दिये और स्वामीजी तथा आर्यसमाज की निंदा में दुर्वचनों का अंबार लगा दिया। एक आडम्बर उसने और रचा। उसने दो व्यक्तियों को अपने साथ लिया और यह प्रसिद्ध किया कि स्वामी दयानन्द के व्याख्यान सुनने तथा आर्यसमाज के सम्पर्क में आ जाने के कारण ये लोग अपने परम्परागत वैष्णव धर्म को त्याग बैठे थे, किन्तु अब वे प्रायश्चित्तपूर्वक पुनः स्वधर्म को अंगीकार कर रहे हैं। चतुर्भुज के इस पाखण्डपूर्ण तथा द्वेषमूलक प्रचार का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। विचारशील लोग वास्तविकता को जानते थे।

यह हम देख चुके हैं कि महाराज का कार्यक्षेत्र निरन्तर व्यापक हो रहा था। टंकारा के जिस युवक ने मृत्यु के रहस्य का पता लगाने के लिये भरपूर यौवन में, सांसारिक माया ममता को लात मार कर वैराग्य का पथ ग्रहण किया था, आज वही व्यक्ति दयानन्द सरस्वती के रूप में स्वदेश, स्वधर्म और स्वजाति ही नहीं, किन्तु अशेष मानवता के सम्मुख उपस्थित नाना चुनौतियों का सफलतापूर्वक सामना करने के लिये पथप्रदर्शक की भूमिका का निर्वाह कर रहा है। वर्षों तक गंगा के तटवर्ती प्रदेशों का अवधूतावस्था में भ्रमण करने वाला संन्यासी लोकहित एवं जनकल्याण की विधायिका प्रवृत्तियों का सूत्र संचालन कर रहा है। आज वे मात्र धर्म प्रचारक ही नहीं हैं, किन्तु स्वदेशी जनसमाज की आशाओं एवं आकांक्षाओं के प्रतीक बन चुके हैं। जब १८८१ ई. में भारत में प्रथम बार जनगणना की व्यवस्था हुई तो स्वामीजी ने अपने अनुयायियों को आदेश दिया कि वे धर्म के कालम में 'वैदिक धर्म' तथा जाति के खाने में अपने को 'आर्य' लिखायें।[१७] वे जानते थे कि समाज के संगठन तथा उसकी एकता का अहसास तभी हो सकता है जब 'आर्य' जैसे श्रेष्ठ नाम को स्वीकार कर इस देश के वासी अपने लुप्त स्वाभिमान को पुनः प्राप्त करें तथा दृढ़ आत्म-विश्वास के साथ नवनिर्वाण के कार्य में जुटें।

इसी बीच वैदिक यन्त्रालय के प्रबंधक मुन्शी बख्तावरसिंह ने प्रेस के हिसाब किताब में काफी गोलमाल किया। बात स्वामीजी तक पहुँची। स्वामीजी ने मुन्शीजी को परामर्श दिया कि वे आगरा चले आवें[१८] और आपस में मिल बैठ कर हिसाब के मामले को सुलझा लें। उनकी यह इच्छा बिल्कुल नहीं थी कि पारस्परिक विवादों का निर्णय कराने के लिये विदेशी शासकों द्वारा स्थापित न्यायालयों में जाया जाय। २५ फरवरी को स्वामीजी के परामर्शानुसार मुन्शी बख्तावरसिंह आगरा आये। महाराज ने उन्हें स्पष्ट कहा कि यन्त्रालय लोकहित की दृष्टि से स्थापित किया गया है। यदि यह उनका निजी मामला होता तो, शायद वे चुप्पी साध लेते, किन्तु परोपकारार्थ जिस संस्था का निर्माण किया गया है,[१९] उसके धन में गोलमाल करना एक अक्षम्य अपराध है। वस्तुतः यन्त्रालय के स्थापना काल से ही स्वामीजी उसकी कार्यप्रणाली तथा प्रबंधादि के प्रति अत्यन्त जागरूक थे। उन्होंने व्यावसायिक लाभ की दृष्टि से तो इसे स्थापित किया ही नहीं था,[२०] अतः जब मुन्शी बख्तावरसिंह के कारनामों की जानकारी उन्हें मिली, तो न चाहते हुए भी उन्हें कठोर कार्यवाही करने के लिये विवश होना पड़ा।[२१]

यन्त्रालय से सम्बन्धित इन विवादों और न्यायिक प्रकरणों से महाराज को हार्दिक ग्लानि होती थी। कभी कभी तो उनका तीव्र वैराग्यवान् मन यह सोचने लगता कि एक निवृत्तिमार्गी, श्रेयस्कामी संन्यासी का क्या इस प्रकार के सांसारिक प्रपञ्चों में पड़ जाना उचित है? फर्रूखाबाद के सेठ निर्भयराम के नाम लिखे एक पत्र में उन्होंने अपने इन्हीं हृद्गत भावों को व्यक्त करते हुए लिखा था—"प्रथम तो (बख्तावरसिंह का प्रकरण) पञ्चायत में निमट जावे तो बहुत ही अच्छा है ..... और जो तुम इसका प्रबन्ध कुछ न करोगे तो ऐसी लूटमार से हमारे पास के पुस्तकादि भी कोई लूट लेगा। फिर तो हम अपने समीप कुछ न रख सकेंगे और वेदभाष्य आदि सब काम छोड़ देंगे, केवल एक लंगोटी लगा आनन्द

में विचरेंगे।"[२२] अन्ततः मुन्शी बख्तावरसिंह का मामला भी सद्भावनापूर्वक नहीं निपटाया जा सका और स्वामी दयानन्द को वैदिक यन्त्रालय के हित की दृष्टि से न्यायालय की शरण लेनी पड़ी। यह अनिच्छित कार्य भी उन्होंने इसीलिये किया जिससे कि वेदादि शास्त्रों के प्रचार हेतु स्थापित किये गये प्रेस को व्यक्ति की स्वार्थपरता के कारण हानि न पहुँचे।

सेंट जॉन्स कॉलेज आगरा के संस्कृत प्राध्यापक पं. कालिदास स्वामीजी के प्रशंसक थे। जब आगरा के पण्डितों ने उन्हें महाराज से शास्त्रार्थ करने के लिये प्रेरित किया तो पण्डितजी ने निस्संकोच कह दिया कि दयानन्द जैसे सर्वशास्त्र निष्णात एवं तर्कपटु व्यक्ति से शास्त्रार्थ करने की क्षमता वे अपने भीतर नहीं देखते। साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि वे स्वयं कुछ समय तक दण्डी विरजानन्द की पाठशाला में पढ़े हैं, अतः उन्हें दयानन्द के वैदुष्य तथा शास्त्रपारगामिता का पूर्ण परिचय है। इसी प्रसंग में उन्होंने बताया कि स्वामी दयानन्द की तर्कशक्ति का लोहा तो स्वयं गुरु महाराज भी मानते थे क्योंकि उनके द्वारा उपस्थित प्रश्नों एवं समस्याओं का समाधान करने में दण्डीजी को भी पर्याप्त समय लग जाता था।

लगभग साढ़े तीन मास तक आगरा में रहने के पश्चात् स्वामीजी ने राजस्थान की ओर जाने का विचार किया। देशोत्थान तथा समाज की नूतन संरचना के लिये उन्होंने जिस योजना का प्रारूप बनाया था, उसे क्रियान्वित करने के लिये वे उन स्वदेशी राजाओं का सहयोग लेना चाहते थे, जो अपने आपको प्राचीन क्षत्रियों की सन्तान तो कहते ही थे, किन्तु उस गये गुजरे जमाने में भी जिनमें स्वधर्म, स्वसंस्कृति तथा स्वभाषा के प्रति बहुत कुछ रागात्मक भाव थे। अतः उन्होंने यही निश्चय किया कि राजस्थान के शासकों को अपने उस कार्यक्रम की पूर्ति में सहभागी बनाना चाहिए, जिसकी सफलता से वे देश तथा मानवजाति के व्यापक हित साधन की अपेक्षा रखते हैं। प्रस्थान के समय आर्यसमाज आगरा के सभासदों की ओर से आचार्य पाद की सेवा में प्रगाढ़ भक्ति सूचक अभिनन्दन पत्र समर्पित किया। फाल्गुन शुक्ला दशमी १९३७ वि. तदनुसार १० मार्च १८८१ को आगरे से चल कर स्वामीजी भरतपुर आये।

□□

पाद टिप्पणियां

१. पण्डिता रमाबाई मंगलोर (कर्नाटक) की रहने वाली थी। इसके पिता और माता दोनों संस्कृतज्ञ थे, अतः उन्होंने अपनी पुत्री को भी प्रारम्भ से ही संस्कृत की शिक्षा दी। रमा का बाल्यकाल अत्यन्त कष्ट में व्यतीत हुआ। शीघ्र ही इसके माता, पिता की मृत्यु हो गई। तब यह अपने भाई के साथ १८७८ ई. में कलकत्ता चली गई। वहाँ इसके भाई की भी मृत्यु हो गई। इसी समय स्वामीजी का इससे पत्रव्यवहार प्रारम्भ हुआ था। रमाबाई के जीवन के लिये द्रष्टव्य—नार्थ इण्डिया क्रिश्चियन ट्रैक्ट एण्ड बुक सोसाइटी

इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित—पण्डिता रमाबाई का जीवन चरित्र। १० वां संस्करण १९६५ ई.। यहां यह ध्यातव्य है कि इस संक्षिप्त आत्मवृत्तान्त में रमाबाई ने स्वामी दयानन्द से अपनी भेंट आदि का कहीं उल्लेख नहीं किया है। मूल ग्रन्थ १९०७ ई. में लिखा गया था।

२. स्वामी दयानन्द और रमाबाई का यह पत्रव्यवहार संस्कृत में हुआ था। स्वामीजी ने रमाबाई को दो पत्र लिखे (प्रथम आषाढ़ शुक्ला ६, १९३७ वि. तथा द्वितीय आषाढ़ पूर्णिमा १९३७ वि.) इनके उत्तर में रमाबाई ने तीन पत्र (आषाढ़ शुक्ला प्रतिपदा १८०२ शकाब्द, १ अगस्त १८८० ई. तथा अन्तिम तिथिरहित) भेजे। यह पत्रव्यवहार सर्वप्रथम परोपकारी के कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा १९४६ वि. के अंक में प्रकाशित हुआ। कालान्तर में इसे रामविलास शारदा ने स्वलिखित आर्यधर्मेन्द्र जीवन में संकलित किया। ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन में भी यह पत्र व्यवहार (सं. २३८, २५०) उद्धृत किया गया है।

३. अपने अध्ययन के सम्बन्ध में विनम्रता प्रदर्शित करते हुए रमा ने इतना ही लिखा था—"अध्ययनस्येयत्ता तु साधारणत एवानुमेया श्रीमद्भिः कचटतपादिवर्णपर्यन्तैव। नातोन्यत्किमपि वक्तुमुत्सहे।" मेरे अध्ययन की सीमा तो साधारणतः क च ट त प आदि वर्ण पर्यन्त ही अनुमान कर लें। इससे अन्य कुछ भी कहने का उत्साह नहीं होता। पण्डिता —रमाबाई का द्वितीय पत्र।

४. स्वामी दयानन्द ने रमा से जो आशा रक्खी थी उसे उन्होंने अपने पत्र में इस प्रकार व्यक्त किया था—यथाऽऽर्यावर्त्तीयाः सत्यो विदुष्यो गार्ग्यादयः कुमार्य्यो ब्रह्मचर्ये स्थित्वा स्त्रीजनादिभ्यो यावान् सुखलाभः प्रापिवत्यस्तथा तावान् विवाहे कृतेऽनेकप्रतिबंधक प्राप्त्या प्रापितुमशक्यः। जैसे आर्यावर्त्तीय सती विदुषी गार्गी आदि कुमारियों ने ब्रह्मचर्य में स्थित होकर स्त्रीजनों को जितना सुख लाभ प्राप्त कराया है, वैसा उतना सुख आप विवाह करने पर अनेक प्रतिबन्धों के कारण नहीं प्राप्त करा सकेंगी। —स्वामी दयानन्द का रमाबाई के नाम प्रथम पत्र।

५. रमाबाई ने स्वयं की दुर्बलता को इस प्रकार स्वीकार किया था—"सनातनभारतवर्षभूषणानि ललनारत्नानि गार्ग्याद्या आजन्म ब्रह्मचारिण्यो ब्रह्मवादिन्यश्च यया स्वजातिदेशोन्नतिं साधयन्ति स्म तदुपममहत्तमकर्म नामग्रहणमपि मादृशबालिशमतौ बालिकामात्रायां न शोभत इत्येतत् स्फुटमेव।" गार्गी आदि ब्रह्मचारिणी और ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ जैसी स्वजाति और देश की उन्नति साधती थीं, यह स्पष्ट है कि उनकी उपमा वाले महत्तम काम का नाम ग्रहण भी मुझ बालिशमति बालिका मात्र में शोभा नहीं देता। —रमाबाई का स्वामीजी के नाम प्रथम पत्र।

६. द्रष्टव्य—स्वामी दयानन्द का बाबू दुर्गाप्रसाद के नाम पत्र (भाद्रपद शुक्ला ४, १९३७ वि.) पत्र व्यवहार पृ. २३०।

७. तत्कालीन वायसराय लार्ड रिपन से भेंट हेतु दोनों व्यक्ति शिमला जा रहे थे।

८. द्रष्टव्य—थियोसोफिकल सोसाइटी के रेकार्डिंग सेक्रेटरी अगस्टस गस्टम का आर्यसमाज के सभासदों के नाम २२ मई १८७८ ई. को न्यूयार्क से लिखा गया पत्र।

९. इस स्वीकारपत्र के मूल पाठ के लिये देखें—ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन पृ. २१७-२२० ।

१०. स्वामी दयानन्द की इस अलीगढ़ यात्रा का जीवनचरित्रों में उल्लेख नहीं मिलता किन्तु पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने स्वामीजी द्वारा लाला कालीचरण रामचरण को लिखे एक पत्र की अन्तःसाक्षी से यह सिद्ध किया है कि मेरठ पहुंचने से पूर्व वे अलीगढ़ अवश्य गये थे। द्रष्टव्य—ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापनों के परिशिष्ट पृ. ४७ की पाद टिप्पणी ।

११. भारत सुदशा प्रवर्त्तक (जनवरी १८८१) में व्याख्यान विषयों की उपर्युक्त सूची के साथ प्रतिदिन उपस्थित लोगों की संख्या भी दी है जो २०० तथा ५०० के बीच होती थी ।

१२. तुलनीय—देखो, अपने देश के बने हुए जूते को कार्यालय और कचहरी में जाने देते हैं, इस देशी जूते को नहीं । इतने ही में समझ लेओ कि अपने देश के बने जूतों का भी कितना मान प्रतिष्ठा करते हैं, उतना भी अन्यदेशस्थ मनुष्यों का नहीं करते । —सत्यार्थप्रकाश—एकादश समुल्लास, ब्राह्मसमाज समीक्षा प्रकरण ।

१३. तत्र रात्रिन्दिवयोः संधिवेलायामुभयोस्संध्ययोः सर्वैर्मनुष्यैरवश्यं परमेश्वरस्यैव स्तुति-प्रार्थनोपासनाः कार्याः । —पञ्चमहायज्ञविधिः ।

१४. राधास्वामी सम्प्रदाय के लोगों ने अपने इतिहासों में स्वामीजी के सन्बन्ध में अनेक भ्रम-पूर्ण उल्लेख किये हैं । उदाहरणतः—A Brief Account of the Progress of the Radha Sowami Satsang during 100 Years. शीर्षक पुस्तक के लेखक ने लिखा है कि स्वामी दयानन्द ने अपने आगरा प्रवास के समय राधास्वामी मतप्रवर्त्तक से भेंट कर उनके सम्प्रदाय में दीक्षित होने की इच्छा प्रकट की थी । तदनुसार उन्हें दीक्षित भी कर लिया गया । इसके पश्चात् स्वामी दयानन्द ने मूर्तिपूजा आदि के निवारणार्थ देश-भ्रमण की आज्ञा जब राधास्वामी सम्प्रदायाचार्य से मांगी तो सहर्ष उन्हें ऐसा करने की आज्ञा देते हुए स्वामीजी महाराज (राधास्वामियों के आद्य आचार्य शिवदयालसिंह) ने आशा प्रकट की कि यह व्यक्ति मतमतान्तरों को ध्वस्त कर राधास्वामी सत्संग के प्रसार के लिये आधारभूमि तैयार करेगा । पुस्तक लेखक ने सत्यार्थप्रकाश में राधास्वामी मत की आलोचना न किये जाने का भी यही कारण माना है कि स्वामी दयानन्द तो स्वतः ही इस मत में दीक्षा ले चुके थे । कहना नहीं होगा कि यह सारा विवरण मिथ्या तथा कल्पनामूलक ही है ।

आगरा से प्रकाशित होने वाले राजभारती नामक एक साप्ताहिक पत्र के १७ नवम्बर १९७५ के अंक में श्री जगजीतनाथ अरोड़ा का एक लेख 'महर्षि दयानन्द ने दीक्षा किससे ली' प्रकाशित हुआ है । इस लेख में भी उपर्युक्त बात को ही दोहराया गया है । यह तो सम्भव है कि विरजानन्द की पाठशाला में अध्ययन समाप्त कर जब १८६३ ई. में स्वामीजी प्रथम बार आगरा गये हों तो उनकी भेंट राधास्वामी मतप्रवर्तक (शिव-दयालसिंह—जो अपने सम्प्रदाय में स्वामीजी महाराज कहलाते हैं) से हुई हो । किन्तु वैदिक सिद्धान्तों के प्रति दृढ़ आस्थावान् दयानन्द का राधास्वामी सम्प्रदाय (जहाँ वेदादि-

शास्त्रों की स्पष्ट अवहेलना की गई है) में दीक्षा लेने का उल्लेख तो सर्वथा कपोल-कल्पित ही है।

१५. स्वामी दयानन्द के भक्ति विषयक उद्‌गारों के लिये द्रष्टव्य—'प्रभुभक्त दयानन्द और उनके आध्यात्मिक उपदेश' आचार्य भद्रसेन लिखित।

१६. गोकरुणानिधि का रचनाकाल फाल्गुन कृष्णा १०, १९३७ वि. गुरुवार है।

१७. द्रष्टव्य—ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन पृ. २६४—आर्यसमाज मुलतान के मन्त्री श्री दयाराम वर्मा के नाम स्वामीजी का पत्र।

१८. मुन्शी बख्तावरसिंह के नाम स्वामीजी का २४ जनवरी १८८१ का पत्र। 'पत्र और विज्ञापन' में पृ. २७२ पर उद्‌धृत।

१९. "हमने केवल परमार्थ और स्वदेशोन्नति के कारण अपने समाधि के आनन्द को छोड़ कर यह कार्य ग्रहण किया है।" स्वामी दयानन्द का सेठ कालीचरण रामचरण के नाम पत्र, जो ९ फरवरी १८८१ को लिखा गया था।

२०. "यह छापाखाना केवल सत्य शास्त्र के प्रचार के लिये किया गया, रोजगार के लिये नहीं।" स्वामी दयानन्द का बाबू विश्वेश्वरसिंह के नाम पत्र। द्रष्टव्य—पत्र और विज्ञापन पृ. ४१६।

२१. शाहजहांपुर के सब जज की अदालत में अभियोग दायर किया गया परन्तु परिणाम कुछ नहीं निकला।

२२. सेठ निर्भयराम के नाम यह पत्र १९ फरवरी १८८१ को लिखा गया था। द्रष्टव्य—पत्र और विज्ञापन पृ. २८०।

□□

देशी रजवाड़ों का सुधार

राजस्थान के देशी राज्यों में नवचेतना का संचार दयानन्द का प्रमुख लक्ष्य था। वे यह सोचते थे कि यों तो सारा भारत ही विदेशी शासन के अधीन होने के कारण अपनी पुराकालीन अस्मिता एवं गरिमा को खो बैठा है, किन्तु देशी राज्यों में स्वधर्म, स्वसंस्कृति तथा स्वभाषा के प्रति शासकों एवं प्रजा में किञ्चिद् अनुराग अवशिष्ट है। यदि इन स्वदेशी शासकों के स्वाभिमान को पुनः उद्दीप्त किया जाय, तो कोई कारण नहीं कि वे धर्म, समाज एवं सार्वजनिक जीवन में सर्वत्र सुधार एवं परिष्कार की प्रक्रिया को पुनरुज्जीवित करें और नवजागरण को गति देने के लिये सर्वात्मना प्रयत्नशील हों।

फलतः स्वामी दयानन्द पंजाब एवं पश्चिमोत्तरप्रदेश के व्यापक भ्रमण के पश्चात् राजस्थान की ओर प्रस्थान करते हैं। आगरा से उनका आगमन भरतपुर में हुआ। रेल्वे स्टेशन के निकट एक बाग में उनका निवास रहा। यद्यपि सार्वजनिक रूप से उन्होंने कोई व्याख्यान नहीं दिया, किन्तु जो लोग उनके दर्शनार्थ उपस्थित हुए, उनको धर्मोपदेश देने का कार्यक्रम चलता रहा। दस दिन तक यहां निवास कर चैत्र कृष्णा पञ्चमी, १९३७ वि. २० मार्च १८८१, रविवार को वे जयपुर आये। यहां गंगापोल के बाहर बदनपुरे में अचरोल के ठाकुर[1] के उद्यान में उनका निवास रहा। ठाकुर साहब की हवेली पर उनका एक व्याख्यान सृष्टिविषय पर हुआ।[2] व्याख्यान के अन्त में ठाकुर रघुनाथसिंह[3] ने अद्वैत सिद्धान्त पर स्वामीजी से कुछ प्रश्न किये, जिनके उत्तर में महाराज ने शाङ्कर वेदान्त की गम्भीर मीमांसा प्रस्तुत की। जयपुर निवासियों में स्वामीजी के सिद्धान्तों के प्रति आस्था का अंकुर जम चुका था, जो शीघ्र ही वैदिक धर्मसभा के रूप में वृद्धिगत हुआ।[4] शेखावाटी प्रदेश के रामगढ़ निवासी पं. कालूराम ने इस सभा के कार्य को उत्तरोत्तर बढ़ाया।[5] कालान्तर में जयपूर की वैदिक धर्मसभा ही आर्यसमाज के रूप में परिवर्तित हो गई।[6]

लगभग डेढ़ मास जयपुर में व्यतीत कर[7] वैशाख शुक्ला सप्तमी, १९३८ वि. ५, मई १८८१, गुरुवार को स्वामीजी ने रेलमार्ग से अजमेर के लिये प्रस्थान किया। इस नगर में उनका यह छठी बार का आगमन था। अजमेर में आर्यसमाज की स्थापना इसी वर्ष १३ फरवरी १८८१ ई. (माघ शुक्ला १४, १९३७ वि.) रविवार को हो चुकी थी और समाज के सभासदों की प्रार्थना पर ही महाराज का इस नगर में आगमन हुआ था। आर्यसमाज अजमेर के उपमंत्री मुन्नालाल उप्रैती शर्मा[8] ने स्वामीजी की इस बार की यात्रा का विवरण आर्यसमाज फर्रूखाबाद के मासिक मुख पत्र 'भारत सुदशा प्रवर्त्तक' में प्रकाशनार्थ भेजा था जो इस पत्र के जुलाई १८८१ के अंक में प्रकाशित हुआ है। प्रत्यक्षदर्शी संवाददाता की लेखनी से प्रसूत यह विवरण रोचकता तथा वर्णन की सजीवता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यहां इसका कुछ अंश उद्धृत करना अनुपयोगी न होगा।

प्रेरित पत्र

मंगल समाचार—

आर्यसमाज, अजमेर

१-७-८१ ई. नं. १

विदित होवे कि स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी महाराज आर्यपुरुषों के निमंत्रणानुसार जयपुर से चल कर ५ मई रात्रि के ११ बजे अजमेर स्टेशन पर पहुंचे। सज्जन पुरुष जो उक्त स्टेशन पर प्रथम ही से उपस्थित थे, अपूर्व मूर्ति को यानारोहण करके सेठ फतहमलजी की वाटिका की कोठी में[९] जो शहर के बहुत दूर भी न थी, ठहराये। इसके प्रातःकाल ही स्वामीजी के आगमन के समाचार दूर दूर और गृह गृह में फैल गये। सात तारीख (वैशाखशुक्ला ९) को आर्य पुरुषों की ओर से एक विज्ञापन निम्नलिखित प्रकाश किया गया—

विज्ञापनपत्रमिदम्

सब महाशय सज्जनों को विदित हो कि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी महाराज सं. १९३८ मिति वैशाखी सुदी ७ मी गुरुवार के दिन अजमेर में आकर आगरा दरवाजे के बाहर तार और डाकघर के पास श्री सेठ फतेमलजी की वाटिका की कोठी में ठहरे हैं। उक्त स्वामीजी का सनातन वेदोक्त विषय में वक्तृत्व (मिति वैशाख सुदी १० मी रविवार के दिन से संध्या के सात बजे से ९ बजे तक सेठ गजमलजी के स्थान में) होगा। इसलिये सब आप्त, सभ्य, उदार पुरुषों को विदित किया जाता है कि उक्त समय पर उक्त स्थान में उपस्थित होके सभा को सुशोभित करें।

८ तारीख रविवार से सेठ गजमलजी के स्थान[१०] में महाराजजी के व्याख्यान आरम्भ हुए और ३० मई तक अर्थात् २२ व्याख्यान वेदादि विषयों में बराबर निर्विघ्नता से होते रहे। सैंकड़ों आर्यपुरुष प्रतिदिन उपदेश सुनने को आते थे और अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार लाभ उठाते और प्रसन्नता प्रकट करते थे।

व्याख्यानों की व्यवस्था के विषय में संवाददाता ने लिखा—"व्याख्यानों के प्रबंधकर्ता पं. भागराम साहब जज[११] अजमेर थे। इनकी कृपा और सहायता से जो आनन्द आता था, कि वर्णन नहीं हो सकता। उक्त महाशय व्याख्यान के आरम्भ से अन्त तक सभा में उपस्थित रहते थे और श्रोताजनों का यह हाल कि ऐसे रसमग्न हो जाते थे कि उनको ७ बजे से ९ बजे तक कुछ भी काल व्यतीत होता नहीं मालूम पड़ता था। यही इच्छा रहती थी कि कुछ और भी श्रवण करते रहें। यह व्यवस्था प्रत्येक व्याख्यान में रहती थी और सभावसान पर सभ्य लोग बहुविध धन्यवाद देते हुए अपने अपने गृह जाते थे और कहते थे कि जैसा स्वामीजी को सुना करते थे उससे अधिक पाया। परन्तु कोई कोई अविद्याग्रसित पोप मतानुयायी पीछे से निंदा भी करते थे। व्याख्यानों की समाप्ति के पश्चात् अर्थात् ५ जून को एक हमारे आर्य भाई बाबू हीरालालजी, निवासी नसीराबाद, ने श्रीमहाराज से यज्ञोपवीत लिया और ८ बजे से होम आरम्भ होकर १२ बजे समाप्त हुआ।" इस प्रसंग का वर्णन करते हुए पं. मुन्नालाल ने लिखा—"स्वामीजी के मुखारविंद से जो होम के वेद मंत्र उच्चारण होते थे, और आहुति दी जाती थी, उस समय की शोभा अकथनीय है।"

सेठ गजमल की हवेली के अतिरिक्त स्वामीजी के चार व्याख्यान आर्यसमाज अजमेर के साप्ताहिक अधिवेशनों में भी हुए।[१२] स्वामी दयानन्द के उदार एवं प्रगतिशील विचारों को अपने स्वार्थों की पूर्ति में बाधक जान कर पौराणिक समुदाय ने 'सत्यामृतवर्षिणी सभा' की स्थापना कर ली थी। चतुर्भुज राजपौराणिक ने अजमेर के किसी सेठ के गुमाश्ते को

पत्र लिख कर कहा कि उक्त सभा को उन्हें स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिये आमंत्रित करना चाहिए। तदनुसार कुछ लोगों ने पं. भागराम से कहा कि वे पं. चतुर्भुज को आमंत्रित कर उससे स्वामीजी का शास्त्रार्थ कराना चाहते हैं। पं. भागराम ने स्पष्ट किया कि शास्त्रार्थ हेतु स्वामी दयानन्द तो सदा ही तत्पर रहते हैं, किन्तु शास्त्रार्थ लेखबद्ध होगा तथा पूर्व निर्धारित नियमों का पालन भी आवश्यक होगा। इस पर पौराणिक समुदाय ने शास्त्रार्थ का विचार त्याग दिया।

स्वामी दयानन्द के प्रथम जीवनी लेखक पं. लेखराम की श्री महाराज से प्रथम और अन्तिम भेंट अजमेर के इसी प्रवासकाल में हुई थी। आर्यपथिक ने स्वरचित जीवनचरित में स्वामीजी विषयक संस्मरणों को निम्न प्रकार निबद्ध किया है—"११ मई १८८१ को संवाददाता पेशावर से स्वामीजी के दर्शनों निमित्त चल कर १६ की रात को अजमेर पहुंचा और स्टेशन के समीप वाली सराय में डेरा किया और १७ मई को प्रातःकाल सेठजी के बगीचे में जाकर स्वामीजी का दर्शन प्राप्त किया। उनके दर्शन से मार्ग के समस्त कष्टों को भूल गया और उनके सत्योपदेशों से समस्त गुत्थियां सुलझ गईं। जयपुर में एक बंगाली सज्जन ने मुझ से प्रश्न किया था कि आकाश भी व्यापक है और ब्रह्म भी। दो व्यापक किस प्रकार इकट्ठे रह सकते हैं? मुझ से इसका कुछ उत्तर न बन पाया। मैंने यही प्रश्न स्वामीजी से पूछा। उन्होंने एक पत्थर उठा कर कहा कि इसमें अग्नि व्यापक है, या नहीं? मैंने कहा कि व्यापक है। फिर पूछा कि मिट्टी? मैंने कहा कि व्यापक है। फिर पूछा कि जल? मैंने कहा कि व्यापक है। फिर पूछा कि आकाश और वायु? मैंने कहा कि व्यापक है। फिर पूछा कि परमात्मा? मैंने कहा कि वह भी व्यापक है। कहा कि देखा, कितनी चीजें हैं, किन्तु सभी इसमें व्यापक हैं। वास्तव में बात यह है कि जो जिससे सूक्ष्म होती है वह उसमें व्यापक हो सकती है। ब्रह्म चूंकि सबसे अति सूक्ष्म है, इसलिये वह सर्वव्यापक है। जिससे मेरी शान्ति हो गई।"[१२]

पं. लेखराम ने स्वामीजी से दस प्रश्न बहुत सोच विचार के पश्चात् पूछे, जिनका उन्हें संतोषप्रद उत्तर मिला। महाराज का जीवनचरित लिखते समय उन्हें इनमें से तीन प्रश्नों का ही स्मरण रहा था जो निम्न प्रकार थे--

(१) जीव ब्रह्म की भिन्नता में कोई वेद का प्रमाण बताइये।

उत्तर—यजुर्वेद का सम्पूर्ण ४० वां अध्याय जीव ब्रह्म का भेद निरूपित करता है।

(२) अन्य मतों के मनुष्यों को शुद्ध करना चाहिए या नहीं?

उत्तर—अवश्य शुद्ध करना चाहिए।

(३) विद्युत् क्या वस्तु है और किस प्रकार उत्पन्न होती है?

उत्तर—विद्युत् सर्वत्र है और रगड़ से उत्पन्न होती है। बादलों की विद्युत बादलों और वायु की रगड़ से उत्पन्न होती है।[१३]

२४ मई १८८१ ई.[१४] को जब पं. लेखराम महाराज से विदा होने के लिये उनकी सेवा में उपस्थित हुए, तो स्वामीजी ने अष्टाध्यायी की एक प्रति उन्हें स्मृति रूप में अर्पित की तथा पच्चीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य पालन के पश्चात् ही विवाह करने का आदेश दिया।

स्वामी दयानन्द की अद्भुत कर्म शक्ति के पीछे उनका योगविषयक पुरुषार्थ और साधना ही सहायक बने थे। धर्म संशोधन, समाजसुधार तथा राष्ट्र के नवनिर्माण का यह बृहत् सभारम्भ योगसाधना से उपार्जित शक्ति के बिना सम्भव ही नहीं था। अजमेर में जब पश्चिमी विज्ञान के एक पण्डित ने योगज सिद्धियों के विषय में शंका करते हुए महाराज से प्रश्न किया, तो उसका सम्यक् समाधान करने के पश्चात् स्वामीजी ने स्पष्ट कहा कि देशोत्थान का यह महत् अनुष्ठान, जो उनके द्वारा किया जा रहा है, योगजन्य सिद्धियों के अभाव में किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? सभी प्रकार की साम्प्रदायिक कट्टरता से स्वामी दयानन्द ऊपर उठे हुए थे। इसका एक रोचक उदाहरण अजमेर में उस समय देखने को मिला जब कि उनकी उपस्थिति में ख्वाजा साहब की दरगाह के दीवान के चाचा मीर शफीहुसैन तथा गवर्नमेंट कालेज, अजमेर के हैड पण्डित शालिग्राम शास्त्री किसी वादविवाद में उलझ गये। जब स्वामीजी ने अनुभव किया कि वादी और प्रतिवादी दोनों ही साम्प्रदायिक आवेश के वशीभूत हो गये हैं तो उन्होंने हंसते हुए मीरसाहब से कहा, यदि आप गलत बात कहेंगे तो आपकी दाढ़ी पकड़ी जायगी। पुनः शास्त्रीजी की ओर कर अभिमुख होकर बोले और आपकी चोटी पकड़ कर आपकी गलतबयानी को स्वीकार कराया जायगा। और मैं तो संन्यासी हूँ। मैं दाढ़ी और चोटी के विवाद से ऊपर उठ कर सत्य और न्याय की ही बात कहूंगा।

अजमेर के निकटवर्ती मसूदा ग्राम के रावसाहब बहादुरसिंह की स्वामीजी के प्रति अनन्य भक्ति थी। जब राव साहब को महाराज के अजमेर आगमन का समाचार मिला, तो उन्होंने पं. बृद्धिचन्द के द्वारा श्री सेवा में मसूदा आने हेतु प्रार्थनापत्र भेजा। अतः अजमेर का कार्यक्रम समाप्त कर स्वामीजी ने मसूदा के लिये प्रस्थान किया। आषाढ़ कृष्णा द्वादशी, २३ जून, गुरुवार को वे नसीराबाद तक रेल से आये। वहां से राव साहब के द्वारा भेजे गये रथ पर सवार होकर रात्रि के नौ बजे मसूदा पधारे। नगर के पश्चिमवर्ती राम बाग की बारहदरी में उनके निवास की व्यवस्था की गई। आषाढ कृष्णा त्रयोदशी (२४ जून) से उनके व्याख्यान राज प्रासाद के प्राङ्गण में होने लगे। धर्म, राजनीति, विधवाओं का पुनर्विवाह, सत्यशास्त्र-वेद, मोक्ष आदि विषयों पर उनके बारह व्याख्यान हुए। दो तीन व्याख्यान नगर के बाहर उद्यान में भी हुए।

निकटवर्ती ब्यावर नगर ब्रिटिश शासन के अधीन होने के कारण प्रारम्भ से ही ईसाई प्रचारकों की गतिविधियों का केन्द्र रहा है। २८ जून, आषाढ़ शुक्ला २, मंगलवार को राव साहब की प्रेरणा से इस नगर के पादरी शूलब्रेड एक देशी पादरी बिहारीलाल के साथ स्वामीजी से भेंट हेतु उपस्थित हुए। राव साहब की इच्छा तो यह थी कि पादरी साहब धार्मिक विषयों पर स्वामीजी से शास्त्रार्थ करें, किन्तु पादरी शूलब्रेड ने स्पष्ट कहा कि वे तो महाराज का व्याख्यान सुनने के लिये ही यहां आये हैं। इस पर स्वामीजी ने राजनीति विषय पर एक संक्षिप्त वक्तृता उपस्थित की। व्याख्यान की समाप्ति पर पहले तो पादरी महाशय ने गोमेध तथा अश्वमेध विषयक शंका प्रस्तुत करते हुए इन यज्ञों के वास्तविक स्वरूप को जानना चाहा। इस पर महाराज ने स्पष्ट किया कि वेदों में गाय या अश्व को मार कर यज्ञ करने का विधान कहीं भी नहीं है। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि क्या पादरी साहब वेद संहिताओं से यज्ञों में पशुबध को सिद्ध कर सकते हैं ? महाराज ने चारों वेदों की

संहिताएं पादरी महाशय के सम्मुख रख कर उनसे एक भी ऐसा मंत्र प्रस्तुत करने के लिये कहा जो यज्ञ में गोवध अथवा अश्व के वध का विधान करता हो। पादरी ने यह कह कर अपनी जान छुड़ानो चाही कि उनकी पुस्तकें तो ब्यावर में हैं। किन्तु स्वामीजी भला इस प्रकार उन्हें कब सस्ते में छोड़ते ? तुरन्त कहा कि पुस्तकें तो ब्यावर से मंगाई जा सकती हैं, परन्तु पादरी इसके लिये तैयार नहीं हुए।

पादरी शूलब्रेड का एक अन्य प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण था। उसने पूछा—"पाप कौन सोग अधिक करते हैं ?" इसका तथ्यपूर्ण किन्तु मनोरञ्जक उत्तर देते हुए महाराज ने स्पष्ट किया कि सम्प्रदायाभिमानी व्यक्ति ही अपने दृष्टिकोण की संकीर्णता के कारण धर्म के मौलिक एवं उदात्त तत्त्वों को विस्मृत कर पाप कर्मों में प्रवृत्त होता है। अपने कथन को अधिक स्फुट करते हुए उन्होंने कहा कि पुराणी, जैनी, किरानी और कुरानी लोग ही प्रायः पाप लिप्त होते हैं क्योंकि उनके मतों में पापों के क्षमा किये जाने के अत्यधिक सरल विधान किये गये हैं। अपने कथन की व्याख्या में उन्होंने बताया कि पुराणमतावलम्बी काशी आदि पुण्यक्षेत्रों में जाने मात्र से ही पापों से मुक्ति मान लेते हैं,[१५] तो ईसाई लोग ईसा पर विश्वास लाने तथा मुसलमान 'तोबा' के उच्चारण मात्र से ही पापों से छूट जाना मानते हैं। स्वामीजी के इस कथन में सचाई तो थी ही, अतः अपने प्रश्न का सटीक उत्तर पाकर जब पादरी के लिये कुछ भी कहना शेष नहीं रहा तो उसने व्यंग्यभाव से पूछ लिया—"आप इनमें से किस मत के अनुयायी हैं ?" स्वामीजी उनके व्यंग्यात्मक कथन को समझ गये और निस्संकोच कहा कि वे तो वेद मतानुयायी हैं, अतः उपर्युक्त सम्प्रदायों में से किसी की पाप से मुक्ति विषयक धारणा से बंधे हुए नहीं है। उनका तो विश्वास है कि मनुष्य स्वकृत कर्मों के फल को अनिवार्यतः भोगता ही है।

जब पादरी शूलब्रेड से महाराज का वार्तालाप समाप्त हुआ तो पादरी बिहारीलाल ने मसूदा के राजमहल में स्वामीजी के व्याख्यानों के आयोजन को लक्ष्य में रख कर पूछा कि आप राजाओं और श्रीमन्तों को ही उपदेश क्यों करते हैं, जन साधारण के लिये क्या आपके पास कोई संदेश नहीं है ? महाराज ने उत्तर में स्पष्ट किया कि उनके प्रवचन और उपदेश सर्व सामान्य के लिये होते हैं। उनके प्रवचनों में आने के लिये सभी लोग स्वतंत्र हैं, चाहे वे धनी वर्ग के हों या जनसाधारण। तत्पश्चात् पादरी शूलब्रेड और पादरी बिहारीलाल ने महाराज से विदा ली।

राजस्थान में श्वेताम्बर जैन मतानुयायी बड़ी संख्या के निवास करते हैं। इन दिनों इस सम्प्रदाय की स्थानकवासी शाखा के साधु सिद्धकरणजी मसूदा में चातुर्मास्य व्यतीत कर रहे थे।[१६] राव साहब की इच्छा थी कि जैन साधु से स्वामीजी का शास्त्रार्थ कराया जाय। इन दिनों अधिक वर्षा के कारण रामबाग का निकटवर्ती तालाब जब जल से लबालब भर गया तो भक्त मण्डली को महाराज के निकट उपस्थित होकर उपदेश ग्रहण करने में कठिनाई उपस्थिति होने लगी। इस परिस्थिति में स्वामीजी को निकटवर्ती सोनमगरी नामक पहाड़ी पर बने राव साहब के एक बंगले में रहने के लिये निवेदन किया, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। ९ जुलाई, आषाढ़ शुक्ला १३, को प्रातःकालीन भ्रमण के समय स्वामीजी

की भेंट उक्त जैन साधु से अनायास हो गई, परस्पर परिचय का आदान प्रदान हुआ[१७] और उसके पश्चात् महाराज ने जैन मत के सम्बन्ध के साधुजी से कुछ प्रश्न किये। इनमें से एक प्रश्न स्थानकवासी साधुओं द्वारा मुंह पर पट्टी बांधे रहने तथा ऊष्ण जल पीने से सम्बन्धित था। साधुजी ने प्रश्न का सीधा उत्तर न देकर कहा कि जब तक स्वामीजी भी अपने मुख पर पट्टी न बांध लें, तब तक उनके इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जा सकता। इस प्रकार जब परस्पर वादविवाद हो ही रहा था, कि रावसाहब बहादुरसिंह भी उस स्थान पर आ गये। उन्हें देखकर साधुजी स्वस्थान को चले गये।

तत्पश्चात् रावसाहब ने अपने मुख्य कामदार तथा अन्य प्रतिष्ठित पुरुषों को साधु सिद्धकरण के पास भेज कर शास्त्रार्थ विषयक उनकी रुचि की जानकारी चाही। साधुजी ने पुनः अपने हठ को प्रदर्शित करते हुए कहा कि यदि स्वामीजी भी मुख पर पट्टी बांध लें, तो वे उनसे शास्त्र चर्चा कर सकते हैं। साधुजी की इस विचित्र शर्त को सुन कर महाराज ने उन्हें कहलाया कि यदि वे साधु सिद्धकरण से शास्त्रार्थ में पराजित हो जाते हैं तो निश्चय ही मुख पर पट्टी बांध लेंगे, किन्तु यदि साधुजी ही पराजित हुए तो उन्हें मुख पर बंधी पट्टी को तोड़ कर जैन मत को भी तिलाञ्जलि देनी होगी। परन्तु साधु सिद्धकरण अपनी बात पर अड़े रहे। अन्ततः श्रावण कृष्णा २, १९३८ वि., १३ जुलाई १८८१ को स्वामीजी ने निम्न तीन प्रश्न समाधानार्थ साधुजी को भेजे[१८]—

(१) आप मुख पर पट्टी क्यों बांधते हैं ?
(२) उष्ण जल क्यों पीते हैं ?
(३) जल की एक बूंद में, जो निश्चय ही सान्त है, अनन्त जीव कैसे रह सकते हैं ?

१६ जुलाई को साधुजी ने उत्तर प्रेषित किया,[१९] परन्तु यह उत्तर प्रथम प्रश्न तक ही सीमित था। अवशिष्ट प्रश्नों को अछूता छोड़ दिया गया था। स्वामीजी ने साधुजी द्वारा प्रदत्त प्रश्न के उत्तर का भी प्रत्युत्तर तुरन्त दे दिया किन्तु साधुजी ने उसका कोई समाधान नहीं किया। जब लोगों ने उनसे आग्रह किया कि वे स्वामीजी द्वारा किये गये आक्षेपों का उत्तर दें तो साधु सिद्धकरण, यह कह कर मौन हो गये—म्हारा से तो कोई नहीं बणे, आपां तो साधु हां।" अर्थात् हमसे तो कोई उत्तर नहीं बनता। हम तो साधु हैं।[२०]

इस प्रकरण की समाप्ति के पश्चात् आषाढ़ पूर्णिमा से स्वामीजी के व्याख्यानों की व्यवस्था मसूदा के दुर्ग में की गई। पूरे एक मास की अवधि में स्वामीजी के बाईस व्याख्यान हुए जिन्हें मसूदा निवासियों ने रुचिपूर्वक सुना। व्याख्यानों में श्रोताओं की उपस्थिति पर्याप्त होती थी और लोग यह कहते सुने गये कि धर्म के विषय में उन्होंने अब तक इतने सूक्ष्म, प्रभावोत्पादक तथा प्रगतिशील विचार नहीं सुने।

उन दिनों मसूदा में जैन मतावलम्बी गृहस्थ प्रचुर संख्या में रहते थे। साधु सिद्धकरण से हुई धर्म चर्चा तथा दुर्ग में दिये गये स्वामीजी के व्याख्यानों का एक अद्भुत प्रभाव उस समय देखने में आया जब कि अनेक जैन गृहस्थ वैदिक धर्म की ओर आकृष्ट हुए तथा उन्होंने स्वामीजी से यज्ञोपवीत लेकर विधिवत् वैदिक मत में दीक्षित होने की इच्छा प्रकट की। स्वामीजी ने रावसाहब से परामर्श कर नगर की समीपवर्ती सोनमगरी पहाड़ी पर एक

सुन्दर यज्ञशाला का निर्माण कराया। श्रावण पूर्णिमा, ९ अगस्त को स्वामीजी के आचार्यत्व में यज्ञोपवीत संस्कार की कार्यवाही प्रारम्भ हुई और ३३ व्यक्तियों को उपनयन पूर्वक वैदिक धर्म की दीक्षा दी गई।[२१] इसी प्रकार का एक अन्य यज्ञ दो दिन पश्चात् भाद्रपद कृष्णा द्वितीया, ११ अगस्त को सम्पन्न हुआ। भाद्रपद कृष्णा पञ्चमी, १४ अगस्त को १६ व्यक्तियों ने यज्ञोपवीत ग्रहण किये जिनमें राजपूत, वैश्य, कायस्थ, चारण आदि विभिन्न जातियों के लोग थे।[२२] भारत के धार्मिक इतिहास में यह प्रथम अवसर था जब कि जैन मतावलम्बियों ने सामूहिक रूप में यज्ञोपवीत ग्रहण कर वेदानुमोदित धर्म की दीक्षा ग्रहण की थी।[२३]

मुसलमानी शासनकाल में राजस्थान की कतिपय आदिवासी एवं पिछड़ी जातियों को मुस्लिम शासकों ने बलात् धर्म परिवर्तन कर इस्लाम में दीक्षित कर लिया था। परन्तु इन्हीं जातियों के अवशिष्ट लोग, जो अब भी हिन्दू धर्म के अनुयायी थे, नासमझी के कारण अपनी कन्याओं का विवाह सहवर्ती मुसलमानों से कर देते थे। इस प्रकार हिन्दू लड़कियां मुसलमानों से ब्याही जाती थीं। स्वामीजी को जब इस बात का ज्ञान हुआ तो उन्होंने अजमेर मेरवाड़ा प्रदेश में बसने वाली चीता, मेहरात आदि जातियों के मुखियाओं से सम्पर्क किया तथा उन्हें प्रेरणा देकर अपनी लड़कियों के मुसलमानों से ब्याह देने की प्रथा को बंद कराया। वस्तुतः स्वामी दयानन्द जाति. उपजाति की संकीर्ण काराओं में शतधा आबद्ध हिन्दू समाज को अपनी सम्पूर्ण दुर्बलताओं को त्याग कर सशक्त बनाना चाहते थे। उपर्युक्त प्रसंग को भी इसी संदर्भ में देखा जाना चाहिए।

श्रावण शुक्ला चतुर्थी (३० जुलाई १८८१) को ब्यावर निवासी देशी पादरी बिहारीलाल स्वामीजी से भेंट हेतु पुनः मसूदा आये। इस बार राव साहब ही उनसे शास्त्रार्थ के लिये तैयार हो गये। उन्होंने पादरी से कहा कि आप तो पादरी शूलब्रेड के शिष्य हैं और मैं अपने को स्वामी दयानन्द का शिष्य मानने में गौरव का अनुभव करता हूँ। अतः हम आपस में धर्म संवाद कर सत्यासत्य का निर्णय कर लें। पादरी साहब ने जब इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया तो राव साहब ने ईसा पर विश्वास लाने मात्र से ही जीवन की समस्त समस्याओं के समाधान हो जाने की बात उठाई। उन्होंने बाइबिल को उद्धृत करते हुए कहा[२४] कि आपके धर्म ग्रंथ के अनुसार यदि हम में राई भर भी ईमान (विश्वास) हो, और हम पर्वत से कह दें कि वह चल पड़े तो हमारे विश्वास के कारण पर्वत भी चलायमान हो जायगा। अब राव साहब ने पादरी बिहारीलाल से कहा कि क्या वे अपने विश्वास के बल पर इस सोनमगरी की पहाड़ी को अपने स्थान से विचलित कर सकते हैं? पादरी भला इसका क्या उत्तर देते? मत पन्थों में श्रद्धा का अतिरेक किस प्रकार के अवैज्ञानिक एवं बुद्धि विरुद्ध चिन्तन को प्रश्रय देता है, यह इस प्रसंग से स्पष्ट होता है।[२५]

मसूदा में स्वामीजी का निवास दो मास से कुछ कम रहा। इस बीच जोधपुर राज्य के रायपुर ठिकाने के ठाकुर ने उन्हें अपने यहां आमंत्रित किया। स्वामी दयानन्द का यह राजस्थान प्रवास तो क्षत्रिय समान्त वर्ग में धार्मिक चेतना उत्पन्न करने तथा उनमें कर्त्तव्य-बोध जागृत करने की दृष्टि से ही था।[२६] अतः रायपुर के राजपूत शासक का निमंत्रण

स्वीकार करने में उन्हें अधिक देर नहीं लगी। विदाई के दिन मसूदा के मुख्य राजप्रासाद में एक भव्य आयोजन किया गया। स्वामीजी को बग्घी में सवार करा कर कस्बे के मुख्य बाजार में से होते हुए दुर्ग के प्रमुख द्वार तक लाया गया। यहां राव साहब ने उनका भावभीना स्वागत किया। तत्पश्चात् मुख्य राजप्रासाद के प्राङ्गण में अनेक राजपुरुषों एवं प्रजावर्ग की उपस्थिति में महाराज का राजधर्म एवं प्रजा के कर्त्तव्यों पर एक उद्बोधनात्मक व्याख्यान हुआ। यहां यह ध्यातव्य है कि स्वामीजी विशिष्ट प्रसंग उपस्थित होने पर राज-प्रजाधर्म की व्याख्या करना कभी नहीं भूलते थे। विशेष रूप से जहां शासक वर्ग को सम्बोधित करने का अवसर मिलता, वे राजाओं के कर्त्तव्यों तथा प्रजा के आचरणीय धर्म की व्याख्या अवश्य करते। इस सामयिक चर्चा को वे आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विवेचना से भी अधिक महत्त्व देते थे।

इसके पश्चात् रावसाहब ने स्वामीजी की सेवा में अभिनन्दन पत्र पढ़ा तथा वेदभाष्य की सहायता हेतु पांच सौ रुपये अर्पित किये।[२७] तदनन्तर महाराज को विदा देने हेतु राज्याधिकारियों एवं नागरिकों सहित मसूदा नरेश स्वयं बग्घी के साथ साथ चले। अन्य लोग तो बस्ती से आधा मील दूर तक विदाई हेतु आये, किन्तु राव बहादुरसिंह पांच मील तक स्वामीजी को पहुँचाने गये।

भाद्रपद कृष्णा नवमी १८ अगस्त, गुरुवार को मसूदा से प्रस्थान कर सायंकाल सात बजे महाराज ब्यावर पहुँचे। पादरी बिहारीलाल ने उनके निवास की सुव्यवस्था स्टेशन के निकट एक सराय में कर दी थी। रात्रि को एक बजे रेल से प्रस्थान कर स्वामीजी तीन बजे हरिपुर स्टेशन पहुँचे।[२८] उस समय वर्षा हो रही थी और घोर अंधकार छाया हुआ था। यद्यपि रायपुर के ठाकुर साहब ने स्वामीजी को लिवा लाने के लिये रथ तथा गाड़ियों की व्यवस्था कर दी थी, किन्तु इन वाहनों के चालक घोर निद्रा में बेसुध पड़े थे, अतः उन्हें इस बात का ज्ञान ही नहीं रहा कि स्वामीजी रात्रि के तीन बजे ही गाड़ी से उतर पड़े हैं। ऐसी स्थिति में स्वामीजी तथा उनके सेवकों को स्टेशन मास्टर का ही आतिथ्य स्वीकार करना पड़ा। १९ अगस्त को प्रातःकाल वे रायपुर पहुँचे और उन्हें माधोदास की वाटिका में ठहराया गया।[२९] जब महाराज के आगमन का समाचार ठाकुर हरिसिंह को प्राप्त हुआ, तो वे अपने राज्य कर्मचारियों सहित स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हुए तथा एक स्वर्ण मुद्रा सहित पांच रुपये भेंट स्वरूप अर्पित किये। पारस्परिक कुशलप्रश्न के अनन्तर स्वामीजी ने ठाकुर साहब से ठिकाने की शासन व्यवस्था तथा अधिकारी वर्ग के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की।[३०] स्वामी दयानन्द की सुदृढ़ धारणा थी कि क्षत्रिय शासकों को अपने राज्यों में स्वधर्म में निष्ठावान् तथा आर्य संस्कृति के प्रति अनुराग रखने वाले पुरुषों को ही राज्याधिकारी नियुक्त करना चाहिए। उनका यह विचार औचित्यपूर्ण ही था, क्योंकि हिन्दू बहुल जनता के शासक तथा अधिकारी समुदाय में ही यदि भारत के परम्परागत धर्म एवं संस्कृति के प्रति निष्ठा नहीं होगी, तो वे शासित प्रजा से न तो भावात्मक तादात्म्य ही स्थापित कर सकेंगे और न राजा और प्रजा में समुचित सामञ्जस्य हो सकेगा। इसी दृष्टि से जब स्वामीजी ने रायपुर ठिकाने के मुख्य राज्याधिकारी के सम्बन्ध में कुछ आलोचना की, तो वहां का मुसलमान समुदाय उनसे रुष्ट हो गया। इसी बीच भाद्रपद शुक्ला ३, २७ अगस्त को ईदुलफितर का

त्योहार पड़ा। इस अवसर पर मुसलमानों का एक समुदाय काज़ी के नेतृत्व में स्वामीजी के पास आया। कुछ विचार विमर्श के उपरान्त ये लोग चले गये।

रायपुर के ठाकुर ने स्वामीजी को अपने एक सामन्त चारण हरिदानजी के माध्यम से ही आमंत्रित किया था। आमंत्रण पत्र भेजते समय स्वामीजी से निवेदन किया गया था कि ठाकुर साहब एक बृहत् यज्ञ कराना चाहते हैं; परन्तु अब जब कि महाराज को इस स्थान पर आये कई दिन व्यतीत हो गये और उन्होंने देखा कि यहाँ न तो यज्ञ की कोई तैयारी ही है और न ठाकुर साहब ही उनके धर्म प्रचार के आयोजन में अधिक रुचि ले रहे हैं, तो उन्होंने स्वयं ठाकुर हरिसिंह से इस सम्बन्ध में स्पष्ट जानकारी चाही। उत्तर में ठाकुर ने कहा कि जिन चारण हरिदानजी को यज्ञ की व्यवस्था करनी है, वे इस समय अन्यत्र गये हुए हैं। उनके आने पर ही यज्ञ का कार्यक्रम सम्पन्न हो सकेगा। धर्म प्रचार में ठाकुर की इस विरक्ति को देख कर स्वामीजी ने भी उन्हें सूचित कर दिया कि उनका अगला कार्यक्रम उदयपुर का है। यदि रायपुर में यज्ञादि की व्यवस्था में विलम्ब होता है, तो वे यहां अधिक नहीं रुक सकेंगे।

इसी बीच रायपुर शासक की पत्नी शेखावाटी वाली ठकुरानी के जयपुर में दिवंगत होने का समाचार तार द्वारा ठाकुर साहब को मिला और वे शोकाभिभूत हो अपने निवास में रूढ़िगत और्ध्वदैहिक कृत्यों को पूरा करने में लग गये। इसी प्रसंग में वे गरुड़ पुराण की कथा भी सुनने लगे। ठाकुर के कतिपय दरबारी सामन्तों ने महाराज से निवेदन किया कि वे भी लोकाचार की दृष्टि से ठाकुर साहब के निवास स्थान पर जाकर शोक संवेदना प्रकट करें। स्वामीजी ने संन्यासोचित विरक्ति का प्रदर्शन करते हुए कहा—**"भाई, मैंने तो संसार से सब प्रकार के सम्बन्ध तोड़ दिये हैं। मेरे लिये जीवन एवं मृत्यु समान ही हैं। अतः किसी के प्रति शोक या प्रसन्नता प्रकट करना मुझे अभीष्ट नहीं है। मेरा सम्बन्ध तो धर्मोपदेश तथा जनहित के कार्यों से ही है।"**

जब स्वामीजी ने यह जान लिया कि रायपुर में अधिक काल तक निवास करना किसी प्रकार लाभप्रद नहीं है, तो उन्होंने ठाकुर साहब से विदा मांगी। पत्नी वियोग से दुःखी ठाकुर हरिसिंह स्वयं तो स्वामीजी की विदाई के समय उपस्थित नहीं हुआ, किन्तु उसने अपने मुसाहिबों के माध्यम से कहलाया कि लोक रीति के अनुसार उन्हें भी सेवा में उपस्थित न होने का खेद है। किन्तु वे आशा करते हैं कि निकट भविष्य में पुनः महाराज को धर्म प्रचारार्थ आमंत्रित करने का अवसर उन्हें प्राप्त होगा। वेद भाष्य की सहायतार्थ उन्होंने चालीस रुपये भी अर्पित किये। रायपुर में महाराज का निवास तीन सप्ताह पर्यन्त रहा। भाद्रपद पूर्णिमा, ८ सितम्बर १८८१, गुरुवार को सायंकाल स्वामीजी ने रायपुर से प्रस्थान किया और निकटवर्ती हरिपुर स्टेशन पर पहुँचे। रेलगाड़ी के आने में विलम्ब था, अतः उन्होंने स्टेशन के कर्मचारियों को धर्मोपदेशों से अनुगृहीत किया और रात्रि को दस बजे मारवाड़ जंक्शन से आने वाली गाड़ी में सवार होकर अर्द्ध रात्रि बारह बजे ब्यावर पहुँचे। अवशिष्ट रात्रि उन्होंने स्टेशन की निकटवर्ती सराय में व्यतीत की। ९ सितम्बर को प्रातः वे डाक बंगले में चले गये। ब्यावर में स्वामीजी ने अनेक व्याख्यान दिये। पूर्व परिचित पादरी शूलब्रेड तथा पादरी बिहारीलाल से धर्म विषयक चर्चा भी होती रही।

लगभग बारह दिन ब्यावर में रह कर स्वामी दयानन्द आश्विन कृष्णा १३, २१ सितम्बर, बुधवार को पुनः मसूदा आये और रामबाग में निवास किया। इस बार का यह निवास लगभग दो सप्ताह का था। इस बार कोई विशेष व्याख्यान नहीं हुआ, किन्तु उपस्थित जनों के समक्ष सामान्य रूप में उपदेश तथा धर्मचर्चा होती रही।

मेवाड़ राज्यान्तर्गत बनेड़ा ठिकाने के ठाकुर राजा गोविन्दसिंह मसूदा रावसाहब के मामा लगते थे। राव साहब ने एक पत्र लिख कर बनेड़ा नरेश को स्वामीजी की विशेषताओं से अवगत कराते हुए उनसे निवेदन किया था कि वे यथासुविधा उन्हें आमंत्रित कर धर्म चर्चा से लाभान्वित हों।[३१] तदनुसार राजा गोविन्दसिंह ने उन्हें बनेड़ा के लिये आमंत्रित किया। आश्विन शुक्ला चतुर्दशी ६ अक्टूबर, गुरुवार को मसूदा से प्रस्थान कर हुरड़ा, रूपाहेली, तथा रायला ग्रामों से होते हुए श्री महाराज कार्तिक कृष्णा ३, १० अक्टूबर, सोमवार को बनेड़ा पहुँचे। राजा साहब ने झालरा शिव मन्दिर के कूप के निकट दो शामियाने लगवा कर उनके निवास की व्यवस्था कर दी।[३२] यह स्थान बनेड़ा के सूर्यपोल द्वार के बाहर पूर्व की ओर है।

उसी दिन अपराह्न राजा गोविन्दसिंह[३३] अपने मुसाहिबों के साथ स्वामीजी के दर्शनार्थ पधारे। कुशल प्रश्न के अनन्तर अनेक शास्त्रीय विषयों पर पारस्परिक वार्तालाप हुआ। बनेड़ा नरेश ने जीव, आत्मा तथा परमात्मा का भेद जानना चाहा। उत्तर में स्वामीजी ने जीव तथा आत्मा को तो एक ही तत्त्व बताया, किन्तु परमात्मा को जीवात्मा से भिन्न ठहराते हुए उसे नित्य, कूटस्थ, आनन्दस्वरूप, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान, परात्पर सत्ता के रूप में प्रतिपादित किया। राजा गोविन्दसिंह स्वयं संस्कृतज्ञ थे तथा उन्होंने उपनिषद्, गीतादि ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन भी किया था। अतः उन्हें स्वामीजी से शास्त्रचर्चा करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। बनेड़ा राज्य में परम्परागत रीति से ब्राह्मण लोग यजुर्वेद का अध्यापन तो करते थे, किन्तु अन्य वेदों का उन्हें कोई ज्ञान नहीं था। राजा के आग्रह पर स्वामीजी ने उपस्थित जन समुदाय के समक्ष चारों वेदों के संहिता पुस्तक उपस्थित किये तथा ऋग्वेद की प्रथम ऋचा का सस्वर पाठ किया। बनेड़ा राज्य में संस्कृत भाषा के प्रचार तथा वैदिक अध्ययन की प्रवृत्ति को देख कर स्वामीजी को अत्यन्त प्रसन्नता हुई थी।

दूसरे दिन राजा गोविन्दसिंह पुनः अपने राजकुमारों को लेकर महाराज की सेवा में उपस्थित हुए।[३४] स्वल्प वार्तालाप के पश्चात् स्वामीजी को बताया गया कि राजकुमारों को सस्वर वेदपाठ सिखाया गया है। इस पर स्वामीजी ने राजकुमारों से सामगान सुनाने का अनुरोध किया।[३५] सोलह वर्षीय राजकुमार अक्षयसिंह ने उन्हें निवेदन किया कि उसने वर्णोच्चारण शिक्षा से आरम्भ कर समग्र यजुर्वेद कण्ठस्थ किया है तथा इस वेद के कतिपय अंशों का क्रमपाठ, जटापाठ तथा घनपाठ का भी उसे अभ्यास है। इस पर स्वामीजी ने प्रोत्साहन रूप में राजकुमार द्वय को स्वरचित वर्णोच्चारण शिक्षा, सन्धिविषय तथा संस्कृत वाक्य प्रबोध की प्रतियाँ भेंट कीं। संस्कारविधि की एक प्रति उन्होंने राजा गोविन्दसिंह को भी दी। राजकुमारों के वैदिक अध्ययन का विवरण सुन कर स्वामीजी का प्रसन्न होना स्वाभाविक ही था। उनके आग्रह पर राजकुमार अक्षयसिंह ने यजुर्वेद के प्रथमाध्याय के कतिपय मन्त्र सस्वर

पढ़े, पश्चात् यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय के १६ वें मन्त्र तथा शिवसंकल्प के मन्त्रों को घन पाठ एवं जटा पाठ पूर्वक सुनाया। स्वामीजी ने जब राजपुत्रों से पूछा कि व्याकरण तथा कोष के अन्तर्गत उन्होंने कौन कौन से ग्रन्थ पढ़े हैं, तो उन्हें बताया गया कि इन विद्याओं के अन्तर्गत तो सारस्वत व्याकरण तथा अमर कोष का अध्ययन करने का ही अवसर उन्हें मिला है। स्वामीजी ने स्वमन्तव्यानुसार उन्हें पाणिनीय अष्टाध्यायी के क्रम से संस्कृत व्याकरण में व्युत्पन्न होने का परामर्श दिया।

बनेड़ा राज्य में चक्रांकित वैष्णवमतानुयायी पर्याप्त संख्या में निवास करते थे। एक दिन वैष्णव श्रेष्ठि वर्ग के समक्ष वार्तालाप करते हुए स्वामीजी ने स्पष्ट किया कि विष्णु के शंख, चक्र, गदा आदि चिह्नों से स्व शरीर को दग्ध करने में किसी प्राचीन शास्त्र का कोई प्रमाण नहीं है। इस पर चक्रांकित मतानुयायी एक सेठ ने किसी साम्प्रदायिक ग्रन्थ के एक श्लोक को प्रमाण रूप में उपस्थित किया, जिससे ध्वनि निकलती थी कि वैष्णवचिह्नों से दग्ध मुद्रांकित शरीर वाले को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। स्वामीजी ने सहज हास्य भाव, किन्तु किञ्चित व्यंग्यपूर्वक उत्तर में कहा—"यदि शरीर को तप्त करने से ही स्वर्ग मिलता है तो भड़भूंजे की भाड़ में कूद कर भस्म हो जाने से क्या मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो जायेगी ?" उत्तर तीखा अवश्य था किन्तु इससे स्वामीजी की स्पष्टवादिता तथा साम्प्रदायिक अन्धविश्वासों के प्रति उनका प्रखर आक्रोश का भाव प्रकट होता है।

बनेड़ा राज्य के राजकीय पुस्तकालय में पुरातन वैदिक ग्रन्थों का अच्छा संग्रह था। एक दिन उन्होंने उस सरस्वती भण्डार के सूचीपत्र को मंगाया तथा पुस्तकालय से निघण्टु तथा सामवेद के ग्रन्थ निकलवाये। उन्होंने अपने पास के निघण्टु से पुस्तकालय की निघण्टु की प्रति से ग्रन्थ के पाठ का मिलान किया। इस कार्य में उन्हें बनेड़ा के राज पण्डित नगजीराम से सहायता मिली।[३६] दोनों प्रतियों के मिलान से जो पाठान्तर उपलब्ध हुए, उन पर विचार कर स्व ग्रन्थ के पाठ को सुव्यवस्थित किया। यह कार्य दो दिन में सम्पन्न हुआ। इसी समय 'याज्ञवल्क्यशिक्षा' की प्रतिलिपि भी तैयार करवाई। इसी दिन राजा गोविन्दसिंह अपनी पण्डित मण्डली सहित पुनः श्री सेवा में उपस्थित हुए। पुरोहित मोडाराम ने 'संस्कारविधि' के कतिपय प्रकरणों पर शंकाएँ उपस्थित कीं, जिनका महाराज ने समुचित समाधान किया।[३७] इसी अवसर पर राजकुमारों ने सामवेद का गायन भी प्रस्तुत किया।

बनेड़ा निवासी पंडितगण यदा कदा स्वामीजी के दर्शनार्थ उनके निवास पर जाते रहते थे। राजगुरु पं. बहादुरजी[३८] से सामवेद तथा उसकी स्वर प्रक्रिया तथा गायनपद्धति पर स्वामीजी की चर्चा भी हुई थी। पंडितों के विद्या व्यासंग के कारण स्वामीजी का उनसे सौहार्द भाव स्थापित हो गया था। पं. बहादुरजी तथा उनके पुत्र पं. गौरीशंकर यदा कदा स्वामीजी के अनुरोध को स्वीकार कर उनके चौके में ही भोजन कर लेते थे। पं. नगजीराम को भी स्वामीजी ने अष्टाध्यायी पढ़ने की प्रेरणा दी तथा स्वरचित 'वर्णोच्चारण शिक्षा' तथा 'संस्कृत वाक्य प्रबोध' ग्रन्थ भेंट किये। कार्तिक शुक्ला ३, २५ अक्टूबर के दिन राजा के आग्रह से स्वामीजी गजारूढ़ होकर बनेड़ा के प्राचीन दुर्ग में गये जहाँ उपस्थित पुरुषों के समक्ष उनका प्रवचन भी हुआ। प्राचीन दुर्ग को देख कर महाराज ने प्रसन्नता प्रकट की।

राजा गोविन्दसिंह ने प. लेखराम को बताया था कि वेद के अध्ययन का अधिकार आब्राह्मणचाण्डाल पर्यन्त मनुष्य मात्र को है, इस बात को स्वामी दयानन्द ने एकाधिक बार उनसे कहा था। परन्तु राजा साहब ने यह भी कहा कि जहाँ तक उन्हें स्मरण है, इस मन्तव्य की पुष्टि में उन्होंने कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया था।[३९] इस पर पं. लेखराम ने उन्हें स्मरण कराया कि यह बात तो सम्भव प्रतीत नहीं होती, क्योंकि स्वामी दयानन्द ने ही स्व-लिखित 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में यजुर्वेद के २६ वें अध्याय के द्वितीय[४०] मन्त्र को मनुष्यमात्र के लिए वेदाध्ययन के अधिकार का निरूपण करते हुए प्रमाणरूप में उपस्थित किया है। इस पर राजा साहब ने स्वीकार किया और कहा कि हाँ, उन्हें अब स्मरण आता है कि स्वामीजी महाराज ने यही मन्त्र इस प्रसंग में उद्धृत किया था।

लगभग दो सप्ताह तक बनेड़ा में निवास करने के पश्चात् स्वामीजी ने कार्तिक शुक्ला चतुर्थी, २६ अक्टूबर बुधवार को चित्तौड़ के लिए प्रस्थान किया। भीलवाड़ा और सोनियाणा होते हुए कार्तिक शुक्ला पंचमी, २७ अक्टूबर, गुरुवार को वे मेवाड़ राज्य की पुरातन राजधानी तथा क्षत्रिय इतिहास के गौरवपूर्ण स्थल चित्तौड़गढ़ पहुँचे।

उदयपुर के तत्कालीन महाराजा सज्जनसिंह नवयुवक ही थे।[४१] एक बड़े राज्य के अधिपति होने तथा युवकोचित चापल्य के कारण उनमें धीरे धीरे वे सभी दोष आने लगे थे जो उन दिनों प्रायः सभी राजा और सामन्त वर्ग के युवकों में पाये जाते थे। यद्यपि महाराणा पर्याप्त विचारशील तथा अध्ययन में रुचि रखने वाले थे, किन्तु स्वेच्छाचारी क्षत्रिय शासकों में संसर्ग दोष के कारण जिस प्रकार के नाना व्यसन सहज उत्पन्न हो जाते हैं, वे युवक महाराणा में भी आ ही गये थे। महाराणा के इन चरित्रगत स्खलनों तथा नास्तिकता की ओर उनके विशेष झुकाव को देखकर मेवाड़ के दरबारी वर्ग को विशेष दुःख होता था। मेवाड़ राज्य के उच्च पदाधिकारी कविराजा श्यामलदास[४२] एवं मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या[४३] जैसों की हार्दिक अभिलाषा थी कि किसी भी प्रकार से महाराजा को सन्मार्ग पर लाया जाय। परन्तु यह तब तक सम्भव नहीं था जब तक कि कोई लोकोत्तर गुणसम्पन्न महापुरुष महाराणा का गुरु एवं पथ प्रदर्शक बनकर उन्हें सन्मार्ग की ओर प्रेरित नहीं करता। स्वामी दयानन्द की लोक-विश्रु तकीर्त्ति तथा उनके द्वारा धर्म और समाज के सार्वत्रिक सुधार एवं संशोधन की चर्चा उन दिनों देश में सर्वत्र प्रसरित हो रही थी। समाचार पत्रों में भी स्वामीजी के सुधार कार्य, उनके लोकहित चिन्तन तथा इसी ध्येय की पूर्त्ति हेतु उनके देशव्यापी भ्रमण का वृतान्त भी प्रायः प्रकाशित होता रहता था। पण्ड्याजी तथा कविराजाजी इन समाचारों को महाराणा के दृष्टिगोचर कराने का प्रयत्न करते। इस प्रकार धीरे धीरे स्वामीजी के कार्य तथा उनकी सार्वजनिक प्रवृत्तियों का परिचय महाराणा को मिलने लगा तथा देशोन्नति के कार्य में तत्पर इस अद्भुत संन्यासी के दर्शन की इच्छा उनके मन में जागृत हुई। इसी आधार पर पं. मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने स्वामीजी से पत्र द्वारा सम्पर्क स्थापित किया और उनसे निवेदन किया कि निकट भविष्य में जब उनका राजस्थान में आगमन हो, तो उन्हें अवश्य सूचित किया जाय।

स्वामीजी का चित्तौड़गढ़ जाने का कार्यक्रम अनायास ही बन गया। चित्तौड़ से खण्डवा तक का रेलमार्ग उन दिनों बन कर तैयार हुआ ही था, जिसका उद्घाटन तत्कालीन

वायसराय तथा गवर्नर जनरल लार्ड रिपन के द्वारा होना था। इसी अवसर पर नवम्बर में आयोजित होने वाले दरबार में ब्रिटिश सरकार की ओर से महाराणा को जी० सी० एस० आई० की उपाधि भी दी जाने वाली थी। जब स्वामीजी को चित्तौड़ में आयोजित होने वाले इस दरबार के समाचार मिले, तो उन्होंने इस अवसर को मेवाड़ राज्य के गण्यमान्य राजपुरुषों से मिलने तथा उनमें अपने विचारों के प्रचार करने का एक अलभ्य अवसर दीख पड़ा। अपने चित्तौड़ पहुँचने की सूचना स्वामीजी ने कविराजा श्यामलदास को दी तथा उनसे निवेदन किया कि वे उनके निवास की यथोचित व्यवस्था कर दें। परन्तु इसी दौरान कविराजाजी रुग्ण हो गये, अतः कोई व्यवस्था न हो सकी। इधर स्वामीजी चित्तौड़ पहुँच भी गये तथा गम्भीरी नदी के पश्चिमी तट पर रुण्डेश्वर महादेव के मंदिर में ठहरे। कविराजाजी को जब महाराज के आगमन का वृत्तान्त ज्ञात हुआ तो उन्होंने महाराणाजी से आज्ञा लेकर नदी के तट पर एक बड़ा शामियाना लगवा कर उनके निवास की समुचित व्यवस्था कर दी।

स्वामीजी के चित्तौड़ पहुँचने का समाचार अविलम्ब चतुर्दिक फैल गया। स्वास्थ्य लाभ करने के अनन्तर कविराजाजी भी एक आन्ध्र देशीय विद्वान् के साथ स्वामीजी के दर्शनार्थ उपस्थित हुए। स्वामीजी का इस पंडित से न्यायदर्शन प्रतिपादित पदार्थों की गणना पर विस्तृत वार्तालाप हुआ।[४४] कविराजाजी की प्रेरणा से मेवाड़ राज्य के बड़े बड़े जागीरदार, सरदार तथा राजपुरुष भी स्वामीजी का सत्संग लाभ करने लगे।[४५] स्वामीजी के तेजस्वी व्यक्तित्व तथा उनकी उदात्त विचारधारा का परिचय जब महाराणा सज्जनसिंह को मिला, तो उन्हें भी दर्शनों की उत्सुकता हुई और एक दिन वे प्रच्छन्न रूप से स्वामीजी के निकट जाकर श्रोतृमण्डली में एक सामान्य पुरुष की भाँति बैठ गये। स्वामीजी ने जब एक तेजस्वी व्यक्तित्व वाले पुरुष को जनसमाज में बैठे देखा, तो उनकी ओर संकेत कर कहा कि आप से पहले कभी भेंट नहीं हुई। ऐसा लगता है कि आप प्रथम बार ही यहाँ पधारे हैं। इस पर शाहपुराधीश नाहरसिंहजी ने महाराणा का परिचय देते हुए कहा कि आप ही उदयपुर नरेश महाराणा सज्जनसिंह हैं। इस पर स्वामीजी ने कहा "श्रीमानों का इस प्रकार साधारण आसन पर बैठना ठीक नहीं।" महाराणा ने चतुर्थाश्रमी संन्यासी के प्रति समुचित विनम्रता का परिचय देते हुए कहा, "संन्तों के निकट साधारण आसन पर बैठने में ही गृहस्थों की शोभा है।"[४६] इसके पश्चात् दोनों में अनेक विषयों पर सौहार्दपूर्वक वार्तालाप हुआ। स्वामीजी ने महाराणा की प्रशंसा करते हुए आशा व्यक्त की कि उनके कुशल नेतृत्त्व में मेवाड़ राज्य की सर्वतोमुखी उन्नति होगी। वस्तुतः स्वामीजी की यह हार्दिक इच्छा थी कि राजस्थान के क्षत्रिय राजा आलस्य, प्रमाद, विषयवासना, मद्यपान जैसे दुर्गुणों और दुर्व्यसनों को त्याग कर निष्ठापूर्वक प्रजापालन को ही स्वकर्त्तव्य समझें। राजन्य वर्ग के सुधार की महत्त्वाकांक्षा को लेकर ही स्वामी दयानन्द ने राजस्थान के इन रजवाड़ों में भ्रमण का व्यापक कार्यक्रम बनाया था।

इसी बीच पं. मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या भी उदयपुर से आ गये और स्वामीजी से भेंट की। पण्ड्याजी की सुधार कार्य के प्रति अभिरुचि तथा उनके विद्यावसनी होने की स्वामीजी ने महाराणा के समक्ष प्रशंसा की तथा अनुरोध किया कि ऐसे विचारशील तथा बुद्धिमान् व्यक्तियों का राज कार्य में अधिकाधिक सहयोग लिया जाना चाहिये। महाराजा

ने स्वामीजी को चित्तौड़ के विभिन्न दर्शनीय स्थान दिखलाये[४७] तथा राजधानी उदयपुर पधारने का भी अनुरोध किया। परन्तु उस समय स्वामीजी का विचार बम्बई जाने का था। इसलिए उन्होंने कहा कि बम्बई प्रवास से लौट कर ही वे उदयपुर आयेंगे और अपने आगमन की पूर्व सूचना महाराणाजी को प्रेषित कर देंगे।

नारी जाति के प्रति स्वामीजी के हृदय में कितना सम्मान था, वह चित्तौड़ के ही एक प्रसंग से स्पष्ट होता है। एक दिन स्वामीजी अनेक प्रतिष्ठित पुरुषों के साथ भ्रमणार्थ जा रहे थे। रास्ते में एक देवालय के निकट कई छोटेछोटे बालक क्रीडानिमग्न थे। उन्हीं के बीच चार वर्ष की एक कन्या भी निर्वस्त्र खड़ी थी। स्वामीजी से उसे देख कर सिर झुका लिया। साथ के लोगों ने सोचा कि शायद स्वामीजी ने देवालय की प्रतिमा के आगे ही मस्तक नत किया है। अतः वे कहने लगे, "महाराज आप चाहे मूर्त्तिपूजा का कितना ही खण्डन करें, परन्तु यह देवताओं की महिमा है कि मंदिर के समक्ष आपका मस्तक स्वतः ही झुक गया।" इस पर स्वामीजी ने स्पष्ट किया कि उनका मस्तक देव प्रतिमा के समक्ष नहीं, अपितु जन्मदायनी मातृशक्ति के समक्ष झुका है।

दो मास से कुछ कम समय तक चित्तौड़ में निवास कर स्वामीजी ने बम्बई जाने का विचार किया। विदा के समय महाराणा उदयपुर ने उन्हें ५०० रु० वेदभाष्य प्रकाशन हेतु प्रदान किये। अन्य सामन्तों ने भी २०० रु० इस निमित्त अर्पित किये। पौष अमावस्या, २१ दिसम्बर बुधवार को प्रातःकाल रेल मार्ग से वे इन्दौर पहुंचे। महाराजा तुकोजीराव होल्कर उन दिनों राजधानी में नहीं थे। इन्दौर के न्यायाधीश श्रीनिवासराव ने महाराज का स्वागतसत्कार किया। आतिथेय न्यायाधीश महोदय का आग्रह था कि महाराज लालबाग स्थित राजप्रासाद में निवास करें, किन्तु वीतराग संन्यासी ने केसरबाग मार्ग पर स्थित एक बावड़ी के निकट रहना पसन्द किया।[४८] उनके व्याख्यान नवरत्नमंदिर के पीछे वाले प्राङ्गण में होने लगे जहां जाने के लिये बग्घी की व्यवस्था कर दी गई थी। एक सप्ताह तक इन्दौर में ठहर कर स्वामीजी ने बम्बई के लिये प्रस्थान किया। जब राजधानी में लौटने पर महाराजा तुकोजीराव को स्वामीजी के इन्दौर आगमन का समाचार विदित हुआ, तो उन्होंने बम्बई तार भेज कर खेद प्रकट किया कि स्वामीजी महाराज के उनकी राजधानी में रहने के समय वे कार्यवश बाहर थे। साथ ही उन्होंने यह भी अनुरोध किया कि वे लौटते समय इन्दौर आने का कार्यक्रम बनायें तथा श्रीदर्शनों से उन्हें कृतार्थ करें।

□□

पाद टिप्पणियां

१. अचरोल (भूतपूर्व जयपुर राज्य का एक ठिकाना) के ठाकुर रणजीतसिंह स्वामीजी के प्रिय शिष्य थे। ३ नवम्बर १८७८ ई. को उनके निधन के पश्चात् उनके पुत्र ठाकुर लक्ष्मणसिंह अचरोल की गद्दी के स्वामी हुए। द्रष्टव्य—आर्यसमाज कृष्णपोल बाजार जयपुर के १०० वर्ष, अध्याय ३।

२. पं. घासीराम के अनुसार डेढ़ महीने के उस दीर्घकालीन जयपुर प्रवास में स्वामीजी का एक ही व्याख्यान हुआ था। परन्तु जयपुर आर्यसमाज के इतिहास से ज्ञात होता है कि इस अवधि में उन्होंने देवली जी का मन्दिर, पीतलियों का चौक, परतानियों का मन्दिर, पुरानी बस्ती, कान महाजन का बड़, जागेश्वर महादेव ब्रह्मपुरी, भूरा टीबा, अचरोल ठाकुर का बाग, रामकुमार नन्दराम सोदी का बाग, पुराना घाट आदि कई स्थानों पर व्याख्यान एवं प्रवचन दिये थे। द्रष्टव्य-उपर्युक्तग्रन्थ-अध्याय २, पृष्ठ २७

३. ठाकुर रघुनाथसिंह अचरोल ठाकुर लक्ष्मणसिंह के छोटे भाई थे। १८८३ ई. में ठाकुर लक्ष्मणसिंह के निधन पर उनके निस्संतान होने के कारण ये उक्त ठिकाने की गद्दी पर बैठे। १८९१ ई० में इनका निधन हुआ।

४. जयपुर में वैदिक धर्मसभा की स्थापना ज्येष्ठ पूर्णिमा १९३४ वि., १६ जून १८७७ को हुई। इसके संस्थापक गण महाराजा जयपुर के विरोधपूर्ण रवैये के कारण अपने संगठन का नाम 'आर्यसमाज' रखने में हिचकिचाते थे।

५. पं. कालूराम योगी (जन्म जेष्ठ कृष्णा ६., शुक्रवार १८९३ वि., ६ मई १८३६ ई.) सीकर जिले के रामगढ़ (सेठों का) ग्राम के निवासी गौड़ ब्राह्मण थे। कालान्तर में इन्होंने स्वामी दयानन्द का शिष्यत्व स्वीकार किया। पं. कालूराम का स्वामीजी से विस्तृत पत्र व्यवहार हुआ था। इन्होंने राजस्थान के शेखावाटी प्रान्त (सीकर, झुंझनू तथा चूरू जिले) में आर्यसमाज के सिद्धान्तों का व्यापक प्रचार किया था। ज्येष्ठ शुक्ला १०, १९५७ वि० ७ जून १९०० वि. को इनका निधन हुआ। पं. कालूराम के जीवन की अन्य घटनाओं के लिये द्रष्टव्य—(१) जीवन चरित्र श्री स्वामी कालूरामजी शर्मा—सेठ जयनारायण पोद्दार लिखित १९६८ वि० (२) योगिराज महात्मा कालूरामजी—भवानीलाल भारतीय लिखित २०३१ वि०।

६. राजस्थान के विख्यात इतिहासकार स्व. ठा. जगदीशसिंह गहलोत में अनुसार जयपुर में वेदधर्म सभा (आर्यसमाज) की स्थापना चैत्र शुक्ला २, १९३८ वि., गुरुवार ३१ मार्च १८८१ ई. को हुई थी जब कि आर्यसमाज जयपुर के इतिहास के अनुसार चैत्र शुक्ला ९, १९३८ वि., २८ मार्च १८८१ ई. को पूर्व स्थापित वैदिक धर्मसभा का नाम आर्य-सभा जयपुर कर दिया गया। इसे ही आर्यसमाज जयपुर की स्थापना तिथि समझना चाहिए।

७. जयपुर में उन दिनों शासनतन्त्र में पर्याप्त उथलपुथल चल रही थी। वहां के लोग अंधविश्वासी तथा पिछड़े हुए थे। इस बात का पता एक ऐसी घटना से लगता है जो अभी हाल ही में प्रकाशित हुई है। आर्यसमाज जयपुर के इतिहास के अनुसार—जयपुर प्रवास में एक दिन स्वामीजी आमेर (प्राचीन राजधानी) देखने पधारे। आमेर में एक दादूपंथी साधु बाबा गणेशदास (गुदड़ी वाले बाबा) योगी तथा पहुंचे हुए सन्त माने जाते थे। उनके चमत्कार की अनेक घटनायें जनता में प्रचलित थीं। जब स्वामीजी की इन बाबाजी से भेंट हुई, तो महाराज ने उनसे कहा कि साधुओं को जनता पर भार बन कर नहीं रहना चाहिए। साथ ही उन्होंने उनसे योग विषयक कुछ प्रश्न भी पूछे।

उत्तर में बाबा ने कहा—हम तो पढ़े लिखे नहीं हैं। हमारी विद्या, तपस्या एवं साधना की परीक्षा तो इस प्रकार की जा सकती है कि एक बड़ी चिता जलवाई जाये और उसमें मैं और आप दोनों कूद पड़ें। जो जीवित निकल जावे, उसे ही बड़ा मान लिया जायगा। इस पर स्वामीजी ने बाबाजी को ही प्रथम चिता में कूद कर अपने योग और साधना की परीक्षा देने को कहा, परन्तु बाबा ने मना कर दिया। इस पर महाराज हंस पड़े क्योंकि वे जानते थे कि प्रकृति नियमों के विरुद्ध अग्नि से बच निकलना असम्भव है। अपने सांयकालीन उपदेश में स्वामीजी ने वास्तविक योग की चर्चा की तथा बाबा गणेशदास के कथन को विवेकहीन कहा। (आर्यसमाज कृष्णपोल बाजार के सौ वर्ष-पृ. ३०) जयपुर राज्य के निवासियों के इसी पिछड़ेपन को लक्ष्य में रख कर स्वामीजी ने चौधरी जालिमसिंह को लिखे अपने एक पत्र में स्पष्ट संकेत किया था—"यहां के मनुष्यों का सुधार असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। बहुत काल में सुधरेंगे तो सुधरेंगे, नहीं तो अधिक बिगड़ जायेंगे।" चैत्र शुक्ला ८, गुरुवार १९३८ वि. को लिखा गया पत्र।

८. आगरा के मूल निवासी पं. मुन्नालाल उप्रैती शर्मा राजपूताना मालवा रेलवे में ड्राफ्ट्समैन के पद पर नियुक्त होकर आये थे। १८८१ में अजमेर में आर्यसमाज की स्थापना होने पर ये उसके मंत्री नियुक्त हुए। इसी आर्यसमाज के मासिक मुखपत्र देशहितैषी (प्रकाशनकाल वैशाख १९३९ वि.) ये प्रथम सम्पादक थे। कालान्तर में इन्होंने इसी नगर से १९४१ वि. में भारतोद्धारक नामक एक अन्य मासिक पत्र भी निकाला था। बाद में इनका स्थानान्तरण लाहौर हो गया था। देवसमाज के संस्थापक सत्यानन्द अग्निहोत्री द्वारा प्रथम संन्यास ग्रहण करने तथा उसके अनन्तर अल्प वयस स्वशिष्या देवकी से विवाह कर लेने की विवादास्पद घटना को लेकर इन्होंने एक पुस्तक 'नवीनचन्द्र अग्निहोत्री का गृहस्थ संन्यास' लिखी थी। उप्रैतीजी का निधन २० नवम्बर १८८९ ई. को लाहौर में हुआ।

९. सेठ फतहमल भड़गतिया की कोठी अजमेर में भिनाय की कोठी के उत्तर में (वर्तमान प्रभात सिनेमा के निकट) थी।

१०. अजमेर के नहर मुहल्ला में स्थित।

११. रायबहादुर पं. भागराम पंजाब निवासी थे। वे उस समय अजमेर के सहायक न्याय-आयुक्त (एसिस्टेंट ज्यूडिशियल कमिश्नर) के पद पर कार्य कर रहे थे।

१२. उन दिनों आर्यसमाज अजमेर के साप्ताहिक अधिवेशन लाखन कोठड़ी मुहल्ले में, दर्जियों के मंदिर के पीछे स्थित हटड़ी चौक में लक्ष्मीनारायण दर्जी के मकान में होते थे।—अजमेर और ऋषि दयानन्द (ब्रह्मदत्त सोढ़ा द्वारा संगृहीत तथा ऋषि मेला समिति, अजमेर द्वारा १९५८ ई. में प्रकाशित)

१३. पं. लेखराम रचित जीवनचरित, पृ. ५७०-५७१

१४. ब्रह्मदत्त सोढ़ा के अनुसार २५ मई १८८१ (ज्येष्ठ कृष्णा १२, १९३८ वि.) को पं. लेखराम ने स्वामीजी से पेशावर जाने की आज्ञा मांगी थी।—अजमेर और ऋषि दयानन्द पृ. १३।

१५. अन्यक्षेत्रे कृतं पापं काशीक्षेत्रे विनश्यति ॥ काशीमाहात्म्य, काशीखण्ड।

१६. साधु सिद्धकरण का मसूदा आगमन आषाढ़ शुक्ला १०, ६ जुलाई १८८१ को सरवाड़ (किशनगढ़ राज्य) से हुआ था।

१७. परिचय प्राप्त करने के दौरान साधु सिद्धकरण ने स्वामीजी की दीर्घकाय आकृति को देख कर अत्यन्त अशिष्टता पूर्वक कहा था—"आपका पेट तो बड़ा मोटा है। क्या इसमें ज्ञान भरा है ? आप इस पर लोहे का तवा बांध लीजिये, नहीं तो फट जायगा।" स्वामीजी ने साधु के अशिष्ट वचनों की ओर कर्णपात तक नहीं किया।

१८. ये प्रश्न मसूदा राज्य के कामदार छगनलाल श्रीमाली और ज्योतिषी जगन्नाथ द्वारा भेजे गये थे।

१९. पं. लेखराम के अनुसार प्रश्नों के उत्तर सुजानमल कोठारी के माध्यम से १५ जुलाई को भेजे गये थे। यह सम्पूर्ण प्रश्नोत्तर देशहितैषी (अजमेर) (श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, १९३९, खण्ड १-संख्या ४,५,६) में प्रकाशित हुए थे। इस शास्त्रार्थ वृत्तान्त को पं. वृद्धिचन्द्र श्रीमाली ने लेखबद्ध कर उक्त पत्र में प्रकाशनार्थ भेजा था।

२०. इस शास्त्रार्थ के विस्तृत विवरण के लिये द्रष्टव्य—दयानन्द शास्त्रार्थ संग्रह—सम्पादक डा. भवानीलाल भारतीय, प्रथम संस्करण २०२७ वि.।

२१. यज्ञोपवीत ग्रहण करने वाले ३३ व्यक्तियों के नामों की एक सूची पं. लेखराम ने स्वरचित जीवनचरित (पृ. ७३७) पर दी है। इसमें से अधिकांश जैन थे। एक अन्य सूची पं. वृद्धिचन्द्र श्रीमाली ने देशहितैषी में प्रकाशनार्थ भेजी थी। इसमें जैनियों के अतिरिक्त कायस्थ, चारण तथा ब्राह्मणों के नाम भी उल्लिखित हैं। द्रष्टव्य—दयानन्द शास्त्रार्थ संग्रह में उद्धृत शास्त्रार्थ मसूदा।

२२. इस दिन जिन १६ राजपूतों ने यज्ञोपवीत ग्रहण किये, उनके नाम पं. वृद्धिचन्द्र श्रीमाली ने 'देशहितैषी' को प्रेषित किये थे। यह सम्भव है कि श्रीमाली द्वारा प्रेषित सूची के अन्तर्गत आने वाले चम्पालाल तथा छुट्टनलाल कायस्थ तथा कल्लूजी चारण ने दूसरी बार के आयोजन में अपना उपनयन संस्कार कराया हो।

२३. इस घटना के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भारतमित्र कलकत्ता ने अपने ८ दिसम्बर १८८१ के अंक में लिखा—"स्थान मसूदा जिला अजमेर में स्वामी दयानन्दजी के व्याख्यानों को सुनकर ३५ मनुष्यों ने जैनमत को छोड़ कर वैदिक धर्म प्रेम से अंगीकार किया। विद्वानों के व्याख्यानों का ऐसा ही प्रभाव होता है।"
आर्य दर्पण (खण्ड ४ संख्या ४६, अक्टूबर १८८१) तथा भारत सुदशाप्रवर्त्तक (खण्ड ३ संख्या ५, दिसम्बर १८८१) ने भी जैनमतावलम्बियों द्वारा वैदिक धर्म ग्रहण करने की घटना को विस्तारपूर्वक उद्धृत किया था।

२४. बाइबिल का नया नियम (New Testament) पर्व १०, आयत २०।

२५. पूरे विवरण के लिये देखें—दयानन्दशास्त्रार्थ संग्रह के अन्तर्गत शास्त्रार्थ मसूदा—(२) मसूदा में ही अगस्त १८८१ के प्रथम सप्ताह में स्वामीजी का एक कबीरपंथी साधु से भी कुछ विचार हुआ था, जिसका विवरण पं. वृद्धिचन्द्र श्रीमाली ने देशहितैषी के मार्गशीर्ष १९३७, खण्ड १ अंक ८ में प्रकाशनार्थ प्रेषित किया था। उपर्युक्त दयानन्द-

शास्त्रार्थ संग्रह में इसे शास्त्रार्थ मसूदा (१) 'एक कबीर पंथी साधु से प्रश्नोत्तर' शीर्षक से उद्धृत किया गया है।

२६. स्वामी दयानन्द के जीवन तथा विचारों के विश्लेषक डा. जॉर्डन्स की यह धारणा इस संदर्भ में अत्यन्त प्रासंगिक है—He always considered his mission to embrace the whole of Aryavarta, and it was only natural that his interest should turn to the princely states, that other half of the country generally bypassed by the reformers. (Dayananda Sarasvati : His Life and Ideas, P. 226)

२७. ब्रह्मचारी रामानन्द तथा महाराज के कहार को भी राव साहब ने पुरस्कृत किया।

२८. पं. घासीराम का यह उल्लेख (उनके द्वारा संगृहीत जीवन चरित्र भाग २ पृ. २७५) स्पष्ट ही त्रुटिपूर्ण है कि स्वामीजी ब्यावर से रात को १० बजे चल कर ३ बजे हरिपुर पहुंचे। ब्यावर और हरिपुर स्टेशन के बीच की इतनी दूरी नहीं है कि उस समय भी रेल की यात्रा में ५ घण्टे लगते।

२९. सम्प्रति रायपुर तहसील का मुख्यालय।

३०. शेख इलाहीबख्श उस समय रायपुर ठिकाने के कामदार (मुख्य सचिव) पद पर थे।

३१. इस पत्र के प्रासंगिक अंश इस प्रकार हैं—"स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी संन्यासी छै, जांको नांव राज सुण्यो होसी। वै अठै आया छा और आसरे दो महीना तांही अठै रहवा सूं वां कनां अठै वेद व राजनीति व धर्मशास्त्र की केई बातां की चर्चा सुणवा में आई। सो मन बहुत राजी हुवो। स्वामीजी वेद और व्याकरण व राजनीति वगैरः मतमतान्तर सब बातां में निपुण छै।

आखा वेद मारग की बातां वा राजनीति की बातां छी सूं सब कितरीक जाती रही छी जानें यां प्रकाश करी छे। और ईसाई वा मुसलमान वा जैनी वगैरह वां सूं चर्चा करै वांने वाका मत सूं खण्डन कर देवे सूं वासूं पाछो जवाब बणे नहीं और आपणा मत में कोई दूषण काढ़ै जीने उत्तर आछी तरह देकर समझा देवे छे। दूषण सावत नहीं होवा देवे और ऊंने भरम होवै सूं भरम निकाल देवे छै। बहुत आछा छै। आजकाल विद्वान् यां जिस्या हिन्दुस्तान में और सुनबा में आया नहीं।..... सो राज की मरजी वांसूं मिलबा की होवै तो एक भला आदमी ने कागद एक स्वामीजी के नांवा लिखवा कर भिज्या दिरासी और अठै पाछा समाचार लिखावसी सूं स्वामी जी ने अठा सूं भी लिखवां में आवै।" आश्विन कृष्णा दशमी १९३८ वि. को लिखे गये राजस्थानी भाषा के इस पत्र का भाव इस प्रकार है—"स्वामी दयानन्द सरस्वती संन्यासी हैं जिनका नाम आपने सुना होगा। वे यहां आये थे और अनुमानतः दो मास तक उनके यहां रहने से उनसे वेद, राजनीति तथा धर्मशास्त्र को अनेक बातें सुनने में आईं। इससे मन बड़ा प्रसन्न हुआ। स्वामीजी वेद, व्याकरण और राजनीति आदि में तथा मतमतान्तरों की जानकारी में पूर्ण निपुण हैं। ये उन बातों को प्रकाशित करते हैं जो समस्त वेदमार्ग तथा राजनीति के विषय के अन्तर्गत आती हैं, जिनमें से अधिकांश अब लुप्त हो चुकी हैं। ईसाई, मुसलमान तथा जैनियों से शास्त्रचर्चा करते समय वे उन्हीं

के मत की बातों से उनका खण्डन कर देते हैं, जिससे उन लोगों को कोई उत्तर देते नहीं बनता। और जो अपने (वैदिक) मत में दोष निकालता है तो उसे भली भांति उत्तर देकर समझा देते हैं। दोष सिद्ध नहीं होने देते और प्रतिपक्षी को जो भ्रम होता है, उसे दूर कर देते हैं। बहुत अच्छे हैं। आजकल भारत में इनके जैसा और कोई विद्वान् सुनने में नहीं आया। ....अतः यदि आपकी इच्छा इनसे भेंट करने की हो तो एक सज्जन पुरुष के हाथ स्वामीजी के नाम पत्र लिखकर भेज दें तथा पुनः समाचारों से सूचित करें ताकि स्वामीजी को यहां से भी लिखा जा सके।" पूरा पत्र परोपकारी अजमेर के चैत्र २०१८ वि० (अप्रैल १९६१ ई.) के अंक में प्रकाशित हुआ है।

३२. स्वामीजी के निवास की समुचित व्यवस्था करने के लिये रावसाहब मसूदा ने अपने आश्विन शुक्ला १२, १९३८ वि० मंगलवार के पत्र में विस्तृत निर्देश बनेड़ा नरेश को दिये थे। उनका यह पत्र भी परोपकारी के उपर्युक्त अंक में प्रकाशित हुआ है।

३३. राजा गोविन्दसिंह (१८९० वि.—१९६१ वि.) बनेड़ा राज्य के १० वें शासक थे। वैदिक अध्ययन एवं शास्त्रोक्त कर्मकाण्ड के प्रति इनकी गहरी रुचि थी। विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य—राजगुरु नगजीराम शर्मा लिखित 'वीरवंश वर्णनम्' काव्य का एकादश पर्व, १९८५ वि. में प्रकाशित।

स्व. राजगुरु नगजीराम शर्मा ने स्वामी दयानन्द के बनेड़ा प्रवास का विस्तृत विवरण पृथकशः भी लिखा था, जिसे उनके भतीजे श्री हरिनारायण देराश्री से प्राप्त कर आर्य-समाज बनेड़ा के दिवंगत मंत्री श्रीकृष्ण नारद ने सार्वदेशिक साप्ताहिक (१२ अप्रैल, २६ अप्रैल, ३ मई तथा १० मई १९७०) के अंकों में ४ किस्तों में संक्षिप्त रूप से प्रकाशित किया था। इस वृत्तान्त के अनुसार राजा गोविन्दसिंह सपरिवार अपरान्ह ३ बजे महाराज के दर्शनार्थ पधारे। उनके साथ दोनों राजकुमार, सामन्तगण, राज्य कर्मचारी तथा नगर के प्रमुख सेठ साहूकार भी थे। राजा गोविन्दसिंह ने प्रथम संस्कृत में ही स्वामीजी का, स्वयं के राज्य में आगमन पर, हर्ष प्रकट करते हुए स्वागत किया तथा कुशल प्रश्न पूछा। तत्पश्चात् उन्होंने उपस्थित लोगों की सुविधा को देखकर स्वामीजी से जीव तथा ब्रह्म की एकता के विषय में हिन्दी में प्रश्न पूछे।

३४. पं. नगजीराम शर्मा के अनुसार स्वामीजी आश्विन शुक्ला १४, गुरुवार ६ अक्टूबर को बनेड़ा पहुंचे थे तथा दूसरे दिन ७ अक्टूबर को राजा गोविन्दसिंह उनसे भेंट हेतु आये। किन्तु पं. लेखराम द्वारा संगृहीत प्रामाणिक तिथिक्रम के अनुसार तो स्वामीजी ६ अक्टूबर को मसूदा से चल कर हुरड़ा पहुंचे थे। ततपश्चात् रूपाहेली (७ अक्टूबर) तथा रायला (८ अक्टूबर) में एक दिन और एक रात रुक कर वे १० अक्टूबर को बनेड़ा पहुंचे। इस प्रकार शर्माजी द्वारा प्रस्तुत तिथियाँ अविश्वसनीय ठहरती हैं।

३५. युवराज अक्षयसिंह (१९२२ वि.-१९६५ वि.) तथा द्वितीय राजकुमार रामसिंह ने स्वामीजी के समक्ष सस्वर सामवेद गायन किया था। राजगुरु नगजीराम शर्मा ने इस घटना का विवरण इस प्रकार काव्यबद्ध किया है—

श्रुत्वैनयो राजकुमारयोर्वरं
गानंश्रुतेः पाठ्यमतुष्यदाश्वलम् ॥ —वीरवंशवर्णनम् ११।२४

३६. पं. नगजीराम शर्मा प्रदत्त विवरण के अनुसार सरस्वती भंडार का सूचीपत्र स्वामीजी ने कार्तिक कृष्णा द्वादशी, १९ अक्टूबर को देखा था। स्वयं शर्माजी ही सूचीपत्र लेकर महाराज की सेवा में उपस्थित हुए थे। उस समय उनके मस्तक पर लगे त्रिपुण्ड्र को देखकर स्वामीजी मुस्कराये और पण्डितजी के यह कहने पर कि इस लोक के कल्याण-कारी शिव नामक एक राजा का मैं एक सैनिक हूं और उसी राजा की सेना के एक चिन्ह के रूप में मैंने यह तिलक अपने मस्तक पर धारण किया है, स्वामीजी जोर से हंस पड़े। इस घटना से यह स्पष्ट तो होता ही है कि साम्प्रदायिक चिन्हों के खण्डन में स्वामीजी की तत्परता को देख कर इन चिन्हों के धारण करने वाले लोग भी नाना प्रकार से इन बाह्याचारों की बुद्धिपरक व्याख्या करने लगे थे।

३७. यह संस्कारविधि का प्रथम संस्करण था जो १८७७ ई. में बम्बई में छपा था। इसमें गृह्यसूत्रों के आधार पर कतिपय ऐसे विधान भी सम्मिलित कर लिये गये थे जो स्पष्टतः मांसाहार का समर्थन करते थे। यथा अन्नप्राशन में बालक को मांस देना आदि। परन्तु स्वामीजी ने ऐसे प्रसंग तत् तत् ग्रन्थ अथवा ग्रन्थकार का मत प्रदर्शित करने के लिये ही संगृहीत किये थे। यह उनका निज का मत नहीं था। कुछ ऐसी ही शंका पुरोहित मोडीराम ने की थी।

३८. पं. बहादुरजी मूलतः नवलगढ़ (जिला सीकर) निवासी थे। ये आदिगौड ब्राह्मण थे तथा अपने युग के अद्वितीय पण्डित थे। १९२४ वि. (१८६७ ई.) में जब बनेड़ा में चक्रांकितों के साथ वेदवादियों का कोई शास्त्रार्थ हुआ था, उस समय शास्त्रार्थ के मुख्य प्रवक्ता स्वामी जीवनगिरि के साथ ये वहाँ आये थे। इनकी विद्वता से प्रभावित होकर राजा गोविन्दसिंह ने इन्हें अपनी राजधानी में ही रख लिया तथा इनसे पढ़ते रहे।

३९. पं. लेखराम रचित जीवनचरित पृ. ५९२.

४०. यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्या ॐ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय॥

४१. महाराणा सज्जनसिंह—(८ जुलाई १८५९ ई.–१८८४ ई.) अपने चचेरे भाई महाराणा शम्भुसिंह के निधन पर ७ अक्टूबर १८७४ को मेवाड़ की गद्दी पर बैठे। महाराणा सज्जनसिंह काव्यानुरागी, साहित्यरसिक तथा सुधारक प्रवृत्ति के थे। विस्तृत जीवन चरित के लिये द्रष्टव्य—परोपकारी वर्ष १, अंक ५-८—मांगीलाल कविकिंकर लिखित सज्जनचरित्र।

४२. कविराजा श्यामलदास (१८९३ वि.-१९५१ वि.) दधिवाड़िया गोत्र के चारण थे। संस्कृत, हिन्दी तथा राजस्थानी (डिंगल) भाषा के मर्मज्ञ श्यामलदास को उदयपुर नरेश ने १९३५ वि. में 'कविराजा' की उपाधि प्रदान की। 'वीरविनोद' इनका प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ है जो ३००० पृष्ठों में लिखा गया है।

४३. मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या—(१९०७ वि.—१९६५ वि.) मथुरा में जन्मे पण्ड्या मोहनलाल विष्णुलाल मूलतः गुजराती थे। इनका अध्ययन सेंट जॉन्स कालेज, आगरा तथा काशी के क्वीन्स कालेज एवं जयनारायण कालेज में हुआ। साहित्य के प्रति

प्रारम्भ से ही अभिरुचि रही। बनारस में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का संसर्ग प्राप्त हुआ। १८७७ ई. में ये मेवाड़ राज्य की सेवा में आये। कालान्तर में वहाँ की स्टेट कौन्सिल के सदस्य तथा सचिव भी रहे। स्वामीजी ने इन्हें परोपकारिणी सभा का सभासद तथा उपमन्त्री मनोनीत किया था। उसी अधिकार से महाराज के निधन के उपरान्त उन्होंने स्वामीजी की पुस्तकों तथा धन आदि को स्वअधिकार में लिया था।

४४. सुब्रह्मण्य शास्त्री तैलंग से स्वामीजी का यह शास्त्र विचार वैशेषिक दर्शन में स्वीकार किये गये षट् पदार्थों के विषय में हुआ था। स्वामीजी काणाद दर्शन में प्रतिपादित द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय को लेकर ६ पदार्थ स्वीकार करते थे, जब कि शास्त्रीजी अभाव नामक सातवें पदार्थ को भी मानते थे।

४५. जो लोग स्वामीजी के सत्संग में आते थे उनमें आसींद के राव अर्जुनसिंह, भीलवाड़ा निवासी राजा फतहसिंह, शाहपुराधीश नाहरसिंह, कानोड़ के रावत उम्मेदसिंह तथा बड़ी सादड़ी के राजराणा रायसिंह आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

४६. यह घटना स्वामी सत्यानन्द लिखित श्रीमद्दयानन्दप्रकाश में वर्णित है।
द्रष्टव्य—राजस्थान काण्ड-प्रथम सर्ग।

पं. लेखराम के अनुसार स्वामीजी महाराणा द्वारा आमन्त्रित होकर १५ नवम्बर १८८१ को उनसे भेंट करने गये थे। इसके पश्चात् ४ दिसम्बर १८८१ मार्गशीर्ष शुक्ला १४ सं. १९३८ वि. रविवार को महाराणा ने स्वामीजी के नदी तटवर्ती निवास पर जाकर उनके दर्शन किये।

४७. कहते हैं कि चित्तौड़ दुर्ग को देख कर स्वामीजी ने स्वशिष्य स्वामी आत्मानन्द के समक्ष विचार प्रकट किया था कि क्षत्रियों के गौरव और शौर्य के प्रतीक इस चित्तौड़गढ़ में प्राचीन परिपाटी के गुरुकुल की स्थापना होनी चाहिए। (ताराचन्द गाजरा लिखित The Life of Swami Dayanand P. 66) कालान्तर में आर्यसमाज के ही एक निष्ठावान संन्यासी स्वामी व्रतानन्द (पूर्व नाम युधिष्ठिर विद्यालंकर) ने स्वामी जी की इस मनोकामना की पूर्ति की दृष्टि से गुरुकुल चितौड़गढ़ की १९८६ वि. में स्थापना की।

४८. जब महर्षि दयानन्द सरस्वती इन्दौर आये। आर्यमित्र लखनऊ, ८ जून १९७५ के अंक में मनुदेव अभय का लेख।

अतिरिक्त टिप्पणी

संस्कृत भाषा का सुगम रीत्या ज्ञान कराने की दृष्टि से स्वामी दयानन्द ने चौदह भागों में वेदाङ्ग प्रकाश की रचना कराई। पं. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के अनुसार इन ग्रन्थों को लिखने की प्रेरणा रावलपिंडी निवासी श्री किशनचन्द तथा श्री गोपीचंद ने स्वामीजी को दी थी। अस्तु। इन ग्रन्थों की रचना मुख्यतः पं. भीमसेन, पं. ज्वालादत्त तथा पं. दिनेश-राम आदि पण्डितों ने की थी। यत्र तत्र स्वामीजी का निर्देशन तो उन्हें मिला ही था। इनका लेखन काल एवं प्रकाशन काल १९३६ वि. (वर्णोच्चारण शिक्षा १९३६ वि.) से लेकर १९४० वि. (निघण्टु का मुद्रणकाल १९४० वि.) तक का है। विस्तृत जानकारी के लिये द्रष्टव्य—ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास पं. युधिष्ठिर मीमांसक कृत २००६ वि. में प्रकाशित। □□

मुम्बई का अन्तिम प्रवास

पौष शुक्ला १०, ३० दिसम्बर १८८१, शुक्रवार को स्वामी दयानन्द ने भारत के महानगर बम्बई में अन्तिम बार पदार्पण किया। रेल्वे स्टेशन पर उनका स्वागत करने के लिये बड़ी संख्या में आर्य सभासद् उपस्थित थे। कर्नल ऑल्काट भी महाराज की अगवानी के लिये आये थे। इस बार भी उनके निवास की व्यवस्था बालकेश्वर स्थित गोशाला में की गई। बम्बई में आर्यसमाज को स्थापित हुए सात वर्ष पूरे हो रहे थे। इस दीर्घकालीन बम्बई निवास की अवधि में आर्यसमाज के रविवारीय साप्ताहिक अधिवेशनों में स्वामीजी के अनेक व्याख्यान हुए। इन व्याख्यानों का विस्तृत विवरण हाल ही में आर्यसमाज बम्बई के प्राचीन कार्यवाही रजिस्टरों से उपलब्ध हुआ है।[1] इस विवरण से ज्ञात होता है कि उन दिनों आर्यसमाज बम्बई के साप्ताहिक सत्संग सायंकाल के समय हुआ करते थे।[2] उस समय तक आर्यसमाज के मंदिर का निर्माण नहीं हुआ था, अतः आर्यसमाज के अधिकारी भिन्न भिन्न स्थानों (यथा विद्यालय, व्याख्यानगृह) पर अपने अधिवेशन आयोजित करते थे।[3] अधिवेशन में बोलने वाले वक्ता के नाम तथा विषय की सूचना समाचारपत्रों में पहले से ही प्रकाशित हो जाती थी, अतः सभा-स्थल पर श्रोतागण पर्याप्त संख्या में उपस्थित होते थे। यहां हम प्राप्त विवरण के आधार पर स्वामीजी के इन प्रवचनों की विवेचना करेंगे।

प्रथम व्याख्यान—पौष शुक्ला १२ सं. १९३८ वि.[4] रविवार १ जनवरी १८८२ ई. खीस्ताब्द १८८२ का यह प्रथम दिन था। रविवार होने के कारण सायंकाल साढ़े पांच बजे आर्यसमाज बम्बई के सत्संग में स्वामी दयानन्द का **धर्मोन्नति** विषय पर सरस व्याख्यान हुआ। सभा की कार्यवाही अंकित करने वाले ने लिखा है कि इस भाषण का प्रत्येक शब्द लिखने योग्य था, किन्तु हम लोगों में कोई आशुलिपिक न होने के कारण यह लाभ नहीं मिल सका। स्वामीजी की वक्तृता के आरम्भ होने के पहले गायक ने स्तुति गायन किया था।

द्वितीय व्याख्यान—पौष कृष्णा ४, १९३८ वि. रविवार, ८ जनवरी १८८२ ई. सायंकाल साढ़े पांच बजे सभा प्रारम्भ हुई।

इस सभा में एक हजार से अधिक लोग उपस्थित थे। स्वामीजी का व्याख्यान **धर्मोन्नति** (गत सप्ताह के विवेचन से आगे) विषय पर हुआ। आज की वक्तृता में विद्वान् वक्ता ने अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत तथा शुद्धाद्वैत सिद्धान्त की समीक्षा की।[5] इस प्रसंग में उन्होंने स्पष्ट किया कि वेदान्त का मत अद्वैत कहा जाता है। यह इस अर्थ में तो ठीक है कि ब्रह्म में द्वैत नहीं है, वह एक ही है, किन्तु इससे जीव तथा प्रकृति का निषेध नहीं मानना चाहिए। इसी प्रसंग में उन्होंने अद्वैत मत में स्वीकार्य अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि आदि तथाकथित महावाक्यों के वास्तविक अभिप्राय को स्पष्ट किया।[6] सभा का कार्य आठ बजे तक चला।

तृतीय व्याख्यान—पौष कृष्णा ११, १९३८ वि. रविवार ११ जनवरी १८८२ ई. समय—सायंकाल साढ़े पाँच बजे।

सभा में एक हजार से अधिक सद्गृहस्थ उपस्थित थे। स्वामीजी ने परमात्मा की उपासना के पश्चात् **धर्मोन्नति** के विषय पर अवशिष्ट कथन किया। इसमें उन्होंने रामानुज, मध्व, निम्बार्क तथा वल्लभ के दार्शनिक मतों की समीक्षा की। सभा आठ बजे तक चली।[७]

चतुर्थ व्याख्यान—माघ शुक्ला ११, १९३८ वि., ई. रविवार २२ जनवरी १८८२ आज की सभा फ्रामजी कावसजी इन्स्टीट्यूट के भवन में सायं साढ़े पाँच बजे सम्पन्न हुई। उपस्थिति दो हजार से अधिक थी। स्वामीजी ने **अहिंसा और ईसाई मत** पर अपने विचार प्रकट किये। प्रथम अहिंसा की विवेचना करते हुए उन्होंने आरोप लगाया कि विदेशियों की संख्या अत्यधिक बढ़ जाने से हिंसा भी बढ़ गई है। इसी प्रसंग में उन्होंने गोहत्या के अनौचित्य को सिद्ध किया। वक्ता की निर्भीकता तथा उसका स्पष्ट कथन सराहनीय था। अहिंसा पर पर्याप्त प्रकाश डालने के अनन्तर लगभग ७ बजे वक्ता ने क्रिश्चियन धर्म की आलोचना प्रारम्भ की। सभा आठ बजे समाप्त हुई।

पञ्चम व्याख्यान—२२ जनवरी के व्याख्यान में चर्चित विषय पूर्णता तक नहीं पहुँचे थे। अतः २७ जनवरी शुक्रवार को पुनः उपर्युक्त स्थान पर ही सभा आयोजित की गई। सप्ताह के बीच में सभा आयोजित करने का एक अन्य कारण यह भी था कि स्थानसंकोच-वश गत बार की सभा में अनेक विचारशील श्रोताओं को निराश होकर लौटना पड़ा था। आज की सभा में भी विगत रविवार के विषयों को ही लिया गया।

षष्ठ व्याख्यान—माघ कृष्णा २, १९३८ वि. रविवार ५ फरवरी १८८२। आज की सभा आर्यसमाज तथा 'आर्य ज्ञानवर्द्धक सभा' के संयुक्त तत्त्वावधान में सायं चार बजे 'हालाई महाजनवाड़ी' नामक स्थान में हुई। स्वामी दयानन्द ने अपनी वक्तृता में पुनः **अहिंसा** विषय को ही उठाया, परन्तु आज के व्याख्यान में धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा की आलोचना की तथा अश्वमेध, गोमेध आदि शब्दों के वास्तविक अभिप्राय को स्पष्ट किया।[८] प्रासंगिक रूप से वेदों में रूपकात्मक शैली में वर्णित उन तथाकथित उपाख्यानों[९] का भी स्पष्टीकरण किया जो परवर्ती पुराणादि ग्रन्थों में अत्यन्त स्थूल तथा विकृत रूप धारण कर वर्णित किये गये हैं।

सप्तम व्याख्यान—माघ कृष्णा २, १९३८ वि. रविवार ५ फरवरी १८८२। आज की सभा भी 'हालाई भाटिया महाजनवाड़ी' में सम्पन्न हुई जिसमें स्वामीजी का व्याख्यान पुनः **मनुष्योन्नति** विषय पर हुआ। आलोच्य व्याख्यान में उन्होंने ब्रह्मचर्य के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए प्रारब्ध की अपेक्षा पुरुषार्थ पर बल दिया। १२ फरवरी के 'जामेजमशेद' तथा 'मुम्बई समाचार' (गुजराती पत्र) ने इस भाषण पर अपनी प्रशस्तिमूलक टिप्पणियां लिखीं। इस व्याख्यान में सभापति का आसन मौरवी नरेश ठाकोर साहेब वाघजी बहादुर ने ग्रहण किया था। व्याख्यान की समाप्ति पर जब मौरवी नरेश जाने लगे तो स्वामीजी ने उन्हें रोक कर कहा—"आप जाने में शीघ्रता क्यों करते हैं? अभी आपके इस व्याख्यान में जो कुछ सुना है, वह आपका ही है।" महाराज के उस अस्पष्ट कथन को जब ठाकोर साहेब समझने

में असमर्थ रहे तो उन्होंने स्वयं ही स्वाभिप्राय को स्पष्ट करते हुए कहा कि इस वक्तृता को प्रस्तुत करने वाला आपके राज्य की ही प्रजा है। मौरवी नरेश को सभा में लाने का श्रेय स्वामीजी के अनुयायी व भक्त सेठ लक्ष्मीदास खीमजी को था।

अष्टम व्याख्यान—माघ कृष्णा ९, १९३८ वि. रविवार १२ फरवरी १८८२ सायंकाल साढ़े चार बजे फ्रामजी कावसजी इन्स्टीट्यूट में **मनुष्योन्नति** विषय पर स्वामीजी का प्रवचन हुआ।इसमें स्वामीजी ने शारीरिक सम्पत्ति की रक्षा पर बल देते हुए वीर्यरक्षण को मानव उन्नति का मूल सिद्ध किया।

नवम व्याख्यान—फाल्गुन शुक्ला २, १९३८ वि. रविवार १९ फरवरी १८८२ यह सभा भी फ्रामजी कावसजी इन्स्टीट्यूट में हुई थी। **मनुष्योन्नति** शीर्षक व्याख्यान माला की यह अन्तिम किस्त थी। इसमें वक्ता ने प्रारब्ध और पुरुषार्थ की व्याख्या करने के अनन्तर ईश्वर की सगुण एवं निर्गुण स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना का सरस विवेचन किया।

दशम व्याख्यान—फाल्गुन शुक्ला, ६ १९३८ वि. गुरुवार २३ फरवरी १८८२ उपर्युक्त स्थान पर सप्ताह के बीच में यह सभा हुई। वक्तृता का विषय था **अवतार**। यजुर्वेद के सपर्यगाच्छुक्रमकायं (४०/८) मंत्र के आधार पर ईश्वर के अवतार लेने का खण्डन किया गया। भाषण साढ़े सात बजे तक चलता रहा।

एकादश व्याख्यान—फाल्गुन शुक्ला ९, १९३८ वि., रविवार २६ फरवरी १८८२। आज की सभा भी उपर्युक्त स्थान पर सायं चार बजे प्रारम्भ हुई। मुख्य वक्तृता आरम्भ होने के पहले गायक ने तम्बूरे पर ईश्वर स्तुति गायन किया। वक्ता ने आज की सभा में **पुनर्जन्म तथा सृष्टिविद्या** विषय पर अपने विचार व्यक्त किये।

द्वादश व्याख्यान—फाल्गुन कृष्णा १, १९३८ वि. रविवार ५ मार्च १८८२। यह सभा भी उपर्युक्त स्थान पर सम्पन्न हुई। विषय **पुनर्जन्म तथा सृष्टिविद्या** ही रहा, जो गत सप्ताह पूरा नहीं हो सका था।

त्रयोदश व्याख्यान—फाल्गुन कृष्णा ५, १९३८ वि., शुक्रवार १० मार्च १८८२। उपर्युक्त स्थान पर सभा पुनः जुड़ी, जिसके वक्ता ने पुनर्जन्म और सृष्टिविद्या विषय का विवेचन समाप्त किया।

चतुर्दश व्यख्यान—फाल्गुन कृष्णा ७, १९३८ वि., १२ मार्च १८८२। मादकवस्तु निषेध सभा (Temprance Society) के निमंत्रण पर आर्यसमाज बम्बई ने यह सभा सायं साढ़े पाँच बजे झवेर बाग में आयोजित की। स्वामी दयानन्द ने **मादक द्रव्य निषेध** विषय पर प्रभावपूर्ण ढंग से व्याख्यान देते हुए अंग्रेज लोगों पर आरोप लगाया कि उनकी संगति के दोष से ही मदिरापानादि व्यसन भारतवासियों में बढ़े हैं। इस प्रसंग में उन्होंने अंग्रेजी चिकित्सा पद्धति की भी आलोचना की, जो इस देश के लोगों की स्थिति, रुचि तथा प्रकृति के अनुकूल नहीं है। उन्होंने इस बात का विशेष रूप से संकेत किया कि प्रत्येक अंग्रेजी दवा में मादक द्रव्यों (Alcohal) का मिश्रण कर दिया जाता है।

इसी बीच आर्यसमाज बम्बई का सप्तम वार्षिक महोत्सव दि. २०, २१, २२ मार्च १८८२ को सम्पन्न हुआ। उत्सव के प्रथम दिन आर्यसमाज मंदिर निर्माणार्थ क्रय की गई भूमि

पर प्रातः ८ बजे से ११ बजे तक यज्ञ हुआ। इस यज्ञ में वेद मंत्रों के पठनार्थ दो दल बनाये गये थे। एक ओर स्वामीजी के शिष्य ब्रह्मचारी गिरानन्द थे तो दूसरी ओर नगर के वे गुजराती तथा दक्षिणी वेद पाठी ब्राह्मण[१२] जो प्रायः वेदों को कण्ठस्थ कर लिया करते थे। इस सभा में उपस्थित लोगों को सम्बोधित करते हुए स्वामीजी ने इन वेदपाठी ब्राह्मणों की ओर संकेत कर कहा—ये ब्राह्मण लोग ही साक्षात् चतुर्मुख ब्रह्मा हैं। पुराकाल में ऐसे ही चतुर्वेदविद् ब्राह्मणों को ब्रह्मा नाम से अभिहित किया जाता था, जो सम्पूर्ण मंत्र समुदाय को कण्ठस्थ कर लेते थे।

इसी सभा में एक अन्य दाक्षिणात्य ब्राह्मण ने तानपूरे पर सामवेद का गायन प्रस्तुत कर एक विचित्र समा बांध दिया था। उपस्थित श्रोता मंत्रमुग्ध हो सामगायन से उत्पन्न भाव-माधुरी में तल्लीन हो गये।

पञ्चदश व्याख्यान—चैत्र शुक्ला १,१९३८ वि. सोमवार २० मार्च १८८२। सायं साढ़े पांच बजे स्वामी दयानन्द का इसी स्थान पर **वेद विषय** पर व्याख्यान हुआ। उसमें वेदों की सर्वाधिक प्राचीनता, तथा उनके ईश्वर कर्तृत्व आदि विषयों की विवेचना की गई थी।

षोडश व्याख्यान—चैत्र शुक्ला ३,१९३८ वि. बुधवार २२ मार्च १८८२। यह सभा भी उपर्युक्त स्थान पर हुई जिसमें **वेद विषयक** अवशिष्ट चर्चा हुई।

सप्तदश व्याख्यान—चैत्र शुक्ला ७, १९३८ वि. रविवार २६ मार्च १८८२। आर्य-समाज का साप्ताहिक अधिवेशन फ्रामजी कावसजी इन्स्टीट्यूट में सायं साढ़े पांच बजे सम्पन्न हुआ। आज स्वामी दयानन्द ने व्याख्यान के लिये जो विषय चुना था, उसका आर्यसमाज के इतिहास की दृष्टि से विशिष्ट महत्त्व है।[१३] इस व्याख्यान में उन्होंने **आर्यसमाज एवं थियो-सोफिकल सोसाइटी** के विगत सम्बन्धों की विस्तृत चर्चा करते हुए स्पष्ट किया कि इन दोनों संस्थाओं में सैद्धान्तिक मतभेद किस प्रकार उभरे और उनका दायित्व किन लोगों पर है? इसी प्रसंग में उन्होंने कर्नल ऑल्काट तथा मैडम ब्लैवेट्स्की से हुए अपने सम्पूर्ण पत्र व्यवहार को प्रस्तुत किया। इसी भाषण के अन्त में उन्होंने उक्त सोसाइटी से आर्यसमाज के सम्बन्ध-विच्छेद की भी घोषणा की। स्वामीजी का भाषण साढ़े सात बजे समाप्त हुआ।

अष्टादश व्याख्यान—चैत्र शुक्ला ११,१९८३ वि. गुरुवार ३० मार्च १८८२। उपर्युक्त स्थान पर सप्ताह के मध्य में सभा आयोजित हुई जिसमें स्वमीजी ने **वेद विषय** पर प्रस्तुत किये गये अपने पूर्व व्याख्यान का उपसंहार किया। यह उनका वेद विषयक तृतीय भाषण था।

उन्नीसवां व्याख्यान—चैत्र शुक्ला १४,१९३८ वि. रविवार २ अप्रैल १८८२। उपर्युक्त स्थान पर आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संग में स्वामीजी ने **आर्यसमाज तथा ब्रह्मसमाज के नियम** विषय पर अपना सारगर्भित तुलनात्मक व्याख्यान दिया। प्रासंगिक रूप से महाराष्ट्र में प्रचलित प्रार्थनासमाज के मन्तव्यों की भी समीक्षा प्रस्तुत की। तीनों संस्थाओं के सिद्धान्तों में साम्य तथा वैषम्य को स्पष्ट किया।

बीसवां व्याख्यान—५ अप्रैल बुधवार को स्वामीजी ठाणे[१४] गये तथा **वेद विषय** पर वहां व्याख्यान दिया।

९ अप्रैल १८८२ से लेकर २१ मई तक के सात रविवासरीय अधिवेशनों में स्वामीजी के व्याख्यान नहीं हुए। इस अवधि में अन्य विद्वानों ने सामाजिक सत्संगों को सम्बोधित किया था।[१५]

इक्कीसवां व्याख्यान—ज्येष्ठ शुक्ला ११, १९३८ वि. रविवार २८ मई १८८२। इस दिन आर्यसमाज का अधिवेशन 'एस्प्लेनेड थियेटर' में सायं साढ़े चार बजे हुआ। उपस्थिति ने अब तक के सारे कीर्त्तिमान तोड़ दिये थे। वेद मंत्रों से प्रार्थना करने के अनन्तर स्वामीजी ने **देशोन्नति** पर अत्यन्त गम्भीर तथा विशद व्याख्यान दिया। इस प्रसंग में उन्होंने **बाल विवाह, देशाटन, क्रय विक्रय में प्रामाणिकता, विद्याभ्यास, सत्यभाषण** आदि विषयों की विवेचना की।

भारतवासी देशान्तरों में जाकर विभिन्न प्रकार के कला कौशल सीखें और पुनः स्वदेश में आकर यहां के उद्योगों को प्रगति दें, यह उनकी एकान्त कामना थी। शताब्दियों तक कूपमण्डूक रह कर देशवासियों ने अपनी सर्वतोमुखी अधोगति का जिस प्रकार स्वतः ही वरण कर लिया है, स्वामीजी की दृष्टि में इसका एक मुख्य कारण दीर्घकाल तक अन्य देशस्थ जनों से सम्पर्क का न रहना भी था। इसी त्रुटि को दूर करने के लिये स्वामीजी ने विदेश-यात्रा पर बल दिया। भारत के धर्मगुरुओं ने अब तक धर्म, अध्यात्म और परलोक की तो बहुविध चर्चा की थी, किन्तु दयानन्द की वाणी में देशवासियों ने उस समय एक अभिनव स्वर सुना, जब उन्होंने विदेशी सम्पर्क के अनेक ऐतिहासिक संदर्भ प्रस्तुत कर देशवासियों को पश्चिम के विज्ञान एवं कला कौशल के नवीन आलोक को ग्रहण करने की प्रेरणा दी।

विदेश पर्यटन को उचित मानते हुए भी उन्होंने वहाँ जाकर अभक्ष्य वस्तुओं के भक्षण को निन्दनीय बताया। उन्होंने इस प्रसंग में कहा कि यदि विदेशों में रह कर कोई व्यक्ति अपने आहार विहार, तथा आचार विचार को शुद्ध न रख सके तो स्वदेश लौट कर उसे प्रचलित पद्धति के अनुसार देह शुद्धि के लिये प्रायश्चित्त भी कर लेना चाहिए। अनेक दृष्टियों से अत्यन्त क्रान्तिकारी होते हुए भी स्वामी दयानन्द व्यर्थ में ही सामान्य जनों में बुद्धि भेद उत्पन्न करने को उचित नहीं समझते थे। वे ब्रह्मसमाज के उन तथाकथित प्रगतिशील नेताओं के विरुद्ध थे, जो समाज में प्रचलित निर्दोष प्रथाओं का विरोध केवल इसीलिये करना चाहते थे कि लोग उन्हें पुरातन परम्पराओं को तोड़ने वाले उग्रवादी समझ लें।[१६] अनावश्यक रूप से लोगों को चिढ़ाना उनको नीति के विरुद्ध था।

इस व्याख्यान में क्रय विक्रय के विषय को जिस ढंग से वक्ता ने निरूपित किया, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी दयानन्द वाणिज्य, व्यवसाय में नैतिकता और ईमानदारी बरतने के कट्टर पक्षपाती थे। संन्यासी होने और लौकिक व्यवहार तथा सांसारिक समस्याओं के प्रति अत्यन्त निस्संग भाव रखने पर भी स्वामीजी ने अपनी सर्वग्रासी दृष्टि से व्यापार व्यवसाय के क्षेत्र में प्रचलित अनैतिक तथा बेईमानी को चिन्तातुर दृष्टि से देखा था। उन्होंने व्यापार में अप्रामाणिक व्यवहार को घृणित बताया। साथ ही यह भी कहा कि इस देश के सेठ साहूकार व्यापारार्थ आये हुए विदेशियों को तो करोड़ों का ऋण दे देते हैं, किन्तु अपने स्वदेशी भाइयों का अप्रामाणिक वर्तन देख कर उन्हें एक फूटी कौड़ी भी ऋण नहीं देते। उन्होंने भाव ताव में मिथ्या व्यवहार करने,[१७] विक्रय होने वाली वस्तुओं में

मिलावट करने, अपना घर भर कर व्यावसायिक प्रतिष्ठान का दीवाला निकाल देने, परस्पर धोखाधड़ी, षड्यन्त्र तथा आपस के विवादों को कचहरी तक ले जाने जैसे दुष्कृत्यों की तीखी आलोचना की।

विद्याभ्यास की चर्चा करते हुए उन्होंने पारमार्थिक तथा व्यावहारिक भेद से विद्याओं को दो प्रकार का बताया तथा आध्यात्मिक ज्ञान के साथ साथ राजकीय तथा पदार्थ विद्याओं[१८] का सम्यक् ज्ञान सम्पादित करने की प्रेरणा की। अपनी व्यापक एवं उदार दृष्टि का परिचय देते हुए उन्होंने संसार के विभिन्न भागों की भाषाओं को यथासुविधा सीखने के लिये कहा। स्वामीजी का यह भाषण साढ़े छह बजे समाप्त हुआ।

बाईसवां व्याख्यान—इसके पश्चात् हमें स्वामीजी के एक अन्य व्याख्यान का उल्लेख मिलता है जो उन्होंने ३ जून १८८२ शनिवार को एक पारसी गृहस्थ के द्वारा संचालित गेइटी थियेटर के हाल में दिया था। यद्यपि इस दिन वर्षा बहुत अधिक हो चुकी थी, तथापि श्रोताओं की उपस्थिति बहुत अच्छी थी। व्याख्यान का विषय था **देशोन्नति**। अपने भाषण के प्रसंग में स्वामीजी ने देश की आर्थिक दुर्दशा का मार्मिक वर्णन करते हुए दुग्ध, घृत आदि पौष्टिक पदार्थों की मंहगाई का उल्लेख किया। दयानन्द ने देश की आर्थिक दशा का गम्भीर विश्लेषण करने के पश्चात् जो निष्कर्ष निकाले थे, वे निश्चय ही अत्यन्त क्रान्तिकारी तथा सामयिक थे। उनकी सुनिश्चित धारणा थी कि कृषक वर्ग की उन्नति के बिना देश की आर्थिक दशा का सुधरना कठिन है और आर्थिक समृद्धि प्राप्त किये बिना राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा वैचारिक स्वाधीनता का भी कोई अर्थ नहीं है। इसके साथ ही वे देशवासियों को वाणिज्य तथा उद्योग व्यवसाय में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिये भी प्रेरणा देते थे।[१९]

तेईसवां व्याख्यान—ज्येष्ठ कृष्णा ११, १९३८ वि., रविवार ११ जून १८८२। आर्य-समाज का यह साप्ताहिक सत्संग फ्रामजी कावसजी इन्स्टीट्यूट में हुआ। इसमें स्वामीजी का व्याख्यान **मूर्ति, मंत्र, देव, ऋषि, पितृ, उपासना तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्य** की व्याख्या से सम्बन्धित था। इस प्रसंग में उन्होंने मूर्तिपूजा की अर्वाचीनता सिद्ध करते हुए 'मंत्र' शब्द के वास्तविक अर्थ को स्पष्ट किया। उन्होंने काली, हनुमान, भैरव आदि देवताओं की प्रसन्नता के लिये प्रयुक्त किये जाने वाले नाना वाक्यों को 'मंत्र' संज्ञा देने से असहमति प्रकट की तथा मंत्र को 'विचार' का पर्याय ठहराया।[२०] 'मंत्र' से ही 'मंत्री' शब्द बनता है जो राजा के विचारशील सचिव अथवा अमात्य के लिये ही प्रयुक्त होता है। 'पितृ' शब्द की व्याख्या करते हुए उन्होंने जीवित माता, पिता आदि की सेवा सत्कार को वास्तविक अर्थों में 'पितृयज्ञ' बताया।

चौबीसवां व्याख्यान—ज्येष्ठ कृष्णा १३, १९३८ वि. मंगलवार १३ जून १८८२। गत व्याख्यान में व्याख्यार्थ प्रस्तुत विषयों में शेष रहे प्रसंगों को स्वामीजी ने इस दिन के व्याख्यान में लिया। यह वक्तृता भी इन्स्टीट्यूट में सांयकाल सम्पन्न हुई थी।

पच्चीसवां (अन्तिम) व्याख्यान—आषाढ़ शुक्ला २, १९३८ वि. शनिवार १७ जून १८८२। बम्बई में महाराज का यह अन्तिम व्याख्यान था। इसमें उन्होंने योग विद्या पर अपना अनुभवसिद्ध प्रवचन किया। योगाङ्गों की विस्तृत विवेचना करने के पश्चात् उन्होंने हठयोग

की क्रियाओं की आलोचना की। कष्टप्रद आसनों को उन्होंने नट विद्या ही बताया और स्पष्ट किया कि मन को स्थिर करने के लिये ही आसनों का विधान किया गया है। योग का जितना सम्बन्ध आत्मा व मन से है, उतना शरीर से नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि योग विषयक इस महत्त्वपूर्ण प्रवचन को कार्यवाही लिखने वाले ने अधूरा ही छोड़ दिया था क्योंकि कार्यवाही लिखने के रजिस्टर में एक पृष्ठ खाली छोड़ा हुआ है।

बम्बई उन दिनों भारत की सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र था। स्वामी दयानन्द भी यहां रह कर उन सार्वजनिक मुद्दों की ओर सर्वसाधारण का ध्यान आकृष्ट करना चाहते थे, जो उनकी दृष्टि में राष्ट्रीय महत्त्व के थे। इन दिनों वे गोरक्षा को सर्वोच्च प्राथमिकता दे रहे थे। अपने व्याख्यानों में वे इस मामले को अनेक बार उठा चुके थे। उनके लिये गोरक्षा का प्रश्न केवल हिन्दू धर्म की परिधि में रक्खी जाने वाली समस्या नहीं थी। उन्होंने इसे विशुद्ध आर्थिक हित की दृष्टि से देखा था, अतः वे इसके समर्थन में विशाल जनमत तैयार करना चाहते थे। पं. घासीराम के अनुसार मूलजी जेठा मार्केट में उन्होंने इसी विषय पर एक प्रभावशाली भाषण भी दिया।[२१] बम्बई के भाटिया सेठ स्वामीजी के वैष्णव मत खण्डन से रुष्ट थे, किन्तु गोरक्षा विषयक उनके महान प्रयत्नों को वे श्लाघनीय दृष्टि से देखते थे तथा इस प्रश्न को राष्ट्रीय स्तर पर उठाकर गोबध को बन्द कराने के उद्योग में उनके सर्वात्मना सहायक थे। स्वामीजी ने निश्चय किया कि भारत से गोवध को बन्द कराने के लिये एक प्रार्थनापत्र ब्रिटिश महारानी की सेवा में भेजा जाना चाहिए, जिस पर करोड़ों देशवासियों के हस्ताक्षर हों।[२२] बम्बई के इन सेठों ने गोरक्षा विषयक प्रतिवेदन पर हस्ताक्षर करने में प्रबल उद्योग किया तथा अपनी कोठियों पर महाराज के एतद् विषयक भाषण भी आयोजित किये।

देश के नवोदय तथा उसके माध्यम से समग्र मानवता के सार्वत्रिक उत्थान को लक्ष्य बना कर कार्य में व्यापृत होने वाले दयानन्द सरस्वती की जीवनचर्या अब अधिकाधिक व्यस्त, कर्मसंकुल तथा रचनात्मक आन्दोलनों को गतिशीलता प्रदान करने वाली बन गई थी। इससे पूर्व हिन्दू समाज में व्याप्त विभिन्न धार्मिक तथा सामाजिक कुसंस्कारों, अंधविश्वासों तथा रुढ़िबद्ध धारणाओं का खण्डन कर उन्होंने अपने रचनात्मक एवं विधेयात्मक कार्यक्रमों के क्रियान्वयन हेतु ठोस आधार का निर्माण कर लिया था। देशवासी अब यह अनुभव कर चुके थे कि पाखण्डों और मूढ़ विश्वासों को त्यागे बिना न तो उनमें वैज्ञानिक चिन्तन ही पनप सकता है और न युगानुकूल बुद्धिवाद को ग्रहण किये बिना वे उन्नति एवं प्रगति के मार्ग पर ही बढ़ सकते हैं। इस प्रकार देश के कोटि कोटि जनों में नवचेतना जगा कर दयानन्द सरस्वती समकालीन देशभक्तों एवं सुधारक वर्ग में शीर्ष स्थान प्राप्त कर चुके थे। इस वैचारिक क्रान्ति को सतत गतिशील रखने के लिये उनका साहित्य प्रणयन का कार्य भी उत्तरोत्तर चल रहा था। सम्प्रति वे वेद भाष्य लेखन के महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान को पूरा करने में लगे थे।[२३] इस कार्य में उनका प्रायः समग्र दिन ही लग जाता। दैनिक लेखन कार्य से निवृत्त होकर वे अन्य लोगों तथा धर्म जिज्ञासु जनों से भेंट करते।

तथापि स्वामीजी के लोकहित तथा देशसुधार की व्यापक योजना को समझने में

असमर्थ लोग अब भी उन्हें मात्र मूर्तिपूजा का विरोधी मानकर उनका विरोध करने में ही यत्नशील थे। एक ऐसा प्रसंग बम्बई में उस समय उपस्थित हुआ जब कि वेंकटेश्वराचार्य नामक एक पण्डित ने १३ जून को 'बम्बई समाचार' में एक विज्ञापन प्रकाशित कर स्वामी दयानन्द से मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ करने का अभिमत व्यक्त किया। कहते हैं कि रामदास छबीलदास बैरिस्टर[२४] के चाचा देवीभक्त ने ही उन्हें यह विज्ञापन प्रचारित करने की प्रेरणा दी थी। इस चुनौतीपूर्ण विज्ञप्ति का उत्तर बैरिस्टर रामदास ने श्लोकबद्ध संस्कृत में दिया था जिसे स्वामीजी के हस्ताक्षर सहित पं. वेंकटेश्वराचार्य के पास भेज दिया गया। जब देवेन्द्र बाबू ने श्री रामदास से इस श्लोकावली के विषय में जिज्ञासा की, तो वे अपने स्मृतिपथ में सुरक्षित इस श्लोकार्द्ध को ही मुखोपाध्याय महाशय को बता पाये थे—

भीतः कदा नाम मृगेन्द्रशावको
दीनं मुखं वीक्ष्य मृगाङ्गनायाः ॥

पं. वेंकटेश्वर ने शास्त्रार्थ के लिये वाचालता का तो बहुविध प्रदर्शन किया, किन्तु महाराज के सम्मुख आकर वास्तविक शास्त्रसंग्राम में उतरने का साहस वे अब तक नहीं जुटा पाये थे। इसी बीच स्वामीजी के भक्त और बम्बई आर्यसमाज के सम्पन्न सभासद् सेठ मथुरादास लवजी[२५] ने एक विज्ञापन प्रकाशित कराया जिसमें घोषणा की गई थी कि मूर्तिपूजा की वैदिकता सिद्ध करने वाले विद्वान् को वे ५००० रु. की धनराशि पुरस्कार रूप प्रदान करेंगे। इस प्रोत्साहन सूचक विज्ञापन का भी कोई परिणाम नहीं निकला और न तो वेंकटेश्वराचार्य और न ही बम्बई के किसी अन्य पण्डित ने महाराज के समक्ष उपस्थित होकर प्रतिमा पूजन की वैदिकता सिद्ध करने का प्रयास किया।

स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के उत्तरार्द्ध में आर्यावर्तीय मतमत्तान्तरों के साथ-साथ चार्वाक, जैन, बौद्ध आदि उन अवैदिक मतों का भी खण्डन किया था, जो कालान्तर में वैदिक धर्म में उत्पन्न नाना विकृत रूढ़ियों की प्रतिक्रिया रूप में ही उत्पन्न हुए थे। इन अवैदिक मतों की जानकारी प्राप्त कराने वाले ग्रन्थों का उस युग में प्रायः अभाव ही था। चार्वाक मत का तो परिचयात्मक उल्लेख 'सर्वदर्शन संग्रह' में उपलब्ध हो जाता है, किन्तु बौद्ध मत के भारत से प्रायः विलीन हो जाने तथा जैन मतावलम्बियों द्वारा स्वमत के प्रतिपादक ग्रन्थों को अन्य मतावलम्बियों को न दिखाने की प्रवृत्ति के कारण स्वामीजी के लिये इन मतों के सम्बन्ध में आलोचनात्मक सामग्री का संग्रह करना कठिन हो गया था। तथापि उन्होंने स्वप्रयास से जैन धर्म के अनेक आधारभूत ग्रन्थों का पर्यालोचन किया तथा उसी के आधार पर सत्यार्थप्रकाश के द्वादश समुल्लास की रचना की। उनकी जैन मत विषयक इस आलोचना पर जैन विद्वानों ने नाना प्रकार की आपत्तियां उठाईं जिनका सार यही था कि स्वामीजी ने जिन ग्रन्थों के आधार पर जैन मत की आलोचना लिखी है, वे इस धर्म के प्रामाणिक मत को उपस्थित नहीं करते और न वे इस मत के लोगों द्वारा प्रामाण्य कोटि में ही परिगणित होते हैं। उनकी एक प्रमुख आपत्ति यह भी थी कि स्वामीजी ने जैन और बौद्ध मत को एक ही चिन्तनधारा के अन्तर्गत बता कर जैन धर्म के साथ अन्याय किया है। यह सम्पूर्ण प्रसंग हम इस ग्रन्थ के एक अध्याय—'प्रकरण चतुष्टय' में विस्तारपूर्वक वर्णित कर रहे हैं। यहां इतना लिखना ही

पर्याप्त है कि इस विवाद को न्यायालय में ले जाने की धमकी देने वाले गुजरांवाला (पंजाब) निवासी ओसवाल ठाकुरदास मूलराज की महाराज से भेंट बम्बई में ही हुई थी और इसके तुरन्त पश्चात् ही स्वामीजी के वकील द्वारा भेजे गये उत्तर ने ठाकुरदास को चुप कर दिया था।

दानापुर निवासी श्री जनकधारीलाल, रामनारायणलाल तथा आदित्यनारायण, जो वहां की आर्यसमाज के सभासद् थे, महाराज के दर्शनार्थ तथा अपनी कतिपय शंकाओं का समाधान करवाने के लिए बम्बई आ गये थे। जनकधारीलाल का प्रश्न उपासना के सम्बन्ध में था, जिसके उत्तर में स्वामीजी ने प्राणायाम की वास्तविक पद्धति का निर्देश करते हुए ध्यान की प्रक्रिया को स्पष्ट किया। आदित्यनारायण ने इसी प्रसंग में अपनी कठिनाई उपस्थित करते हुए कहा कि प्रायः उपासना के समय मन में जो तल्लीनता नहीं आती, उसका क्या कारण है? इसके उत्तर में स्वामजी ने कहा कि उपासना की सफलता यम और नियमों के दृढ़तापूर्वक पालन पर निर्भर है। वस्तुतः बात यह थी कि प्रश्नकर्त्ता महानुभाव एक मुकद्दमे में झूठी साक्षी देकर आये थे। स्वामीजी ने अपनी योगज शक्ति के द्वारा यह जान लिया था। इसीलिए उन्होंने बार बार यम नियमों के आचरण पर जोर दिया।

जब बम्बई में सर्वप्रथम आर्यसमाज की स्थापना हुई तो उसके संचालन हेतु २८ नियम बनाये गये थे। यह हम देख चुके हैं कि १८७७ ई० में आर्यसमाज लाहौर की स्थापना के पश्चात् आर्यसमाज के मौलिक मन्तव्यों और उद्देश्यों को दस नियमों के अन्तर्गत सूत्रित कर दिया गया था, जबकि व्यवस्था सम्बन्धी उपनियम पृथक्रीत्या निर्धारित किये गये। आर्यसमाज बम्बई ने अब तक उन्हीं २८ नियमों को यथावत् मान्यता दे रखी थी, जो भूमण्डल की इस प्रथम आर्यसमाज की स्थापना के समय ही निर्धारित किये गये थे। अब स्वामीजी की प्रेरणा से देश के सभी आर्यसमाजों की कार्यप्रणाली तथा उनके वैचारिक धरातल में एकरूपता लाने के लिये यह आवश्यक समझा गया कि आर्यसमाज बम्बई भी उन्हीं दस नियमों को स्वीकार कर ले, जो १८७७ ई० में लाहौर में आर्यसमाज के उद्देश्यों के रूप में निर्धारित किये जा चुके थे। बम्बई आर्यसमाज द्वारा यह संशोधन स्वीकार कर लिया गया। परन्तु कुछ विशिष्ट स्थानीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए उसे यह अधिकार दिया गया कि वह उपनियमों में आवश्यकतानुसार कुछ परिवर्तन भी कर ले।[२६]

जोसेफ़ कुक नामक एक पादरी ने अपने एक व्याख्यान में थियोसोफी तथा वैदिक धर्म पर कुछ आक्षेपमूलक बातें कहीं थी। स्वामीजी ने १८ जनवरी १८८२ को उक्त पादरी महाशय को एक पत्र लिख कर यह सूचित किया कि वे आगामी रविवार २२ जनवरी को फ्रामजी कावसजी हॉल में एक व्याख्यान देंगे, जिसमें उनके आक्षेपों का निराकरण किया जायगा। साथ ही उन्होंने यह भी लिख दिया कि यदि पादरी साहब इस सम्बन्ध में और आगे चर्चा करना चाहते हैं तो उन्हें उस दिन उसी स्थान पर आकर स्वामीजी से शास्त्रार्थ कर लेना चाहिये। पादरी कुक ने स्वामीजी के इस पत्र का कोई उत्तर नहीं दिया। वे २० जनवरी को पूना चले गये। तब स्वामीजी ने पूर्व विज्ञापित योजना के अनुसार व्याख्यान देकर पादरी कुक के इस दावे का खण्डन किया कि ईसाई मत ही एकमात्र ईश्वरमूलक धर्म है तथा उसकी यह नियति है कि वह सम्पूर्ण विश्व का एक मात्र धर्म बने।[२७] इसी व्याख्यान में स्वामीजी

ने वैदिक धर्म को ही ईश्वरोक्त सिद्ध किया तथा ईसाइयत को एक मनुष्य विशेष (ईसा मसीह) द्वारा प्रचारित तथा देश काल की परिस्थितियों से मर्यादित, एकांगी मत घोषित किया। पादरी कुक के व्याख्यान में थियोसोफी पर जो आक्षेप किये थे, उनका उत्तर कर्नल ऑल्कॉट ने अपने २० जनवरी के व्याख्यान में दिया। स्वामीजी भी इस व्याख्यान में उपस्थित थे।

लोकोत्तर आध्यात्मिक भूमिका पर प्रतिष्ठित, परिव्राजक शिरोमणि दयानन्द साधारण, व्यावहारिक किन्तु लोकोपयोगी बातों की ओर कितना ध्यान देते थे, यह निम्न दृष्टान्तों से विदित होता है। पंजाब निवासी एक भक्त स्वामीजी के दर्शनार्थ बम्बई आया। वह स्वामीजी के पास ही ठहरा था। प्रति दिन तृप्तिपूर्वक भोजन करना, दिन भर महानगर का भ्रमण करना तथा रात्रि को महाराज के डेरे पर आकर सो रहना, यही उसका दैनन्दिन कार्यक्रम बन गया। स्वामीजी ने इस अकर्मण्य व्यक्ति की तीव्र भर्त्सना करते हुए कहा, "भले आदमी ! इस प्रकार आलस्यपूर्ण जीवन व्यतीत करना और परान्न सेवी होकर व्यर्थ काल यापन करना उचित नहीं। और कुछ नहीं कर करते तो मुझे अंग्रेजी समाचार पत्र ही सुना दिया करो।"

एक अन्य बंगाली सज्जन बम्बई में ही महाराज से भेंट करने आये। गुजरात के हिन्दू दाढ़ी नहीं रखते, परन्तु पंजाब तथा बंगाल के हिन्दुओं में उस समय दाढ़ी रखने का आम रिवाज था। जब आगन्तुक ने महाराज के डेरे पर पीने के लिए पानी मांगा; तो स्वामीजी के एक गुजराती शिष्य ने उसे मुसलमान समझकर दोने में पानी दिया। जब वह चला गया तब स्वामीजी ने अपने इस शिष्य को फटकारा और कहा कि उसने संभ्रान्त पुरुष को गिलास में जल क्यों नहीं दिया। उत्तर में जब शिष्य ने यह कहा कि भला, मैं एक मुसलमान को धातु के पात्र में पानी क्यों पिलाता, तो स्वामीजी ने कहा कि प्रथम तो उक्त व्यक्ति बंगीय हिन्दू था, मुसलमान नहीं था। परन्तु मुझ से मिलने तो ईसाई, मुसलमान आदि सभी आते हैं। अतः बिना किसी भेद भाव के, सभी का समान रूप से गिलास में जल देकर सत्कार करना चाहिए। खान पान तथा आचार विचार की दृष्टि से स्वामी दयानन्द अपने समकालीन सभी महापुरुषों से अधिक उदार तथा प्रगतिशील दृष्टिसम्पन्न थे। ६ मास से कुछ कम समय इस महानगर में व्यतीत कर स्वामीजी ने उदयपुर के लिये प्रस्थान किया।

□□

पाद टिप्पणियां

१. आर्यसमाज बम्बई के साप्ताहिक अधिवेशनों की यह कार्यवाही गुजराती भाषा में अंकित है। पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने इसका हिन्दी अनुवाद 'ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण अभिलेख' शीर्षक ग्रन्थ के अन्तर्गत १९८२ ई में प्रकाशित किया है। रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्रकाशित इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में अन्य उपयोगी सामग्री भी संगृहीत है।

२. प्रारम्भ में आर्यसमाज बम्बई के साप्ताहिक अधिवेशन प्रार्थनासमाज के भवन में होते रहे। प्रार्थनासमाज के सत्संग रविवार को प्रातःकाल होते थे, अतः आर्यसमाज ने निश्चय किया कि उसका अधिवेशन प्रति शनिवार सांयकाल हुआ करेगा।

३. जब शनिवासरीय सत्संग आर्य सभासदों को अनुकूल प्रतीत नहीं हुआ, तो निश्चय किया गया कि गिरगांव रोड़ पर जगन्नाथ शंकर सेठ के मकान के निकट गोविन्द विष्णु घुले के प्राइवेट इंगलिश स्कूल में प्रति रविवार को सायं साढ़े पांच बजे आर्यसमाज का सत्संग हुआ करेगा।

४. तिथियों का यह अंकन गुर्जर पञ्चांग के अनुसार हुआ है, जिसमें नये संवत् का आरम्भ कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा से माना जाता है। अतः उत्तर भारतीय पञ्चांग के अनुसार इस कार्यवाही में जहां कृष्ण पक्ष के साथ महीने का निर्देश है उसे अगले मास का कृष्ण पक्ष समझना चाहिए तथा विवरण में चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ तथा आषाढ़ मास के साथ जो १९३८ संवत् अंकित है उसे उत्तर भारतीय गणना के अनुसार १९३९ वि. समझा जाना चाहिए।

५. वेदान्त के प्रसिद्ध सम्प्रदाय जो क्रमशः आचार्य शंकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क तथा वल्लभ से सम्बद्ध हैं।

६. ब्राह्मण तथा उपनिषदों में आये इन वाक्यों का स्पष्टीकरण स्वामीजी दयानन्द ने 'वेदान्तिध्वान्त निवारण' तथा सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में विस्तारपूर्वक किया है।

७. प्रथम तीन व्याख्यान आर्यसमाज के नियमित अधिवेशन स्थान रा. रा. गोविन्द विष्णु घुले के इंगलिश विद्यालय में सम्पन्न हुए थे।

८. तुलनीय—सत्यार्थप्रकाश—एकादश समुल्लास में अश्वमेध प्रकरण।

९. ब्रह्मा का स्वदुहिता गमन, शेष नाग के मस्तक पर पृथ्वी का धारण, अहल्या का इन्द्र से जार-कर्म आदि कथाओं का स्पष्टीकरण स्वामी दयानन्द ने स्वरचित ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्य प्रकरण में भी किया है।

१०. मोरवी नरेश सर वाघजी जी. सी. एस. आई., के. सी. एस. आई. ने स्वामी दयानन्द का एक भाषण १८७५ ई. में राजकोट में भी सुना था। द्रष्टव्य इसी ग्रन्थ का अध्याय—मुम्बई प्रदेश का भ्रमण।

११. यह भूमि २६ फरवरी १८८२ को सेठ गोकुलदास करमसी से ६४००रु. में क्रय की गई थी। इसी भूमि पर १८८२ के मार्च मास में आर्यसमाज बम्बई का यह सप्तम वार्षिकोत्सव हुआ था। उस समय इस स्थान पर पुराने ढंग का एक दुमंजिला मकान (चाली) तथा पांच दूकानें थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इस स्थान पर पुराने बने मकानों को तोड़ कर आर्यसमाज का नवीन भवन बहुत बाद में बनाया गया क्योंकि सं. १९४४ वि. में जब लाला मुन्शीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) ने बम्बई आर्यसमाज में व्याख्यान दिया

था, तो उस समय इस स्थान पर केवल एक चबूतरा ही बना हुआ था। (द्रष्टव्य—कल्याण मार्ग का पथिक पृ. १४३, ज्ञानमण्डल काशी से प्रकाशित १९८१ वि. का प्रथम संस्करण)।

१२. आर्यसमाज की कार्यवाही में इन्हें 'दक्षिण शुक्ल' तथा 'गुजराती शुक्ल' ब्राह्मण कहा गया है। यहां 'शुक्ल' का अर्थ कर्मकाण्डी ब्राह्मण से है।

१३. द्रष्टव्य—इसी ग्रन्थ का 'प्रकरण चतुष्टय' शीर्षक अध्याय। ध्यातव्य है कि उपलब्ध जीवन चरितों में दोनों संस्थाओं के सम्बन्ध विच्छेद की घोषणा की तिथि २८ मार्च १८८२ मंगलवार अंकित की गई है। पं. लेखराम के अनुसार २२ मार्च १८८२ को मैडम ब्लैवेट्स्की को एक पत्र लिख कर स्वामीजी ने सूचित कर दिया था कि यदि शीघ्र ही वे तथा कर्नल ऑल्काट उनसे मिल कर इस विवाद का कोई निर्णय नहीं कर लेते तो उन्हें विवश होकर २८ मार्च की बैठक में सारे तथ्यों को जनता के समक्ष कर प्रस्तुत करना होगा। अब आर्यसमाज बम्बई के साप्ताहिक अधिवेशनों की प्रकाशित कार्यवाही से ज्ञात होता है कि स्वामीजी ने थियोसोफी विषयक अपने विचार २६ मार्च के रविवारीय अधिवेशन में प्रकट किए थे तथा इसी सभा में दोनों संस्थाओं के सम्बन्ध-विच्छेद की घोषणा कर दी थी।

१४. ठाणे (थाना) बम्बई से २२ मील दूर है। उन दिनों यह स्वतन्त्र कस्बा था जबकि आज बम्बई की महानगरीय सीमा में आ गया है।

१५. प्राप्त विवरण के अनुसार इन अधिवेशनों में निम्न विद्वानों के व्याख्यान हुए थे—(१) ९ अप्रैल—रा. रा. आत्माराम बापू दलवी (२) १६ अप्रैल—रा. रा. अन्ना मार्तण्ड जोशी (३) २३ अप्रैल—आर्यसमाज पेशावर के सभासद् करमशी (गुजराती उच्चारण के अनुसार, शुद्ध नाम कर्मसिंह (४) ३० अप्रैल—रा. रा, आत्माराम बापू दलवी (५) ७ मई—रा. रा. अन्ना मार्तण्ड जोशी (६) १४ मई—कवि कृष्णराम इच्छाराम शास्त्री (६) २१ मई—रा. रा. तुकजाराम (तुलजाराम ?) चुन्नीलाल। आर्यसमाज के ७वें वार्षिकोत्सव के पूर्ववर्ती रविवार (१९ मार्च १८८२) को भी कवि कृष्णराम इच्छाराम ने देशोन्नति पर व्याख्यान दिया था।

१६. रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा ब्रह्मसमाज की पृष्ठभूमि पर लिखित उपन्यास 'गोरा' के एक पात्र परेश बाबू का निम्न कथन इस सन्दर्भ में पर्याप्त मनोरंजक है—"हम लोग कभी-कभी शाम को गोल दिग्घी में मुसलमान की दूकान पर बैठकर कबाब खाया करते थे और फिर आधी रात तक हिन्दू समाज के सुधार की समालोचना किया करते थे।"

१७. तुलनीय-व्यवहारभानु में झूठे बजाज और झूठे ग्राहक का दृष्टान्त।

१८. 'राजकीय' से वक्ता का अभिप्राय राजनीति विज्ञान से तथा 'पदार्थ विद्या' का अभिप्राय प्राकृतिक एवं भौतिक विज्ञानों से है।

१९. स्वामीजी की हार्दिक अभिलाषा थी कि भारत कला कौशल एवं उद्योगों की दृष्टि से एक समुन्नत राष्ट्र बने। इस सम्बन्ध में उनका जर्मनी निवास प्रो. जी वाईज (एलबर्ट्स

स्ट्रीट वैडन, जर्मनी) से पत्र व्यवहार भी हुआ था। उक्त प्रोफेसर के लिखे ९ पत्र लक्ष्मण आर्योपदेशक द्वारा सम्पादित स्वामी दयानन्द के उर्दू जीवनचरित में संगृहीत हैं। २६ जुलाई १८८० को मेरठ में स्वामीजी को प्रो. वाईज का पत्र मिला, जिसमें उसने सूचित किया था कि वह भारतीय विद्यार्थियों के लिये विज्ञानाश्रित कला कौशल की शिक्षा का प्रबन्ध जर्मनी में कर सकता है। इस पत्र के आधार पर स्वामीजी ने अपना यह मन बनाया था कि कुछ लोगों को उद्योग सीखने के लिये अवश्य बाहर भेजा जाना चाहिए। ३० नवम्बर १८८० को आगरा से लाला मूलराज को लिखे अपने पत्र में स्वामीजी ने देश में बढ़ती हुई बेकारी की समस्या पर चिन्ता व्यक्त की है। इसी पत्र में उन्होंने कला कौशल सिखाने के एक स्कूल की स्थापना की आवश्यकता बताते हुए संकेत दिया है कि हमें एक ऐसा फण्ड बनाना चाहिए जिससे स्वदेशीय छात्रों को कला कौशल सीखने जर्मनी भेजा जा सके अथवा वहाँ के अध्यापकों को यहाँ बुलाया जावे।

२०. मारण, मोहन, उच्चाटन आदि तान्त्रिक कर्मों को सिद्ध करने वालों से उन्होंने पूछा था—तुम्हारे पास मारण मन्त्र है, जीवन मन्त्र क्यों नहीं ?

२१. पं. घासीराम ने लिखा है (दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित भाग २, पृष्ठ २८८) कि ११ जून को अहिंसा पर बोलते हुए महाराज ने गोरक्षा का बड़ा प्रबल समर्थन किया था। परन्तु बम्बई में स्वामीजी के भाषणों के सद्यः उपलब्ध वृत्तान्त से ज्ञात होता है कि उनका ११ जून का व्याख्यान मूर्ति, मन्त्र, देव, ऋषि, पितृ आदि पदों की व्याख्या से सम्बन्धित था। हाँ, उन्होंने २२ व २७ जनवरी के अपने व्याख्यान में गोरक्षा पर विस्तारपूर्वक चर्चा की थी।

२२. गो आदि उपयोगी पशुओं के संरक्षण की चिन्ता ने ही स्वामी दयानन्द को इस हस्ताक्षर आन्दोलन के चलाने की प्रेरणा दी थी। इस सम्बन्ध में उन्होंने 'सही करने का पत्र' (गोरक्षा विषयक अभियाचना पत्रक) तैयार करा कर देश में अनेक लोगों को भेजा। इस प्रार्थना पत्र में विद्या, धर्म, प्रजाहितप्रिय श्रीमती राज राजेश्वरी क्वीन महारानी विक्टोरिया, पार्लियामेंट सभा और सर्वोपरि प्रधान आर्यावर्तस्थ श्रीमान् गवर्नर जनरल साहब बहादुर से अनुरोध किया गया कि वे गाय, बैल तथा भैंस की महाहानिकारक हत्या को बन्द करायें। यहाँ ध्यान देने की बात है कि स्वामीजी गाय और बैल की ही भाँति भैंस को भी उपकारक पशु मानते हैं, तथा उसका बध रुकवाना चाहते हैं। इस सही करने के पत्र के साथ एक अन्य विज्ञापन (सूचना) पत्र लोगों को भेजा गया था जिसमें हस्ताक्षर करने कराने के प्रकार का उल्लेख था। इसमें बताया गया था कि एक व्यक्ति अपने पास, अपने परिचित यथेच्छ लोगों के हस्ताक्षर कराकर रख ले, तत्पश्चात् वह उतने ही लोगों के प्रतिनिधि रूप में मुख्य आवेदन पत्र पर हस्ताक्षर करे।

आर्यसमाज दानापुर के मन्त्री के नाम १२ मार्च १८८२ को बम्बई से लिखे गये पत्र में स्वामी दयानन्द ने यह निश्चय प्रकट किया है कि इस प्रकार दो करोड़ नागरिकों के हस्ताक्षर कराने के पश्चात् यह आवेदन पत्र भारत के गवर्नर जनरल को भेजा जायगा। स्वामीजी की आज्ञा से रामानन्द ब्रह्मचारी ने कोहाट (सीमान्त प्रान्त)

निवासी महाशय रूपसिंह को लिखा था कि वे गोरक्षा के मेमोरियल पर हस्ताक्षर कराने के लिए पंजाब, पटियाला, काश्मीर आदि राज्यों का भ्रमण करें। शाहपुराधीश नाहर-सिंह जी ने ४० हजार व्यक्तियों के हस्ताक्षर कराकर स्वामीजी को भेजे थे। ऐसा प्रतीत होता है कि इस लोकोपकारी कार्य को विदेशी शासक सही परिप्रेक्ष्य में नहीं देख पाए थे। इसकी पुष्टि इस तथ्य से होती है कि करोड़ो लोगों के हस्ताक्षर कराने के लिये भेजे गए ये पत्र डाक की गड़बड़ी से यथा स्थान पहुंच ही नहीं सके। २४ जुलाई १८८२ को कोहाट निवासी महाशय रूपसिंह को लिखे गये रामानन्द ब्रह्मचारी के पत्र से ज्ञात होता है कि "इस महोपकारक काम में डाक वालों ने दुष्टता बहुतसी की है।"

२३. दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदभाष्य का लेखन मार्गशीर्ष शुक्ला ६, १९३४ वि. को प्रारम्भ किया था। यह स्वामीजी के जीवनकाल में ही मासिक अंकों के रूप में छपने लगा था। उनकी मृत्यु पर्यन्त केवल ५१ अंक छपे जो प्रथम मण्डल के ८६वें सूक्त के ५वें मन्त्र तक के भाष्य को अपने भीतर समाविष्ट कर सके थे। अवशिष्ट ऋग्वेदभाष्य (मण्डल ७, सूक्त ६२, मन्त्र २, पर्यन्त ५६४९ मन्त्र) इसी प्रकार मासिक अंकों में छप कर आषाढ़ कृष्णा ५, १९५६ वि. को समाप्त हुआ। इस प्रकार स्वामीजी के निधन के पश्चात् इसके मुद्रण में पूरे १६ वर्ष लग गये।

यजुर्वेद भाष्य का लेखनारम्भ महाराज ने पौष शुक्ला १२, १९३४ वि. गुरुवार के दिन किया तथा मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा १९३९ वि. शनिवार को यह समाप्त हुआ। स्वामीजी के जीवनकाल में यजुर्भाष्य के भी ५१ अंक (अध्याय १५।११ पर्यन्त) ही निकल सके, अवशिष्ट भाष्य श्रावण शुक्ल पक्ष १९४६ वि. में (महाराज के निधन के ६ वर्ष पश्चात्) पूरा हुआ।

२४. रामदास बैरिस्टर बम्बई के प्रसिद्ध सेठ छबीलदास लल्लू-भाई के पुत्र थे। इनके पिता को मैन्चेस्टर से कपड़ा मंगाकर भारत में बेचने से अपार धन की प्राप्ति हुई थी। स्वामीजी के प्रसिद्ध शिष्य श्यामजी कृष्ण वर्मा से सेठ छबीलदास ने अपनी पुत्री भानुमति का विवाह कर दिया था। रामदास ने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से बार-एट-लॉ तथा बी. सी. एल. की उपाधि प्राप्त की। वे यहाँ की क्राइस्ट कालेज के फाउण्डेशन स्कालर तथा सीनियर संस्कृत प्राइजमेन थे। यूरोप के लीडन नगर में सितम्बर १८८३ में आयोजित प्राच्य विद्या परिषद् के अधिवेशन में इन्होंने संस्कृत विद्या के महत्त्व निरूपण में स्वरचित १३ उत्कृष्ट पद्य पढ़े थे। संस्कृत के श्रेष्ठ कवि रामदासने 'पद्मिनी चम्पू' (१८८८ ई. में निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित) लिखा था जिसका सम्पादन निजाम राज्य की प्रशासनिक सेवा के अधिकारी सैयद अली बिलग्रामी ने किया था।

२५. महाराज के प्रसिद्ध भक्त भाटिया सेठ मथुरादास लवजी ने स्वामीजी के बम्बई पधारने पर उन्हें रॉथ तथा ह्विटनी सम्पादित अथर्ववेद (शौनक संहिता) तथा देवराज यज्वा की टीका सहित निघण्टु की प्रति भेंट की थी। दोनों पुस्तकों पर सेठ मथुरादास द्वारा स्वामीजी को भेंट किये जाने सूचक वाक्य गुजराती में लिखे हैं। दोनों ग्रन्थ परोपकारिणी

सभा के पुस्तकालय में विद्यमान हैं। स्वामीजी के वेद भाष्य प्रकाशन के लिए इन्होंने सहस्रों रुपये शेयरों द्वारा एकत्र करने का प्रस्ताव किया था।

२६. इस प्रकरण को 'मुम्बई आर्यसमाज नो इतिहास' के लेखक दामोदर सुन्दरदास ने विस्तारपूर्वक वर्णित किया है। उसके अनुसार बम्बई में जब १८७५ ई. में प्रथम बार आर्यसमाज के २८ नियम बनाये गए थे तो उनमें वेदविषयक नियम सं. २ इस प्रकार था—"इस समाज में मुख्य स्वतः प्रमाण वेदों का ही माना जायगा।" अब लाहौर में निर्मित आर्यसमाज के दस नियमों में वेदविषयक तृतीय नियम के अन्तर्गत 'वेदों को सत्य विद्याओं का पुस्तक' घोषित किया गया था। दामोदर सुन्दरदास की आपत्ति है कि इस प्रकार लाहौर में स्वीकृत नियमों में वेदों को सत्य विद्याओं के पुस्तक मात्र घोषित कर उन्हें गणित आदि विद्याओं के समकक्ष ले आया गया है, जबकि बम्बई के स्वीकृत नियमों में वेदों को स्वतः प्रमाण घोषित कर उनकी सर्वोपरि मान्यता स्वीकार की गई थी। इस प्रकार उसकी सम्मति में वेदों के पूर्व स्वीकृत महत्त्व का लाहौर के नियमों में अवमूल्यन ही किया गया था। अस्तु जो हो। जब स्वामी दयानन्द बम्बई आये तो उन्होंने यहाँ की आर्यसमाज के सभासदों से भी लाहौर में निर्मित दस नियमों को स्वीकार कर लेने के लिए कहा।

दामोदर सुन्दरदास ने इस अवसर पर भी श्री महाराज द्वारा प्रस्तुत किये गए वक्तव्य को उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार उद्धृत किया है—

"भाई, स्वदेश सुधार की बात हमको साथ मिल कर करनी चाहिए। दो चार बातों में यदि हमारा मतभेद रहता है तो और बात हम मिल कर क्यों न करें? जिस बात में मतभेद हो वह भी जब हम प्रीति से साथ बैठकर विचार करेंगे तब निश्चय हो जायगा। इस प्रकार कुछ बातों में मतभेद होने से आपस में लड़कर कर ही हम लोगों ने भारतवर्ष की दुर्दशा की है। इसी से शेष लोगों में प्रथम द्वेषाग्नि को दूर करने से ही यथोचित विचार होगा, और पक्षपात छोड़ कर प्रीति से विचार करने से ही धर्मोन्नति होगी, इसीलिये पूर्व नियम बदले गये हैं। और यह लाहौर के बनाये नियम ऐसे रचे हुए हैं कि जिसमें कोई मिथ्या अनुवाद नहीं कर सकेंगे। इसलिये मुम्बई के नियम भी सुधार लेने चाहिए, कि जिससे सारे भारतवर्ष के एक नियम हो जायें। हां, उपनियमों में स्थानीय व्यवस्था के लिये सुधार कर लेना। किन्तु नियम तो एक ही होने चाहिए।" (वक्तव्य की भाषा में यथोचित परिष्कार इस जीवनी-लेखक ने किया है।)

स्वामीजी के इस कथन के सन्दर्भ में ८ अप्रैल, १८८२ को बालकेश्वर (स्वामीजी का निवास स्थान) में उन्हीं की उपस्थिति में आर्यसमाज बम्बई की अन्तरंग सभा की बैठक हुई जिसमें पर्याप्त विचार विमर्श के पश्चात् यह निश्चय हुआ कि आर्यसमाज लाहौर में स्वीकृत आर्यसमाज के नियमों को (जो हिन्दी में प्रकाशित हैं) आर्यसमाज बम्बई को भी स्वीकार कर लेना चाहिए। इस निश्चय की पुष्टि उक्त आर्यसमाज की नैमित्तिक साधारण सभा द्वारा १५ अप्रैल १८८२ को अपनी रात्रिकालीन बैठक में की

गई जिसमें स्वामीजी भी उपस्थित थे। इसमें यह भी निश्चय हुआ कि बम्बई आर्यसमाज अपनी स्थानीय परिस्थितियों को ध्यान में रख कर उपनियमों में कोई परिवर्तन करना चाहे तो उसके लिये निम्नलिखित सदस्यों की समिति को अधिकार दिया जाता है—रावबहादुर गोपालराव हरिदेशमुख (१८८२ में आर्यसमाज के प्रधान) रा. रा. आत्माराम बापू दलवी, रा. रा. इच्छाराम भगवानदास (१८८२ में आर्यसमाज के मंत्री), रा. रा. सेवकलाल कृष्णादास तथा रा. रा. प्राणजीवन कहानदास।

२७. अब आर्यसमाज बम्बई के साप्ताहिक अधिवेशनों में स्वामी दयानन्द प्रदत्त व्याख्यानों का विवरण मिल जाने से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है कि २२ जनवरी १८८२ के अपने व्याख्यान में स्वामीजी ने ईसाइयत की आलोचना की थी।

अतिरिक्त टिप्पणी—टिप्पणी संख्या २६ तथा अन्यत्र 'रा. रा' का प्रयोग अनेक प्रतिष्ठित पुरुषों के नामों के साथ हुआ है। इसका अभिप्राय है—'राजमान् राज श्री'।

□□

प्रकरण चतुष्टय

१. आर्यसमाज और थियोसोफिकल सोसाइटी[1]

यह एक संयोग ही था कि आर्यसमाज तथा थियोसोफिकल सोसायटी की स्थापना एक ही वर्ष में हुई।[2] जब सोसाइटी के संस्थापकों[3] को स्वामी दयानन्द की विचारधारा तथा आर्यसमाज के वृद्धिगत प्रभाव का परिचय मिला[4] तो वे उनसे सम्पर्क बनाने के लिये उत्सुक हो उठे। फलतः थियोसोफी के नेताओं का स्वामीजी से नियमित पत्रव्यवहार होने लगा। १८ फरवरी १८७८ को नं. ७१ ब्राडवे, न्यूयार्क से लिखे गये अपने पहले पत्र में कर्नल एच. एस. ऑल्काट ने अपनी संस्था, उसके सिद्धान्तों तथा कार्यक्रम का विस्तृत परिचय देते हुए स्वामीजी से निवेदन किया कि वे आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर चलने में उनका सम्यक् मार्ग-दर्शन करें, क्योंकि विभिन्न मतमतान्तरों की तुलनात्मक आलोचना करने के अनन्तर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि आर्यावर्त की पुरातन वैदिक संस्कृति तथा धरती के पुरातनतम वैदिक धर्म को अपनाने से ही मानव जाति का कल्याण सम्भव है।[5]

जब स्वामीजी को उपर्युक्त पत्र प्राप्त हुआ, उस समय वे पंजाब की राजधानी लाहौर में थे। उन्हें इस बात से अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि शताब्दियों के पश्चात् वैदिक धर्म की विश्व-जनीनता तथा उसके सार्वभौम महत्त्व को पाताल देशस्थ लोग भी स्वीकार कर रहे हैं। उन्होंने कर्नल ऑल्काट तथा मैडम ब्लैवेट्स्की को सम्बोधित करते हुए एक संस्कृत पत्र वैशाख कृष्णा पञ्चमी, १९३५ वि. २१ अप्रैल १८७८ को लिखा जिसमें उन्होंने इस बात के लिये ईश्वर का धन्यवाद किया कि पांच सहस्र वर्षों का समय बीतने के पश्चात्, महाभाग्य के उदय से. हमारे प्यारे आप पाताल देश निवासियों का, हम आर्यावर्त निवासियों के साथ, फिर परस्पर प्रीति का उद्भव, परोपकार और पत्रव्यवहार का समय आया है।[6] उन्होंने इस बात पर भी हर्ष प्रकट किया कि थियोसोफी के अनुयायी लोग ईसाई आदि सामी (Semetic) मतों की अवैज्ञानिक एवं तर्कहीन धारणाओं से विमुख होकर ही सृष्टिक्रम के सर्वथा अनुकूल, बुद्धि-ग्राह्य तथा तर्कयुक्त वैदिक मान्यताओं को स्वीकार करने के लिये तत्पर हुए हैं।[7]

२१ मई १८७८ को श्रीमती ब्लैवेट्स्की ने आर्यसमाज बम्बई के प्रधान श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि के नाम एक पत्र लिख कर उन्हें सूचित किया कि वे शीघ्र ही भारत पहुँच रही हैं। उन्होंने इस पत्र में आर्यावर्त को अपनी जन्मभूमि के रूप में स्मरण किया था।[8] इस पत्र का अनुमोदन करते हुए कर्नल ऑल्काट ने हरिश्चन्द्र चिन्तामणि के समक्ष सुझाव रक्खा कि थियोसोफिकल सोसाइटी को आर्यसमाज की शाखा के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। उन्होंने इस पत्र में स्वामीजी को गुरु एवं पथप्रदर्शक के रूप में स्मरण किया।[9] थियोसोफी के नेताओं को आर्यसमाज से अपना निकट सम्बन्ध स्थापित करने की इतनी उतावली थी कि उन्होंने २२ मई १८७८ को एक बैठक आयोजित कर यह निश्चय कर लिया कि उनकी संस्था को भारतवर्षीय आर्यसमाज की शाखा के रूप में जाना जायगा तथा स्वामी दयानन्द को वे

अपना नेता तथा पथप्रदर्शक स्वीकार करते हैं। इस निश्चय की सूचना संस्था के कार्यालय-सचिव ने २२ मई १८७८ को ही पत्र लिख कर हरिश्चन्द्र चिन्तामणि के द्वारा आर्यसमाज के समस्त नेताओं को दे दी थी।[१०]

इसके पश्चात् ५ जून १८७८ को कर्नल ऑल्काट ने स्वामीजी की सेवा में एक विस्तृत पत्र लिख कर यह स्वीकार किया कि वैदिक ज्ञान, वैदिक दर्शन तथा वैदिक धर्म के सिद्धान्तों में उनकी पूर्ण आस्था है। साथ ही उन्होंने यह भी सूचित किया कि पश्चिमी देशों में वे आर्यसमाज के सिद्धान्तों को प्रसारित करने में शक्ति भर उद्योग करेंगे।[११] स्वामीजी ने इस पत्र का उत्तर २६ जुलाई १८७८ को लिखा[१२] और इसे प्राप्त कर कर्नल और मैडम ने भारत के लिये प्रस्थान किया। १५ फरवरी १८७९[१३] को ये लोग बम्बई पहुँचे और हरिश्चन्द्र चिन्तामणि के घर पर ठहरे। इस समय स्वामीजी हरिद्वार के कुम्भ में प्रचारार्थ गये हुए थे। उन्हें कर्नल व मैडम के भारत आगमन का समाचार तो मिल ही गया था। स्वामीजी से उनकी प्रथम प्रत्यक्ष भेंट सहारनपुर में हुई। इसके पश्चात् स्वामीजी दोनों महानुभावों को लेकर मेरठ आये।[१४] मेरठ में स्वामीजी के सान्निध्य में रहने का अवसर तो इन लोगों को केवल चार दिन का ही मिला, परन्तु इसी बीच उन्होंने अपने शील, सौजन्य तथा महाराज के प्रति प्रगाढ़ आस्था भाव से आर्यों में पर्याप्त सम्मान भाव अर्जित कर लिया। स्वामीजी को भी इनकी वैदिक धर्म में प्रगाढ़ निष्ठा का पूर्ण विश्वास हो गया था। इसका प्रमाण हमें स्वामीजी द्वारा लिखे उस पत्र से मिलता है जो उन्होंने आर्यसमाज शाहजहाँपुर के मन्त्री को ८ मई १८७९ को लिखा था। इस पत्र में उन्होंने थियोसोफी के संस्थापकों की भूरि भूरि प्रशंसा करते हुए लिखा था कि 'अमेरिका के सज्जनों ने सब के चित्त पर निश्चय करा दिया है कि जितनी भलाई और विद्या है, वह सब वेदों से ही निकली है और जितने वेद विरुद्ध मत हैं, वे सब पाखण्डी हैं।" इसके साथ ही उन्होंने यह आशा भी प्रकट की थी कि उक्त साहबों से जो हमारा समागम हुआ है, यह इस आर्यावर्त आदि देशों के मनुष्यों की उन्नति का कारण है।[१५] ४ मई १८७८ को थियोसोफिस्ट नेताओं ने मेरठ से बम्बई के लिये प्रस्थान किया।

स्वामी दयानन्द से कर्नल और मैडम की दूसरी भेंट लगभग ६ मास पश्चात् १५ दिसम्बर १८७९ को बनारस में हुई।[१६] इसके पश्चात् स्वामीजी ने श्रावण कृष्णा पञ्चमी १९३७ वि., २६ जुलाई १८८०, सोमवार को एक विशिष्ट विज्ञापन प्रकाशित कर यह स्पष्ट कर दिया कि आर्यसमाज थियोसोफिकल सोसाइटी की शाखा नहीं है, अपितु इन संस्थाओं में भगिनीवत् सम्बन्ध है। जो मनुष्य आर्यसमाज के नियमों को अपनी प्रसन्नता से माने वह वेद मतानुयायी और जो न माने वे केवल थियोसोफिकल सोसाइटी के सभासद रहेंगे।[१७] इस प्रकार यह घोषित कर दिया गया कि न तो आर्यसमाज ही सोसाइटी की शाखा है और न सोसाइटी को ही आर्यसमाज की शाखा कहना उचित है। परन्तु इस विज्ञापन में भी स्वामीजी ने इस तथ्य पर सुखद आश्चर्य व्यक्त किया कि जिस समय बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना हुई, उसी समय न्यूयार्क में इस सोसाइटी का प्रारम्भ हुआ। उन्होंने इस बात पर पुनः हर्ष प्रकट किया कि पांच हजार वर्षों के पश्चात् आर्यावर्तीय धार्मिक मनुष्यों और पातालस्थ अर्थात् अमेरिका निवासी मनुष्यों का वेदोक्त, सनातन, सुपरीक्षित धर्म व्यवहारों में बांधवीय प्रेम

प्रकट किया है। विज्ञापन के अवशिष्ट अंश में महाराज ने इस सनातन सार्वजनिक धर्म का सूक्ष्म विवेचन किया जो उनकी दृष्टि में मनुष्य मात्र के लिये एक ही है।[१८] इसी धर्म के प्रति आस्था प्रकट करने की उन्होंने मनुष्यमात्र से कामना की।

थियोसोफी के आचार्यों से स्वामीजी की तृतीय भेंट १८८० में पुनः मेरठ में हुई। परन्तु इस बार की चर्चा के प्रसंग में इन लोगों के कुछ ऐसे विचारों का ज्ञान महाराज को हुआ जिससे उनके हृदय में इन के प्रति शंका के भाव उत्पन्न हो गये। स्वामीजी को पता चला कि उन्होंने तो कर्नल और मैडम को दृढ़ आस्तिक, ईश्वरविश्वासी, तथा वेद एवं वैदिक धर्म के सभी सिद्धान्तों के प्रति दृढ़ आस्थावान् समझा था, जब कि हकीकत यह थी कि ये लोग परले दर्जे के कूटनीतिज्ञ तथा जमानासाज थे। वार्तालाप के प्रसंग में उन्होंने अपनी निजी मान्यताओं को स्पष्ट किया तो स्वामीजी का चौकन्ना हो जाना स्वाभाविक ही था। सिद्धान्तों के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की ढील देना स्वामीजी को पसन्द नहीं था, अतः जब उन्होंने थियोसोफी के आचार्यों को शास्त्रार्थ कर सभी विवादास्पद मसलों का एक बार ही निपटारा कर लेने का अनुरोध किया, तो चतुर कर्नल और मैडम शालीनतापूर्वक टाल गये। अन्ततः तीन दिनों के विचार विमर्श के पश्चात् किसी निर्णय पर पहुँचे विना ही वे मेरठ से शिमला चले गये।[१९]

धीरे-धीरे स्वामी दयानन्द के समक्ष थियोसिस्टों का कपटाचरण स्पष्ट हो रहा था। उन्होंने अनुभव किया कि इन लोगों ने आर्यसमाज एवं स्वयं उनकी लोकप्रियता का लाभ उठाने के लिये ही थियोसोफी को आर्यसमाज की शाखा घोषित करने का प्रपञ्च किया था। अन्यथा इन लोगों के विचार तो आर्यसमाज प्रतिपादित वैदिक मन्तव्यों के नितान्त प्रतिकूल ही थे।[२०] स्वामीजी १८८१ के अन्त में जब बम्बई पहुँचे तो उन्होंने निश्चय कर लिया कि इस बार वे थियोसोफिकल सोसाइटी के आचार्यों से निर्णायक बातचीत कर लेंगे और आर्य-समाज तथा इस सोसाइटी के पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में किसी भी प्रकार के भ्रम की सम्भावना को समाप्त कर देंगे। फलतः उन्होंने दानापुर निवासी बाबू जनकधारीलाल से एक पत्र लिखवा कर कर्नल और मैडम को भेजा, जिसका आशय यही था कि मेरठ में आपके द्वारा प्रदत्त एक व्याख्यान से मुझे यह शंका हो गई थी कि ईश्वर के सम्बन्ध में आपके विचार हम से नितान्त भिन्न हैं। यहाँ तक कि आपने तो ईश्वर के अस्तित्व के प्रति ही सन्देह व्यक्त किया था। ऐसी स्थिति में यही उत्तम है कि आप शास्त्रार्थ हेतु मेरे समीप उपस्थित हों ताकि पारस्परिक वार्तालाप के द्वारा हम विवादास्पद मसलों को हल कर सकें। उन्होंने इस पत्र को जिस व्यक्ति के हाथ भेजा, उससे मौखिक रूप से कर्नल व मैडम को यह भी कहला दिया कि नास्तिकों का खण्डन करने में आलस्य लाने को मैं पाप समझता हूँ अतः इस विचार विमर्श में अब अधिक विलम्ब नहीं होना चाहिए।

जब पत्रवाहक इस पत्र को लेकर थियोसोफिस्टों के डेरे पर पहुँचा तो विदित हुआ कि कर्नल तो अन्यत्र चले गये हैं[२१] और मैडम ने पत्र का लिखित उत्तर न देकर यही कहला भेजा कि उन्हें महाराज से शास्त्रार्थ के लिये अवकाश नहीं है। २२ मार्च को एक अन्य पत्र भेज कर स्वामीजी ने इस सम्बन्ध में पुनः स्मरण कराया कि पूर्वकृत प्रतिज्ञा को ध्यान में

रखते हुए कर्नल साहब को तो उनसे शास्त्रार्थ हेतु उपस्थित होना ही चाहिए था। खेद है कि बिना सूचना दिये, वे अन्यत्र चले गये हैं। अतः उन्होंने मैडम ब्लैवेट्स्की से पुनः अनुरोध किया कि वे स्वयं अकेली अथवा कर्नल साहब के साथ आकर इस विवाद का कोई संतोषजनक समाधान निकाल लें। जब मैडम ने इस पत्र का भी कोई उत्तर नहीं दिया तो स्वामीजी ने घोषणा कर दी कि वे २८ मार्च १८८२ को सायं ६ बजे फ्रामजी कावसजी हाल में एक भाषण देकर आर्यसमाज और थियोसोफी के पारस्परिक सम्बन्धों के अतीत और वर्तमान की समग्र समीक्षा करेंगे और भविष्य के सम्बन्ध में आवश्यक घोषणा भी कर देंगे। इस सूचना के अनुसार निश्चित समय और स्थान पर स्वामीजी ने अपनी वक्तृता में कर्नल और मैडम से हुए सम्पूर्ण पत्र व्यवहार के प्रासंगिक उद्धरण प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट किया कि किस प्रकार प्रथम तो इन लोगों ने वैदिक सिद्धान्तों के प्रति आस्था व्यक्त करते हुए आर्यसमाज के वैदिक मन्तव्यों का प्रचार करने की बड़ी बड़ी कसमें खाई थीं, किन्तु अब धीरे धीरे इन लोगों का जो वास्तविक रूप उभर कर सामने आया है, उससे विदित होता है कि ये लोग योग के नाम पर नाना मिथ्या चमत्कारों को प्रोत्साहन देने वाले, अनेक गुप्त तान्त्रिक विद्याओं में विश्वास रखने वाले तथा मेस्मेरिज्म जैसी कुछ विद्याओं के ज्ञाता हैं। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि ईश्वर, वेद अथवा वैदिक धर्म में इनकी कोई आस्था नहीं है। इस प्रकार इस सोसाइटी की अन्तरंग बातों को सार्वजनिक रूप से प्रस्तुत कर उन्होंने घोषणा कर दी कि भविष्य में आर्यसमाज का थियोसोफिकल सोसाइटी से कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा।

आर्यसमाज तथा सोसाइटी के सम्बन्ध विच्छेद की औपचारिक घोषणा कर देने के पश्चात् स्वामीजी ने 'थियोसोफिस्टों की गोलमाल-पोलपाल।'[२२] शीर्षक एक विज्ञापन प्रकाशित कराया और उसे सब आर्यसमाजों को भेज दिया। इस विज्ञापन में पृथक् पृथक् ९ बिन्दुओं के अन्तर्गत उन कारणों का विवेचन किया गया था, जो इन संस्थाओं के परस्पर सम्बन्ध विच्छेद के कारण बने थे। जुलाई १८८२ के थियोसोफिस्ट मासिक के परिशिष्ट में कर्नल ऑल्काट ने स्वामीजी द्वारा उठाये गये मुद्दों का उत्तर देने का प्रयास किया।[२३] कर्नल द्वारा प्रस्तुत किया गया यह स्पष्टीकरण अधिक सन्तोषजनक नहीं था। अंग्रेजी मासिक पत्र 'दि आर्य मैगजीन' के सम्पादक रतनचन्द बेरी ने इसका प्रत्युत्तर अपने पत्र में दिया। इसी प्रकार आर्यसमाज रुड़की के प्रमुख कार्यकर्ता पं. उमरावसिंह ने भी एक लघु पुस्तिका लिख कर कर्नल के वक्तव्य का खण्डन किया।[२४] डा. जॉर्डन्स का यह कथन सत्य ही है कि "स्वामीजी ने थियोसोफिकल सोसाइटी से सहयोग स्थापित करने के लिये पर्याप्त व्यापक आधार ढूंढ़ लिया था, किन्तु कुछ सिद्धान्त तो स्वयं स्वामीजी के लिये भी इतने महत्त्वपूर्ण तथा आधारभूत थे कि जिनको लेकर किसी भी प्रकार का समझौता करना असम्भव ही था और एकेश्वर वाद उनमें से प्रमुख था।"[२५]

२ मुन्शी इन्द्रमणि का मुकद्दमा और उसके फलितार्थ[२६]

मुरादाबाद निवासी मुन्शी इन्द्रमणि का उल्लेख पूर्व अध्यायों में आ चुका है। उन्होंने इस्लाम के कुछ कट्टरपंथी लेखकों के द्वारा रचित पुस्तकों के उत्तर में तीन पुस्तकें हमलअे हिन्द, समसामे हिन्द (प्रथम प्रकाशन काल १९२२ वि., १८६५ ई.) तथा सौलते हिन्द

(१८६८ ई.) लिखी थीं। इनके प्रथम दो संस्करण क्रमशः मेरठ तथा बुलन्दशहर से छपे जब कि तृतीय संस्करण १८८० ई. में मुरादाबाद से प्रकाशित हुआ। इस समय तक मुरादाबाद में आर्यसमाज की स्थापना हो चुकी थी और मुन्शीजी उसके प्रधान पद पर आसीन थे। 'जामे जमशेद' नामक पत्र ने १६ मई १८८० के अंक में एक लेख लिख कर मुन्शी इन्द्रमणि रचित पुस्तकों को साम्प्रदायिक विद्वेष युक्त बताया तथा सरकार से लेखक को दण्डित करने की प्रार्थना की। जब सरकार को इस बात की खबर, लगी तो उसने मुरादाबाद के मैजिस्ट्रेट को मुन्शीजी के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही करने का आदेश दिया। तदनुसार २२ जुलाई १८८० की भारतीय दण्ड विधान की धारा २९२, २९३ के अन्तर्गत मुन्शीजी के खिलाफ वारण्ट जारी कर दिये गये। जब मुन्शीजी अदालत में उपस्थित हुए तो उनसे उपर्युक्त पुस्तकों के कतिपय विवादास्पद मुद्दों के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण मांगा गया'।[२७] मुन्शीजी ने अपनी सफाई देने के लिये कुछ समय चाहा परन्तु दण्डनायक ने स्पष्ट कर दिया कि वे २५ जुलाई को उनका पक्ष सुन कर २६ से अभियोग की कार्यवाही आरम्भ कर देंगे। उन्हें तत्काल एक हजार रुपये की जमानत देने के लिये कहा गया, जो तुरन्त दे दी गई। अन्यथा मुन्शीजी को उसी समय जेल भेज दिया जाता। जब अदालत में मुकद्दमा पेश हुआ तो मुन्शीजी ने आक्षेप-योग्य बातों के बारे में अपना स्पष्टीकरण दे दिया। इससे संतुष्ट न होकर मैजिस्ट्रेट ने उन्हें अपराधी माना और उन पर ५०० रु. जुर्माना कर दिया। साथ ही आपत्तिजनक समझी गई पुस्तकों की सभी प्रतियां उनके घर से मंगवा कर नष्ट करा दीं।

इस प्रकार यह अभियोग तो समाप्त हुआ, परन्तु जब मैजिस्ट्रेट के निर्णय के विरुद्ध सत्र अदालत में अपील करने की बात आई, तो मुन्शीजी ने स्वामी दयानन्द के समक्ष सारी परिस्थिति रक्खी तथा उनसे निवेदन किया कि उनके मुकद्दमे को हिन्दूधर्म की रक्षा हेतु किये गये प्रयत्नों की शृंखला की एक कड़ी के रूप में देखा जाना चाहिए। उन्होंने जो पुस्तकें लिखीं, वे स्वधर्म पर किये जाने वाले आक्रमणों के उत्तर में ही थीं और इसी कथित अपराध के कारण वे दण्डित हुए हैं। अतः उनको अपील करने में सामूहिक सहायता मिलनी चाहिए। स्वामीजी मुन्शीजी की इस बात से सहमत थे। अन्त में आर्यसमाज मेरठ के तत्त्वावधान में एक समिति गठित हुई, जिसके प्रधान लाला रामशरणदास बनाये गये। स्वामीजी ने मुन्शीजी की सहायतार्थ एक अपील प्रकाशित की जो विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई तथा लोगों से मुकद्दमे के लिये धन भेजने को कहा गया। मुन्शीजी के पक्ष को पत्र पत्रिकाओं ने दृढ़तापूर्वक प्रस्तुत किया[२८] तथा उनके वकीलों ने सत्र न्यायालय में पैरवी करने में अपनी पूर्ण प्रतिभा एवं योग्यता का प्रदर्शन किया। परिणामस्वरूप जब २२ सितम्बर १८८० को फैसला सुनाया गया तो जुर्माने की ५०० रु. राशि में से ४०० रु. कम कर दिये गये। मात्र १०० रु. जुर्माना अदा किये जाने की आज्ञा हुई। तथापि न्यायाधीश ने मुन्शीजी को अपराध-मुक्त नहीं किया। अन्ततः मुकद्दमा हाईकोर्ट में गया। ३ जून १८८१ को हुए निर्णय में सत्र न्यायाधीश मुरादाबाद का फैसला यथावत् रक्खा गया, परन्तु २९ जून को पश्चिमोत्तरप्रदेश के लैफ्टीनेंट गवर्नर ने एक आदेश प्रसारित कर मुन्शीजी पर किया गया, १०० रु. जुर्माना भी माफ कर दिया।[२९]

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, मुन्शीजी का यह मुकद्दमा एक जातीय समस्या

का रूप ले चुका था। मुन्शीजी की सहायता के लिये स्वामी दयानन्द द्वारा जो अपील की गई थी उसका इच्छित परिणाम निकला और अनेक व्यक्तियों तथा आर्यसमाजों ने अच्छी धन-राशि अभियोग लड़ने के लिये लाला रामशरणदास के पास भेजी। इसी दौरान यह भी निश्चय हुआ कि मुन्शी इन्द्रमणि के अभियोग के समाप्त हो जाने के पश्चात् जो धन बचे, उसे एक स्थायी फण्ड के रूप में रक्खा जाय, ताकि भविष्य में जब कभी ऐसा अवसर उपस्थित हो, उससे सहायता ली जा सके।

जब मुकद्दमे के नाम पर पर्याप्त राशि एकत्रित हो गई[३०] तो मुन्शीजी ने चाहा कि यह सारा धन उन्हें सौंप दिया जाय। साथ ही जो रुपया सहायता के रूप में सीधा उनके पास आया था, उसे यथेच्छ रूप में व्यय कर उसका हिसाब देने से उन्होंने इन्कार किया। इस पर लाला रामशरणदास ने मुरादाबाद निवासी लाला श्यामसुन्दर से निवेदन किया कि वे मुन्शीजी से धन का हिसाब लेने का यत्न करें, परन्तु उन्हें इसमें सफलता नहीं मिली। जब स्वामीजी को सारे समाचार विदित हुए तो उन्होंने मुन्शी इन्द्रमणि को पहले तो पत्र लिख कर हिसाब देने के लिये कहा,[३१] पुनः आगरा में उन्हें प्रत्यक्ष रूप में समझाया कि मुकद्दमे की सहायतार्थ जो धन उन्हें प्राप्त हुआ है, वह सार्वजनिक है, अतः उसका हिसाब दे देना ही उचित है। बहुत आग्रह करने पर उन्होंने २००० रु. का हिसाब तो दिया और अवशिष्ट हिसाब बाद में भेज देने के लिये कहा। उनका यह भी आग्रह था कि चूंकि यह धन उनके ऊपर चलाये गये अभियोग की सहायतार्थ आया है, अतः यह उनके पास ही रहना चाहिए। उन्होंने इस आशय का एक विस्तृत वक्तव्य मुरादाबाद से प्रकाशित होने वाले 'तहज़ीब' नामक पत्र में प्रकाशित कराया।[३२] इसमें लाला रामशरणदास पर आरोप लगाया गया था कि अपील के समय जब बैरिस्टर को पारिश्रमिक देने के लिये उनको ६०० रुपयों की आवश्यकता थी, अभियोग सहायता समिति के अध्यक्ष तथा कोषाध्यक्ष उक्त लालाजी ने रुपया देने से साफ इन्कार कर दिया। इस सारे विवाद को सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का श्रेय एक 'सत्यवक्ता' को है जिसने 'देशाहितैषी' में मुन्शी इन्द्रमणि के मुकद्दमे तथा उसकी सहायता रूप में एकत्रित धन के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द के दृष्टिकोण को निष्पक्ष रूप में प्रस्तुत किया।[३३]

जब मुन्शी इन्द्रमणि ने एकत्रित धन के सम्बन्ध में इस प्रकार का रुख अपनाया तो यही उचित समझा गया कि अब तक प्राप्त धन के आय और व्यय का हिसाब समाचार पत्रों में प्रकाशित करा दिया जाय तथा इस मद में प्राप्त धन की अवशिष्ट राशि को दानदाताओं को लौटा कर इस अध्याय को समाप्त समझा जाय। फलतः ऐसा ही किया गया[३४] और मुन्शी इन्द्रमणि के अभियोग के समाप्त हो जाने के पश्चात् भी किसी परिस्थिति में यदि कोई अन्य अभियोग इसी प्रकार का चले, तो उसकी सहायता में इस मुकद्दमे से बचे धन को स्थायी निधि के रूप से रक्खे जाने का उपयोगी प्रस्ताव अकाल कवलित हो गया।

मुन्शी इन्द्रमणि तो सैद्धान्तिक दृष्टि से भी आर्यसमाज से दूर हट रहे थे। वे अपने अनेक मतभेद पहले भी व्यक्त कर चुके थे, किन्तु अब तो उनका सम्बन्ध आर्यसमाज से पूर्णतया समाप्त ही हो गया। इन्द्रमणि के विचारों को दूषित करने में उनके एक शिष्य जगन्नाथदास[३५]

का बड़ा हाथ था। अन्ततः आर्यसमाज के नियमों के विरुद्ध आचरण करने के कारण उन्हें तथा उनके शिष्य को आर्यसमाज मुरादाबाद ने सदस्यता से पृथक् कर दिया। २९ मई १८८३ को मुन्शीजी आर्यसमाज मुरादाबाद के प्रधान पद से हटा दिये गये और उनके सलाहकार शिष्य को भी पुस्तकाध्यक्ष पद से मुक्त कर दिया गया। आर्यसमाज से पृथक् होकर मुन्शीजी ने 'इन्द्रसभा' के नाम से एक पृथक् सभा संगठित की, परन्तु वह अधिक नहीं चल सकी। उनके शिष्य जगन्नाथदास ने अपना अवशिष्ट जीवन स्वामी दयानन्द के विरुद्ध लिखने में व्यतीत किया और अनेक छोटी पुस्तकें लिखकर वे स्वामीजी को कोसते रहे।

३. सत्यार्थप्रकाश (प्रथम संस्करण) और जैन मत की आलोचना[३६]

स्वामी दयानन्द की जैनमतविषयक समालोचना, जो सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में प्रकाशित हुई, वह अत्यन्त संक्षिप्त थी।[३७] इसका एक कारण तो यह था कि उस समय तक उन्हें जैनमतविषयक बहुत कम ग्रन्थ उपलब्ध हुए थे, अतः उनकी यह समीक्षा विस्तृत नहीं हो सकी। प्रारम्भ में तो जैनमतावलम्बियों ने इस पर कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की, किन्तु जब स्वामीजी ने १८७७ ई० में पंजाब का भ्रमण किया, तो इस प्रान्त के निवासी कतिपय जैनियों का ध्यान स्वामी दयानन्द कृत जैनमत समीक्षा की ओर गया। उन दिनों पंजाब में जैनमत के आचार्य विजयानन्द सूरि (आत्माराम)[३८] पर्याप्त लोकप्रिय थे। वे मूर्तिपूजक जैन सम्प्रदाय के स्तम्भ माने जाते थे। इन्हीं की सम्मति से गुजरांवाला निवासी ठाकुरदास मूलराज भाभड़ा नामक एक जैनी ने ३ जुलाई १८८० को स्वामीजी के नाम एक पत्र लिख कर उनसे यह स्पष्टीकरण मांगा कि सत्यार्थप्रकाश (प्रथम संस्करण) में जिन ग्रन्थों के श्लोकों को उद्धृत कर उन्होंने इस मत की समलोचना की है, उन ग्रन्थों के वे नाम बतायें। इस पत्र का शीघ्र उत्तर न मिलने पर उसने १२ जुलाई १८८० को इसी आशय का एक दूसरा पत्र लिखा तथा स्वामीजी को चेतावनी देते हुए कहा कि वे इस पत्र को नोटिस के रूप में लें। आर्यसमाज गुजरांवाला ने इन पत्रों के उत्तर में एक विस्तृत वक्तव्य आर्यदर्पण (शाहजहांपुर) में प्रकाशित कराया जिसमें यह स्पष्ट किया गया था कि ठाकुरदास तो एक अशिक्षित तथा बुद्धिहीन व्यक्ति है, परन्तु उसे ही आगे कर जैनाचार्य आनन्दविजयजी (विजयानन्द सूरि) ने यह विवाद खड़ा किया है। इसी वक्तव्य में यह सम्मति दी गई कि वादविवाद को अधिक बढ़ाने की अपेक्षा तो यही उचित है कि जैनमतावलम्बी किसी योग्य एवं बुद्धिमान् व्यक्ति को स्वामीजी से शास्त्रार्थ के नियत करें जिससे कि सत्यासत्य का निर्णय हो सके।

इसी बीच जब स्वामीजी को ठाकुरदास का पत्र मिल गया तो उन्होंने आर्यसमाज मेरठ के मंत्री श्री आनन्दीलाल के द्वारा २६ जुलाई १८८० को एक पत्र भेज कर उसे इस बात के लिये आगाह कर दिया कि वे उसके पत्र में लिखित नोटिस आदि की कार्यवाही से तो किञ्चित् मात्र भी भयभीत नहीं हैं, बल्कि यदि बात को बढ़ाया गया तो न्यायालय से ही सत्यासत्य का निर्णय करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं होगी। ७ अगस्त १८८० को ठाकुरदास ने उपर्युक्त पत्र का उत्तर देते हुए स्वामीजी से स्पष्ट पूछा कि जैनमत की तो श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दो ही प्रसिद्ध शाखाएँ हैं। अब वे बतायें कि उनके द्वारा लिखी गई सत्यार्थप्रकाश की जैनमत समीक्षा इनमें से किस शाखा के ग्रन्थों पर आधारित है? जब इसका उत्तर उसे शीघ्र नहीं मिला, तो ३० अगस्त को उसने एक अन्य पत्र स्वामीजी के नाम लिख भेजा।

इन दोनों पत्रों का उत्तर आनन्दीलाल, मंत्री आर्यसमाज मेरठ ने १२ सितम्बर १८८० को दिया जिसमें उसने पुनः स्पष्ट कर दिया कि समस्त शंकाओं के निवारण करने का सर्वोत्तम उपाय तो यही है कि जैनाचार्य आत्मारामजी से स्वामीजी का संवाद करा दिया जाय तथा जैन लोग अब तक अप्रकाशित अपने शास्त्र ग्रन्थों को प्रकाशित करादें ताकि सभी जिज्ञासु जनों को उनकी आलोचना करने का अवसर मिल सके। बात युक्तिसंगत ही थी। इसी पत्र में यह भी स्पष्ट किया गया था कि सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण को राजा जयकृष्णदास ने प्रकाशित कराया था, न कि स्वामी दयानन्द ने।[३६]

ठाकुरदास ने उपर्युक्त पत्र का उत्तर २७ सितम्बर को लिखा। इसमें एक बार पुनः स्वामीजी को चेतावनी के स्वर में कहा गया था कि वे सत्यार्थप्रकाश में उल्लिखित जैनमत विषयक आलोचना के अधारभूत ग्रन्थों के बारे में सूचना दें। यह पत्र ठाकुरदास ने आर्य-समाज गुजरांवाला को इस अभिप्राय से भेजा कि वह उसे स्वामीजी तक पहुंचा दें। परन्तु पत्र में पिष्टपेषण के अतिरिक्त और कुछ नहीं था, इसलिये गुजरांवाला आर्यसमाज ने इसे स्वामी जी की सेवा में भेजना उचित नहीं समझा। परन्तु इस समाज के उपप्रधान नारायणकृष्ण ने स्वहस्ताक्षरों से एक पत्र ठाकुरदास को लिखा जिसमें पुनः उनसे आग्रह किया था कि पत्रव्यवहार में व्यर्थ कालक्षेप न कर वे एक जैन विद्वान् को नियुक्त करें जो स्वामीजी से सभी विवादास्पद मुद्दों पर बात कर किसी निर्णय पर पहुँच सके। इसी समय स्वामी दयानन्द ने मंत्री आर्यसमाज गुजरांवाला को पत्र लिखा और उनसे निवेदन किया कि वे जैनाचार्य आत्मारामजी से सम्पर्क करें तथा उनसे कहें कि वे सत्यार्थप्रकाश में लिखित जैनमतविषयक, उनकी दृष्टि में आक्षेप योग्य बातों की एक सूची बना कर भेज दें ताकि उस पर आगे विचार किया जा सके। इसी आशय का एक पत्र आर्यसमाज गुजरांवाला के उपप्रधान ने २४ अक्टूबर १८८० को लिख कर स्वामी आत्माराम को भेज दिया। इस पर आचार्य आत्मारामजी ने कुछ प्रश्न लिख कर आर्यसमाज गुजरांवाला को भेजे परन्तु आर्यसमाज द्वारा पं. आत्माराम को भेजे गये पत्र को पढ़ कर ठाकुरदास आपे से बाहर हो गया और अत्यन्त अशिष्ट भाषा में, २५ अक्टूबर १८८० को स्वामी दयानन्द के नाम एक पत्र भेज कर उसने इस बात पर आपत्ति की कि इस विवाद में साधु आत्मारामजी को क्यों सम्मिलित किया जा रहा है? साथ ही उसने यह धमकी भी दी कि इस मामले को अभियोग के स्तर पर वह स्वयं ले जायगा और अदालत में सिद्ध करेगा कि दयानन्द ने उनके मत का अपमान किया है अतः वे दण्डनीय हैं। इस आवेशपूर्ण कथन के साथ ही उसने पत्रान्त में यह भी लिख दिया कि यदि अपनी भूल को स्वामी दयानन्द स्वीकार कर लें, तो उन्हें क्षमादान भी मिल सकता है।

स्वामी दयानन्द ने विवाद का अन्त करने की दृष्टि से आर्यसमाज देहरादून के मंत्री श्री कृपाराम के द्वारा ६ नवम्बर १८८० को एक पत्र लिखवाकर उनकी प्रतियां पं. आत्मा-राम व ठाकुरदास भाभड़ा के अतिरिक्त लुधियाना के मूर्तिपूजक जैनों को भिजवाई। इसमें उन्होंने यह स्पष्ट किया कि सत्यार्थप्रकाश द्वादश समुल्लास में लिखी गई जैनमत की आलोचनाओं का आधार तो माधवाचार्य कृत सर्वदर्शन संग्रह के वे अंश हैं जिनमें चार्वाक, जैन और बौद्ध आदि सभी लोकायत मतों के सिद्धान्तों का सार प्रस्तुत किया गया है। साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि सृष्टिकर्ता परमात्मा, ईश्वरीय ज्ञान वेद, अग्निहोत्र आदि

वेदोक्त कर्मकाण्ड के विरोध में चार्वाक, जैन तथा बौद्ध आदि अवैदिक सम्प्रदाय लगभग एकसी ही धारणा रखते हैं। पत्र में यह भी स्पष्ट किया गया कि यदि स्वामी आत्मारामजी और स्वामी दयानन्द का पारस्परिक विचारविमर्श आयोजित करा दिया जाय तो बहुत सी भ्रान्तियों का निराकरण हो जायगा।

इसी बीच स्वामी आत्मारामजी ने १४ प्रश्न लिख कर स्वामीजी की सेवा में ४ नवम्बर १८८० को भेजे। १४ नवम्बर १८८० को एक पत्र लिखकर स्वामी दयानन्द ने इनका सम्यक् समाधान कर दिया। साथ ही उन्होंने यह भी लिख दिया कि पत्रों के माध्यम से प्रश्नों की विस्तृत मीमांसा नहीं की जा सकती। यदि वे १७ नवम्बर १८८० तक अम्बाला आ जावें और वहां से उन्हें देहरादून अथवा आगरा में तार द्वारा सूचित कर दें तो वे स्वयं अम्बाला पहुंच कर पारस्परिक वार्तालाप द्वारा सभी शंकाओं का निवारण कर सकेंगे। इसके उत्तर में स्वामी आत्मारामजी ने १९ जनवरी १८८१ को एक पत्र स्वामी दयानन्द की सेवा में भेजा जिसमें स्वामीजी द्वारा दिये गये १४ प्रश्नों के कुछ उत्तरों पर तो संतोष व्यक्त किया गया था, साथ ही कुछ अन्य शंकायें भी उठाई गई थीं। स्वामीजी ने इसका उत्तर आगरा से २१ जनवरी १८८१ को भेजा जिसमें इस बात पर प्रसन्नता प्रकट की गई थी कि जैन और बौद्ध मतों को एक मानने पर आत्मारामजी को विशेष आपत्ति नहीं है। यह स्वीकार कर लेने पर भी आत्मारामजी ने यह स्पष्ट कर दिया था कि योगाचार आदि जो चार शाखाएँ बौद्ध मत की प्रचलित हैं, उन्हें बौद्धतन्त्र के अन्तर्गत ही मानना होगा, जैनाम्नाय से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस पर स्वामीजी का कहना था कि सिद्धान्तभेद से शाखाभेद हो जाता है परन्तु समग्र रूप से वे सभी शाखाएं एक ही मत की कहलाती हैं। उन्होंने पुनः यह स्पष्ट कर दिया दिया कि जैन और बौद्ध मत को एक मानने के लिये उन्होंने राजा शिवप्रसाद के मत को ही उद्धृत किया था, जो स्वयं विख्यात जैनी हैं।

एक अन्य प्रश्न के उत्तर में स्वामीजी ने प्राकृत आदि संस्कृत से अपभ्रष्ट हुई भाषाओं के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा कि पं. आत्माराम ने प्राकृत भाषा के एक श्लोक को उद्धृत कर उसका अर्थ नहीं लिखा, किन्तु स्वामी दयानन्द को ही इसका अर्थ विचारने के लिये कह दिया। इस प्रसंग में विभिन्न भाषाओं के अपने अध्ययन तथा मत-सम्प्रदायों की आलोचना के सम्बन्ध में स्वामीजी ने अत्यन्त विनम्र भाव से लिखा है—"हाँ, मैं कुछ सब देशों की भाषाओं को नहीं जानता हूँ, केवल कुछ देशों की भाषा तथा संस्कृत जानता हूँ। परन्तु मतों और उनकी प्रशाखाओं तथा सम्प्रदायों के सिद्धान्त अपनी विद्या और बुद्धि तथा विद्वानों की संगति के प्रभाव से जानता हूँ।" इसके पश्चात् संस्कृत को विकृत कर बनी प्राकृत अपभ्रंश आदि भाषाओं के सम्बन्ध में वे स्वोद्गारों को प्रकट करते हुए लिखते हैं—"आप और आप लोगों के पथप्रदर्शकों ने ऐसी भाषा बिगाड़कर अपनी भाषा बना ली है, जैसे धर्म का धम्म आदि। साथ ही उन्होंने शब्दों के प्रसिद्ध अर्थों को बदल कर उनके प्रतीकात्मक, रहस्यपूर्ण एवं गोपनीय अर्थ करने की प्रवृत्ति की आलोचना करते हुए लिखा—"जिनका मत युक्ति और प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता, वे ऐसे ऐसे अप्रसिद्ध शब्द बना लेते हैं ताकि कोई दूसरा उसको समझ न सके जैसे मद्य का नाम 'तीर्थ', मांस का नाम 'पुष्प' आदि

बना लिया है।.....जो राजा लोग न्यायकारी होते हैं वे तो मार्ग को ऐसा सीधा बनाते हैं कि अंधा भी निर्दिष्ट स्थान पर चला जाय, परन्तु विरोधी मार्गों को इस प्रकार बिगाड़ते हैं कि कोई परिश्रम से भी न चल सके।"

इधर तो स्वामीजी तथा आत्मारामजी के बीच पत्रों के माध्यम से शंका समाधान चल रहा था, उधर २२ नवम्बर १८८० को ठाकुरदास ने स्वामीजी के नाम एक और नोटिस भेजा जिसमें अपने पिछले पत्रों में लिखी बातों की पुनरावृत्ति कर उसने महाराज को यह धमकी दी कि यदि वे क्षमा नहीं मांग लेते, तो उनके विरुद्ध कानूनी कार्यवाही की जायगी। इसी नोटिस की पुनरावृत्ति २१ दिसम्बर १८८० को उर्दू भाषा में की गई और यह पत्र अनेक आर्यसमाजों को भेजा गया। इसके उत्तर में आर्यसमाज की ओर से एक विज्ञप्ति प्रकाशित की गई, जिसके प्रारम्भ में निम्न फारसी पद्य शीर्षक के रूप में लिखा गया था—

गर न बीनद बरोज़ शप्परा चश्म।
चश्मए आफ़ताब रा च गुनाह॥

अर्थात् यदि चमगादड़ को दिन में दिखाई न दे, तो सूर्य का क्या अपराध ?

६ फरवरी १८८१ को ठाकुरदास ने भारतीय दण्डसंहिता की धारा २९५ के अन्तर्गत स्वामी दयानन्द और उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाजों के नाम एक नोटिस प्रसारित किया जिसमें लिखा कि सत्यार्थप्रकाश के १२ वें समुल्लास में उल्लिखित बातों को ध्यान में रखते हुए ग्रन्थ के लेखक के विरुद्ध अभियोग चलाया जायगा। इसका सम्मिलित उत्तर आर्य-समाजों की ओर से दिया गया जो आर्यसमाचार मेरठ में प्रकाशित हुआ।[४०] इसमें इस विवाद के सम्पूर्ण इतिहास को उद्धृत कर यह स्पष्ट कर दिया गया था कि स्वामीजी का ध्येय अपने भाषण अथवा लेख से किसी मनुष्य समूह का अपमान करने का हरगिज नहीं है। इसी प्रसंग में आगे यह भी स्पष्ट किया गया कि जैन और बौद्ध मत की एकता विषयक स्वामीजी का उल्लेख राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द लिखित 'इतिहासतिमिरनाशक' भाग ३ पृष्ठ ८ के एक लेख पर आधारित है अतः इसके लिये स्वामीजी को उत्तरदायी ठहराने की अपेक्षा राजा साहब से पूछना ही अधिक उचित होगा। जब जैन मतावलम्बियों ने देखा कि अब तो गेंद राजा साहब के पाले में आ पड़ी है, तो उन्होंने राजा शिवप्रसाद से इस सम्बन्ध में पत्राचार किया। अब राजा साहब अपने पूर्व प्रकाशित मत को बदल बैठे और गुजरांवाला श्वेताम्बर जैन पंचायत को लिख भेजा कि तिमिरनाशक में उन्होंने जैन बौद्ध मत के एक होने के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये थे, वे तो पूर्वपक्ष का खण्डन करने की दृष्टि से संगृहीत किये गये थे। यह उनका निज का मत नहीं है। पं. लेखराम ने स्वरचित स्वामी दयानन्द के जीवन चरित में राजा शिवप्रसाद के पत्र में उठाए गये चारों मुद्दों को लिखकर उनका सप्रमाण उत्तर दिया है।[४१]

इस विवाद का पूर्वार्द्ध तो यहां समाप्त हुआ। उत्तरार्द्ध का प्रारम्भ १० जनवरी १८८२ से होता है जब कि ठाकुरदास ने 'आफताबे पंजाब' में एक पत्र छपा कर स्वामीजी को शास्त्रार्थ के लिये चुनौती दी।[४२] ऐसे ही चुनौती भरे पत्र उसने १७ अप्रैल, १९ अप्रैल तथा १२ मई को भिन्न भिन्न पत्रों में प्रकाशित कराये।[४३] अन्ततः वह स्वयं उस समय बम्बई चला

आया जब कि स्वामीजी भी उसी नगर में धर्म प्रचारार्थ आये हुए थे। १ जून १८८२ को एक पत्र भेजकर उसने स्वामीजी से मिलने के लिये समय मांगा। इसका उत्तर स्वामीजी ने आर्य-समाज बम्बई के मंत्री सेवकलाल कृष्णदास से ५ जून १८८२ को दिलवाया, जिसमें ठाकुरदास को सूचित किया गया कि वह यथासुविधा किसी दिन सायंकाल आकर स्वामीजी से अपनी शंकाओं का समाधान कर ले।[४४] पत्र का उत्तर प्राप्त होने के पहले ही मंत्री आर्यसमाज बम्बई ने ठाकुरदास की भेंट स्वामीजी से करादी। परन्तु उसे सन्तोष नहीं हुआ। अन्त में उसने १३ जून १८८२ को एक अंग्रेज सालिसिटर के द्वारा स्वामीजी को कानूनी नोटिस दिलवाया जिसमें उनसे कहा गया था कि सत्यार्थप्रकाश के १२ वें समुल्लास में उद्धृत जैन मत विषयक श्लोकों को ग्रन्थ से पृथक् कर दें अन्यथा उन पर अभियोग चलाया जायगा। स्वामीजी ने इसका उत्तर १९ जून को एक अन्य वकील के द्वारा दिलवा दिया।[४५] इसमें यह स्पष्ट किया गया था कि उन्होंने अपने ग्रन्थ में जो कुछ लिखा है, वह पर्याप्त सोच विचार के पश्चात् ही लिखा है, तथापि यदि उसमें कुछ संशोधनीय हुआ, तो आगामी संस्करण में तदनुकूल संशोधन कर दिया जायगा। बात यहीं समाप्त हो गई।

यह ध्यातव्य है कि जब महाराज ने सत्यार्थप्रकाश का द्वितीय संशोधित संस्करण तैयार किया तो उसमें जैनमतविषयक विवेचन को पर्याप्त विस्तार देकर प्रमाणपुरस्सर लिखा। इस समय तक उन्हें जैन धर्म के अनेक ग्रन्थों के देखने का अवसर भी मिल गया था[४६] अतः उनकी यह विवेचना अधिक सतर्क तथा प्रमाणपुष्ट बन गई थी।

४. आर्य सन्मार्ग-सन्दर्शिनी सभा कलकत्ता

स्वामी दयानन्द के बढ़ते हुए उत्कर्ष को देख कर साम्प्रदायिक निष्ठा वाले व्यक्तियों में चिन्ता होनी स्वाभाविक ही थी। सर्वाधिक चिन्ता तो उन लोगों को थी जो पुराण प्रतिपादित धर्म को मान कर मूर्तिपूजा, अवतार, मृतकश्राद्ध, तीर्थयात्रा आदि विचारों को ही पुरातन वैदिक धर्म का स्वरूप समझे बैठे थे। कलकत्ता संस्कृत कालेज के स्थानापन्न आचार्य पं. महेशचन्द्र न्यायरत्न स्वामीजी के वेदभाष्य में अपनाई गई यौगिकवाद की पद्धति की आलोचना कर यह बता चुके थे कि वेद मन्त्रों में प्रयुक्त 'अग्नि' आदि शब्दों का लोक प्रचलित रूढ़ार्थ लिया जाना ही अभीष्ट है।[४८] परन्तु स्वामी दयानन्द ने उनके इन आक्षेपों का विस्तृत उत्तर देकर अपनी भाष्यपद्धति को ब्राह्मण, निरुक्त आदि प्राचीन वेदव्याख्याग्रन्थों के नितान्त अनुकूल सिद्ध कर दिया था।[४९] अतः न्यायरत्न महाशय भी स्वामीजी से खार खाये हुए थे। इन तथा इनके जैसे अन्य लोगों को उत्तेजना मिली मथुरा के सेठ नारायणदास[५०] से, जिसने प्रभूत द्रव्य व्यय कर २२ जनवरी १८८१ को सायंकाल कलकत्ता विश्वविद्यालय के सिनेट हाल में 'आर्य सन्मार्ग-सन्दर्शिनी सभा' का आयोजन किया। उस काल के लगभग सभी प्रसिद्ध पत्रों में इस सभा का विवरण प्रकाशित हुआ है।[५१] कहते हैं कि उपस्थित पण्डितों की संख्या लगभग तीन सौ थी जिनमें इस सभा के संयोजक पं. महेशचन्द्र न्यायरत्न के अतिरिक्त तारानाथ तर्कवाचस्पति, जीवानन्द विद्यासागर[५२] (सभी कलकत्ता निवासी), भुवनचन्द्र तर्करत्न (नवद्वीप), पं, रामधन (जैसोर), बांके बिहारी वाजपेयी और यमुनानारायण तिवारी (कानपुर), सुदर्शनाचार्य (वृन्दावन) जैसे विद्वान् उपस्थित थे। सभा के मुख्य प्रवक्ता मद्रास

प्रेसिडेन्सी के अन्तर्गत तन्जौर (वर्तमान तंजावुर) जिलान्तर्गत कुम्भकोणम् तालुके के नल्लोरी ग्राम निवासी रामसुब्रह्मण्य शास्त्री थे।[५३] ऐसा अनुमान होता है कि जिस समय स्वामी दयानन्द आगरा में थे, उस समय पं. रामसुब्रह्मण्य शास्त्री वृन्दावन में उनके विरुद्ध व्याख्यान दे रहे थे। सेठ नारायणदास ने आगरा जाकर स्वामी दयानन्द को उक्त शास्त्रीजी से शास्त्रार्थ करने के लिये प्रेरित किया, परन्तु अपने पूर्व नियोजित कार्यक्रम को छोड़कर स्वामीजी को वृन्दावन जाना उचित प्रतीत नहीं हुआ। इस पर सेठ नारायणदास ने नाराज होकर कलकत्ता में इस बृहद् सभा का आयोजन कर स्वामीजी के मत का खण्डन कराने का निश्चय किया था। अस्तु।

जिस सभा में बंगाल तथा पश्चिमोत्तर प्रदेश के चोटी के पण्डित उपस्थित थे, उसी में तत्कालीन राजधानी कलकत्ता के प्रतिष्ठित एवं गण्यमान्य पुरुष भी सम्मिलित हुए थे। इनमें से निम्न व्यक्तियों के नाम उल्लेखनीय हैं—महाराजा यतीन्द्रमोहन ठाकुर[५४] सी. एस. आई, राजा सौरीन्द्रमोहन ठाकुर,[५४] महाराजा कमलकृष्ण बहादुर, राजा राजेन्द्रलाल मलिक, जयकृष्ण मुखोपाध्याय, चारुचन्द्र मलिक, कृष्णदास पाल[५४] आदि। इनके अतिरिक्त जो मारवाड़ी सेठ सभा में आये, उनके नाम है—सेठ जुगलकिशोर, बद्रीदास, नाहरमल, हंसराज आदि। यह भी उल्लेख मिलता है कि पं. ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तथा डा. राजेन्द्रलाल मित्र को भी इस सभा में आमंत्रित किया गया था, किन्तु वे किसी कारण उपस्थित नहीं हुए, तथापि इन दोनों ने सभा की कार्यवाही को अपनी सहमति प्रदान की थी।

इस सभा में पं. महेशचन्द्र न्यायरत्न ने स्वामी दयानन्द के मन्तव्यों के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न पूछे जिनका उत्तर पं. रामसुब्रह्मण्य शास्त्री ने पण्डितों के मुख्य प्रवक्ता के रूप में दिया। अन्य उपस्थित लोगों ने सभा के निष्कर्षों पर स्वीकृति की मोहर लगा दी थी, यद्यपि उन्होंने इस विचार विमर्श में प्रत्यक्षतः कोई भाग नहीं लिया। आर्यसन्मार्गसंदर्शिनी सभा का विवरण पं. लेखराम संगृहीत जीवनचरित में भी उपलब्ध होता है। इसमें न्यायरत्न द्वारा प्रस्तुत प्रश्न, पं. रामसुब्रह्मण्य शास्त्री प्रदत्त उत्तर के अनन्तर आर्यसमाज के सिद्धान्त पक्ष को भी विस्तृत रूप से उद्धृत किया गया है, परन्तु यह ज्ञात नहीं होता कि आर्यसमाज के मत को प्रस्तुत करने वाला कौन था अथवा यह मत सर्वप्रथम लिखित रूप में कब एवं किस माध्यम से प्रस्तुत किया।[५५] यहाँ संक्षेप में पौराणिक पण्डितों के मत तथा स्वामी दयानन्द अनुमोदित आर्यसमाज के एतद् विषयक मन्तव्य को प्रस्तुत किया जा रहा है—

प्रश्न—१ न्यायरत्न का पूछना था कि जिस प्रकार वेदों का मंत्र भाग प्रामाणिक है, क्या उसी प्रकार ब्राह्मण भाग भी प्रामाणिक है? मनुस्मृति के वेदानुकूल होने से उसका सर्वांश में प्रमाण स्वीकार क्यों नहीं किया जाता तथा मनु की ही भांति विष्णु, याज्ञवल्क्य एवं पाराशर आदि की स्मृतियां भी क्यों नहीं मान्य की जातीं? उसके उत्तर में रामसुब्रह्मण्य शास्त्री ने मन्त्र एवं ब्राह्मण की एकता तथा 'यत्किंचिन्मनुरब्रवीत्तद्भेषजं भेषजतायाः[५६] आदि वचनों को उद्धृत कर समस्त मनुस्मृति को प्रामाण्य ठहराया और मनुस्मृति से भिन्न अन्य स्मृतियों को भी तत्तुल्य ही प्रामाणिक घोषित किया।

आर्यसमाज की ओर से इस प्रश्न की गम्भीर मीमांसा की गई तथा पूर्वमीमांसा के सूत्रों के आधार पर मन्त्र एवं ब्राह्मण के अन्तर को स्पष्ट करने के पश्चात् मंत्र भाग को स्वतः प्रमाण तथा ब्राह्मण भाग को परतः प्रमाण सिद्ध किया। 'यत्किञ्चित् मनुरब्रवीद' इस वाक्य के वास्तविक पते का स्पष्टीकरण करने के पश्चात् मनुस्मृति के ही 'या वेदबाह्या स्मृतयो'[५७] आदि प्रमाणों से स्पष्ट किया गया कि वेदविरुद्ध स्मृतियों का प्रामाण्य नहीं हो सकता।

प्रश्न—२. दूसरा प्रश्न प्रचलित पौराणिक मत की लोक स्वीकृत मान्यताओं के सम्बन्ध में था। उसे प्रस्तुत करते हुए मूर्तिपूजा, मृतकश्राद्ध तथा गंगादि तीर्थों के पावनत्व तथा पाप नाश करने में उनके सामर्थ्य के विषय में पूछा गया था। उत्तर में रामसुब्रह्मण्य शास्त्री ने विभिन्न प्रमाण देकर उपर्युक्त पौराणिक मत विश्वासों की शास्त्रीयता तथा इतिकर्त्तव्यता सिद्ध की। आर्यसमाज की ओर से प्रदत्त उत्तर में यह स्पष्ट किया गया कि न तो वेद, ब्राह्मण तथा प्राचीन उपनिषदादि ग्रन्थ इन मान्यताओं का समर्थन करते हैं और न मनुस्मृति के आधार पर ही इन मत विश्वासों का प्रामाण्य माना जा सकता है।

प्रश्न—३. न्यायरत्न ने स्वामी दयानन्द द्वारा 'अग्निमीळे पुरोहितं' मंत्र में 'अग्नि' का अर्थ परमात्मा किये जाने पर आपत्ति करते हुए जानना चाहा कि क्या ऋग्वेदीय मंत्र में प्रयुक्त 'अग्नि' शब्द आग से भिन्न परमात्मा का भी वाचक हो सकता है? रामसुब्रह्मण्य शास्त्री का सधा सधाया उत्तर यही था कि मंत्र प्रयुक्त 'अग्नि' शब्द का यौगिक प्रणाली से अर्थ करना अनुचित है तथा मंत्रगत 'अग्नि' भौतिकाग्नि का ही द्योतक है। आर्यसमाज द्वारा दिये गये उत्तर में शतपथ ब्राह्मण तथा निघण्टु आदि ग्रन्थों का आधार लेकर 'अग्नि' के आग से भिन्न-परमात्मा आदि अर्थों की पुष्टि की गई थी।

प्रश्न—४ न्यायरत्न महाशय ने स्वामी दयानन्द द्वारा व्याख्यात यज्ञ के द्वारा जल तथा वायु आदि की शुद्धि के प्रयोजनों पर आक्षेप करते हुए पूछा कि क्या यज्ञ के यही लाभ हैं जो दयानन्द सरस्वती ने बताए हैं अथवा मीमांसा कथित स्वर्ग प्राप्ति को भी यज्ञ का प्रयोजन माना जायगा। पं. रामसुब्रह्मण्य शास्त्री ने स्वामी दयानन्द प्रोक्त यज्ञ के प्रयोजनों का खण्डन करते हुए 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' आदि ब्राह्मण वचनों के आधार पर स्वर्गप्राप्ति को ही यज्ञ का एकमात्र प्रयोजन सिद्ध किया। इसके उत्तर में आर्यसमाज की ओर से कहा गया कि यदि सुख विशेष से ही स्वर्ग का अभिप्राय है, तब तो उस मीमांसा प्रतिपादित मन्तव्य को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु साथ ही यह भी कहना आवश्यक है कि यज्ञादि कर्म तात्कालिक मोक्ष के कारण नहीं हो सकते। उनसे भौतिक सुख, वायुमण्डल की शुद्धि तथा परोपकार की सिद्धि तो होती ही है।

प्रश्न—५ न्यायरत्नजी का अन्तिम प्रश्न था कि क्या वेद के ब्राह्मण भाग का अपमान करने से पाप नहीं होता? उत्तर में राम सुब्राह्मण्य शास्त्री ने स्पष्ट किया कि निश्चय ही ब्राह्मण भाग का अपमान वेद के अपमान के तुल्य होने से पापजनक है। आर्यसमाज ने अपने उत्तर में स्पष्ट किया कि आर्यसमाज को ब्राह्मण ग्रन्थों का अपमान अथवा अप्रामाण्य करना कभी अभीष्ट नहीं है। वह तो इतना ही कहता है कि यदि ब्राह्मणग्रन्थों में भी कोई बात वेदों के विरुद्ध हो, तो उसे मान्य नहीं किया जा सकता और ऐसा मानने से वेदों तथा ब्राह्मणों का किसी भी प्रकार अपमान नहीं होता।

उपर्युक्त कथनोपकथन के पश्चात् उपस्थित पण्डितों ने पं. रामसुब्रह्मण्य शास्त्री द्वारा प्रस्तुत पक्ष को सत्य स्वीकार करते हुए उससे अपनी सहमति व्यक्त की । इस प्रकार लाला नारायणदास का यह आयोजन आपाततः तो सफल ही माना गया किन्तु कतिपय पत्रों के विचारशील पाठकों ने सभा की सम्पूर्ण कार्यवाही को एकांगी तथा एकपक्षीय करार देते हुए कहा कि कलकत्ता में आयोजित आर्यसन्मार्गसंदर्शिनी सभा के लिए अधिक उचित होता कि वह इस आयोजन में ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज तथा थियोसोफिकल सोसाइटी के प्रवक्ताओं को भी आमंत्रित करती तथा सबके विचार सुनने के पश्चात् आर्यधर्म की एक सर्वसम्मत सिद्धान्त तथा आचार विषयक संहिता तैयार करती। भारतमित्र में उपर्युक्त विचार रखने वाले पं. भानुदत्त तत्त्वजिज्ञासु गुरुदासपुर निवासी ने तो स्पष्ट लिखा कि सरस्वतीजी के सम्मुख आकर शास्त्रार्थ कोई नहीं करता, अपने अपने घरों में जो जी चाहे धुपदें गाते हैं।[५८] आगरा से प्रकाशित होने वाले भारतीविलास पत्र में एक पाठक ने व्यंग्यात्मक शैली में लिखते हुए कहा कि कलकत्ता की इस सभा में पधारे पण्डित सेठ नारायणदास प्रदत्त भूयसी दक्षिणाओं के लोभ में पड़े थे अतः उनसे मनचाही व्यवस्था लिखवा लेने में क्या कठिनाई थी।[५९] निष्कर्षतः 'आर्यसन्मार्गसंदर्शिनी सभा' में विचारार्थ प्रस्तुत हुए प्रश्नों के उत्तरों से यह स्पष्ट हो गया कि भारत का पण्डितसमाज अभी भी मध्यकालीन संकीर्णताओं से न तो ऊपर ही उठ सका है और न उसमें बुद्धिवाद को ग्रहण करने की कोई इच्छा ही है।[६०]

□□

पाद टिप्पणियां

१. विशेष सामग्री के लिये द्रष्टव्य—

१. दयानन्द दिग्विजयार्क खण्ड ३ मयूख ३—थियोसोफिस्टों की गोलमाल पोलपाल।

२. पं. लेखराम रचित जीवनचरित में थियोसोफिकल सोसाइटी और आर्यसमाज (ग्रन्थ के द्वितीय भागान्तर्गत ७ वें अध्याय का द्वितीय परिच्छेद)

३. पं. घासीराम संकलित जीवनचरित भाग-२—परिशिष्ट-२

४. हरविलास सारड़ा लिखित Life of Dayanand Saraswati–World Teacher Part IV Chapter 32

५. A Tretise on the Arya Samaj and the Theosophical Society as once amalgamated bodies, by Shyam Sunderlal—1925.

६. Swami Dayanand and the Theosophical Society—Article of Shri Ram Sharma in the Panjab University Research Bulletin. (Arts) 1973 pp. 117-35

२. आर्यसमाज की स्थापना १० अप्रैल १८७५ को हुई जब कि थियोसोफिकल सोसाइटी की प्रथम नियमित बैठक न्यूयार्क में १७ नवम्बर १८७५ को हुई थी। इस से पूर्व न्यूयार्क के ही इविंग प्लेस नामक स्थान के कमरा नं ४६ में ८ सितम्बर १८७५ को इस सोसाइटी की स्थापना का निर्णय किया गया था। इसी दिन कर्नल ऑल्काट की अध्यक्षता में चार सदस्यों की एक समिति संस्था का विधान बनाने के लिये गठित की गई। ३० अक्टूबर १८७५ को सम्पन्न एक प्रारम्भिक बैठक में कर्नल ऑल्काट को इस संस्था का अध्यक्ष तथा मैडम ब्लैवेट्स्की को मंत्री चुना गया।

३. थियोसोफिकल सोसाइटी के संस्थापकद्वय-कर्नल ऑल्काट—(पूरा नाम हेनरी एस. ऑल्काट) (१८२३-१९०७) अमेरिका निवासी थे। पेशे से ये वकील थे, किन्तु इन्होंने कुछ समय सेना में भी व्यतीत किया था। १४ अक्टूबर १८७४ को इनकी भेंट अमेरिका के चिटेनडेन (Chittenden) नामक स्थान पर श्रीमती ब्लैवेट्स्की से हुई तथा दोनों ने पारस्परिक विचार-विमर्श के पश्चात् थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना का निश्चय किया।

श्रीमती ब्लैवेट्स्की-(पूरा नाम हेलेना पेट्रोव्ना ब्लैवेट्स्की) का जन्म १८३१ में दक्षिणी रूस के एक नगर में हुआ था। १७ वर्ष की आयु में इनका विवाह ६० वर्षीय एक सैनिक जरनल ब्लैवेट्स्की से हुआ। दोनों की आयु में पर्याप्त अन्तर था, अतः इनका दाम्पत्य जीवन सुखद नहीं रहा। शीघ्र ही मैडम ब्लैट्वेस्की ने गृहस्थ का परित्याग कर दिया। १८७२ में वे मिश्र आईं, जहां उनकी ख्याति एक ऐसे रूसी अध्यात्मविद् के रूप में हुई जो दिवंगत आत्माओं से सम्पर्क कर उनसे बातचीत करता है। कुछ काल पश्चात् वे अमेरिका चली गईं, जहां कर्नल ऑल्काट से उनकी भेंट हुई। थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना का मूल विचार श्रीमती ब्लैवेट्स्की के मन में ही प्रथम उदित हुआ था। इनकी मृत्यु १८९१ ई. में हुई।

४. कर्नल ऑल्काट को स्वामी दयानन्द तथा आर्यसमाज से परिचित कराने का श्रेय बम्बई के मूलजी ठाकरजी को है, जिनसे उनकी प्रथम भेंट १८७० में एक समुद्रयात्रा के समय हुई थी। चतुर कर्नल ने मूलजी को सोसाइटी का सदस्य बना लिया तथा उसी के माध्यम से वे आर्यसमाज बम्बई के प्रधान हरिश्चन्द्र चिन्तामणि तथा स्वामी दयानन्द से पत्रव्यवहार कर सके।

५. पत्र के मूल पाठ के लिये द्रष्टव्य-हरविलास सारड़ा रचित स्वामी दयानन्द का अंग्रेजी जीवनचरित पृ. ५२५, प्रथम संस्करण १९४६ ई.।

६. "अहोअनन्त धन्यवादार्हकस्य सर्वशक्तिमतः सर्वत्रैकरसव्यापकस्य सच्चिदानन्दानन्ता खण्डाजनिर्विकाराविनाशन्यायविज्ञानगुणाकरस्य सृष्टिस्थितिप्रलयमुख्यनिमित्तस्य..... जगदीश्वरस्य कृपया पञ्चसहस्रावधिसंवत्सरप्रमितव्यतीतात् कालान्महाभाग्योदयेना समक्षव्यवहाराणामस्मत्प्रियाणां पातालदेशे निवसतां युष्माकमार्यावर्त्त निवासिनामस्माकं च पुनः परस्परं प्रीत्युद्भवोपकारपत्रव्यवहारप्रश्नोत्तरकरणसमय आगतः।"

मूल पत्र परोपकारी (अंक १-कार्तिक शुक्ला १, १९४६ वि.) में प्रकाशित।

७. "The establishment of the Theosophical Society was the outcome of the awakening of intellect due to the scientific advancement and hankering after Spiritual knowledge which illfitted in the Christian doctrines and dogmas". A Tretise of the A. S. and the T. S. By S. S. Lal, p. 10

अर्थात् इस सोसाइटी की स्थापना का कारण वैज्ञानिक उन्नति से उत्पन्न जागृति तथा आध्यात्मिक ज्ञान की पिपासा ही थी। परन्तु इस बौद्धिक जागरण का ईसाई सिद्धान्तों तथा धारणाओं से स्पष्ट विरोध ही था।

८. द्रष्टव्य—हरविलास सारड़ा रचित अंग्रेजी जीवन चरित, पृ. ५२७, प्रथम संस्करण—१९४६ ई.।

९. "Our Society should make itself known as a branch of Arya Samaj subject to Pt. Dayanand's control .....I am proud to acknowledge loyalty to such an instructor and guide."

१०. द्रष्टव्य—सोसाइटी के रेकार्डिग सेक्रेटरी अगस्टस गस्टम का हरिश्चन्द्र चिन्तामणि तथा आर्यसमाज के प्रधानों के नाम पत्र। हरविलास सारड़ा के ग्रन्थ में पृ. ५२७ पर उद्धृत।

११. वही, पृ. ५२८

१२. संस्कृत में लिखा गया यह पत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिसमें स्वामीजी ने विस्तारपूर्वक आर्यसमाज के दार्शनिक मन्तव्यों को स्पष्ट किया था। पत्र के मूलपाठ के लिये द्रष्टव्य-ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृ. ९५-१०२ द्वितीय संस्करण २०१२ वि.।

१३. पं. लेखराम ने बम्बई पहुंचने की तिथि १६ फरवरी १८७९ लिखी है।

१४. द्रष्टव्य—प्रस्तुत ग्रन्थ का 'हरिद्वारीय कुम्भ में' शीर्षक अध्याय।

१५. इस पत्र को आर्यदर्पण, शाहजहांपुर (अगस्त १८७९), विद्याप्रकाशक, अमृतसर (अगस्त १८७९) तथा आर्यसमाचार, मेरठ (ज्येष्ठ—१९३६ वि.) ने उद्धृत किया था।

१६. द्रष्टव्य—प्रस्तुत ग्रन्थ का 'शास्त्र प्रचार के लिये वैदिक यन्त्रालय शीर्षक अध्याय।

१७. विज्ञापन के मूलपाठ के लिये द्रष्टव्य पं. लेखराम संगृहीत जीवनचरित पृ. ८७३।

१८. "जो जो बातें सब मनुष्यों के सामने सत्य हैं, जिनके मिथ्या होने के लिये कोई भी मनुष्य साक्षी नहीं दे सकता है, उन बातों को धर्म, उनसे विरुद्ध बातों को अधर्म जान मान के भूगोलस्थ मनुष्यों को धर्म की बातों का ग्रहण करना और अधर्म की बातों को छोड़ देना क्या कठिन और असम्भव है ?"

१९. प्रस्तुत ग्रन्थ का 'सार्वजनिक जीवन के क्षितिज पर' शीर्षक अध्याय।

२०. कर्नल ऑल्काट ने बम्बई से प्रकाशित होने वाले Indian Spectator को न्यूयार्क से लिखे गये २९ मई १८७८ के पत्र में यह सूचित किया था कि वे बौद्ध धर्म में पाई जाने वाली सच्चाइयों को वैदिक धर्म से गृहीत ही मानते हैं। तथा इसी पत्र में उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि वे न तो प्रचलित अर्थ में बौद्ध हैं और न ब्राह्मण। ईसाई तो

कथमपि नहीं हैं। हां उन्हें 'आर्य' कहना ही उपयुक्त होगा। इस प्रकार अपने आपको स्पष्ट रूप से आर्य घोषित करने के पश्चात् वे कालान्तर में अपने आपको बौद्ध कहने लगे। मैडम ने तो बाबू छेदीलाल को लिखे अपने ८ अक्टूबर १८८० के पत्र में यह स्पष्ट कर दिया कि वे सृष्टि के रचयिता या रक्षक के रूप में किसी वैयक्तिक ईश्वर को स्वीकार नहीं करतीं, अतः उनका आर्यसमाज में रहना सम्भव नहीं है।

२१. उस समय कर्नल बम्बई से किसी अन्य स्थान पर चले गये थे। पं. लेखराम रचित जीवनचरित में लिखा है—"ऑल्काट साहब दिसौर (शुद्ध रूप दिशावर अर्थात् अन्य स्थान पर) चले गये थे।" (पृ. ८७७) पं. घासीराम ने 'दिशावर' का अभिप्राय न समझकर इस शब्द को 'दिसूर' कर दिया तथा किसी स्थानविशेष का वाचक समझ लिया।

२२. यह विज्ञापन दयानन्ददिग्विजयार्क खण्ड ३, मयूख ३ में प्रकाशित हुआ है।

२३. कर्नल ऑल्काट ने १८९५ ई. में प्रकाशित अपनी Old Diary Leaves खण्ड १ नामक पुस्तक में भी इस प्रसंग को पूर्वाग्रह पूर्ण दृष्टिकोण से वर्णित किया, तथा उन स्वामी दयानन्द के व्यक्तित्व पर अनेक प्रकार से छींटाकशी की, जिन्हें एकाधिक बार वे अपना गुरु, आचार्य तथा पथदर्शक कह चुके थे। इस पुस्तक में लिखित आक्षेपों का युक्तियुक्त उत्तर हरविलास सारड़ा ने स्वामी दयानन्द के अंग्रेजी जीवनचरित में प्रासांगिक स्थल पर दिया है।

२४. Reply to the Extra Supplement to the Theosophist for July 1882. रुड़की से अक्टूबर 1882 ई. में प्रकाशित।

२५. "He certainly agreed to a very broad basis of cooperation, but some of his principles were too basic ever to become a bargaining point, and monotheism was categorically one of them". Dayananda Sarasvati, His Life and Ideas, P. 213 Oxford University Press, Delhi 1978.

२६. विशेष सामग्री के लिये द्रष्टव्य—

१. दयानन्द दिग्विजयार्क खण्ड ३, मयूख ४ मिथ्यापवाद सम्मार्जन

२. पं. लेखराम रचित जीवनचरित में मुन्शी इन्द्रमणि मुरादाबादी का मुसलमानों से मुकद्दमा शीर्षक प्रकरण।

३. पं. घासीराम संकलित जीवनचरित भाग २ परिशिष्ट ३—मुन्शी इन्द्रमणि का मुकद्दमा।

२७. विवादास्पद मुद्दों के लिये द्रष्टव्य—पं. लेखराम रचित जीवनचरित पृ. ८४०

२८. उस समय के जिन पत्रों ने इस विषय पर अपनी सम्मति व्यक्त की, उनके नाम हैं—विद्याप्रकाशक अमृतसर, आर्यदर्पण शाहजहांपुर, आर्यसमाचार मेरठ, नसीम आगरा, कोहेनूर लाहौर, अखबारे आम लाहौर, आफताबे पंजाब लाहौर, आदि।

२९. आर्यसमाचार मेरठ खण्ड ३ संख्या ३, पृ. ११३।

३०. मुकद्दमे की सहायता हेतु कुल राशि १५१६ रु. एकत्रित हुई थी। यह राशि लाला रामशरणदास के पास रही।

३१. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, द्वितीय संस्कारण पृ. २५९।

३२. द्रष्टव्य—'तहजीब' खण्ड २ संख्या १०, १२ मार्च १८८३ ई., पं. लेखराम रचित जीवनचरित के पृ. ८४३-८४५ पर उद्धृत।

३३. पं. लेखराम ने 'देशहितैषी' में प्रकाशित इस पत्र को ८४५-८४८ पर उद्धृत किया है।

३४. आर्यसमाचार मेरठ के फाल्गुन १९३९ ई. (मार्च १८८३) के अंक में यह हिसाब आर्य-समाज मेरठ द्वारा प्रकाशित कराया गया।

३५. जगन्नाथदास ने एक लघु पुस्तक 'मुन्शी इन्द्रमणि का इल्तमास—स्वामी दयानन्द सरस्वती का संन्यास' शीर्षक किसी ठाकुरदास से लिखवाकर प्रकाशित की। इसमें अनुप्रास युक्त २५ पंक्तियां थीं। स्वामी दयानन्द की निन्दा में लिखी गई इस 'अनुप्रास पच्चीसी' का सतर्क उत्तर आर्यसमाज लखनऊ के पूर्व मंत्री बाबूचन्दनगोपाल (गोंडा निवासी) ने २ जून १८८३ को दिया। 'इल्तिमासनामे का उत्तर' शीर्षक यह लेख अजमेर के मासिक 'देशहितैषी' में प्रकाशित हुआ था।

३६. विशेष सामग्री के लिपे द्रष्टव्य—

१. दयानन्द दिग्विजयार्क खण्ड १ मयूख ४, जैनमत मिथ्यात्वप्रदर्शनम्।

२. पं. लेखराम रचित जीवनचरित में पञ्चमाध्याय के अन्तर्गत द्वितीय परिच्छेद।

३. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पं. भगवद्दत्त द्वारा सम्पादित।

३७. यह समालोचना मुद्रित ग्रन्थ के १२ पृष्ठों में समाप्त हुई है जबकि द्वितीय संस्करण में यह प्रकरण ४४ पृष्ठों में लिखा गया है।

३८. विजयानन्द सूरि (उपनाम आनन्दविजय, आत्माराम) (जन्म १८९४ वि., मृत्यु-१९५३ वि.) पंजाब के प्रसिद्ध जैनाचार्य थे। प्रारम्भ में ये श्वेताम्बर जैन मत के स्थानकवासी (ढूंढुक) सम्प्रदाय से सम्बन्धित थे, किन्तु कालान्तर में इन्होंने उक्त मत का परित्याग कर संवेगी (मूर्तिपूजक) सम्प्रदाय को अंगीकार कर लिया। इनका विस्तृत जीवनचरित इनके शिष्य विजयवल्लभ सूरि ने 'नवयुग निर्माता' शीर्षक से लिखा है। यद्यपि इस जीवनी में लेखक ने ठाकुरदास द्वारा सत्यार्थप्रकाश पर उठाई गई आपत्तियों का प्रासंगिक उल्लेख तो किया है, किन्तु उसने अपनी कल्पना शक्ति को बेलगाम छोड़ कर यह लिखने का साहस भी किया है कि जोधपुर के कर्नल प्रतापसिंह ने स्वामी दयानन्द के जोधपुर निवास के समय जैन मुनि आनन्दविजय से उनका शास्त्रार्थ कराने की योजना बनाई थी। उस समय मुनिजी बीकानेर में चातुर्मास्य व्यतीत कर रहे हैं। इससे पूर्व कि वे जोधपुर पहुंचते, स्वामीजी वहां से प्रस्थान कर अजमेर चले गये, जहां उनका निधन हो गया। यह सारा प्रसंग लेखक की मनःप्रसूत कल्पना ही है। इसी प्रकार कर्नल प्रतापसिंह और मुनि आनन्दविजय का जो शास्त्र विचार इस पुस्तक में लिखा गया है वह भी तथ्याधारित नहीं है। यह जीवनचरित श्री आत्मानन्द जैन महासभा पंजाब, अम्बाला नगर ने २०१३ वि. में प्रकाशित किया था।

३९. इस स्पष्टीकरण की आवश्यकता इसलिये समझी गई थी, क्योंकि ठाकुरदास बार बार सत्यार्थप्रकाश छपाने का दायित्व स्वामीजी पर थोप रहा था। तथ्य यह है कि राजा जयकृष्णदास के आग्रह और अनुरोध पर ही स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश लिखा था, किन्तु इसके मुद्रण व प्रकाशन की पूरी जिम्मेदारी राजा साहब ने स्वयं ली थी।

४०. द्रष्टव्य—आर्यसमाचार माघ, फाल्गुन १९३७ वि., फरवरी-मार्च १८८१ के अंक (खण्ड २ संख्या २२, २३)।

४१. पं. लेखराम रचित जीवनचरित—संवाददाता की ओर से उत्तर, पृ. ७२६-७२८।

४२. द्रष्टव्य—आफताबे पंजाब—१० जनवरी १८८२ का अंक।

४३. अहमदाबादसमाचार (१७ अप्रैल १८८२) बड़ौदावत्सल (१९ अप्रैल १८८२) शमशेरबहादुर (१२ मई १८८२)।

४४. यह पत्र गुजराती भाषा में लिखा गया था।

४५. ठाकुरदास मूलराज के एटर्नी मेसर्स स्मिथ एण्ड फ्रेयर द्वारा भेजे गये नोटिस का जो उत्तर स्वामीजी के सालिसिटर मेसर्स पेन एण्ड गिलबर्ट ने दिया, वह ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र व्यवहार में पृ. ३३७ पर उल्लिखित है।

४६. सत्यार्थप्रकाश द्वितीय संस्करण की भूमिका तथा द्वादश समुल्लास की अनुभूमिका। ये ग्रन्थ श्री सेवकलाल कृष्णदास ने उपलब्ध कराये थे।

४७. द्रष्टव्य—A few Remarks on Pandit Dayananda Saraswati's Veda Bhashya. Calcutta First Ed. 1876, Second Ed. 1890.

४८. द्रष्टव्य—दयानन्द सरस्वती रचित ग्रन्थ 'भ्रान्ति निवारण'।

४९. सेठ नारायणदास मथुरा के प्रसिद्ध वैष्णव सम्प्रदायानुयायी सेठ लक्ष्मीदास के गुमाश्ते थे। इस सभा को आयोजित करने में उन्होंने लगभग १० सहस्र रुपया व्यय किया। कहते हैं कि इसी बात को लेकर सेठ लक्ष्मीदास उनसे रुष्ट हो गये थे कि नारायणदास ने व्यर्थ ही इतनी धनराशि इस कार्य में खर्च कर दी।

५०. जिन पत्रों ने इस सभा का विवरण प्रकाशित किया, उनमें से कुछ के नाम हैं—सारसुधानिधि, कलकत्ता २४ व ३१ मई १८८१ (खण्ड २ संख्या ४०, १२ माघ पृ. ४७३-४७४ तथा संख्या ४१, १९ माघ पृष्ठ ४८२-४८६) हिन्दू पेट्रियट (जनवरी १८८१) इण्डियन डेलीन्यूज (२५ जनवरी १८८१) (खण्ड १७-संख्या १५२), इंगलिश मैन २६ जनवरी १८८१ (खण्ड ४२ संख्या २२) दिल्ली गजट १९ फरवरी १८८१ (खण्ड ११ संख्या ४२) आर्यदर्पण खण्ड-३ (पृ. २५३-२६६)।

५१. जीवानन्द विद्यासागर बंगाल के प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् थे। गत शताब्दी के अन्तिम दशक में उन्होंने शतशः वैदिक तथा अन्य शास्त्र ग्रन्थों का सम्पादन एवं प्रकाशन किया था।

५२. इन्हें राम सुब्बा शास्त्री के नाम से जाना जाता था।

५३. इन सभी के परिचय के लिये देखें—इसी ग्रन्थ के अध्याय 'भारत की तत्कालीन राजधानी में' की प्रासंगिक पाद टिप्पणियां।

५४. आर्यसमाज लाहौर के मंत्री लाला सांईदास ने 'एक आर्य' शीर्षक पुस्तक लिख कर कलकत्ता की इस सभा की कार्यवाही की आलोचना लिखी थी।

५५. ताण्ड्य ब्राह्मण।

५६. मनुस्मृति १२।९५।

५७. भारतमित्र कलकत्ता—१० फरवरी १८८१ (खण्ड ४ संख्या ६)।

५८. भारती विलास कलकत्ता—१५ फरवरी १८८१ (खण्ड १, संख्या ५)

५९. 'आर्य सन्मार्ग संदर्शिनी सभा' का एक आलोचनात्मक विवरण मुन्शी दयाराम तहसीलदार ने 'वैदिक धर्म विजय' शीर्षक पुस्तक में लिखा था। यह पुस्तक १९५९ वि. में स्वामी प्रेस मेरठ से प्रकाशित हुई थी।

□□

श्रुतीनां सर्वस्वं निखिलगुणमुक्तं यतिवरम् ।
अनाथानां नाथं निगमविमुखानां यमनिभम् ।
परित्यक्तत्राणं परहितरतं नित्यमुदितम् ।
दयानन्दं वन्दे निखिलखलपाखण्डदलनम् ।।

—कर्मानन्द सरस्वती

महाराणाओं की धरती पर

बम्बई का यह प्रवास दीर्घ अवधि का था।[1] स्वामीजी १८८१ के अन्त में यहाँ आये थे और अब १८८२ का जून मास समाप्ति पर था। इस प्रकार ६ मास से कुछ समय तक वे इस महानगरी में रहे। इस प्रवास को समाप्त कर वे पुनः राजस्थान की यात्रा के लिए सन्नद्ध हुए। आषाढ़ शुक्ला अष्टमी, १९३९ वि., २४ जून १८८२ शनिवार को स्वामीजी ने बम्बई से प्रस्थान किया। इसी दिन वे खण्डवा पहुंचे और श्रावण कृष्णा ४, ४ जुलाई मंगलवार तक वहां रहे। तत्पश्चात् वे इसी दिन इन्दौर आये। यह एक संयोग ही था कि इस बार भी महाराजा होल्कर से उनकी भेंट नहीं हो सकी, क्योंकि वे कार्यवश बाहर गये हुए थे। अतः शीघ्र ही वे रतलाम के लिए चल पड़े। श्रावण कृष्णा ६, ६ जुलाई गुरुवार को वे रतलाम पहुंचे। यहां दो दिन ठहरे। वहां से जावरा आये और कुछ दिन निवास किया।[2] जावरा से प्रस्थान कर वे श्रावण शुक्ला दशमी, २५ जुलाई, मंगलवार को चित्तौड़ आये। चित्तौड़ से उन्हें उदयपुर जाना था। ठाकुर जगन्नाथ, हाकिम चित्तौड़गढ़ ने राजकीय अतिथि के रूप में महाराज का पूर्ण सत्कार किया। वर्षा ऋतु थी और उन दिनों उदयपुर तक रेलयात्रा का मार्ग नहीं बना था। उदयपुर राज्य से सवारी का प्रबंध होने में कुछ समय लगा, अतः स्वामीजी द्वितीय श्रावण कृष्णा एकादशी, ९ अगस्त बुधवार तक चित्तौड़ ही रहे। पुनः रेल पर सवार होकर उसी दिन निम्बाहेड़ा आये। यहां से उदयपुर तक की यात्रा पालकी, बग्घी और हाथी द्वारा हुई। अन्ततः वे श्रावण (द्वितीय) कृष्णा त्रयोदशी, ११ अगस्त, शुक्रवार को मेवाड़ राज्य की राजधानी उदयपुर पहुंचे।

उदयपुर में स्वामीजी का प्रवास ६ मास से कुछ अधिक काल का रहा। गुलाबबाग स्थित नौलखा राजप्रासाद में उन्हें ठहराया गया।[3] इस समय स्वामी आत्मानन्द,[4] ब्रह्मचारी रामानन्द[5] तथा पं. भीमसेन शर्मा[6] उनके साथ थे। मेवाड़ के महाराणा स्वामी दयानन्द के चरित्र, व्यक्तित्व एवं उनकी विचारधारा से तो प्रभावित थे ही, अतः इस बार उदयपुर आने पर उन्होंने स्वामीजी से दीर्घकाल पर्यन्त मेवाड़ की राजधानी में रहने का अनुरोध किया। दयानन्द ने राजस्थान प्रवास की योजना को एक विशिष्ट लक्ष्य की पूर्ति के लिए क्रियान्वित करना चाहा था।[7] उनके जीवन का संध्याकाल उपस्थित होने वाला है। वैदिक ज्योति को अशेष धरातल पर विकीर्ण करनेवाला यह ज्योतिष्मान् मार्त्तण्ड अपने सम्पूर्ण ताप और ऊष्मा से वसुन्धरा को सुपुष्ट कर मानो अब काल रात्रि का ग्रास बनने ही जा रहा है। जीवन-नाटक के इस अन्तिम अंक के लिए दयानन्द ने राजस्थान के रंगमंच को ही क्यों चुना? स्वामीजी की यह धारणा थी कि जिन क्षत्रिय नरेशों की धमनियों में महाराणा सांगा, महाराणा प्रताप, वीर जयमल और पत्ता तथा वीर दुर्गादास जैसे रणबांकुरों का ऊष्ण रक्त प्रवाहित हो रहा है, वे आज के इस गये गुजरे जमाने में भी यदि चाहें तो अपनी प्रजा का सही मार्गदर्शन कर सकते हैं। यों तो सम्पूर्ण भारत ही उस समय विदेशी शासकों के अधिकार में था, किन्तु यदि स्वराज्य की कोई क्षीण झलक यत्र तत्र दिखाई दे जाती थी तो इन्हीं देशी

राज्यों में ही। स्वामीजी यह भी जानते थे कि इन देशी रजवाड़ों के अधिकांश नरेश विषय-लोलुप, इन्द्रियारामी, स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश बन गये हैं। किन्तु उनकी यह धारणा थी कि यदि 'इन लोगों में स्वाभिमान, एवं आत्मगौरव का संचार कर प्रजारञ्जन तथा कर्त्तव्य-भावना को उद्‌बुद्ध किया जा सके तो निश्चय ही राजस्थान ब्रिटिश भारत का नेतृत्व करने में समर्थ हो जायगा। कुछ इसी आशा और विश्वास को लेकर स्वामीजी ने राजस्थान में अपना अवशिष्ट जीवन लगाया। उन्होंने राजन्यवर्ग की समस्याओं का अध्ययन किया, उनकी जीवनचर्या को सुधारा तथा उन्हें प्रजाहित तथा देशहित का पाठ पढ़ाया।

उदयपुर में स्वामीजी की दिनचर्या इस प्रकार थी। वे प्रातःकाल बहुत जल्दी उठकर गोवर्धनविलास पर्वत तक भ्रमणार्थ चले जाते। पुनः लौटकर उद्यान स्थित चबूतरे की चौकी पर दीर्घकाल तक परमतत्त्व का ध्यान करते। इस प्रकार उपासना, ध्यान एवं समाधि से निवृत्त होकर वे ब्राह्मी बूटी युक्त दुग्ध का सेवन करते। इसके पश्चात् वेदभाष्य लेखन का कार्य आरम्भ हो जाता। मध्याह्न में भोजन आदि से निवृत्त होकर पत्रव्यवहार तथा प्रूफ शोधन का कार्य देखते। मध्याह्नोत्तर चार बजे सत्संगी लोगों का आगमन होने लगता। रात्रि होने तक जिज्ञासु लोगों की शंकाओं का समाधान तथा प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम चलता। स्वयं महाराणाजी भी श्रोतृमण्डली में बैठकर महाराज के उपदेशामृत का पान करते।

महाराणा सज्जनसिंह की स्वामीजी के प्रति विशेष अनुरक्ति थी। वे नियमपूर्वक प्रातः तथा सायंकाल महाराज के निवासस्थान पर आते तथा उनके सत्संग का लाभ प्राप्त करते। उन्होंने एक अन्तेवासी के रूप में स्वामी चरणों में बैठकर संस्कृत वाङ्मय के महत्त्वपूर्ण शास्त्रीय ग्रन्थों का अध्ययन किया। यद्यपि महाराणा को प्रारम्भ में संस्कृत का स्वल्प ज्ञान भी नहीं था, किन्तु स्वामीजी ने उन्हें सुगमरीत्या व्याकरण का ज्ञान करा कर श्लोकों के पदच्छेद एवं संधिविषयक नियमों को इस प्रकार बताया कि तीन मास के भीतर ही महाराणा का देववाणी पर असाधारण अधिकार हो गया। इसके पश्चात् उन्होंने महाराणा को मनुस्मृति का सातवां, आठवां तथा नवां अध्याय पढ़ाया। योगदर्शन के अतिरिक्त न्याय तथा वैशेषिक के चुने हुए प्रकरण तथा अवशिष्ट वैदिक दर्शनों के प्रकीर्ण अंशों का भी अध्ययन कराया। तत्पश्चात् महाभारत के उद्योग तथा वनपर्व के उपयोगी अंश पढ़कर विदुरनीति का विशेषरूप से ज्ञान कराया। महाराणा के शास्त्र अध्ययन की सूचनायें मोहनचन्द्रिका में प्रकाशित हुई थीं।

स्वामीजी की यह हार्दिक इच्छा थी कि महाराणा अपनी दिनचर्या को व्यवस्थित करें ताकि उनका प्रत्येक दिन स्वयं तथा मेवाड़ राज्य की प्रजा के लिए अधिकाधिक उपयोगी सिद्ध हो सके।[८] निश्चय ही महाराणा ने अपने वैयक्तिक जीवन में स्वामीजी के उपदेशानुकूल अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कर लिए थे। नीलकण्ठ महादेव के मन्दिर के निकट एक बृहद् यज्ञ कराया गया जिसकी पूर्णाहुति महाराजा के हाथों सम्पन्न हुई। यज्ञ का प्रारम्भ मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया, २६ नवम्बर १८८२ रविवार को हुआ था। यह दिन महाराणा के राज्याभिषेक की वर्षगांठ का था। यज्ञ का प्रारम्भ भी महाराणा के हाथ से ही हुआ था। राजप्रासाद में भी नियमित रूप से अग्निहोत्र कराने के लिए वेदज्ञ पुरोहित की नियुक्ति

हुई। स्वामीजी के सम्पर्क में आने से पूर्व तक महाराणा की आसक्ति वेश्याओं के नृत्य, गीत आदि में थी, परन्तु महाराज के कठोर आदेश व उपदेश से प्रभावित होकर महाराणा ने शृङ्गाररस पूर्ण नृत्यगीत आदि के प्रति विरक्ति धारण कर ली। महाराणा सज्जनसिंह की साहित्य, संगीत आदि ललित कलाओं के प्रति अनन्य रुचि थी। परन्तु शृंगार रस पूर्ण कविता तथा वासनोत्तेजक संगीत से उन्हें विमुख कर स्वामीजी ने उन्हें सात्त्विक शास्त्रीय संगीत में रुचि लेने की प्रेरणा की।[९]

उदयपुर के शासन प्रबन्ध तथा राज्य व्यवस्था में भी अपेक्षित सुधार के लिए स्वामीजी महाराणा को निरन्तर प्रेरित करते थे। दशहरे के अवसर पर शाक्त मंदिरों में बकरे, भैंसे आदि पशुओं के बलिदान की प्रथा इस देश में सर्वत्र प्रचलित है। विशेषतः देशी राज्यों के नरेश अपने आप को देवी का भक्त मानते हैं। अतः इन राज्यों में नवरात्र पर्व पर अधिक संख्या में पशुओं का बलिदान होता है। मूक पशुओं की निर्मम हत्या को देख कर दयानन्द का करुणार्द्र हृदय द्रवीभूत हो उठा। एक दिन जब महाराणा नियमानुसार स्वामीजी से भेंट करने आये, तो उन्होंने किञ्चित् गम्भीरतापूर्वक मेवाड़ नरेश से कहा—"आप राजा हैं, न्यायासन पर विराजमान हैं। मैं निर्दोष पशुओं का वकील बन कर आपके समक्ष अभियोग लेकर उपस्थित हुआ हूँ। देवता के नाम पर इन मूक पशुओं को मारने का क्या औचित्य है?" महाराणा स्वामीजी के अभिप्राय को समझ गये और कहा कि शताब्दियों से प्रचलित इस बर्बर प्रथा को एक बार ही समाप्त नहीं किया जा सकता। परन्तु उन्होंने विश्वास दिलाया कि वे इसे धीरे-धीरे बन्द कर देंगे।

राजकार्यों में हिन्दी भाषा के अधिकाधिक प्रचलन की प्रेरणा भी स्वामीजी ने महाराणा को दी। मेवाड़ राज्य के राजपत्र को 'सज्जनकीर्त्तिसुधाकर' नाम देकर प्रकाशित कराने तथा राज्य की सर्वोच्च शासन समिति को 'महद्राजसभा' का नाम देने के पीछे भी स्वामीजी की प्रेरणा ही कार्य कर रही थी।[१०]

महाराणा और स्वामीजी के बीच यदाकदा अनेक रोचक प्रश्नोत्तर, शंका समाधान तथा विचार विमर्श होते थे। महाराणा को इस बात पर बड़ा आश्चर्य होता था कि किसी मूर्तिमान् देवता को अपनी उपासना का लक्ष्य न बनाते हुए भी स्वामी दयानन्द दीर्घकाल पर्यन्त ध्यानावस्थित रहते हैं। जब उन्होंने एतद्विषयक शंका प्रस्तुत की, तो उत्तर में स्वामीजी ने कहा कि निश्चय ही वे किसी मूर्तिमान् वस्तु या पदार्थ का ध्यान नहीं करते, किन्तु सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक एवं सर्वनियन्ता जगदीश्वर के गुणों का चिन्तन ही उनके ध्यान को दीर्घकालिन बना देता है। आर्य धर्म में उपासना के इसी प्रकार का अनुमोदन किया गया है।

महाराणा यद्यपि स्वामीजी के दिव्य, उदात्त एवं तेजस्वी व्यक्तित्व से पूर्णतया प्रभावित थे, तथापि उनका यह विचार बना कि यदि स्वामीजी मूर्तिपूजा के खण्डन पर इतना जोर न दें और अपने विधेयात्मक कार्यक्रम को ही जनता के समक्ष प्रस्तुत करें तो उससे अधिक लाभ होने की सम्भावना है। अपने इन विचारों को स्वामीजी के समक्ष विनम्रतापूर्वक प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा, "यदि आप नीति का अनुसरण करते हुए मूर्तिपूजा खण्डन में

प्रवृत्त न हों तो आपके विचारों को लोग अधिक तत्परता के साथ सुनेंगे तथा वेदभाष्यादि के लिए आपको धन का अभाव भी नहीं रहेगा।" अपने कथन को और स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा, "मेवाड़ राज्य में एकलिंग महादेव की अत्यधिक प्रतिष्ठा है। मेवाड़ के शासक महाराणा भी अपने आप को एकलिंग महादेव के दीवान मान कर ही देश का शासन करते हैं। कितना अच्छा हो यदि आप इस मंदिर के महन्त बन जायें, लाखों की सम्पत्ति आपके अधिकार में रहेगी, जिसका उपयोग आप वेदभाष्य प्रकाशन तथा अन्य लोकोपकारी कार्यों में कर सकेंगे।"

महाराणा के इस विचित्र प्रस्ताव को सुनकर स्वामीजी जैसे धीर प्रकृति के पुरुष भी एक बार क्रोधाविष्ट हो गये। उन्होंने ओजस्वी किन्तु प्रखर वाणी में कहा, **"राणाजी, आप यह प्रस्ताव किस व्यक्ति के समक्ष रख रहे हैं? आपका राज्य तो इतना छोटा है कि मैं एक दौड़ लगाकर ही इसके बाहर जा सकता हूँ। परन्तु भला बताइये, विश्वनियन्ता परमात्मा के इस ब्रह्माण्ड रूपी राज्य को छोड़कर मैं कहाँ जा सकता हूँ?** वेद और ईश्वर की आज्ञा भंग करना मेरे लिए कदापि सम्भव नहीं है।" महाराज के प्रचण्ड रोषाविष्ट मुखमण्डल को देखकर महाराणा क्षण भर के लिए स्तम्भित रह गये। उन्होंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि भारत का कोई साधु या संन्यासी इतनी दृढ़ निष्ठा तथा तीव्र धारणा का धनी हो सकता है, जिसके लिए मठ मंदिरों के ऐश्वर्य व वैभव तृण की भाँति तुच्छ हैं। अतः अपनी बात को अन्यथा मोड़ देकर उनसे यही कहते बना कि मैं तो आपके विश्वास की दृढ़ता ही देखना चाहता था। अब मुझे निश्चय हो गया है कि आप अपने मन्तव्यों पर चट्टान की भाँति अचल हैं।

उदयपुर का यह प्रवास अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। स्वामीजी की व्यापक लोकहितयुक्त दृष्टि के अनेक उदाहरण उस समय मिले। स्वदेश कल्याण के लिए **'स्वदेशी की भावना'** को स्वामीजी सर्वाधिक महत्त्व देते थे। स्वदेशी वस्त्रों को धारण करने की प्रेरणा करने तथा स्वदेशी चिकित्सापद्धति के विकास के लिए वे सदा सचेष्ट थे। कविराजा श्यामलदास के यह कहने पर कि आप जैसे महापुरुष का कोई समुचित स्मारक अवश्य बनना चाहिये, स्वामीजी ने कहा, **"मैं व्यक्ति पूजा का घोर विरोधी हूँ। मेरी तो इच्छा है कि मृत्यु के पश्चात् मेरी भस्म भी किसी खेत में डाल दी जाय ताकि वह खाद बन कर किसी कृषक की फसल को सुधारे।"** उनकी धारणा थी कि विभिन्न प्रकार के जड़ स्मारकों से मूर्तिपूजा की प्रथा को ही प्रोत्साहन मिलता है।

जिस उद्देश्य की सिद्धि के लिये स्वामीजी उदयपुर में पर्याप्त काल तक ठहरे, वह धीरे धीरे पूरा हो रहा था। महाराणा तथा उनके अनुवर्ती माण्डलिक सरदार स्वामीजी की शिक्षाओं को ध्यानपूर्वक सुनते तथा उन पर यथाशक्ति आचरण भी करते। एक दिन जब स्वामीजी महाराणा को मनुस्मृति पढ़ा रहे थे[११] तो प्रकरणानुकूल उन्होंने कहा कि सेवक को स्वामी की उन्हीं आज्ञाओं का पालन करना चाहिए जो न्याय एवं धर्म के अनुकूल हों। इस पर सरदारगढ़ के ठाकुर मनोहरसिंह ने शंका करते हुए कहा कि महाराणा हमारे स्वामी हैं। यदि हम इनकी किसी भी आज्ञा की अवहेलना करें, चाहे वह कैसी भी क्यों न हो, तो ये हमें

दण्डित करेंगे और हमारी जागीर छीन लेंगे। उत्तर में स्वामीजी ने कहा कि एक जागीर क्या, यदि प्राण भी चले जायें, तो भी असत्याचरण कदापि नहीं करना चाहिए। अधर्मजीवी होकर प्राणयापन करने की अपेक्षा धर्माचरण करते हुए भिक्षोपजीवी होकर रहना अच्छा है।

स्वामीजी के सुझाव पर कुछ अन्य जनहित के कार्यों का भी उदयपुर राज्य में प्रारम्भ किया गया। कविराज श्यामलदास के साथ एक दिन वे चारण पाठशाला देखने गये। छात्रों की परीक्षा ली, उन्हें अपनी ओर से भोजन कराया तथा पाठ्यक्रम में वेद वेदाङ्गादि शास्त्रों को रखने की संस्तुति की। उनका एक अन्य सुझाव यह था कि क्षत्रिय बालकों की शिक्षा के लिये पृथक् विद्यालय की स्थापना होनी चाहिए जिसमें शस्त्र और शास्त्र के सन्तुलित शिक्षण की व्यवस्था हो। राजकीय पाठशालाओं की पाठ्य प्रणाली में समुचित सुधार करने का परामर्श भी उन्होंने दिया। राज्य के न्यायालयों में आर्य भाषा हिन्दी के अधिकाधिक प्रयोग पर बल देते हुए उन्होंने देवनागरी को अपनाने की प्रेरणा की। प्रशासन एवं न्याय की शब्दावली में जहाँ अरबी, फारसी के शब्दों का ही बहुलता से प्रयोग होता था, स्वामीजी के प्रयत्न से तत्सम संस्कृत शब्दों का प्रचलन होने लगा। समानार्थक संस्कृत शब्द स्वयं स्वामीजी ने ही सुझाये थे।

यद्यपि महाराणा सज्जनसिंह स्वामीजी के प्रति अत्यन्त अनुरक्त तथा आज्ञानुवर्त्ती थे, किन्तु स्वामीजी भी अपने इन वैयक्तिक सम्बन्धों को राजकार्य तथा शासन व्यवस्था में हस्तक्षेप करने में कभी प्रयुक्त नहीं करते थे। एक दिन महाराज जब उदयपुर नरेश से भेंट के पश्चात् स्वस्थान पर लौटने लगे, तो ग्रामों से आये हुए कुछ पटेल और मुखिया लोग उनसे मिले तथा निवेदन किया कि उनके ऊपर चल रहे कुछ अभियोगों के सम्बन्ध में वे महाराणा से उनके पक्ष में सिफारिश कर दें। इस पर स्वामीजी ने उन्हें स्पष्ट कह दिया कि राजकार्यों और न्याय व्यवस्था के सम्बन्ध में हस्तक्षेप करने का उनका कोई इरादा नहीं है और न वे कोई ऐसी सिफारिश ही महाराणा से कर सकते हैं। हुआ यह कि महाराणा ने भी कुछ दूर खड़े पटेलों तथा स्वामीजी के बीच के इस वार्तालाप को सुना एवं देखा। उन्होंने मौलवी अब्दुल-रहमान को पटेलों के निकट यह जानने के लिये भेजा कि उनके और स्वामीजी के बीच क्या बातचीत हुई है ? पटेलों ने मौलवी साहब को सारी बातों से अवगत कराया और कहा कि स्वामीजी ने तो उन्हें स्पष्ट कह दिया है कि हम साधु हैं और राजकार्यों से हमें कुछ मतलब नहीं है। इस प्रसंग को जान कर महाराणा को यह विश्वास हो गया कि स्वामी दयानन्द सांसारिक मामलों में सर्वथा निरासक्त एवं निर्लेप हैं।

प्रसंग आने पर स्वामी दयानन्द धर्म, पाप पुण्य, दान आदि से सम्बन्धित मध्यकालीन पाखण्डपूर्ण अंधविश्वासों का प्रतिवाद करने में कभी संकोच नहीं करते थे। दान पुण्य आदि के बारे में पुराणकारों ने जो अतिशयोक्तिपूर्ण कथन किये हैं, उनका प्रखर खण्डन करते हुए स्वामीजी ने उन्हें हास्यास्पद सिद्ध किया। एक दिन दानविषयक किसी ऐसी ही पुस्तक का प्रसंग उद्धृत कर स्वामीजी ने महाराणा को बताया कि इस ग्रन्थ के अनुसार तो यदि किसी ब्राह्मण को एक जोड़ा जूता भी दान किया जावे तो दाता को सम्पूर्ण पृथ्वी दान कर देने के तुल्य फल प्राप्त होगा। इस प्रकार की अतिरंजनापूर्ण उक्तियों को मिथ्या बताते हुए महाराज

ने कहा कि यदि बात सत्य है तब तो आपको अपने राज्य के ब्राह्मणों को प्रदत्त सहस्रों रुपयों की जागीर उनसे लेकर बदले में उन्हें एक जोड़ी जूता ही दे देना चाहिए। इससे भी उन्हें समस्त भूमिदान के पुण्य की अनायास प्राप्ति हो जायगी।

इसी प्रकार भगवन्नाम जप के विकृत रूप के भी वे प्रखर आलोचक थे। जिस प्रकार कोई राजकर्मचारी स्वकार्य को छोड़ कर केवल अपने स्वामी का ही नाम लेता रहे तो उससे स्वामी प्रसन्न नहीं होता, इसी प्रकार स्वकर्त्तव्य विमुख होकर केवल राम नाम का जप भी निरर्थक ही है। इसी प्रसंग में जब महाराणा ने राम, कृष्ण आदि के ईश्वर अवतार होने के सम्बन्ध में प्रश्न किया तो उत्तर में स्वामीजी ने वाल्मीकीय रामायण के प्रथम सर्ग में वर्णित नारद वाल्मीकि संवाद के कुछ अंश पढ़े तथा स्पष्ट किया कि इस प्रकरण में राम को एक आदर्श आर्य पुरुष के रूप में ही चित्रित किया गया है।[१२] यह दूसरी बात है कि रामायण के परवर्त्ती टीकाकारों ने राम को विष्णु के अवतार के रूप में प्रस्तुत कर उन्हें लोकोत्तर बना दिया।

गोरक्षा के सम्बन्ध में ब्रिटिश महारानी को प्रतिवेदन भेजने विषयक स्वामीजी का उद्योग यथापूर्व चल रहा था। राजस्थान के इस प्रवास के समय इस आवेदन पर देशी नरेशों के हस्ताक्षर उपलब्ध कराने का प्रयास किया गया, जिसमें उन्हें विशेष सफलता मिली। महाराणा उदयपुर के अतिरिक्ति, महाराजा जोधपुर एवं बूंदी के महाराव के भी हस्ताक्षर कराये गये। यह हम देख चुके हैं कि एक समय स्वामीजी ने अंग्रेजी का अभ्यास करने का प्रयत्न किया था, किन्तु अपने अति व्यस्त कार्यक्रम के कारण वे इस भाषा में नैपुण्य प्राप्त नहीं कर सके थे। उदयपुर में हम उन्हें हेली (Heley) रचित आंग्ल व्याकरण का अभ्यास करते देखते हैं।[१३] बिहार के एक सुपठित ब्राह्मण को यहां उन्होंने चतुर्थाश्रम की दीक्षा दी तथा उसे सहजानन्द सरस्वती का नाम दिया।[१४] इस शिष्य को उन्होंने देशदेशान्तरों में वैदिक धर्म के प्रचारार्थ उपदेशक बन कर भ्रमण करने की प्रेरणा दी। इस समय गिरानन्द नामक एक अंधा संन्यासी भी उनके साथ रहने लगा था।[१५]

उदयपुर में निवास करते हुए स्वामीजी की योगविषयक कतिपय सिद्धियों को देखने का अवसर नवदीक्षित शिष्य सहजानन्द को प्राप्त हुआ। नौलखा बाग के निकटवर्त्ती सरोवर में उसने महाराज को जल पर ध्यानावस्थित दशा में पद्मासनस्थ देखा। योगारूढ अवस्था में स्वामीजी को देखने का एक अन्य अवसर उसे तब मिला जब उसने देखा, कोठरी में ही लम्बी समाधि लगा कर महाराज ने श्वास प्रश्वास क्रिया का पूर्णतया निरोध कर लिया है तथा उनका सम्पूर्ण शरीर सर्वथा निष्क्रिय, जड़ तथा निष्कम्प हो गया है। उस समय उनके मुखमण्डल पर एक दिव्य, अलौकिक आभा विराज रही थी। योग से प्राप्त सिद्धियां दूरवर्ती घटना का ज्ञान योगी को करा देती हैं, इसका उदाहरण उदयपुर में उस समय देखने को मिला जब स्वामीजी ने महाराणा तथा अन्य उपस्थित दरबारियों के समक्ष कहा कि पं. सुन्दरलाल आ रहे हैं।[१६] यदि वे अपने आने की अग्रिम सूचना दे देते, तो उन्हें उदयपुर तक लाने के लिये सवारी की व्यवस्था हो जाती। बात यह थी कि पं. सुन्दरलाल बैलगाड़ी से उदयपुर आ रहे थे। स्वामीजी के इस कथन को सुन कर महाराणा ने कहा कि सवारी की व्यवस्था तो अब भी हो

सकती है। स्वामीजी ने योगज शक्ति के आधार पर परोक्ष दृश्य को प्रत्यक्ष की नांई देखते हुए कहा—"अब तो वे बैलगाड़ी में आ रहे हैं। उनकी गाड़ी में जुते बैलों में से एक श्वेत रंग का और दूसरा लाल रंग का है।" जब दूसरे दिन पं. सुन्दरलाल इन्हीं रंगों के बैलों से जुती गाड़ी में उदयपुर पहुंचे, तो महाराज के कथन की पुष्टि हो गई।

स्वामी दयानन्द धर्म के क्षेत्र में प्रचलित अनेक अनुपयोगी, हानिकर तथा जाति को दुर्बल बनाने वाली रूढ़ियों के कट्टर विरोधी थे। एक दिन दो साधु उनसे भेंट करने आये। पर्याप्त समय तक वार्तालाप के पश्चात् जब वे जाने लगे, तो मानो उन्होंने आदेश एवं उपदेश की सी भंगिमा में स्वामीजी से कहा—"आप अपने अमूल्य उपदेशों को उन्हीं लोगों को प्रदान किया करें जो उसके वास्तविक अधिकारी हैं।" स्वामीजी का दृष्टिकोण भिन्न था। वे यह अनुभव कर चुके थे कि मानव जीवन को उत्थान की ओर ले जाने वाला धर्मोपदेश तो बिना किसी भेदभाव किये मनुष्यमात्र को दिया जाना चाहिए। वे भली भांति जानते थे कि धार्मिक एवं आध्यात्मिक उपदेशों के अधिकार अनधिकार का प्रश्न उठाकर मध्यकालीन आचार्यों ने तथाकथित निम्न वर्ग के लोगों के प्रति कितना अत्याचार किया है। जिन लोगों को शास्त्रों के पठन पाठन तथा शास्त्रीय कर्मों के अधिकारों से केवल जाति के आधार पर ही वंचित कर दिया गया था, वे ही लोग परम्परागत आर्य धर्म का परित्याग कर हिन्दू समाज के व्यापक संगठन से पृथक् हो गये थे। इस भयंकर जाति विनाश को देखते हुए वे संकीर्ण आधार पर इस अधिकार-अनधिकार की चर्चा को छेड़ना अत्यन्त अनुचित तथा समाज विघातक समझते थे।

पं. मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने एक दिन महाराज से एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पूछा—भारत की सम्पूर्ण जातीय उन्नति कब होगी? उत्तर में स्वामीजी ने जो कुछ कहा वह मानो उनके समग्र स्वदेश हितचिन्तन तथा तदर्थ किये जाने वाले उनके उद्योगों का सार रूप नवनीत ही था। पण्ड्याजी के इस यक्ष प्रश्न के उत्तर में दयानन्द ने जो कुछ कहा वह अत्यन्त सारगर्भित, दूरदर्शितापूर्ण तथा तथ्याश्रित था। स्वामीजी का उत्तर था। **जब तक समस्त देशवासी एक ही धर्म के अनुयायी, एक ही भाषा बोलने वाले तथा एक ही प्रकार के आचार-विचार एवं व्यवहार को धारण कर एक ही लक्ष्य ही पूर्ति हेतु सर्वात्मना कृतनिश्चय नहीं हो जाते, तब तक स्वदेश की एकता तथा उसकी सर्वांगीण समृद्धि स्वप्न मात्र ही रहेगी।**" वस्तुतः दयानन्द आर्यावर्त देशवासियों को वास्तविक एकता के सूत्र में आबद्ध देखना चाहते थे। राष्ट्रीय एकता की उनकी कल्पना अत्यन्त विस्तृत भावभूमि पर प्रतिष्ठित थी। उनके विचार से देश का वास्तविक हित तभी सम्भव था, जब कि धर्म, संस्कृति, भाषा, आचार विचार के क्षेत्रों में विद्यमान पार्थक्य एवं विभिन्नताओं को समाप्त कर देश और समाज को वास्तविक एकता के सूत्र में पिरोया जाय।

अब पण्ड्याजी ने दूसरा प्रश्न पूछा "जब आप देशवासियों को वास्तविक एकता के सूत्र में बंधा देखना चाहते हैं, तो पुनः भिन्न भिन्न मत मतान्तरों के खण्डन में क्यों प्रवृत्त हैं?" स्वामीजी ने इसका उत्तर देते हुए स्पष्ट किया कि मिथ्या पाखण्डों और अंधविश्वासों के पुञ्ज रूप मत मतान्तरों के खण्डन से घबराने या भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि

मत सम्प्रदायों द्वारा फैलाये गये पारस्परिक विरोध और अनेकता ने ही राष्ट्रीय एकता को क्षति पहुंचाई है। उन्होंने पुनः स्पष्ट किया कि हिन्दू धर्माचार्यों की संकीर्ण मनोवृत्ति तथा उनके साम्प्रदायिक चिन्तन ने ही समाज को छिन्न भिन्न किया है। उन्हीं के अनुदार व्यवहार तथा आचरण ने तथाकथित निम्न वर्ग के लोगों को परम्परागत धर्म से विमुख कर ईसाई तथा मुसलमान बनने के लिए विवश किया है। सम्पूर्ण समाज के ढांचे में जो जीर्णता तथा मुमूर्षु प्रवृत्ति घर कर गई है, उसका निवारण करने के लिये प्रचण्ड शक्तिपूर्ण, ओजस्वी, तेजस्वी तथा क्रान्तिकारी कार्यक्रम की आवश्यकता है; जो समाज में व्याप्त स्थितिस्थापकत्व, गतानुगति तथा कूपमण्डूकता की मनोवृत्तियों को नष्ट कर उसे पुनः गतिशील, स्फूर्तियुक्त तथा प्राणवान् बनाये। अपने कथन का उपसंहार करते हुए महाराज ने कहा **"इसी महत् लक्ष्य की पूर्ति के लिये मैं व्यक्तिगत मानापमान की चिन्ता किये बिना, समाज के प्रत्येक वर्ग को प्रेरणा तथा उद्‌बोधन देता हुआ, देश में सर्वत्र भ्रमण कर रहा हूँ। मुझे अपने पथ से विचलित करने के अनेक प्रयत्न किये गये, यहां तक कि नाना प्रकार की शारीरिक यातनाएँ एवं विष देकर मुझे समाप्त करने तक की चेष्टाएं की गईं, तथापि मैं अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ़ रहा हूँ, यह ईश्वर की महती कृपा है।"** स्वामीजी के इन उदात्त एवं स्फूर्तियुक्त वचनों को सुनकर पण्ड्याजी गद्‌गद कण्ठ से यही कह सके कि काश, आप जैसे दो चार अन्य धर्माचार्य भी देशोत्थान के इस कार्यक्रम में आपका सहयोग करते, तो लक्ष्यसिद्धि में अधिक विलम्ब नहीं होता।

उदयपुर निवासकाल में मेवाड़ राज्य के न्यायाधीश तथा पुलिस अधीक्षक मौलवी अब्दुलरहमान के साथ अनेक शास्त्रीय विषयों पर स्वामीजी का एक शास्त्रार्थ भाद्रपद कृष्णा चतुर्दशी, ११ सितम्बर १८८२ सोमवार से आरम्भ होकर १७ सितम्बर तक हुआ। इस शास्त्रार्थ का लिखित वृत्तान्त पं ब्रजनाथ चुंगी अधिकारी मेवाड़ राज्य, मिर्जा मोहम्मद अली खाँ वकील, तथा मुन्शी रामनारायण सरिश्तेदार उद्यान विभाग, मेवाड़ ने लिखा था।[१७] शास्त्रार्थ के अन्तिम दिन महाराणाजी भी उपस्थित थे तथा उन्होंने स्वामीजी के कथन का अनुमोदन किया।

गोरक्षा तथा हिन्दी भाषा के प्रचार के लिये स्वामी दयानन्द ने जो सार्वजनिक चर्चा उठाई थी उसके इच्छित परिणाम निकलने की सम्भावनाएं बन रही थीं। देश की कचहरियों और न्यायालयों में हिन्दी को प्रविष्ट कराने के लिये स्वामीजी सचेष्ट थे। उन दिनों अंग्रेजी सरकार ने शासकीय कार्यालयों के कामकाज में प्रयुक्त होने वाली भाषा एवं लिपि के निर्धारण हेतु एक कमीशन की स्थापना की थी। इस कमीशन को देश के विभिन्न भागों में भ्रमण कर राजभाषाविषयक सम्मतियों का संग्रह करने के पश्चात् समुचित निर्णय लेने का अधिकार दिया गया था। स्वामीजी ने मेरठ तथा फर्रूखाबाद की आर्यसमाजों को पत्र लिखकर आदेश दिया कि वे अपने समासदों को इस आयोग के समक्ष उपस्थित होकर आर्य भाषा हिन्दी के समर्थन में साक्षी देने की प्रेरणा करें।[१८]

महान् योगी तथा भविष्यद्रष्टा दयानन्द को सम्भवतः अपनी आसन्न मृत्यु का आभास हो ही गया था। तभी तो उनके भौतिक शरीर के न रहने पर उनके द्वारा प्रवर्तित शास्त्र प्रचार, वैदिक धर्म की देश देशान्तरों में व्याप्ति तथा अनाथ अबला संरक्षण जैसे

लोकहित के कार्यों को सतत प्रवहमान रखने की दृष्टि से उन्होंने मेरठ निवासकाल में अपनी स्थानापन्न परोपकारिणी सभा की स्थापना कर उसे पंजीकृत करा दिया था।[१९] उस समय गठित इस सभा में थियोसोफिकल सोसाइटी के संस्थापक-द्वय कर्नल ऑल्काट तथा मैडम ब्लैवेट्स्की को सदस्य रूप में नियुक्त किया था। मुरादाबाद निवासी मुन्शी इन्द्रमणि भी इस सभा के सभासद बनाये गये थे। अब, जब कि थियोसोफी के आचार्यों से उनके सैद्धान्तिक मतभेद प्रत्यक्षतया उभर कर सामने आ गये थे और उधर मुन्शी इन्द्रमणि भी आर्यसमाज से पृथक् हो गये, तो स्वामीजी के लिये यह आवश्यक हुआ कि वे परोपकारिणी सभा का पुनर्गठन करें। अब की बार उन्होंने अपना स्वीकारपत्र लिख कर फाल्गुन कृष्णा पञ्चमी, १९३९ वि. तदनुसार २७ फरवरी १८८३ को मेवाड़ की शासकीय कचहरी में पंजीकृत कराया।[२०] इस स्वीकारपत्र में यह व्यवस्था की गई थी कि स्वामीजी का शरीरपात होने पर उनके पुस्तक, वस्त्र, धन, यंत्रालय आदि पर २३ सभासदों[२१] की इस समिति का अधिकार होगा, जिसे परोपकारिणी सभा का नाम देकर गठित किया गया है।[२२] इस सभा के अध्यक्ष पद पर स्वामीजी ने यावदार्यकुल कमल दिवाकर मेदपाट (मेवाड़) नरेश महाराणा सज्जनसिंहजी को मनोनीत किया था। सभासदों में मेवाड़ राज्य के कतिपय सरदार एवं सामन्त, मेरठ, फर्रुखाबाद, लाहौर आदि स्थानों की आर्यसमाजों के विश्वसनीय आर्य पुरुष तथा महाराष्ट्र के प्रसिद्ध समाजसुधारक महादेव गोविन्द रानडे, बम्बई के गवर्नर की कौन्सिल के सदस्य गोपालराव हरि देशमुख तथा स्वामीजी के प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ शिष्य श्यामजी कृष्ण वर्मा[२३] को रक्खा गया था। सभा से आशा की गई थी कि वह महाराज के महाप्रस्थान के अनन्तर शास्त्रोक्तरीति से न केवल उनकी अन्त्येष्टि की व्यवस्था ही करेगी, अपितु उनके उद्देश्यों की पूर्ति के लिये सदा यत्नशील रह कर वैदिक यंत्रालय के माध्यम से वैदिक तथा आर्षग्रन्थों का सतत प्रचार भी करती रहेगी।[२४]

उदयपुर में रहते हुए स्वामीजी को पर्याप्त समय हो गया था। अब राजस्थान के अन्य राज्यों की ओर से भी उनको आमंत्रण पत्र प्राप्त हो रहे थे। ऐसी स्थिति में जब उन्होंने मेवाड़ नरेश से विदा चाही, तो महाराणा ने वेद भाष्य मुद्रणनिधि में १२०० रु. अर्पित कर महाराज के प्रति स्वश्रद्धा के प्रतीक रूप में एक रेशमी उत्तरीय भेंट किया। स्वामीजी के शिष्य रामानन्द ब्रह्मचारी को भी १०० रु. तथा एक शाल दिया गया। इसके अतिरिक्त वैदिकनिधि में एक सहस्र रुपये पृथक्शः भेंट किये जिसके द्वारा देश में वैदिक धर्म के प्रचार की एक महत्त्वाकांक्षी योजना को क्रियान्वित किया जाना था। अन्ततः महाराणा ने स्वहस्ताक्षर युक्त एक अभिनन्दनपत्र फाल्गुन कृष्णा पञ्चमी १९३९ वि. मंगलवार को श्री सेवा में अर्पित किया[२५] तथा उदयपुर में महाराज के पुनरागमन की कामना करते हुए अत्यन्त वेदनापूर्ण हृदय से उन्हें विदा किया।

□□

पाद टिप्पणियां

१. बम्बई के इस प्रवास काल में स्वामीजी ने ग्राम हरयाना (जिला होशियारपुर) निवासिनी माई भगवती से भेंट कर उसे देश में नारी जागरण के लिये कार्य करने की प्रेरणा दी थी। कालान्तर में माई भगवती ने आर्यसमाज की प्रथम स्त्री उपदेशिका के रूप में धर्म प्रचार किया। स्वामी सत्यानन्द तथा पं. घासीराम ने माई भगवती से स्वामीजी की यह भेंट महाराज के प्रथम बम्बई निवास (१८७५ ई.) के समय हुई बताई है, किन्तु मुन्शीराम जिज्ञासु संकलित ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार भाग १ (१९१० ई. में प्रकाशित) में माई भगवती के जो पत्र (४ नवम्बर १८८२ तथा ६ जनवरी १८८३) संगृहीत हैं उनसे ज्ञात होता है कि स्वामीजी से उनकी भेंट १८८२ ई. के बम्बई प्रवास में हुई थी, क्योंकि ४ नवम्बर के पत्र में माई ने स्वामीजी से सत्यार्थप्रकाश के संशोधित संस्करण के सम्बन्ध में जिज्ञासा की है, जो उन दिनों प्रेस में मुद्रित हो रहा था। पूर्व जीवनचरितों में इस प्रसंग का जो त्रुटिपूर्ण उल्लेख हुआ, उसकी ओर पं. युधिष्ठिर मीमांसक का ध्यान गया तथा उन्होंने परोपकारी (अक्टूबर १९८२) में 'माई भगवती और ऋषि दयानन्द के दर्शन का काल' शीर्षक लेख लिखकर भावी जीवनचरित लेखकों को इस भूल को सुधारने की प्रेरणा दी।

२. स्वामीजी का जावरा आगमन श्रावण कृष्णा अष्टमी, ८ जुलाई १८८२ को हुआ था। उन्होंने यहां लगभग एक पखवाड़े तक निवास किया। यहां रह कर जो पत्र स्वामीजी ने विभिन्न व्यक्तियों को लिखे उनमें स्थान का संकेत सर्वत्र 'मालवा-नवाब का जावरा' इस रूप में उपलब्ध होता है।

३. इसी स्थान पर बैठकर महाराज ने सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय संस्करण को समग्ररूपेण संशोधित कर उसकी भूमिका लिखी तथा भूमिका के अन्त में हस्ताक्षर कर स्थान तथा काल का उल्लेख किया—'महाराणाजी का उदयपुर'। भाद्रपद शुक्लपक्ष १९३९ वि.।

४. गोरखा वंश में उत्पन्न स्वामी आत्मानन्द ने स्वामी दयानन्द के निधन के पश्चात् देश के सुदूरवर्ती प्रान्तों में धर्म प्रचार किया था। इन्होंने सैंकड़ों आर्यसमाजों की स्थापना की। १८९७ ई. में धर्म प्रचारार्थ लंका भी गये। इनके द्वारा किये गये प्रचार कार्यों का विवरण भारतसुदशाप्रवर्त्तक के प्रारम्भिक वर्षों के अंकों में निबद्ध हुआ है।

५. ब्रह्मचारी रामानन्द फर्रूखाबाद जिले का निवासी था। इसके पिताजी का नाम शंकरानन्द था। स्वामीजी के साथ रहकर पत्रलेखन तथा अन्य सेवाकार्य करता था। स्वामीजी के निधन के पश्चात् धर्म प्रचार में कई वर्षों तक संलग्न रहा।

६. स्वामी दयानन्द के आद्य शिष्य पं. भीमसेन शर्मा का जन्म कार्तिक शुक्ला ५, १९११ वि. को एटा जिलान्तर्गत लालपुर ग्राम में हुआ था। सत्रह वर्ष की आयु में स्वामी दयानन्द द्वारा संस्थापित फर्रूखाबाद की संस्कृत पाठशाला (स्थापना १९२६ वि.) में अध्ययनार्थ १९२९ वि. में प्रविष्ट हुए। अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् ये स्वामीजी के साथ रह कर ग्रन्थ लेखन (लिपिकर्त्ता) का कार्य करते रहे। स्वामीजी के निधन के पश्चात् आषाढ़ १९४४ वि. में इन्होंने 'आर्यसिद्धान्त' नामक एक उच्चकोटि का मासिक पत्र निकाला।

सैद्धान्तिक लेखक में ये बड़े सिद्धहस्त थे। इनके द्वारा लिखे हुए ग्रन्थों की संख्या बहुत अधिक है। कालान्तर में मृतक श्राद्ध तथा यज्ञ में हिंसा जैसे विषयों पर उनका आर्य-समाज से मतभेद हो गया और इस शताब्दी के प्रारम्भ में ये आर्यसमाज से पृथक् हो गये। तत्पश्चात् इन्होंने इटावा से १९०२ ई. में 'ब्राह्मण सर्वस्व' नामक मासिक पत्र निकाला और सनातन धर्म के समर्थन में लिखने लगे। जुलाई १९१२ से १९१७ तक कलकत्ता विश्वविद्यालय में वेद व्याख्याता के पद पर रहे। चैत्र कृष्णा १२, १९७४ वि. को इनका देहान्त हो गया। विशेष जानकारी के लिये द्रष्टव्य-पं. भीमसेन शर्मा (आर्यसमाज के आद्य पण्डित के लेखन का विवरण) १९ जुलाई १९७० के आर्यमित्र में प्रकाशित डा. भवानीलाल भारतीय का लेख तथा वेदवाणी (जनवरी तथा फरवरी, १९६८) में प्रकाशित 'पं. भीमसेन शर्मा का मत परिवर्तन' शीर्षक इन्हीं पंक्तियों के लेखक के लेख।

७. जोधपुर नरेश महाराजा जसवन्तसिंह के अनुज महाराज प्रतापसिंह ने अपनी आत्मकथा में स्वामीजी की राजस्थान यात्रा के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए लिखा था—"देशी राज्यों की ओर उनका विशेष ध्यान था। वे कहा करते थे कि एक मनुष्य को सुधारने से सिर्फ एक मनुष्य ही सुधरता है, परन्तु एक राजा को सुधारने से हजारों, लाखों मनुष्यों का कल्याण हो जाता है। स्वामीजी को राजपुताने से बहुत आशायें थीं। इसी कारण से अपने जीवन के अन्तिम वर्ष उन्होंने राजपुताना में लगाये।" महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज के सम्बन्ध में महाराजा सर प्रताप की विचारधारा (आर्य-मार्त्तण्ड, २७ अक्टूबर १९४० ई.)

८. इस प्रयोजन की सिद्धि के लिये स्वामीजी ने महाराणा को दिनचर्या के नियम लिखकर भेजे। इसमें सामान्य उपदेशों के अतिरिक्त पालनीय ५१ इतिकर्त्तव्यों का विशिष्ट निर्देश है। [द्रष्टव्य-पत्र व्यवहार (पृ. ३६९-३७४) २०१२ वि. द्वितीय संस्करण] इसी प्रकार का एक अन्य पत्र उन्होंने महाराणा को जोधपुर से (अगस्त १८८३) लिखा था जिसमें अन्य निर्देशों के अतिरिक्त दाम्पत्य जीवन व्यतीत करने के सम्बन्ध में कुछ विशेष संकेत थे। (द्रष्टव्य पत्र व्यवहार पृ. ४४९-४५२)

९. जोधपुर से भेजे गये अपने पत्र में स्वामीजी ने 'उपदेश' शीर्षक के अन्तर्गत सर्वप्रथम यही बात लिखी "साहित्य जो नायिका (भेद) आदि भ्रष्ट रीति है उसका स्मरण, श्रवण और मद्यपान, वेश्यादर्शन, नृत्यगान आदि कभी न करें।"

१०. तुलनीय "महाराणा ने संस्कृत शैली से सब राजकीय कार्यालयों के नाम रक्खे, जैसे महद्राजसभा (Supreme State Council), शैल कान्तार सम्बन्धिनी सभा (Forest Department), निज सैन्य सभा (Personal Body Guard) तथा शिल्प सभा (Industries Department)" (महर्षि दयानन्द और महाराणा सज्जनसिंह—डा. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का लेख Dayanand Commemoration Volume में प्रकाशित, पृ. ३६९)

११, मनुस्मृति के सातवें अध्याय (राजधर्म प्रकरण) का अध्ययन स्वामीजी ने पौष १९३९ वि. (जनवरी १८८३) में महाराणा तथा उनके अहलकारों (राजकर्मचारी वर्ग) को कराया था। मोहनचन्द्रिका (खण्ड ९, संख्या २१) डा. गौरीशंकर ओझा के अनुसार महाराणा

की स्मरणशक्ति इतनी प्रबल थी कि वे एक घण्टे में मनुस्मृति के २२ श्लोकों का आशय याद कर लेते थे। —द्रष्टव्य डा. ओझा का उपर्युक्त लेख।

१२. द्रष्टव्य-बालकाण्ड के प्रथम सर्गान्तर्गत—
इक्ष्वाकुवंश प्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान वशी॥ आदि श्लोक।

१३. स्वामीजी के निधन के पश्चात् जब उनके ग्रन्थ संग्रह को परोपकारिणी सभा ने स्वायत्त किया तो उसमें हेली लिखित अंग्रेजी भाषा के व्याकरण के दो संस्करण (बड़ा व छोटा) विद्यमान थे।

१४. सहजानन्द सरस्वती को स्वामीजी ने फाल्गुन कृष्णा १२,१९३९ वि. को एक प्रमाणपत्र लिख कर दिया जिसमें देश की आर्यसमाजों से यह निवेदन किया गया था कि वे इस संन्यासी को धर्म प्रचारार्थ समस्त सुविधाएं उपलब्ध करायें। यह प्रमाणपत्र स्वामीजी द्वारा उदयपुर प्रवास को समाप्त कर चित्तौड़ पहुंचने पर दिया गया था। कालान्तर में हम सहजानन्द सरस्वती की प्रचार यात्राओं का वृत्तान्त भारतसुदशाप्रवर्त्तक के प्रारम्भिक वर्षों के अंकों में पढ़ते हैं। स्वामीजी के अन्य अनेक शिष्यों की ही भांति सहजानन्द की भी आर्यसमाज के प्रति आस्था अन्त तक अविचलित नहीं रही और वह १८९० ई. में इस संस्था से पृथक् हो गया।

१५. गिरानन्द के धर्मप्रचार का विवरण भारतसुदशाप्रवर्त्तक के प्रारम्भिक वर्षों के अंकों में छपता रहा।

१६. रायबहादुर पं. सुन्दरलाल (निधन २० अक्टूबर १८८९ ई.) स्वामीजी के परम भक्त एवं अनुयायी थे। ये अधीक्षक पोस्टल वर्क शॉप, 'डिप्टी पोस्टमास्टर जनरल' आदि पदों पर रहे। कालान्तर में इन्हें बर्मा के 'पोस्टमास्टर जनरल' पद पर नियुक्त किया गया था। जब वैदिक यंत्रालय चैत्र शुक्ला प्रतिपदा १९३८ वि. को काशी से प्रयाग लाया गया, तो स्वामीजी ने इन्हें यंत्रालय की प्रबन्धकर्तृ सभा का अध्यक्ष नियुक्त किया। २९ दिसम्बर १८८७ ई. तक ये यंत्रालय का प्रबंध देखते रहे।

१७. शास्त्रार्थ के विस्तृत विवरण के लिये द्रष्टव्य—पं. लेखराम द्वारा संगृहीत जीवनचरित पृ. ७९५-८०४ तथा दयानन्दशास्त्रार्थसंग्रह के अन्तर्गत पृ. १९१-२०५ तक का विवरण (रामलाल कपूर ट्रस्ट का द्वितीय संस्करण १९३९ वि.)।

१८. उन दिनों डाक्टर हण्टर की अध्यक्षता में भारत सरकार ने शिक्षा कमीशन की स्थापना की थी। इस कमीशन ने देश का विस्तृत भ्रमण कर शिक्षा के माध्यम के सम्बन्ध में जनमत जानने का यत्न किया था। स्वामी दयानन्द की प्रेरणा से अनेक आर्यसमाजों ने इस कमीशन को स्मरणपत्र देकर उन्हें शिक्षा के माध्यम तथा सरकारी कार्यालयों में हिन्दी का निर्बाध प्रयोग किये जाने हेतु प्रार्थना की थी। आर्यसमाज मेरठ द्वारा प्रस्तुत किया गया एक ऐसा ही स्मरणपत्र 'पत्र और विज्ञापनों के परिशिष्ट' में पृ. २३-२७ पर उद्धृत किया गया है। यह मेमोरियल आर्यसमाज मेरठ के एक सभासद ने तैयार किया था। ध्यातव्य है कि स्वामीजी आर्य भाषा हिन्दी के प्रयोग तथा गोरक्षा के विषय को मुख्य सुधार की नींव मानते थे, जैसा कि उन्होंने शुद्ध श्रावण शुक्ला ३, गुरुवार

१९३९ वि. को उदयपुर से ही फर्रूखाबाद निवासी बाबू दुर्गाप्रसाद को लिखे अपने पत्र में संकेतित किया है।

१९. द्रष्टव्य—इसी ग्रन्थ का अध्याय 'सार्वजनिक जीवन के क्षितिज पर', पृ. ४१२

२०. राजकीय मुद्रांकित इस स्वीकार पत्र पर महद्राजसभा के सभापति महाराणा सज्जन-सिंह के अतिरिक्त १३ अन्य सभासदों ने हस्ताक्षर किये थे।

२१. स्वामीजी द्वारा नियुक्त २३ सभासदों में उदयपुर और शाहपुरा के राजाओं के अतिरिक्त चार जागीरदार तथा दो उच्च पदाधिकारी (कविराजा श्यामलदास और मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या) तो मेवाड़ राज्य से ही सम्बन्धित थे। अवशिष्ट सदस्यों में ४ साहूकार वर्ग के लोग फर्रूखाबाद निवासी थे जो महाराज के अत्यन्त विश्वासभाजन थे। लाला मूलराज और लाला सांईदास आर्यसमाज लाहौर से सम्बन्धित थे। महाराष्ट्र से न्यायमूर्ति रानडे, गोपालराव हरि देशमुख तथा श्यामजी कृष्ण वर्मा लिये गये थे। अवशिष्ट ६ सभासदों में राजस्थान की मसूदा रियासत के राव बहादुरसिंह, मेरठ के बाबू छेदीलाल और लाला रामशरणदास, मुरादाबाद के राजा जयकृष्णदास, आगरा निवासी पं. सुन्दरलाल, तथा दानापुर (बिहार) के बाबू माधोलाल के नाम आते हैं।

२२. दयानन्द सरस्वती के निधन के पश्चात् परोपकारिणी सभा की गतिविधियों और क्रियाकलापों की जानकारी के लिये इन्हीं पंक्तियों के लेखक द्वारा रचित परोपकारिणी सभा का इतिहास (प्रकाशन विभाग वैदिक यंत्रालय अजमेर, द्वारा १९७५ ई० में प्रकाशित) द्रष्टव्य है।

२३. संस्कृत के अप्रतिम विद्वान् तथा क्रान्तिकारी देशभक्त श्यामजी कृष्ण वर्मा का जन्म कच्छ राज्य के माण्डवी नामक कस्बे में कार्तिक कृष्णा २, १९१४ वि. (४ अक्टूबर १८५७) को एक साधारण परिवार में हुआ। १८७४ ई. में इनकी भेंट स्वामी दयानन्द से बम्बई में हुई। इन्हें होनहार तथा कुशाग्र बुद्धि जान कर स्वामीजी ने इनके संस्कृत शिक्षण की समुचित व्यवस्था कर दी। स्वामीजी की प्रेरणा से ही एक धनाढ्य सेठ छबीलदास लल्लूभाई ने अपनी पुत्री भानुमति से १८७५ ई. में इनका विवाह कर दिया। इसके पश्चात् १८७९ के मार्च में उच्चस्तरीय अध्ययन के लिये श्यामजी इंग्लैण्ड चले गये। १८८५ में भारत लौट कर इन्होंने रतलाम, उदयपुर, जूनागढ़ आदि रियासतों में मंत्री पदों पर कार्य किया। कालान्तर में ये पुनः इंग्लैण्ड चले गये और १९०५ ई. में इण्डियन होमरूल सोसायटी की स्थापना कर ब्रिटेन में अध्ययनार्थ आने वाले भारतीय छात्रों में देशभक्ति के भाव भरते रहे। इंग्लैण्ड से फ्रांस और वहां से स्विट्जरलैण्ड चले गये जहां ३१ मार्च १९३० को उनका निधन हुआ। वे कुछ समय के लिये अजमेर और ब्यावर भी रहे थे। उन दिनों उन्हें वैदिक यंत्रालय के प्रबंध का कार्य सौंपा गया था। स्वामी दयानन्द का श्यामजी से संस्कृत भाषा में उस समय पत्र व्यवहार हुआ था, जब वे अध्ययन हेतु इंग्लैण्ड में थे। विशेष जानकारी के लिये—1. Shyamaji Krishna Varma. Life and Times of an Indian Revolutionary. By Indulal Yajnik, Bombay 1950. 2. Shyamji Krishna Varma by Harvilas Sarda, 1959.

२४. वैदिक यंत्रालय की स्थापना का प्रयोजन बताते हुए स्वामीजी ने मुन्शी समर्थदान के नाम अपने पत्र में लिखा था—"यह यंत्रालय रोजगार के वास्ते नहीं है, केवल सत्य-शास्त्रों को छाप कर प्रसिद्ध करने के लिये है, न कि व्यापार के लिये।" (पत्र व्यवहार पृ. ४१३) यही बात उन्होंने बाबू विश्वेश्वरसिंह के नाम अपने १० मई १८८३ के पत्र में भी लिखी थी। फर्रूखाबाद निवासी सेठ कालीचरण रामचरण को दि. ९ फरवरी १८८१ को लिखे अपने पत्र में महाराज ने यह स्पष्ट कर दिया था कि "शास्त्र प्रचार और ग्रन्थ लेखन आदि का कार्य उन्होंने केवल परमार्थ और स्वदेशोन्नति के कारण अपने समाधि और ब्रह्मानन्द को छोड़ कर ग्रहण किया है।" यंत्रालय के प्रथम प्रबंधक मुन्शी बख्तावरसिंह द्वारा हिसाब में गोलमाल करने पर उन्होंने खेद प्रकट करते हुए फर्रूखाबाद निवासी सेठ निर्भयराम को किञ्चित विनोदपूर्वक लिखा था, "और जो तुम उसका प्रबंध कुछ न करोगे तो ऐसी लूट मार से हमारे पास के पुस्तकादि भी कोई लूट लेगा—फिर तो हम अपने समीप कुछ न रख सकेंगे। और वेद भाष्य आदि सब काम छोड़ देंगे। केवल एक लंगोटी लगा आनन्द में विचरेंगे।" द्रष्टव्य—पत्र व्यवहार पृ. २८०।

२५. अभिनन्दन पत्र के मूल पाठ के लिये द्रष्टव्य—दयानन्द दिग्विजयार्क खण्ड ३., पं. लेखराम संगृहीत जीवन चरित पृ. ६०९। स्वामीजी के उदयपुर प्रवास का विवरण भारतसुदशा-प्रवर्त्तक ने अपने जनवरी १८८३ के अंक में प्रकाशित किया था।

□□

महाप्रस्थान के पथ पर

उदयपुर से चल कर स्वामीजी फाल्गुन कृष्णा ७, १ मार्च १८८३, गुरुवार को निम्बाहेड़ा आये। यहाँ से वे चित्तौड़ चले गये। लगभग एक सप्ताह तक चित्तौड़ में उनका निवास रहा। इसी बीच शाहपुरा के नरेश राजाधिराज नाहरसिंह[1] का संदेश मिला कि वे उनकी राजधानी में पधारें और राजा एवं प्रजा को अपने उपदेश से कृतार्थ करें। फलतः महाराज ने शाहपुरा जाने का निश्चय किया। शाहपुरा के राजाधिराज नाहरसिंह से स्वामी दयानन्द की प्रथम भेंट चित्तौड़ में आयोजित राजदरबार के अवसर पर हुई थी। नाहरसिंहजी स्वामीजी के उदात्त विचारों, प्रगतिशील दृष्टिकोण तथा सर्वोपरि, उनके प्रसन्नगम्भीर व्यक्तित्व से अत्यधिक प्रभावित हुए थे तथा उन्होंने उसी समय महाराज से शाहपुरा पधारने का अनुग्रह किया था। उस समय तो स्वामीजी का बम्बई जाने का कार्यक्रम बन गया था। परन्तु इस बार उदयपुर के प्रवास को समाप्त कर जब वे चित्तौड़ आये, तो उन्हें शाहपुराधीश का मान भरा अनुरोध पुनः प्राप्त हुआ।

निश्चित कार्यक्रमानुसार स्वामीजी ने फाल्गुन कृष्णा त्रयोदशी १९३९ वि., ४ मार्च १८८३ बुधवार को चित्तौड़ से रेल द्वारा प्रस्थान किया। दूसरे दिन वे रूपाहेली स्टेशन पहुँचे। यहां से शाहपुराधीश द्वारा भेजे वाहन का उपयोग कर उसी दिन (फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी, ८ मार्च १८८३ गुरुवार) अपरान्ह ४ बजे शाहपुरा पहुँचे गये। स्वामीजी के निवास की व्यवस्था रैतिया तालाब के निकट नाहरनिवास बाग में की गई थी। इसी दिन सायंकाल राजाधिराज स्वामीजी की सेवा में पहुंचे तथा धर्म चर्चा की। इसके पश्चात् भी वे नित्य सायंकाल ६ बजे से ९ बजे पर्यन्त महाराज के निकट रह कर उनका सत्संग लाभ करते। शाहपुराधीश ने प्रक्षिप्त भाग छोड़ कर मनुस्मृति, सम्पूर्ण योगदर्शन तथा वैशेषिक दर्शन का स्वल्पभाग स्वामीजी से पढ़ा। प्राणायाम की व्यावहारिक शिक्षा भी ली। जब स्वामीजी प्रातःकाल भ्रमणार्थ निकलते, तो राजाधिराज भी उनके साथ हो लेते। इस समय नाना विषयों पर विचारविमर्श करने का अवसर उन्हें अनायास ही मिल जाता।

शाहपुरा में रामस्नेही सम्प्रदाय[2] की मुख्य पीठ है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी राम को निरञ्जन ईश्वर का पर्याय मानते हैं तथा राम नाम के पुनः पुनः उच्चारण से ही मोक्ष लाभ होना स्वीकार करते हैं। नगर के कतिपय लोगों का विचार था कि इस सम्प्रदाय के महन्त श्री हिम्मतराम के साथ स्वामीजी का शास्त्रार्थ होना चाहिए। जब स्वामीजी से यह प्रस्ताव किया गया, तो उन्होंने इसे सहज भाव से स्वीकार किया, किन्तु साधुजी तैयार नहीं हुए। उन्होंने कहा, "भाई, हम तो राम राम कहते हैं। हम शास्त्रार्थ करना क्या जानें?" उन्हीं दिनों रामस्नेही सम्प्रदाय का 'फूल डोल' नामक बृहत् सम्मेलन शाहपुरा में सम्पन्न हुआ। इसमें भाग लेने के लिये ब्यावर के अनेक वैश्य गण आये थे। वार्तालाप के प्रसंग में स्वामीजी ने उनसे पूछा कि केवल 'राम' नाम जप से क्या लाभ होता है? सम्प्रदायनिष्ठ

वैश्यों ने उत्तर दिया "नाम के पीछे जैसे नामी का ज्ञान होता है, उसी प्रकार 'राम' नाम के निरन्तर जप से उसके वाच्य परमात्मा को जानना कठिन नहीं है।" स्वामीजी ने इस पर आपत्ति करते हुए कहा कि जिस प्रकार लड्डू लड्डू कहने मात्र से लड्डू की उपलब्धि नहीं होती, उसी प्रकार ईश्वर का केवल नामोच्चारण ही पर्याप्त नहीं है। अपितु नाम स्मरण के साथ साथ परमात्मा के नाम से सम्बद्ध अर्थ की भावना करते हुए योगमार्ग से उसे प्राप्त करने के लिये सचेष्ट भी होना चाहिए।

शाहपुरा में भी स्वामीजी की दिनचर्या सर्वथा नियमित रही। मध्यान्ह पर्यन्त वे वेद भाष्य लेखन में लगे रहते। तत्पश्चात् भोजन करते और केवल १४-१५ मिनट के लिये विश्राम करते। निद्रा इतनी वशवर्तिनी थी कि विश्राम का नियत समय समाप्त होते ही वे उठ जाते और मुख, हाथ धोकर पुनः कार्यमग्न हो जाते। जितेन्द्रिय योगी जनों की भांति उन्हें निद्रा वृत्ति पर पूर्ण वशीकारत्व प्राप्त था। वेद भाष्य लेखन के सुगम्भीर तथा परिश्रमसाध्य कार्य में रत रहते हुए भी वे जिज्ञासुओं के प्रश्नों का उत्तर देने के सदा तत्पर रहते।

एक दिन शाहपुरा के राजपुरोहित छत्रमल व्यास महाराज से भेंट करने हेतु आये। जब महाराज ने उनसे कहा कि यदि उन्हें धर्म विषयक कोई शंका हो तो वे निस्संकोच पूछें, तो व्यासजी ने उत्तर में कहा कि वे तो सर्वथा निस्संदेह हैं, उन्हें किसी प्रकार की शंका नहीं है। इस पर महाराज ने एक श्लोक पढ़ते हुए कहा कि संसार में सर्वथा सुखी तो दो ही प्रकार के लोग होते हैं। एक तो वे जो सर्वथा मूढ़ होते हैं और दूसरे जो अत्यन्त बुद्धिमान हैं। अवशिष्ट लोग तो विभिन्न शंकाओं से ग्रस्त रह कर पीड़ित ही रहते हैं। प्रासङ्गिक श्लोक था—

यश्च मूढ़तमो लोके यश्च बुद्धेःपारङ्गत।
द्वौ हीमौ सुखमेधेते क्लिश्यन्तरितो जनाः॥

बिहारीलाल नामक एक संस्कृत छात्र ने पाणिनीय अष्टाध्यायी के दो सूत्रों के[3] आधार पर मूर्तिपूजा विषयक शंकायें प्रस्तुत कीं। महाराज ने उनका सम्यक् समाधान किया।

भोजनादि के विषय में अनावश्यक वर्जनाओं को स्वामीजी सामाजिक एकता की दृष्टि से हेय तथा त्याज्य समझते थे। उन दिनों एक संन्यासी महाराज के निकट रह कर अध्ययन करते थे। जब वे एक दिन चौके के प्रश्न को लेकर रसोइये से उलझ पड़े, तो स्वामीजी ने इन संन्यासी महानुभाव की तीव्र भर्त्सना करते हुए कहा—"खेद की बात है कि संसार त्यागी परिव्राजक होकर भी तुम चौके चूल्हे के पचड़े में पड़े हो। संन्यासी का कर्त्तव्य तो आर्यावर्तीय समाज के चतुर्वर्णों में पारस्परिक मेल तथा सहयोग के भावों की अभिवृद्धि करना है, न कि खानपान विषयक मिथ्या बातों को लेकर उनमें विषमता तथा पार्थक्य के भाव पैदा करना।"

यह हम देख चुके हैं कि स्वामी दयानन्द न्यायदर्शन के अन्तर्गत प्राचीन न्याय के अध्ययनअध्यापन के ही पक्षपाती थे। नव्य न्याय में शुष्क फक्किकाओं को जिस प्रकार रटा जाता है तथा साधारण बात को भी अत्यन्त जटिल तथा क्लिष्ट बना कर प्रस्तुत किया जाता

है, स्वामीजी की उससे प्रकट असहमति थी। शाहपुरा में एक दिन नव्य न्याय का एक पण्डित महाराज के निकट आया तथा लगा अपना ज्ञान बघारने। महाराज क्रीड़ा प्रिय तो थे ही। उन्होंने इन नव्य नैयायिक से कहा—'देवदत्तो ग्रामं गच्छति' इस वाक्य का नव्य न्याय की रीति से अर्थ कीजिये। उनके तो कहने भर की देर थी। नैयायिक महाशय ने 'अवच्छेदकावच्छिन्न' की झड़ी लगा दी और लगे फक्किकाओं के उदाहरण प्रस्तुत करने। अन्त में स्वामीजी ने उससे कहा कि "भाई, इस वाक्य का सीधा सा अर्थ तो यही है कि 'देवदत्त ग्राम जाता है।' तुमने अनावश्यक रूप से इसे इतना जटिल बना दिया है।"

अब तक स्वामी महाभाग की कीर्ति कौमुदी राजस्थान के अन्य राज्यों में भी प्रसरित हो चुकी थी। इस प्रान्त के अनेक नरेश उन्हें अपने रजवाड़ों में बुला कर धर्मोपदेश प्राप्त करने हेतु लालायित थे। जोधपुर महाराजा के भाई महाराज प्रतापसिंह तथा रावराजा तेजसिंह ने स्वामीजी के गुणों तथा राजन्य वर्ग को दी जाने वाली उनकी शिक्षाओं के सम्बन्ध में बहुत कुछ सुना था। अतः उन्होंने महाराज से जोधपुर पधारने का निवेदन तो उसी समय कर दिया था, जब कि स्वामीजी उदयपुर में विराजमान थे। अब, जब वे शाहपुराधीश के अतिथि बन कर इस रियासत के लोगों को धर्मामृत का पान करा रहे थे, तो उन्हें जोधपुर पधारने के लिये पुनः निमंत्रण मिला। फलतः स्वामीजी ने शाहपुरा से जोधपुर जाने का निश्चय कर लिया।

जोधपुर तत्कालीन राजपूताना की सबसे बड़ी रियासत थी। राजस्थान के पश्चिमी भाग में स्थित, अधिकांश में मरुस्थल युक्त यह रजवाड़ा राठौड़ वंश के राजपूतों द्वारा शासित था। उन दिनों जोधपुर तक रेल मार्ग नहीं बना था तथा आवागमन के साधन भी सुविधापूर्ण नहीं थे। इस राज्य के अधिकांश लोग अभी तक मध्ययुगीन सामन्ती जीवन पद्धति को अपनाते हुए पुरातन रूढ़ियों, अंधविश्वासों तथा मूढ़तापूर्ण धारणाओं से ही बंधे थे। जोधपुर के शासक महाराजा जसवन्तसिंह[४] परले सिरे के विलासी, वेश्यागामी, मदिरासक्त तथा चापलूस दरबारियों से घिरे रहते थे। बहुविवाह[५] तो सामन्ती जीवन की एक सामान्य प्रथा ही बन गई थी। अन्तःपुर में निवास करने वाली रानियों का पारस्परिक सपत्नी द्वेष, राज प्रासाद की परिधि में नाना प्रकार के षड्यंत्रों, दुरभिसंधियों तथा कूटनीतिपूर्ण चालबाजियों के लिये अवसर उत्पन्न करता था। इसी प्रकार खुशामदी दरबारियों तथा उनकी ठकुरसुहाती बातों ने जोधपुर के शासन तन्त्र को सर्वथा दुर्बल तथा निःसत्व बना दिया था।

महाराजा जसवन्तसिंह के छोटे भाई महाराज प्रतापसिंह[६] अत्यन्त विचारशील तथा कर्त्तव्यनिष्ठ पुरुष थे। उन्होंने यह ठीक ही सोचा था कि यदि दयानन्द सरस्वती जैसे युग-परिवर्तनकारी महापुरुष जोधपुर आयें और यहाँ के राजा को स्व कर्त्तव्य पालन की प्रेरणा करें तो निश्चय ही राजा में कर्त्तव्यनिष्ठा जागृत होगी, जो इस राज्य के सर्वतोमुखी सुधार तथा उन्नति का कारण बनेगी। जब राजाधिराज नाहरसिंह को स्वामीजी के जोधपुर जाने का ज्ञान हुआ तो उनका चिन्तित होना स्वाभाविक ही था। वे महाराजा जसवन्तसिंह के वेश्यागामी चरित्र से पूर्णतया परिचित थे तथा यह भी जानते थे कि मारवाड़ का प्रशासन खुशामदी दरबारियों की छलछिद्रपूर्ण कार्यवाहियों से किस प्रकार दूषित हो चुका है। इधर वे स्वामी दयानन्द के निर्भीक व्यक्तित्व, उनकी स्पष्ट कथन की प्रवृत्ति तथा अनाचार, पाखण्ड तथा

मूढ़तापूर्ण कृत्यों की गर्हा करने में उनकी दृढ़ता को भी जानते थे। अतः उनके मन में आशंका की एक क्षीण रेखा कौंध गई। उन्हें भय हुआ कि स्वामीजी के कठोर खण्डन तथा स्पष्ट कथन से किसी भी प्रकार की कोई अप्रिय घटना जोधपुर में घट सकती है। उन्होंने स्वामीजी को हल्की सी चेतावनी देते हुए संकेत रूप में कहा कि जिस स्थान पर वे जा रहे हैं, वहाँ वेश्यावृत्ति का कठोर खण्डन न करें। सत्य, न्याय और धर्म के मार्ग पर दृढ़तापूर्वक चलना ही जिनके स्वभाव का एक अंग बन गया था, उन दयानन्द को ऐसी चेतावनी देना तो सरल था, किन्तु अपने मार्ग से विचलित करना कठिन था। जिस दयानन्द ने सत्य के लिये निन्दा स्तुति, धनैश्वर्य तथा जीवन अथवा मृत्यु तक की चिन्ता नहीं की, वह भला इस प्रकार की बातों की कब परवाह करता ?[७] स्वामीजी ने अविचलित किन्तु प्रशान्त स्वर में उत्तर दिया—"कटीले वृक्षों को काटने के लिये तो तीक्ष्ण शस्त्रों की आवश्यकता होती है। हाथ के नाखून काटने वाले नहुरने से वे नहीं काटे जाते।" उनका अभिप्राय था कि जोधपुर के राजपरिवार में व्याप्त इन बुराइयों का उच्छेद करने के लिये कठोर से कठोर खण्डन की भी यदि आवश्यकता हुई, तो ऐसा करने में उन्हें कोई संकोच नहीं होगा। सर्वत्र मृदु कथन काम नहीं देता। वाणी का पारुष्य भी कभी कभी अभीष्ट प्राप्ति में सहायक हीता है। इस प्रकार जोधपुर में उनकी कार्य-प्रणाली किस प्रकार की होगी, इसका स्वल्प संकेत देकर महाराज ने वहाँ जाने की तैयारी की।

विदा के समय राजाधिराज ने स्वामीजी को वेदभाष्य निधि में २५० रु.[८] अर्पित किये तथा वैदिक धर्म प्रचारार्थ एक उपदेशक की नियुक्ति के लिये ३० रु. मासिक वेतन नियमित रूप से देते रहने का का भी वचन दिया। अन्ततः विदाई के क्षण आये। शाहपुराधीश नाहरसिंह ने अभिनन्दन पत्र[९] पढ़ कर महाराज की सेवा में अपने श्रद्धासुमन अर्पित किये तथा सम्मानपूर्वक विदा किया।[१०] जिस बग्घी में बैठ कर स्वामीजी ने प्रस्थान किया, बहुत दूर तक वे उसके साथ साथ चलते रहे, पुनः प्रणत भाव से विदा लेकर लौट गये।

ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्थी, २६ मई १८८३, शनिवार को स्वामीजी ने शाहपुरा से प्रस्थान किया था। ज्येष्ठ कृष्णा पञ्चमी, २७ मई रविवार को स्वामीजी अजमेर पहुँचे और सेठ फतहमल भड़गतिया की कोठी में निवास किया। अजमेर में उन्हें एक ही दिन ठहर कर जोधपुर के लिये प्रस्थान करना था। स्वामीजी के भक्त तथा परोपकारिणी सभा के सदस्य पं. गोपालराव हरि देशमुख के पुत्र लक्ष्मणराव देशमुख[११] उस समय अजमेर आये हुए थे। वे स्वामीजी से योग सीखना चाहते थे, परन्तु स्वामीजी के पास इसके लिये समय नहीं था। अतः रात्रि को रेल से विदा करते समय ही राव महाशय ने स्वामीजी से योग विषयक कुछ चर्चा कर सन्तोष किया। अजमेर के आर्य पुरुषों ने भी स्वामीजी को जोधपुर जाने से विरत करना चाहा।[१२] अनुरक्त भक्तों ने महाराज से कहा—"जोधपुर की भूमि प्राकृतिक दृष्टि से तो रूक्ष तथा अनुर्वरा है ही, वहाँ के लोग भी उसी प्रकार शुष्क प्रकृति, संवेदनाहीन तथा कठोर स्वभाव के हैं। अतः वहाँ आपका जाना किसी भी प्रकार से श्रेयस्कर नहीं है।" अजमेर के लोगों ने तो तत्कालीन मारवाड़ को राक्षस देश की संज्ञा दी और स्वामीजी के आसन्न अहित की कल्पना कर दुःख का अनुभव किया, किन्तु महाराज ने पुनः भय एवं उद्वेगहीन वाणी से

कहा—"**सत्य के प्रचारार्थ बड़े से बड़े कष्ट को सहन करने में भी उन्हें कोई संकोच नहीं होगा।**" इसी कथन का उपबृंहन करते हुए उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि—"**यदि वहाँ के लोग उनके पथ्य युक्त सत्य कथन से चिढ़ कर उनकी अंगुलियों को बत्तियों की भाँति जला भी दें, तब भी वे सत्य को कहने तथा उसका प्रतिपादन करने से कभी पीछे नहीं हटेंगे।**"

२८ मई की अर्द्ध रात्रि को वे पाली के लिये चल पड़े।[13] उन दिनों जोधपुर पहुँचने के लिये रेल का मार्ग पाली तक ही था। ज्येष्ठ कृष्णा ८, २९ मई मंगलवार को पाली पहुँचे तथा अग्रवालों की बगीची में निवास किया। जोधपुर नरेश ने पाली से जोधपुर तक की यात्रा को सुगम बनाने के लिये चारण सांवलदान[14] तथा मुन्शी दामोदरदास[15] को एक हाथी, तीन रथ, एक सेज गाड़ी, तीन ऊँट तथा चार सवारों के साथ पाली भेज दिया था। पाली के हाकिम सेढ़मल कायस्थ को भी पूर्ण सुविधाएं उपलब्ध कराने का राजकीय आदेश पहुँच चुका था। दूसरे दिन (जेष्ठ कृष्णा ९, ३० मई बुधवार) प्रातःकाल महाराज ने जोधपुर के लिये प्रस्थान किया। पाली से जोधपुर की दूरी ४५ मील की है। मार्ग में वर्षा के कारण स्वामीजी तथा उनके सहयात्रियों को बड़ा कष्ट हुआ। तीव्र झंझावात के कारण रथ और बग्घी की छतें उड़ गईं तथा सभी लोग पानी से भीग गये। उसी दिन वे रोहट[16] पहुँचे जहाँ के जागीरदार ठाकुर गिरधारीसिंह ने उनका भावभीना स्वागत किया। रात्रि रोहट में ही व्यतीत की और दूसरे दिन बहुत जल्दी जोधपुर के लिये प्रस्थान किया। जब जोधपुर की सीमा मात्र दो कोस ही रह गई, तो स्वामीजी यान से उतर पड़े और दैनन्दिन वायुसेवन के स्वभाववश पैदल ही चलने लगे। अन्ततः जेष्ठ कृष्णा दशमी, ३१ मई गुरुवार को वे मरुधर देश की राजधानी जोधपुर की सीमा में प्रविष्ट हुए जहाँ रावराजा जवानसिंह राज्य की ओर से उनके स्वागतार्थ उपस्थित थे।

जोधपुर में स्वामीजी को नजरबाग के सामने मियां फैजुल्ला खां की कोठी में ठहराया गया।[17] स्वामीजी के पहुँचने का समाचार पाते ही कर्नल प्रतापसिंह तथा रावराजा तेजसिंह[18] उनके दर्शनार्थ एवं स्वागतार्थ उक्त कोठी पर उपस्थित हुए। कर्नल साहब ने एक स्वर्णमुद्रा तथा पच्चीस रुपये भेंटस्वरूप अर्पित किए। स्वामीजी के भोजन तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के सम्बन्ध में सब प्रकार की व्यवस्थाएँ की गईं और सुरक्षा के लिए छह सिपाहियों और एक हवलदार का पहरा लगाया गया। इसके अतिरिक्त सेवा के लिए चार सेवक भी नियुक्त किये गये। स्वामीजी के जोधपुर पहुँचने के समय महाराजा जसवन्तसिंह के गले में पीड़ा थी, अतः वे तुरन्त उनके दर्शनार्थ नहीं आ सके। महाराज के इस नगर में आगमन के सत्ताईस दिन पश्चात् २६ जून को महाराजा स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हुए[19] तथा पाँच स्वर्ण मुद्राएँ एवं पच्चीस रुपये भेंट किए।[20] तदुपरान्त जब वे फर्श पर ही बैठने लगे, तो स्वामीजी ने, जो स्वयं कुर्सी पर विराजमान थे, जोधपुर नरेश को आग्रह पूर्वक अपने समीप कुर्सी पर बिठाया। महाराजा जसवन्तसिंह से स्वामीजी का वह प्रथम धर्मालाप लगभग तीन घण्टे तक चलता रहा। इस प्रसंग में स्वामीजी ने मनुस्मृति के आधार पर उन्हें राजधर्म का उपदेश दिया तथा लोकहित के लिए सर्वतोभावेन पुरुषार्थ करने के लिए कहा। प्रवचन समाप्त होने पर महाराजा ने स्वामीजी से आग्रह किया कि वे इसी भाँति यहाँ विराज कर राजप्रजा हित की शिक्षा देते रहें।

दूसरे दिन से महाराज के नियमित व्याख्यान मियां फैजुल्लाखां की कोठी के मैदान में सायंकाल चार से छह बजे तक होने लगे। विभिन्न वर्गों के लोग प्रवचनों में उपस्थित होकर यहाराज के उपदेशों का लाभ उठाते।[२१] अपने इन व्याख्यानों में स्वामीजी क्षत्रिय नरेशों में विद्यमान उन दुर्व्यसनों, दुष्प्रवत्तियों तथा अनुचित कर्मों का खण्डन करते, जो उनकी वर्तमान अधोगति के कारण हैं। विशेष रूप से अपनी प्रचण्ड तथा ओजस्वी वाणी में वे क्षत्रियों के वेश्यागामी होने की तीव्र निन्दा करते तथा उन्हें चेतावनी देते कि यदि ये लोग अपना चरित्र संशोधन नहीं करेंगे तो इनके शतमुख पतन में कोई सन्देह नहीं है। साथ ही वे विभिन्न मत-सम्प्रदायों का खण्डन भी करते जो सामाजिक विघटन के कारण बने हैं। परन्तु उनके व्याख्यान केवल खण्डनप्रधान ही नही होते थे। समय समय पर वे स्वदेश हित के लिए गो रक्षा, स्वदेशी वस्तुओं के ग्रहण, आर्यभाषा हिन्दी के प्रचार जैसे रचनात्मक विषयों पर प्रभावशाली वक्तृता प्रस्तुत करते। जब स्वामीजी के व्याख्यानों में क्षत्रिय नरेशों की दुश्चरित्रता की चर्चा उग्रतर रूप में होने लगी, तो एक दिन व्याख्यान से पूर्व रावराजा तेजसिंह ने अत्यन्त विनम्रता के साथ कहा "महाराज, आप हमारे महाराजा के चरित्र के सम्बन्ध में कुछ न कहा करें"। इस पर सत्यनिष्ठ संन्यासी ने किञ्चित आवेश पूर्वक उत्तर दिया, "मैं जो कुछ कहता हूँ सत्य ही कहता हूँ। यद्यपि मैं नाम निर्देशपूर्वक अथवा असभ्यतापूर्वक कथन नहीं करता, तथापि मुझसे लाग लपेट तथा लल्लोचप्पो की बातें कहलवाने का प्रयास भी निरर्थक ही है।"

धीरे धीरे स्वामी दयानन्द ने जोधपुर राज्य की राजनैतिक परिस्थितियों, खुशामदी दरबारियों के कारनामों, महाराजा की प्रेयसी नन्हीं भगतन[२२] का राजकार्यों में अनुचित दखल आदि के सम्बन्ध में विस्तृत सूचनाएँ प्राप्त कर लीं। अब उन्होंने जोधपुर राज्य के शासनतन्त्र के प्रमुख सूत्रधार कर्नल महाराज प्रतापसिंह को एक निजी पत्र लिख कर सचेत किया और कहा कि जिन लोगों पर सोलह लाख से अधिक जनसंख्या वाले विस्तृत राज्य के योगक्षेम का दायित्व है, वे ही स्वकर्त्तव्यों से पराङ्मुख होंगे, तो इस देश का भविष्य अन्धकारपूर्ण ही मानना चाहिए।[२३] उन्होंने जोधपुर नरेश तथा स्वयं कर्नल साहब के दुर्बल स्वास्थ्य के प्रति भी चिन्ता प्रकट की और लिखा कि यदि राज्याधिकारी ही रोगयुक्त रहेंगे तो प्रजा के स्वास्थ्य की चिन्ता कौन करेगा ?

समय समय पर अनेक नगर निवासी तथा विभिन्न सम्प्रदायों के लोग स्वामीजी से विचार विमर्श करने हेतु आया करते थे। रावराजा जवानसिंह ने निकटवर्त्ती बोरूंदा ग्राम से स्वामी गणेशपुरी[२४] को स्वामीजी से शास्त्रार्थ हेतु बुलवाया। गणेशपुरी जोधपुर तो आ गये, किन्तु शास्त्रार्थ के लिए सन्नद्ध नहीं हुए। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि वे स्वामीजी से परिचित हैं तथा उनके ग्रन्थ भी पढ़ रखे हैं। वे अपने में स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने की योग्यता नहीं देखते। जोधपुर के मेहता विजयसिंह[२५] जैन कुलोत्पन्न होने पर भी रामानुज सम्प्रदाय के अनुयायी श्रीवैष्णव थे। उन्होंने श्रीराम पर्वतीय नामक एक चक्रांकित वैष्णव को, जो उस समय जोधपुर आया हुआ था, स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिए सन्नद्ध किया। पं. श्रीराम का आग्रह था कि शास्त्रार्थ के मध्यस्थ मेहता विजयसिंह बनाये जायें। स्वामीजी इससे सहमत नहीं थे क्योंकि मेहताजी न तो शास्त्रों के पारगामी विद्वान् ही थे और उनका वैष्णव

सम्प्रदायानुयायी होना भी एक बड़ी बाधा थी। शास्त्रार्थ तो नहीं हुआ किन्तु जब स्वामीजी ने चक्रांकित मत का मूल समझे जाने वाले वेद मन्त्र[२६] का वास्तविक अभिप्राय स्पष्ट कर श्रीवैष्णव सम्प्रदाय की वेदमूलकता का खण्डन किया और उनके तिलक, छाप आदि बाह्याचारों की भी कटु आलोचना की, तो मेहता विजयसिंह तथा उनके साथी रामानुजी वैष्णव स्वामीजी के प्रबल विरोधी बन गये।

रावराजा मोहनसिंह से स्वामीजी की शाङ्कर वेदान्त पर चर्चा हुई। रावराजा ने वेदान्ती साधु निश्चलदास प्रणीत 'वृत्ति प्रभाकर' नामक ग्रन्थ में उद्धृत वेदान्त के तथाकथित चार महावाक्यों के सम्बन्ध में जिज्ञासा की, तो स्वामीजी ने इन उपनिषद् वाक्यों के सन्दर्भगत अर्थों को स्पष्ट कर सिद्ध किया कि इनसे जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध नहीं होती।[२७]

जोधपुर प्रवास में जिन अन्य लोगों ने स्वामीजी का सत्संग लाभ किया उनमें रावराजा शिवनाथसिंह, महाराजा के निजी सचिव पं. शिवनारायण, मेहता कुन्दनलाल, मेहता गणेशचन्द्र, जोशी आसकरण, बख्शी बच्छराज आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। परन्तु रावराजा तेजसिंह तथा कर्नल प्रतापसिंह विशेष रूप से स्वामीजी की शिक्षाओं के प्रति अनुरक्त रहे तथा उन्होंने अपने जीवन में स्वामीजी के उपदेशों को यथाशक्य उतारने का प्रयास भी किया। रावराजा तेजसिंह तो स्वामीजी के निधन के पश्चात् भी आजीवन अपने आप को आर्यसमाज का अनुयायी मानते व कहते रहे।

महाराज प्रतापसिंहजी की स्वामीजी के प्रति भक्ति एवं अनुरक्ति का एक मुख्य कारण यह भी था कि उनकी शिक्षाएँ पूर्णतया तर्कमूलक तथा बुद्धिवाद पर आधारित होती थीं।[२८] कर्नल प्रतापसिंह हिन्दू धर्म में प्रचलित पुरोहितों के पाखण्डवाद तथा जन्मना ब्राह्मणों द्वारा प्रचलित अनेक विषमतामूलक व्यवस्थाओं के कट्टर विरोधी थे। अतः जब स्वामी दयानन्द ने धर्म की बुद्धिगम्य व्याख्या की तथा बाह्याचार एवं आडम्बरों से पूर्णतया मुक्त विशुद्ध वैदिक धर्म का आख्यान किया, तो उसे स्वीकार करने में उन्हें कोई बाधा नहीं हुई। परन्तु यह भी सत्य है कि स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित धर्म के मूलसिद्धान्तों में पूर्णतया आस्था व्यक्त करके भी कर्नल प्रताप अथवा उनके अग्रज महाराजा जसवन्तसिंह मांस मदिरा सेवन, आखेट क्रीड़ा आदि उन दुर्व्यसनों से मुक्ति प्राप्त नहीं कर सके, जो क्षत्रिय समुदाय में सामान्यतया प्रचलित थीं।[२९] इसे उनकी चारित्रिक दुर्बलता ही समझना चाहिये कि औपचारिक रूप से अपने आप को आर्यसमाजी घोषित करके भी वे अपने वैयक्तिक जीवन में आर्योचित मर्यादाओं तथा भक्ष्याभक्ष्य विषयक नियमों का पालन नहीं कर सके थे। तभी तो एक दिन कर्नल प्रताप के यह पूछने पर कि हमें कोई ऐसा काम बतलावें जिससे कि हमारा मोक्ष हो, स्वामीजी ने स्पष्टतया कहा—**"काम तो तुम्हारे मोक्ष के नहीं है। परन्तु एक न्याय तुम्हारे हाथ में है यदि न्यायपूर्वक प्रजापालन करोगे तो तुम्हारा मोक्ष हो सकता है।"**[३०]

जोधपुर में स्वामी दयानन्द की दिनचर्या को चारण नवलदान[३१] ने इस प्रकार प्रस्तुत किया था—महाराज प्रातः ब्राह्ममुहुर्त में चार बजे शैया त्याग करते। पुनः कुल्ला कर दतौन करते और थोड़ी सौंफ के साथ दो चार घूंट जल पीते। ५ बजे वे भ्रमण के लिये निकल पड़ते। उस समय चारण ऊमरदान उनके साथ होते। जंगल में किसी वृक्ष के नीचे बैठकर

दीर्घकाल तक योगाभ्यास करते, जब तक कि सूर्योदय नहीं हो जाता। उनका यह नित्य का भ्रमण दो कोस (एक ओर का) होता। जाते समय धीमी गति से, किन्तु लौटते समय उनकी चाल अत्यन्त तेज हो जाती। यहाँ तक कि शरीर से पसीना बहने लगता। भ्रमण के समय एक कौपीन तथा उसके ऊपर एक छोटी सी धोती रखते थे। पसीना आने पर उसे पौंछते नहीं, अपितु उस पर रेत लगा लेते। पांव मे मजबूत जूता होता। एक मजबूत सोटा हाथ में रखते।

भ्रमण से लौट कर ७ बजे डेरे पर आते और कुर्सी पर बैठ कर १५-२० मिनट के लिये सुस्ताते, वायु सेवन करते। पुनः एक गिलास जलयुक्त दूध पीते। आठ बजे वेद भाष्य लिखाना आरम्भ कर देते। जोधपुर में जो पण्डित वेद भाष्य का लेखन करते, उनके नाम थे—रामचन्द्र और देवदत्त। स्वयं बोलते जाते और पण्डित लिखते। निरन्तर तीन घण्टे वेद भाष्य लिखाते। तत्पश्चात् ११ बजे उठ कर स्नान करते और उसके पश्चात् एक बंद कोठरी में आध घण्टे के लिये अकेले बैठ जाते। (जब उत्सुकतावश एक दिन चारण नवलदान ने द्वार पर लगे शीशे से देखा तो पता चला कि व्यायाम कर रहे हैं)। बारह बजे महाराज भोजन करते। उनका सामान्य भोजन था—दूध, सब्जी, दाल, चावल, फुल्के और कभी कभी खिचड़ी। भोजन एक ही समय करते। ग्रीष्म ऋतु में दही का शिखरन (श्रीखण्ड) बनवाते, जिसमें इलायची, मिश्री, केसर तथा कूटा हुआ धनिया होता। कभी कभी हलुआ बनवाते और कभी आम का अमरस। भोजन का वजन डेढ़ पाव अंग्रेजी[३२] होता था।

भोजन के पश्चात् एक पान खाते[३३] और फिर आध पौन घण्टे के लिये लेटते। नींद नहीं लेते, किन्तु यों ही करवटें लेते। पुनः उठ कर जल पीते। जल पीकर दो चार मिनट बैठे रहते। फिर एक बजे सत्यार्थप्रकाश और संस्कारविधि[३४] के प्रूफ शोधते तथा पत्रों के उत्तर लिखवाते। तीन बजे पुनः स्नान करते। सारे शरीर पर मुलतानी मिट्टी का लेप करते तथा छाती, भुजाओं तथा मस्तक पर घिसा हुआ चन्दन लगाते। चार बजे व्याख्यान के लिये आते। उस समय रेशमी धोती कमर में, सिर पर पगड़ी तथा पीठ पर चादर होती थी। छः बजे तक व्याख्यान होता। पुनः ६ से ८ बजे तक शंका समाधान।

आम चूसने की बड़ी रुचि थी।[३५] आमों की ऋतु में दो तीन आम चूस कर एक सेर, मिश्रीयुक्त दूध पीते। समीपवर्ती लोगों का भी दूध और आम से सत्कार करते। रात्रि को सोते समय जो दूध पीते, उसे पहले गर्म करवा कर पुनः ठंडा कर लेते। उसी समय समाचार पत्र सुनते और १० बजते बजते सो जाते। समय पालन में इतनी दृढ़ता थी कि जब महाराजा साहब भी भेंट हेतु सायंकाल सात बजे आते और बातें करते करते उन्हें सात बज जाते तो तुरन्त वार्तालाप के प्रसंग को समाप्त कर देते और अवशिष्ट बातों को अगले दिन के लिये स्थगित कर देते।

एक दिन स्वामीजी जोधपुर का प्राचीन दुर्ग[३६] देखने गये। लौटते हुए वहाँ से मेवाड़ के महाराणा प्रताप का किसी कलाकार द्वारा निर्मित एक चित्र लाये और कर्नल प्रतापसिंह को दिखा कर कहा कि, देखो तुम्हारे पूर्व पुरुष ऐसे होते थे। वे दाढ़ी नहीं रखते थे। केवल मूंछें ही रखते थे।[३७] जो हो, कर्नल प्रताप ने स्वामीजी की युगानुकूल, प्रगतिशील तथा

उदार शिक्षाओं को हार्दिकता से अंगीकार किया। जब जोधपुर राज्य के प्रशासन की सम्पूर्ण बागडोर उनके हाथ में आई, तो उन्होंने इस राज्य के न्यायालयों तथा कार्यालयों में उर्दू भाषा तथा फारसी लिपि का प्रचलन बन्द कर नागरीलिपि में लिखी जाने वाली हिन्दी को राजभाषा पद पर प्रतिष्ठित किया।[३५] इसी प्रकार उन्होंने राज्य की सेना के सैनिकों तथा अन्य कर्मचारियों को स्वदेशी वस्त्र धारण करने की प्रेरणा दी।[३६] उनके कार्यकाल में मारवाड़ देश में बनने वाली मोटी खादी ही सैनिकों की वर्दियों के लिए प्रयुक्त होने लगी। उनके द्वारा किये गये अन्य अनेक राजनैतिक, सामाजिक तथा प्रशासनिक सुधारों के पीछे स्वामी दयानन्द के उपदेशों की प्रेरणा थी।

जोधपुर निवास काल में कुछ मुसलमान सज्जन भी धर्म चर्चा के लिए यदा कदा स्वामीजी के पास आते थे। इनमें नवाब मौहम्मद खाँ, कर्नल मुहीउद्दीन तथा इलाहीबख्श कामदार के नामों का उल्लेख मिलता है। नवाब साहब शिया थे, अतः वे सुन्नी मुसलमानों की अधिकांश मान्यताओं को स्वीकार नहीं करते थे। जोधपुर राज्य के मुसाहिब (मन्त्री) भैया फैजुल्ला खाँ भी दो तीन बार स्वामीजी से मिले। मियाँ साहब राज्य के प्रमुख पद पर प्रतिष्ठित थे तथा सारा शासनतन्त्र उनकी अंगुलियों के संकेत से संचालित होता था। महाराजा जसवन्तसिंह के वे पूर्ण कृपापात्र थे अतः राज्य के अन्य जागीरदार तथा सरदार भी मियाँ साहब की कृपा के आकांक्षी रहते थे। अपने व्याख्यान में एक बार जब महाराज ने इस्लाम की अनेक अवैज्ञानिक तथा तर्कहीन बातों का उग्र खण्डन किया, तो फैजुल्ला खाँ का भतीजा मौहम्मद हुसैन अपने हाथ को तलवार की मूठ पर रखकर क्रोधावेश में बोल पड़ा "आप हमारे मत के विषय में कुछ न कहें।" इस पर स्वामीजी ने उसे फटकारते हुए कहा, "तुम अभी अनुभवशून्य हो। तलवार पर हाथ धरना तो जानते हो परन्तु उसे म्यान से बाहर निकालना दुष्कर कार्य है।" पुनः अपने अदम्य व्यक्तित्व तथा निर्भीक वृत्ति का परिचय देते हुए कहा "मैं ऐसी धमकियों में आने वाला नहीं हूँ। यदि प्राणों की चिन्ता से ही मैं धर्मोपदेश करने तथा पाखण्डखण्डन के कार्य से विरत हो गया होता, तो उस महत् अनुष्ठान की पूर्त्ति के लिए कुछ भी करना मेरे लिए असम्भव ही था, जिसके लिए मैं प्राणपण से यत्नशील हूँ।"

स्वामीजी के इन निर्भीक उद्‌गारों को सुनकर मियाँ फैजुल्लाखाँ लज्जित तो अवश्य हुए किन्तु मन के भीतर महाराज के विरोधी भी बन गये। एक दिन वार्त्तालाप के प्रसंग में मियाँ साहब ने स्वामीजी से कहा, "यदि आज मुसलमानों का शासन होता, तो आपके इस्लाम खण्डन को कदापि सहन नहीं किया जाता और आपका इस प्रकार भाषण करना कठिन हो जाता।" निर्भीकमना दयानन्द का उत्तर था—**"मैं यदि मुसलमान शासनकाल में होता, तब भी इसी प्रकार की बात कहता और यदि औरंगजेब की परम्परा का कोई शासक मेरा अनिष्ट चिन्तन करता तो मैं भी किसी शिवा, दुर्गादास अथवा राजसिंह जैसे क्षत्रिय को आगे कर देता, जो उसे मजा चखा देता।"**

वस्तुतः स्वामी दयानन्द पाखण्डखण्डन के कार्य में अकुतोभय भाव से ही लगे थे। वे संसार में ईश्वर को छोड़ कर अन्य किसी का भय नहीं मानते थे। वे प्रायः रातानाडा के

पर्वतों एवं जंगलों में भ्रमणार्थ जाते थे। वहाँ जंगली जानवरों के स्वच्छन्द विचरण को जान कर महाराजा जोधपुर के आदेश से रावराजा तेजसिंह ने एक सैनिक को भ्रमणकाल में उनके साथ रहने का आदेश दिया। जब महाराज को इस बात का ज्ञान हुआ तो उन्होंने प्रहरी को हटाने के लिये कह कर स्पष्ट कर दिया कि जो परमात्मा चराचर जगत् का रक्षक है, वही उनके प्राणों की भी रक्षा करता है।[४०]

स्वामीजी के इस प्रचण्ड एवं निर्भीक खण्डन से साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के लोग हतप्रभ हो गये। उन्होंने सोचा कि यदि स्वामीजी इसी प्रकार अदम्य भाव से साम्प्रदायिक संकीर्णताओं तथा पाखण्डों का खण्डन करते रहे, तो इस पिछड़े तथा अज्ञानान्धकार आवृत्त देश में भी प्रकाश की किरणें विकीर्ण होंगी। इस प्रकार उनके स्वार्थपूर्ण मनसूबे पूरे नहीं हो सकेंगे। अतः उन्होंने स्वामी दयानन्द की प्रवृत्तियों को समाप्त करने तथा इस महान् व्यक्तित्व को अपने रास्ते से हटा देने का एक कपटपूर्ण षड्यंत्र रचा।

यह हम लिख चुके हैं कि महाराज की प्रेमिका नन्ही भगतन राज्य के कामों में पर्याप्त हस्तक्षेप करती थी। जब उसने अनुभव किया कि स्वामीजी की आलोचना का यदि अभीष्ट असर हुआ तो महाराजा जसवन्तसिंह उससे विरक्त हो जायेंगे और तब उसका सम्पूर्ण प्रभाव भी निश्शेष हो जायगा। चारण नवलदान के अनुसार स्वामीजी को नन्हीं भगतन के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी मिल गई थी तथा राज्य शासन पर उसके असर को भी वे जान गये थे। वह तो यहां तक कहता है कि एक दिन जब स्वामीजी महाराणा से भेंट हेतु राजप्रासाद में गये तो उन्होंने स्वयं देख लिया कि यह वेश्या राजा पर कितना प्रभाव रखती है। वेश्या की पालकी को कंधा लगाने की बात भी चारण नवलदान की साक्षी के आधार पर ही पं. लेखराम ने स्वरचित जीवनचरित में संगृहीत की थी।[४१] साक्षीदाता के अनुसार स्वामीजी के आने पर महाराजा ने उसका चौपान (पालकी) उठवा दिया। परन्तु एक ओर कंधा झुकने पर अपना कंधा लगा दिया। स्वामीजी को यह देख कर बहुत क्रोध आया और अपने देश के राजाओं की यह अवस्था देख कर उपदेश के समय बड़े स्पष्ट शब्दों के कहा कि राजपुरुष सिंह के समान हैं और वेश्या कुतिया के समान।

देवेन्द्र बाबू ने उक्त घटना के सम्बन्ध में जब जोधपुर जाकर अनुसंधान किया तो उन्हें यह किंवदन्ती ही प्रतीत हुई। इतना अवश्य ज्ञात हुआ कि स्वामीजी ने महाराजा जसवन्तसिंह के छोटे भाई महाराज किशोरसिंह से ऐसी बात अवश्य कही थी। उस समय कुचामन के कुंवर शेरसिंह भी उपस्थित थे। कहते हैं कि इसे सुनकर महाराज किशोरसिंह लज्जित मुद्रा में मस्तक नीचा किये रहे, परन्तु मन ही मन स्वामीजी पर क्रुद्ध अवश्य हुए थे।[४२] स्वामीजी जहां राजाओं के वेश्यागामी होने की कटु शब्दों में आलोचना करते, वहां वे क्षत्रिय रानियों के अभूतपूर्व पातिव्रत धर्म के प्रशंसक भी थे। उन्होंने एक प्रसंग में कहा था—राजाओं के दुराचार ने इन देशी रियासतों तथा इनके क्षत्रियमन्य राजाओं को कभी का नष्ट कर दिया होता, यह तो इनकी रानियों का पातिव्रत धर्म ही है, जिसके कारण इनकी सत्ता अवशिष्ट है, अन्यथा राजाओं के कुकर्मों से तो इनका बेड़ा कभी का गर्क हो गया होता।

धीरे धीरे स्वामी दयानन्द के विरोध में जोधपुर का वातावरण अधिकाधिक विषाक्त तथा षड्यंत्रपूर्ण होने लगा। नन्ही भगतन की नाराजगी दिन प्रतिदिन बढ़ती गई। उसकी

ईर्ष्याग्नि में घृत डालने का काम रामानुज सम्प्रदाय के मुखिया विजयसिंह मेहता ने किया, जिन्होंने वैष्णव मतावलम्बिनी इस वेश्या को यह कह कर भड़काया कि स्वामीजी सहज ब्राह्मणद्वेषी तथा मूर्तिपूजा विरोधी तो हैं ही, वैष्णव मत के कट्टर शत्रु भी हैं। उधर मुसलमान सम्प्रदाय का कट्टर वर्ग, जिसका नेतृत्व मियां फैजुल्ला खां करता था, स्वामीजी द्वारा की गई इस्लाम की कटु आलोचना से खिन्न एवं रुष्ट था। इन्हीं षड्यंत्रकारी तत्त्वों ने सम्मिलित रूप से कोई ऐसी गुप्त योजना बनाई, जो महाराज की मृत्यु का कारण बनी।

इस प्रकार स्वामी दयानन्द के विरोध में एक प्रबल वातावरण बन रहा था। जोधपुर राज्य के सरदार और दरबारी भी उनकी स्पष्टोक्ति तथा सत्यनिष्ठा के कारण विरोधी बनने लगे। उन्हें राजपूतों में व्याप्त वेश्यागमन, मद्यपानादि दुर्व्यसनों का खण्डन अखरने लगा। महाराजा जसवन्तसिंह मौखिक रूप से तो स्वामीजी के प्रति अनुगत होने का भाव प्रदर्शित करते थे, किन्तु उन्होंने महाराज के उपदेशों का अनुसरण कर न तो अपना आचरण ही सुधारा और न दुर्व्यसनों को तिलाञ्जलि ही दी।[४३] मांसाहार, मदिरापान आदि का त्याग तो उनके लिये अशक्य सा ही था, नन्ही वेश्या के प्रति उनकी आसक्ति भी किञ्चित मात्र कम नहीं हुई। कर्नल प्रतापसिंह और रावराजा तेजसिंह तो स्वामीजी की सेवा में प्रायः आते ही रहते तथा उपदेशों के प्रति उत्सुकता भी प्रदर्शित करते, किन्तु महाराजा जसवन्तसिंह को इस युग पुरुष संन्यासी में कोई अधिक आकर्षण प्रतीत नहीं हुआ। जोधपुर के सुदीर्घ निवासकाल में वे केवल तीन बार ही महाराज से भेंट करने आये और तीन ही बार स्वामीजी भी राई का बाग राजप्रासाद में उपदेशार्थ गये। ऐसा अनुमान होता है कि महाराजा जसवन्तसिंह बौद्धिक और वैचारिक दृष्टि से तो स्वामीजी के तेजस्वी व्यक्तित्व तथा उनकी युगान्तरकारी शिक्षाओं से प्रभावित हुए थे, किन्तु अपनी मानसिक दुर्बलताओं तथा सामन्ती जीवन के विषाक्त वातावरण से ऊपर न उठ पाने के कारण वे स्वामीजी के उपदेशों से यथेष्ट लाभ नहीं उठा सके।

एक दिन रावराजा जवानसिंह ने स्वामीजी से निवेदन किया कि आपका धर्म प्रचार कार्य निर्बाधगति से चलता रहे, इसके लिये यह आवश्यक है कि आप किसी सुयोग्य शिष्य को अपना उत्तराधिकारी बनायें। स्वामीजी ने किञ्चित नैराश्य के स्वर में कहा कि मुझे कोई ऐसा व्यक्ति दृष्टिगोचर नहीं होता, जो मेरे हार्दिक भावों को पूर्णतया हृदयंगम कर, मेरे मन्तव्यों का प्रचार करने हेतु अपने आपको समर्पित कर दे। ऐसा प्रतिभावान् शिष्य मुझे कभी मिल भी सकेगा, इसकी मुझे आशा नहीं है। मेरी आशाएं तो आर्यसमाज के अनुयायियों पर टिकी हैं। वे ही मेरे विचारों के सफल संदेशवाहक बनेंगे और वैदिक विचार-धारा को दिगदिगन्त में फैलायेंगे।

स्वामी दयानन्द के जोधपुर प्रवास के चार मास तो निर्विघ्न निकले। अब पांचवें मास के आरम्भ में विघ्नबाधाओं का सूत्रपात प्रारम्भ हुआ। सर्वप्रथम १२ सितम्बर को कल्लू नामक कहार, जो भरतपुर निवासी जाट था और महाराज के साथ ही रहता था, उस रात्रि ५-६ सौ रुपयों का माल[४४] (रुपये, मोहरें और शाल) लेकर खिड़की के रास्ते भाग गया। यह सेवक महाराज का अत्यन्त विश्वसनीय तथा आज्ञानुवर्ती था, अतः इसी के द्वारा चोरी होना एक भावी षड्यंत्र का पूर्वाभ्यास सा प्रतीत होता था। सवेरे पुलिस को सूचित

किया गया। पुलिस कोतवाल कर्नल मुहीउद्दीन ने बहुत पूछताछ की, कुछ लोगों को संदेह में पकड़ भी लिया, किन्तु वास्तविक अपराधी हाथ नहीं आया। पुलिस वालों ने रामानन्द ब्रह्मचारी तथा स्वामीजी के लेखक द्वय—रामचन्द्र तथा देवदत्त के भी बयान लिये। यहां तक कि उन्होंने ब्रह्मचारी को तो हवालात में भी रखना चाहा, किन्तु महाराज के हस्तक्षेप करने से यह स्थिति नहीं आई।

ऐसा लगता है कि षड्यंत्रकारी लोग उनके प्राणहरण के लिये कृतसंकल्प थे। जिन सेवकों और प्रहरियों को महाराज की सेवा में नियुक्त किया गया था, वे इतने धूर्त तथा दुष्ट प्रकृति के थे, कि प्रत्यक्ष रूप में तो विनम्र होने का ढ़ोंग करते, किन्तु पीछे से वे लोग महाराज का उपहास करते।[४५] ये सारी परिस्थितियां स्वामीजी से छिपी नहीं थीं। उन्हें जोधपुरवासियों तथा उनके पाखण्डपूर्ण आचरण से ग्लानि हो गई थी। अब वे शीघ्र ही इस स्थान को छोड़ने का विचार करने लगे।[४६]

आश्विन कृष्णा एकादशी (२७ सितम्बर) को उन्हें जुकाम हो गया। अगले दिन भी अस्वस्थता बनी रही। २९ की रात्रि को नियमानुसार दुग्ध पान कर महाराज शय्यासीन हुए किन्तु मध्य रात्रि को ही तीव्र उदरशूल के कारण उनकी निद्रा भंग हो गई। महाराज उठ पड़े। जी मिचलाने लगा। तीन बार वमन भी हो गया। उन्होंने समीपवर्ती किसी शिष्य या सेवक को जगाना उचित नहीं समझा और स्वयं ही कुल्ला कर सो गये। ३० सितम्बर को उठने में विलम्ब हुआ। उठते ही पुनः वमन हुआ। स्वामीजी को अब संदेह हुआ कि निश्चय ही उन्हें विष दिया गया है। विष देने की घटनाएं जीवन में अनेक बार घटित हो चुकी थीं। ऐसी स्थिति में वे वमन द्वारा दूषित तत्त्व को बाहर निकाल कर स्वास्थ्य लाभ कर लेते थे। किन्तु इस बार तो महाराज की पुण्यकाया को समाप्त करने के लिये जिस भयंकर कालकूट विष का प्रयोग किया गया था, उसका दुर्दमनीय प्रभाव शरीर में सर्वत्र व्याप्त हो गया। इससे उनके इस संदेह को और भी बल मिला। अधिक वमन होने से शारीरिक दुर्बलता और कष्ट में वृद्धि हुई। अन्ततः रावराजा तेजसिंह को सूचित किया गया। निश्चय हुआ कि डा. सूरजमल को बुलाया जाय। डाक्टर ने आकर महाराज के रोग की स्थिति को देखा। ज्वर के साथ तीव्र उदरशूल तथा यकृतशोथ था। उसने अविलम्ब एक औषधि दी, जिससे ज्वर तो नहीं रहा, किन्तु उदर तथा यकृत की पीड़ा बनी रही।

३० सितम्बर को सायंकाल ४ बजे महाराज प्रतापसिंह को चारण ऊमरदान द्वारा स्वामीजी के अस्वस्थ होने का समाचार मिला। उन्होंने डा. अलीमर्दान खां[४७] को चिकित्सा हेतु भेजा। डा. अलीमर्दान बदायूं जिले का रहने वाला, अत्यन्त साधारण योग्यता का चिकित्सक था किन्तु चालाक, खुशामदी तथा धूर्त प्रकृति का होने के कारण राज्याधिकारियों में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था। वस्तुतः इसे महाराज की चिकित्सा के लिये नियुक्त करना ही एक भयंकर भूल थी। डाक्टर ने जो गोलियां खाने के लिये दीं, वे मात्रा से कहीं अधिक थीं।[४८] स्वामीजी को डा. अलीमर्दान की योग्यता तथा ईमानदारी पर पूर्ण विश्वास भी नहीं था, अतः गोलियां खाने के पूर्व उन्होंने डा. सूरजमल का मत जानना चाहा। डा. सूरजमल ने यह सोच कर कि अन्य डाक्टर की उपचार विधि में उसे हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, यह जानते हुए भी कि गोलियों की मात्रा अधिक है, उन्हें लेने का निषेध नहीं किया।

पं. लेखराम ने अक्टूबर मास के प्रथम सोलह दिनों तक महाराज के रोग की दशा का दैनिक विवरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

१ अक्टूबर, सोमवार (आश्विन अमावस्या)—डा. अलीमर्दान ने गिल्लास लगाया जिससे खांसी में कमी आई किन्तु शूल यथावत् रहा।

२ अक्टूबर—महाराज ने विरेचन औषधि लेनी चाही।

३ अक्टूबर—इस दिन डा. अलीमर्दान ने विरेचन औषधि की गोलियां बना कर भेज दीं, जिन्हें लेने से प्रातः ९ बजे तक तो दस्त नहीं हुआ, किन्तु बाद में बहुत दस्त हुए। रात्रि-पर्यन्त लगभग ३० दस्त हुए।

४ अक्टूबर—दस्तों की संख्या में कोई न्यूनता नहीं हुई। अधिक दस्त होने के कारण महाराज को मूर्छा होने लगी।

५ अक्टूबर—दस्तों की स्थिति यथावत् रही। निर्बलता इतनी बढ़ गई कि बिना चार पांच मनुष्यों की सहायता लिये करवट लेना तथा उठना, बैठना भी असम्भव हो गया।

६ से १६ अक्टूबर—स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। मुख, कण्ठ, जिह्वा, तालु और माथे पर छाले पड़ गये। उदरशूल, दस्त के साथ साथ हिचकियाँ भी आने लगीं। दस्तों को रोकने के लिये स्वामीजी दही तथा मट्ठा भी लेते रहे, किन्तु लाभ नहीं हुआ।

देश के महान् धर्माचार्य, समाज संस्कारक तथा नवयुगविधाता दयानन्द सरस्वती देश के एक निभृत कोने में पड़े जीवन एवं मृत्यु के बीच की स्थिति का अनुभव कर रहे हैं। आश्चर्य है कि देश के लोगों को इस पीड़ादायक समाचार का कुछ पता भी नहीं लगा था। आश्विन शुक्ला ११ सं. १९४० वि., १२ अक्टूबर १८८३ तक जोधपुर के बाहर के लोगों को महाराज के रुग्ण होने की कोई खबर तक नहीं मिली थी। इसी तिथि के 'राजपूताना गजट'[४४] नामक पत्र में स्वामीजी के रोग का समाचार प्रथम बार प्रकाशित हुआ। जब आर्य-समाज अजमेर के एक सभासद् की दृष्टि इस समाचार पर गई, तो उसने अन्य आर्य सदस्यों को सूचित किया। प्रथम तो किसी को महाराज के रुग्ण हो जाने का विश्वास भी नहीं हुआ, क्योंकि उनकी धारणा थी कि यदि सचमुच ही महाराज रोगी होते तो क्या अब तक इस समाचार को जानने के लिये तारों की झड़ी नहीं लग जाती? अन्ततः आर्यसमाज अजमेर के ही एक सभासद श्री जेठमल सोढ़ा[५०] को वस्तुस्थिति का ज्ञान करने के लिये जोधपुर भेजा गया। जब सोढ़ाजी जोधपुर पहुंचे और उन्होंने स्वामीजी की वज्र सदृश देह को रोगाक्रान्त होकर जीर्ण शीर्ण अवस्था में देखा तो शोक संविग्न होकर बोले—"महाराज, आपने अपने अस्वस्थ होने की सूचना तक हमें नहीं दी।" स्वामीजी का इतना ही उत्तर था—"**सोढ़ाजी! यह तो शरीर का धर्म है। शरीर का दुखी सुखी होना स्वाभाविक ही है। यदि मैं आप अथवा अन्यों को सूचित करता तो आप को दुख के अतिरिक्त और क्या होता?**" जेठमल सोढ़ा ने स्वामीजी की रुग्णता का समाचार मेरठ, फर्रूखाबाद, बम्बई तथा लाहौर की आर्यसमाजों को तार द्वारा भेज दिया। फलतः विभिन्न स्थानों के आर्य पुरुषों ने स्वामीजी के स्वास्थ्य-समाचार जानने के लिये जवाबी तार भेजने आरम्भ किये।

स्वामीजी की मृत्यु स्वाभाविक रीति से नहीं हुई थी, इतना तो निश्चित है। उन्हें विष दिया गया था, इसमें भी संदेह करने का कोई कारण नहीं है। परन्तु आश्चर्य और खेद इस बात का है कि राजकीय अतिथि होने पर भी उनकी चिकित्सा में थोड़ी भी तत्परता प्रदर्शित नहीं की गई। अपितु जिन लोगों ने आग्रह एवं विनयपूर्वक उन्हें जोधपुर में आमन्त्रित किया था, उन्होंने ही उनकी चिकित्सा कराने में घोर प्रमादी तथा अनुत्तरदायी होने का प्रमाण दिया। रावराजा तेजसिंह तो महाराज की सेवा में यदा कदा आते रहे, किन्तु जोधपुर नरेश जसवन्तसिंह तथा उनके अनुज महाराजा प्रतापसिंह स्वामीजी के स्वास्थ्य समाचारों को जानने के लिये एक बार भी उपस्थित नहीं हुए।[५१] यह ध्यातव्य है कि महाराज प्रतापसिंह ने ही आग्रहपूर्वक स्वामीजी को जोधपुर बुलाया था। इतना ही नहीं, यह जानते हुए भी कि स्वामीजी अलीमर्दान की चिकित्सा से न तो संतुष्ट ही हैं और न उनके उपचार से उन्हें यथेष्ट लाभ ही हो रहा है, उसकी चिकित्सा को निर्बाध रूप से चलते रहने दिया गया और यह धूर्त एवं कुचक्री व्यक्ति महाराज की पुण्यदेह को अधिकाधिक निःसत्व बनाने में सफल होता गया।

निश्चय ही जोधपुर में स्वामी दयानन्द एक भयंकर तथा निर्मम षड्यंत्र के शिकार हुए थे। इस षड्यंत्र की रचना अत्यन्त कुशलता के साथ की गई थी। इसमें जहाँ नन्ही भगतन, मियां फैजुल्ला खां आदि वे व्यक्ति थे जो स्वामीजी के जोधपुर राज्य में निरन्तर वृद्धिगत प्रभाव को देख कर ईर्ष्याग्नि के शिकार हो रहे थे, वहां साम्प्रदायिक भावापन्न वल्लभ मतानुयायी[५२] एवं चक्रांकित वैष्णवों का एक वर्ग भी इसमें सम्मिलित रहा होगा। इन लोगों ने प्रथम रसोइये द्वारा महाराज को दूध में विष देने और उसके पश्चात् डा. अलीमर्दान के द्वारा उपचार को बिगाड़ने का षड्यंत्र किया हो तो भी कोई आश्चर्य नहीं। स्वामीजी के सभी जीवनी लेखकों का यह मत है कि महाराज को विष तो दिया ही गया था, पुनः उनकी चिकित्सा में जानबूझ कर प्रमाद किया गया।[५३] इसके लिये जोधपुर के राज्याधिकारी भी कम उत्तरदायी नहीं ठहरते। डा. सूरजमल की चिकित्सा को अप्रत्याशित रूप से बंद कर अलीमर्दान जैसे अयोग्य और गैर जिम्मेदार व्यक्ति के हाथों महाप्राण दयानन्द के रुग्ण शरीर को छोड़ देना अक्षम्य अपराध माना जायगा। डा. सूरजमल ने तो देवेन्द्र बाबू के समक्ष स्वीकार किया था कि अधिक संख्या में दस्त आने तथा शरीर पर छाले पड़ जाने का कारण औषधि में मात्रा से अधिक कैलोमेल (Calomel) नामक तत्त्व का रहना था, और यह कार्य अलीमर्दान ने ही किया। डा. सूरजमल इस दृष्टि से अपराधी ठहरते हैं कि उन्होंने यह जानते हुए भी कि चिकित्सा में लापरवाही बरती जा रही है, न तो स्वयं हस्तक्षेप किया और न रोगी (स्वामीजी) को ही सावधान किया।[५५]

ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामीजी को अपनी आसन्न मृत्यु का आभास हो गया था। वे सम्भवतः जान गये थे कि यह पाञ्चभौतिक शरीर अब अधिक टिकने वाला नहीं है। उन्हें यह भी निश्चय हो गया था कि वे किसी भयंकर एवं कुटिल षड्यंत्र के शिकार हो गये हैं। अब उन्होंने अपने आपको अनिर्दिष्ट अदृष्ट पर छोड़ दिया। शायद वे यह भी सोचने लगे थे कि घटनाचक्र जिस गति से घूम रहा है, उससें उबरना सम्भव नहीं है। यही सोचकर उन्होंने सब कुछ सर्वशक्तिमान् परमात्मा की इच्छा पर ही छोड़ दिया था।

१५ अक्टूबर के स्वामीजी को बीमार हुए दो सप्ताह व्यतीत हो गये। उनके शरीर की दशा जिस तेजी से बिगड़ रही थी, उसे देखते हुए डा. अलीमर्दान को भी भय लगा कि यदि कहीं स्वामीजी का देहपात जोधपुर में ही हो गया, तो उपचार में प्रमाद करने का घोर कलंक उस पर ही लगाया जायगा। फलतः उसने प्रस्ताव किया कि स्वामीजी को आबू शिखर के शीतप्रधान वातावरण में ले जाना चाहिए। रेजिडेन्सी के डाक्टर एडम[५६] को भी बुलाकर महाराज को दिखाया गया। उसकी भी सम्मति थी कि रोगी को आबू ले जाना ही उचित होगा। अन्ततः उन्हें आबू ले जाने का निर्णय हुआ और आबू पर्वत पर जोधपुर के राजकीय आवास में उन्हें ठहराने की समुचित व्यवस्था हेतु अग्रिम सूचना भेज दी गई।

आश्विन पूर्णिमा, १९४० वि. १६ अक्टूबर, मंगलवार—आज महाराज का जोधपुर से प्रस्थान का दिन है। मध्याह्नोत्तर स्वामीजी को विदा करने हेतु महाराजा जसवन्तसिंह, कर्नल प्रतापसिंह तथा रावराजा तेजसिंह आदि राज पुरुष आये। महाराजा ने स्वामीजी की रुग्णावस्था को देख कर अत्यन्त खेद व्यक्त किया और उनके शीघ्र स्वस्थ होने की कामना की। पुनः वेदभाष्य हेतु २००० रु. तथा उपहार रूप में दो रेशमी परिधान महाराज को भेंट किये।

□□

पाद टिप्पणियाँ

१. शाहपुरा के राजाधिराज नाहरसिंह (जन्म—कार्तिक कृष्णा १३, वि. सं. १९१२, मृत्यु-आषाढ़ कृष्णा ६, शुक्रवार वि. सं. १९८९) स्वामी दयानन्द के प्रगाढ़ भक्त तथा शिष्य थे। ज्येष्ठ शुक्ला १३, शनिवार वि. सं. १९२६ को ये शाहपुरा की गद्दी पर विरामान हुए। स्वामीजी के विचारों से प्रभावित होकर उन्होंने अपने छोटे से राज्य में अनेक आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक सुधार किये। (आर्थिक विषयों में भी स्वामीजी की दृष्टि कितनी सतर्क थी इसका उदाहरण राजाधिराज के नाम २६ अप्रैल १८८३ को भेजे उनके उस संक्षिप्त पत्र से मिलता है जिस में राज्य में कृषि हेतु खुदाई जाने वाली नहर की चौड़ाई तथा ऊँचाई के सम्बन्ध में उन्होंने स्वमत व्यक्त किया था)—(द्रष्टव्य पत्र व्यवहार पृ. ४०८ द्वितीय संस्करण)। युवराज उम्मेदसिंह तथा पौत्र सुदर्शन देव को वैदिक संस्कारों से दीक्षित किया तथा अपने राज्य में वैदिकधर्म प्रचार के लिये राजकीय सहायता उपलब्ध कराई। दिसम्बर १८९३ में इन्हें परोपकारिणी सभा के प्रधान पद के लिये निर्वाचित किया गया। इस पद पर वे जीवन पर्यन्त रहे।

२. रामस्नेही सम्प्रदाय की दो शाखाएँ हैं। राजस्थान के नागौर जिले के खेड़ापा गाव में जिस शाखा का मुख्यालय है उसकी स्थापना रामदास ने की थी, जब कि शाहपुरा स्थित रामस्नेही सम्प्रदाय की गद्दी के संस्थापक जयपुर राज्य में जन्मे रामचरण नामक एक वैश्य थे। स्वामीजी ने रामस्नेही सम्प्रदाय की मान्यताओं का खण्डन सत्यार्थप्रकाश के ११ वें समुल्लास में किया है।

३. प्रासङ्गिक सूत्र थे—भ्राजभासधुविधुसोर्जिपजुग्रावस्तुवः क्विप् ३।२।१७७ तथा जीविकार्थे चापण्ये ५।३।९९ ।

४. महाराजा (सर) जसवन्तसिंह—(जन्म—आश्विन शुक्ला ८, वि. सं. १८९४, मृत्यु—कार्तिक कृष्णा ८. वि. सं. १९५२) जोधपुर नरेश महाराजा तख्तसिंह के सबसे बड़े पुत्र थे। फाल्गुन शुक्ला ३, १९२९ वि. को जोधपुर के राजसिंहासन पर बैठे। इन्हीं के राज्य-काल में स्वामीजी को जोधपुर बुलाया गया था।

५. स्वामीजी की धारणा थी कि पिता के गुणावगुण पुत्र में भी आ जाते हैं। महाराजा जसवन्तसिंह के पिता तख्तसिंह के एकाधिक रानियाँ थीं। इसी बात को ध्यान के रखते हुए उन्होंने 'प्रसिद्ध समाचार' शीर्षक एक पत्र में महाराजा को लिखा था—"बड़े महाराजा जो कि श्रीमानों के पिता थे, यदि वे बहुविवाह, पासवान (रखैल) और वेश्या आदि को न रखते तो आप लोग भी कभी ऐसा काम न करते।"—पत्र व्यवहार पृ. ४६४ (द्वितीय संस्करण २०१२ वि.)

६. कर्नल महाराज (सर) प्रतापसिंह—(२१ अक्टूबर १८५५ ई.—४ सितम्बर १९२२ ई.) जोधपुर नरेश महाराजा तख्तसिंह के द्वितीय पुत्र महाराज प्रतापसिंह अपने युग के नीतिज्ञ, वीर तथा साहसी राजपुरुष थे। १८७८ ई. में ये अपने अग्रज महाराजा जसवन्तसिंह के राजत्व काल में मुसाहिब आला (प्रधानमन्त्री) के पद पर नियुक्त हुए। स्वामी दयानन्द की उदार, प्रगतिशील तथा असाम्प्रदायिक शिक्षाओं से अत्यन्त प्रभावित होकर उनके भक्त बन गये थे। स्वामीजी के निधन के पश्चात् भी इन्होंने जोधपुर राज्य में आर्यसमाज के प्रचार के लिये महत् उद्योग किया। स्वामी भास्करानन्द को १८८८ ई. में धर्म प्रचारार्थ इंगलैण्ड तथा अमेरिका में राजकीय सहायता से प्रतापसिंह ने ही भेजा था। डी. ए. वी. कालेज लाहौर के भवन का शिलान्यास इन्हीं के द्वारा सम्पन्न हुआ था और कालेज कोष में इन्होंने राज्य से १०,००० रु. का अनुदान दिलवाया। सर प्रताप के काल में आर्यसमाज जोधपुर राज्य के एक सरकारी विभाग के रूप में कार्य करता था और अनेक उपदेशक राज्य व्यय से प्रचार कार्य में रत थे। परम्परागत रूप से मांसाहारी होने के कारण सर प्रताप ने कालान्तर में आर्यसमाज में मांसभक्षण के पक्षपोषकों को संरक्षण प्रदान किया तथा पं. लालचन्द्र विद्याभास्कर, पं. देवीचन्द्र आदि जोधपुरस्थ पण्डितों से मांस भक्षण के समर्थन में अनेक पुस्तकें लिखवाईं। स्वामी प्रकाशानन्द, स्वामी भास्करानन्द तथा स्वामी अच्युतानन्द आदि संन्यासियों से इनका सौहार्दभाव था, किन्तु यह स्मरणीय है कि ये संन्यासी भी सर प्रताप के प्रभाव में आकर मांसाहार के पक्षपोषक बन गये थे।

७. इसी अभिप्राय को व्यक्त करने वाला भर्तृहरि का निम्न श्लोक महाराज को अत्यन्त प्रिय था और इसे ही उन्होंने अपने जीवन का निर्देशक सिद्धान्त बना लिया था—

निन्दन्तु नीति निपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥ नीति शतक ८४ ॥

८. यह राशि उदयपुर राज्य में प्रचलित चित्तौड़ी मुद्रा के २०० रु. के बराबर थी।

९. शाहपुराधीश द्वारा प्रदत्त अभिनन्दन पत्र इस प्रकार था—स्वस्ति श्री सर्वोपकारणार्थं कारुणिक परमहंस परिव्राजकार्य श्रीमद्दयानन्द सरस्वतीजी महाराज के चरणारविंदों में राजाधिराज शाहापुरेश की बारम्बार नमस्तेऽस्तु।

अपरञ्च, यहाँ आपका विराजना सार्द्ध द्वय मासपर्यन्त हुआ। तथापि आपके सत्य धर्मोपदेश के श्रवण से मेरी आत्मा तृप्त न हुई। आशा थी कि आप ग्रीष्मान्त अत्र स्थित होते, परन्तु जोधपुराधीशों की ओर से दर्शनों की और वेदोक्त धर्म उपदेश ग्रहण की, पुनः सत्याचरण, असत्य का त्याग और आपके मुखारविंद से श्रवण करने की अभिलाषा देख के, आपने वहाँ पधारना स्वीकार किया और भवच्छरीर भी क्रोड़ों मनुष्यों के उपकारार्थ प्रकट हुआ है, यह समझ के मेरी भी सम्मति यही हुई कि आपका पधारना ही उत्तम है। यही समझ के यहां विराजने की प्रार्थना नहीं की। आशा है कि कृतकृत्य करने के निमित्त पुनरागमन करेंगे।

सं. १९४० मिति ज्येष्ठ कृष्णा ४, हस्ताक्षर नाहरसिंहस्य

१०. शाहपुरा में स्वामीजी के प्रवास का विवरण भारत सुदशा प्रवर्त्तक के अगस्त १८८६ के अंक में प्रकाशित हुआ था। इसी राज्य के राजपण्डित यमुनादत्त षट्शास्त्री ने स्वरचित 'वीरतरंगरंग' नाम्नक संस्कृत काव्य (१९८१ वि. में लिखित व प्रकाशित) में स्वामीजी के यहां निवास करने का काव्य बद्ध विवरण चार श्लोकों में दिया है।

११. ये उस समय खानदेश (महाराष्ट्र) में सहायक कलेक्टर के पद पर कार्यरत थे।

१२. जोधपुर आने का निमंत्रण पत्र महाराजा जसवन्तसिंह के परामर्श तथा आदेश से महाराज प्रतापसिंह तथा रावराजा तेजसिंह ने भेजा था। इस सम्बन्ध में उन्हें एक पत्र मुन्शी दामोदरदास से भी मिला था।

१३. अजमेर निवासी लाला शिवप्रसाद ने अपनी दैनिक डायरी में अंकित किया—"आप (स्वामीजी) जोधपुर पधारने वाले हैं। स्टेशन पर आये, साढ़े दस बजे थे। रेल में विलम्ब था। वहाँ पर एक दक्षिणी भाई (लक्ष्मणराव देशमुख) मिले, ये स्वामी से योग सीखने आये हैं। यहां पर विभिन्न चर्चा रही। बारह बजे दूसरी श्रेणी के डिब्बे में चढ़ गये।" पं. लेखराम संगृहीत जीवनचरित में पृ. ६१२ पर उद्धृत

१४ पं. घासीराम रचित जीवनचरित में यह नाम 'नवलदान' छपा है जो गलत है। चारण सांवलदान ही स्वामीजी को लेने भेजे गये थे। जोधपुर राज्य के राजकीय विवरणों (हकीकत बही) में एक उल्लेख मिलता है—"सनीयासी दयानन्द सरसतीजी अठै आवणू है। तिण सामा बारठ सांवलदान ने पाली तांई भेजियो। साथे जाब्ता रा घोड़ा ने रथ हाथी वगैरा ने परबारी खुराक रा रु. २०० दिरीजिया।" (यह विवरण राजस्थानी भाषा में है।)

१५. मुन्शी दामोदरदास सांधी गोत्र के अग्रवाल वैश्य थे। ये राज्य में कानून के अध्यापक थे। इनके वंशज जोधपुर तथा राजस्थान के भिन्न भिन्न नगरों में व्यापार रत हैं तथा अत्यन्त सम्पन्न हैं। इनकी मृत्यु सत्तर वर्ष की आयु में १९३२ ई. में (आनुमानिक) हुई।

१६. पाली और जोधपुर के बीच में स्थित यह गांव जोधपुर से २० मील पहले आता है।

१७. इस सम्बन्ध में राजकीय विवरण में यह लिखा मिलता है—जेठ बद ११ शुक्रवार मु. राई का बाग (ऐसा प्रतीत होता है कि राज की बही में यह विवरण स्वामीजी के जोधपुर पहुँचने के दूसरे दिन अंकित किया गया था)

"पंडीत दयानन्द सरसती जी आज अठे आया। तिणा सामा महाराज श्री प्रतापसिंह जी ने रावराजा तेजसिंहजी गया। सुं लेने आया। डेरो खां फैजुल्ला खां रे बाग में दिरायो। ने कोठार सूं पेटिया सरु हुआ।" अर्थात् पण्डित दयानन्द सरस्वती आज यहां आये। उनके स्वागत हेतु महाराज श्री प्रतापसिंह जी और रावराजा तेजसिंहजी गये। वे उन्हें लेकर आये। उनके निवास की व्यवस्था खां फैजुल्ला खां के बगा में की गई। भोजन की व्यवस्था राजकीय रसद विभाग से हुई।

१८. रावराजा तेजसिंह (१६ फरवरी १८५७-१६ नवम्बर १९२५ ई.) जोधपुर नरेश महाराजा तख्तसिंह के अनौरस पुत्र (रखैल से उत्पन्न) थे। आर्यसमाज प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द को जोधपुर आमंत्रित करने में कर्नल प्रताप के पश्चात् आपकी ही प्रमुख भूमिका थी। रावराजा महोदय स्वामीजी के दिवंगत होने के पश्चात् भी आर्यसमाज के कार्यों में रुचि लेते रहे। आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान के वे प्रधान भी रहे थे।

१९. पं. लेखराम, स्वामी सत्यानन्द तथा पं. घासीराम रचित जीवनचरितों में उल्लेख है कि स्वामीजी के जोधपुर पहुँचने के सत्रहवें दिन महाराजा जसवन्तसिंह ने उनसे भेंट की थी, किन्तु मुन्शी दामोदरदास द्वारा फर्रुखाबाद के बाबू दुर्गाप्रसाद को दि. २७ जून १८८३ को लिखे गये उर्दू पत्र से यह स्पष्ट विदित होता है कि महाराजा २६ जून को स्वामीजी से मिलने उनके निवास स्थान पर गये थे। इस दिन आषाढ़ मास के कृष्ण पक्ष की सप्तमी तिथि तथा मंगलवार था। यही उल्लेख राज्य की हकीकत बही में इस प्रकार मिलता है—"अषाढ़बद ६. भोमवार मु. राई का वाग। श्री जी साहब री असवारी राई का बाग सूं बगी असवार हुय ने नीम सामा आसरे पंडित दयानन्द सरसतीजी कने पधारिया। सूं बगी सू उतर मांय पण्डित जी रो रहणो है जठे पधारिया। सूं श्री जी साहब पधारिया तो पण्डित जी उठ ऊभा हुआ। श्री जी साहब नमस्कार करने हाथ में रु. पच्चीस था सुं उणा कने धर दिया। घड़ीक उठे बिराजिया। महाराज श्री परताप सिंह जी साहब, रावराज तेजसिंहजी साथे हा। पछे उठासूं असवारी हुई सु राई का बाग पधारी।" अर्थात्-आषाढ़ कृष्णा ६, मंगलवार स्थान राई का बाग (राज महल) महाराजा साहब राई का बाग से बग्घी में सवार होकर गोधूलि वेला में (सूर्यास्त के समय) पं. दयानन्द सरस्वती के निकट गये। वहां पहुँच कर बग्घी से उतरे और भीतर, जहां पण्डित जी का निवास है, वहां पधारे। जब महाराजा साहब आये तो पण्डितजी (उनके सम्मानार्थ) उठ खड़े हुए। महाराजा साहब ने नमस्कार कर, जो हाथ में २५ रु. थे, वे उनके समीप (भेंट रूप में) रख दिये। लगभग ३ घण्टे तक वहां रहे। महाराज प्रतापसिंह तथा रावराजा तेजसिंह साथ थे। पुनः वहां से राई का बाग लौट आये।

२०. पं. लेखराम तथा पं. घासीराम के अनुसार महाराजा ने पांच मोहरें तथा १०० रु भेंट स्वरूप स्वामीजी को अर्पित किये थे। किन्तु मुन्शी दामोदरदास के उर्दू पत्र (पत्र व्यवहार पृ. ४३३) से ज्ञात होता है कि पांच अशर्फी (स्वर्ण मुद्राएं) तथा पच्चीस रुपये

ही भेंट किये गये थे। हकीकत बही में तो मात्र २५ रु भेंट करने का ही उल्लेख मिलता है।

२१. इस सम्बन्ध में मारवाड़ गजट (जोधपुर राज्य का राजपत्र) के ४ जून १८८३ के अंक में यह सूचना प्रकाशित हुई थी—"स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज जेठ बद १० ने जोधपुर आया। खां फैजुल्ला खां जी रे बाग में उतरिया। रातरा ६ बजे सू लेने ८ बजे ताई लोगां ने व्याख्यान सुणावे है। बहुत आदमी सवाल करे है।" अर्थात् स्वामी दयानन्द सरस्वती जेष्ठ कृष्णा १० को जोधपुर आये तथा फैजुल्ला खां के बाग में ठहरे। वे रात को ६ बजे से ८ बजे तक लोगों को व्याख्यान सुनाते हैं। बहुत लोग प्रश्न भी पूछते हैं।

२२. नन्ही भगतन महाराजा जसवन्तसिंह की रखैल थी। यह वैष्णव मतावलम्बिनी थी। जोधपुर के उदयमंदिर मुहल्ले में इसने एक विशाल विष्णु मंदिर बनवाया था। महाराजा जसवन्तसिंह के पास आने से पूर्व वह जूनागढ़ (सौराष्ट्र) के किसी मुसलमान शाहजादे के पास रही। २२-२३ वर्ष की अवस्था में ही यह जोधपुर आ गई और मृत्यु पर्यन्त (२३ अगस्त १९०९, वि. सं. १९५२) यहीं रही। जोधपुर नरेश इसे बहुत मानते थे तथा राज्य में इसका आदेश सम्राट जहांगीर की साम्राज्ञी नूरजहां की भांति ही चलता था। यह पर्दा नहीं करती थी तथा राज कार्यों में पूरा दखल रखती थी। नन्ही की मृत्यु के पश्चात् इसकी सारी सम्पत्ति जब्त कर ली गई जिससे राज्य को एक लाख से भी अधिक की राशि प्राप्त हुई थी। (विवरण—स्व. ठा. जगदीशसिंह गहलोत के सौजन्य से)

२३. ऋषि दयानन्द के पत्र एवं विज्ञापन पृ. ४३० द्वितीय संस्करण।

२४. स्वामी गणेशपुरी—(मृत्यु १९६६ वि.) नागौर जिले के मेड़ता उपमण्डल के चारणावास ग्राम वासी बारठ (चारण) पातावत पदम जी जगरामोत के पुत्र थे। इनका मूल नाम गुलाबदान था, परन्तु संन्यास लेने के पश्चात् इन्होंने अपना नाम 'गणेशपुरी' रख लिया। नन्ही भगतन इन्हें गुरुतुल्य आदर देती थी। जोधपुर आने से पूर्व ये सम्भवतः उदयपुर भी रहे थे। स्वामीजी ने १५ अगस्त १८८३ को उदयपुर नरेश को लिखे अपने पत्र में महाराणा को गणेशपुरी के संग से बचने को लिखा था। (पत्र व्यवहार पृ. ४४९) गणेशपुरी अत्यन्त धूर्त, कुचक्री तथा दुष्ट प्रकृति का था। वह काव्य रचना भी करता था।

२५. मेहता विजयसिंह-(जन्म पौष कृष्णा ५, १८७३ वि. सोमवार, मृत्यु भाद्रपद कृष्णा १२. १९४९ वि.) ओसवाल वैश्य मोहणोत कुलोत्पन्न मेहता विजयसिंह जोधपुर राज्य के कई ऊंचे पदों पर रहे थे। जन्मना जैन होने पर भी मेहताजी रामानुज सम्प्रदायानुयायी वैष्णव थे। जोधपुर में फतहसागर तालाब पर स्थित रामानुज कोट मंदिर की व्यवस्था आज भी इन्हीं के वंशजों के जिम्मे है।

२६. पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः। अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते श्रृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत॥ ऋग्वेद ९।८३।१ तुलनीय सत्यार्थप्रकाश—एकादश समुल्लास में उपर्युक्त मंत्र का वास्तविक अर्थ।

२७. अहं ब्रह्मास्मि (बृहदारण्यक उपनिषद् १।४।१०), तत्त्वमसि (छान्दोग्य उप० ६।८।७, अयमात्मा ब्रह्म (माण्डूक्य उप०) तथा प्रज्ञानं ब्रह्म (एतरेय उप० ५।३ इन चार उपनिषद् वाक्यों को नवीन वेदान्त में 'महावाक्य' माना गया है।

स्वामी दयानन्द ने संदर्भ से हटा कर इनका अर्थ करने के लिये नवीन वेदान्तियों को आलोचना की है तथा इनके प्रकरणगत अर्थ को भी स्पष्ट किया है। द्रष्टव्य—सत्यार्थ-प्रकाश सप्तम समुल्लास।

२८. महाराज प्रतापसिंह तो यहां तक कहते थे कि यदि मैं स्वामीजी के सत्संग में १९४० वि. में नहीं आता, तो सम्भवतः स्वधर्म त्याग कर ईसाई बन जाता।

२९. स्वामीजी ने महाराजा के नाम लिखे अपने पत्रों में इन दुर्व्यसनों को छोड़ने की बार बार प्रेरणा की थी। यथा 'प्रसिद्ध समाचार' शीर्षक अपने उपदेशात्मक पत्र में उन्होंने लिखा—"वेश्या, मद्यपान, चौपड़, कनकौवे आदि में व्यर्थ काल खोना और खुशामदी लोगों का संग राजाओं के लिये महाविघ्नकारक, धन, आयु, कीर्ति और राज्य के नाश करने वाले होते हैं।" (पत्र व्यवहार पृ. ४६४)

३०. पं. लेखराम रचित जीवनचरित पृ. ९०८

३१. चारण नवलदान रावराजा तेजसिंह के सेवक थे। इनके भाई कविवर ऊमरदान ने कर्नल प्रतापसिंह से स्वामीजी को जोधपुर में आमंत्रित करने के लिये निवेदन किया था। ऊमरदान (जन्म-वैशाख शुक्ला ३. शनिवार १९०२ वि. मृत्यु-फाल्गुन शुक्ला १३, बुधवार १९६० वि.) जोधपुर जिले के उपमण्डल फलोदी के अन्तर्गत ढ़ाढरवाड़ा ग्राम निवासी लालस गोत्र के चारण थे। प्रारम्भ में ये रामस्नेही सम्प्रदाय की ओर आकृष्ट हुए किन्तु इस सम्प्रदाय में विद्यमान दुराचार, अनाचार तथा पाखण्ड को देख कर उनका मन उधर से हट गया। कालान्तर में ये स्वामी दयानन्द के व्यक्तित्व तथा उनकी शिक्षाओं से प्रभावित हुए। इनकी कविता राजस्थानी भाषा की पुरातन डिंगल शैली में लिखी गई है जो अत्यन्त प्रभावोत्पादक, ओजस्विनी तथा मार्मिक है। स्वामी दयानन्द के निधन पर इन्होंने डिंगल काव्य में उन्हें श्रद्धाञ्जलि अर्पित की थी। कविवर ऊमरदान के व्यक्तित्व तथा काव्य के लिये द्रष्टव्य-जगदीशसिंह गहलोत द्वारा सम्पादित 'ऊमरकाव्य'।

३२. जोधपुर राज्य का तोल ब्रिटिश तोल से कुछ अधिक था।

३३. पान खाने के सम्बन्ध में रावराजा तेजसिंह ने दयानन्द जन्म शताब्दी समारोह मथुरा के अवसर पर १८ फरवरी १९२५ को कहा था—"स्वामीजी पान नहीं खाते थे। हां, पान पर रख कर ब्राह्मी बूटी खाते थे। हमको भी कई बार खिलाई थी। इस औषधि को ही पान बताया जा रहा है।"—श्रीमद्दयानन्द जन्म शताब्दी वृत्तान्त-डा. केशवदेव शास्त्री द्वारा सम्पादित पृ. २१३

३४. सत्यार्थप्रकाश की ही भांति संस्कारविधि का संशोधित द्वितीय संस्करण भी उस समय वैदिक यंत्रालय में मुद्रणाधीन था। ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास—युधिष्ठिर मीमांसक पृ. ८५

३५. डा. सूरजमल ने देवेन्द्रनाथ से स्वामीजी के रुग्ण हो जाने के कारण के सम्बन्ध में एक मत व्यक्त करते हुए कहा था कि आमों के अधिक मात्रा में खाने से यकृत के बिगड़

जाने की सम्भावना हो सकती है। परन्तु पं. घासीराम ने इस आशंका का निराकरण करते हुए स्पष्ट कर दिया था कि आमों के अधिक मात्रा में खाने से यकृत में इतना विकार नहीं हो सकता था और आंतों के शोथ तथा शूल का तो कारण आम हो ही नहीं सकते थे। जीवनचरित भाग २ पृ. ३४२

३६. नगर के बीचोबीच पहाड़ी पर स्थित मेहरानगढ़ दुर्ग।

३७. ध्यातव्य है कि उस समय तक महाराज प्रतापसिंह मुसलमानी सभ्यता के प्रभाव वश दाढ़ी रखते थे। किन्तु बाद में यूरोपीय सभ्यता के अनुकरण पर उन्होंने दाढ़ी मूंछें रखना बंद कर दिया था। इसी बात को लक्ष्य में रख कर किसी चारण कवि ने व्यंग्य-पूर्वक एक दोहा कहा था—

दाढ़ी मूंछ मुण्डाय कर सिर पर धरिया टोप।
तख्तेश के प्रतापसिंह थांरे बाकी घटे लँगोट॥

अर्थात् दाढ़ी मूंछों को मुंडा कर तुमने सिर पर टोप पहन लिया है। हे तख्तसिंह के पुत्र प्रतापसिंह, अब तो लंगोटी पहनना ही बचा है।

३८. १२ अगस्त १८८३ को जोधपुर राज्य के प्रधान मंत्री के अधिकार से आपने देशी राज्यों में सर्व प्रथम हिन्दी (देवनागरी लिपि) को राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया। "कहते हैं कि एक दिन अर्जियां सुनते समय उर्दू की ५०-६० अर्जियां आपने फड़वा डालीं। उस रोज से जोधपुर राज्य में सब काम हिन्दी में होने लगा।" देश गौरव महाराजाधिराज सर कर्नल प्रतापसिंह—ले. जगदीशनारायणसिंह गहलोत—स्टार बुक डिपो, प्रयाग से १९७५ वि. में प्रकाशित पृ. ९

३९. ज्येष्ठ कृष्णा ४, १९४१ वि. को महाराज प्रतापसिंह ने एक आदेश जारी किया जिसके अनुसार राजकर्मचारियों के लिये खादी पहनना अनिवार्य कर दिया गया था। नागौर जिले के मारोठ ग्राम में बनाई जाने वाली मोटी खादी, जिसे वहां रेजा कहा जाता है, सैनिकों की पोशाक के काम में लाई जाने लगी।

४०. 'स्वामीजी जब जोधपुर में थे तब रात्रि को पांच बजे प्राणायाम के लिये ऐसे जंगल में चले जाया करते, जहां कि बहुत से जंगली जानवर रहते थे। इस पर महाराजा स्वामीजी के साथ रिसाला भेजने का प्रबंध करने लगे, किन्तु स्वामीजी ने निषेध कर दिया।' रावराजा तेजसिंह का मथुरा में बयान। श्रीमद्दयानन्द जन्म शताब्दी वृत्तान्त पृ. २१३ डा. केशवदेव शास्त्री द्वारा सम्पादित।

४१. पं. लेखराम रचित जीवनचरित पृ. ९१२

४२. पं. घासीराम रचित जीवनचरित भाग २ पृ. ३२७

४३. स्वामी दयानन्द ने बारहट कृष्णसिंह को ५ अगस्त १८८३ को जोधपुर से लिखे पत्र में सूचित किया था—"महाराज का स्वभाव अत्युत्तम है, परन्तु संग दोष ने कुछ का कुछ स्वभाव को कर रक्खा है। अब तक मद्यपान, वेश्यासंग, खेल, हांसी ठट्ठा, छुकरपन सम्पूर्ण नहीं छूटे हैं।" (पत्र व्यवहार पृ. ४४७) बारहट कृष्णसिंह सौदा कुलोत्पन्न चारण थे। इनका जन्म फाल्गुन शुक्ला २ सं. १९०६ वि. में शाहपुरा राज्य के देवपुरा ग्राम (बारहट जी का खेड़ा) में हुआ था। ये वंश परम्परा से इस ग्राम के स्वामी

जागीरदार थे। शाहपुरा राज्य में ये राजस्व विभाग के अधीक्षक पद पर रहे। बाद में महाराणा उदपुर ने इन्हें योग्य जानकर अपने पास बुला लिया और परामर्शदाता तथा मंत्री बनाया। १९५१ वि. में ये कार्यवश जोधपुर गये तो महाराजा जसवन्तसिंह ने इनकी योग्यता से प्रभावित होकर जोधपुर ही रहने का अनुरोध किया। २४ जनवरी १९०८ को जोधपुर में ही इनका निधन हुआ। ये गम्भीर विद्वान्, नाना भाषाविज्ञ तथा इतिहास के प्रौढ़ विद्वान् थे। स्वामी दयानन्द से इनका स्नेह सम्बन्ध था, जो पारस्परिक पत्राचार से विदित होता है।

४४. श्री कमलनयन मंत्री आर्यसमाज अजमेर को लिखे १३ सितम्बर १८८३ के पत्र से ज्ञात होता है कि यह माल ५५० रू. मूल्य का था।

४५. पहरेदारों की लापरवाही का एक उदाहरण जीवनचरित लेखकों ने दिया है। जिस कोठी में स्वामीजी ठहरे हुए थे, उसी की पहली मञ्जिल के दालान में एक अन्य पं. शिवदान (नारलाई—जिला पाली निवासी) ठहरे हुए थे। एक दिन महाराजा की पट्टमहिषी ने उनके लिये सेविकाओं के हाथ कुछ फल भेजे। ये स्त्रियाँ अनजाने में उसी कमरे के समीप आ गई जहां स्वामीजी भोजनोपरान्त विश्राम कर रहे थे। जब स्वामीजी ने बांदियों को देखा तो उन्हें यह जानकर बड़ा क्रोध आया कि प्रहरियों के प्रमाद के कारण ही स्त्रियाँ वहाँ तक पहुंच पाई हैं। इसके पश्चात् उन्होंने अधिकारियों को कहकर प्रहरी बदलवाये।

४६. स्वामी दयानन्द के पत्र व्यवहार का अध्ययन करने से यह पक्का निश्चय हो जाता है कि उन्होंने १ सितम्बर १८८३ को ही जोधपुर से प्रस्थान करने का निश्चय कर सिया था। मसूदा निवासी छगनलाल शास्त्री तथा वृद्धिचन्द्र श्रीमाली को २४ सितम्बर १८८३ को पत्र लिखकर उन्होंने सूचित कर दिया था कि वे उक्त तिथि को जोधपुर से चल पड़ेंगे। उनका विचार जोधपुर से मसूदा जाने का था, जैसा कि उन्होंने उदयपुर के कृष्णसिंह बारहट को २६ सितम्बर १८८३ को लिखे अपने पत्र में सूचित किया था। इसी प्रकार २७ सितम्बर को रावराजा तेजसिंह को लिखे अपने पत्र में उन्होंने उस चमड़े के बैग को सुधरवा देने के लिये लिखा, जो १२ सितम्बर की रात को कल्लू कहार द्वारा चोरी करते समय काट दिया गया था। इसी पत्र में यह भी लिख दिया था कि यदि बैग तुरन्त नहीं सुधारता है, तो वे उसे आगे (प्रवास में) बनवा लेंगे।

४७. दयानन्द सरस्वती के जीवनविषयक अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों के गवेषक स्व. महेशप्रसाद मौलवी, आलिम फाजिल ने जिला एटा के बिलराम ग्राम निवासी श्री गंगाप्रसाद आर्य से डा. अलीमर्दान खां के सम्बन्ध में निम्न जानकारी प्राप्त की थी, जो श्री आर्य ने १५ सितम्बर १९४९ को लिखे गये अपने पत्र के द्वारा उन्हें दी थी—"डा. अलीमर्दान खां मौजा चनी, परगना इस्लाम नगर, जिला बदायूं के रहने वाले थे। उन्होंने जोधपुर राज्य में श्री स्वामीजी महाराज का इलाज किया था। जोधपुर राज्य में पण्डित····· ब्राह्मण को, जो उस समय राज्य के उच्च अधिकारी धमण्डी पौराणिक ब्राह्मण थे, राज्य से जागीर प्राप्त थी। ·····इन पण्डितजी ने ७०० रु. तथा दो रण्डियों ने ५००-५०० रु. कुल १७०० रु. डाक्टर साहब को इस निमित्त दिये थे कि स्वामीजी को

विष दिया जावे। जब डाक्टर साहब अन्तिम बार बीमार हुए तो शरीर में कीड़े पड़ गये थे। ·· ····रोते रोते कहते थे कि मैंने स्वामीजी के साथ विश्वासघात किया था। आज यह उसका फल भोग रहा हूं।" डाक्टर साहब की मृत्यु की तारीख ९ मई १९१७ बताई गई थी। मौलवीजी को यह भी बताया गया कि महाराजा जोधपुर को जब पता चला तो पण्डित ·····जी की जागीर जब्त करली थी। वेदवाणी कार्तिक २००६ वि. में लेख—दीपमाला और महर्षि मोक्ष।

४८. स्वामीजी को दी जाने वाली 'साल्वेशन पिल्स' में से प्रत्येक में इग्रेन केलोमल तथा एक चौथाई ग्रेन अफीम होती थी।

४९. मुन्शी मुरादअली द्वारा सम्पादित यह पत्र अजमेर से प्रकाशित होता था।

५०. जेठमल सोढ़ा डाक विभाग में एक साधारण कर्मचारी थे। उन्होंने 'युगराज कवि' उपनाम से काव्य रचना भी की है। इनके पुत्र स्व. ब्रह्मदत्त सोढ़ा ने राजस्थान में स्वामी दयानन्द के कार्य कलाप तथा आर्यसमाज के प्रारम्भिक इतिहास से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण सामग्री संग्रह की थी।

५१. स्वामीजी की अस्वस्थता की अवधि में ही महाराजा प्रतापसिंह तो पोलो खेलने पूना चले गये थे।

५२. पादटिप्पणी संख्या ४७ में जिस पौराणिक ब्राह्मण का उल्लेख हुआ है वह वल्लभ सम्प्रदाय का ही अनुयायी था।

५४. द्रष्टव्य—क्या महर्षि को विष दिया गया था ? जीवनी लेखकों की सम्मति—सार्वदेशिक १८ फरवरी १९७३ ई. में प्रकाशित डा. भवानीलाल भारतीय का लेख। डा. जॉर्डन्स ने अपने ग्रन्थ 'दयानन्द सरस्वती—लाइफ एण्ड आइडियाज' (पृ. २४३) में लिखा है कि स्वामीजी के दो प्राचीनतम जीवनी लेखक—गोपालराव हरिदेशमुख तथा पं. गोपाल राव हरि (फर्रूखाबाद निवासी) विष दिये जाने की बात से इन्कार करते हैं। इस सम्बन्ध में निम्न विवेचन अपेक्षित है। स्वामी दयानन्द के जीवन काल में ही उनके जीवन लेखन का प्रथम प्रयास करने वाले पं. गोपाल राव हरि ने दयानन्द दिग्विजयार्क के तृतीय खण्ड में स्वामीजी की चिकित्सा के प्रसंग में लिखा था—"भातृगणो, यह विचारने का स्थान है। न जाने यह किस प्रकार का जुलाब और औषधि थी। इस पर बहुधा मनुष्य कई प्रकार की शंका करते थे। स्वयं श्रीमान् स्वामीजी ने भी कई पुरुषों और महाराज प्रतापसिंह जी से इस विषय पर स्पष्ट कह दिया था। परन्तु अब क्या हो सकता था।" (मयूख ७ पृष्ठ १६४) क्या उपर्युक्त कथन से यह ध्वनि नहीं निकलती कि जुलाब और औषधि के द्वारा भी स्वामीजी को विष ही दिया जाता रहा। लोगों की आशंका भी यही थी कि महाराज को विष दिया गया है। उपर्युक्त उद्धरण स्वामीजी को विष दिये जाने का एक प्रमुख प्रमाण प्रस्तुत करता है। दिग्विजयार्क में ही लेखक ने स्वामीजी के निधन के पश्चात् पत्रों में छपी विभिन्न श्रद्धाञ्जलियों का भी संग्रह किया है। शाहजहांपुर से प्रकाशित होने वाले 'शुभचिन्तक' ने जो शिखरिणी छंद इस प्रसंग में प्रकाशित किये, उनकी निम्न पंक्तियां विष दिये जाने की ही पुष्टि करती हैं—

सुनि ऐसी वार्ता प्रोहितन तिनको विष दियो।
खुली तिनकी जड़ता कल्पित प्रथा दर्श होयगो।
लखी जीविका जाती दुर्मती अधर्मी करि गयो।
दियो विष हा हा स्वामी हमारो चलि बसो॥

इससे स्पष्ट है कि स्वामीजी के निधन के तुरन्त पश्चात् यह धारणा सर्वत्र फैलगई थी कि महाराज की मृत्यु विष से ही हुई है।

अब गोपालराव हरि देशमुख 'लोकहितवादी' रचित उस मराठी निबन्ध के प्रासंगिक स्थल को देखना चाहिए जिसमें देशमुखजी ने स्वामीजी को विष दिये जाने की सम्भावना से इन्कार किया है। लोकहितवादी का 'पण्डित स्वामी श्रीमद् दयानन्द सरस्वती' शीर्षक यह निबन्ध लोकहितवादी शीर्षक मासिक पुस्तक (पत्र) के जनवरी-फरवरी १८८४ के अंक में प्रकाशित हुआ था। देशमुख ने इसमें लिखा—"अनेक लोगों से यह सुनने में आया कि दयानन्दजी के इतने जल्दी निधन के पीछे कोई तो गुप्त षड्यंत्र जरूर रहा होगा, परन्तु हमारा तो इस लोकवार्त्ता पर थोड़ा सा भी विश्वास नहीं बैठता क्योंकि दयानन्दजी से न तो किसी का द्वेष था और न ही ईर्ष्या थी। इसलिये गुप्त षड्यंत्र से उनकी आकस्मिक मृत्यु होने का कोई कारण नहीं है। हमारा तो इस लोकवार्ता के विपरीत यह मत है कि स्वामीजी अपने परिचित व्यक्तियों में अजातशत्रु माने जाते थे .....ऐसी स्थिति में हम स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकते कि किसी षड्यंत्र के निंदित मार्ग से उनकी हत्या का प्रयत्न हुआ होगा। स्वामीजी शारीरिक दृष्टि से बहुत ही सशक्त और उनका शरीर बहुत ही सुदृढ़ था, इसलिये इतनी जल्दी उन्हें मौत का निमंत्रण आयगा, इसकी किसी को कल्पना भी नहीं थी। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि मृत्यु के द्वारा उन पर झटपट आक्रमण करने के कारण लोगों ने गुप्त षड्यंत्रों की सम्भावनाओं की कल्पना कर डाली। तो भी हम यहां पर यह विशेष रूप से कहना चाहते हैं—निधन से एक डेढ़ महीने पूर्व स्वामीजी बीमार थे और वही बीमारी कालान्तर में तीव्र होगई और धीरे-धीरे स्वामीजी की जीवन शक्ति का ह्रास होने लगा ओर उसी से उनका अजमेर में महानिर्वाण हुआ।" देशमुख के उक्त कथन का विश्लेषण करने से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि स्वामीजी के निधन के तुरन्त पश्चात् ही उनको विष दिये जाने के षड्यंत्र की चर्चा सर्वत्र फैल गई थी। परन्तु देशमुखजी को इस प्रवाद में विश्वास इसलिये नहीं हुआ क्योंकि उनके अनुसार स्वाजी का न तो किसी से द्वेष था और न कोई उनके प्रति ईर्ष्या भाव ही रखता था। उनके अनुसार तो स्वामीजी अजातशत्रु थे, अतः उन्हें विष दिये जाने का सवाल ही नहीं उठता।

परन्तु देशमुख की यह धारणा हमें तर्कहीन प्रतीत होती है। स्वामीजी स्वयं संन्यासी होने के नाते चाहे मनुष्य मात्र को अपना बंधु ही क्यों न मानते हों, परन्तु इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि पाखण्डों और साम्प्रदायिक आडम्बरों के तीव्र खण्डन के कारण अनेक लोग उनके शत्रु ही नहीं बन गये थे, बल्कि उनके प्राणहरण के लिये भी तत्पर रहते थे। ऐसी ही परिस्थिति जोधपुर में भी बन गई थी, यह हम इस अध्याय में विस्तारपूर्वक देख चुके हैं। जहां तक स्वामीजी की शारीरिक शक्ति का

सम्बन्ध है वह चाहे कितने ही सुदृढ़ एवं स्वस्थ रहे हों, तीव्र विष प्रयोग तथा इसके पश्चात् भी अलीमर्दान की औषधियों के माध्यम से उनके शरीर में पुनः घातक वस्तुओं के प्रवेश ने यदि उनको मृत्यु तक पहुंचा दिया, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

महाराष्ट्र जैसे सुदूरवर्ती प्रान्त में रहने वाले देशमुख जोधपुर राज्य के उस अज्ञानान्धकार पूर्ण तथा षड्यंत्रों से भरे वातावरण की कल्पना भी नहीं कर सकते जहां रह कर स्वामीजी को अपने जीवन का यह भाग व्यतीत करना पड़ा था।

५५. कहते हैं कि अपनी पत्नी की रुग्णता के कारण डा. सूरजमल भी उस समय अन्यमनस्क स्थिति में ही थे अतः वे पूर्ण तत्परता के साथ न तो महाराज का इलाज ही कर सके और न उन्होंने अलीमर्दान की दवा से होने वाली हानि से ही स्वामीजी को अवगत कराया।

५६. रेजिडेन्सी के डाक्टर का नाम पं. घासीराम ने रोडम्स लिखा है, परन्तु वास्तविक नाम एडम था।

□□

विषप्रकरण

स्वामी दयानन्द की मृत्यु का कारण क्या था ? यह प्रश्न प्रायः निर्विवाद रूप से हल किया जा चुका था जब कि लगभग सभी जीवनचरित लेखकों ने यह स्वीकार किया कि स्वामीजी की मृत्यु साधारण स्थिति में नहीं हुई। उन्हें कोई भयंकर, कालकूट विष दिया गया, जिसके कारण उनकी ब्रह्मचर्य से दीप्त, परिपुष्ट काया भी निरन्तर क्षीण होती गई और अन्ततः उनके निधन का कारण बनी, बहुत समय पश्चात्—स्वामीजी के परलोक गामी होने के लगभग ८० वर्ष बाद पुनः एक विवाद छिड़ा कि क्या स्वामीजी की मृत्यु विषप्रयोग से ही हुई थी, अथवा वे रोगाक्रान्त होकर स्वाभाविक मृत्यु से मरे ? हमीदिया कालेज भोपाल के इतिहास विभाग के अध्यक्ष प्रो. बी. के. सिंह ने प्रसिद्ध पत्रिका इलस्ट्रेटेड वीकली के २९ अक्टूबर १९७२ के अंक में Was Swami Dayanand Poisened ?' शीर्षक एक लेख लिखकर यह धारणा व्यक्त की कि स्वामीजी की मृत्यु सहज-स्वाभाविक थी, उनको विष दिये जाने की पुष्टि नहीं होती। इसी बीच हरयाणा सरकार ने स्वप्रदत्त ५०,००० रु. के आर्थिक अनुदान से स्वामी दयानन्द के जीवन एवं कार्यों पर एक ग्रन्थ स्व. प्राचार्य श्रीराम शर्मा द्वारा लिखवाया। अपने ग्रन्थ को पूरा करने से पहले ही शर्माजी ने स्वामीजी के जीवन से सम्बन्धित कुछ पहलुओं पर विवादास्पद लेख लिखे जिनके कारण परिश्रम पूर्वक लिखा गया उनका उपर्युक्त ग्रन्थ भी विवादों के घेरे में घिर गया। कुछ समय पश्चात् प्राचार्य शर्माजी का निधन हो गया और उनके ग्रन्थ की यह पाण्डुलिपि प्रकाशित होने की स्थिति में ही नहीं आ पाई।[२]

प्रो. सिंह तथा प्रिंसिपल शर्मा द्वारा उपस्थापित उपपत्तियों का आर्यसमाज के इतिहास के अधिकारी विद्वानों द्वारा प्रभावशाली ढंग से खण्डन किया गया।[३] इस प्रसंग में स्वामीजी के प्रामाणिक जीवनचरितों को पुनः उलटा पुलटा गया, आर्यसमाजेतर इतिहासज्ञों की सम्मतियों को पुनः उद्धृत किया गया, यहां तक कि चिकित्साशास्त्र की दृष्टि से भी स्वामीजी के रुग्ण होने से लेकर उनकी मृत्यु काल तक की उपचार व्यवस्था का पुनरीक्षण किया गया।[४] इस सम्पूर्ण विवेचना से यह तथ्य पुनः उजागर हो उठा कि स्वामी दयानन्द की मृत्यु के पीछे एक भयंकर षड्यंत्र था और इन षड्यंत्रकारियों को अपने मनसूबों को पूरा करने में सफलता भी मिली। इस ग्रन्थ के लेखक ने उस समय एक विस्तृत लेख[४] लिख कर यह स्पष्ट किया था कि स्वामी दयानन्द के सभी प्रामाणिक जीवनीकार विष दिये जाने की घटना को सत्य मानते हैं और नाना प्रमाण देकर उन्होंने इस तथ्य की पुष्टि भी की है। इस संदर्भ में स्वामी दयानन्द के आद्य जीवनी लेखक पं. गोपाल शर्मा शास्त्री के अतिरिक्त पं. लेखराम, पं. घासीराम, रामविलास शारदा तथा हरविलास सारड़ा आदि द्वारा लिखे गये जीवनचरित ग्रन्थों को बहुशः उद्धृत किया गया था। आश्चर्य है कि १९७२ ई. में दयानन्द को विष दिये जाने पर शंका करने वाले स्वयं बी. के. सिंह भी १९७० में

लिखी गई स्वामी दयानन्द की स्वरचित जीवनी में यह लिख चुके थे कि स्वामीजी को यह संदेह था कि उन्हें विष दिया गया है।[६] विष को बाहर निकाल देने की दृष्टि से ही उन्होंने वमन किया था। श्रीराम शर्मा द्वारा प्रस्तुत तर्क अथवा युक्तियाँ तो तथ्यों को तोड़ मरोड़ कर पेश करने तथा मिथ्या सम्भावनाओं पर आधारित थीं।

परन्तु इस प्रसंग का पुनर्लेखन भी आवश्यक है। यह ध्यान देने की बात है कि स्वामीजी को विष देने की चर्चा उनके परलोक प्रस्थान के तुरन्त बाद ही सर्वत्र प्रचलित हो गई थी। इस सम्बन्ध में सर्वाधिक प्राचीन उल्लेख तो जर्मन विद्वान् प्रो. मैक्समूलर का मिलता है जिसने लंदन से प्रकाशित होने वाले प्रसिद्ध समाचारपत्र 'पाल-माल गजट' के जनवरी अथवा फरवरी १८८४ के अंक में स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में एक लेख प्रकाशित कराया था। यही लेख कालान्तर में उसकी रचना Biographical Essays में पृष्ठ १६७ से १८० पर्यन्त संकलित हुआ था। आलोच्य निबंध में प्रो. मैक्समूलर लिखते हैं—"स्वामी दयानन्द एक सुधारक थे, जिन्हें अपने जीवनकाल में अत्यधिक निन्दा तथा अत्याचारों को झेलना पड़ा। यहां तक कि पत्रों में यह संकेत किया गया था कि उनकी मृत्यु भी विष के कारण हुई जो उनके शत्रुओं ने उन्हें दिया था।"[७] इसी निबंध में उन्होंने आगे लिखा था—"स्वामी दयानन्द की मृत्यु के पश्चात् मुझे बताया गया था कि उन्हें ब्राह्मणों द्वारा विष दे दिया गया, जो उनके व्यापक प्रभाव वाले सुधार कार्यों से भयभीत थे। मेरे एक भारतीय मित्र ने मुझे यह भी बताया है कि उनकी मृत्यु का कारण वे वेश्यायें थीं जो स्वामीजी द्वारा प्रेरित किये जाने के कारण जोधपुर के महाराजा द्वारा उपेक्षित कर दी गई थीं। इनको दी जाने वाली आर्थिक सहायता बंद कर दी गई थी अतः ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने स्वामीजी के ब्राह्मण रसोइये के द्वारा उन्हें विष दिलवा दिया।"[८]

उपर्युक्त संदर्भ से यह भली भाँति स्पष्ट है कि महाराज के दिवंगत होने के कुछ समय पश्चात् ही यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध हो गई थी कि उनकी हत्या विष दिये जाने से हुई थी। भारत के कुछ प्रामाणिक इतिहासकारों की सम्मतियाँ भी यहाँ उद्धृत की जाती हैं। अपने आपको हिन्दी के महाकवि चंदबरदाई का वंशज मानने वाले पं. नेनूराम ब्रह्मभट्ट ने इस प्रसंग में बताया था—"स्वामीजी के साथ जोधपुर निवासी कई आततायी लोगों ने जो कुत्सित व्यवहार किया और उनकी जीवनलीला का अन्त इतना शीघ्र कराया उस सम्बन्ध की घटना को यहां दुहराना अनुचित होगा। केवल इतना कहना काफी होगा कि उन दुष्टों में से एक का नाम कलिया था जिसने एक दूसरे माली से मिलकर प्रसिद्ध वेश्या नन्ही भगतन के प्रोत्साहन से स्वामीजी को दूध के साथ विष पिला दिया था।[९] पं. नेनूराम के कथन की प्रामाणिकता इस तथ्य से और भी बढ़ जाती है कि उन्हें जोधपुर नरेश की ओर से स्वामीजी को शाहपुरा से जोधपुर लिवा लाने के लिए भेजा गया था। उनके साथ चारण ऊमरदान तथा मुन्शी दामोदरदास भी गये थे।

इस प्रसंग में राजस्थान के ख्यातनामा इतिहासकार महामहोपाध्याय डा. गौरीशंकर हीराचंद ओझा की सम्मति उद्धृत करना भी असमीचीन न होगा। 'महर्षि दयानन्द और महाराणा सज्जनसिंह' शीर्षक अपने शोधपूर्ण निबन्ध में इस प्रसंग को उठाते हुए ओझाजी

लिखते हैं—"महर्षि उदयपुर से शाहपुरा और वहां से जोधपुर गये जहां उन्होंने प्राचीन वैदिक धर्म की महत्ता बतलाते हुए अन्य प्रचलित धर्मों की कई बातों का खण्डन किया, जिससे वहां उनके बहुत से शत्रु हो गये। अन्त में कुछ दुष्टों ने चिढ़ कर उनके आहार में विष मिला दिया, जिसके प्रभाव से कई दिन पीड़ित रह कर वि. सं. १९४० कार्तिक वदि ३० (दिनांक ३० अक्टूबर १८८३ ई.) को अजमेर में उनकानिर्वाण हुआ।"[१०]

यह तो हुई उन इतिहासज्ञों की सम्मत्ति जो आर्यसमाज से किसी भी प्रकार सम्बद्ध नहीं थे। यह ध्यातव्य है कि जोधपुर में घटी घटना के लिये सर्वाधिक प्रमाण उसी इतिहासकार के कथन का माना जाना चाहिए जो उस क्षेत्र का निवासी हो तथा उसे स्थानीय परिस्थितियों एवं परिवेश की परिपूर्ण जानकारी हो। सौभाग्य से एक ऐसे ही इतिहासकार जोधपुर निवासी स्व. जगदीशसिंह गहलोत थे। गहलोतजी ने एक पुराने मासिक पत्र नवजीवन में 'मारवाड़ का भीषण पाप' शीर्षक एक लेख लिखा था। यही लेख कालान्तर में प्रयाग से प्रकाशित होने वाले प्रसिद्ध मासिक पत्र 'चांद' के मारवाड़ी अंक[११] में भी प्रकाशित हुआ। इस लेख में प्रथम महाराजा जसवन्तसिंह की प्रेयसी नन्ही भगतन[१२] का विस्तृत परिचय दिया गया था, तथा उस षड्यंत्र की पूरी जानकारी भी दी गई थी, जो स्वामी दयानन्द की मृत्यु का कारण बनी।[13] हरविलास सारड़ा ने स्वामीजी के अंग्रेजी जीवनचरित में मारवाड़ राज्य के प्रसिद्ध इतिहासकार मुन्शी देवीप्रसाद मुंसिफ की सम्मति भी उद्धृत की है जिनके अनुसार नन्ही भगतन ने स्वामीजी के रसोइये को एक माली के माध्यम से उत्कोच देकर उन्हें विष देने के लिये तैयार किया था।[१४]

अब हम जोधपुर राज्य के उन प्रामाणिक पुरुषों की सम्मतियां भी उद्धृत करते हैं जो स्वामी दयानन्द को जोधपुर आमंत्रित करने वालों में प्रमुख थे तथा महाराज के प्रति उनकी निष्ठा में किसी भी प्रकार की शंका नहीं की जा सकती। सर्वप्रथम इस सम्बन्ध में महाराजा जसवन्तसिंह के छोटे भाई कर्नल महाराज प्रतापसिंह की सम्मति द्रष्टव्य है। अपनी अप्रकाशित आत्मकथा में उन्होंने एक स्थान पर लिखा था—"१९४० वि. की दिवाली का दिन भारतवर्ष और खास कर मारवाड़ के लिये बड़े दुर्भाग्य का गिना जायगा क्योंकि इसी दिन स्वामी दयानन्द ने असामयिक मृत्यु द्वारा संसार से प्रस्थान किया था। उनकी मृत्यु विष देने से हुई थी जिसके बारे में यह कहा जाता है कि यह विष उनके विरोधियों द्वारा भोजन में मिला दिया गया था।"[१५] इस प्रसंग में एक अन्य घटना का उल्लेख करना भी आवश्यक है। १९२५ ई. में जब मथुरा में दयानन्द जन्म शताब्दी का समारोह मनाया जा रहा था, उस समय स्वामी दयानन्द के समकालीन महापुरुषों ने अपने संस्मरण १८ फरवरी १९२५ को प्रस्तुत किये थे। शाहपुरा नरेश सर नाहरसिंह ने इस अवसर पर कहा था, "स्वामीजी अपने लिये रसोई बनाने वाला आदमी मुझसे ले गये थे। स्वामीजी को विष दिया गया, यह बात गलत है। स्वामीजी जोधपुर में बीमार होकर आबू चले गये थे और आबू से वह अजमेर आकर रहे थे। जो लोग उनके पास रोटी बनाने वाले थे वे अभी तक मेरे यहां नौकरी करते हैं। उनका नाम श्रीकृष्ण और कल्लू है।"[१६] इस प्रसंग की सतर्क मीमांसा करने के पश्चात् आर्यसमाज के सुधी इतिहासकार पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति ने जो निष्कर्ष निकाले हैं[१७] उनमें से अन्तिम को छोड़ कर अवशिष्ट से असहमति प्रकट करना कठिन ही है। वे लिखते हैं—

(१) स्वामीजी की मृत्यु विष से हुई। (२) विष दूध में मिला कर किसी नौकर ने दिया। वह नौकर विष देकर लापता हो गया। (३) विष देने की प्रेरणा करने वाले षड्यंत्रकारियों में कौन कौन थे, यह निश्चय करना कठिन है। (४) शाहपुराधीश के दिये हुए दोनों रसोइये निर्दोष थे। पाठक अन्तिम बिन्दु पर ध्यान दें। शाहपुराधीश के वक्तव्य के पीछे जो प्रेरणा कार्यरत थी, वह यही थी कि महाराज के विष प्रकरण में उनके द्वारा साथ भेजे गये रसोइयों का नाम नहीं आना चाहिए। इसीलिये उन्होंने विषसम्बन्धी पूरे प्रकरण को ही नकारने का प्रयास किया था। परन्तु बात यहीं समाप्त नहीं होती है।

जन्म शताब्दी समाप्त होने के कुछ समय पश्चात् ही स्वामी श्रद्धानन्द ने जोधपुर के रावराजा तेजसिंह को निम्न पत्र[१५] लिखा—

श्रीमान् रावराजा तेजसिंह जी, नमस्ते।

ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का जो शताब्दी संस्करण निकला है उसके आरम्भ में ऋषि दयानन्द का संक्षिप्त जीवन वृत्तान्त मेरी लेखनी से लिखा गया है। उसमें मैंने जोधपुर का वृत्तान्त लिखते हुए ऋषि दयानन्द को जहर दिये जाने की घटना भी लिखी है। उसको देख कर राजाधिराज शाहपुरा सर नाहरसिंह जी ने एतराज किया था और मुझे लिखा था कि मैं अपनी सम्मति को बदल लूं परन्तु मैंने अपनी सम्मति को न बदला और घटना ज्यों की त्यों लिख दी।

अब जन्म शताब्दी महोत्सव के समय भी राजाधिराज जी ने उसी बात को दोहराया कि ऋषि को विष नहीं दिया गया था। आप तो स्वयं उन दिनों जोधपुर थे और ऋषि दयानन्द के साथ आपका बड़ा नजदीकी सम्बन्ध था। इस विषय पर शताब्दी मण्डप में तो आपने कोई प्रकाश नहीं डाला। अब कृपा करके मेरे संशय की निवृत्ति कर दीजिये कि वास्तव में बात क्या थी ?

आपका आरोग्याभिलाषी, श्रद्धानन्द

रावराजा तेजसिंह ने उपर्युक्त पत्र का जो उत्तर लिखा उसकी एक प्रति स्वयं उन्हीं के हाथ की लिखी मुझे प्राप्त हुई है।[१६] उसका जितना अंश पढ़ने में नहीं आया उसे बिन्दुओं से निर्दिष्ट कर, पूरा पत्र यहां दिया जा रहा—"पत्र प्राप्त हुआ। निवेदन है कि शाहपुराधीशजी ने शताब्दी के अवसर पर कहा था और मैं उसका उत्तर देने वाला ही था—पर आपने मुझे मना कर दिया कि इस विषय में कुछ न कहें। खैर, उस वक्त मुझे कहने देते तो मैं अच्छी तरह कहता पर फिर कभी .....लेख आप छपवा दीजिये कारण कि जनता भ्रम में पड़ गई है.....आपने मुझसे पूछा है। जवाब इसका यह है कि स्वामीजी को जहर जरूर हुआ, क्योंकि स्वामीजी जहर कह कर किसी को सजा तो दिलाना जानते ही नहीं थे। पर हाल यह है अगर जहर नहीं था तो नमक के कुल्ले क्यों किये.....और डाक्टर एडम से महाराजाधिराज जसवन्तसिंह जी साहब ने पूछा कि स्वामीजी को क्या बीमारी हुई तो उन्होंने कहा कि कांच पीस कर दिया गया। उनके गले में और अंतड़ियों में छेद हो गये थे। फिर कलवा निकल भागा। वह नेपाल निकल गया। उसकी बहुत महाराज ने तलाश भी की। अब वो जाहिर हुआ है। यह सही बात है। स्वामीजी को कांच पीस कर शक्कर में कलवे ने दिया। यह बात .....सत्य है। फकत ॥'

रावराजा तेजसिंह के इस पत्र से तो इतना ही विदित होता है कि कलवे नामक नौकर ने शक्कर में काँच पीसकर स्वामीजी को दिया, जिसे वे अनजाने में दूध में डालकर पी गये। इस कुकृत्य को पूरा कर आततायी जोधपुर से निकल भागा और नेपाल चला गया। रावराजा के कथन से यह भी ध्वनि निकलती है कि वही कलवा अब पुनः प्रकट हो गया है। रावराजा तेजसिंह का यही वक्तव्य किञ्चित् विस्तार से ३१ मार्च १९२५ के 'आर्यमार्तण्ड' अजमेर में उद्धृत किया गया था। यहां इसे यथातथ्य रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है—

"स्वामीजी महाराज को विष जरूर दिया गया था। विष देने के एक दिन पहले भी स्वामीजी के पास एक कपड़े का बैग था उसमें एक दुशाला तथा दो अशर्फी थी। इस बेग को कलवा रसोइये ने छुरा वा चाकू से काट कर दोनों मोहरें व दुशाला निकाल लिया इसलिये स्वामीजी महाराज ने उसको बहुत धमकाया लेकिन वह टस से मस नहीं हुआ। इसके बाद स्वामीजी ने मुझे बुलाया और मैंने वृत्तान्त सुनकर कलवे को बहुत धमकाया परन्तु वह नहीं माना। यह उस रोज के शाम की बात है। मैंने यह भी कहा कि अब मैं महाराजा साहब से कह कर तुझे दण्ड दिलवाऊंगा। फिर मैं राई के बाग में, जहां महाराजा साहब विराजे थे, सब अर्ज किया तो मुझे महाराजा साहब ने फरमाया कि तुम कल सुबह जाकर उसको सजा दिलवा कर स्वामी महाराजा का सब माल निकलवाओ।

फिर उस रात स्वामीजी महाराज सोते समय सौंफ की फक्की लेकर बाद में शक्कर डाल कर दूध पिया करते थे। सो आज भी कलवा दूध लेकर आया और श्री स्वामीजी महाराज को दिया। स्वामीजी दूध में शक्कर मिला कर पी गये और रात को नौ बजे सो गये। प्रातःकाल चार बजे उठे और जोर से पसली में शूल चलने लगी। तब बहुत सा नमक मंगा कर पानी के लोटे में घोल कर पी गये और गले में अंगुलियां डालकर कै करने लगे। स्वामीजी महाराज जान गये थे कि मुझे जहर दिया गया है, इसी से उन्होंने नमक पीकर कै करने का परिश्रम किया था। बाद उन्होंने मुझे बुलवाया और कहा कि मेरे नाक में बहुत सा पानी आता है। पसली में जोर से वेग भी चलता है और जुकाम हो गया है। मेरी बीमारी का हाल सुन कर आर्यजनता यहां आवेगी और उनको कष्ट होगा।

मुझे उस समय खयाल हुआ कि महाराज को तो मैं रात को खूब मजे में छोड़ आया था। और अब एक दम इतनी खराब हालत दिखलाई पड़ती है। इसके बाद मैंने हुक्म दिया कि कलवा कहां है, उसको बुलाओ। परन्तु कलवा वहां कहां था? वह तो अपना काम करके भाग गया था। उसके बाद स्वामीजी के हुक्म से मैंने डाक्टर सूरजमल जी को बुलवाया जो एक भद्र आर्य पुरुष थे। वे आये और स्वामीजी महाराज से पूछने लगे कि क्या हुआ है? इसका स्वामीजी महाराज ने उत्तर दिया कि ईश्वरेच्छा! तब डा. सूरजमल जी ने कहा कि असिस्टेन्ट सर्जन डा. मर्दान अली को बुलवाओ। मैंने सवार भेजकर उनको बुलवाया और उन्होंने चिकित्सा शुरू की जिसका हाल 'दिग्विजय' में छप चुका है। अब आप देख लेवें कि यदि कलवे ने जहर नहीं दिया होता तो उसको इतनी दूर नेपाल भागने की क्या जरूरत थी और महाराजा साहब ने उसकी तलाश भी करवाई पता कुछ नहीं चला।

महाराजा साहब ने सिविल सर्जन डाक्टर कर्नल एडम से पूछा कि स्वामीजी ऐसे हट्टे कट्टे थे, उनकी मृत्यु कैसे हो गई? इस पर एडम साहब ने उत्तर दिया कि मैंने कांच लगा

कर उनका गला, मुंह देखा उससे साफ जाहिर होता था कि इनके पेट की आँतों में छिद्र हो गये थे और बाहर भी फफोले हो गये थे। इससे ज्यादा और किस डाक्टर का प्रमाण चाहिए। स्वामीजी महाराज तो किसी को सजा दिलाने का पाठ ही नहीं पढ़े थे, फिर वह क्यों इस बात को कहने लगे ? हां, वह जान जरूर गये थे कि मुझे विष दिया गया है, सो हम लोगों को वह सब चिह्न जरूर दिखलाई देते थे। अब कृपा करके मेरे लेख को पत्रों में छपा दीजिये, क्योंकि मेरे पास इस विषय में जनता की पूछताछ हो रही है। सो सबको हाल विदित हो जाय।"

रावराजा ने इतना और लिखा—"स्वामीजी को जिस समय पसली में शूल चलता था उस समय योगाभ्यास से अपने को बेहोश कर लेते थे, यह मैं अपनी घड़ी से देखता रहता था।"[२०]

रावराजा साहब के उपर्युक्त वक्तव्य को पढ़ने से जहां अनेक नये तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है वहां उससे सभी प्रकार की शंकाओं का समाधान नहीं होता। प्रथम तो हमें यह निर्धारित करना है कि स्वामीजी के निवास पर चोरी कब हुई ? रावराजा साहब के कथन से तो यह ज्ञात होता है कि विष दिये जाने की रात्रि के एक दिन पहले की रात्रि (२८ सितम्बर) को कलुअे कहार ने चोरी की थी। परन्तु स्वामीजी के पत्रव्यवहार के अध्ययन करने से जाना जाता है कि यह चोरी १२ सितम्बर १८८३ की रात्रि को हुई क्योंकि १३ सितम्बर को आर्यसमाज अजमेर के मंत्री—श्री कमलनयन शर्मा को पत्र लिख कर स्वामीजी ने इस चोरी की सूचना दी थी।[२१] इसी प्रकार २० सितम्बर को फर्रूखाबाद के बाबू दुर्गाप्रसाद को लिखे अपने पत्र में उन्होंने चोरी करने वाले कलवे कहार का विस्तृत परिचय देते हुए लिखा था—"एक जाट जिले भरतपुर से दो कोश पूर्व की ओर ग्राम विरोना साहबराम पोजदार का बेटा और कुन्दन का छोटा भाई कल्लू नाम वाला शाहपुरे में ऐसे ही रख लिया था। वह चोरी करके भाग गया।"[२१] महाराज के इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि चोरी करने वाला कहार कल्लू या कलवा भरतपुर जिले का जाट था, परन्तु वह स्वामीजी के साथ शाहपुरा से ही रहने लगा था। राजाधिराज शाहपुरा द्वारा जो वक्तव्य १९२५ में मथुरा में दिया गया, उससे कुछ भिन्न ध्वनि निकलती है। उनके अनुसार स्वामीजी की सेवा में रहने वाले दो रसोइये श्रीकृष्ण और कल्लू उन्हीं के द्वारा दिये गये थे और वे उस समय तक भी उनकी सेवा में रह रहे थे।[२२] अस्तु। अब यह जाना गया कि जिस कहार ने चोरी की, वह तो १२ सितम्बर की रात को ही चोरी कर दूसरे दिन जोधपुर से भाग गया। रावराजा साहब को निश्चय ही चोरी की तिथि तथा कलुवे के भागने के समय का ध्यान नहीं रहा। इसका एक पुष्ट प्रमाण यह भी है कि स्वयं रावराजा के नाम २७ सितम्बर को लिखे अपने एक पत्र में स्वामीजी ने उस बैग को सुधरवाने के बारे में लिखा, जिसे चोर ने दो ठिकानों से काट दिया था।[२३] यहां यह ध्यान देने योग्य है कि स्वामीजी के लेखानुसार यह बैग चमड़े का था, जब कि रावराजा ने अपने पत्र में इसे कपड़े का लिखा है।

जो हो, इतना निश्चित है कि स्वामीजी के उदर में पीड़ा का प्रारम्भ दि. २९ सितम्बर की रात से ही हुआ। उसी रात्रि को वे दुग्धपान कर लेटे थे कि अचानक रात्रि के अवसान के काफी पहले ही असह्य उदर पीड़ा ने उन्हें धर दबाया और वे बैचेन होकर उठ खड़े हुए।

नमक के कुल्ले कर वमन करना यह सूचित करता है कि स्वामीजी को सम्भवतः विष दिये जाने का ज्ञान हो गया था। विगत काल में भी वे ऐसा करते रहे थे। यह दूसरी बात है कि इस बार उन्होंने स्वमनोभाव को स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं किया, शायद इसीलिये कि जो कुछ भवितव्य था, वह तो घट ही चुका था। अब हम आगे चलें। स्वामीजी का रसोइया सदा ब्राह्मण ही रहता था, और उन्हें दूध भी वही पिलाया करता था। पं. लेखराम ने इस रसोइये का नाम धौड़मिश्र[२४] बताया है तथा वे इसे शाहपुरा निवासी बताते हैं। अधिक सम्भावना यही प्रतीत होती है कि इसी धौड़मिश्र ने महाराज को सोते समय दूध पिलाया तथा इसी दूध में विष था।

अब हमें चिकित्सा शास्त्र के आधार पर यह विचार करना है कि स्वामी को किस प्रकार का विष दिया गया था। इस सम्बध में दो प्रकार की सम्भावनाएं प्रकट की गई हैं। रावराजा तेजसिंह के अनुसार महाराज को पिसा हुआ कांच दिया गया था,[२५] जब कि एक अन्य सम्भावना यह प्रकट की गई है कि उन्हें संखिया दिया गया।[२६] इस दुविधा का निराकरण करने के लिये जब पं. घासीराम ने मेरठ के एक प्रसिद्ध डाक्टर से पूछा तो उन्हें बताया गया कि पिसे हुए कांच और संखिये के चिह्न लगभग एक से होते हैं। दोनों में तीव्र उदर शूल और अन्तर्दाह होता है, वमन और दस्त होते हैं। पिसे हुए कांच से होने वाले दस्तों में रक्त आने लगता है।[२७] निश्चय ही स्वामीजी को दस्त तो अत्यधिक मात्रा में हुए थे किन्तु उनमें रक्त नहीं था। पोद्दार मेडिकल कालेज, बम्बई के निवर्तमान प्रिंसिपल डा. महेन्द्रकुमार शास्त्री ने आयुर्विज्ञान के सभी पहलुओं को ध्यान में रख कर यह निष्कर्ष निकाला था कि स्वामीजी को संखिया तो दिया था, किन्तु उसमें पीसे हुए कांच तथा क्रोटोन (एक पौधा) के बीज भी मिला दिये गये थे।[२८]

जो हो, आततायियों ने विष देकर ही चैन नहीं लिया। उन्होंने शायद यह समझ लिया था कि दयानन्द जैसे हृष्ट पुष्ट तथा ब्रह्मचर्यव्रतधारी महापुरुष की वज्रकाया को निश्शेष करना इतना आसान नहीं होगा। अतः उन्होंने मुसलमान चिकित्सक डा. अलीमर्दान को भी अपने प्रभाव में लिया और अब उसने चिकित्सा के माध्यम से स्वामीजी के शरीर में उन पदार्थों का प्रवेश कराना आरम्भ किया, जो कालान्तर में रोग को बढ़ाने वाले ही सिद्ध हुए। यह पदार्थ था केलोमल। साधारणतया केलोमल ३-४ ग्रेन की मात्रा में दिया जाना चाहिए, जब कि अलीमर्दान ने ८ ग्रेन दिया। इस प्रकार स्वामीजी के शरीर में १८ ग्रेन केलोमल साल्वेशन पिल्स के माध्यम से और ८ ग्रेन जुलाब के रूप में, कुल २६ ग्रेन पहुँचाया गया। इसकी मात्रा बढ़ाने के औचित्य को सिद्ध करने के लिये डाक्टर अलीमर्दान ने यही कहा कि स्वामीजी जैसे हृष्ट पुष्ट व्यक्ति को जब तक अधिक मात्रा में यह औषधि नहीं दी जायगी तब तक तो उन पर कोई असर ही नहीं होगा। डा. सूरजमल की व्याख्या भिन्न प्रकार की थी। उनके अनुसार स्वामीजी का शरीर बहुत बलिष्ठ था अतः वे इसे (केलोमल की इतनी मात्रा) सहन कर गये। यदि किसी साधारण मनुष्य को इतना केलोमल दिया जाता तो उसका प्राणान्त हो जाता।

डा. सम्पूर्णानन्द आयुर्विज्ञान महाविद्यालय जोधपुर के डा. तेजप्रकाश भारद्वाज ने लिखा है कि केलोमल पारद का क्लोरीन लवण होता है। साधारणतया इस महान् घातक पदार्थ को ग्रेन मात्राओं में बड़ी सावधानी से रोगी को दिया जाता है। चिकित्सक ने जानबूझ

कर इस द्रव्य को ड्राम मात्राओं में दिया तथा अनेक बार दिया। फलस्वरूप स्वामीजी के शरीर में पारद विषम तथा असाध्य रूप में उपस्थित हो गया। डा. भारद्वाज की सम्मति में स्वामीजी की मृत्यु का अन्तिम कारण संखिये से भी अधिक इस केलोमल[२९] (पारद लवण) का प्रभाव ही है। यह पारद लवण महाराज के शरीर में डा. अलीमर्दान ने ही प्रविष्ट कराया था।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि विषप्रयोक्ता धौड़मिश्र का क्या हुआ? इस सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियां प्रचलित हो गई हैं। अनुश्रुतियां, किंवदन्तियां तथा प्रवादों का सृजन मानव सुलभ दुर्बलता है। सर्वप्रथम तो यह प्रसिद्ध किया गया कि महाराज को यह ज्ञात हो गया था कि उन्हें जगन्नाथ ने विष दिया है और जगन्नाथ ने उसे स्वीकार भी कर लिया था कि मैंने यह पाप किया है। इस पर महाराज ने उसे कुछ रुपये मार्ग व्यय के लिये देकर नेपाल भगा दिया। इस अभिप्राय से कि वह राजकोप से बच जाये।[३०] उपर्युक्त किंवदन्ती पर पं. घासीराम की यह टिप्पणी सटीक ही है कि "यह सारी गाथा कल्पित और मनगढ़न्त है। न जाने यह किस मस्तिष्क की उपज है? किसी ने यह बात प्रचलित की और श्रद्धालु जनों ने इस कारण कि उससे महाराज की दया का प्रमाण मिलता है, उसे झट सत्य मान लिया[३१]।" तथाकथित विषदाता जगन्नाथ के जीवन की अन्तिम परिणति को लेकर भी भावुक लोगों ने अनेक कल्पनायें की हैं। हमारी जानकारी में इस सम्बन्ध में निम्न उल्लेख आये हैं—

(१) स्वामी सत्यानन्द ने कुछ लोगों के कथन के आधार पर लिखा कि जगन्नाथ को उन लोगों ने गंगातट पर राजघाट में देखा था और वह विक्षिप्त अवस्था में था। यह घटना १९७० वि. की बताई जाती है।

(२) इन्द्र विद्यावाचस्पति के अनुसार जोधपुर के एक वृद्ध सज्जन ने बताया कि स्वामीजी के निर्वाण के कुछ समय पश्चात् हत्यारे रसोइये ने कुए में गिर कर आत्महत्या करली थी और उसकी लाश कुए से बरामद हुई थी।[३२] आश्चर्य यह है कि जोधपुर के इन वृद्ध सज्जन का नाम आज तक किसी को मालूम नहीं हो सका।

(३) दयानन्द दिग्विजय के लेखक धर्ममित्र आर्यसेवक ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि "बहुत वर्ष हुए स्वामीजी का घातक जगन्नाथ बम्बई आया था। एक पण्डित से उसने कहा कि मैंने ही स्वामीजी को जहर दिया था। ....यह कह कर वह बहुत रोया[३३]।"

(४) चांद के मारवाड़ी अंक में प्रकाशित श्री पुरुषोत्तमप्रसाद गौड़ नय्यर के लेख के आधार पर राजेन्द्र जिज्ञासु ने[३४] कलिया उर्फ जगन्नाथ की मृत्यु १९०७-०८ ई० बताई है[३५] तथा यह भी लिखा है कि अन्तिम दिनों में उसने अपना कुकर्म स्वीकार कर लिया था।

(५) परन्तु श्री रामरतन मानकतल्ला एडवोकेट कहते हैं कि मैं जब अजमेर की दयानन्द निर्वाण अर्द्ध शताब्दी पर गया था उस समय, एक बूढ़ा और विक्षिप्त सा व्यक्ति वहाँ मंच पर देखा। वह स्वयं को जगन्नाथ बता रहा था और रो रो कर कह रहा था कि मैं ही वह पापी हूँ जिसने महर्षि को दूध में कांच मिला कर दिया।[३६]

निश्चय ही उपर्युक्त सभी बातें गढ़ने वालों की कल्पना के चमत्कार का ही सबूत देती हैं। इनमें सत्य का तो स्वल्पांश भी नहीं है। यदि १९०७-०८ में तथाकथित विषदाता की मृत्यु मान ली जाती है तो १९३३ में दयानन्द के निर्वाण की अर्द्ध शताब्दी पर वह अजमेर कैसे आ गया ? यह दूसरी बात है कि किसी विक्षिप्त पुरुष ने जान बूझ कर जगन्नाथ का अभिनय किया हो। परन्तु जो लोग अपनी कल्पना शक्ति की लगाम को छोड़कर उसे निरंकुश कर देते हैं, उनकी बुद्धि की भी दाद देनी पड़ती है। स्वामीजी की मृत्यु के प्रसंग में एक ऐसी ही घटना पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति ने उद्धृत की है। उनके अनुसार डी. पी. जौहरी नामक एक सज्जन गर्मी के दिनों में जोधपुर गये। वे पानी की तलाश में एक तालाब के किनारे पहुंचे तो उन्होंने एक सत्तर वर्षीय वृद्ध आर्यसमाजी को संध्या करते देखा। इस वृद्ध पुरुष से जब जौहरी जी की बातचीत आरम्भ हुई, तो पहले ही उसने यह प्रतिज्ञा ले ली कि उनका नाम प्रकाशित नहीं किया जायगा। शपथ लेने के पश्चात् उन्होंने जो कहानी सुनाई वह इस प्रकार है—

"जिन दिनों स्वामी दयानन्द जोधपुर में थे, अंग्रेजी सरकार की ओर से रियासत के एक अत्यन्त आवश्यक अन्तरंग विषय पर चिट्ठी प्राप्त हुई, जिसका उत्तर शीघ्र मांगा गया। रियासत की कौंसिल अभी उस पर विचार ही कर रही थी कि महाराजा ने उस चिट्ठी की चर्चा स्वामीजी से कर दी। स्वामीजी ने जो सलाह दी उसके अनुसार ही उत्तर भेज दिया गया। उत्तर ऐसा चतुरतापूर्ण था कि उससे इण्डिया आफिस चकित हो उठा। वहां से रेजिडेण्ट को लिखा गया कि जिस दरबार में इस पत्र पर चर्चा हुई उसकी तस्वीर भेजी जाय, जिससे यह पता लग सके कि यह उत्तर किसके दिमाग की उपज है। उस चित्र से जब इण्डिया ऑफिस की जिज्ञासा शान्त न हुई तो महाराजा से सीधा पूछा गया। महाराजा ने सरलता से स्वामीजी का नाम लिख भेजा। तब विलायत से गवर्नर जनरल की यह भर्त्सना की गई कि स्वामीजी दयानन्द जैसे राजद्रोही को प्रचार करने के लिये खुला क्यों छोड़ा गया[३७] ?"

कहना नहीं होगा कि उपर्युक्त किंवदन्ती सर्वथा अनगढ़, अविश्वसनीय तथा हास्यास्पद है। कथा गढ़ने वाले को यह भी पता नहीं कि महाराजा जसवन्तसिंह की कौंसिल में किस किस प्रकार के लोग थे और वे स्वामीजी के प्रति कैसा भाव रखते थे ? फिर 'जिस दरबार में इस पत्र पर चर्चा हुई उसकी तस्वीर भेजी जाय' इसका क्या अभिप्राय है ? क्या उस घटना पर विचार करने के लिये एकत्र हुए दरबार (अथवा राज्य परिषद्) की तस्वीर ब्रिटिश सरकार ने तलब की थी, अथवा क्या स्वामीजी भी स्टेट कौन्सिल की नियमित बैठकों में सम्मिलित होते थे ? श्रीराम शर्मा ने स्वामीजी को विष दिये जाने के प्रसंग को चाहे जिस प्रकार से विकृत कर प्रस्तुत किया, परन्तु जोधपुर से जोड़े गये उपर्युक्त काल्पनिक प्रसंग की उन्होंने जैसी तथ्य पूर्ण समालोचना की है, वह वस्तुतः प्रशंसनीय ही है[३८]। कहानी गढ़ने वाले को इतना भी ध्यान नहीं था कि उन दिनों भारत से ब्रिटेन जानी वाली डाक समुद्री मार्ग से जाती थी और स्वेज नहर का मार्ग न होने से जहाजों को अफ्रीका का चक्कर लगाकर जाना पड़ता था। तेज से तेज समुद्री जहाज भी कलकत्ता से लंदन जाने में एक मास ले लेता था। इस प्रकार महाराजा द्वारा स्वामीजी की राय लेकर भेजे गये उत्तर का

इंग्लैण्ड पहुंचना, पुनः इण्डिया आफिस से दरबार की तस्वीर मंगाना, जोधपुर से उक्त तस्वीर का लंदन भेजा जाना, लंदन से पुनः महाराजा से सीधी पूछताछ, महाराजा द्वारा अन्ततः स्वामीजी का नाम लिख भेजना—इस सम्पूर्ण पत्राचार में न्यूनातिन्यून पांच मास का समय लगता, जब कि स्वामीजी का जोधपुर में स्वस्थ रूप में रहना तो मात्र चार मास तक ही हुआ था। इस प्रकार की कथाकहानियों को शेखचिल्ली की कथा कहें अथवा लालबुझक्कड़ के अफसाने। आश्चर्य है कि इस प्रकार की ऊटपटांग बातों को इन्द्र विद्यावाचस्पति जैसे प्रबुद्ध इतिहासज्ञ ने भी गम्भीरतापूर्वक ग्रहण किया और स्वामीजी को विष दिये जाने के प्रसंग में विदेशी शासन के हाथ होने की सम्भावना को प्रकट करते हुए लिखा—"इस घटना की रोशनी में यह समझना कठिन नहीं है कि स्वामीजी को विष दिलाने वाले कौन लोग थे और सरकारी डाक्टर ने उनका ठीक इलाज क्यों नहीं किया[३९] ?"

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि स्वामी दयानन्द को दूध के साथ विष २९ सितम्बर की रात्रि को धौड़ मिश्र (शाहपुरा निवासी) नामक रसोइये ने दिया। यह विष संखिये का था। सम्भवतः उसमें पिसा हुआ कांच भी हो। उपचारादि से विष का शमन सम्भव भी था किन्तु महाराज के रुग्ण होने के तुरन्त पश्चात् ही डाक्टर अलीमर्दान द्वारा चिकित्सा को निरन्तर बिगाड़े जाने के कारण परिस्थिति नियंत्रण से बाहर हो गई। जोधपुर में महाराज ने किसी से यह भी प्रकट नहीं किया कि उन्हें विष दिये जाने का संदेह है। इसके विपरीत उन्होंने स्वयं को प्रभु इच्छा के समर्पित कर दिया, तो ऐसी दशा में तत्काल किसी व्यक्ति के प्रति संदेह किये जाने का प्रश्न ही नहीं था। ऐसा अनुमान होता है कि महाराज के जोधपुर से प्रस्थान करते ही विषदाता धौड़ मिश्र भी स्वस्थान को गमन कर गये और इस प्रकार विष दिये जाने की सारी जानकारी भी वे अपने साथ ही लेते गये[४०]।

□□

पाद-टिप्पणियां

१. स्वामी दयानन्द और स्वामी विरजानन्द (आर्य जगत् १४ मई १९७२ ई.) तथा स्वामी दयानन्द के जीवन के अन्तिम सात सप्ताह (वेदवाणी सितम्बर, अक्टूबर १९७२ ई.) आदि।

२. सम्प्रति यह पाण्डुलिपि हरयाणा साहित्य अकादमी चण्डीगढ़ के पास है। इन पंक्तियों के लेखक ने इसे आद्योपान्त पढ़ा है।

३. द्रष्टव्य—डा. भवानीलाल भारतीय के लेख—'महर्षि को विष दिया गया—जीवनी लेखकों की सम्मति' (सार्वदेशिक, १० दिसम्बर १९७२), तथा 'क्या महर्षि दयानन्द को विष नहीं दिया गया था' ? (वेदवाणी जनवरी १९७३) प्रो. राजेन्द्र जिज्ञासु को पुस्तक-

महर्षि का विषपानः अमर बलिदान (आर्य युवक समाज अबोहर से १९७३ ई. में प्रकाशित) तथा वैदिक परमार्थ आश्रम, बम्बई से प्रकाशित पुस्तक-विष-ऋषि मृत्यु का कारण (१९७४ ई.)।

४. द्रष्टव्य—पोद्दार मेडिकल कालेज बम्बई के भूतपूर्व प्रिंसिपल डा. महेन्द्रकुमार शास्त्री का लेख—Was Swami Dayananda poisoned ? (आर्यमर्यादा—२२, २९ अप्रैल १९७३) तथा डा. सम्पूर्णानन्द आयुर्विज्ञान महाविद्यालय जोधपुर के डा. तेजप्रकाश भारद्वाज का लेख—स्वामीजी को विष कैसे दिया गया ? ('विष—ऋषि मृत्यु का कारण' में पृ. ११६ पर प्रकाशित)

५. सार्वदेशिक (नई दिल्ली) में १० दिसम्बर १९७२ के अंक के प्रकाशित।

६. "It is believed that Dayanand, on the suspicion that he had been poisoned, tried to throw out the poison by means of vomiting as he had done on previous occasions." Swami Dayanand, National Book Trust India, New Delhi Jan. 1970, p. 87

७. "Swami Dayanand was a reformer and was in consequence exposed to much obloquy and persecution during his life time, so much so that it was hinted in the papers that his death was due to poison administered by his enemies."

८. "I was told soon after his death that he had been poisoned by the Brahmans, who were afraid of his sweeping social reforms. I am now told by an Indian friend of mine that it is supposed that the death was caused by the dancing girls who, at the instigation of Dayanand had been placed under strict surveillance by the Maharaja of Jodhpur. Their stipends had been stopped and they are supposed to have aniticed a young Brahman cook to poison their enemy."

९. महाकवि चन्द्र के वंशधर-नेनूराम ब्रह्मभट्ट-सरस्वती (मई १९३०) में रमाकान्त त्रिपाठी का लेख।

१०. महर्षि दयानन्द सरस्वती और महाराणा सज्जनसिंह-Dayanand Commemoration Volume. p. 370

११. हिन्दी की प्रख्यात मासिक पत्रिका 'चांद' रामरखसिंह सहगला द्वारा प्रयाग से प्रकाशित होती थी। नवम्बर १९२९ में इस पत्रिका ने 'मारवाड़ी अंक' शीर्षक एक विशेषाङ्क निकाला। इसमें मारवाड़ी (राजस्थानी) समाज में विद्यमान नाना सामाजिक कुरीतियों तथा कुप्रथाओं की यथार्थ आलोचना की गई थी। यह विशेषांक उस समय बहुत चर्चित रहा।

१२. स्वामी दयानन्द के अनेक जीवनी लेखकों ने नन्ही भगतन का उल्लेख 'नन्नीजान' कह कर किया है तथा उसे मुसलमान वेश्या बताया है। तथ्य यह है कि 'नन्हीजान' नाम की एक अन्य मुस्लिम वेश्या भी महाराजा जसवन्तसिंह के पास रही थी। यह जयपुर राज्य के खेतड़ी ग्राम की रहने वाली थी।

१३. मारवाड़ का भीषण पाप—चांद का मारवाड़ी अंक पृ. २३१-२३६

१४. Life of Dayanand Saraswati P. 327 I Edition 1946

१५. "The Dewali day of Samvat 1940 (1883 A. D.) will ever be considered for India and particularly Marwar when Swami Dayanand left this world by having a premature death by poison, said to have been administered to him in food by some of his infringing opponents at Jodhpur." Maharaja Sir Pratap's Autobiography. Pages 312-313. Chap. XXX (MSS.) महाराजा प्रतापसिंह ने यह आत्मकथा १९०८ ई. में लिखी थी। इसकी असली प्रतियां जोधपुर तथा ईडर (गुजरात) में, जहां के वे शासक थे, सुरक्षित बतलाई जाती हैं। महाराजा प्रतापसिंह अधिक पढ़े लिखे नहीं थे। उनका अंग्रेजी का ज्ञान तो अत्यल्प था, [एतद् विषयक अनेक मनोरञ्जक प्रवाद आज भी जोधपुर (भूतपूर्व मारवाड़ राज्य) में प्रचलित हैं] अतः ऐसा अनुमान होता है कि उन्होंने इस आत्मकथा का अंग्रेजी अनुवाद किसी अच्छे अंग्रेजी भाषाविज्ञ से कराया होगा। आत्मकथा की एक प्रति प्रसिद्ध इतिहासकार डा. गौरीशंकर हीराचंद ओझा के पास भी थी, ऐसा बताया जाता है।

१६. श्रीमद्दयानन्द जन्म शताब्दी वृत्तान्त, पृ. २१२ (डा. केशवदेव शास्त्री द्वारा सम्पादित)।

१७. आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग पृ. ३२४ (सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली द्वारा २०१३ वि. में प्रकाशित)

१८. यह पत्र २ मार्च १९२५ को लिखा गया था। मूल पत्र रावराजा तेजसिंह के पौत्र रावराजा वीरभद्रसिंह (८, सांघी कालोनी, जोधपुर) के पास सुरक्षित है, जिसकी फोटो प्रति इन पंक्तियों के लेखक ने अपने संग्रह हेतु १८ नवम्बर १९८२ को उक्त सज्जन से प्राप्त की।

१९. रावराजा तेजसिंह ने जो उत्तर दिया था, इसकी नकल उन्होंने स्वयं ही स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा भेजे गये पत्र के पृष्ठ भाग में अंकित कर ली थी। मारवाड़ी लिपि में (प्रायः अवाच्य) लिखी गई यह प्रतिलिपि मूल रूप में उक्त रावराजा वीरभद्रसिंह के पास सुरक्षित है।

२०. यही पत्र किञ्चित् पाठान्तर के साथ स्नातक मण्डल, गुरुकुल कांगड़ी के मासिक मुख पत्र 'अलंकार' के ज्येष्ठ १९८१ वि. के अंक में स्वामी श्रद्धानन्द लिखित 'क्या ऋषि दयानन्द को विष नहीं दिया गया था ?' शीर्षक लेख में भी उद्धृत किया गया था।

२१. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन-पृ. ४६६ (द्वितीय संस्करण) कमलनयन शर्मा ने इस पत्र का उत्तर २५ सितम्बर १८८३ को दिया और उसमें स्वामीजी को मारवाड़ राज्य के दूषित वातावरण से परिचित कराते हुए लिखा—"स्वामीजी महाराज, मारवाड़ राज बड़ा विकट है। बहुधा चोर उठाईगीरे बसते हैं। वह स्थान आप जैसे महात्माओं के निवास करने का नहीं है। यदि राजा साहब चाहते, तो क्या चोर नहीं पकड़ा जाता ? इस कारण यदि वहां कुछ लाभ नहीं दीखता तो उसको छोड़, शीघ्र पधारिये।

मैं जानता हूँ कि यदि आप इतने दिन इन्दौर, कलकत्ता, मद्रास आदि स्थानों में भ्रमण करते तो बहुत कुछ उन्नति होती।" ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार—प्रथम भाग (मुन्शीराम जिज्ञासु द्वारा संगृहीत द० २८, पृ. १९२)। यह दैवी विडम्बना ही थी कि स्वामीजी से इस 'विकट मारवाड़ राज्य' को छोड़ने में विलम्ब हुआ और वही उनकी मृत्यु का कारण बना।

२१. अ. द्रष्टव्य—पत्र व्यवहार, पृ. ४६९

२२. हमारे नवीनतम अनुसंधान से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि राजाधिराज नाहरसिंह का मथुरा में दिया गया बयान सत्य से कोसों दूर तथा अपने राज्य के निवासी स्वामीजी के रसोइये धौड़ (धौल) मिश्र के अपराध को जान बूझकर छिपाने की दृष्टि से दिया गया था। उनके कथन के परीक्षण के लिये ही यह विवेचना प्रस्तुत की जा रही है। मथुरा में श्री नाहरसिंह ने कहा था कि "जो लोग स्वामीजी के पास रोटी बनाने वाले थे, वे अभी तक मेरे यहां नौकरी करते हैं। उनका नाम श्रीकृष्ण और कल्लू है।" मथुरा शताब्दी के पश्चात् जब श्री नाहरसिंह के उपर्युक्त कथन को लेकर नाना प्रकार की चर्चाएं प्रारम्भ हुईं तो शाहपुराधीश के यहां कार्य करने वाले श्री भगवानस्वरूप शर्मा (कालान्तर में पं. भगवानस्वरूप न्यायभूषण के रूप में प्रसिद्ध—वैदिक यंत्रालय अजमेर के प्रबंधक तथा बाद में परोपकारिणी सभा के सदस्य) ने धौल मिश्र का बयान कलमबंद कर स्वामी श्रद्धानन्द के पास भेजा जो अलंकार (गुरुकुल कांगड़ी स्नातक मण्डल का मुखपत्र) के मई १९२५ के अंक में पृष्ठ ३७६-३७८ पर प्रकाशित हुआ। इस पर हमारी आपत्तियां निम्न प्रकार हैं—

(१) शाहपुरानरेश के अनुसार तो स्वामीजी के रसोइयों के नाम श्रीकृष्ण तथा कल्लू थे, अब यह धौल मिश्र कौन है, जिसके बयान लिये जा रहे हैं ?

(२) धौल मिश्र ने अपने बयानों में कहा था कि मेरे सिवा और कोई रसोइया नहीं था, मैं अकेला ही था। जब कि श्री नाहरसिंह कल्लू और श्रीकृष्ण—दो रसोइयों के नामों का उल्लेख मथुरा शताब्दी के समय कर चुके थे।

(३) श्री भगवानस्वरूप शर्मा द्वारा लिपिबद्ध किये गये बयानों में धौल मिश्र के कथन की असंगतियाँ स्पष्ट उभर उठी हैं, जिन्हें निम्न प्रकार उल्लिखित किया जा सकता है—

(अ) धौल मिश्र कहते हैं कि स्वामीजी की अस्वस्थता के समाचार सुन कर 'श्री हुजूर दर्बार एक डाक्टर मर्दान अली को लेकर मोटर में वहां पधारे।' तथ्य यह है कि महाराजा जसवन्तसिंह स्वामीजी की बीमारी का समाचार सुनकर नहीं आये, अपितु रावराजा तेजसिंह आये थे। उस समय डा. अली मर्दान को नहीं, बल्कि डा. सूरजमल को बुलाया गया था। सर्वाधिक हास्यास्पद बात तो मोटर की है। उस जमाने में मोटर का आविष्कार ही नहीं हुआ था।

(आ) धौल मिश्र का यह कथन भी गलत है कि स्वामीजी जोधपुर के महलों में कभी नहीं गये, जब कि जीवनचरित लेखकों ने उनका तीन बार महाराजा को उपदेश देने हेतु राजमहलों में जाना उल्लिखित किया है। (द्रष्टव्य—पं. लेखराम रचित जीवन-चरित पृ. ९११)

(इ) पं. भगवानस्वरूप शर्मा द्वारा यह पूछे जाने पर कि जिस रात में स्वामीजी बीमार पड़े, उस शाम को दूध किसने गर्म किया था, धौल मिश्र का कहना कि इसका उसे स्मरण नहीं है, उसकी चालबाजी सूचित करता है। यह जानबूझ कर उस रात्रि को घटी घटना के दायित्व से बचना ही कहा जायगा।

२३. द्रष्टव्य—पत्र व्यवहार पृ. ४७६

२४. पं. लेखराम के अनुसंधान से ही यह प्रथम बार सिद्ध हुआ कि जिस रसोइये ने २९ सितम्बर की रात्रि को स्वामीजी को दूध पिलाया, वह शाहपुरा का रहने वाला धौड़ मिश्र था। १९२५ ई. में श्री भगवानस्वरूप शर्मा के समक्ष दिये गये बयानों में धौल मिश्र ने यह स्वीकार किया था कि बहुत दिन हुए एक बंगाली बाबू (देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय) आये थे और उन्होंने उससे बहुत कुछ पूछताछ की थी। धौल मिश्र के कथनानुसार १८८३ ई. में उसकी आयु २०-२२ वर्ष की थी।

२५. पं. लेखराम ने तो इस सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है—"संकलनकर्त्ता ने विश्वसनीय सूत्र से खोज करके जाना है कि दूध में चीनी के साथ कांच बारीक पीस कर दिया गया था।"—जीवनचरित, पृ. ९१४।

२६. अजमेर के पीर इमाम अली के अनुसार महाराज को संखिया दिया गया था। (पं. लेखराम कृत जीवन चरित पृ. ९२२)।

२७. पं. घासीराम रचित जीवनचरित, भाग २, पृष्ठ ३४१।

२८. आर्य मर्यादा २२ अप्रैल १९७३ के अंक में प्रकाशित डा. महेन्द्रकुमार शास्त्री के लेख का यह अंश इस प्रसंग में उल्लेखनीय है—"My contention is that Swamiji was given arsenic mixed with powdered glass and croton seeds. During the illness, Swamiji showed all symptoms, which such mixture is supposed to create."

२९. रीडर्स डाइजेस्ट पत्रिका के हिन्दी संस्करण 'सर्वोत्तम' के अप्रैल १९८३ के अंक में बेन वीडर तथा डेविड हैपगुड द्वारा लिखी गई पुस्तक 'नेपोलियन की हत्या किसने की?' का सार संक्षेप प्रकाशित हुआ है। इस पुस्तक में जो निष्कर्ष प्रस्तुत किये गये हैं उनसे यह स्पष्ट होता है कि नेपोलियन के शरीर में भी कैलोमेल विष अधिक मात्रा में धीरे धीरे (शराब के माध्यम से) प्रविष्ट कराया गया था, जो अन्ततः उसकी मृत्यु का कारण बना। यह ध्यातव्य है कि स्वामीजी के शरीर में कैलोमेल औषधि के माध्यम से प्रविष्ट कराया गया।

३०. स्वामी सत्यानन्द ने श्रीमद्दयानन्दप्रकाश में प्रथम बार जगन्नाथ के अपराध और स्वामीजी द्वारा उसे क्षमा दान किये जाने का उल्लेख किया था।—(द्रष्टव्य—राजस्थान काण्ड, चतुर्थ सर्ग)। उनके अनुसार राजकोट निवासी किसी व्यक्ति ने यह घटना सद्धर्मप्रचारक (महात्मा मुन्शीराम द्वारा सम्पादित साप्ताहिक) में छपाई थी।

३१. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवनचरित—भाग २, पृ. ३४०।

३२. आर्यसमाज का इतिहास प्रथम भाग का परिशिष्ट-४-ऋषि की मृत्यु कैसे हुई? पृ. ३२२।

३३. दयानन्द दिग्विजय—(१९६६ ई. का संस्करण), पृ. १३६ ।

३४. महर्षि का विषपान—अमर बलिदान, पृ. २१ ।

३५. यदि तथाकथित जगन्नाथ की मृत्यु १९०७-०८ में मान ली जाती है तो इससे स्वामी सत्यानन्द के इस मत का खण्डन स्वतः ही हो जाता है कि लोगों ने उसे १९७० वि. (१९१३ ई.) तक राजघाट में विक्षिप्तावस्था में देखा था ।

३६. विष-ऋषि मृत्यु का कारण, पृ. ११३ । आश्चर्य की बात यह है कि दयानन्द निर्वाण शताब्दी के प्रकाशित अधिकृत विवरण में इस घटना का कहीं उल्लेख नहीं मिलता ।

३७. आर्यसमाज का इतिहास प्रथम भाग पृ. ३२१

३८. 'स्वामी दयानन्द के जीवन के अन्तिम सात सप्ताह' वेदवाणी (आश्विन २०२९ वि.) में प्रकाशित लेख ।

३९. आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग, पृ. ३२२ ।
विष सम्बन्धी कथा कहानियों का अन्त यहीं तक नहीं होता । प्रसिद्ध आर्यसमाजी विद्वान् एवं कवि पं. हरिशंकर शर्मा ने सार्वदेशिक मासिक के मार्च १९५६ के अंक में अपने पिता पं. नाथूराम शंकर शर्मा की डायरी को उद्धृत करते हुए लिखा—१९०७ ई. की ग्रीष्म ऋतु में शंकरानन्द नामक एक संन्यासी उनके पिता के घर आकर ठहरा था । वस्तुतः यह शंकरानन्द स्वामी दयानन्द का ब्रह्मचारी लेखक रामानन्द ही था । उसने एक दिन पं. नाथूराम शंकर के समक्ष यह स्वीकार किया कि उसी ने स्वामीजी को विष दिया था । यह व्यक्ति चार पांच दिन तक हरदुआगंज, जिला अलीगढ़ (नाथूराम शंकर का निवास स्थान) में ठहरा भी था । इसके पश्चात् वह राजघाट चला गया, जहां उसने गंगा में डूब कर आत्महत्या कर ली । कथायें गढ़ने वालों की कल्पनाक्षमता की जितनी प्रशंसा की जाय कम है । यहां तो स्वामीजी के निकटतम सहयोगी, सहकारी और निजी सचिव के रूप में कार्य करने वाले ब्रह्मचारी रामानन्द को ही 'विषदाता' बना दिया । ऐसी निराधार किंवदन्तियों की आलोचना करना व्यर्थ ही है ।

४०. पं. भगवानस्वरूप शर्मा को दिये अपने बयान में तो धौल मिश्र ने कहा था कि वह स्वामीजी के साथ अजमेर तक रहा और उनके निधन के पश्चात् शाहपुरा लौट गया । परन्तु इस कथन की सत्यता में संदेह है ।

□□

जाके जीह् जोर तें प्रपञ्च फिलासफिन को
भारत सो समस्त आर्य मण्डल तें मान्यो मैं ।
वेद के विरुद्धी मत मत के कुबुद्धी मन्द,
भद्र मद्र आदिन पै सिंह अनुमान्यो मैं ।
ज्ञाता खट ग्रन्थन को वेद को प्रणेता जेता,
आर्य विद्या अर्क हू को अस्ताचल जान्यो मैं ।
स्वामी दयानन्द जू के विष्णुपद प्राप्त हू तें,
पारिजात को सो आज पतन प्रमान्यो मैं ।।

— महाराणा सज्जनसिंह, उदयपुर

अब हमारा दयानन्द परिक्रम का व्रत परिसमाप्त हो गया। संन्यासी परमहंसों के गंगापरिक्रम के समान दयानन्दगंगा के परिक्रम का कार्य शेष हो गया। परमहंसगण गंगा की उत्पत्ति भूमि से आरम्भ करके गंगा के किनारे किनारे विचरते हुए गंगासागर तक गमन करके अपने परिक्रम का कार्य समाप्त करते हैं। हमने भी दयानन्द के जन्मगृह से आरम्भ कर उनकी श्मशानभूमि तक पर्यटन किया है। टंकारा से, जिसके जीवापुर मुहल्ले के जिस घर में उन्होंने जन्म लिया था, आरम्भ करके अजमेर के तारागढ़ के नीचे अश्रुपूर्ण नेत्रों से उस निदारुण श्मशानभूमि को देख कर आये हैं जहां उस भारत के सूर्य की दिव्य देह को चितानल ने कुछ मुट्ठी भर भस्म में परिणत कर दिया था। जैसे गंगा परिक्रमकारी जन गंगा के दैर्घ्य, गंगा के विस्तार, गंगा की विशालता, गंगा की भीषणता, गंगा के आवेग, गंगा के आवर्त, गंगा के क्षोभ, गंगा की तरंग, गंगा की कल्लोल और गंगा के हिल्लोल को देखते हैं, वैसे ही हमने भी दयानन्द गंगा का सब कुछ देखा है। इसके प्रत्येक तरंग निक्षेप पर दृष्टि दी है। कोई कोई संन्यासी कहते हैं कि हरिद्वार से आरम्भ करके गंगासागर तक पर्यटन करने में प्रायः तीन वर्ष लगते हैं परन्तु हमने दयानन्दगंगा के परिक्रम में प्रायः पन्द्रह वर्ष काटे हैं। अतः दयानन्द हरिद्वारवाहिनी गंगा की अपेक्षा कुछ दीर्घतर है, कुछ विशालतर है। संन्यासी परमहंसगण अपने विश्वास में गंगा परिक्रमण वा नर्मदापरिक्रमण से कुछ न कुछ पुण्यार्जन करते हैं। पाठक, तो क्या हमने दयानन्द गंगा परिक्रमण करके कुछ पुण्यार्जन नहीं किया है ?

—देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय

जीवन संध्या

जोधपुर से पाली तक की यात्रा महाराज के रुग्ण शरीर को देखते हुए क्लेशकारक न हो, इस दृष्टि से स्वामीजी को ले जाने के लिये १६ कहारों से उठाई जाने वाली पालकी की व्यवस्था की गई। साथ में खसखस के डेरे (तम्बू) और देखभाल के लिये सिपाही भेजे गये। डा. सूरजमल को आदेश था कि वह मारवाड़ जंकशन तक उनके साथ रह कर मार्ग में आवश्यक उपचार करता रहे। तत्पश्चात् स्वामीजी को कोठी की ऊपरी मंजिल से शनैः शनैः हाथों के सहारे से नीचे लाकर पालकी में बिठाया गया। महाराजा जसवन्तसिंह ने अपने हाथों से अपनी फलालेन की विशेष पेटी महाराज की पीठ पर बांध दी, ताकि उन्हें लेटने में कष्ट न हो। जब महाराज की शिविका को वाहकों ने उठाया, तो महाराजा ने सम्मान प्रदर्शनार्थ स्वयं उसमें कंधा लगाया तथा अश्रुपूर्ण नेत्रों एवं गद्गद् स्वर में कहा कि आपका यहां से अस्वस्थ होकर जाना मेरे तथा मारवाड़ राज्य के लिये शाश्वत कलंक का कारण बन गया है। यदि आप स्वस्थ होकर पधारते तो अधिक अच्छा होता।

साढ़े चार मास जोधपुर में व्यतीत कर अन्ततः स्वामी दयानन्द यहां से प्रस्थान करते हैं। जब ३१ मई १८८३ को उनका इस नगर में पदार्पण हुआ था, उस समय किसे पता था कि आदित्य ब्रह्मचारी, परिव्राट् सम्राट् दयानन्द के लिये इस नगर का निवास ही मृत्यु का कारण बन जायगा। नियति के अटल विधान को टालना सम्भव नहीं हो सका। यात्रा की तैयारियों में ही सारा दिन व्यतीत हुआ। जोधपुर से निकलते निकलते सायंकाल हो गया। सारी रात चले और प्रातः रोहट[1] ग्राम में पहुंचे। कार्तिक कृष्णा प्रतिपदा, १७ अक्टूबर बुधवार, का दिन रोहट में व्यतीत हुआ। दस्तों में कोई खास फर्क नहीं पड़ा था तथा हिचकी भी जारी थी। स्वामीजी लेटे हुए थे और ब्रह्मचारी रामानन्द अग्निहोत्र कर रहा था। उस समय गांव के दो ब्राह्मण वहाँ आये। उन्होंने स्वस्ति पाठ के दो मंत्र पढ़ कर महाराज के स्वस्थ होने की कामना की। स्वामीजी ने रामानन्द को कह कर उन्हें एक एक रुपया दक्षिणा रूप में दिलवाया। इस समाचार को सुन कर गांव के कुछ अन्य ब्राह्मण धन प्राप्ति के प्रलोभन में 'कार्तिक माहात्म्य' जैसे साम्प्रदायिक ग्रन्थ लेकर आये और लगे उनका पाठ करने। महाराज ने उनकी इस प्रलोभन वृत्ति से क्षुब्ध होकर उन्हें चले जाने का आदेश दिया। कार्तिक कृष्णा २-३, १८ अक्टूबर गुरुवार को बहुत सवेरे रोहट से चले और उसी दिन मध्याह्नोत्तर ३ बजे पाली पहुंचे। जोधपुर से पाली तक की यह यात्रा महाराज के रुग्ण शरीर के लिये अत्यन्त कष्टदायक तथा सत्वनाशक सिद्ध हुई।

अजमेर के आर्य सभासद् जेठमल सोढ़ा भी महाराज के साथ आये थे। अब वे अजमेर चले गये और वहां के आर्यपुरुषों को महाराज की स्थिति से अवगत कराया। यह निश्चय हुआ कि प्रसिद्ध हकीम पीर इमाम अली को स्वामीजी की दशा बताई जाय। पीरजी ने स्वामीजी की दशा का वर्णन सुनने मात्र से ही निश्चय कर लिया कि उन्हें संखिया दिया

गया है। साथ ही उन्होंने प्यास की निवृत्ति तथा हिचकी बंद होने के लिये एक औषधि[२] तैयार कर जेठमल सोढ़ा को दी, जिसे लेकर वे मारवाड़ जंकशन आये और महाराज को दी। निश्चय ही पीर इमाम अली प्रदत्त इस औषधि से महाराज को आराम मिला। प्यास और हिचकी का स्वल्प निवारण हुआ।

पाली में स्वामीजी दो दिन ठहरे और कार्तिक कृष्णा पञ्चमी, २० अक्टूबर शनिवार को उन्होंने यहां से रेल मार्ग द्वारा आबूरोड के लिये प्रस्थान किया। पाली पहुंचते ही हरनामदास ओवरसियर को आबू पर्वत पर तार दे दिया गया था कि स्वामीजी जोधपुर राज्य की कोठी में ठहरेंगे तथा उन्हें अर्बुद पर्वत शिखर तक ले जाने के लिये पालकी आबूरोड़ स्टेशन पर तैयार मिलनी चाहिए। कार्तिक कृष्णा ६, २१ अक्टूबर रविवार को स्वामीजी आबूरोड स्टेशन पर उतरे। गाड़ी से उतरने का प्रयत्न करते समय प्रचण्ड धूप मुख पर पड़ने से महाराज को मूर्छा आ गई। तब साथ के लोगों ने हाथों पर उठा कर उन्हें स्टेशन के बरामदे में पलंग पर लिटा दिया। स्टेशन पर शौच निवृत्ति की इच्छा हुई, तो घनश्यामदास गार्ड[३] को कह कर चीनी मिट्टी के शौच पात्र की व्यवस्था कर दी गई। डा. सूरजमल को यद्यपि महाराज के साथ आबू शिखर तक जाना था, किन्तु उनकी पत्नी की रुग्णता को देखते हुए स्वामीजी ने उन्हें आबूरोड से ही तुरन्त जोधपुर लौट जाने का आदेश दिया।

श्री जेठमल सोढ़ा द्वारा अजमेर के पीर जी से लाई गई औषधि से स्वामीजी को कुछ लाभ पहुंचा। खारची जंक्शन[४] तक स्वामीजी कागजों पर हस्ताक्षर करते थे, यद्यपि हाथों में कम्पन होने लगा था। सोढ़ाजी बताते हैं कि स्वामीजी ने उनके सामने वैदिक यंत्रालय को लिखे गये पोस्टकार्ड पर हस्ताक्षर किये। सम्भवतः यह उनके अन्तिम हस्ताक्षर थे। छलेसर (जिला अलीगढ़) निवासी ठाकुर भूपालसिंह स्वामीजी की रुग्णता का समाचार जानकर मसूदा और मारवाड़ जंक्शन होते हुए महाराज से आबूरोड आकर मिले। यहां से उनके साथ आबूपर्वत तक गये। पर्वत पर चढ़ने के लिये पालकी की व्यवस्था पहले ही का जा चुकी थी। अब उन्हें पालकी में लिटा कर पर्वत शिखर पर ले जाने का उपक्रम हुआ।

दो मील चढ़ने के पश्चात् कहारों ने पालकी को एक पेड़ के नीचे, सड़क के किनारे रख दिया और स्वयं सुस्ताने लगे। इस समय एक घटना घटी। पंजाब के शाहपुर जिले के भेरा कस्बे के रहने वाले डा. लक्ष्मणदास, जो अब तक आबू पर्वत के राजकीय चिकित्सालय में कार्यरत थे, अपने स्थानान्तरण का आदेश पाकर अजमेर जा रहे थे। वे घोड़ी पर सवार शिखर से उतर रहे थे। उन्होंने देखा कि काषाय वस्त्रधारी एक संन्यासी अर्द्धमूर्छित अवस्था में सड़क के किनारे रक्खी एक शिविका में पड़ा है। परिचय पूछा, तो विदित हुआ कि संन्यासी महानुभाव आर्यसमाजप्रवर्त्तक दयानन्द सरस्वती हैं, जो अत्यधिक रुग्ण हो जाने के कारण चिकित्सार्थ आबूपर्वत पर जा रहे हैं। पंजाबी डाक्टर लक्ष्मणदास आर्यसमाज का अनुयायी तथा अजमेर के सहायक न्यायायुक्त पं. भागराम का सम्बन्धी था। जब उसने आचार्य-देव को इस स्थिति में देखा, तो उसका चित्त करुणा विगलित हो उठा, नेत्र अश्रु-सिक्त हो गये। डाक्टर ने तुरन्त अपनी औषधि मंजूषा से एमोनिया की शीशी निकाली और थोड़े से पानी में इसे घोलकर निश्चित मात्रा में स्वामीजी को पिलाया। इस प्रकार तीन बार औषधि घोल को पिलाने से महाराज की मूर्छा दूर हुई। उन्होंने आंखें खोली और कहा—

"ऐसा लगता है, किसी ने मुझे अमृत पिलाया है।" साथ के लोगों ने डा. लक्ष्मणदास का परिचय दिया। महाराज ने अत्यन्त कृपा एवं स्नेह की दृष्टि से भक्त डाक्टर की ओर निहारा, पुनः अचेत हो गये।

इसी समय डा. लक्ष्मणदास ने निश्चय कर लिया कि चाहे उसे स्थानान्तरण आदेश की अवहेलना ही करनी पड़े, वह आबू पर्वत पर रह कर ही महाराज की प्राणपण से चिकित्सा करेगा। अतः वह स्वामीजी के साथ ही आबू शिखर लौट आया। रात्रि को आठ बजे आबू पर्वत पर पहुंच कर स्वामीजी जोधपुर के राजकीय आवासगृह में ले जाये गये। डा. लक्ष्मणदास ने अविलम्ब एक औषधि तैयार की तथा रात्रि को तीन तीन घण्टे के अन्तराल से स्वामीजी को देते रहे। रोगी को पर्याप्त लाभ मिला। दस्तों मे कमी आई, हिचकी रुक गई तथा चेतना यथापूर्व बनी रही। पथ्य के रूप में दूध में मिला कर अरारोट दिया गया। दो दिनों में स्थिति में और सुधार हुआ। रात्रि में पर्याप्त देर तक सोये। महाराज के अस्वस्थ होने का समाचार पाकर फर्रूखाबाद से पं. लक्ष्मीदत्त, मेरठ के मुन्शी लक्ष्मणस्वरूप तथा बम्बई से श्री सेवकलाल कृष्णदास तथा अन्य अनेक आर्यगण आबूपर्वत पर पहुंच गये थे। आबू में स्वामीजी का निवास केवल ६ दिन का ही रहा। २३ अक्टूबर को लक्ष्मणदास को पुनः आदेश मिला कि वे तुरन्त अजमेर पहुंच कर अपना कार्यभार संभालें। इस पर वे अपने मुख्य चिकित्सा अधिकारी के पास इस आशय का आवेदन पत्र लेकर पहुंचे कि उन्हें दो मास का अवैतनिक अवकाश दे दिया जाय, ताकि वे स्वामीजी की चिकित्सा दत्तचित्त होकर कर सकें। अंग्रेज चिकित्सा अधिकारी डा. स्पेन्सर ने जब डा. लक्ष्मणदास को यहां देखा तो आश्चर्यचकित होकर बोल उठे—"हमने तुम्हें अजमेर जाने का आदेश दिया था और तुम अभी तक यहीं हो। अजमेर के सिविल सर्जन के दो तार आ चुके है, जिसमें तुम्हारे द्वारा अपना नवीन कार्यभार अब तक न संभालने की सूचना दी गई है। हमने तो सोचा था कि या तो पर्वत से उतरते समय तुम किसी खड्ड में गिर पड़े हो अथवा किसी हिंस्रपशु के शिकार हो गये हो।"

डा. लक्ष्मणदास ने स्वामी दयानन्द की रुग्ण दशा का पुनः उल्लेख कर कहा कि वे हमारे आदरणीय धर्माचार्य तथा जातीय नेता हैं। उनकी चिकित्सा करना हमारा पुनीत कर्त्तव्य है। डा. स्पेन्सर ने डा. लक्ष्मणदास के अभिप्राय को तो समझा किन्तु वह किसी भी हालत में उन्हें छुट्टी देने अथवा स्थानान्तरण स्थगित करने के लिये तैयार नहीं हुआ। बल्कि उसने कहा—"तुम अजमेर जाओ मैं तथा डा. गुरुचरणदास (आबू पर्वत की ब्रिटिश डिस्पेन्सरी के प्रभारी) स्वामीजी को संभाल लेंगे।" अब डा. लक्ष्मणदास के लिये कुछ कहने के लिये नहीं रहा। वे तो अपने स्थान पर आकर नौकरी से त्यागपत्र देने तक के लिये तैयार हो गये। एक बार तो उन्होंने त्यागपत्र लिख कर सेवक के साथ चिकित्सा अधिकारी को भेजने के लिये दे भी दिया, किन्तु जब स्वामीजी को यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने इस त्यागपत्र को फाड़ दिया। परमकारुणिक महाराज नहीं चाहते थे कि उनके कारण किसी की जीविका को आंच आये। इस पर डाक्टर ने दुबारा त्यागपत्र लिख भेजा, जो अधिकारी द्वारा अस्वीकार कर दिया गया।

२६ अक्टूबर को कर्नल प्रतापसिंह भी आबू पहुंचे। उनके माध्यम से डा. स्पेन्सर ने स्वामीजी को कहलाया कि वे डा. लक्ष्मणदास को अजमेर जाने के लिये कहें। वे स्वयं महाराज

की चिकित्सा करेंगे। अन्ततः डा. लक्ष्मणदास ने अजमेर जाने का निश्चय किया, परन्तु प्रस्थान के पूर्व उसने दो तीन दिन की औषधि तैयार कर भक्त जनों को दे दी और कहा कि वे शीघ्र ही महाराज को लेकर अजमेर चले आयें। वहां वे स्वामीजी की भली भांति चिकित्सा करेंगे। इस बीच जोधपुर की रेजिडेन्सी डिस्पेन्सरी के डा. एडम तथा आबू के चिकित्सालय के प्रभारी डा. गुरुचरणदास ने उन्हें दो तीन बार देखा। भारी हृदय लेकर डा. लक्ष्मणदास तो चले गये। अब डा. स्पेन्सर की चिकित्सा आरम्भ हुई। परन्तु इससे महाराज को कोई लाभ नहीं पहुंचा। कर्नल प्रताप ने इस समय स्वामीजी से पूछा कि क्या डा. अलीमर्दान पर उन्हें विष देने का संदेह है ? यदि ऐसा है तो वे स्पष्ट कहें, ताकि उस पर अभियोग चलाया जा सके। स्वामीजी ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया।[५] आर्य जनों ने स्वामीजी की सेवा शुश्रूषा करने में कोई कसर नहीं उठा रक्खी। ठाकुर भूपालसिंह ने तो महाराज के मल मूत्र को उठाने तथा मल से सने वस्त्रों तक को धोने में कोई संकोच नहीं किया। जब महाराज की दशा में कोई सुधार नहीं हुआ, तो उन्हें अजमेर ले जाने का विचार सामने आया। यद्यपि स्वामीजी की इच्छा वहां जाने की नहीं थी, किन्तु भक्त जनों के आग्रह को उन्होंने स्वीकार कर ही लिया।

पांच दिन के अल्प प्रवास के पश्चात् कार्तिक कृष्णा एकादशी, २६ अक्टूबर शुक्रवार को स्वामीजी अजमेर के लिये प्रस्थित हुए। शरीर में उष्णता अत्यधिक बढ़ गई थी। आबू रोड से प्रथम श्रेणी के डिब्बे में उन्हें लिटा दिया गया। उष्णता के निवारण के लिये महाराज को दही खाने की इच्छा हुई। मार्ग में कहीं दही उपलब्ध नहीं हुआ। बीच के एक स्टेशन नाणा[६] की आर्यसमाज के मंत्री को तार द्वारा सूचित किया गया कि स्वामीजी रेल में सवार होकर अजमेर जा रहे हैं। उनके लिये वे दही लेकर स्टेशन पर उपस्थित रहें। जब रात्रि के लगभग ९ बजे गाड़ी नाणा पहुंची, तो आर्यसमाज के मंत्री दही लेकर सेवा में उपस्थित हुए। महाराज ने स्वल्प मात्रा में ही दही खाया, किन्तु शीत काल में ठण्डे दही का सेवन ही कुपथ्य सिद्ध हुआ। महाराज पर निमोनिया का भंयकर आक्रमण हो गया। गाड़ी जब सायं चार बजे अजमेर स्टेशन पर पहुंची तो महाराज प्रायः मूर्छित अवस्था में थे। बड़ी सावधानी से चार पुरुषों ने उन्हें डिब्बे से उतारा और पालकी में लिटा कर भिनाय राजा की कोठी[७] पर लाकर पलंग पर सुला दिया। तुरन्त डा. लक्ष्मणदास को खबर की गई और कार्तिक कृष्णा द्वादशी, २७ अक्टूबर से पुनः उन्हीं की चिकित्सा आरम्भ हुई। डा. लक्ष्मणदास ने महाराज की स्थिति को देखते ही कह दिया कि उन पर निमोनिये का प्रबल आक्रमण हुआ है। उन्होंने यह भी जान लिया कि किसी न किसी कुपथ्य के कारण ही ऐसा हुआ है।

तथापि उन्होंने धैर्यपूर्वक महाराज की चिकित्सा पुनः आरम्भ की। निमोनिया का उपशमन करने के लिये डाक्टर ने कमरे में अग्नि जलवा कर उसे गरम रक्खा, किन्तु उनके चले जाने पर स्वामीजी ने अपना पलंग द्वार के समीप रखवा लिया जहां शीतल वायु के प्रबल झोंके आ रहे थे। वस्तुतः स्वामीजी को शरीर में प्रबल दाह अनुभव हो रहा था। वे अपनी समझ के अनुसार ठण्डी हवा का संस्पर्श पाना चाहते थे। जब डाक्टर लौट कर आये और उन्होंने महाराज को द्वार के सन्निकट पलंग पर लेटे देखा तो पहले तो सेवा करने वालों पर बहुत बिगड़े, परन्तु जब उन्हें बताया गया कि स्वामीजी ने ही पलंग को

हवा के रुख की ओर खिसकाने के लिये बाध्य किया था, तो डाक्टर के लिये निराशा प्रकट करने के अतिरिक्त और था ही क्या ?

जीवन संध्या को निकट आता जान कर स्वामीजी ने अपने स्वीकार पत्र की प्रतियां उपस्थित आर्य पुरुषों में बटवाईं। पुनः कई मूल्यवान उत्तरीय मंगवाकर डा. लक्ष्मणदास को चिकित्सा के पुरस्कार स्वरूप देने चाहे। महाराज का यह कृतज्ञता भाव देख कर भक्त डाक्टर की आंखें आंसुओं से छलछला आईं। भावप्रवण हृदय से उसने कहा, **"महाराज, यदि मेरे पास धन होता तो मैं आपके एक एक रोम पर उसे न्योछावर कर देता। मुझे कोई पुरस्कार नहीं चाहिए। यदि मैं अपने प्राण देकर भी आपको स्वस्थ कर पाता, तो यही मेरा सबसे बड़ा पुरस्कार होता।"** डाक्टर लक्ष्मणदास के इस भक्ति भाव को देख कर सांसारिक माया ममता से मुक्त संन्यासी की आंखों में भी अश्रु बिंदु झलकने लगे। उनके मुख से यही निकला कि सच्चे आर्य और आर्यावर्त के सपूत ऐसे ही होते हैं। महाराज के इन उद्गारों को सुनकर डाक्टर की आंखों का प्रवाह तो निर्बाध रूप से बह निकला।

२८ अक्टूबर—अजमेर आर्यसमाज के मंत्री पं. मुन्नालाल ने महाराज से उनके शरीर की दशा पूछी। उत्तर मिला अच्छी है। राय भागराम तथा सरदार भगतसिंह एक्जीक्यूटिव इंजिनियर महाराज के दर्शनार्थ उपस्थित हुए। स्वामीजी ने राय साहब से डा. लक्ष्मणदास की सेवा भावना तथा चिकित्सा नैपुण्य की चर्चा की तथा कहा कि यदि मैं आरम्भ में ही इनके साथ चला आता तो मेरी दशा में तुरन्त सुधार हो गया होता। इस पर राय भागराम ने इतना ही कहा कि अब भी आप शीघ्र ही स्वास्थ्य लाभ कर लेंगे। इस समय स्वामीजी ने मसूदा जाने की इच्छा व्यक्त की, परन्तु रोग की दशा को देखते हुए उन्हें अजमेर से अन्यत्र ले जाना सम्भव नहीं था।

स्वामीजी के रोगाक्रान्त होने का समाचार तो देश में सर्वत्र व्याप्त हो गया था। लाहौर आर्यसमाज ने अपने उपप्रधान लाला जीवनदास[८] तथा सभासद् पं. गुरुदत्त[९] को स्वामीजी की सेवा हेतु अजमेर भेजा। उदयपुर से परोपकारिणी सभा के उपमन्त्री पं. मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या भी आ पहुंचे। महाराणा सज्जनसिंह ने पण्ड्या जी को विशेष रूप से भेजा था तथा उनसे कहा था कि कदाचित् महाराज का देहपात हो जाय, तो अन्त्येष्टि करने में जल्दी न करें, बल्कि दो तीन दिन तक ठहरें ताकि महाराणा स्वयं आचार्य प्रवर के अन्तिम दर्शन कर सकें। डाक्टर लक्ष्मणदास ने यह तो कह ही रक्खा था कि रोग की इस जीर्ण अवस्था में शीतल वायु से महाराज को बचाना आवश्यक है। परन्तु उस दिन जब डाक्टर लक्ष्मणदास राय भागराम के यहां भोजन करने गये तो स्वामीजी ने तुरन्त अपना पलंग कमरे से बाहर निकलवा लिया। जब डाक्टर भोजन करके पुनः भिनाय की कोठी में आये, तो देखते हैं कि महाराज का पलंग बरामदे में पड़ा हुआ है और स्वामीजी बैठे हुए पण्ड्या जी से शुद्ध एवं शीतल वायु का माहात्म्य कथन कर रहे हैं। यह देखकर डाक्टर ने तो अपना सिर ही पीट लिया। उसने पलंग पुनः कमरे में डलवाया और पं. गुरुदत्त से कहा कि आज महाराज पर रोग का एक और भयंकर आक्रमण होगा। ऐसा ही हुआ।

रात्रि को पं. गुरुदत्त और डाक्टर लक्ष्मणदास बारी बारी से श्री सेवा में जागते रहे। जब पं. गुरुदत्त स्वामीजी के निकट बैठे थे, तो रात्रि को बारह बजे से कुछ पूर्व उन्हें ऐसा आभास हुआ कि महाराज की श्वासक्रिया यकायक बंद हो गई है। उन्होंने तुरन्त डाक्टर को जगाया जिसने कुछ आपत्कालिक उपचार किये, जिससे श्वास की गति संभल गई और नाड़ी भी धीमी धीमी चलने लगी। थोड़ी देर पश्चात् महाराज की दशा में अपेक्षित सुधार हो गया।

कार्तिक अमावस्या 'दीपमाला'—३० अक्टूबर मंगलवार का दिन—डाक्टर लक्ष्मणदास महाराज की दशा को देखकर निराशा व्यक्त कर चुके थे। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि यदि कोई अन्य चिकित्सक स्वामीजी के उपचार में उनका सहयोग नहीं करेगा, तो उनके लिये आगे महाराज का इलाज करना सम्भव नहीं है। इस पर अजमेर के अंग्रेज सिविल सर्जन डा. न्यूमैन को बुलाया गया। डाक्टर न्यूमैन ने रोगी की हालत देखी। वे महाराज पर रोग के प्रचण्ड आक्रमण, किन्तु रोगी की अनन्य सहिष्णुता को देखकर स्तम्भित रह गये। उन्हें आश्चर्य हुआ कि इस भीषण स्थिति में भी क्या कोई रोगी ऐसी दारुण वेदना को असीम धैर्यपूर्वक सहन कर सकता है? जब उन्हें बताया गया कि रोगी और कोई नहीं, देशविख्यात धर्माचार्य एवं समाज सुधारक दयानन्द हैं, तो उनके मुख से स्वामी जी के अपरिमित आत्मबल तथा अप्रतिम कष्टसहिष्णुता के प्रति प्रशंसा के भाव निकल पड़े। न्यूमैन ने स्टेथेस्कोप से स्वामीजी के शरीर का निरीक्षण कर डाक्टर लक्ष्मणदास द्वारा किये गये निमोनिया के निदान का अनुमोदन किया। उसने भी इसे डबल एक्यूट निमोनिया ही बताया एवं डा. लक्ष्मणदास द्वारा किये जा रहे उपचार की पुष्टि की तथा शरीर पर राई का पुल्टिस बांधने को कहा। तदनुसार पुल्टिस बांधी गई किन्तु अधिक लाभ न होने से स्वामीजी ने इसे बंद करा दिया। पुल्टिस बांधने से स्वामीजी की पीठ पर छाले पड़ गये। स्वामीजी ने कहा, "यह मेरा अन्त समय है, अतः उपचार छोड़ दो।"

११ बजे महाराज ने शौच जाने की इच्छा व्यक्त की। लोगों ने शौच की चौकी पर बिठाया। निवृत्त होकर स्वयं आबदस्त लिया, पुनः हाथ धोये, दतौन किया और भक्तों से कहा कि उन्हें पलंग पर ले चलें। पलंग पर कुछ देर बैठकर लेट गये। पुनः क्षौर कराने की इच्छा हुई तो आर्यसमाज के मंत्री श्री मथुराप्रसाद[१०] से नापित को बुलाने के लिये कहा। दीपावली का पर्व और मंगलवार होने के कारण नापित ने ५ रु. दिये जाने पर ही क्षौर करना स्वीकार किया। मथुराप्रसाद उसे ले आये। क्षौर कराने के पश्चात् महाराज ने नापित को पुरस्कार रूप में पांच रुपये देने के लिये कहा, परन्तु आर्यसमाज के मन्त्री ने उसे एक रुपया देकर ही टालना चाहा। इस पर वह पुनः लौटकर कोठी में आया, तब महाराज के कहने पर चार रुपये और दिये गये।

स्वामीजी की इच्छा स्नान करने की थी, परन्तु रोग की इस भीषण स्थिति में लोगों ने स्नान करने के लिये मना कर दिया। इस पर महाराज ने गीले वस्त्र से शरीर, विशेष रूप से सिर को पोंछा। छाले फूट गये और शरीर से रक्त बह निकला। श्वास तीव्र गति से चलने लगा। दयानन्द के महाप्रस्थान की लगभग सभी तैयारियां पूरी हो चुकी हैं।

वे अपने मन, प्राण तथा आत्मा को सम्पूर्णतया एकाग्र कर परमपुरुष में केन्द्रित करना चाहते हैं। शरीर को वस्त्र से स्वच्छ करने के अनन्तर महाराज ने यथेच्छ भोजन बनाने के लिये कहा। जब भोजन बन गया, तो एक थाल में सजाकर महाराज के सम्मुख प्रस्तुत किया गया। महाराज ने थाली पर दृष्टि निक्षेप किया और उसे हटा लेने के लिये कहा, किन्तु भक्त जनों के अत्याग्रह पर एक चम्मच भरा चनों का झोल ले लिया। पश्चात् उन्होंने उपस्थित जनों को भोजन करने के लिये कहा। परन्तु महाराज को इस दशा में देखकर भक्तों का भोजन के प्रति क्या आकर्षण हो सकता था? किसी भक्त ने पूछा—"आपका चित्त कैसा है"? उत्तर मिला—"अच्छा है, आज एक महीने के पश्चात् आराम का दिवस आया है।" लाला जीवनदास ने पूछा था—"आप कहाँ हैं?" महाराज का उत्तर "ईश्वरेच्छा में।" प्रभुभक्त संन्यासी ने 'स्व' को भगवद् अर्पण कर दिया था।

घड़ी ने चार बजाये। शिष्य आत्मानन्द की बुलाहट हुई। स्वामी आत्मानन्द आये तो उनसे कहा—"पीछे खड़े हो जाओ या सिरहाने बैठ जाओ।" पुनः पूछा—"आत्मानन्द, क्या चाहते हो?" शिष्य ने दुखी स्वर में कहा—"महाराज आप अच्छे हो जायें, हमारी ईश्वर से यही कामना है।" दयानन्द ने निरपेक्ष भाव से कहा—"शरीर का क्या अच्छा होना।" पुनः आत्मानन्द के सिर पर हाथ रखकर आशीर्वादपूर्ण मुद्रा में कहा—"आनन्द से रहना।" शिष्य के नेत्र अश्रुपात करते रहे। काशी से आये संन्यासी गोपालगिरि से भी महाराज ने ऐसे ही आशीर्वादसूचक वाक्य कहे। पुनः दो दुशाले और २०० रु. पं. भीमसेन तथा स्वामी आत्मानन्द को देने के लिये कहा। प्रणत भावापन्न शिष्य द्वय महाराज के इस अपूर्व वात्सल्य एवं अनुकम्पा भाव को देखकर बिलखने लगे। उन्हें तो महाराज का आशीर्वाद ही अभीष्ट था, न कि कोई अन्य पुरस्कार।

तदनन्तर बाहर से आये आर्य पुरुष महाराज के अन्तिम दर्शनार्थ उपस्थित हुए। स्वामीजी ने नेत्रों की कृपा कोर से उन्हें स्नेहसिक्त होकर देखा जो अद्भुत एवं अवर्णनीय था। महाराज के मुख पर उस समय अपार धैर्य, अद्भुत शान्ति तथा मृत्युञ्जयता के भाव विद्यमान थे। पर्याप्त देर तक वे भक्त समुदाय से वार्तालाप करते रहे। अब अपराह्न के पांच बज गये। लोगों ने पूछा "श्रीमानों का चित्त कैसा है?" उत्तर मिला "अच्छा है। तेज और अंधकार का भाव है।" लोग कुछ समझे नहीं। साढ़े पांच बजे उपस्थित जन समूह को सामने से हट कर पीछे खड़े हो जाने का आदेश दिया। कमरे के सभी दरवाजे तथा छत के रोशनदान खुलवा दिये। पक्ष, तिथि एवं वार की जिज्ञासा की। उत्तर में किसी ने कहा—"कृष्णपक्ष का अन्त—अमावस्या और मंगलवार है।" यह सुन कर चतुर्दिक् दृष्टिपात किया, पुनः वेद मंत्रों का पाठ करने लगे। तत्पश्चात् संस्कृत भाषा में परेश स्तवन किया, पुनः हिन्दी भाषा में दीर्घकाल तक परमात्मा का गुणानुवाद किया तथा उत्फुल्ल वदन गायत्री मंत्र तथा अपने प्रिय वेद मंत्र 'विश्वानि देव' का' जलद गम्भीर स्वर में, बहुत बार उच्चारण किया। किञ्चित् काल पर्यन्त समाधिस्थ रहे, पुनः आंखें खोली और अपने अन्तिम उद्गार व्यक्त किये—"**हे दयामय सर्वशक्तिमान् परमेश्वर, तेरी यही इच्छा है, तेरी यही इच्छा है, तेरी इच्छा पूर्ण हो, अहा, तूने अच्छी लीला की।**" उस समय महाराज सीधे लेटे थे, करवट बदली और श्वास को रोक कर एक बार ही बाहर निकाल दिया। दयानन्द का अमर आत्मा

पाञ्चभौतिक देह का परित्याग कर सर्वात्मा से जा मिला। महाराज की मानव लीला समाप्त हुई। उन्नीसवीं शताब्दी के महर्षि, आर्ष धर्म द्रष्टा, अप्रतिम धर्माचार्य और धर्म संशोधक, महान् समाज संस्कारक तथा राष्ट्र एवं मानव जाति के सर्वविध मंगल विधायक महापुरुष के जीवनरूपक का यवनिका पतन हुआ। जगन्नाटक के सूत्रधार का निर्देश पाकर वे असमय ही जीवन की रंगस्थली को छोड़कर नेपथ्य की ओर चले गये। मनु, व्यास, याज्ञवल्क्य और जैमिनि की प्रोज्ज्वल परम्पराओं का प्रस्तोता ऋषि अपनी इहलौकिक लीला का संवरण कर कीर्तिशेष हो गया। उस समय सायंकाल के ६ बजे थे।

दयानन्द का जीवन जितना दिव्य था, उनकी मृत्यु भी उतनी प्रेरणा दायिनी सिद्ध हुई। पं. गुरुदत्त ने यद्यपि आर्यसमाज की सदस्यता स्वीकार कर ली थी, परन्तु भौतिक-विज्ञान के सुगूढ़ रहस्यों तथा यूरोप की संदेहवादी दार्शनिक चिन्तन प्रणालियों के गम्भीर अध्ययन ने उसकी आस्तिक विचारधारा को दोलायमान कर दिया था। आज उसने स्वामी दयानन्द जैसे महान् आस्तिक, ईश्वरविश्वासी योगी को मृत्यु का सहर्ष वरण करते हुए देखा, तो उसके मन में परम सत्ता विषयक व्याप्त सारी शंकायें स्वतः ही निर्मूल हो गईं तथा पारमार्थिक ईश्वरीय तत्त्व के प्रति हृदय में अटूट विश्वास जम गया।

महाराज का शरीर पलंग पर छूटा था। अतः उसे रात्रि पर्यन्त उसी प्रकार रहने दिया गया। दूसरे दिन स्वामीजी के परलोक गमन का समाचार सुन कर दो संन्यासी आये। वे चाहते थे कि स्वामीजी का शरीर उन्हें सौंप दिया जाय। संन्यासियों में प्रचलित परम्परानुसार वे उसे भूमिस्थ कर देना चाहते थे, परन्तु आर्य पुरुषों ने उन्हें समझाया कि महाराज तो अपने जीवनकाल में ही स्वनिर्मित स्वीकार पत्र में स्वयं की अन्त्येष्टि के विषय में विस्तृत निर्देश कर गये हैं।[११] अतः उनकी अन्त्येष्टि तो वेदोक्त विधि से ही की जायगी। इस पर वे संन्यासी चले गये।

कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा, ३१ अक्टूबर बुधवार—प्रातः से ही महाराज की महायात्रा की तैयारियां होने लगीं। उनकी पुण्यकाया को विधिवत् स्नान करा कर चन्दनादि द्रव्यों से चर्चित किया गया। पुनः काष्ठ का एक विमान तैयार कर उसे लता पल्लवों एवं पुष्पों से सुसज्जित किया। तत्पश्चात् महाराज के शरीर को इस विमान में स्थापित किया गया। महाराज के पवित्र शरीर को घेर कर आर्य जन खड़े हो गये और आधा घण्टापर्यन्त वेदमन्त्रों का पाठ करते रहे। पश्चात् विमान को आर्य पुरुष कंधों पर उठा कर ले चले।[१२]

महाराज की यह अन्तिम यात्रा भिनाय की कोठी से आरम्भ हुई। विमान के आगे आगे महाराज के संन्यासी शिष्य स्वामी आत्मानन्द, गोपालगिरि, तथा ब्रह्मचारी रामानन्द मंत्र पाठ कर रहे थे। इसी प्रकार पं. बृद्धिचन्द्र तथा पं. मुन्नालाल भी नंगे पांव वेदमंत्रों की पुनीत ध्वनि से वातावरण को गुञ्जायमान कर रहे थे। विमान के पीछे आर्य पुरुषों का बृहत् समुदाय था, जिसमें उत्तर भारतीय, मारवाड़ी, पंजाबी, बंगाली तथा महाराष्ट्रीय लोगों का विशाल जनसमूह चल रहा था। राय भागराम तथा पं. सुन्दरलाल शवयात्रा की समुचित व्यवस्था कर रहे थे। अजमेर की ब्रह्मसमाज के प्रधान श्री शरत्चन्द्र मजूमदार भी इस समूह में विद्यमान थे।

महाराज की यह महायात्रा आगरा दरवाजा, धान मण्डी, दरगाह बाजार, डिग्गी बाजार, ऊसरी दरवाजे होती हुई नगर के दक्षिण पार्श्ववर्ती मलूसर नामक श्मशान में जाकर समाप्त हुई। वहां विधिवत् वेदी का निर्माण हुआ। जब तक वेदी तैयार हुई उपस्थित जन समूह की विरह व्याकुलता को लक्ष्य में रख कर राय भागराम ने दिवंगत महाराज के व्यक्तित्व तथा गुणों की प्रशस्ति में कुछ कहना चाहा, किन्तु शीघ्र ही भावावेश के कारण उनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया, वाणी का प्रवाह रुक गया और वे अश्रु विगलित होकर मौन हो गये। अन्ततः वेदी तैयार हुई और दयानन्द सरस्वती के पाञ्चभौतिक शरीर को उस पर रख दिया गया। काष्ठ चयन हुआ और चंदन, कर्पूर तथा अन्य सुगंधित द्रव्यों से महाराज के शव को आच्छादित कर दिया गया। तत्पश्चात् स्वयं दयानन्द प्रणीत संस्कारविधि में उल्लिखित विधि से मंत्रोच्चारपूर्वक, शिष्य स्वामी आत्मानन्द एवं ब्रह्मचारी रामानन्द ने अपने गुरु की चिता में अग्निप्रवेश कराया और श्री महाराज के पार्थिव शरीर को भगवान् हुताशन के समर्पित कर दिया। पश्चात् घृत की आहुतियां तब तक दी जाती रहीं, जब तक कि सप्तजिह्व अग्निदेवता ने परिव्राट् दयानन्द की यशस्विनी काया को भस्मीभूत नहीं कर दिया। जब उपस्थित जन समूह स्नानादि से निवृत्त होकर घर लौटा, उस समय सायंकाल के ६ बज रहे थे। भगवान् भास्कर भी अपनी दैनन्दिन यात्रा को समाप्त कर उसी प्रकार अस्ताचल को जा रहे थे, जिस प्रकार वैदिक संस्कृति तथा आर्य धर्म को उद्भासित करने वाला दयानन्द दिवाकर ५९ वर्षों तक अपनी दिव्य आभा को विकीर्ण कर ठीक चौबीस घण्टे पूर्व ही अपने जन्मदाता सविता देव की गोद में चला गया था।

पादटिप्पणियां

१. जीवनचरित लेखकों ने इसे 'रोपट' लिखा है। ग्राम का वास्तविक नाम 'रोहट' है।

२. बंसलोचन में अनारदाने का शर्बत मिलाकर यह अनुपान तैयार किया गया था, जिससे मुख की शुष्कता में कमी आई।

३. घनश्यामदास मुन्शी दामोदरदास सांघी के भाई थे।

४. आज कल यह 'मारवाड़ जंक्शन' के नाम से जाना जाता है।

५. स्वामीजी के इस मौनावलम्बन से अनुमान होता है कि वे आसन्न मृत्यु का स्वागत करने के लिये तत्पर थे। स्वयं के मन में विष दिये जाने की धारणा के बद्धमूल होने पर भी उसको प्रकट न करना, उनकी वीतराग मनःस्थिति तथा सांसारिक उपरामता का सूचक है।

६. नाणा आबूरोड़ तथा मारवाड़ जंक्शन के बीच का एक छोटा सा स्टेशन है। इसके निकटवर्ती गांव बेड़ा के जागीरदार ठाकुर शिवनाथसिंह महाराज प्रतापसिंह के दामाद थे। सम्भवतः कर्नल प्रतापसिंह के प्रभाव से ही नाणा जैसे छोटे ग्राम में उस समय आर्यसमाज की स्थापना हुई होगी।

७. पं. घासीराम के अनुसार उन्हें मसूदा राव साहब के बंगले पर ले जाया गाया था। जीवनचरित भाग २ पृ. ३४८।

८. जीवनदास पेंशनर के नाम से प्रसिद्ध इन महानुभाव ने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। पं. गुरुदत्त के ग्रन्थों का प्रथम बार सम्पादित संस्करण लाला जीवनदास द्वारा ही प्रकाशित किया गया था।

९. पं. गुरुदत्त (२६ अप्रैल १८६४—१८९० ई.) आर्यसमाज के प्रारम्भिक युग के सर्वाधिक प्रतिभा सम्पन्न पुरुष थे। विज्ञान के विद्यार्थी एवं अध्यापक होने पर भी उन्होंने वैदिक साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया था। वेद की विवेचना से सम्बन्धित उनके ग्रन्थों की ख्याति विदेशों तक पहुंची। डी. ए. वी. कालेज, लाहौर की स्थापना हेतु पं. गुरुदत्त ने प्रबल पुरुषार्थ किया था। उनकी विस्तृत जीवनी अंग्रेजी में लाला लाजपतराय ने लिखी थी। डा. रामप्रकाश द्वारा रचित हिन्दी जीवनचरित उपलब्ध जीवनियों में सर्वश्रेष्ठ है।

१०. श्री मथुराप्रसाद माहेश्वरी अजमेर की प्रारम्भिक आर्यसामाजिक गतिविधियों के प्राण थे। इनकी पत्नी श्रीमती गुलाबदेवी (चाचीजी) ने अजमेर में सर्वप्रथम कन्या पाठशाला की स्थापना की थी। श्री मथुराप्रसाद के पास स्वामी दयानन्द की आत्मकथा (थियोसोफिस्ट में प्रकाशित) की एक प्रति पाण्डुलिपि रूप में सुरक्षित थी, जिसे उनके पुराने कागजों के संग्रह से इन पंक्तियों के लेखक ने प्राप्त किया था। इनकी मृत्यु आषाढ़ कृष्णा ४., १९६६ वि. को हुई।

११. स्वीकार पत्र की धारा ५

१२. हरविलास सारड़ा (बाद में दीवान बहादुर) ने जब दरगाह बाजार में स्वामीजी के विमान को कन्धा लगाया, तब उन्होंने देखा कि शव वाहकों की संख्या सोलह है। उस समय उन्हें अजमेर में दिये गये स्वामीजी के उस व्याख्यान का स्मरण आया, जिसमें उन्होंने बाल विवाह की आलोचना करते हुए कहा था कि ब्रह्मचर्य पालन के कारण ही उनके शरीर में अपार बल तथा सामर्थ्य है। उन्होंने आगे यह भी कहा कि मृत्यु के पश्चात् भी उनके शरीर को उठाने के लिये सोलह व्यक्तियों की आवश्यकता होगी। —हरविलास सारड़ा कृत स्वामी दयानन्द का अंग्रेजी जीवनचरित पृ. ३३५, प्रथम संस्करण।

श्री पण्डितधर्मदेवविद्यावाचस्पतिप्रेरणया लेखनकार्ये प्रवृत्तेन धाराशास्त्रि फकीरचन्दतनुजेन रत्नकौरकुक्षिजेन राजस्थान प्रान्तान्तर्गतनागौरमडण्लीयपर्वतसरग्रामजेन पञ्जाबविश्व-विद्यालयस्थदयानन्दनपीठाध्यक्षेण ड्राक्टरेट इत्युपाधि विभूषितेन पण्डित भवानीलाल भारतीय संज्ञया प्रसिद्धेन विदुषा महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी पुण्यावसरे ग्रथितं महर्षिदयानन्दचरितं भाद्रमासस्य पूर्णमास्यां पूर्तिमगात्।

परिशिष्ट–१

संशोधन और परिवर्धन

अध्याय—शशव और अध्ययन

पृ. ४—मुखोपाध्याय महाशय की गवेषणा से यह सिद्ध हो चुका था कि टंकारा ग्राम को ही दयानन्द सरस्वती को जन्म देने का गौरव प्राप्त है। किन्तु कुछ वर्ष पूर्व आर्य-समाज के एक संन्यासी मेधारथी स्वामी (पूर्वनाम पं. ईश्वरदत्त मेधार्थी विद्यालंकार) ने यह प्रचारित किया कि टंकारा से पांच मील दूर जीवापुर ग्राम ही दयानन्द का जन्म स्थान है। तथ्य यह है कि स्वामी दयानन्द के पूर्वजों में से एक विश्रामजी जीवापुर में बस गये थे। गुजरात तथा राजस्थान में प्रायः देखा जाता है कि किसी बड़े कस्बे या नगर में बस जाने वाले एक ही परिवार के निकटवर्ती लोग अपने निवास के मुहल्ले का नाम अपने पूर्ववर्ती गांव (जहां से वे आये हैं) के नाम पर रख देते हैं। टंकारा के जीवापुर (काठियावाड़ी उच्चारण के अनुसार जीवापर या जीवापरा मुहल्ला) मोहल्ले का नामकरण भी इसी परिपाटी के अनुसार हुआ है। इन पंक्तियों का लेखक जब राजस्थान के पाली नगर के राजकीय कालेज में प्राध्यापक था, तो उसने देखा था कि इस नगर में जोधपुर से आकर बसे लोगों ने अपने मोहल्ले का 'जोधपुरिया वास' (इसी प्रकार सोजतिया बास आदि) रख लिया है।

पृ. ४—स्वामी दयानन्द की कनिष्ठ भगिनी प्रेमबाई के वंश में उनके दो प्रपौत्रों—पोपट-लाल रावल तथा प्रभाशंकर रावल के नाम उल्लिखित हुए हैं। दयानन्द जन्म स्थान निर्णय (विजयशंकर मूलशंकर) तथा श्रीकृष्ण शर्मा के अनुसार पोपटलाल बड़े तथा प्रभाशंकर छोटे थे। किन्तु देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने प्रेम बाई का एक ही प्रपौत्र माना है—प्रभाशंकर कल्याणजी रावल। वे 'पोपटलाल' को उन्हीं 'प्रभाशंकर' का पुकारने का नाम मानते हैं। हमारे विचार से पोपटलाल तथा प्रभाशंकर पृथक् पृथक् हैं। १९२६ के फरवरी मास में, जब टंकारा में दयानन्द-जन्म शताब्दी का उत्सव मनाया गया था, पोपटलाल स्वयं उपस्थित थे। परन्तु बात यहीं समाप्त नहीं होती। श्री गणपति केशवराम शर्मा द्वारा आर्य प्रतिनिधि-सभा, बम्बई के मंत्री को २२ सितम्बर १९११ को लिखे गये पत्र से विदित होता है कि स्वामीजी की इस बहिन के भी एक कन्या को छोड़कर कोई सन्तान नहीं थी। अतः प्रेमबाई ने अपनी इसी अज्ञातनामा कन्या के पुत्र (अपने दौहित्र) बोघा को अपनी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनाया। धर्मशास्त्रानुसार ऐसा पुत्र 'पुत्रिका-पुत्र' की श्रेणी में आता है। अर्थात् मंगलजी रावल व प्रेमबाई के पुत्र स्थानीय उनका दौहित्र बोघा रहा। बोघा के पुत्र कल्याणजी का पुत्र पोपटलाल ही १९२६ ई. में विद्यमान था।

पृ. ४—देवेन्द्रनाथ ने किसी अनुश्रुति के आधार पर लिखा है कि स्वामी दयानन्द के सबसे छोटे भाई नवलशंकर की मृत्यु १९१८ वि. में विषूचिका रोग से हो गई थी।

पं. श्रीकृष्ण शर्मा ने स्वविचारानुसार कुछ तिथियां दी हैं -

१. मूलशंकर के पिता करसनजी की जन्म तिथि १८४० वि. (आनुमानिक)
२. मूलाशंकर के अनुज वल्लभ जी का विवाह १९०४ वि.
३. करसन जी की निधन तिथि १९१५ वि. (दयानन्द के बाल सखा इब्राहिम की साक्षी से)
४. सिद्धपुर के मेले में पिता से अन्तिम भेंट कार्तिकी पूर्णिमा १९०३ वि.

पृ. १५—देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय की सम्मति में मूलशंकर ने शिवरात्रि की उपासना टंकारा ग्राम से बाहर वांकानेर राज्य की सीमा पर स्थित जड़ेश्वर महादेव के मंदिर में की थी। यह भी प्रसिद्ध बात है कि दयानन्द के पिता करसनजी त्रिवाड़ी ने कुबेरनाथ महादेव का मंदिर स्वग्राम में ही बनवाया था। प्रश्न यह होता है कि जब स्वनिर्मित मंदिर ग्राम में ही मौजूद था तो अल्पवयस बालक को साथ लेकर त्रिवाड़ीजी टंकारा से चार मील दूर स्थित मंदिर में पूजा के लिये क्यों गये? इसका एक उत्तर तो यह दिया जा सकता है कि प्रायः शिवरात्रि का जागरण बस्ती से सुदूरवर्ती शिवमंदिर में किया जाना अधिक प्रशस्त माना गया है। पं. युधिष्ठिर मीमांसक देवेन्द्रनाथ की उपर्युक्त धारणा से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार करसनजी त्रिवाड़ी ने उसी नदी के तट पर कुबेरनाथ महादेव का मंदिर बनवाया था। उनकी सम्मति में स्वनिर्मित शिवालय को छोड़कर बस्ती से सात आठ मील दूर जड़ेश्वर के मंदिर में जाना युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता। (द्रष्टव्य—दयानन्द प्रवचन संग्रह, पृ. १९४ की पादटिप्पणी)

पृ. १७—दयानन्द सरस्वती ने आत्मकथा में जिस 'धार्मिकविद्वान् चाचा' का उल्लेख किया है, पं. श्री कृष्ण शर्मा के अनुसार वे मूलोशंकर के ताऊ मावजी थे।

× × ×

'दयानन्द सरस्वती : हिज लाइफ एण्ड आइडियाज' के सुधी लेखक डा. जे. टी.एफ. जॉर्डन्स ने दयानन्द के शैशव एवं कैशोर्य काल की जीवन घटनाओं की विवेचना करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि मूर्तिपूजा के प्रति मूलशंकर की विरक्ति के पीछे कहीं न कहीं उसके मन पर समीपवर्ती जैन धर्म के स्थानकवासी ढूंढिया सम्प्रदाय का प्रभाव अवश्य रहा होगा, जिसके अनुयायी मूर्तिपूजा नहीं करते। वर्षों पूर्व ईसाई पादरी जे. एन. फर्कुहर ने अपनी पुस्तक Modern Religious Movements in India (प्रथम संस्करण १९१४, दिल्ली से पुनर्मुद्रित १९६७ ई.) में भी कुछ इस प्रकार की धारणा व्यक्त की थी।

यह तो सत्य है कि कोई भी व्यक्ति अपने आस पास के वातावरण तथा परिवेश से अप्रभावित नहीं रह सकता, किन्तु इसी आधार पर मूलशंकर की मूर्तिपूजा के प्रति अनास्था के मूल में जैन प्रभाव परिलक्षित करना क्लिष्ट कल्पना ही है। कारण कि दयानन्द का पालन और पोषण एक ऐसे ब्राह्मण कुल में हुआ था, जिसकी शैव सम्प्रदाय के प्रति अपार निष्ठा थी। हम भारतवासी जानते हैं कि ब्राह्मण विचारधारा और श्रमण (जैन तथा बौद्ध) चिन्ताधारा

में शाश्वत विरोध रहा है। ब्राह्मण कुल के परिवेश में पला व्यक्ति जैन संस्कार ग्रहण करे, यह अचिन्त्य है। सत्य तो यह है कि दयानन्द की मूर्तिपूजा के प्रति उत्पन्न अरुचि का प्रमुख कारण तो शिवरात्रि के अवसर पर घटी घटना ही थी, उस मनस्वी किशोर के मन में जड़पूजा के प्रति जिसने सदा के लिये घृणा भाव को जन्म दिया।

इसी अध्याय में लेखक को एक और भ्रान्ति हुई है। काठियावाड़ में विद्यमान जैन और वैष्णव मत में स्वीकृत अहिंसा के सिद्धान्त के दयानन्द पर पड़े प्रभाव की चर्चा करते हुए उसने लिखा है कि शैव सम्प्रदाय में पशुबध तथा कर्मकाण्ड के प्रसंग में मांसभक्षण भी विहित माना गया है। (अध्याय १, पृ. १५) इसी आधार पर लेखक यह निष्कर्ष निकाल लेता है कि काठियावाड़ में व्याप्त अहिंसाप्रधान वातावरण से ही दयानन्द ने गोरक्षा के महत्त्व तथा निरामिष भोजन की उत्कृष्टता को स्वीकार किया। परन्तु एक शैव होने के कारण उक्त बातों में उसकी निष्ठा को परिपूर्ण नहीं माना जा सकता (अध्याय १ पृ. १८)।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि कतिपय सूत्र ग्रन्थों में पशुबलि तथा यज्ञीय कर्मों में मांस विधान का उल्लेख चाहे हुआ हो, किन्तु मध्यकालीन शैव धर्म कभी मांसाहार या यज्ञीय हिंसा का समर्थक नहीं रहा। यहां भी वैष्णव मत की ही भांति अहिंसा को महत्त्व-पूर्ण स्थान मिला है। भारत के अधिकांश दशनामी संन्यासी जो आस्था की दृष्टि से शैव होते हैं, विशुद्ध निरामिषभोजी ही हैं। स्मरण रहे कि पुराणवर्णित शिव को भांग, धतूरे आदि मादक वनस्पतियों का सेवन करने वाला तो बताया है, किन्तु उन्हें कहीं मांसाहारी के रूप में चित्रित नहीं किया गया। शैव अर्चन पद्धति में भी शिवलिङ्ग पर दुग्धाभिषेक ही विहित माना गया है। वाममार्गीय शाक्त मत में चाहे मद्य मांस की खुली छूट रही हो, किन्तु शैवों ने इन वस्तुओं को कभी ग्राह्य नहीं बताया। अतः दयानन्द के मांसाहार विरोध तथा गोरक्षा विषयक प्रतिश्रुतियों (Commitment) में परिपूर्णता (Totality) का अभाव बताना उचित नहीं है।

अध्याय—महाभिनिष्क्रमण—उत्तराखण्ड परिभ्रमण

पृ. ३२—मेरठ के स्वर्गीय पत्रकार श्री विश्वम्भरसहाय प्रेमी ने स्वलिखित 'हिमालय में भारतीय संस्कृति' (चैतन्य प्रकाशन, कानपुर से १९६५ ई. में प्रकाशित) शीर्षक ग्रन्थ में स्वामी दयानन्द की हिमालय यात्रा का उल्लेख (पृष्ठ १२८-१३५) विस्तारपूर्वक किया है। जिन पहाड़ी पुरुषों ने दयानन्द को सिद्धपत (सतोपंथ) तक पहुंचाने के लिये कहा था उस स्थान का वर्णन प्रेमी जी ने इस प्रकार किया है "सतोपंथ बद्रीनाथ से सोलह मील दूरी पर एक रमणीक ताल है। सतोपंथ जाने का मार्ग लक्ष्मीपुरी के पास से होकर जाता है। सतोपंथ की ऊंचाई १४,००० फुट है। इस ताल के तीन घाटों के नाम ब्रह्मघाट, विष्णुघाट और महेश्वरघाट हैं। सतोपंथ के तीन शिखर हैं, जिनमें एक की ऊंचाई २३,२०० फुट है। सतोपंथ का सम्बन्ध अलकापुरी से माना जाता है (उपर्युक्त पुस्तक, पृ. १९८)।

अध्याय—मथुरा की पाठशाला

पृ. ५१—जोशी अमरलाल के पिता का नाम जोशी कुञ्जलाल था, जिसके पूर्वजों को पेशवा, होल्कर तथा सिंधिया आदि मराठा सरदारों ने बहुशः सम्मानित किया था। अमरलाल का जन्म १८९७ वि. में हुआ। जिस समय दयानन्द का मथुरा आगमन हुआ, उस समय अमरलाल की आयु मात्र बीस वर्ष की ही थी। धीरे धीरे जोशी अमरलाल स्वामीजी के स्नेह सूत्र में इस प्रकार बंध गये कि जब तक वे भोजन नहीं कर लेते, तब तक जोशी भी निरन्न रहते। स्वामीजी के भोजन में प्रायः विलम्ब हो जाता था, क्योंकि उन्हें दण्डी विरजानन्द के समीप लगभग २-३ बजे तक रहना पड़ता था। भोजन के पश्चात् स्वामीजी जोशीजी के साथ शास्त्र चर्चा करते तथा उनके 'सुखनिवास' नामक दीवानखाने में विश्राम भी करते। जोशीजी अत्यन्त उदारमना तथा विचारों की दृष्टि से सहिष्णु थे। दयानन्द के मूर्तिपूजा तथा मृतक श्राद्धादि के विषय में प्रतिकूल विचारों को जानते हुए भी वे इस अध्ययनरत संन्यासी के प्रति सौहार्दपूर्ण व्यवहार रखते थे। जोशी अमरलाल की मृत्यु ४४ वर्ष की आयु में आषाढ़ शुक्ला ३, सं. १९४१ वि. को हुई। जोशी अमरलाल विषयक यह जानकरी लेखक को उन्हीं के पौत्र ज्योतिषी राधेश्याम द्विवेदी के सौजन्य से उस समय प्राप्त हुई, जब ८ नवम्बर १९७८ को उनसे स्वामीघाट स्थित 'जोशी बाबा की हवेली' में भेंट करने का अवसर मिला था।

अध्याय—गाङ्गेय प्रदेश का भ्रमण (१)

पृ. ८२—आर्यसमाज के तपोमूर्ति एवं विद्वान् संन्यासी श्री अमरस्वामी सरस्वती के पिता अरणियां (जिला बुलन्दशहर) निवासी ठाकुर टीकमसिंह ने स्वामीजी के दर्शन कर्णवास में गंगा के किनारे किये थे। ठाकुर टीकमसिंह ने स्वामीजी के सम्बन्ध में बताया था कि उनका शरीर लम्बा एवं सुडौल था। उनकी आवाज बहुत ऊंची, गूंजने वाली तथा मधुर, गम्भीर थी। व्याख्यान दूर दूर तक स्पष्ट सुनाई देता था। एक दिन व्याख्यान समाप्त होने पर दो तीन गंवारों ने उन पर धूल फेंक दी। धूल फेंकते ही भीड़ में हल्ला मच गया और कर्णवास के भक्त ठाकुर लोग मारो, पकड़ो की आवाज करने लगे। इस पर श्री महाराज ने गर्ज कर कहा, ये बच्चे हैं, इन्हें कुछ मत कहो। इस पर भक्त गण बोल पड़े—महाराज ये बच्चे नहीं हैं, दाढ़ी, मूंछों वाले हैं। उत्तर में महाराज ने पुनः उसी स्वर में कहा—"जिन की बुद्धि थोड़ी होती है, दाढ़ी, मूछ होने पर भी वे बच्चे ही कहलाते हैं। इनको कुछ भी नहीं कहना चाहिए।" यह थी स्वामी दयानन्द की क्षमाशीलता।

पृ. १०४—स्वामी कैलाश पर्वत ने स्वामी दयानन्द से अपनी भेंट का वर्णन निम्न प्रकार से चित्रात्मक शैली में प्रस्तुत किया था—"एक दिन हम गढ़ियाघाट पर शाम को संध्या कर रहे थे, तो क्या देखते हैं कि एक संन्यासी हमारे सिर पर (सिरहाने) खड़े हैं। हमने पूछा 'कोऽस्ति'। कहा—'दयानन्दोऽहम्।' इसके पश्चात् बैठ गये। उस समय संस्कृत बोलते थे। हमसे कहा—मैं आपसे कुछ सहायता लेने आया हूँ।

हमने कहा, कहो, कैसी सहायता ? बोले—रामानुज, मध्व, निम्बार्क और वल्लभ—इन चार मतों ने सत्यानाश कर रक्खा है। हमने कहा—निस्सन्देह, आपकी बात बहुत श्रेष्ठ है। उन्होंने बहुत कुछ वेद विरुद्ध काम कर रक्खे हैं। हम आपकी सहायता करने को सब प्रकार उपस्थित हैं, परन्तु आप हमारी दो बातें मान लें। प्रथम मूर्तिपूजा का खण्डन न करें, इससे बहुत लाभ है, मंदिर बने हुए हैं। अज्ञानी लोग वहां जाकर पूजा करते हैं। सैंकड़ों पुरुषों की आजीविका चलती है। दूसरे पुराणों का भी खण्डन मत करो। ऐसा मत कहो कि सब पुराण व्यासकृत नहीं हैं। दयानन्द ने उत्तर दिया—इन चारों सम्प्रदायों का आदि मूल अर्थात् मुख्य लक्ष्य मूर्तिपूजा है। इस प्रकार धोखे की टट्टी से यह संसार को लूट रहे हैं। इसलिये शत्रु का सिर तोड़ना सबसे प्रथम आवश्यक है और मूर्तिपूजा का जो लेख मिलता है, वह केवल पुराणों में है। इसलिये सर्व प्रथम ये ही दोनों खण्डन के योग्य हैं। इसी प्रकार वह हमको समस्त रात्रि अपनी सहायता के लिये उत्साह दिलाते रहे। परन्तु हमने स्वीकार नही किया, इसलिये कि वह मूर्तिपूजा और पुराणों के खण्डन को नहीं छोड़ते थे।"

– पं. लेखराम रचित जीवन चरित पृ. ११५

अध्याय—पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा बिहार में

पृ. १५८—श्री रामकृष्ण मठ मयलापुर मद्रास से १९४६ ई में एक पुस्तक 'श्री रामकृष्ण एण्ड हिज मिशन' शीर्षक प्रकाशित हुई है। इसके लेखक स्वामी रामकृष्णानन्द हैं। पुस्तक के पृष्ठ ४१ पर निम्न वृत्तान्त दिया गया है—"Thence the party went to Allahabad. There Swami Dayananda Saraswati met him. This was the year 1869, the year of Kumbha, when Sri Ramakrishna was thirty six years of age. The Swamin opened a little discussion in which he wanted to establish that God would not have any form which his opponent strongly denied. At last Dayananda fell down at his feet, seeing some divine manifestation in him." अर्थात् "तब यह दल इलाहाबाद गया। यहाँ स्वामी दयानन्द से रामकृष्ण की भेंट हुई। यह १८६९ का वर्ष था जब कि प्रयाग में कुम्भ का मेला लगा था। इस समय श्री रामकृष्ण की आयु ३३ वर्ष थी। स्वामी दयानन्द ने श्री रामकृष्ण से वाद विवाद करते हुए यह सिद्ध करना चाहा कि परमात्मा की कोई आकृति (रूप) नहीं होती। श्री रामकृष्ण इसका तीव्र प्रतिवाद करने लगे। अन्ततः दयानन्द रामकृष्ण के चरणों में गिर पड़े। उन्होंने अनुभव किया कि रामकृष्ण में भगवदीय तत्त्व प्रतिभासित हो रहा है।

निश्चय ही उपर्युक्त कथन में किञ्चितमात्र भी सत्यता नहीं है। यह तो सत्य है कि स्वामी दयानन्द प्रयाग के कुम्भ में सम्मिलित हुए थे, परन्तु उस समय १८६९ ई. का वर्ष समाप्त हो चुका था। स्वामीजी से परमहंसजी की भेंट कलकत्ता में हुई थी, प्रयाग में नहीं। यह कथन तो और भी असमञ्जसपूर्ण है कि स्वामी दयानन्द ईश्वर के निराकारत्व को सिद्ध नहीं कर सके और परमहंसजी के चरणों में

गिर पड़े। आत्मकूर ग्राम (आंध्रप्रदेश) निवासी पं. पद्मनाभ शास्त्री जी ने इस प्रसंग को उद्धृत कर ठीक ही लिखा है—शास्त्रार्थ संग्राम महारण्यो (रणे साधू रण्यः) दयानन्द क्व च साधुसत्तमः श्री रामकृष्णः परमहंसो योह्यनघ्रातव्याकरणादि तन्त्र-गन्धः ? कथं वा स्यात् सम्भवः श्री रामकृष्णस्य चरणयोर्दयानन्दस्य पातः ? स्वयं ईश्वरदेह धारित्ववादनिरसन चुञ्चुर्दयानन्दः कथङ्कार वा मन्येत श्रीरामकृष्णस्येश्वर-विभूतिमत्त्वम् ?" (वेदवाणी, वैशाख २०१८ वि.)

अध्याय—भारत की तत्कालीन राजधानी में

पृ. १९१—दीवान अलखधारी ने दयानन्द जन्म शताब्दी समारोह के अवसर पर आयोजित एक सम्मेलन में बोलते हुए कहा था—"सन् १८७४ के साल में स्वामीजी के विषय में (ब्रिटिश) पार्लियामेंट में चर्चा हुई थी। उस समय के विवरण निकाल कर देख लेने चाहिए। एक वायसराय ने भी स्वामीजी के बाबत अपने डिस्पैच में लिखा था।" श्री मद्दयानन्द जन्मशताब्दी वृत्तान्त–डा. कुशलदेव शास्त्री द्वारा सम्पादित पृ. २१५। ऐसा अनुमान होता है कि स्वयं दीवान महोदय ने ही १९२५ ई. में कही गई अपनी बात को स्वकल्पित रूप देकर लार्ड नार्थब्रुक और स्वामीजी के बीच हुए संवाद की शैली में प्रस्तुत कर दिया था। परन्तु जन्मशताब्दी के अवसर पर कही गई बात भी नितान्त अस्पष्ट ही थी। उसमें न तो उस वायसराय के नाम की चर्चा थी, जिसने वह तथाकथित डिस्पैच भेजा और न पार्लियामेंट की बहस का ही कोई संकेत था।

पृ. २५१—महादेव मोरेश्वर कुण्टे का नाम स्वामी दयानन्द को पूना में आमंत्रित करने वाले न्यायमूर्ति रानडे के साथ आया है। महादेव मोरेश्वर कुण्टे का जन्म १८३५ ई. में सातारा जिले के माहुली ग्राम में एक साधारण परिवार में हुआ था। १८५९ ई. में इन्होंने विल्सन हाई स्कूल बम्बई से मेट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की। १९६४ ई. में बी. ए. करके प्रथम कराची (सिंध) में मुख्याध्यापक नियुक्त हुए। उन दिनों सिंध प्रान्त बम्बई प्रेसिडेन्सी का ही भाग था। १८७१ ई. में पूना में मुख्याध्यापक पद पर आये। पूना प्रवचनों के मराठी लेखक गणेश जनार्दन आगाशे इन्हीं के स्कूल में सहायक मुख्याध्यापक पद पर थे।

न्यायमूर्ति रानडे के साथी, सहयोगी और मित्र के रूप में आपका नाम लिया जाता है। कुण्टे मराठी भाषा के सफल कवि तथा लेखक थे। वे बहुभाषाविज्ञ होने के साथसाथ उत्तम वक्ता भी थे। प्रा. कुशलदेव की मान्यता के अनुसार पूना प्रवचनों का मराठी भाषान्तर तैयार करने में आगाशे के साथ कुण्टे का नाम भी लिया जाना आवश्यक है। उनकी मृत्यु १८८८ ई. में हुई। संदर्भ : वैदिक गर्जना (१ सितम्बर १८८३) में प्रकाशित प्रा. कुशलदेव का लेख—दयानन्द के अविस्मरणीय सहयोगी महादेव मो. कुण्टे।

अध्याय—आर्यसमाज संस्थापना

पृ. २६४—कहते हैं कि स्वामी दयानन्द को वेद भाष्य लिखने की प्रेरणा सुप्रसिद्ध मराठी साहित्यकार एवं समाज सुधारक गोपालराव हरि देशमुख ने दी थी। बम्बई के

निर्णय सागर प्रेस में उसके सुचारु रूप से मुद्रित होने की व्यवस्था भी उन्होंने कर दी थी।

अध्याय—पश्चिमोत्तर प्रदेश का अवशिष्ट भ्रमण—

पृ. २७७—अथर्ववेद भाष्यकार क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने स्वामी दयानन्द विषयक अपने संस्मरणों में लिखा है—"स्वामीजी बैठकर व्याख्यान देते थे। प्रारम्भ में अन्य वेद मन्त्रों के साथ सत्यार्थप्रकाश के आदि का मन्त्र (शंनो मित्रः शं वरुणः तैत्तिरीयारण्यक ७-१) और व्याख्यान के अन्त में सत्यार्थ प्रकाश के अन्त का मन्त्र (तैत्तिरीयारण्यक ७-१२) स्पष्ट शब्दों से ऊंचे और मधुर स्वर में बोलते थे।

प्रातःकाल जब नगर से बाहर डण्डा हाथ में लेकर भ्रमण के लिये जाते थे, मैं भी मार्ग में जाकर उनके दर्शन करता और 'आनन्दित रहो' यह आशीर्वाद लेता। .....मैंने स्वामीजी से यज्ञोपवीत और गायत्री मन्त्र लिया। एक दिन मैंने स्वामीजी से पूछा कि यदि लोग आपसे यज्ञोपवीत लेने में दोष लगावें और हमारा धर्म पूछें तो क्या उत्तर दें। उन्होंने कहा कि संन्यासी से यज्ञोपवीत लेना शास्त्रोक्त है और अपना धर्म वैदिक धर्म बताया करो। तभी उन्होंने बड़े प्रेम से मेरी पीठ ठोंक कर कहा "ईश्वर करे तू वेदों को पढ़ कर उनका प्रचार करे।" ध्यातव्य है कि पं. क्षेमकरण-दास ने कालान्तर में प्रौढ़ वय प्राप्त होने पर भी वेदों का विधिवत् अध्ययन किया 'त्रिवेदी' की उपाधि प्राप्त की तथा अथर्ववेद एवं उसके गोपथ ब्राह्मण पर विस्तृत भाष्य लिखा। उपर्युक्त संस्मरण त्रिवेदीजी ने अपनी आत्मकथा में लिखे हैं जो अथर्ववेद भाष्य के अन्तिम खण्ड (मन्त्रानुक्रमणिका) के अन्त में छपी थी।

अध्याय—पांच नदियों के देश में

स्वामी अच्युतानन्द नव्यवेदान्त के अनुयायी, एक बड़े मठ के महन्त, मण्डलेश्वर तथा उपनिषदों के प्रगाढ़ विद्वान् थे। स्वामी दयानन्द का उनसे पंजाब प्रवास के समय शास्त्रार्थ हुआ। यह तो पता नहीं कि उस शास्त्रार्थ का क्या परिणाम निकला, क्योंकि निश्चय ही स्वामी अच्युतानन्द ने अपनी पराजय स्वीकार नहीं की थी। कालान्तर में यही स्वामी अच्युतानन्द पं. गुरुदत्त विद्यार्थी के सम्पर्क में आकर आर्यसमाज की विचारधारा के अनुयायी बन गये थे। (द्रष्टव्य—डा० रामप्रकाश लिखित 'पं. गुरुदत्त विद्यार्थी : जीवन एवं व्यक्तित्व' १९६९ ई०, पृ० ८९)

कई वर्ष पश्चात् प्रसिद्ध विद्वान् पं. चमूपति ने उक्त स्वामी जी से पूछा—"महात्मन! नवीन वेदान्त पर आपका शास्त्रार्थ स्वामी दयानन्द से हुआ था, उसका कुछ वृत्तान्त सुनाइये।" इस पर स्वामी अच्युतानन्द गर्व से बोले—'मैं अपनी शिष्य मण्डली सहित बड़े आडम्बर के साथ शास्त्रार्थ मण्डप में पहुँचा।' पं. चमूपतिजी स्वाभाविक जिज्ञासावश पूछ बैठे—'और हमारे स्वामी ?' बस अच्युतानन्दजी के भावों का तो मानो बांध ही टूट गया। उनकी आंखें अश्रुपूरित हो उठीं। हृदय की श्रद्धा नेत्रों के मार्ग से पानी बनकर बह निकली। गला रुंध गया। भर्राई हुई आवाज में बोले—"स्वामी दयानन्द, ऋषि तो केवल अपने प्रभु के साथ पधारे थे।" इतना कहकर वयोवृद्ध स्वामी अच्युतानन्द बिलख बिलख कर रोने

लगे। कालान्तर में स्वामी अच्युतानन्द ने चारों वेदों के शतक बनाये तथा 'उपदेशमाला' शीर्षक सुभाषित संग्रह भी तैयार किया।

× × ×

स्वामी दयानन्द के पंजाब प्रवास के समय एक पौराणिक पण्डित से हुए उनके शास्त्रार्थ का विवरण आर्यसमाज के वयोवृद्ध संन्यासी श्री अमरस्वामी ने इस प्रकार दिया है—"मैं उन पण्डित जी का नाम भूल रहा हूँ। यह बात १९४०-४१ की है। उस समय उन पण्डित महाशय की आयु ९० वर्ष की थी। वे दृष्टिहीन हो चुके थे। मेरे यह पूछने पर कि स्वामी दयानन्द से हुए अपने शास्त्रार्थ का विवरण वे बतायें, उक्त पण्डित जी बोले—स्वामी दयानन्द और मेरा शास्त्रार्थ क्या होना था? पढ़ने को मैंने भी पूर्ण व्याकरण पढ़ा है, फिर भी वे व्याकरण के सूर्य थे और मैं जुगनू। स्वामीजी मूर्तिपूजा का खण्डन करते थे, इसलिये हमारे भक्त लोग हमको उभाड़ कर स्वामी जी के समक्ष ले आये। मैंने स्वामीजी से कहा कि हम आपके साथ मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ करेंगे। स्वामी जी ने मुस्करा कर कहा, बहुत अच्छा, बताइये कि वेद में मूर्तिपूजा या मूर्ति कहां है? पाँच मिनट में आप बताइये, पाँच मिनट में मैं उत्तर दूंगा। इसी प्रकार पांच पांच मिनट तक हमारा संवाद चलेगा।

स्वामीजी की बात सुनकर मैंने कहा कि 'मूर्तिपूजा' और 'मूर्ति' शब्द वेद से बाद में दिखलाऊंगा, पहले आप बताइये 'मिनट' शब्द वेद में कहाँ लिखा है? मेरे साथ हुल्लड़बाजों की भीड़ थी। उन्होंने यह सोचकर कि इसका उत्तर तो कुछ होगा ही नहीं, तालियां बजा दी और 'सनातनधर्म की जय' के नारे लगाते हम लोग अपने स्थान पर चले आये। सनातनधर्मियों ने अपने विजय और स्वामीजी की पराजय की घोषणा कर दी। हमने 'जान बची, लाखों पाये' कहकर अपने भाग्य को सराहा, किन्तु बाद में जब हमने अपनी उद्दण्डता और महापुरुष के प्रति अपने दुर्व्यवहार के बारे में सोचा, तो हमें पश्चाताप और ग्लानि हुई। हम छुपकर उनके व्याख्यान सुनने जाते थे।"

× × ×

स्वामी दयानन्द की योग साधना में गहरी गति थी। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध योगी स्वामी लक्ष्मणानन्द ने 'ध्यानयोग प्रकाश' नामक अपनी पुस्तक में लिखा है—"श्री १०८ स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज अमृतसर पधारे और मेरी मनोकामना (प्राणायाम सीखने विषयक) पूरी हुई। चतुर्थ प्राणायाम कि जिसकी व्यवस्था किसी से नहीं लगती थी, स्वामीजी ने बात की बात में अति सुगमता से मुझे बता दी और मैंने शीघ्र ही उसका अभ्यास भी परिपक्व कर लिया। तदनन्तर स्वामीजी महाराज अमृतसर आते रहा करते थे। उन अवसरों में समाधियों की अनेक क्रिया तथा योग विषयक अन्य उपयोगी बातें स्वामीजी ने बहुत सी सिखलाईं। परन्तु मुझसे भेंट होने के पश्चात् अधिक से अधिक चार (वस्तुतः पाँच) वर्ष ही हुए होंगे कि स्वामीजी ने भी इस असार संसार को तज दिया।"

ध्यानयोगप्रकाश—लेखक का स्वलिखित वृत्तान्त

अध्याय—महाराणाओं की धरती पर

जिस समय स्वामी दयानन्द उदयपुर में निवास कर रहे थे, उस समय उनके सम्पर्क में एक आदिवासी युवक आया, जिसका नाम था गोविन्द गुरु। आगे चलकर गोविन्द-

गुरु ने राजस्थान की भील, मीणा आदि उन पिछड़ी तथा वन कान्तारों में निवास करने वाली जातियों का संगठन किया तथा उनमें व्याप्त सामाजिक बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया। गोविन्द गुरु का जन्म राजस्थान के डूंगरपुर जिले के वांसिया ग्राम में मार्गशीर्ष पूर्णिमा सं. १९१५ वि. (२० दिसम्बर १८५८ ई.) को हुआ था। जिस प्रदेश में इनका जन्म हुआ, वह नितान्त पिछड़ा हुआ था। गोविन्द गुरु बहुत अधिक शिक्षित नहीं थे, किन्तु उनका सहज ज्ञान असाधारण था तथा वे बहुश्रुत भी थे। यद्यपि उनका जन्म एक आदिवासी जाति 'बणजारा' वर्ग में हुआ था, किन्तु आचार निष्ठा की दृष्टि से वे किसी ब्राह्मण से कम नहीं थे। स्वामी दयानन्द से उनकी भेंट उदयपुर में हुई। वे सुदीर्घकाल तक स्वामीजी के निकट रहे तथा उनसे उपदेश ग्रहणकर उन्होंने संप सभा (एकता सभा) की स्थापना की। राजस्थान के सामन्ती वातावरण में रहकर गोविन्दगुरु ने शोषण, अत्याचार तथा अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाई। संप सभा के नियमों में उन्होंने निरामिष भोजी होने, मद्यपान आदि से दूर रहने, बच्चों को शिक्षित करने, यथासम्भव यज्ञ करने आदि बातों पर बल दिया। जागीरदारों के अत्याचारों से बचने के लिये उन्होंने वनवासी जातियों को संगठित किया। स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग पर जोर दिया। राजस्थान के स्वतंत्रता सेनानी स्व. सुमनेश जोशी ने अपने ग्रन्थ 'राजस्थान का भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को योगदान' में गोविन्द गुरु के कार्य-कलापों का विस्तृत विवरण दिया है।

× × ×

स्वामीजी आर्य भाषा हिन्दी तथा नागरी लिपि की वैज्ञानिकता को अनुभव करते हुए उसके प्रचार के लिये सदा तत्पर रहे। नागरी लिपि की परिपूर्णता को उन्होंने किस प्रकार सिद्ध किया, इससे सम्बन्धित एक घटना प्रकाश में आई है—

"एक प्रसिद्ध मौलवी और एक प्रसिद्ध पादरी तथा स्वामी दयानन्द में अपनी अपनी लिपियों की श्रेष्ठता पर एक वाद विवाद हुआ। स्वामीजी ने कहा कि जो लिपि तीनों में श्रेष्ठ हो, वही स्वीकार की जाय, शेष दो का त्याग किया जाय। श्रेष्ठता का ज्ञान कैसे हो, इसके लिये यह निश्चय हुआ कि अपनी अपनी भाषा के कठिन से कठिन वाक्य सब बोलें और उन्हें जिस लिपि में ठीक ठीक लिखा जा सके, वही लिपि श्रेष्ठ होगी। स्वामीजी को जो भी वाक्य अरबी अथवा अंग्रेजी के सुनाये गये उन्होंने सबको देवनगरी में वैसे ही लिख दिया। परन्तु स्वामीजी ने जो शब्द कहे, वे अरबी और रोमन लिपि में नहीं लिखे जा सके। स्वामीजी ने जो शब्द कहे थे वे पाणिनि के प्रत्याहार सूत्रों में से एक 'ञ म ङ न म्' था। इसके लिये देवनागरी को छोड़ कर और किसी लिपि में वर्ण ही नहीं हैं। सरस्वती—अक्टूबर १९३९ में पं. धर्मदेव शास्त्री का लेख 'रोमन लिपि का मोह'।

अध्याय—जीवन संध्या

पृ. ५४५—अन्त्येष्टि कर्म के दूसरे दिन परोपकारिणी सभा के उपमंत्री पं. मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने महाराज के वेदभाष्य मुद्रणार्थ एकत्रित धन, वस्त्र, पुस्तक तथा अन्य वस्तुओं की सूची बना कर उस पर प्रतिष्ठित पुरुषों के हस्ताक्षर कराने के अनन्तर स्वाधिकार में ले ली।

स्वामी महाराज की अन्त्येष्टि में जो सामग्री जिस मात्रा तथा मूल्य की प्रयुक्त हुई, उसकी सूची देवेन्द्र बाबू ने निम्न प्रकार से बनाई थी—

१. घृत तीन मन तीस सेर	८४ रु. ६ आने
२. चंदन दो मन, दो सेर, एक पाव	कागज फट जाने से मूल्य पढ़ा नहीं गया।
३. केशर चालीस तोला	२१ रु. ८ आने
४. कपूर पांच सेर	५ रु.
५. कस्तूरी नौ माशा	९ रु.
६. अगर चार सेर	१ रु.
७. चीनी तीन सेर चार छटांक	१ रु.
८. शरीराच्छादन	९ रु. पौने दो आने
९. एक दुशाला	५० रु.
१०. पलाशादि काष्ठ १६ मन	८ रु.
११. विमान निर्माण का तख्ता	२ रु. बारह आना
१२. खदिर का स्रुवा	१ रु.
१३. वस्तुओं को लाने की मजदूरी	२ रु.

कुल १९३ रु. १२ आने।
इसमें चन्दन का मूल्य सम्मिलित नहीं है।

□

परिशिष्ट-२

दयानन्द सरस्वती–विचार विश्लेषण

किसी भी महापुरुष के विचारों का अध्ययन उसके जीवनयापन की प्रणाली, शिक्षा, संस्कार तथा उसके मानस पर पड़े प्रभावों की पृष्ठभूमि में किया जाना ही समीचीन होता है। इस दृष्टि से दयानन्द जैसे युगपुरुष एवं विश्व मानव की विचार सम्पत्ति की विवेचना आरम्भ करने से पूर्व यह ध्यान रखना होगा कि उन्होंने अपने जीवन का बहुलांश एक संन्यासी के रूप में व्यतीत किया था। ऐसे संन्यासी के रूप में, जो सांसारिक मोह जालों से सर्वथा मुक्त होकर निर्द्वन्द्व भाव से विचरने में ही अपने जीवन की सार्थकता नहीं समझ बैठा है, किन्तु जो समष्टि हित तथा समस्त प्राणिवर्ग के मंगल विधान के लिये ही पदे पदे चिन्तित रहता है, व्याकुलता प्रकट करता है तथा अशेष समाज की पीड़ा, दुःख एवं कष्टों के निवारण के लिये सतत् प्रयत्नशील भी रहता है।

दयानन्द सरस्वती का जन्म भारत के एक ऐसे ब्राह्मण परिवार में हुआ था जो अपनी धार्मिक आस्थाओं एवं सामाजिक विधि विधानों की परम्परानुमोदित व्यवस्थाओं के कठोरता-पूर्वक पालन में ही अपने कर्त्तव्यों की इतिश्री समझता था।[1] उनका शैशवकालीन पालन-पोषण तथा प्रारम्भिक शिक्षा भी परम्परागत ढंग से हुई, जिसमें साम्प्रदायिक विश्वासों को यथावत् ग्रहण करने तथा पूजा, उपासना के रूढिवद्ध इतिकर्त्तव्यों के कड़ाई से पालन पर ही निरन्तर जोर दिया जाता था।[2] तथापि इसे चमत्कार ही कहा जायगा कि मध्यकालीन धर्म एवं आस्थाओं के जटिल संकुल वातावरण में जन्म लेकर व पल कर भी दयानन्द सरस्वती इन्हीं क्षेत्रों में सर्वाधिक क्रान्तिकारी तथा प्रबुद्ध चिन्तन को उत्पन्न करने में सफल हो सके।

दयानन्द का जन्म उस युग में हुआ था, जब कि भारत का जनमानस पश्चिम की विद्या, बुद्धि, विज्ञान एवं तर्क युक्त चिन्तन के सम्पर्क में आकर यह समझ पाने में असमर्थ हो रहा था कि इस नवचेतना को वह किस रूप में व किस प्रकार ग्रहण करे?[3] क्या पश्चिमी जीवन पद्धति को समग्रतः अंगीकार कर लेना उसकी निजी अस्मिता एवं पहचान की समाप्ति की घोषणा तो नहीं होगा? कुछ इसी प्रकार के संकल्प विकल्प भारतीय मानस को झकझोर रहे थे, उद्वेलित कर रहे थे। भारतीय नवजागरण का आरम्भ तो दयानन्द के जन्म की तिथि के आसपास से ही माना जा सकता है जब कि आधुनिक भारत के पिता तुल्य राममोहनराय धर्म, समाज तथा देश के व्यापक सन्दर्भों में विभिन्न सुधारवादी चेष्टाओं में संलग्न थे। इतिहासकारों ने दयानन्द के विचारों, कार्यों तथा उनकी उपलब्धियों को भी भारतीय नव-जागरण के इतिहास से जोड़ा है। आपाततः इसमें कोई आपत्ति जैसी बात नहीं है, किन्तु यह ध्यान रखना होगा कि पुनरुत्थान के अन्य ज्योतिर्धरों एवं उन्नायकों ने जहाँ पश्चिमी शिक्षा, यूरोपीय चिन्तन तथा विचारधाराओं से प्रेरणा ग्रहण की, वहाँ दयानन्द को पश्चिम का,

किसी भी प्रकार से संस्पर्श तक प्राप्त नहीं था। वे जिस पारिवारिक वातावरण में पले, सामाजिक वातावरण में बढ़े तथा परम्परागत संस्कृत शास्त्रों के अध्ययन करने का उन्हें जैसा अवसर मिला, उससे पश्चिमीकरण का लेशमात्र भी सम्पर्क नहीं था। अतः दयानन्द के उदाहरण से ही हमें पश्चिमी संस्कृति के रंग में रंगे उन लोगों द्वारा प्रचारित इस मिथ को तोड़ देना होगा कि भारत के जनजागरण का एक मात्र श्रेय अंग्रेजी शिक्षा एवं पश्चिमी विचारधारा के प्रचलन को ही है। यह भी एक संयोग ही था कि दयानन्द को छोड़ कर राममोहनराय से लेकर गांधी पर्यन्त नवोत्थान के नेता अंग्रेजी शिक्षा एवं रीति नीति से सुपरिचित थे। अकेले दयानन्द ही एक ऐसे अपवाद हैं जो सर्वप्रकारेण पुरातन संस्कृत शास्त्रों में निष्णात होकर भी सर्वथा प्रगतिशील, सामयिक तथा समाज को उन्नति के मार्ग पर ले चलने में समर्थ कार्यक्रम प्रस्तुत कर सके।

दयानन्द मूलतः धार्मिक पुरुष हैं, धार्मिक ग्रन्थों का उन्होंने अध्ययन किया है, वे धर्मोपदेष्टा हैं, धर्मप्रचारक हैं तथा धर्माचार्य भी हैं। किन्तु दयानन्द द्वारा प्रतिपादित धर्म हिन्दू, मुसलमान, ईसाई जैसी किसी संकुचित परिधि में परिवेष्टित हो जाने वाला संकीर्ण तत्त्व नहीं है। उन्होंने धर्म को उसके व्युत्पत्ति लभ्य अर्थों के आधार पर अत्यन्त व्यापक धरातल प्रदान किया है। उनकी दृष्टि में जो पक्षपातरहित, न्यायाचरण, सत्यभाषणादियुक्त ईश्वराज्ञा, वेदों से अविरुद्ध है वही धर्म है।[४] यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि वेदों से अविरुद्ध तथा वेदों के अनुकूल आचरण को ही वे धर्म क्यों ठहराते हैं? क्या ग्रन्थ विशेष द्वारा उपदिष्ट कर्त्तव्याचरण ही विश्वमानव का सार्वभौम एवं सार्वजनिक धर्म हो सकता है? और क्या वेद किसी काल विशेष में रचित, व्यक्ति विशेष की कृति नहीं है?

दयानन्द और वेद—

इसी संदर्भ में दयानन्द के वेद विषयक विचारों से परिचित होना सर्वथा उचित माना जायगा। दयानन्द वेद को ज्ञान का पर्याय मानते हैं और उनकी दृढ़ धारणा है कि सृष्टि के प्रारम्भ काल में ही मनुष्य को कोई ऐसा ज्ञान अवश्य प्राप्त हुआ था, जो देश, काल एवं व्यक्ति निरपेक्ष होने के कारण निखिल मनुष्य समाज के लिये उपयोगी, लाभप्रद तथा उन्नति का हेतु था। इसी मूल धारणा को लेकर वे भारत के बृहत्तर आर्यसमाज में प्रचलित इस विचार की सोपपत्तिक मीमांसा प्रस्तुत करते हैं कि मनुष्य मात्र के हित की दृष्टि से प्रदत्त ऐसा ज्ञान वस्तुतः ईश्वरीय ज्ञान ही हो सकता है, उसे किसी पुरुष विशेष की कृति नहीं कहा जा सकता। यह दूसरी बात है कि सहस्राब्दियों प्राचीन इस ज्ञान की गरिमा को आज हम विस्मृत कर बैठे हैं।

दयानन्द ने अपने वेद विषयक विचारों को स्वकीय ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर न केवल सूत्रित ही किया है, किन्तु अनेकत्र उनकी विशद व्याख्या एवं विवेचना भी की है।[५] उन्होंने वेदों की नित्यता, अपौरुषेयता तथा उनके सर्वज्ञानमयत्व की स्थापना उसी प्रकार की है, जो भारतीय परम्पराओं में सर्वथा अनुमोदित एवं स्वीकृत रही है।[६] तथापि दयानन्द की वेद-विषयक व्याख्या एवं विवेचना को ही इस बात का श्रेय जाता है कि वेदों पर किये जाने वाले आक्षेपों एवं आपत्तियों का सतर्क उत्तर भी इसी प्रकार की व्याख्याप्रणाली से

दिया जाना सम्भव है। यहाँ किञ्चित् विस्तार में जाकर दयानन्द के वेद विषयक विचारों की आलोचना करना अनुपयुक्त न होगा।

दयानन्द ने वेद के नित्यत्व, अपौरुषेयत्व अथवा ईश्वर कर्तृत्व आदि से सम्बन्धित जो विचार प्रस्तुत किये, उनसे मोटे तौर पर भारतीय परम्परा के किसी भी वेदार्थ चिन्तक अथवा वेदाभ्यासी विद्वान् की असहमति नहीं है।[७] तथापि प्रायः यह आक्षेप किया जाता रहा है कि दयानन्द की वेदार्थ प्रणाली उन भाष्यकारों द्वारा मान्य पद्धति को स्वीकार कर नहीं चलती, जिसका अनुसरण करते हुए भाष्यकार सायण आदि ने वेद भाष्य लिखे हैं। परन्तु यहाँ भी दयानन्द के विचारों में किसी प्रकार का कोई दुराव, छिपाव या विप्रतिपत्ति नहीं है। वे यह स्पष्ट घोषणा करते हैं कि सायणादि के भाष्य तो उस युग में लिखे गये थे जब कि वेदार्थ-चिन्तन की सर्वाधिक प्राचीन प्रणाली, जो स्वयं वेद के अत्यन्त निकट की रही होगी, प्रायः नष्ट ही हो गई थी तथा उस युग में भाष्यकार यह मान कर चलता था कि वेद मन्त्रों की रचना किसी न किसी कर्म विशेष की सिद्धि के लिये ही हुई है,[८] यह भी कि कर्मविशेष का संकेत देने तथा उनकी कार्यविधि को बतलाने के अतिरिक्त उस मंत्र का कोई अन्य प्रयोजन नहीं है।[९]

दयानन्द इस प्रकार के याज्ञिक अर्थों को पूरे तौर पर चुनौती भी नहीं देते। वेद भाष्य मनुष्य के लिये हितकारक कर्मकाण्ड के प्रयोजक हैं, मन्त्रों का विनियोजन मानव कल्याण के लिये किये जाने वाले क्रियाकाण्डों में होना चाहिए,[१०] इस धारणा से सिद्धान्ततः सहमत होते हुए भी वे यह स्वीकार नहीं करते कि मन्त्रों की रचना या उनका दर्शन मात्र कर्मकाण्ड की सिद्धि के लिये ही हुआ था। उनकी धारणा है कि यदि वस्तुतः वेदों को ईश्वरीय ज्ञान के रूप में हम स्वीकार करते हैं तो उनमें प्रतिपादित विचार नितान्त उदार, व्यापक, प्राणिमात्र के लिये हितकारक तथा सन्मार्ग प्रेरक होने चाहिए। इसी आधार पर वे वेद मन्त्रों के मुख्यतः पारमार्थिक तथा व्यावहारिक, अन्य शब्दों में आध्यात्मिक तथा वैज्ञानिक और विभिन्न विद्या-तत्त्वों के प्रतिपादित अर्थों को करने के पक्षपोषक हैं।[११]

दयानन्द के वेदार्थ चिन्तन में अनेक युगान्तरकारी विचार एवं धारणायें प्रतिफलित हुई हैं। उन्होंने वेदवादियों में प्रचलित इस धारणा का प्रबल खण्डन किया कि मंत्र संहिताओं की ही भांति ब्राह्मणग्रन्थों को भी वेद संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है।[१२] चाहे मध्य-काल के सूत्रकारों तथा वेदाभ्यासियों में यह विचार बद्धमूल ही क्यों न रहा हो कि मंत्रों के ही तुल्य ब्राह्मण भाग का भी प्रमाण स्वीकार किया जाना चाहिए, किन्तु दयानन्द अपनी सुचिन्तित विचार सरणि के आधार पर यह स्पष्ट कर देते हैं कि मंत्र भाग और ब्राह्मण भाग को एक ही स्तर पर नहीं रक्खा जा सकता।[१३] निश्चय ही ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों के व्याख्यान होने से वेदार्थ के मुख्य सहायक ग्रन्थों की कोटि में तो अग्रणी स्थान रखते हैं, किन्तु मनुष्यबुद्धि रचित होने से उनका महत्त्व वेदों से न्यून ही होगा।[१४] इस प्रकार वेद संज्ञा का पुनर्निर्धारण कर दयानन्द ने वैदिक अध्ययन को एक नवीन दिशा प्रदान की।

जब हम यह मान लेते हैं कि वेदों का प्रणयन या वेद ज्ञान का प्रकाश मानव जाति के व्यापक हित की दृष्टि से किसी अद्वितीय सत्ता ने किया है, तो इस ज्ञान को प्राप्त करने

का अधिकार भी मनुष्य मात्र को स्वतः ही मिल जाता है। यह एक विडम्बना ही थी कि जिस वेद ज्ञान का दर्शन और प्रचार विभिन्न वर्गों, वर्णों, लिङ्गों तथा श्रेणियों के लोगों ने किया[१५] तथा मंत्रों में निहित शिक्षाओं को मनुष्य मात्र के लिये हितकारी माना गया,[१६] उसी वेद के अध्ययन, चिन्तन तथा मनन पर मध्यकाल की प्रतिगामी शक्तियों ने नाना प्रकार के प्रतिबंध लगा दिये।[१७] वेदाध्ययन का क्षेत्र द्विजों तक सीमित रह गया। शूद्र तथा स्त्रियों का उसमें कोई अधिकार ही नहीं रहा। इतिहास इस बात का साक्षी है कि वेदाध्ययन पर इस प्रकार के प्रतिबंध मध्यकाल के उसी तमसाच्छन्न युग में लगाये गये थे, जब कि वेदों को वर्ग विशेष की सम्पत्ति समझा गया तथा अन्य वर्ग या वर्ण के लोगों को उससे वंचित कर दिया गया। दयानन्द जैसे उदारभावापन्न एवं मनुष्य मात्र की एकता में विश्वास रखने वाले महापुरुष के लिये तो यह स्वाभाविक ही था कि वे वेदाध्ययन पर लगे इन प्रतिबंधों का डटकर विरोध करते तथा इस दैवप्रदत्त कल्याणी वाणी के अवरुद्ध प्रवाह को लोकहित की दृष्टि से खोल देते।

दयानन्द के वेद विषयक मौलिक चिन्तन को अनेकशः विवेचित किया जा सकता है। डा. रघुवंश के शब्दों में "यदि वेद ज्ञान के भाण्डार हैं, अन्य दर्शनों के लिये तथा भारत के महान् चिन्तकों के लिये प्रामाण्य हैं, ऋषियों और द्रष्टाओं के द्वारा उनके मंत्रों का साक्षात्कार किया गया है, तो उनके मंत्रों का सुसंगत अर्थ होना चाहिए, उनकी अर्थ और भाव की व्यञ्जनाओं में ज्ञान, अनुभव और मूल्यों की श्रेष्ठ तथा उच्चतम भूमियाँ लक्षित होनी चाहिए।"[१८] इस प्रकार दयानन्द ने वेदों में निहित उच्चतर नैतिक, आध्यात्मिक मूल्यों, दार्शनिक तत्त्वों, सामाजिक हित की दृष्टि से विहित विधानों तथा वैज्ञानिक तत्त्वों की विवेचना से युक्त रहस्यों का स्वयं भी दर्शन किया तथा इस दिव्य ज्ञान के महनीय एवं उदात्त प्रतिपाद्य से मानव जाति को परिचित कराया।

दयानन्द से पूर्व का वैदिक चिन्तन कितना रूढ़िबद्ध, जड़ तथा विवेक बुद्धि रहित हो गया था, इसके विषय में तो इतना लिख देना ही पर्याप्त होगा कि यों तो मध्यकालीन सभी दार्शनिकों, मीमांसकों तथा धर्माचार्यों ने वेद के नित्यत्व, ईश्वरकर्तृत्व तथा उसके सर्वोपरि प्रामाण्य की स्थापना में अपनी सूक्ष्मतम बौद्धिक शक्तियों को भी लगा दिया था, परन्तु जिन वेदों की प्रामाणिकता का वे इतनी दृढ़ता से समर्थन कर रहे हैं, स्वयं उन वेदों में क्या कुछ लिखा है, पाठक समुदाय के लिये उनका क्या उपयोग है, इससे वे नितान्त अनभिज्ञ ही रहे।[१९] दयानन्द के वेद विषयक मन्तव्यों की सर्वोपरि विशेषता यही है कि वे उन्हें न केवल सत्य विद्याओं का ग्रन्थ ही घोषित करते हैं, अपितु उनका अध्ययन, अध्यापन, पठन, पाठन एवं मनन, चिन्तन मानव जाति के लिये नितान्त उपयोगी तथा आवश्यक भी घोषित करते हैं।[२०] दयानन्द के काल में ही पश्चिमी विद्वानों का ध्यान भी वेदों की ओर आकृष्ट हो चुका था। अनेक यूरोपीय विद्वान् वेदों के अध्ययन, वेद विषयक ग्रन्थों के लेखन, वेदों के पाठसम्पादन आदि कार्यों में लगे हुए थे। यद्यपि दयानन्द किसी भी यूरोपीय भाषा की अभिज्ञता नहीं रखते थे, तथापि वे येन केन प्रकारेण वेदाभ्यास की इस पाश्चात्य प्रणाली से अपने को परिचित रख रहे थे।[२१] तुलनात्मक भाषा विज्ञान, नृतत्त्व विज्ञान, समाजशास्त्र

तथा देवगाथावाद के आधार पर पश्चिमी वेदज्ञों का वेदाध्ययन विषयक यह प्रयास चाहे उनके विद्याव्यासङ्ग को कितना ही सूचित करे, यह भी यह स्पष्ट है कि इन नवीन प्रणालियों से वेद के हार्द को समझना उनके लिये सम्भव न था। दयानन्द ने पाश्चात्य विद्वानों के वेदविषयक कार्यों का मूल्यांकन कर यह सुविचारित निर्णय दिया कि इन वेदज्ञों का वेदाध्ययन तो अभी प्रारम्भिक स्थिति में ही है।[२२] प्राचीन ऋषि मुनियों ने अपने सहजज्ञान तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा के बल पर वेदमहोदधि का मन्थन कर जिन रत्नों को अनायास ही प्राप्त कर लिया था, उन्हें प्राप्त करने में तो इन्हें बहुत समय लगेगा।

यह तो सत्य है कि अनेक कारणों से दयानन्द द्वारा अन्वेषित वेदार्थ पद्धति को यथोचित मान्यता तथा आदर प्राप्त नहीं हुआ। इसमें जहां पश्चिमी वेदविदों द्वारा आविष्कृत वेदार्थ की प्रणालियों का अंधानुकरण करने वाले भारतीय विद्वानों का पूर्वाग्रह-युक्त दृष्टिकोण एक बड़ा कारण रहा, वहाँ यह भी स्वीकार करना होगा कि भारत के वेदाभ्यासियों का दल भी परम्परागत याज्ञिक शैली की मूढ कारा से अपने को मुक्त नहीं कर सका है।[२३] फलतः दयानन्दकृत वेदार्थ को अपेक्षित प्रशस्ति प्राप्त नहीं हुई। तथापि यह निश्चित है कि वेदार्थ को स्पष्ट करने में दयानन्द ने जिस दिशा का संकेत किया है, अन्ततः उस ओर आये विना हम संसार के इस प्राचीनतम वाङ्मय के अभिप्राय को भलीभांति हृदयंगम नहीं कर सकेंगे।[२४]

दयानन्द का आर्षग्रन्थप्रमाणवाद

धार्मिक विषयों के ऊहापोह में भारतीय परम्परा शास्त्रीय प्रामाण्य को सर्वाधिक महत्त्व देती है।[२५] इसका कारण प्राचीन ग्रन्थों में मात्र विश्वासभाव ही नहीं है, किन्तु हमारी यह मान्यता है कि जिन परावरज्ञ ऋषियों ने इन ग्रन्थों का निर्माण किया था, वे महामेधा-सम्पन्न, विमल ज्ञान के भण्डार तथा लोकहित को दृष्टिपथ में रखकर शास्त्र रचना करने वाले व्यक्ति थे। कालान्तर में एक ऐसा युग भी आया जब कि सामान्य बुद्धि के लोगों ने शास्त्र प्रणेता कहलाने की इच्छा से अनेक ग्रन्थों की रचना कर डाली। परवर्ती युग के इस ग्रन्थ-समुदाय में कहीं भी वैचारिक निर्मलता, शैली की उदात्तता तथा दृष्टिकोण की विशदता के दर्शन नहीं होते। इसके विपरीत इन ग्रन्थों में मनुष्य के चिन्तन की जड़ता, उसकी गतानुगतिक-दृष्टि तथा प्रगतिशील शक्तियों को अवरुद्ध करने का मनोभाव ही प्रकट होता है। शताब्दियों के पश्चात् शास्त्र नाम से अभिहित किये जाने वाले ग्रन्थों की प्रामाणिकता तथा उनकी गुणवत्ता का निर्धारण करने का अवसर उस समय आया जब कि मथुरा की संस्कृत पाठशाला में व्याकरण का शिक्षण करने वाले एक प्रज्ञाचक्षु संन्यासी दण्डी विरजानन्द ने यह स्पष्ट किया कि अब समय आ गया है जब कि हमें आर्ष एवं अनार्ष शास्त्रों में भेद करना होगा और अनार्ष ग्रन्थ जाल से मुक्ति पानी होगी। विरजानन्द ने आर्ष और अनार्ष ग्रन्थों में विवेक करने के अनेक सूत्र प्रस्तुत किये थे,[२७] परन्तु उनकी एतद् विषयक सर्वोपरि स्थापना यही थी कि आर्ष ग्रन्थों में जहाँ सार्वभौम भाव परिलक्षित होते हैं वहाँ अनार्ष ग्रन्थ साम्प्रदायिक विद्वेष एवं मताग्रह की संकीर्णता से युक्त होते हैं।

स्वामी विरजानन्द के आर्ष ग्रन्थ प्रमाणवाद से इसी सूत्र को लेकर दयानन्द ने अपना स्पष्ट मत व्यक्त किया कि धर्म, अध्यात्म, दर्शन, कर्मकाण्ड—प्रत्येक क्षेत्र में आर्ष ग्रन्थों को

ही मान्यता देनी होगी, क्योंकि यही वे ग्रन्थ हैं जो सब प्रकार के साम्प्रदायिक भावों से सर्वथा असंपृक्त, मानव के व्यापक हित की दृष्टि से युक्त तथा मनुष्य के विवेक तथा बुद्धिवाद को जागृत करने वाले हैं, जब कि अनार्ष ग्रन्थों की रचना तो मनुष्य की चिन्तन शक्ति को कुण्ठित करती है तथा उसे मानसिक जड़ता, प्रतिगामिता तथा रूढ़िवादिता का शिकार बनाती है। देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के शब्दों में "विगत पांच हजार वर्षों की अवधि में इस आर्यभूमि में अनेक आचार्यों का प्रादुर्भाव हुआ, परन्तु उनमें से कोई भी ऋषि महर्षि प्रवर्त्तित ज्ञान के पुनरुद्धार में अपना योगदान नहीं कर सका। शंकर, रामानुज एवं मध्व आदि ने जितना परिश्रम अपने अपने सम्प्रदायों के संगठन में किया उतना आर्ष ज्ञान के पुनरुद्धार में नहीं।"[२७] यह श्रेय दयानन्द को ही जाता है कि संस्कृत भाषा में निबद्ध तथा शास्त्र नाम से प्रसिद्ध विशाल ग्रन्थ समुदाय की सम्यक् परीक्षा के अनन्तर उन्होंने यह स्पष्ट घोषणा की—अब समय आ गया है जब कि 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' को छोड़ कर हमें आर्ष एवं अनार्ष का विवेक करना होगा तथा यह देखना होगा कि वे ग्रन्थ कौन से हैं जो हमें उन्नतिगामी बनाते हैं, जो हमारी बुद्धि एवं विचारशक्ति का विकास करते हैं, हमारी मनोवृत्तियों को निर्मल एवं पवित्र बनाते हैं तथा हमें अभ्युदय एवं निश्रेयस के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हैं। ऐसे ही ग्रन्थ हमारे लिये पठनीय एवं विचारणीय हैं। संस्कृत भाषा में लिखे होने मात्र से ही कोई ग्रन्थ प्रामाण्य कोटि में नहीं आ जाता।

वेदप्रामाण्य और आर्ष ग्रन्थों की वरीयता का सिद्धान्त स्वीकार कर लेने के पश्चात् दयानन्द के लिये यह अत्यन्त सहज हो गया था कि धर्म के नाम पर प्रचलित उन सहस्रों मिथ्या रूढ़ियों, जटिल कर्मकाण्डों, अंधविश्वासों तथा मूढ़ धारणाओं का वह प्रबल प्रतिवाद करता, जो वैदिक धर्म में स्वीकृत उच्च आध्यात्मिक विश्वासों, उदात्त उपासना पद्धतियों तथा प्राणिमात्र के हित के लिये प्रवर्तित क्रियाकाण्डों के स्थान पर प्रचलित हो गये थे। मूर्तिपूजा, अवतारवाद, प्रतीकोपासना, तीर्थयात्रा, व्रत, उपवास, मृतक श्राद्ध आदि शतशः ऐसी धार्मिक रूढ़ियां थीं जो जनसमाज के धार्मिक विश्वासों का रूप धारण कर चुकी थीं। दयानन्द ने स्पष्ट अनुभव किया था कि बृहत्तर हिन्दूधर्म तथा समाज के सर्वतोमुखी पतन का प्रमुख कारण यही है कि वह वैदिक तथा औपनिषदिक उपासना पद्धति को विस्मृत कर चुका है तथा मानव को ऊर्ध्वमुखी बनाने वाली पातञ्जल योग वर्णित साधना प्रणाली के स्थान पर प्रस्तर, धातु, वृक्ष, पर्वत, नदी, जल आदि जड़ पदार्थों को ही पराशक्ति या उसके प्रतीक समझ बैठा है तथा इन स्थूल पदार्थों के आगे माथा रगड़ते रगड़ते उसका चित्त भी नितान्त जड़ तथा स्थूल हो गया है।

भारतवासियों के सार्वत्रिक अधःपतन के लिये दयानन्द ने मूर्तिपूजा को समग्र रूप से उत्तरदायी ठहराया था। ऐसा करके उसने कोई भूल नहीं की। देवेन्द्रनाथ के शब्दों में "हिन्दुओं के चरित्र में जो अमानवीयता, पशुत्व तथा नीच प्रवृत्तियां संचरित हुई हैं, उनका एकमात्र कारण मूर्तिपूजा ही है।"[२८] मूर्तिपूजा के मूल में अवतारवाद की अवधारणा कार्यरत थी, जिसके अनुसार सच्चिदानन्दादि लक्षणान्वित ब्रह्म भी मानव देहधारण करता है। दयानन्द के प्रबुद्ध जीवनचरित लेखक देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने अवतार की मान्यता को अत्यन्त निन्दास्पद तथा गर्हित बताते हुए लिखा था—"जिस परमात्मा का वेदादिशास्त्रों में अकाय, अव्रण, अशब्द, अस्पर्श आदि शब्दों से कीर्तन किया गया है, उस परमात्मा में हिन्दू काम, क्रोध,

भय, क्षुधा, तृष्णा, व्याधि, आलस्य, निद्रा, विपत्, पुत्रोत्पादन, विद्वेष, हिंसा, स्वजन द्रोह, परस्त्री गमन प्रभृति का आरोप करने में अणु मात्र भी संकोच और पाप बोध नहीं करते।"[२९]

अन्ततः अत्यन्त भावना प्रवण शैली में मुखोपाध्याय महाशय ने मूर्तिपूजा को ही भारतीय धर्म को विकृत करने के लिये उत्तरदायी ठहराया है। उनके अनुसार, "जो धर्म सम्पूर्ण रूप से आन्तरिक वा आध्यात्मिक था, उसे पूर्णतया स्थूल और बाह्य किसने बनाया ? कामादि शत्रुओं के दमन और वैराग्य साधन के बदले तिलक और त्रिपुण्ड्र धारण को ही मोक्ष का साधन किसने बताया ? ईश्वर भक्ति और परमेश्वर प्रीति, परोपकार, और स्वार्थ त्याग के बदले अंग में गोपीचंदन का लेपन, मुख से गंगालहरी का उच्चारण, कण्ठ में अनेक प्रकार की मालाओं के धारण को ही परा साधना किसने बताया ? संयम, शुद्धता, चित्त की एकाग्रता आदि के स्थान पर केवल दिन विशेष पर खाद्य विशेष का सेवन न करना आदि स्थूल रीतियां किसने प्रचलित कीं ? इन सब प्रश्नों का एक ही उत्तर है—मूर्तिपूजा। समग्र दृष्टि से देखें तो हिन्दुओं के मनोबल, पराक्रम, उदारता, साहस, प्रेम, संवेदना, परदुखानुभूति जैसे श्रेष्ठ गुणों के बदले उनमें घोर स्वार्थपरता का संचार कराने में भी मूर्तिपूजा ही कारण रही है।"[३०]

यहाँ एक बात और ध्यान देने की है। दयानन्द ने असत्य, अधर्म और अन्याय से समझौता करना सीखा ही नहीं था। हम यह देखते हैं कि स्वामी दयानन्द के ही समकालीन एवं समानधर्मा अनेक सुधारकों ने मूर्तिपूजा का प्रबल प्रतिवाद करते हुए भी समय आने पर उससे समझौता करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं किया। राममोहनराय के समान प्रतिमा पूजन का सक्रिय विरोधी दयानन्द के पूर्ववर्ती काल में नहीं हुआ। किन्तु राय महाशय भी प्रकारान्तर से यह स्वीकार कर लेते हैं कि शास्त्रों ने जड़ पदार्थों की पूजा उन व्यक्तियों के लिये बताई है, जो अत्यन्त सूक्ष्म निराकार परमात्मा का ध्यान नहीं कर सकते।[३१] केशवचन्द्र सेन तो रामकृष्ण परमहंस के प्रभाव में आकर ब्रह्मसमाज में अनेक ऐसे विधानों को स्वीकृति दे चुके थे जो पौत्तलिक उपासना के ही प्रतीक माने जा सकते हैं।[३२] जब धार्मिक सुधारकों ने ही मूर्तिपूजा से किसी न किसी रूप में समझौता कर लिया तो रामकृष्ण परमहंस तथा विवेकानन्द आदि हिन्दू धर्म के उन नवीन व्याख्याकारों के बारे में तो कहना ही व्यर्थ है जो डंके की चोट प्रत्येक धार्मिक अंधविश्वास, तथा प्रचलित परम्पराओं का समर्थन करते थे। परन्तु दयानन्द ने ऐसे किसी मत विश्वास से कभी समझौता नहीं किया और न उसकी अनावश्यक श्लाघा ही की, जो मानव विवेक को कुण्ठित करने वाला तथा उसकी विचार-शक्ति को उन्मूलित करने वाला हो। इसी तथ्य को लक्ष्य में रखकर दयानन्द की विचारधारा के मार्मिक व्याख्याता देवेन्द्रनाथ लिखते हैं—"भारत के आचार्यों की मानो यह अपरिहार्य नीति रही है कि वह मूर्तिपूजा तथा अद्वैतवाद के साथ किसी न किसी प्रकार से मित्रता स्थापित कर लें।"[३३] परन्तु दयानन्द उसके अपवाद थे। वे स्वयं मूर्तिपूजा के घोर शत्रु रह कर आजन्म उसका प्रबल प्रतिरोध करते रहे। जो लोग अनेक आपातरमणीय युक्तियाँ देकर तथा आलंकारिक व्याख्यायें प्रस्तुत कर मूर्तिपूजा का कथञ्चित् समर्थन करते हैं, वे उससे उत्पन्न होने वाले भयंकर परिणामों को न तो जानते ही हैं और न जानने की चेष्टा ही करते हैं।

खण्डन मण्डन का प्रयोजन—

दयानन्द के व्यक्तित्व, चरित्र तथा उनके विचारों को यथार्थ रूप में अभी तक समझा ही नहीं गया है। उनके द्वारा किये गये मूर्तिपूजादि मिथ्या विश्वासों के प्रबल खण्डन को लक्ष्य में रखकर प्रायः लोग उन्हें संकुचित दृष्टि युक्त, अनुदार भावापन्न, अन्य सम्प्रदायों के प्रति द्वेष बुद्धि रखने जैसे लांछन भी लगा बैठते हैं। निश्चय ही दयानन्द ने जिसे असत्य समझा, जिसे अन्याय युक्त माना तथा जिसे अधर्म कहा, उसका तीव्र खण्डन करने में उन्होंने कभी संकोच नहीं किया। परन्तु उनका यह खण्डन कुठार उसी वस्तु या विचार पर गिरता था, जो मानव-जाति के लिये अहितकारक, उसकी एकता का विनाशक तथा उसे पतन की ओर ले जाने वाला होता था। खेद है कि खण्डन मण्डन में प्रयुक्त दयानन्द की तथ्य पूर्ण, साथ ही बिना किसी लाग लपेट वाली भाषा के अभिप्राय को न समझ कर उन्हें कटु भाषी, खण्डनपटु आदि न जाने क्या क्या कह दिया जाता है। अतः यह आवश्यक है कि खण्डन मण्डन की प्रयोजनीयता को उन्हीं के शब्दों में स्पष्ट किया जाय।

अपने विख्यात ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश की भूमिका तथा इसके उत्तरार्द्ध के प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में लिखी गई अनुभूमिकाओं में दयानन्द ने यह स्पष्ट कर दिया है कि उनका मुख्य प्रयोजन सत्य अर्थ का प्रकाश करना है। अर्थात् "जो जो सब मतों में सत्य बातें हैं, वे वे सब में अविरुद्ध होने से, उनका स्वीकार करके जो जो मतमतान्तरों में मिथ्या बातें हैं उन उनका खण्डन किया है।"[३४] वस्तुतः दयानन्द की दृष्टि में धर्म तो एक ही है। ऐसा धर्म, जो वस्तु का स्वभाव होने के कारण सर्वथा अखण्डनीय ही होता है। अतः सच्चे धर्म का तो खण्डन हो ही नहीं सकता। दयानन्द ने तो विभिन्न सम्प्रदायों में प्रचलित अंधविश्वासों, युक्ति, तर्क एवं विज्ञान से विरुद्ध उन मिथ्या धारणाओं का ही खण्डन किया है, जो मत-सम्प्रदायों के अनुयायियों में पारस्परिक द्वेष एवं फूट का संचार करती हैं। अतः दयानन्द को अन्य मतों के प्रति असहिष्णु कहना अन्याय पूर्ण है। दयानन्द ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वे प्रथम दृष्टि में ही किसी सम्प्रदाय विशेष के ग्रन्थ को आलोचना की दृष्टि से नहीं देखते, अपितु उसके गुण दोषों का सम्यक् विवेचन करने के पश्चात् ही उसके सम्बन्ध में अपनी धारणा बनाते हैं। सम्प्रदायों में पाये जाने वाले दोषों को प्रकाशित करने का उनका लक्ष्य भी यही होता था कि लोग सत्य एवं असत्य का निर्णय करें ताकि सच्चाई को ग्रहण करने तथा मिथ्या को त्यागने का वे सामर्थ्य प्राप्त कर सकें। इसी अभिप्राय को उन्होंने अन्यत्र भी व्यक्त किया है।[३५]

दयानन्द द्वारा किये गये खण्डन मण्डन के पीछे उनके दृष्टिकोण की विवेचना के प्रसंग में डा. रघुवंश को पुनः उद्धृत करता अनुचित नहीं होगा। उनके शब्दों में, "स्वामी दयानन्द ने सत्य धर्म एक ही माना है और उनकी दृष्टि में धर्म वही हो सकता है जो श्रेष्ठ मानव मूल्यों की रचनात्मक प्रक्रिया को गतिशील रखने में सक्षम हो सके। बाद के समन्वयवादियों और अन्तर्राष्ट्रीयतावादियों ने दयानन्द को कट्टरपन्थी और खण्डन मण्डन करने वाले सुधारक के रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि उनके जैसा उदार मानवतावादी नेता दूसरा नहीं रहा है।"

दयानन्द से एक शिकायत ईसाई तथा मुसलमान वर्ग के उन लोगों को भी रही, जो उनके खण्डन मण्डन के पीछे निहित भाव को समझने में असमर्थ रहे थे। उन्होंने यह समझने का यत्न नहीं किया कि दयानन्द का सबसे अधिक विरोध तो धर्म के नाम पर व्यवसाय करने वाले पण्डे पुजारियों, महन्तों और मठाधीशों से था। दयानन्द ने यदि इस्लाम और ईसाइयत की आलोचना की, तो इसलिये नहीं कि वे उन्हें भारत से इतर देशों में उत्पन्न सेमेटिक विचारधारा का वाहक समझते थे, अपितु उनकी आलोचना के लक्ष्य तो इन सम्प्रदायों में विद्यमान असत्य, अंधविश्वास तथा मूढ़ धारणायें ही रहीं।

एक बात और भी थी। दयानन्द जानते थे कि इस्लाम और ईसाइयत के प्रचारकगण हिन्दू धर्म में प्रचलित रूढियों, अंधविश्वासों तथा अनेक मूर्खतापूर्ण विधि विधानों की ओट में पिछड़े वर्ग के लोगों को मत परिवर्तन की प्रेरणा देते रहते हैं। उनका कहना था कि जो स्वयं कांच के घरों में निवास करते हैं, उन्हें दूसरों पर पत्थर फेंकने का क्या अधिकार है? इसी तथ्य को लक्ष्य में रख कर उन्होंने ईसाइयत एवं इस्लाम की तथ्यपूर्ण आलोचना की, मानो उन्हें सचेत कर दिया कि उनकी स्थिति भी हिन्दू धर्म के उन अनुयायियों से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है, जो अपनी कमजोरियों के कारण पादरियों और मौलवियों की आलोचना के शिकार बनते हैं। उदार भावापन्न लोग, चाहे वे ईसाई थे या मुसलमान, स्वामी दयानन्द के दृष्टिकोण की वास्तविकता को समझ कर सदा उनके प्रशंसक बने रहे। भारत में मुस्लिम नवजागरण के अग्रदूत सैयद अहमद खाँ, अजमेर से प्रकाशित होने वाले राजपूताना गजट के सम्पादक मुन्शी मुराद अली जैसे व्यापक दृष्टिकोण के मुसलमान तथा बरेली के पादरी डा. स्कॉट जैसे विचारशील ईसाई धर्मयाजक, दयानन्द के मित्र, प्रशंसक तथा भक्त कहलाने में गर्व का अनुभव करते थे। यह दूसरी बात है कालान्तर में भारत में ही कुछ ऐसी राजनैतिक एवं सामाजिक परिस्थितियां उत्पन्न हो गईं, जिनके कारण स्वामी दयानन्द द्वारा प्रवर्तित आर्यसमाज ईसाई तथा मुसलमानों से बहुत अधिक मधुर सम्बन्ध नहीं रख सका, किन्तु उनका यहाँ विचार करना अप्रासंगिक है।

दयानन्द के दार्शनिक विचार—

दयानन्द को समाज संशोधक, धर्माचार्य तथा राष्ट्र निर्माता युग पुरुष के रूप में तो प्रायः स्मरण किया जाता रहा है, किन्तु उनके दार्शनिक विचारों का बहुत कम ऊहापोह हुआ है।[३७] एतद् विषयक भ्रम यहाँ तक फैल गया कि अनेक अहम्मन्य प्रकृति के लोगों ने तो दयानन्द में दार्शनिकता का नितान्त अभाव ही घोषित कर दिया तथा उनके द्वारा प्रकट किये गये दार्शनिक विचारों को भी अतिसामान्य, छिछला तथा अनतिगम्भीर कहने का प्रयास किया। तथ्य यह है कि दयानन्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व एवं कृतित्व के पीछे एक अत्यन्त स्पष्ट, सुविचारित तथा सतर्क चिन्ताधारा कार्य कर रही थी। यदि दयानन्ददर्शन में वैसी यथार्थवादिता, गहराई तथा स्पष्टता नहीं होती, तो इसमें सन्देह ही है कि वे अपने विचारों को जनसामान्य तक पहुंचा पाते तथा बहुसंख्यक समाज उनका अनुयायी बन जाता।

दयानन्द ने विश्व प्रपञ्च की व्याख्या यथार्थवादी दृष्टि से की है। उनका दर्शन जीवेश्वर के भेद तथा प्रकृति की अनादिता के सिद्धान्त पर आधारित है। इस दृष्टि से वे

शाङ्कर वेदान्त के प्रखर आलोचक भी हैं।[३८] उनकी दार्शनिक विचारधारा जहाँ वैदिक एवं औपनिषदिक दार्शनिक चिन्तन पर पूर्णतया आधारित है, वहाँ प्रबल युक्तियों एवं प्रमाणों से उसे परिपुष्ट भी किया गया है। इसका यह अर्थ नहीं कि वे उपनिषदों के उन वाक्यों की अनदेखी कर जाते हैं जो एकाधिक बार अद्वैतवाद का समर्थन करते हुए से प्रतीत होते हैं। वे ऐसे वाक्यों की संगति स्वतन्त्र रूप से लगाते हैं और उनका कहना है कि यदि प्रसंगानुसार ऐसे अभेदपरक प्रतीत होने वाले उपनिषद् वचनों का सम्यक् विचार किया जाय, तो उनसे शाङ्कर-सिद्धान्त को पुष्ट करना असम्भव ही हो जायगा।

दयानन्द का शंकर पर स्पष्ट आरोप है कि उसने न केवल उपनिषदों की, अपितु वेदान्त सूत्रों की भी व्याख्या स्वाभिमत के अनुकूल ही की है, और ऐसा करते समय वह यह विस्मृत कर जाते हैं कि सूत्रकार ऋषि का आशय निश्चय ही वह नहीं है, जो उनकी व्याख्या में लिखा जा रहा है। आचार्य शंकर पर वैयासिक सूत्रों के अर्थों में खींचतान का आरोप दयानन्द ने ही लगाया था, ऐसी बात नहीं है। पुनर्जागरण के ही एक अन्य कर्णधार तथा अपने आपको महान् वेदान्ती कहने वाले स्वामी विवेकानन्द ने इस सम्बन्ध में लिखा था—"शंकर अद्वैतवादी थे, इसलिये उन्होंने सभी सूत्रों की केवल अद्वैतमत में व्याख्या करने की चेष्टा की है।"[३९] उन्होंने तो एक व्याख्यान में यहाँ तक कह दिया था कि "शंकराचार्य जैसे बड़े बड़े भाष्यकारों ने अपने मत की पुष्टि के लिये जगह जगह पर शास्त्रों का ऐसा अर्थ किया है, जो मेरे विचार में समीचीन नहीं है।"[४०] दयानन्द ने भी लगभग ऐसा ही कहा है।

परन्तु बात केवल अद्वैतवाद के दार्शनिक पक्ष या सैद्धान्तिक पहलू की ही नहीं थी। दयानन्द तो व्यवहारवादी, यथार्थ दृष्टिसम्पन्न दार्शनिक थे। उन्होंने यह स्पष्ट अनुभव किया था कि शाङ्कर अद्वैतवाद और मायावाद ने देशवासियों को कर्मशील जीवन से विरत कर उन्हें स्वप्नलोकवासी, परलोक चिन्तन करने वाले, मात्र मोक्षकामी ही बना दिया है। समाज और राष्ट्र के प्रति अपने दायित्वों को सर्वथा विस्मृत कर 'अहं ब्रह्मास्मि' और 'तत्त्वमसि' के तथाकथित महावाक्यों की मीमांसा करने वालों ने दर्शन जगत् में ख्याति के चाहे जैसे झण्डे गाड़ दिये हों, किन्तु उनसे देश तथा समाज का हित तो कदापि नहीं हुआ। जन सेवा, लोक-हित के लिये स्वार्थ त्याग, देश और जाति के व्यापक कल्याण की सिद्धि के लिये समर्पण भाव आदि के उदात्त तत्त्व उन वेदान्तवादियों में यदा कदा ही दिखाई पड़ते हैं।[४१] अतः यदि हमें अपने जीवन को जड़, निष्क्रिय तथा पलायनोन्मुख नहीं बनाना है तो वेदान्त की मोहमयी मदिरा का त्याग करना ही होगा, यह दयानन्द की पक्की धारणा थी।

इस प्रकार शाङ्कर मत का सर्वभावेन निरसन करने के पश्चात् दयानन्द ने जीवेश्वर भेदवाद के पोषक द्वैतसिद्धान्त (अथवा जीव, ईश्वर एवं प्रकृति की त्रिविध अनादि सत्ताओं को स्वीकार करने वाले त्रैतवाद) की स्थापना की। उन्होंने जीवेश्वर सम्बन्धों की विवेचना करते हुए इनमें परस्पर उपास्य-उपासक, राजा-प्रजा, गुरु-शिष्य, मित्र-मित्र तथा सेव्य-सेवक भावों को स्वीकार किया।

भारत के दार्शनिक चिन्तन को दयानन्द की एक अन्य महत्त्वपूर्ण देन, उनके आर्ष-ग्रन्थ प्रामाण्य के सिद्धान्त से ही अनुस्यूत हुई है। वे यह मानते हैं कि न्याय, वैशेषिक, सांख्य,

योग तथा वेदान्त एवं मीमांसा छहों वैदिक दर्शन एक दूसरे के विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक हैं। उन्होंने सत्यार्थप्रकाश में, दो प्रसंगों में[४२] षड्दर्शन समन्वय का उल्लेख किया है तथा एतद् विषयक चर्चा को सूत्र रूप में उठाया है। यदि उन्हें समय मिलता तो सम्भवतः वे सभी दर्शनों की समन्वयात्मक दृष्टि से व्याख्या भी करते तथा उनमें आपाततः दीखने वाले विरोधों का परिहार भी करते। दर्शन सूत्रों में सामञ्जस्य स्थापित करने का यह श्लाघनीय प्रयास उनके इसी मन्तव्य पर आधारित था कि सांख्यादि दर्शनों के प्रणेता कपिल आदि साक्षात्कृतधर्मा, जीवन एवं जगत् के रहस्यों को हस्तामलकवत् जानने वाले परावरज्ञ कोटि के ऋषि थे। अतः ऋषियों के कथन में कोई मौलिक मत भेद नहीं हो सकता, शैली भेद भले ही हो।

दयानन्द का दर्शन जीव एवं ईश्वर के परस्पर भेद के विचार पर आधारित है। अतः मूलतः दयानन्द ने जीव के लिये संसार के स्रष्टा एवं विधाता परमात्मा की प्रणति-पुरस्सर उपासना करने का ही विधान किया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि वैदिक साहित्य तथा विचारधारा में ज्ञान, कर्म एवं भक्ति (उपासना) की त्रिपुटी को परस्पर विरोधी तत्त्वों के रूप में प्रस्तुत न कर एक दूसरे के पूरक के रूप में विवेचित किया गया है। यह एक विडम्बना ही थी कि कालान्तर में शंकराचार्य जैसे ज्ञान मार्गी दार्शनिकों ने ज्ञान और कर्म में ३६ का सम्बन्ध ठहराया और इन्हें परस्पर विरोधी घोषित किया। इसी की प्रतिक्रिया वैष्णव-सम्प्रदाय के आचार्यों में हुई जिन्होंने ज्ञान एवं कर्म का आत्यन्तिक बहिष्कार कर मात्र भक्ति को ही कलि काल में परमात्मा की प्राप्ति का एकमेव साधन बताया। और यह मध्यकालीन भक्ति भी कैसी थी ? जो सामाजिक दायित्वों तथा सामाजिक संदर्भों से व्यक्ति को सर्वथा विच्छिन्न कर एक ऐसी आवेशपूर्ण स्थिति में ले आती थी, जिसके वशवर्ती होकर मनुष्य अपने सभी सांसारिक इतिकर्त्तव्यों से मुंह मोड़ लेता था।

दयानन्द ने वैष्णवों की इस आवेशमयी भक्ति का डट कर विरोध किया जो केवल एक बार के नाम स्मरण मात्र से ही अथवा तुलसी दल समर्पित कर देने मात्र से ही जीव के लिये मोक्ष का द्वार खोल देने का दावा करती थी, चाहे भक्त का वैयक्तिक जीवन कैसा ही अपराधपूर्ण क्यों न हों तथा उसके कर्म कितने ही दोषों से भरे क्यों न हों ? देवता की प्रतिमा के समक्ष एक पुष्प समर्पित कर देने, गंगादि तीर्थों में एक बार गोता लगा लेने अथवा गलत-सही किसी भी तरीके से नारायण के नाम का एक बार उच्चारण कर लेने से ही मनुष्य भव-पाशों से मुक्त होकर परमात्मा के परम धाम का अधिकारी हो जाता है, ऐसे भावों एवं आस्थाओं ने भारतवासियों की पुरुषार्थ वृत्ति को कुण्ठित कर उन्हें दैववादी, प्रारब्धवादी, अकर्मण्य, एवं पलायनवादी बना दिया है, यह दयानन्द का सुदृढ विश्वास था।

दयानन्द का भक्तिवाद—

तथापि इससे यह निष्कर्ष निकाल लेना अनुचित ही होगा कि दयानन्द एक शुष्क विचारक एवं तार्किक तथा 'वेदाभ्यास जडमति' मीमांसक का ही व्यक्तित्व लेकर देश के सार्वजनिक जीवन के मञ्च पर अवतरित हुए थे। स्वयं के अनुसार उन्होंने सार्वजनिक जीवन को सर्वतोमुखी उन्नत बनाने का जो महत् अनुष्ठान आरम्भ किया था, वह प्रबल ईश्वर विश्वास के बल पर ही किया गया था। दयानन्द परमसत्ता के अनन्य उपासक हैं। वे समर्पण-

शील भावना लेकर जगन्नाटक सूत्रधार के सम्मुख आने वाले एक विनम्र सेवक हैं, जिन्होंने अत्यन्त भावप्रवण होकर अपने आराध्य देव से कहा था—"आपका तो स्वभाव ही है कि अङ्गीकृत को कभी नहीं छोड़ते।"[४३] वेदों पर आधारित दयानन्द का यह भक्ति सिद्धान्त आर्याभिविनय में संगृहीत विभिन्न मन्त्रों की व्याख्याओं में पदे पदे प्रकट हो रहा है।

अपने ग्रन्थों में यत्र तत्र उपासना की चर्चा करते हुए दयानन्द ने योगसाधना पर अत्यधिक बल दिया है। चाहे हम सत्यार्थप्रकाश वर्णित उपासना प्रकरण[४४] को लें अथवा ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में विवेचित 'उपासना विषय'[४५] को देखें, हमें सर्वत्र योगाङ्गों का विवेचन ही मिलेगा। दयानन्द ने स्वयं पातञ्जलयोग पद्धति का अनुसरण कर समाधि अवस्था का साक्षात्कार किया था। यम नियमादि की व्यवस्थित साधना के अनन्तर वे योग के विभिन्न सोपानों पर चढ़ते हुए निर्विकल्पक समाधि की स्थिति को प्राप्त कर पाये थे। परन्तु मध्य युग में योग के नाम पर जैसी अटपटी एवं भ्रष्ट साधनायें चल पड़ी थीं, दयानन्द का उनसे स्पष्ट वैमत्य था। वे न तो हठयोग की उन साधनाओं के पक्षपोषक थे, जो केवल शारीरिक क्रियाओं को ही महत्त्व देती हैं और न वे योग के नाम पर नाना गुह्य एवं रहस्यपूर्ण बातों को ही प्रश्रय देना चाहते थे। यही कारण था कि थियोसोफिकल सोसाइटी के नेता द्वय से उनकी पटरी अधिक काल तक नहीं बैठ सकी, जो योग के नाम पर नाना चमत्कारपूर्ण क्रियाओं, विचित्र साधना पद्धतियों एवं अनेक रहस्यपूर्ण अलौकिक विद्याओं को प्रतिष्ठित करना चाहते थे।[४६] उपासना, धर्म, अध्यात्म एवं दर्शन के क्षेत्र में दयानन्द की सर्वोपरि देन तो यही है कि वे पुरातन विश्वासों, धारणाओं तथा पद्धतियों से केवल इसीलिये चिपटे रहने का उपदेश नहीं देते कि ये प्राचीन हैं, अतः हमारे लिये मान्य तथा आचरणीय हैं। वे मनुष्य के विवेक को जागृत करना चाहते हैं। जिन वेदों को सर्वोपरि प्रमाण मानने के लिये उन्हें प्रायः दोषी ठहराया जाता है, उन वेदों के प्रति भी वे मानव जाति का विश्वास इसीलिये जगाना चाहते हैं, क्योंकि दयानन्द वेदों को पूर्णतया बुद्धिसंगत, तर्कयुक्त एवं सृष्टि रचना के शाश्वत नियमों के सर्वथा अनुकूल मानते हैं। दयानन्द की मानव जाति को यदि कोई एक मात्र महत्त्वपूर्ण देन है, तो वह यही है कि वे मनुष्य को अपनी बुद्धि, विवेक शक्ति तथा चिन्तन-प्रणाली का प्रयोग करने के लिये कहते हैं, किसी बात को केवल इसीलिये मान लेने के लिये नहीं कहते कि वह हमारे शास्त्रकारों का आदेश है, पूर्वजों की प्रणाली है अथवा महाजनों से समर्थित आप्त वाक्य है।

दयानन्द का सामाजिक दर्शन—

दयानन्द जितने बड़े धर्म संशोधक, धर्म व्याख्याता अथवा धर्माचार्य हैं, एक समाज शास्त्री, समाज संस्कारक तथा सामाजिक नेता के रूप में उनका व्यक्तित्व भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यों तो वे उन्नीसवीं शती के उन समाज सुधारकों की ही परम्परा में आते हैं, जिन्होंने बृहत्तर हिन्दू समाज में व्याप्त बुराइयों, मूर्खतापूर्ण रीतिरिवाजों तथा पुरातन सड़ी गली प्रथाओं के विरोध में आवाज उठाई थी, किन्तु दयानन्द का यह सुधारक रूप भी एक उग्र क्रान्तिकारी, समाज को आमूलचूल बदलने वाले युग प्रवर्त्तक तथा क्रान्तद्रष्टा की प्रभा से परिवेष्टित है। भारतीय समाज में व्याप्त नाना बुराइयों, विषमताओं, शोषण की प्रवृत्तियों

तथा अत्याचार मूलक प्रथाओं को नष्ट करने के लिये दयानन्द के प्रयासों का सर्वत्र, सब कालों में अभिनन्दन हुआ है। वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन को खोखला बनाने वाली भीषण प्रथाओं का उन्होंने जिस प्रकार डटकर विरोध किया था, यह सब आज इतिहासकार की विवेचनाओं में आ चुका है। अतः बालविवाह के उन्मूलन, विधवाओं की स्थिति को सुधारने, नारी को समाज में उच्चतर स्थिति प्रदान कराने, दलित एवं अस्पृश्य कही जाने वाली जातियों को उनका अधिकार दिलाने, जन्मगत जाति प्रथा के दोषों की ओर जन समाज का ध्यान आकृष्ट करने आदि से सम्बन्धित उनके कार्यों का पुनः विचार करना पिष्टपेषण ही होगा।

परन्तु हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि दयानन्द के तुरन्त पश्चात् ही हमारे देश में एक ऐसा चिन्तक वर्ग उत्पन्न हो गया था, जो न केवल सुधारवाद का विरोधी ही था, अपितु जो प्रत्येक प्राचीन प्रथा के औचित्य को सिद्ध करने तथा सर्वथा जर्जर, मृतप्राय एवं हानिकर रूढ़ियों का शब्दाडम्बरयुक्त एवं आलंकारिक व्याख्या प्रणाली का सहारा लेकर समर्थन भी करता था। इन लोगों ने सुधारक वर्ग के कार्यों का अवमूल्यन तो किया ही, उन पर अनेक प्रकार से छींटाकशी भी की।[४७] सम्भवतः वे सुधारकों द्वारा सामाजिक बुराइयों की कटु आलोचना से भी चिढ़ गये थे, परन्तु सुधारकों के इस प्रकार अग्निजिह्व हो जाने के कारणों की उन्होंने कभी मीमांसा नहीं की। यदि वे ऐसा करते, तो निश्चय ही इस निष्कर्ष पर पहुंच जाते कि रूढ़ियों और बुराइयों की समालोचना बिना किसी लाग लपेट के ही करनी होती है, तभी उसका अभीष्ट फल भी प्राप्त होता है। कोमल शब्दावली का प्रयोग कर हम शताब्दियों से किये जाने वाले उन निर्मम अत्याचारों को समाप्त नहीं करा सकते, जिनके कारण दीर्घकाल तक हमारी प्रगति अवरुद्ध होती रही है।

स्त्रियों, शूद्रों तथा अन्य दलित वर्गों के प्रति किये जाने वाले अमानवीय अत्याचारों को देख कर दयानन्द का हृदय तो द्रवित हुआ ही था, उनकी आत्मा भी चीत्कार कर उठी थी। जब वे शताब्दियों से त्रस्त, पीड़ित तथा शोषित वर्ग के हाहाकार को सुनते हैं, तो उन्हें अवर्णनीय मानसिक वेदना होती है। और ऐसी व्याकुलता की मनःस्थिति में ही वे इन लोगों पर अत्याचार करने वाले समाज के पण्डे, पुरोहित तथा अन्य कर्णधारों के प्रति अत्यन्त निर्मम हो जाते हैं। पूर्वपक्षी गर्वपूर्वक 'स्त्रीशूद्रोनाधीयाताम्' की काल्पनिक श्रुति पढ़ कर स्त्रियों और शूद्रों के वेदाध्ययन को प्रतिबन्धित ही नहीं करता, अपितु धृष्टतापूर्वक पूछता है कि यदि ये (स्त्री व शूद्र) वेद पढ़ने लगेंगे तो हम क्या करेंगे? अब इसका उत्तर स्वामीजी के पास इसके सिवाय और क्या हो सकता था कि मनुष्य मात्र को वेद के पढ़ने का अधिकार तो स्वयं वेदों से ही प्रमाणित होता है। अतः जब पूर्वपक्षी निर्लज्जतापूर्वक यह कहता है कि यदि नारी जाति तथा शूद्र वर्ग को भी वेद का पठनाधिकार दे दिया गया तो उसकी व्यवसायजन्य क्षति होगी और वे क्या करेंगे, तो दयानन्द के रोषाविष्ट मानस से यही उत्तर निकलेगा कि तुम्हारे स्वार्थों के पीछे नारी एवं शूद्र वर्ग अब अधिक दिन तक कष्ट नहीं भोगेंगे। इसी सात्त्विक क्रोध के आवेश में आकर दयानन्द उन स्वार्थान्ध व्यक्तियों के लिये कहते हैं—तुम्हें अपने स्वार्थों की पड़ी है तो तुम कुएं में पड़ो,[४८] क्योंकि कपोलकल्पित श्रुतियों के प्रमाण देकर ही तुम

शताब्दियों से दीन, हीन एवं दलित जातियों का शोषण करते रहे हो। सारे सन्दर्भ को समझने पर स्वामीजी के शब्दों की प्रतीयमान कटुता का रहस्य भी समझ में आ जाता है।

किन्तु दयानन्द सामाजिक बुराइयों पर निरन्तर अभिशाप वृष्टि करने वाले कठोर आलोचक ही नहीं हैं। वे एक श्रेष्ठ और आदर्श सामाजिक विधान के पुरस्कर्ता भी हैं। यह अवश्य है कि उनके द्वारा वर्णित और विवेचित आदर्श सामाजिक व्यवस्था उनका निज का कोई सर्वथा नूतन आविष्कार नहीं था। यह तो वही प्राचीन वर्णाश्रम व्यवस्था थी, जो सहस्राब्दियों पूर्व वेदमतावलम्बियों द्वारा आविष्कृत की जाकर आर्य जाति के द्वारा स्वीकृत की गई थी। निश्चय ही कालान्तर में वर्ण व्यवस्था में अनेक त्रुटियों का समावेश हुआ और वह अपकर्ष को प्राप्त हुई। दयानन्द ने वर्ण व्यवस्था के गुण, कर्म पर आधारित स्वरूप को ही माना, उसे ही प्रतिष्ठा दी तथा उसी का प्रचार किया। यह ठीक है कि वर्तमान काल में विद्यमान सामाजिक समस्याओं का समाधान गुणकर्माश्रित वर्णव्यवस्था के आधार पर निकालना भी कठिन हो रहा है, किन्तु वर्ण व्यवस्था की आलोचना करने वाले यह क्यों नहीं स्वीकार करते कि इन समस्याओं को जन्म देने में वर्णव्यवस्था का उतना हाथ नहीं रहा, जितना उस जातिवाद का है, जिसे पदे पदे कोसने पर भी प्रत्येक राजनैतिक नेता और दल अधिक से अधिक चिपटाता चला जा रहा है।

दयानन्द द्वारा प्रदत्त सामाजिक व्यवस्थायें अनेक अर्थों में क्रान्तिकारी मानी जा सकती हैं। वे परम्परा से हटकर भी सामाजिक विधानों में यथेच्छ परिवर्तन कर डालने के समर्थक हैं। उदाहणार्थ, यदि वे यज्ञोपवीत ग्रहण करने का अधिकार मनुष्य मात्र को प्रदान करते हैं, तो साथ ही यह लिखना भी नहीं भूलते कि अधिकारी व्यक्ति को दिया हुआ यज्ञोपवीत छीना भी जा सकता है।[४९] यदि स्वामीजी द्वारा निर्दिष्ट इस व्यवस्था को क्रियान्वित किया जाता तो उन 'महाराजों' और 'पानी पाण्डे' लोगों के जनेऊ उतरवा लिये जाते, जो मात्र सेवा कार्य तो करते हैं, किन्तु जिनमें ब्राह्मणोचित गुणों का अभाव ही है। इसी प्रकार क्षत्रियों को शास्त्रों के पढ़ने तथा उनमें व्युत्पन्नता प्राप्त करना वे इसलिये भी आवश्यक समझते हैं कि यदि वे निरक्षर तथा अव्युत्पन्न होंगे तो स्वार्थी पुरोहित उनका अनेक प्रकार से शोषण करेंगे। इसके विपरीत यदि वे स्वयं प्रबुद्ध होंगे तो अपने आचार्य एवं पुरोहित वर्ग के अनुचित क्रियाकलापों पर भी नियंत्रण रखना उनके लिये सम्भव होगा।[५०] इन उदाहरणों पर विचार करने से दयानन्द के सामाजिक चिन्तन की गत्यात्मकता को हृदयंगम करना सहज हो जाता है।

दयानन्द : राष्ट्रीय एकता तथा राष्ट्रवाद का अग्रदूत

हम यह प्रथम ही लिख चुके हैं कि दयानन्द आर्यजीवन पद्धति की दृष्टि से संन्यासी थे और उन्होंने चतुर्थाश्रम की सभी मर्यादाओं का पूर्ण पालन भी किया। भारतवर्ष के संन्यासी वर्ग से त्याग, वैराग्य, भगवद्भजन, परलोक चिन्तन आदि की तो अपेक्षा की गई थी, परन्तु उससे यह उम्मीद कभी नहीं की गई कि वह देश और समाज के सम्मुख प्रस्तुत ज्वलन्त समस्याओं के निदान में भी अपना योगदान करेगा। दयानन्द को भारतीय एकता के प्रतिपादक तथा राष्ट्रवाद के प्रतिष्ठाता के रूप में प्रस्तुत करते हुए देवेन्द्रनाथ ने ठीक ही लिखा

है कि "गौतम बुद्ध ने निर्वाण का मार्ग खोजकर लाखों लोगों को उस पथ का पथिक तो बनाया, किन्तु उन्होंने विच्छिन्न भारत को एकता के सूत्र में बांधने की बात एक बार भी नहीं कही। विमल प्रतिभा के धनी, नम्बूदरी ब्राह्मण कुलोत्पन्न शंकर ने वेदान्त सूत्रों पर अपना अनुपम भाष्य लिखकर स्वयं के लिये अविनश्वर कीर्ति अर्जित की, परन्तु क्या उन्होंने विभक्त भारत को एक करने का भी कोई कार्यक्रम बनाया था ? गौराङ्ग देव (चैतन्य) ने वंगभूमि को वैष्णव संकीर्तन की मधुर मूर्छना से सम्मोहित तो किया, किन्तु क्या भारत में भारतीयता स्थापित करने के लिये भी उन्होंने कोई उद्योग किया था।"[५१]

अन्ततः वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राष्ट्र की एकता तथा देश के गौरव की अभिवृद्धि का चिन्तन न तो किसी आचार्य ने किया और न किसी सम्प्रदाय प्रवर्त्तक ने। परन्तु दयानन्द इसके अपवाद हैं। मुखोपाध्याय महाशय के शब्दों में—"वर्तमान समय के आचार्य स्वामी दयानन्द ने हमारी युग-युगव्यापिनी नीरवता को भंग करके, चिरन्तनकालीन उदासीनता को छिन्न भिन्न करके शास्त्र संस्कार और धर्म संस्कार के साथ साथ जातीय एकता का भी प्रतिपादन किया। उन्होंने कौपीनधारी संन्यासी होते हुए भी इस बात को सुस्पष्ट रूप से जान लिया था कि जब तक स्वदेशी जनों में बल नहीं बढ़ेगा, स्वदेश में जातीयता प्रतिष्ठित नहीं होगी, जाति के अन्दर एकता बंधन दृढ़तर न होगा, तब तक धर्म संस्कार, शास्त्र संस्कार, देशोन्नति, समाजोन्नति आदि कुछ भी न हो सकेगी।"[५२]

यहाँ दयानन्द के राष्ट्रवाद पर विस्तार से विचार करने की आवश्यकता नही है क्योंकि उनके बहुमुखी व्यक्तित्व के सभी पहलुओं पर विवेचनात्मक समीक्षाएँ प्रस्तुत करने वाले लेखकों ने इस विषय का विशद निरूपण कर दिया है।[५३] तथापि यह लिख देना आवश्यक है कि दयानन्द ने भारतीय राष्ट्रवाद के पुनरुत्थान का दिशा निर्देश उस समय किया था, जब कि भारत के सार्वजनिक जीवन में इसकी कोई चर्चा ही नहीं थी।[५४] स्वदेश की आजादी के लिये वे कितने उत्सुक थे, यह तो उनकी उस प्रार्थनापरक पुस्तक में व्यक्त किये गये विचारों से ही ज्ञात होता है जहाँ वे परमात्मा से भी अपने देश की स्वाधीनता की ही याचना करते हैं।[५५] सुराज्य की अपेक्षा स्वराज्य कहीं अधिक वरणीय है तथा श्रेष्ठ है, इस तथ्य की घोषणा करते हुए उन्होंने अपने प्रमुख ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में लिखा था कि "कोई कितना ही करे, किन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मत मतान्तर के आग्रह रहित, अपने और पराये का पक्षपात शून्य, पुत्र पर माता पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।"[५६] दयानन्द के इस अमर वाक्य में निहित व्यञ्जना को समझना आवश्यक है। इतिहास बताता है कि जब १८५७ का विद्रोह शान्त हो गया और भारत का शासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी से छीन कर सीधे ब्रिटिश सम्राट् के अधीन कर दिया गया, उस समय बरतानिया की महारानी विक्टोरिया ने अपनी भारतीय प्रजा को जो आश्वासन दिये थे, उनमें सर्वोपरि आश्वासन यही था कि आगे से हुकूमत अपनी प्रजा के धार्मिक कार्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगी। इसी प्रकार भारतवासियों को यह कह कर भी आश्वस्त किया गया था कि शासन की दृष्टि में गोरे और काले का कोई भेद नहीं किया जायगा तथा महारानी अपनी भारतीय प्रजा को मातृ तुल्य स्नेह और वात्सल्य प्रदान करेगी।

दयानन्द ब्रिटिश ताज द्वारा दिये गये इन्हीं आश्वासनों को एक एक कर गिनाते हुए यह कहना चाहते हैं कि इन आश्वासनों को यदि सत्य भी मान लिया जाय, तब भी महारानी विक्टोरिया प्रदत्त यह सुराज्य हमारे लिये स्वराज्य के तुलना में कभी काम्य नहीं हो सकता। यह ध्यातव्य है स्वामी दयानन्द ने यह बात उस समय कही थी, जब कि देश के अन्यान्य संस्कृतज्ञ पण्डित एवं विद्वान् महारानी विक्टोरिया के शासन का जय जयकार करते हुए उसकी दीर्घायु की कामना कर रहे थे।[५७]

दयानन्द के हृदय में राष्ट्रवाद के प्रखर भाव उस समय उत्पन्न हुए, जब उन्होंने देखा कि जो देश किसी समय स्वर्णभूमि के नाम से जाना जाता था, आज देशवासियों की पारस्परिक फूट, आलस्य एवं प्रमाद के कारण पराधीनता के कठोर पाशों में बाँधा जाकर सर्वतोमुखी पतन की अवस्था को प्राप्त हो चुका है।[५८] धीरे धीरे वे राष्ट्र को लगे रोग तथा उसको दूर करने के उपचारों के बारे में भी सोचने लगे। अन्ततः वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि जब तक राष्ट्र के स्वाभिमान, स्वदेश के गौरव एवं अस्मिता को जागृत नहीं किया जायगा, तब तक हमारी कठिनाइयों का समाधान भी नहीं होगा। इसी दृष्टि से उन्होंने अपनी स्पष्ट सम्मति व्यक्त करते हुए कहा कि जब तक समस्त देशवासी एक भाषा, एक भाव, एक विचारधारा और समान कर्त्तव्य बोध को धारण नहीं कर लेंगे तब तक राष्ट्र की एकता, समृद्धि तथा प्रगति स्वप्न के तुल्य ही रहेगी।[५९] दयानन्द ने अपने उपदेशों में स्वदेशी के गौरव को स्थापित किया, स्वभाषा के प्रयोग पर बल दिया, स्वयं के आचरण द्वारा सत्याग्रह के मार्ग को प्रशस्त किया तथा स्वधर्म एवं स्वसंस्कृति पर गर्व करने की शिक्षा दी। यह सब कुछ होने पर भी दयानन्द सक्रिय राजनीति से सर्वथा तटस्थ एवं असंपृक्त ही रहे। वे जानते थे कि जब तक देशवासी सामाजिक दृष्टि से सबल, संगठित तथा एक ही लक्ष्य को प्राप्त करने के दृढ़ संकल्प से युक्त नहीं हो जायेंगे, तब तक उनके लिये स्वाधीनता प्राप्त करना भी सम्भव नहीं होगा। अतः वे एक उपदेष्टा ब्राह्मण तथा संन्यासी की ही भांति लोगों को अपनी बुराइयों को छोड़ने तथा सही अर्थों में स्वराज्य के पात्र बनने की ही प्रेरणा देते रहे।

यहाँ एक अन्य बात पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। जिस समय ब्रिटिश सरकार हिन्दू समाज में व्याप्त नाना बुराइयों और कुरीतियों को समाप्त करने के लिये कानून बनाने लगी, तो देश के नेताओं के एक वर्ग की ओर से यह आपत्ति की गई थी कि भारतवासियों और विशेषतः हिन्दुओं के पारिवारिक तथा सामाजिक परिवर्तनों एवं सुधारों के लिये विदेशी शासन को कानून बनाने का कोई अधिकार नहीं है।[६०] यह भी कहा गया कि जब देश स्वतंत्र हो जायगा, तो हमारी अपनी स्वदेशी हुकूमत सामाजिक सुधारों को स्वतः ही लागू करेगी आदि। यहाँ यह ध्यान देना आवश्यक है कि स्वामी दयानन्द इस नीति के समर्थक नहीं थे। उनका तो यह दृढ़ विश्वास था कि जब तक व्यापक हिन्दूसमाज के सामाजिक, पारिवारिक, और नैतिक जीवन में यथेच्छ सुधार नहीं होगा, जब तक वे अपनी रुढ़ियों, हानिकारक प्रथाओं तथा जीर्ण शीर्ण रीति रिवाजों से छुटकारा नहीं पा लेंगे, तब तक भारत की स्वाधीनता भी आकाश कुसुम के तुल्य ही रहेगी।

दयानन्द का अपना राजनीतिक दर्शन भी था। हमारे शासन के सूत्रधार कैसे हों, किन आदर्शों से प्रेरित होकर वे प्रजारञ्जन के कार्य में लगें, इन सब बातों की ओर उनका

ध्यान गया था। दयानन्द के राजनैतिक विचार मुख्यतः वेदों तथा उन्हीं के आधार पर लिखे गये मन्वादि स्मृतिग्रन्थों, शुक्र, विदुर जैसे नीतिकारों द्वारा निर्मित ग्रन्थों में वर्णित सिद्धान्तों को ही आधार बना कर लिखे गये हैं।[६२] परन्तु दयानन्द इस बात के लिये भी सहमत हैं कि आर्यों की राजनीति विद्या में विवेचित तथा निर्धारित प्रशासन के इन सिद्धान्तों को देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित भी किया जा सकता है।

एक और आश्चर्य की बात है। हमारे इतिहासकारों ने यह धारणा प्रचलित कर रक्खी है कि भारत में राष्ट्रवाद की भावना, लोकसत्ता तथा प्रजातंत्र की धारणा उसी समय से फैलने लगी, जब कि देशवासी यूरोपीय राजनैतिक चिन्तन के सम्पर्क में आये। प्रकारान्तर से यह कहा जाता रहा कि रूसो और वाल्तेयर, बेन्थम और मिल से अनुप्राणित होकर ही देश में राजनैतिक चेतना का स्फुरण हुआ। परन्तु ऐसा कहने वाले इस तथ्य को भूल जाते हैं कि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में राष्ट्रवाद, लोकसत्ता तथा प्रजातंत्र पर आधारित राज्यशासन की जैसी परिकल्पना की है, उसे किसी पाश्चात्य चिन्तक अथवा दार्शनिक से कोई प्रेरणा नहीं मिली थी। इण्डियन नेशनल कांग्रेस के १९१२ के अधिवेशन का सभापतित्व करने वाले पं. बिशननारायण दर ने ठीक ही कहा था कि स्वामी दयानन्द अपने युग के सर्वाधिक मौलिक हिन्दू हैं। वे ही प्रथम भारतीय सुधारक हैं जो पश्चिमी संस्कृति से कुछ भी ग्रहण नहीं करते।[६३] और यही बात दयानन्द के अंग्रेजी जीवनी लेखक शिवनन्दनप्रसाद कुल्यार ने लिखी है।[६४]

दयानन्द का आर्थिक चिन्तन—

दयानन्द की राष्ट्रीय एवं राजनैतिक विचारधारा से ही सम्बन्ध है उनका आर्थिक चिन्तन। देशवासियों की घोर दरिद्रता, कृषक वर्ग का भयंकर शोषण, मध्यम वर्गीय जीवन व्यतीत करने वाले आम भारतवासी के दुःखों एवं कष्टों से भरी जिन्दगी को देख कर उन्होंने अनेक बार आकुलता, व्याकुलता प्रकट की थी। उनके जीवन में ही ऐसे प्रसंग आये हैं, जब हमने देखा कि सांसारिक माया, ममता से नितान्त पृथक् रह कर परिव्राजक का निस्संग जीवन व्यतीत करने वाला यह निरीह संन्यासी देश की आर्थिक दुर्दशा को देख कर रो पड़ता था। वस्तुतः दयानन्द ने यह अनुभव कर लिया था कि विदेशी शासक जिस नीति से शासन कर रहे हैं, उसके परिणाम स्वरूप यदि यह देश आर्थिक दृष्टि से पूर्ण दिवालिया भी हो जाय, तो कोई आश्चर्य नहीं है।

देश को आर्थिक दृष्टि से समृद्ध बनाने के लिये दयानन्द ने अनेक योजनायें बनाई थीं तथा उन्हें क्रियान्वित करना चाहा था। प्रथम तो वे यह अनुभव कर रहे थे कि यूरोप में औद्योगीकरण की जो लहर उठी है, इससे संसार का कोई भी देश अप्रभावित नहीं रहेगा। भारत में भी कल कारखानों की निरन्तर स्थापना हो रही थी और देश धीरे धीरे भारी उद्योगों को अपना रहा था। परन्तु तब तक विज्ञान और तकनीक की जानकारी में भारतवासी पर्याप्त पिछड़े हुए थे। दयानन्द की यह हार्दिक भावना थी कि भारतवासी यूरोप जाकर औद्योगिक प्रशिक्षण प्राप्त करें तथा पुनः भारत लौट कर यहां की आर्थिक उन्नति में अपना योगदान दें। जर्मनी के प्रोफेसर जी. वाइज (G.Wiese) से उनका एतद्विषयक पत्र व्यवहार इसी बात का द्योतक है।[६५]

जहां वे वाणिज्य, व्यवसाय तथा औद्योगीकरण के विकास के पक्षधर थे, वहां घरेलू उद्योग धन्धों तथा ग्रामीण आर्थिक परिस्थितियों से भी उनका अपरिचय नहीं था। उन्होंने गोवध निषेध का जो महाभियान चलाया, उसके पीछे किसी प्रकार का धार्मिक भावावेश या अन्य प्रकार का तर्क नहीं था। गोरक्षा के प्रश्न को वे विशुद्ध आर्थिक दृष्टि से देखते थे।[६६] यदि वे गोवध से देश के आर्थिक विनाश की कल्पना करते थे तो साथ ही बैल, भैंस, बकरी आदि उन सभी पशुओं के संरक्षण को भी आवश्यक समझते थे जो भारत के ग्रामीण अर्थ-शास्त्र की रीढ़ के तुल्य हैं। गोरक्षा के पीछे दयानन्द का अर्थशास्त्रप्रवण मस्तिष्क ही चिन्तनरत था।

दयानन्द ने किसान वर्ग को अत्यन्त ऊंचा स्थान दिया है। उन्होंने लिखा है—"यह बात ठीक है कि राजाओं के राजा किसान आदि परिश्रम करने वाले हैं और राजा उनका रक्षक है।"[६७] वे कृषि को भारत की आर्थिक व्यवस्था का मुख्य आधार मानते थे। राजस्थान के उदयपुर, शाहपुरा तथा जोधपुर के शासकों को उपदेश देते हुए उन्होंने इसी बात पर अधिक बल दिया था कि क्षत्रिय का मुख्य कर्त्तव्य प्रजापालन ही है।[६८] यदि वे अपनी प्रजा की स्थिति को सुखद, सन्तोषप्रद तथा आमोद प्रमोद से युक्त करने में असमर्थ रहते हैं, तो शासन की बागडोर को हाथ में रखने का भी उन्हें कोई अधिकार नहीं है। कृषकों की अवस्था को सुधारने के लिये वे इन शासकों को यदा कदा अनेक व्यावहारिक उपदेश भी देते थे।

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने दयानन्द के विचारों तथा उनकी चिन्तन प्रणाली का विहगावलोकन करने का प्रयास किया है। यों तो सतत कर्मठ जीवन व्यतीत करने वाले तथा समाज, राष्ट्र एवं मानवता को अपने प्रखर व्यक्तित्व से प्रभावित करने वाले महापुरुषों के वैचारिक धरातल को नापना सहज नहीं होता, तथापि दयानन्द के जीवन का विस्तृत आकलन करने के पश्चात् उनके विचारों का उपर्युक्त पृष्ठों में किया गया विश्लेषण इस सत्य की घोषणा करने के लिये पर्याप्त है कि स्वामीजी के समस्त कार्य तथा विचार जहाँ स्वराष्ट्र के सर्व विध उत्थान की दृष्टि से प्रासंगिकता रखते हैं वहाँ वे उन्हें विश्व मानव (Universal Man) की भूमिका पर भी प्रतिष्ठित करते हैं। दयानन्द के विचार और उपदेश, उनकी आकांक्षाएं और कल्पनायें समस्त मानवसमाज के अभ्युत्थान को दिशा बोध देती हैं। उनके सिद्धान्त और मन्तव्य सार्वभौम हैं, सार्वकालिक हैं तथा सार्वजनीन हैं। उनकी प्रखर राष्ट्र भक्ति ही सच्ची अन्तर्राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ाती है क्योंकि उनकी दृष्टि में सारी मानव जाति एक है, भाषा, धर्म, नस्ल और रंग का विभेद काल्पनिक है, मानव निर्मित है। जिस युग में वे पैदा हुए उससे आगे के युग की बात को सोचने के कारण ही वे ऋषि हैं। उनकी दूरदर्शिता, युग बोध, तथा समय शक्तियों की पहचान अपूर्व है। ऐसे ही ऋषियों की वन्दना करते हुए ऋग्वेद के द्रटा ने कहा था—

इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः।

(ऋ. १०.१४.१५.)

□□

पाद टिप्पणियां

१. "मेरे कुल में शैव मत था, पिता उसी की शिक्षा किया करते थे।"
—दयानन्द सरस्वती की आत्मकथा (वैदिक यन्त्रालय प्रकाशन, अजमेर)

२. "पिता यह भी कहा करते थे कि पार्थिव पूजन अर्थात् मट्टी का (शिव) लिङ्ग बना के तूं पूजा कर।.....पिताजी हठ किया करते थे कि पूजा अवश्य करनी चाहिए क्योंकि कुल की रीति है।"—वही

३. पश्चिमी सम्पर्क से दिग्भ्रमित भारतवासियों का एक वर्ग पुरातन मान्यताओं तथा आस्थाओं को पूर्णतया त्याग बैठा, जब कि एक अन्य कट्टरपन्थी वर्ग उनसे अधिक चिपकने लगा था।

४. स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश तथा आर्योद्देश्यरत्नमाला में धर्म के लक्षण।

५. द्रष्टव्य—सत्यार्थप्रकाश का सप्तम समुल्लास तथा ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका।

६. द्रष्टव्य—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदानांनित्यत्वविचारः, वेद विषयविचारः तथा वेदोक्तधर्म विषयः आदि प्रकरण।

७. इस प्रसंग में स्वामी दयानन्द ने षड्दर्शनों के प्रणेता ऋषियों के विचार देने के पश्चात् शंकराचार्य के मत को भी प्रमाण रूप में उद्धृत किया है।

८. "यत् सायणाचार्येण वेदानां परममर्थमविज्ञाय 'सर्वे वेदाः क्रियाकाण्डतत्पराः सन्ती-त्युक्तम्' तदन्यथास्ति" ऋ. भा. भू. भाष्यकरणशंकासमाधानादिविषयः।

९. सायण ने काण्वसंहिता भाष्य की उपक्रमणिका में समस्त वेद को कर्मकाण्ड तथा ब्रह्मकाण्ड में विभाजित किया है। उसके अनुसार बृहदारण्यकोपनिषद् आदि उपनिषदें तो ब्रह्मकाण्ड के अन्तर्गत आती हैं, जबकि उनसे भिन्न शतपथ ब्राह्मण तथा वेद संहितायें कर्मकाण्ड के अन्तर्गत। "तस्मिश्चवेदे द्वौ काण्डौ—कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च। बृहदारण्यऽकाऽऽख्यो ग्रन्थो ब्रह्मकाण्डस्तद्व्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोर्ग्रन्थयोः कर्मकाण्डत्वम्" यह लिख कर वह स्पष्ट कर देता है कि "अतः कर्माणि वेदस्य विषयः तदवबोधः प्रयोजनम्" वेदों का प्रतिपाद्य कर्म ही हैं तथा उन कर्मों को जानना ही वेदार्थ ज्ञान का प्रयोजन है।—वेदभाष्यभूमिका संग्रहः पं. बलदेव उपाध्याय सम्पादित पृ. १०९, चौखम्भा संस्कृत सिरीज बनारस (१९९१ वि. में प्रकाशित)

१०. "अत्र वेदभाष्ये कर्मकाण्डस्य वर्णनं शब्दार्थतः करिष्यते। परन्त्वेतैर्वेदमंत्रैःकर्मकाण्डविनि-योजितैर्यत्र यत्राऽग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्त्तव्य तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते।" ऋ. भा. भू. प्रतिज्ञा विषयः संक्षेपतः।

११. "अथात्र यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिक व्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोः श्लेषालङ्कारादिना सप्रमाणः सम्भवोऽस्ति, तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते। परन्तु नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थे-ऽत्यन्त त्यागो भवति।" —वही

१२. मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्—आपस्तम्ब परिभाषा सूत्र ३१। इसी प्रकार कृष्णयजुर्वेद से सम्बन्धित सत्याषाढ़ तथा बोधायनादि श्रौत सूत्रों में भी यह मत उपलब्ध होता है।

सायण ने भी इस मत का समर्थन करते हुए लिखा है—मन्त्रब्राह्मणात्मकत्वं तावददुष्टं लक्षणम् ।' ऋग्वेदभाष्योपक्रमणिका (चौखम्भा, काशी)

१३. द्रष्टव्य—ऋ. भा. भू. का वेदसंज्ञाविचार प्रकरण ।

१४. "न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हति । कुतः ? पुराणेतिहास संज्ञकत्वाद् वेदव्याख्यानाद् ऋषिभिरुक्तत्वाद् अनीश्वरोक्तत्वात् कात्यायनभिन्नै ऋषिभिर्वेदसज्ञायामस्वीकृतत्वान्मनुष्य बुद्धिरचित्वाच्चेति ।"

१५. मंत्र द्रष्टाओं में घोषा, अपाला, लोपामुद्रा आदि स्त्री ऋषिकाओं का भी नामोल्लेख मिलता है ।

१६. यथेमां वाचं कल्याणीमावदानिजनेभ्यः ।
ब्रह्म राजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय । यजुर्वेद २६।२

१७. वेदान्त दर्शन के 'श्रवणाध्ययनार्थ प्रतिषेधात् स्मृतेश्च' १।३।३८ सूत्र की व्याख्या में शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य तथा वल्लभाचार्य ने शूद्र के वेदाध्ययनाधिकार का निषेध किया है तथा यथाकथञ्चित उसके वेद पढ़ने पर दण्ड रूप में नाना प्रकार की कठोर व्यवस्थायें लिखी है । सायण ने भी इन्हीं आचार्यों के सुर में सुर मिला कर लिखा "धर्मब्रह्मज्ञानार्थी वेदेऽधिकारी । स च त्रैवर्णिकः पुरुषः । स्त्रीशूद्रयोऽस्तु सत्यामपि ज्ञानापेक्षायाम् उपनयनाभावेन अध्ययन राहित्याद् वेदेऽधिकारः प्रतिषिद्धः ।" ऋग्वेद-भाष्योपक्रमणिका (चौखम्भा संस्करण) ।

१८. महर्षि दयानन्द (लेखक—यदुवंशसहाय) की भूमिकारूप में लिखा गया डा. रघुवंश का निबंध 'पुनरुत्थान युग का द्रष्टा', पृ. २२ (लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद १९७१ ई.) ।

१९. तुलनीय—"इस प्रकार वेदानुयायियों तथा वेद बाह्यों का संघर्ष तीव्र से तीव्रतर होता गया । इस संघर्ष की युक्तिप्रत्युक्तियों में स्वपक्ष की स्थापना और परपक्ष के विघटन का प्रयास अधिक रहा है । यह समझने का प्रयास भी नहीं किया गया कि वस्तुतः वेद क्या हैं, वेद में क्या है ?" वेद प्रमाण्यमीमांसा तथा ऋषि दयानन्द—(डा. श्रीनिवास शास्त्री) पृ. ३८०-३८१ कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र (१९८०-८१)

२०. वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है । वेद का पढ़ना पढ़ाना, सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है । —आर्यसमाज का तृतीय नियम ।

२१. स्वामी दयानन्द प्रो, मैक्समूलर तथा प्रो. विल्सन के वेदाध्ययन तथा उनकी वेदों पर लिखी गई टीका टिप्पणी से पूर्णतया अभिज्ञ थे ।

२२. सत्यार्थप्रकाश—एकादश समुल्लास में मोक्षमूलर के वेदज्ञान की परीक्षा ।

२३. वेदों की याज्ञिक शैली के प्रमुख भाष्यकार सायण की प्रशंसा में पं. बलदेव उपाध्याय ने तो यहाँ तक लिख दिया है—"साम्प्रतं भगवत्याः श्रुत्याः यः कश्चिदर्थः प्रतीयते यत् किमपि रहस्यमस्माकं बुद्धिपथमवतरति निखिलमपि तत् श्री सायणाचार्य स्यानुग्रह-विलसितमेवेति ध्रुवं मन्यामहे ।" अर्थात् आज वेद का जो कुछ अर्थ प्रतीत होता है, उसका जो कुछ रहस्य हमारी बुद्धि में आता है, वह सब सायण की कृपा का ही प्रसाद है । निश्चय ही यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण है ।

२४. इस संदर्भ में योगी अरविंद के उन बहुउद्धृत वाक्यों को पुनः स्मरण करना चाहिए, जिनमें कहा गया है कि वेदों का अन्तिम तथा पूर्ण व्याख्यान चाहे कोई हो, हमें दयानन्द

को वेदव्याख्या के प्रथम और सही अन्वेषक के रूप में सम्मानित करना ही होगा—"In the matter or Vedic interpretation, I am convinced that whatever may be the final and complete interpretation, Dayananda will be honoured as the first discoverer of the right clues." Dayananda and the Veda —The Vedic Magazine, April-May 1916.

२५. शब्द प्रमाणकावयम्, यच्छब्दमाहतदस्माकं प्रमाणं—महाभाष्य

२६. प्रथमतः, ऋषिप्रणीत ग्रन्थों का आरम्भ अर्थ वा ओम् से होता है, जबकि अनार्ष ग्रन्थ साम्प्रदायिक देवताओं के प्रति नमस्कारसूचक वाक्यों से आरम्भ होते हैं—यथा श्री गणेशाय नमः आदि। द्वितीय बात यह है कि अनार्ष ग्रन्थों में साम्प्रदायिक विद्वेष तथा संकीर्णता के दर्शन होते हैं, जबकि आर्ष ग्रन्थ सार्वभौम भावों को व्यक्त करते हैं। अन्तिम, आर्ष ग्रन्थों पर सर्वजन स्वीकृत ऋषियों या आचार्यों के भाष्य एवं टीकादि ग्रन्थ मिलते हैं, जबकि अनार्ष ग्रन्थों के टीकाकार भी साधारण कोटि के व्यक्ति होते हैं।

२७. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित, भाग १, पं. घासीराम द्वारा लिखित (भूमिका)

२८. वही

२९. वही

३०. वही

३१. द्रष्टव्य—महर्षि दयानन्द और राजा राममोहनराय : तुलनात्मक अध्ययन (आर्यप्रकाश पुस्तकालय, आगरा १९५७ ई.) ले. डा. भवानीलाल भारतीय—मूर्तिपूजा विषयक अध्याय।

३२. "Keshab's mind was sympathetically reopened to all other forms or faith, even to certain outward practices, which he had avoided" The Life of Ramakrishna By Romain Rolland. P. 180

३३. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवनचरित—भाग १ (भूमिका)

३४. सत्यार्थप्रकाश—भूमिका

३५. उत्तरार्द्ध (सत्यार्थप्रकाश) के चारों समुल्लासों की अनुभूमिकाएं।

३६. महर्षि दयानन्द (यदुवंशसहाय) में 'पुनरुत्थान युग का द्रष्टा' शीर्षक निबंध, पृ. ३० (लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद)

३७. विस्तृत अध्ययन के लिये पढ़ें—1. A Critical Study of the Philosophy of Dayanand By Dr. Satya Prakash (1938 Ajmer) 2. Philosophy of Dayanand By Gangaprasad Upadhyaya (1955-Allahabad) ३. दयानन्द दर्शन-वेदप्रकाश गुप्त-१९७३ मेरठ ४. दयानन्द दर्शनः एक अध्ययन-श्री निवास शास्त्री, कुरुक्षेत्र, १९७७ तथा ५. स्वामी दयानन्द के दार्शनिक सिद्धान्त-सं. भवानीलाल भारतीय-चण्डीगढ़, १९८२

३८. शाङ्कर वेदान्त का खण्डन उन्होंने स्व निर्मित ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के सप्तम, अष्टम, नवम एवं एकादश समुल्लासों, तथा एक अन्य लघु ग्रन्थ वेदान्तिध्वान्तनिवारण में विस्तार पूर्वक किया है।

३९. प्राच्य और पाश्चात्य पृ. ८०

४०. भारत में विवेकानन्द पृ. ३३७

४१. "जब आत्मा और ब्रह्म में अभेद प्रतिपादित किया जाता हो, ऐसी स्थिति में समस्त सामाजिक दायित्व असंगत हो जाते हैं।" डा. रघुवंश—(महर्षि दयानन्द पृ. १७) 'पुनरुत्थान युग का द्रष्टा'।

४२. तृतीय तथा अष्टम समुल्लास में।

४३. आर्याभिविनय में 'शन्नोमित्रः' मंत्र की व्याख्या के प्रसंग में।

४४. सप्तम समुल्लास।

४५. इस प्रकरण में स्वामी दयानन्द ने योगदर्शन के ५१ सूत्रों को उद्धृत कर उनके आधार पर उपासना का विवेचन किया है।

४६. इसी ग्रन्थ का अध्याय—प्रकरण चतुष्टय।

४७. द्रष्टव्य—महर्षि दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द (ले. भवानीलाल भारतीय) 'सुधार आन्दोलन के प्रति दृष्टिकोण' शीर्षक अध्याय।

४८. सत्यार्थप्रकाश—तृतीय समुल्लास

४९. द्रष्टव्य—इसी ग्रन्थ का अध्याय—गाङ्गेय प्रदेश का भ्रमण (१) पृ. ८९

५०. "आजकल के सम्प्रदायी और स्वार्थी ब्राह्मण आदि, जो दूसरों को विद्या, सत्संग से हटा और और अपने जाल में फैला के उनका तन मन धन नष्ट कर देते हैं और चाहते हैं कि जो क्षत्रियादि वर्ण पढ़ कर विद्वान् हो जायेंगे तो हमारे पाखण्ड जाल से छूट और छल को जान कर हमारा अपमान करेंगे।" सत्यार्थप्रकाश—तृतीय समुल्लास

५१. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवनचरित—भाग १ (भूमिका)

५२. वहीं

५३. विस्तृत अध्ययन के लिये पढ़ें—राष्ट्रवादी दयानन्द (सत्यदेव विद्यालंकार), ऋषि दयानन्द का राष्ट्रवाद (भवानीलाल भारतीय) Political Thought of Swami Dayanand (शान्ता मल्होत्रा) आदि ग्रन्थ।

५४. कैसी विचित्र बात है कि भारतीय नवजागरण के अग्रदूत राजा राममोहनराय नेपल्स, (इटली) फ्रान्स तथा स्पेन की स्वतन्त्रता पर प्रसन्नता व्यक्त करते हैं, किन्तु भारत के लिये कामना करते हैं कि आने वाली शताब्दियों तक यहाँ ब्रिटिश शासन बना रहे।

५५. आर्याभिविनय में 'ऋजुनीति' (ऋग्वेद १।६।१७।१) की व्याख्या में दयानन्द परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि हमको साम्राज्याधिकारी सद्यः कीजिये तथा हमारा स्वराज्य सदा बढ़े। यजुर्वेद (३८।१४) की व्याख्या में पुनः लिखते हैं—अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हों, तथा हम लोग पराधीन कभी न हों।

इसके विपरीत राजा राममोहनराय ने तो एक बार यहाँ तक कह दिया था कि अन्य उद्देश्यों के साथ हमारी निष्ठायुक्त उपासना में एक उद्देश्य यह भी है कि हम परमात्मा को ब्रिटिश शासस के लिये धन्यवाद देते हैं तथा प्रार्थना करते हैं कि वह आगे कई सदियों तक अपने लाभकारी रूप में निरन्तर क्रियाशील रहे। द्रष्टव्य—

Brahmanical Magazine. 15 Nov. 1823 (English Works of Raja Ram-Mohan Roy. P. 222)

५६. सत्यार्थप्रकाश—अष्टम समुल्लास।

५७. संस्कृत के महान् पण्डित तथा स्वामी दयानन्द के समकालीन पं. अम्बिकादत्त व्यास ने एक समस्यापूर्ति करते हुए लिखा—

आनन्द ते परजा विकसी सब कौलसे कोस सिरी हरषानी।
सेवकिनी चिरियां सम चारिहुं ओर तें बोल रही मृदु बानी॥
भोर प्रताप सों जाको प्रताप लखे इमि अम्बिकादत्त बखानी।
पूरी अमी की कटोरिया सी चिरजीवी रहो विकटोरिया रानी॥

—कवि वचनसुधा (कार्तिक अमावस्या १९२७ वि.) में प्रकाशित।

५८. "यह आर्यावर्त्त देश है, जिसके सदृश्य भूगोल में दूसरा देश नहीं है। इसीलिये इस देश नाम का नाम स्वर्णभूमि है, क्योंकि यही स्वर्ण आदि रत्नों को उत्पन्न करती है..... ..... अब अभाग्योदय से, आर्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों में राज्य करने की तो कथा ही क्या, किन्तु आर्यावर्त्त में भी आर्यों का अखण्ड, चक्रवर्ती, स्वाधीन राज्य नहीं है।" सत्यार्थप्रकाश—एकादश समुल्लास

५९. द्रष्टव्य—इसी ग्रन्थ के अध्याय 'महाराणाओं की धरती पर' में स्वामी दयानन्द और मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या का वार्त्तालाप।

६०. लोकमान्य तिलक का यही मत था कि ब्रिटिश सरकार द्वारा हिन्दुओं के समाजसुधार विषयक कानून बनाना भारतवासी पसन्द नहीं करेंगे। इसे वे हिन्दुओं के धार्मिक-सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप समझते थे।

६१. द्रष्टव्य—सत्यार्थप्रकाश—षष्ठ समुल्लास।

६२. "Swami Dayanand is the most original Hindu of this age—the one great Indian Reformer who owes practically nothing to Western Culture."

६३. "The most remarkable thing about this reformer and national builder is that he was purely a product of the ancient learning and culture of the Aryas..... ....He had received no light from the West. He had had no contact with the civilization, culture or acquirement of the Europeans." अर्थात् इस सुधारक तथा राष्ट्र निर्माता के सम्बन्ध में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात यही है कि यह व्यक्ति आर्यों की प्राचीन विद्या एवं संस्कृति की ही उपज है।.....उसने पश्चिम से कोई प्रेरणा ग्रहण नहीं की। उसका यूरोप की सभ्यता, संस्कृति तथा उपलब्धियों से कोई परिचय नहीं था।

६४. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन-पृ. २३१ तथा मेहता जैमिनि कृत जगद्गुरु दयानन्द का संसार पर जादू —पृ. २५-३४

६५. द्रष्टव्य—दयानन्द सरस्वती कृत गोकरुणानिधि तथा सत्यार्थप्रकाश—दशम समुल्लास।

६६. सत्यार्थप्रकाश—षष्ठ समुल्लास।

६७. शाहपुरा राज्य ने तो दयानन्द की शिक्षा को स्वीकार कर अपने राज्य का आदर्श वाक्य ही निर्धारित किया था—'क्षत्रियस्य परोधर्मः प्रजानामेव पालनम्।' □□

परिशिष्ट—३

दयानन्द सरस्वती को श्रद्धांजलियाँ

दयानन्द सरस्वती के निधन पर निम्न पत्र पत्रिकाओं ने इस दुखद समाचार को प्रकाशित कर उन्हें श्रद्धाञ्जलि अर्पित की—

पश्चिमोत्तर प्रदेश के पत्र

हिन्दी प्रदीप मासिक, प्रयाग, भारतबंधु साप्ताहिक, अलीगढ़, शुभचिंतक मासिक, शाहजहांपुर, बनारस गजट साप्ताहिक, बनारस, बदायूं समाचार, हिन्दुस्तानी, नसीमहिंद, बुन्देल केसरी, क्षत्रियहितकारी बनारस, अवध अखबार लखनऊ, (उर्दू दैनिक—८ नवम्बर १८८३),

मध्यप्रदेश

विलासपुर समाचार

पञ्जाब के पत्र

देशोपकारक, (उर्दू) लाहौर, ट्रिब्यून दैनिक, लाहौर (३ नवम्बर १८८३) विक्टोरिया-पेपर स्यालकोट, पंजाबटाइम्स रावलपिण्डी, (१० नवम्बर १८८३) कोहिनूर लाहौर, आफताब पंजाब लाहौर, ज्ञानप्रदायिनीपत्रिका, लाहौर (नवीनचन्द्र राय द्वारा सम्पादित) अंजुमन, लाहौर।

बम्बई प्रदेश के पत्र

इण्डियन स्पीकर बम्बई-सम्पादक बहरामजी मलाबारी (१८ नवम्बर १८८३), दैनिक समाचार बम्बई (२ नवम्बर १८८३), सुबोधपत्रिका बम्बई, यजदानपरस्त बम्बई, सन्मार्ग दीपिका बम्बई, जामे जमशेद दैनिक, बम्बई (२ नवम्बर १८८३) रास्त गुफ्तार (सत्यवक्ता) बम्बई (४ नवम्बर १८८३), गुजरातमित्र सूरत (११ नवम्बर १९८३), वर्तमानसार, सूरत, सूर्यप्रकाश, सूरत, विज्ञान विलास (गुजराती मासिक) राजकोट; (दिसम्बर १८८३) केसरी पूना (सम्पादक-बाल गंगाधर तिलक)।

मद्रास प्रदेश के पत्र

हिन्दू आब्जर्वर मद्रास (८ नवम्बर १८८३), थिंकर, मद्रास (११ नवम्बर १८८३) हिन्दू, मद्रास।

बिहार व बंगाल के पत्र

बंगाली कलकत्ता (३ नवम्बर १८८३) सुरेन्द्रनाथ बनर्जी द्वारा सम्पादित, इण्डियन-एम्पायर कलकत्ता (४ नवम्बर १८८३), हिन्दू पेट्रियट कलकत्ता (८ नवम्बर १८८३), इण्डियन

क्रानिकल कलकत्ता, बंगालपब्लिकओपिनियन कलकत्ता (८ नवम्बर १८८३), लिबरल, कलकत्ता (११ नवम्बर १८८३), इण्डियन मैसेञ्जर कलकत्ता (११ नवम्बर १८८३), एज्यूकेशन-गजट कलकत्ता, बंगवासी कलकत्ता, सञ्जीवनी कलकत्ता, इंग्लिश क्रानिकल बांकीपुर, पटना (५ नवम्बर १८८३)।

आर्यसामाजिक पत्र

१. आर्यदर्पण मासिक, शाहजहांपुर
२. आर्यसमाचार (उर्दू) मेरठ
३. भारतसुदशाप्रवर्त्तक मासिक, फर्रूखाबाद (अक्टूबर-नवम्बर, १८८३)
४. देशहितैषी अजमेर
५. The Arya Magazine लाहौर नवम्बर १८८३ आर. सी. बेरी द्वारा सम्पादित।
६. Regenerator of Aryavarta-लाहौर पं. गुरुदत्त द्वारा सम्पादित।

□□

दयानन्द सरस्वती द्वारा रचित (मुद्रित) ग्रन्थों का विवरण

क्रम संख्या	नाम ग्रन्थ	मुद्रक—प्रकाशक	प्रकाशन संवत्
१.	संध्या	ज्वालाप्रकाश प्रेस, आगरा	१९२० वि. १८६३ ई.
२.	भागवतखण्डन अपर नाम पाखण्डखण्डन	ज्वालाप्रकाश प्रेस, आगरा	१९२३ वि. १८६६ ई.
३.	अद्वैतमतखण्डन	लाइट प्रेस, बनारस	१९२७ वि. १८७० ई.
४.	सत्यार्थप्रकाश (प्रथम संस्करण)	स्टार प्रेस, बनारस	१९३१ वि. १८७५ ई.
५.	सत्यार्थप्रकाश (द्वितीय संस्करण)	वैदिक यंत्रालय, प्रयाग	१९४१ वि. १८८४ ई.
६.	संध्योपासनादि पञ्चमहायज्ञविधिः	आर्य प्रेस, बम्बई	१९३१ वि. १७९६ शकाब्द
७.	पञ्चमहायज्ञविधिः (संशोधित)	लाजरस प्रेस, बम्बई	१९३४ वि. १८७७ ई.
८.	वेदान्तिध्वान्तनिवारण	ओरियन्टल प्रेस, बम्बई	१९३२ वि. १८७६ ई.
९.	वेदविरुद्धमतखण्डन	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई	१९३१ वि. १८७५ ई.
१०.	शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारण	बम्बई	१९३१ वि. १८७५ ई.
११.	आर्याभिविनयः	आर्यमण्डल प्रेस, बम्बई	१९३२ वि. १८७६ ई.
१२.	संस्कारविधिः	एशियाटिक प्रेस, बम्बई	१९३३ वि. १८७७ ई.
१३.	संस्कारविधिः (द्वितीय संस्करण)	वैदिक यंत्रालय, प्रयाग	१९४१ वि. १८८४ ई.
१४.	वेदभाष्यम् (नमूने का अंक)	लाजरस प्रेस, बनारस	१९३३ वि. १८७६ ई.
१५.	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	लाजरस प्रेस, बनारस	वैशाख १९३४ वि. १९३५ वि. (१-१४ खण्ड)
		निर्णयसागर प्रेस, बम्बई	१९३५ वि. १८७८ ई. (१५, १६ खण्ड)
१६.	ऋग्वेद भाष्य (७।६२।२ तक)	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई	१९३५ वि. १८७७ ई. से
		वैदिक यंत्रालय, काशी, प्रयाग, अजमेर	१९५६ वि. १८९९ ई पर्यन्त

क्रम	नाम ग्रन्थ	मुद्रक-प्रकाशक	प्रकाशन संवत्
१७.	यजुर्वेद भाष्य	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई	१९३५ वि. १८७८ ई. से
		वैदिक यंत्रालय, काशी, प्रयाग	१९४६ वि. १८८९ ई. पर्यन्त
१८.	आर्योद्देश्यरत्नमाला	चश्मएनूर प्रेस, अमृतसर	१९३४ वि. १८७७ ई.
१९	भ्रान्तिनिवारण	आर्यभूषण प्रेस, शाहजहांपुर	९९३७ वि. १८८० ई.
२०.	अष्टाध्यायी भाष्य (२ भाग)	वैदिक यंत्रालय, अजमेर	लेखन काल १९३५-३६ वि.
			प्रकाशनकाल : प्रथम भाग १८८४ वि.
			१९२७ ई.
			द्वितीय भाग १९९७ वि. १९४० ई.
२१.	संस्कृतवाक्यप्रबोध:	वैदिक यंत्रालय, काशी	१९३६ वि. १८७९ ई.
२२.	व्यवहारभानु	वैदिक यंत्रालय, काशी	१९३६ वि. १८७९ ई.
२३.	गोतम अहल्या की कथा	वैदिक यंत्रालय, काशी	१९३७ वि. १८७९ ई. (अनुपलब्ध)
२४.	भ्रमोच्छेदन	वैदिक यंत्रालय, काशी	१९३७ वि. १८८० ई.
२५.	गोकरुणानिधि	वैदिक यंत्रालय, काशी	१९३७ वि. १८८० ई.
२६.	वेदाङ्गप्रकाश (१४ भाग)	वैदिक यंत्रालय, काशी, प्रयाग	१९३६ वि. १८७९ ई. से
			१९४० वि. १८८३ ई. पर्यन्त
२७.	काशीशास्त्रार्थ	वैदिक यंत्रालय, काशी	१९३७ वि. १८८० ई.
२८.	हुगलीशास्त्रार्थ (प्रतिमापूजन विचार)	लाइट प्रेस, बनारस	१९३० वि. १८७३ ई.
२९.	सत्यधर्मविचार (मेला चांदापुर)	वैदिक यंत्रालय, काशी	१९३७ वि. १८८० ई.
३०.	जालंधर शास्त्रार्थ	पंजाबी प्रेस, लाहौर	१९३४ वि. १८७७ ई.
३१.	सत्यासत्यविवेक (बरेली शास्त्रार्थ)	आर्यभूषण प्रेस, शाहजहांपुर	१९३६ वि. १८७९ ई. (उर्दू)
३२.	चतुर्वेदविषयसूची	वैदिक यंत्रालय, अजमेर	२०२८ वि. १९७१ ई.

परिशिष्ट-५

स्वामी दयानन्द के कुछ प्रसिद्ध शास्त्रार्थ

क्रम	तिथि	स्थान	प्रतिवादी पण्डित, वक्ता	विषय
१.	१९२२ वि. १८६५ ई.	जयपुर	पं. हरिश्चन्द्र, राजीवलोचन ओझा आदि	व्याकरण
२.	ज्येष्ठ द्वितीय १९२३ वि. १८६६ ई. (३ दिन तक)	अजमेर	रेवरेण्ड ग्रे, पादरी रॉबसन,	ईश्वर, जीव, सृष्टि क्रम, वेद आदि
३.	आश्विन १९२४ वि., अक्टूबर १८६७ ई.	कर्णवास	पं. अम्बादत्त पर्वती	मूर्तिपूजा
४.	मार्गशीर्ष १९२४ वि. दिसम्बर १८६७ ई.	रामघाट	स्वामी कृष्णानन्द	अवतारवाद
५.	पौष कृष्णा ११, १९२४ वि. से पौष शुक्ला १, १९२४ वि. तक जनवरी १८६८ ई. (६ दिन तक)	कर्णवास	पं. हीरावल्लभ	मूर्तिपूजा
६.	चैत्र शुक्ल पक्ष १९२५ वि. अप्रैल १८६८ ई.	सोरों (शूकर क्षेत्र)	पं. अंगदराम शास्त्री	मूर्तिपूजा
७.	कार्तिक १९२५ वि. नवम्बर १८६८ ई.	ककोड़ा	पं. उमादत्त	मूर्तिपूजा

क्रम	तिथि	स्थान	प्रतिवादी पण्डित, वक्ता	विषय
८.	१९२६ वि. १८६९ ई.	फर्रूखाबाद	पं. श्रीगोपाल	मूर्तिपूजा
९.	ज्येष्ठ शुक्ला १०. ११. १९२६ वि. १९,२० जून १८६९ ई.	फर्रूखाबाद	पं. हलधर ओझा	मूर्तिपूजा
१०.	आषाढ़ १९२६ वि. जुलाई १८६९ ई.	कन्नौज	पं. हरिशंकर शास्त्री	मूर्तिपूजा
११.	आषाढ़ १८२६ वि. ३१ जुलाई १८६९ ई.	कानपुर	पं. हलधर ओझा पं. लक्ष्मण शास्त्री	मूर्तिपूजा मूर्तिपूजा
१२.	कार्तिक शुक्ला १२, १९२६ वि. १६ नवम्बर १८६९ ई.	काशी	स्वामी विशुद्धानन्द आदि ४० प्रमुख पण्डित	मूर्तिपूजा
१३.	१९२६ वि. १८७० ई.	मिर्जापुर	पं. गोविन्दभट्ट पं. जयश्री	भागवत और मूर्तिपूजा
१४.	१९२९ वि. १८७२ ई.	डुमरांव	पं. दुर्गादत्त	अद्वैतवाद, मूर्तिपूजा
१५.	भाद्रपद १९२९ वि. अगस्त १८७२ ई.	आरा	पं. रुद्रदत्त पं. चन्द्रदत्त	मूर्तिपूजा
१६.	भाद्रपद शुक्ल पक्ष १९२९ वि. सितम्बर १८७२ ई.	पटना	पं. रामजीवन भट्ट	मूर्तिपूजा
१७	चैत्र शुक्ला ११,१९३० वि. ८ अप्रैल १८७३ ई.	हुगली	पं. ताराचरण तर्करत्न	प्रतिमापूजन
१८.	ज्येष्ठ १९३० वि. जून १८७३ ई.	छपरा	पं. जगन्नाथ	मूर्तिपूजा
१९.	आषाढ़ १९३० वि. जून १८७३ ई.	आरा	पं. रुद्रदत्त	मूर्तिपूजा

क्रम	तिथि	स्थान	प्रतिवादी पण्डित, वक्ता	विषय
२०.	मार्गशीर्ष अमावस्या १९३० वि. ११ नवम्बर १८७३ ई.	लखनऊ	पं. गंगाधर शास्त्री	मूर्तिपूजा
२१.	आषाढ़ १९३१ वि. जुलाई १८७४ ई.	प्रयाग	पं. नीलकण्ठ शास्त्री गोरे (धर्मान्तरित ईसाई)	वेद में देवतावाद
२२.	मार्गशीर्ष १९३१ वि. दिसम्बर १८७४ ई.	सूरत	पं. इच्छाशंकर शास्त्री	अद्वैतवाद
२३.	मार्गशीर्ष १९३१ वि. दिसम्बर १८७४ ई.	भडौंच	पं. माधवराव त्र्यम्बकराव	मूर्तिपूजा
२४.	पौष १९३१ वि. जनवरी १८७५ ई.	राजकोट	पं. महीधर पं. जीवनराम शास्त्री	मूर्तिपूजा और अवतारवाद
२५.	माघ कृष्णा ६, १९३१ वि. २७ जनवरी १८७५ ई.	अहमदाबाद	पं. सेवकराम रामनाथ शास्त्री पं. लल्लूभाई बापूभाई शास्त्री पं. भोलानाथ भगवान आदि	मूर्तिपूजा और अवतारवाद
२६.	फाल्गुन शुक्ला ५, १९३१ वि. १० मार्च १८७५ ई.	बम्बई	पं. खेमजी वालजी जोशी पं. इच्छाशंकर शुक्ल	व्याकरण
२७.	ज्येष्ठ १९३२ वि. १२ जून १८७५ ई.	बम्बई	पं. कमलनयनाचार्य	मूर्तिपूजा
२८.	पौष १९३२ वि. दिसम्बर १८७५ ई.	बड़ौदा	पं. यज्ञेश्वर शास्त्री पं. अप्पय शास्त्री	व्याकरण और न्याय
२९	चैत्र १९३२ वि. २७ मार्च १८७६ ई.	बम्बई	पं. रामलाल	मूर्तिपूजा
३०.	ज्येष्ठ अमावस्या १९३३ वि. २३ मई १८७६ ई.	फर्रूखाबाद	पादरी जे. जे. लूकस	मोक्ष

क्रम	तिथि	स्थान	प्रतिवादी पण्डित, वक्ता	विषय
३१.	मार्गशीर्ष १९३३ वि. नवम्बर १८७६ ई.	बरेली	पं. लक्ष्मणशास्त्री	
३२.	मार्गशीर्ष १९३३ वि. नवम्बर १८७६ ई.	मुरादाबाद	ई. डब्लू. पार्कर पादरी बेली, देशी ईसाई रामचन्द्र बोस	ईश्वर मुक्ति दाता ? सृष्टि उत्पत्ति
३३.	फाल्गुन १९३३ वि. फरवरी १८७७ ई.	सहारनपुर	पं. बलदेव व्यास साधु दीवानदास	
३५.	चैत्र शुक्ला ४, ५, १९३४ वि. १९, २० मार्च १८७७ ई.	चांदापुर (शाहजहांपुर)	मौलवी मोहम्मद कासिम पादरी डा. टी. जे. स्कॉट पादरी नोबिल	सृष्टि रचना का प्रयोजन तथा मुक्ति का स्वरूप
३५.	श्रावण १९३४ वि. अगस्त १८७७ ई.	गुरदासपुर	पं. लक्ष्मीधर पं. दौलतराम	मूर्तिपूजा
३६.	आश्विन कृष्णा १, १९३४ वि. २४ सितम्बर १८७७ ई.	जालंधर	मौलवी अहमदहसन	पुनर्जन्म और करामात
३७.	पौष १९३४ वि. जनवरी १८७८ ई.	जेहलम	शिवचरण घोष (ईसाई)	अज्ञात
३८.	पौष १९३४ वि. जनवरी १८७८ ई.	गुजरात	जम्मू का एक पण्डित	अज्ञात
३९.	माघ शुक्ला १, २, १९३४ वि. ३, ४ फरवरी १८७८ ई.	वजीराबाद	पं. वासुदेव	मूर्तिपूजा
४०.	फाल्गुन कृष्णा २, १९३४ वि. १९ फरवरी १९७८ ई.	गुजरांवाला	पादरी सोलफीट (स्विफ्ट) तथा अन्य	क्या जीव और ईश्वर दोनों अनादि हैं ?

क्रम	तिथि	स्थान	प्रतिवादी पण्डित, वक्ता	विषय
४१.	मार्गशीर्ष शुक्ला ४, १९३५ वि. २८ नवम्बर १८७८ ई.	अजमेर	पादरी ग्रे और डा. हसबैण्ड	बाइबिल वर्णित सृष्टि-उत्पत्ति
४२.	भाद्रपद कृष्णा २, १९३६ वि. अगस्त १८७९ ई.	बदायूं	पं. रामप्रसाद, पं वृन्दावन, पं. टीकाराम	ईश्वर साकार है या निराकार
४३.	भाद्रपद शुक्ला ७, ८, ९ १९३६ वि. २५, २६, २७ अगस्त १८७९ ई.	बरेली	डा. टी. जे. स्कॉट	१. आवागमन (पुनर्जन्म) का सिद्धान्त । २. ईश्वर देह धारण करता है या नहीं ? ३. ईश्वर अपराध क्षमा करता है या नहीं ?
४४.	आश्विन कृष्ण पक्ष १९३६ वि. सितम्बर १८७९ ई.	शाहजहाँपुर	पं. लक्ष्मण शास्त्री	मूर्तिपूजा
४५.	श्रावण कृष्णा २, १९३८ वि. १३ जुलाई १८८१ ई.	मसूदा (राजस्थान)	साधु सिद्धकरण	जैनमत विषयक
४६.	भाद्रपद कृष्णा १४ से भाद्रपद शुक्ला ५, १९३९ वि. ११ सितम्बर से १७ सितम्बर १८८२ ई. तक	उदयपुर	मौलवी अब्दुलरहमान	७ विभिन्न प्रश्न

□□

सहायक तथा सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. दयानन्द सरस्वती : जीवन चरित विषयक उपादान (आधार रूप में प्रयुक्त होने वाली) सामग्री—

नाम ग्रन्थ	लेखक		प्रकाशन काल
१. वैदिक धर्म विजय	दयाराम तहसीलदार	मेरठ	१९०२ ई.
२. स्वामी दयानन्द सरस्वती जन्म स्थानादि निर्णय (बंगला)	देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय	कलकत्ता	१९१६ ई.
३. स्वामी दयानन्द नां जन्म स्थानादि नो निर्णय (गुजराती)	देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय		
	अनु. त्रिभुवनदास दामोदर दास गढ़िया	राजकोट	१९२० ई.
४. दयानन्द जन्म स्थान निर्णय	विजयशंकर मूलशंकर	बम्बई	१९३० ई.
५. फर्रूखाबाद का इतिहास	गणेशप्रसाद शर्मा	फर्रूखाबाद	१९३१ ई.
६. महर्षि दयानन्द सरस्तती	महेशप्रसाद मौलवी	इलाहाबाद	१९९८ वि.
७. महर्षि कहां और कब ?	महेशप्रसाद मौलवी	इलाहाबाद	२००० वि.
८. महर्षि जीवनदर्शक	महेशप्रसाद मौलवी	इलाहाबाद	२००१ वि.
९. दयानन्द काल में रेल मार्ग	महेशप्रसाद मौलवी,	इलाहाबाद	
१०. महर्षि का अपूर्व भ्रमण	महेशप्रसाद मौलवी	इलाहाबाद	
११. अजमेर और ऋषि दयानन्द	ब्रह्मदत्त सोढ़ा	अजमेर	२००५ वि.
१२. महर्षि दयानन्द का भ्रातृवंश और स्वसृवंश	युधिष्ठिर मीमांसक	दिल्ली	२००६ वि.
१३. उत्तराखण्ड के बन पर्वतों में ऋषि दयानन्द	विश्वम्भरसहाय प्रेमी, सा. सभा	दिल्ली	१९५९ ई.
१४. आदर्श गुरु शिष्य	रघुनाथप्रसाद पाठक सा. प्र. सभा	दिल्ली	२०१६ वि.
१५. मथुरा में स्वामी दयानन्द का विद्यालय	प्रभुदयाल मीतल	मथुरा	१९५९ ई.

१६. महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज को समझने में पौराणिकों का भ्रम	शिवपूजनसिंह कुशवाह	बड़ौदा	१९६० ई.
१७. दयानन्द जीवनी साहित्य	विश्वनाथ शास्त्री	अजमेर	२०१८ वि.
१८. महर्षि दयानन्द का वंशपरिचय	श्रीकृष्ण शर्मा	राजकोट	२०२० वि.
१९. महर्षि दयानन्द स्मारक का इतिहास	श्रीकृष्णा शर्मा	राजकोट	२०२० वि.
२०. टंकारा	श्रीकृष्णा शर्मा	राजकोट	
२१. ऋषि दयानन्द की जन्मतिथि	भीमसेन शास्त्री	दिल्ली	
२२. ऋषि दयानन्द की जन्मतिथि	इन्द्रदेव	पीलीभीत	१९६५ ई.
२३. दयानन्द का जन्म दिवस	गिरधारीलाल शर्मा	छुटमलपुर	२०२५ वि.
२४. महर्षि दयानन्द सरस्वती की जन्मतिथि	वैद्यनाथ शास्त्री	सा. प्र. सभा दिल्ली	
२५. दयानन्दचरित का ऐतिहासिक अनुशीलन	जयचन्द्र विद्यालंकार	जालंधर	२०२३ वि.
२६. सत्य निरूपण (उर्दू) (मूल ग्रन्थ १८७८ इ. में प्रकाशित)	अनु. जगत्प्रकाश शर्मा	अजमेर	१९६९ ई.
२७. महर्षि का विषदान—अमर बलिदान	राजेन्द्र जिज्ञासु	दीनानगर	२०२९ वि.
२८. महर्षि दयानन्द के अमृतसर में १२७ दिवस	पिण्डीदास ज्ञानी	अमृतसर	१९७३ ई.
२९. ऐतिहासिक नगर मेरठ में महर्षि दयानन्द	विश्वम्भरसहाय प्रेमी	मेरठ	१९७३ ई.
३०. विष—ऋषि मृत्यु का कारण	शिवराजसिंह सं.	बम्बई	१९७४ ई.
३१. कर्णवास में महर्षि दयानन्द के ऐतिहासिक संस्करण	मू. ले. शेरसिंह वर्मा, सं. भवानीलाल भारतीय	दिल्ली	२०३२ वि.
३२. दानापुर में ऋषि दयानन्द का पदार्पण और प्रभाव	विभुमित्र शास्त्री	दानापुर	१९७८ ई.
३३. योगी का आत्मचरित एक षड्यन्त्र है	पूर्णानन्द सरस्वती	बड़ौत	२०३८ वि.
३४. ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण अभिलेख	सं. युधिष्ठिर मीमांसक	बहालगढ़	२०३८ वि.
३५. महर्षि दयानन्द का सर्वप्रथम जीवनवृत्त	मू. ले. कन्हैयालाल अलखधारी अनु. राजेन्द्र जिज्ञासु	अबोहर	२०३८ वि.

३६. दयानन्द प्रसंग (बंगला)		हेमचन्द्र चक्रवर्ती	कलकत्ता	१९५४ ई.
३७. बंगे दयानन्द (बंगला)		दीनबंधु वेदशास्त्री	कलकत्ता	
३८. स्वामी दयानन्द गुजरात मां (गुजराती)		श्रीकान्त भगतजी	सूरत	
३९. ऋषि का बोलबाला—सचाई की फ़तह (उर्दू)		अनूपचंद आफताब		
40. The meeting of Swami Dayanand and Dr. T. J Scott at Bareilly		दुर्गाप्रसाद, लाहौर		
41. Dayanand Saraswati and the Sepoy Revolt of 1857		Richard Thwaytes	कैनबरा	1973

२. दयानन्द सरस्वती : आत्मकथा (विभिन्न संस्करण)

१. श्रीयुत स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी महाराज की कुछ दिन चर्चा	गणेशप्रसाद शर्मा	मुन्शी चुन्नीलाल यंत्रालय	फतहगढ़	द्वितीय संस्करण १८८७ ई.
२. दयानन्दचरितामृत	मुन्शी दयाराम	आर्य पुस्तकालय	लाहौर	तृतीय संस्करण १९२३ ई.
३. ऋषि दयानन्द स्वरचित (लिखित वा कथित) जन्मचरित	भगवद्दत्त	रामलाल कपूर ट्रस्ट	लाहौर अमृतसर	तृतीय संस्करण १९१९ ई.
				चतुर्थ संस्करण १९५१ ई.
				पंचम संस्करण २०१५ ई.
				षष्ठ संस्करण २०१६ वि.
				सप्तम संस्करण २०२६ वि.
४. महर्षि दयानन्द सरस्वती की आत्मकथा	जगत्कुमार शास्त्री	गोविन्दराम हासानन्द	दिल्ली	२०१० वि., १९५३ ई.
५. महर्षि दयानन्द सरस्वती की आत्मकथा		आर्यप्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश	लखनऊ	२०१० वि.
६. महर्षि दयानन्द सरस्वती की आत्मकथा		वेद प्रचारक मंडल	दिल्ली	
७. महर्षि दयानन्द की आत्मकथा	भवानीलाल भारतीय	वैदिक यंत्रालय	अजमेर	२०३२ वि., २०४० वि.
८. महर्षि दयानन्द की आत्मकथा	सुदर्शनदेव शास्त्री	सर्वहितकारी का विशेषांक		१९८१ ई.
९. महर्षि दयानन्द की आत्मकथा	राजवीर शास्त्री	दयानन्द संदेश का विशेषांक		नव. १९८१ ई.

आत्मकथा-उर्दू अनुवाद

१. खुदनविशत स्वानेह ऊमरी	दलपतराय विद्यार्थी	मुद्रक-इस्लामी प्रेस	लाहौर	१९४५ वि.
३. स्वानेह ऊमरी मय नोट्स	भाई जवाहरसिंह			१९८१ ई.
आत्मकथा-बंगला अनुवाद	देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय	कलकत्ता		१९०८ ई.
१. **आत्मकथा-गुजराती अनुवाद**	देवेन्द्र मुखोपाध्याय की बंगला	मकनलाल मथुरभाई गुप्त		१९१४ ई.
	पुस्तक से अनूदित	आर्य सुधारक प्रेस	बड़ौदा	हिन्दू सुधारकग्रन्थमाला २
३. दयानन्द स्वामी नुं स्वरचित जीवन वृत्तान्त	अनुवादक बलवन्तराय कल्याणराय ठाकुर			

English Translation

1. A Triumph of Truth or a Short Autobiography of the Great Rishee Swami Dayanand Saraswati,	Durga Prased	Virjanand Press	Lohore	1908
2. Autobiography of Pandit Dayanand Saraswati,	H. P. Blavatsky	The Teosophical Publishing House	Adyar Madras	1952
3, Autobiography of Dayanand Saraswati,	K. C, Yadav	Manohar Book Service	Delhi	1976-1578

३. दयानन्द सरस्वती : प्रमुख जीवनचरित —हिन्दी

१. दयानन्द दिग्विजयार्क खण्ड १	गोपाल शास्त्री शर्मा	फतहगढ़ यंत्रालय में मुद्रित		१८८१ ई.
दयानन्द दिग्विजयार्क खण्ड २	गोपाल शास्त्री शर्मा	सत्यप्रकाश यंत्रालय	आगरा	१८८१ ई
दयानन्द दिग्विजयार्क खण्ड ३	गोपाल शास्त्री शर्मा	फतहगढ़ यंत्रालय	फतहगढ़	१८८७ ई.
२. दयानन्द दिग्विजयार्क (संक्षिप्त सम्पादित संस्करण)	सं. भवानीलाल भारतीय	आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट	दिल्ली	२०३१ वि.

३. महर्षि दयानन्द सरस्वती और उनका काम	लाला लाजपतराय अनु. गोपालदास देवगण शर्मा	दुनिया के महापुरुषों के जीवन ग्रन्थमाला—४	लाहौर	१८९८ ई.	१९५५ वि.
४. श्री १०८ महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती का जीवनचरितम्	सत्यव्रत शर्मा, द्विवेदी	वेद प्रकाश यंत्रालय, इटावा			१९०३ ई.
५. आर्य धर्मेन्द्र जीवन	रामविलास शारदा	वैदिक यंत्रालय	अजमेर	१९०४ ई.	१९६१ वि.
६. सरस्वतीन्द्र जीवन	चिम्मनलाल वैश्य	तिलहर			१९०७ ई.
७. दयानन्द चरित्र	देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय अनु. घासीराम	भास्कर प्रेस	मेरठ		१९१२ ई.
८. श्रीमद्दयानन्द प्रकाश	सत्यानन्द सरस्वती	आर्य पुस्तकालय	लाहौर		१९७५ वि.
९. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित -२ भाग	देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा संगृहीत सामग्री के आधार पर पं. घासीराम द्वारा लिखित	आर्य साहित्य मण्डल	अजमेर		१९३३ ई.
१०. महर्षि दयानन्द	इन्द्र विद्यावाचस्पति	विजय पुस्तक भंडार	दिल्ली		१९४५ ई.
११. महर्षि जीवन दर्पण	महेशप्रसाद मौलवी	आलिम फाजिल बुक डिपो	इलाहाबाद		
१२. भारत की एक विभूति महर्षि दयानन्द सरस्वती	वेदानन्द वेदवागीश	हरयाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल	झज्जर		२९२५ वि.
१३. स्वामी दयानन्द	बी. के. सिंह, अनु. सुमंगलप्रकाश	नेशनल बुक ट्रस्ट	दिल्ली		१९७० ई.
१४. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र	मू. ले. लेखराम आर्य पथिक अनु. रघुनन्दनसिंह 'निमल'	आर्यसमाज, नया बांस	दिल्ली		२९२८ वि.
१५. नवजागरण के पुरोधा : दयानन्द सरस्वती	भवानीलाल भारतीय	वैदिक पुस्तकालय	अजमेर		२०४० वि.

४. दयानन्द सरस्वती : अन्य भारतीय भाषाओं में लिखित प्रमुख जीवनचरित

बंगला—

१. दयानन्द सरस्वतीर संक्षिप्त जीवनी	नगेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय		कलकत्ता		१८८६ ई.
२. दयानन्द चरित प्रथम खण्ड	देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय		कलकत्ता		१३०२ बंगाब्द १८९६ ई.

३. दयानन्द चरित द्वितीय खण्ड	देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय	कलकत्ता	
४. ऋषीन्द्रजीवन	शंकरनाथ पण्डित	कलकत्ता	१३३३ बंगाब्द, १९२७ ई.
ओडिया			
१. स्वामी दयानन्द	यज्ञप्रकाश दास		१९७७ ई.
मराठी			
१. महर्षि दयानन्द यांचे चरित्र व कामगिरि	हरि सखाराम तुंगार	अहमदनगर	१९२० ई.
२. स्वामी दयानन्दा चे चरित	सत्यवीर शास्त्री	अमरावती	१९८२ ई.
गुजराती			
१. स्वामी दयानन्द सरस्वती नुं जीवन चरित	बालाभाई जमनादास वैश्य	अहमदाबाद	१८९७ ई.
२. स्वामी दयानन्द सरस्वती नुं जीवन चरित	रत्नसिंह दीपसिंह परमार		१९१६ ई.
३. झण्डाधारी	ककल भाई कोठारी, झवेरचंद मेघाणी	बम्बई	१९२६ ई.
४. महर्षि दयानन्द	रमणलाल वसन्तलाल देसाई	वड़ौदा	१९३७ ई.
५. दयानन्द सरस्वती	धनवन्त ओझा	अहमदाबाद	१९६२ ई.
तमिल			
१. मकरिषि स्वामी दयानन्द सरस्वती यारिन वाजक्कैयूम	कन्नय्या	आर्यसमाज, मद्रास	१९३४ ई.
२. ऋषि दयानन्द	शुद्धानन्द भारती	अम्बुनिलयम् रामचन्द्रपुरम्	१९४७ ई.
तेलुगु			
१. दयानन्दचरित	आर. सत्यानारायण		१९५८ ई.
कन्नड़			
१. श्री दयानन्द सरस्वती मवरचरिते	केशवय्य	डी. शेषगिरिराम, मैसूर	१९१० ई.
२. महर्षि दयानन्द सरस्वती	केशवय्य	सर्वमंगल ग्रन्थमाला, बैंगलोर	१९४३ ई.

३. श्रीमद्दयानन्दर्षिजीवनचरितम्	सुधाकर चतुर्वेदी		१९४३ ई.
४. महर्षि दयानन्द सरस्वती	सुधाकर चतुर्वेदी	वैदिक साहित्य प्रचार समिति,उडुपि (कर्नाटक)	१९७७ ई.

मलयालम

१. महर्षि दयानन्द सरस्वती	नारायणदत्त	वैदिक साहित्य परिषद् चेंगनूर (केरल)	१९७१ ई.

जीवनचरित : सिंधी

१. महर्षि स्वामी दयानन्द जो मुख्तसर जीवनचरित	माधवदास प्रेमचन्द आर्य	अहमदाबाद	१९५८ ई.
२. जगत् गुरु दयानन्द	ताराचन्द डी. गाजरा	आर्यसमाज, हैदराबाद सिंध	

पंजाबी

१. जन्मसाखी	पिन्डीदास ज्ञानी		
२. महर्षि दयानन्द दा जीवनचरित	स्वतन्त्रानन्द (स्वामी)		अप्रकाशित

जीवनचरित-फारसी

१. स्वानेह ऊमरी आरिफ कामिल दयानन्द सरस्वती	कालीचरण शर्मा		

उर्दू

१. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र यानी स्वानेह ऊमरी	मू. ले. लेखराम आर्यपथिक सं. आत्माराम अमृतसरी	आर्यप्रतिनिधि सभा, पंजाब	१८९७ ई.
२. महर्षि दयानन्द सरस्वती और उनका काम	(लाला) लाजपतराय	लाहौर	
३. महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनकी तालीम	राधाकृष्ण मेहता		
४. मुकम्मल जीवनचरित्र महर्षि दयानन्द	लक्ष्मण आर्योपदेशक		

KI-Swahili (स्वाहिली भाषा)

1. Suffi Dayanand Mundi	Kaji Vasant Rai J. Joshi	Indo-African Literary Society, Mombasa.	1953

5. Dayanand Saraswati : Important Biographies in English

1. Maharshi Swami Dayanand Saraswati	Durga Parsad	1 Virjanand Press, Lahore	1892 I Edition
2. Dayanand Saraswati : Founder of the Arya Samaj	Bawa Arjun Singh	1 Punjab Printing Works, Lahore	1901 I Edition
		2 Ess Ess Pulications, Delhi	1979 II Edition
3. Life and Teachings of Swami Dayanand	Bawa Chhaju Singh	1 Addision Press, Lahore	1903 I Edition
		2 Jan Gyan Prakashan. New Delhi	1971 II Edition
4. Swami Dayanand : A Sketch of his life and teachings.		G. A Nateson & Co, Mabress	1912. 1921 III Ed.
5. The Luther of India	Gokul Chand Narang	1 Youngmen's Arya Samaj Tract Society, Lahore Vol II Part V, Tract. 15	1912
		2 Ishwar Chandra Arya Tract Society, Lahore	1913
		3 Arya Samaj Calicut	1924
6. The Life of Swami Dayanand Saraswati.	Tarachand D. Gajra		1915
7. Swami Dayanand : His Life and Teachings	B. M. Sharma	Upper India Publishing House, Lucknow	
8. Dayanand : His life and Works	Suraj Bhan	1 Indian Press Allahabad	1934 I Ed.
		2 Arya Pradeshik Pratinidhi Sabha, Jullundur. New Delhi	1954, 1973, 1978
9. The Life and Teachings of Swami Dayanand	Vishwa Prakash	Kala Press, Allahabad	1935

10. Swami Dayanand Saraswati	Diwanchand Sharma	Macmillon & Co. London	1935 Makers of the Arya Samaj. Vol. III
11. Swami Dayanand : His Life and Teachings	Shivnandan Prasad Kulyar.	Arya Pratinidhi Sabha, Bihar, Patna.	1938. Reprinted from the Vedic Magazine.
12. Life of Dayanand Saraswati : World Teacher	Harvilas Sarda	1. Vedic Yantalaya, Ajmer 2. Paropkarini Sabha, Ajmer	1946 1968
13. Swami Dayanand	B. K. Singh	National Book Trust, Delhi	1970 National Biography Series
14. Dayanand Saraswati : His Life and Ideas.	J. T. F. Jordens	Oxford University Press, Delhi	1978
15. Life of Shreeman Dayanand Saraswati	Becha Ram Chatterjee	Arya Pratinidhi Sabha. Punjab, Lahore.	N. D.
16. Swami Dayanand : A Brief Life Sketch	Gokul Chand Narang		N. D.
17. Swami Dayanand	A. C. Bose		N. D.
18. The Sage of Modern India—Swami Dayanand	Ganga Prasad Upadhyaya	Kala Press, Allahabad	N. D. Vishwa Prachar Series-2

६. स्वामी दयानन्द के जीवनपरक संस्कृत काव्य

१. महर्षि वियोग शोक	ज्वालादत्त शर्मा	सरस्वती प्रेस, इटावा	१९५५ वि.
२. दयानन्ददिग्विजयम्	अखिलानन्द शर्मा	मुद्रक-इण्डियन प्रेस, प्रयाग	१९१० ई.
३. दयानन्ददिग्विजयम्	अखिलानन्द शर्मा	आर्यधर्म प्रकाशन, शामली	२०२७ वि., १९७० ई.
४. दयानन्ददिग्विजयम् पूर्वार्द्ध	मेधाव्रताचार्य	सत्यवती स्नातिका	१९९४ वि.
५. दयानन्ददिग्विजयम् उत्तरार्द्ध	मेधाव्रताचार्य	सुबोधचन्द्र, सूपा	२००३ वि., १९४७ ई.
६. मुनिचरितामृतम्	दिलीपदत्त शर्मोपाध्याय	महाविद्यालय दर्शन प्रेस, ज्वालापुर	१९७१ वि.

७. श्री दयानन्द लहरी (शान्तिदायिनी संस्कृत, मनोमोदिनी हिन्दी टीका)	अखिलानन्द शर्मा	१ स्वामी प्रेस, मेरठ	१९६४ वि., १९०७ ई.	१९१३ ई. द्वि सं, ग्रन्थकार
८. श्री दयानन्द लहरी (शान्तिदायिनी संस्कृत, मनोमोदिनी हिन्दी टीका)	अखिलानन्द शर्मा	२ आर्यकुमार परिषद् पंजाब	१९६४ ई. द्वि. सं.	
९. श्री दयानन्द लहरी (शान्तिदायिनी संस्कृत, मनोमोदिनी हिन्दी टीका)	अखिलानन्द शर्मा	३ आर्यसमाज नयाबांस, दिल्ली	१९७६ ई.	
१०. दयानन्द लहरी	मेधाव्रताचार्य	१ दयानन्द जन्म-शताब्दी समिति, मथुरा	१९२५ ई.	
दयानन्द लहरी	मेधाव्रताचार्य	१ शरच्चन्द्र सत्यव्रत आर्य, येवला (महाराष्ट्र)	२००० वि.	
दयानन्द लहरी : ज्योतिष्मती टीका	टीकाकार—वेदानन्द वेदवागीश	३ हरयाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल झज्जर	२०२५ वि., १९६८ ई.	
११. आर्योदयकाव्यम् उत्तरार्द्ध	गंगाप्रसाद उपाध्याय	कला प्रेस, प्रयाग		
१२. महर्षिदयानन्दचरितम्	वल्लभदास भगवानजी गणात्रा		१९८८ वि.	
१३. यतीन्द्रशतकम्	केवलानन्द शर्मा	रामगोपाल आर्य मऊनाथ भंजन (उ. प्र.)	१९३८ ई.	
१४. जगज्ज्योतिः	सन्तोष श्रीवास्तव	अवधबिहारीलाल सर्राफ, फतहपुर	२०१८ वि.	

संस्कृत नाटक

महर्षिचरितामृतम्	सत्यव्रत स्नातक	सत्यव्रत बी० कामदार, बम्बई-१९	२०२१ वि.

संस्कृत जीवनचरित (गद्य)

दयानन्दर्षिचरितम्	विद्यानिधिशास्त्री	हरयाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल झज्जर	२०३० वि.

७. स्वामी दयानन्द के जीवनपरक हिन्दी काव्य

१. धर्मदिवाकरोदय काव्य	शेरसिंह वर्मा 'कविकुमार'	कर्णवास	
२. दयानन्द जीवनकाव्य	लाला रामबुझारथलाल कायस्थ (हरिदत्त वर्मा)	सरस्वती पुस्तकालय, बम्बई	१९१३ ई.

३.	दयानन्दचरितामृत	कविराज जयगोपाल	लाहौर	
४.	दयानन्द महाकाव्य (दयानन्दचरितमानस)	म. म. आर्यमुनि	मु. हितचिंतक प्रेस, काशी	
			प्र. देवदत्त शर्मा, कर्णवास	१९८१ वि. जन्म काण्ड
५.	श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती का जीवनचरित्र (भाषा कविता में)	कृष्ण अमृतसरी	श्रीमती विद्यावती लाहौर	१९२४ ई.
६.	दयानन्दचरितामृत	विद्यानन्द 'आनन्द' विदेह	१. प्र. रामस्वरूप 'स्वाधीन'	१९८४ वि., १९२७ ई.
			२. वेद संस्थान, अजमेर	१९८३ ई.
७.	दयानन्ददयाप्रकाश	लाला शम्भुनाथ	आगरा	१९८१ वि.
८.	बोधरात्रि	विज्ञानमार्तण्ड वात्स्यायन टी. रामचन्द्र भारती	सरस्वती प्रकाशन मंदिर माण्डले (बर्मा)	१९३९ ई.
	बोधरात्रि	विज्ञानमार्तण्ड वात्स्यायन टी. रामचन्द्र भारती	जनज्ञान प्रकाशन, दिल्ली	
	बोधरात्रि	विज्ञानमार्तण्ड वात्स्यायन टी. रामचन्द्र भारती	ओमप्रकाश आर्य, जालंधर	आंशिक
९.	दयानन्दचरितगान (तर्ज राधेश्याम)	सुशीलापुरी	अम्बाला छावनी	१९४६ ई.
१०.	महर्षि चरित-चार भाग (तर्ज राधेश्याम)	मदनमोहनलाल शर्मा	श्रीराधेश्याम पुस्तकालय, बरेली	१९५१ ई.
११.	दयानन्दचरितामृत	ठाकुर गदाधरसिंह	डा. सूबाबहादुरसिंह, लखनऊ	२०११ वि.
१२.	ऋषि दयानन्द चरित	महाशय रामवतार	मुलतान	
१३.	महर्षि दयानन्द जीवनकथा	बस्तीराम आर्योपदेशक	१ विश्वम्भर वैदिक पुस्तकालय, गुरुकुल, झज्जर	१९६० ई., २०१६ वि.
	महर्षि दयानन्द जीवन कथा	बस्तीराम आर्योपदेशक	२ आर्य प्रकाशन, रोहतक	२०३२ वि.
१४.	महारथी	लक्ष्मण शर्मा 'ललित'	आर्यसमाज लहेरियासराय (बिहार)	
१५.	संगीत दयानन्द	यशवन्तसिंह (टोहानवी)	देवीदयाल गुप्ता, टोहाना	५ संस्करण
१६.	दयानन्द प्रकाश खण्ड-१	प्रकाशचन्द्र कविरत्न	प्रकाश साहित्य प्रकाशन, अजमेर	१९७२ ई.

८. प्रमुख संदर्भ ग्रन्थ (स्वामी दयानन्द विषयक)

१. उपदेश मञ्जरी (पूना प्रवचन)	युधिष्ठिर मीमांसक	बहालगढ़	२०२६ वि.
२. उपदेश मञ्जरी (पूना प्रवचन)	भवानीलाल भारतीय	अजमेर	१९७६ ई.
३. दयानन्द प्रवचन संग्रह अर्थात् पूना-बम्बई प्रवचन	युधिष्ठिर मीमांसक	बहालगढ़	२०३९ वि.
४. ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार	मुन्शीराम जिज्ञासु	जांलधर	१९६६ वि.
५. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन	भगवद्दत्त	अमृतसर	२०१२ वि.
६. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापनों के परिशिष्ट	युधिष्ठिर मीमांसक	अमृतसर	२०१४ वि.
७. ऋषि दत्रानन्द के पत्र और विज्ञापन (३ भाग)	युधिष्ठिर मीमांसक	बहालगढ़	२०३७ वि. २०३९ वि.
८. स्वीकारपत्र	दयानन्द सरस्वती	अजमेर	१९४९ वि.
९. ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास	युधिष्ठिर मीमांसक	अजमेर	२००६ वि.
१०. दयानन्दशास्त्रार्थ संग्रह	रघुनन्दनसिंह निर्मल	दिल्ली	१९६९ ई.
११. दयानन्दशास्त्रार्थ संग्रह	भवानीलाल भारतीय	बहालगढ़	१९७० वि.
१२. ऋषि दयानन्द सरस्वती के शास्त्रार्थ और प्रवचन	भवानीलाल भारतीय व युधिष्ठिर मीमांसक	बहालगढ़	२०३९ वि.
१३. काशीशास्त्रार्थ का इतिवृत्त	आचार्य विश्वश्रवाः	लखनऊ	१९३९ ई.
१४. दयानन्द साहित्य सर्वस्व	भवानीलाल भारतीय	चण्डीगढ़	१९८३ ई.

९. प्रमुख संदर्भ ग्रन्थ (आर्यसमाज के इतिहास विषयक)

१. मुम्बई आर्यसमाज ना नियमो	आर्यसमाज	बम्बई	१९७६ ई.
२. आर्यसमाज के नियम और उपनियम	न्यूमेडिकल हाल प्रेस	बनारस	१९७८ ई.
३. मुम्बई आर्यसमाज नो इतिहास	दामोदर सुन्दरदास	बम्बई	१९८९ वि.
४. सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का २६ वर्षीय इतिहास	सा. प्र. सभा	दिल्ली	
५. आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का इतिहास	चमूपति	लाहौर	
६. आर्यसमाज का इतिहास २ भाग	इन्द्र विद्यावाचस्पति	दिल्ली	
७. परोपकारिणी सभा का इतिहास	भवानीलाल भारतीय	अजमेर	१९७५ ई.
८. आर्यसमाज गणेशगञ्ज लखनऊ का इतिहास			
९. आर्यसमाज देहरादून शताब्दी स्मारिका	यशपाल		१९८० ई.

१०. आर्यसमाज कृष्णपोल बाजार जयपुर के १०० वर्ष — ओमप्रकाश विद्यावाचस्पति सं. जयपुर — १९७९ ई.

११. आर्यसमाज का इतिहास भाग १, ३. — सत्यकेतु विद्यालंकार-हरिदत्त वेदालंकार आर्य स्वाध्याय केन्द्र, दिल्ली — १९८२, १९८३ ई.

१०. संदर्भ ग्रन्थ (स्फुट जीवनचरित)

१. विरजानन्द चरित — देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय — लखनऊ — १९१९ ई.

२. विरजानन्दप्रकाश — भीमसेन शास्त्री — अमृतसर — १९५९ ई.

३. कल्याणमार्ग का पथिक — श्रद्धानन्द संन्यासी — काशी — १९८१ वि.

४. अमीरस सार — चमूपति सं. — लाहौर — १९२५ ई.

५. पण्डिता रमाबाई का जीवनचरित्र — नार्थ इण्डिया क्रिश्चियन ट्रैक्ट एण्ड बुक सोसाइटी — इलाहाबाद — १९६५ ई.

६. जीवनचरित श्री स्वामी कालूरामजी शर्मा — जयनारायण पोद्दार — १९६८ वि.

७. योगिराज महात्मा कालूराम — भवानीलाल भारतीय — २०३१ वि.

८. वीरवंशवर्णनम् — नगजीराम शर्मा — बनेड़ा — १९८५ वि.

९. वीरतरंग रंग — यमुनादत्त शास्त्री — शाहपुरा — १९८१ वि.

१०. नवयुग निर्माता (विजयानन्द सूरि) — हंसराज शास्त्री — अम्बाला — २०१३ वि.

११. कर्नल महाराजाधिराज सर प्रतापसिंह का जीवनचरित्र — जगदीशनारायणसिंह गहलोत — प्रयाग — १९७५ वि.

१२. महर्षि दयानन्द (भूमिका: डा. रघुवंश— पुनरुत्थान युग का द्रष्टा) — यदुवंशसहाय — लोक भारती प्रकाशन — इलाहाबाद — १९७१ ई.

11. Reference Books (English)

1. An Address by Col. H. S. Olcott. — Thompson C. E. College Press — Roorki — 1879

2. Reply to the Extra Supplement to the Theosophist. — Pt. Umrao Singh — Roorki — 1882

3. Reflections and Reminiscences. — N. N. Gupta

4. The Life of Ramakrishna. — Romain Rolland — Almora — 1954

5. History of the Brahmo-Samaj. — Shivnath Shashtri — Calcutta — 1974

6. Arya Dharma. — K. W. Jones — Delhi — 1976

7. A free Translation in English of Swami Dayanand's answer to the objections made by certain reviewers of his Veda Bhashya. — Albert Press — Lahore

8.	A Treatise on the Arya-Samaj and the Theosophical Society.	Shyam Sunderlal	Mainpuri	1925
9.	Swami Dayanand and the Theosophical Society.	Shri Ram Sharma. (Panjab University Research Bulletin)		1973
10.	Dayanand Commemoration Volume.	Harvilas Sarda, Paropkarini Sabha	Ajmer	1933
11.	Shyamaji Krishna Varma. Life and Times of an Indian Revolutionary.	Indulal Yajnik	Bombay	1950
12.	Shyamji Krishna Varma.	Harvilas Sarda	Ajmer	1959
13.	Biographical Essay.	Prof. Maxmuller.		
14.	English Works of Raja Ram Mohan Roy.	Panini Office	Allahabad	
15.	Political Thoughts of Swami Dayanand	S. Malhotra	Delhi	1980

१२. स्फुट संदर्भ ग्रन्थ

१.	हमारा राजस्थान	पृथ्वीसिंह मेहता विद्यालंकार	प्रयाग	१९५० ई.
२.	राष्ट्रीय इतिहास का अनुशीलन	जयचन्द्र विद्यालंकार	जालंधर	२०२३ वि.
३.	माधव मिश्र निबन्ध माला	माधव मिश्र		
४.	पापमोचनी कथा (महाराज के मानहानि के मुकद्दमे का संक्षिप्त वृत्तान्त)			

१३. दयानन्द सरस्वती : विरोधी दृष्टिकोण से लिखे गये ग्रन्थ

१.	दूषणमालिका	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	काशी	१९२७ वि.
२.	दयानन्दमुखचपेटिका	ठाकुरदास मूलराज भाभड़ा		
३.	दयानंन्दचरित्रदर्पण	जियालाल जैनी	अहमदाबाद	१८९४ ई.
४.	दयानन्दचरित और समालोचना	जगन्नाथदास	मुरादाबाद	१८९१ ई.
५.	Swami Dayanand in the Light of Truth.	Harprasad Agnihotri	Lahore	1925
६.	Swami Dayanand : A Critical Study of his Life and Teachings.	F. K. Khan Durrani	Lahore	1929

१४. मराठी ग्रन्थ

१.	आमच्या आयुष्यांतील कांही आठवणी	रामाबाई रानडे	पुणे	१९५३ ई.
२.	निबन्ध माला	विष्णु शास्त्री	चिपलूणकर	१८७५ ई.
३.	पण्डित स्वामी दयानन्द सरस्वती	गोपाल हरि देशमुख लोकहितवादी		१८८४ ई.

१५. पत्र पत्रिकाओं की संचिकाएं

(अ) हिन्दी पत्र

१. भारतसुदशा प्रवर्त्तक, फर्रूखाबाद
२. आर्यदर्पण, शाहजहांपुर
३. देशहितैषी, अजमेर
४. देवनागर, कलकत्ता
५. परोपकारी, अजमेर
६. सार्वदेशिक, दिल्ली
७. टंकारा पत्रिका, टंकारा
८. आर्यमर्यादा, दिल्ली व जालंधर
९. आर्यमित्र, लखनऊ
१०. वेदवाणी, बनारस व बहालगढ़
११. आर्यज्योति, जालंधर
१२. सुधारक, गुरुकुल झज्जर
१३. आर्यसंसार, कलकत्ता
१४. सर्वहितकारी, रोहतक
१५. आर्यप्रेमी, अजमेर
१६. आर्यमार्तण्ड, अजमेर
१७. आर्यजगत्, दिल्ली

(आ) अंग्रेजी पत्र

1. The Theosophist, Bombay
2. The Vedic Magazine, Gurukul Kangri

□□

ग्रन्थकार-परिचय

भारतीय पुनर्जागरण में आर्यसमाज एवं दयानन्द सरस्वती की भूमिका के अधिकृत व्याख्याता डा. भवानीलाल भारतीय का जन्म राजस्थान राज्य के नागौर जनपदान्तर्गत परबतसर ग्राम में आषाढ़ कृष्णा ३. १९८५ वि. को हुआ। संस्कृत एवं हिन्दी में एम. ए., राजस्थान विश्वविद्यालय से १९६८ ई. में पी-एच. डी. की उपाधि ग्रहण की।

स्वामी दयानन्द तथा आर्यसमाज के वैचारिक एवं ऐतिहासिक पक्षों से सम्बन्धित उनके अनेक शोधपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। आर्यसमाज के शास्त्रार्थ महारथी, आर्य-समाज के वेद सेवक विद्वान्, परोपकारिणी सभा का इतिहास तथा आर्यसमाज के पत्र और पत्रकार इसी श्रेणी की कृतियां हैं। 'आर्यसमाज : अतीत की उपलब्धियां और भविष्य के प्रश्न' ग्रन्थ लिखकर आर्य-प्रतिनिधि सभा पंजाब से १९७६ ई. में पं. लेखराम साहित्य पुरस्कार प्राप्त किया। उनके द्वारा रचित महर्षि दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द' (१९७') एवं 'श्रीकृष्ण चरित' (१९८२) पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय पुरस्कार से पुरस्कृत हो चुके हैं। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय द्वारा १९८२ ई. में पं. गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार से सम्मानित। दो दशाब्द से भी अधिक समय तक राजस्थान की कॉलेज शिक्षा सेवा से सम्बन्धित रहने के पश्चात् विगत ३ वर्षों से वे पंजाब विश्वविद्यालय की दयानन्द अनुसंधान पीठ के प्रोफेसर तथा अध्यक्ष पद पर कार्यरत हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ उनके दयानन्द सरस्वती के जीवन एवं कृतित्वविषयक दीर्घकालीन अध्ययन एवं अनुसंधान का प्रतिफलन है।